मैथिलीशरण गुप्त का काव्य और उसकी अंतर्कथाओं के स्रोत

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ लिट उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

लेखिका

डा॰ (श्रीमती) शशि अग्रवाल, एम॰ ए॰, डी॰ फिल

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय

निर्देशक

पद्मभूषण डा॰ रामकुमार वर्मा, एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰

उपाध्यक्ष, उ॰ प्र॰ हिन्दी ग्रंथ अकादमी

रिसर्च प्रोफेसर (यू॰ जी॰ सी॰)

भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

एवं

हिन्दी प्रोफेसर, मास्को (सोवियत संघ)

१९७०

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के महाभारतीय काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत ।

पृष्ठ

परिशिष्ट

आभार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पद्मभूषण डा० रामकुमार वर्मा के योग्य निर्देशन में लिखा गया है । मैं डा० वर्मा के प्रति अतिशय आभारी हूं, जिनकी प्रेरणा, उत्साह-वर्धन तथा विशिष्ट निर्देशन से यह प्रबन्ध मैं प्रस्तुत कर सकी । टंकण होने से पूर्व आपने सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध को अत्यन्त परिश्रम एवं सतर्कता से पढ़ा है । इस प्रबन्ध के जो गुण हैं वे उनके हैं और जो दोष हैं, वे मेरे हैं ।

मैं डा० मोतीचन्द (निर्देशक, प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम, बम्बई) के प्रति आभारी हूं जिन्होंने अत्यन्त सहृदयता पूर्वक मुझे अपने अमूल्य सुझाव दिये । भारतीय कला-भवन, काशी ने भी गुप्त जी के अनेक साहित्यिक पत्र तथा उनकी अप्रकाशित रचनाएं देखने की मुझे सुविधा दी । इसके लिए मैं भारतीय कला-भवन तथा राय कृष्णदास जी को हार्दिक धन्यवाद देती हूं । श्रद्धेय मैथिलीशरण जी गुप्त के परिवार के सदस्यों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं । मेरे चिरगांव जाने पर उन्होंने अत्यन्त प्रेम भाव से मुझे गुप्त जी की अप्रकाशित रचनाएं तथा अन्य सामग्री दिखलाईं । श्रीमती महादेवी वर्मा से भी मुझे 'दद्दा' के विषय में अनेक सूचनाएं प्राप्त हुईं और प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए उन्होंने अनेक सुझाव भी दिए । मैं उनके प्रति आभारी हूं । कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूं, जिन्होंने सदैव मुझे प्रोत्साहन दिया । मैं श्री अज्ञेय जी के प्रति आभारी हूं जिन्होंने शोध-प्रबन्ध के लिए अनेक सुझाव दिए तथा पर्याप्त सामग्री भी दी । अपने विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूं जिन्होंने समय समय पर भांति-भांति से मेरी सहायता की । मैं अन्य उन सभी व्यक्तियों और लेखकों के प्रति आभारी हूं जिनसे मुझे सहायता मिली ।

२० दिसम्बर, १९७०

शशि अग्रवाल
प्राध्यापिका- हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

भूमिका

काव्य की परिभाषा—

मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण काव्य को अनादि काल से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के चित्र का नाम कविता है,'[1] कह कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसी के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त साहित्य (क्रिएटिव लिट्रेचर) का पर्याय है किन्तु आधुनिक काल में 'काव्य' का अर्थ एकमात्र कविता ([illegible]) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य भरत मुनि हैं। वे महर्षि वेद व्यास के समकालीन अथवा उनके पूर्ववर्ती थे। कृष्ण द्वैपायन व्यास ने अग्निपुराण में लिखा है—

" भरतेन प्रणीतत्वात्भारती रीतिरुच्यते।"

अतः काव्यशास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' है। बाद में इसी से प्रेरणा लेकर अनेक काव्य शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इस सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ उपस्थित कीं। संस्कृत के ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्यों में काव्य की सर्वप्रथम उल्लेखनीय परिभाषा पाँचवीं-छठीं शताब्दी में आचार्य भामह की है — 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द तथा अर्थ का सहभाव काव्य है। भामह की[3] इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। कारण यह है कि शब्दार्थ का सहभाव ज्ञान की प्रत्येक शाखा के लिए अनिवार्य है। उक्त परिभाषा के 'सहितौ' शब्द को राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में स्पष्ट किया है। राजशेखर ने कहा है —" शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विधा साहित्यविधा।" अर्थात् शब्द और अर्थ का उपयुक्त सहभाव ही 'काव्य' है। कुंतक ने भी 'वक्रोक्ति-जीवित' में यह बताया है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व है।

---

१. रसज्ञ-रंजन, कविता, पृ० ६२ (१ जून सन् १९३३ का संस्करण, साहित्यरत्न भंडार, आगरा)

२. काव्य-कल्पद्रुम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, प्रका० ना०प्र०सभा, आगरा, पृ० २ द्वितीय संस्करण।

३. काव्यालंकार, १।१६

में अभिव्यक्त होने पर भाव, ध्वनि, अलंकार आदि [illegible] सभी [illegible] के अन्तर्गत हो जाता है। अतः भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि काव्य सरस, रमणीय अर्थ के उद्बोध में सक्षम, अलंकार-युक्त और दोष रहित होना चाहिए।

आधुनिक युग में हिन्दी के विद्वानों ने भी भिन्न-भिन्न प्रकार से कविता की परिभाषाएँ दी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार — "जिसप्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। ~~उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था की~~ इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[१] जयशंकर प्रसाद के अनुसार — "(काव्य) आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।"[२] डा० रामकुमार वर्मा का कथन है — "मैं कविता का अस्तित्व तभी मानता हूँ, जब मेरी सौंदर्य भावना का धरातल शरीर की अपेक्षा मन पर अधिक हो और इसका अभिव्यक्तिकरण मैं भाव पक्ष में ही नहीं, शैली पक्ष में भी मानता हूँ।"[३] "दिनकर" के अनुसार — "कविता न तो कोमल भावना, न छन्द, न कोरी भावुकता में है। वह मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफल है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है जो वस्तुओं के उन आभ्यन्तर रूपों को देखती और दर्शाती है, जो रूप विज्ञान में देखे नहीं जा सकते। किन्तु जो वस्तु विज्ञान के स्वभाव से परे हैं, उसका वर्णन आगामी कविता वैज्ञानिक स्फूर्ति के साथ करेगी[४]।" इसप्रकार अनेक महाकवियों ने अपनी अपनी उपलब्धियों के अनुसार काव्य की परिभाषाएं दी हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में भावुकता, आत्मानुभूति, मौलिकता, वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और शैली गत सौंदर्य का होना आवश्यक है।

---

१. चिंतामणि, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० ४२

३. कौमुदी--डा० रामकुमार वर्मा विशेषांक, पृ० २२१(हिन्दी परिषद,प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६६)

४. सीपी और शंख, भूमिका, पृ० "छ०"

प्रबन्ध और मुक्तक काव्य :-

भारतीय आचार्यों ने काव्य को दो भागों में विभाजित किया है- 'प्रबन्ध-काव्य' तथा 'मुक्तक-काव्य'। जिस काव्य में कथा सानुबंध रूप से कही जाती है उसे प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखा जाता है। परन्तु जिस काव्य में कथा सानुबंध नहीं होती, अथवा जिसमें स्वच्छन्द रूप से अलग-अलग पद में भाव व्यक्त किया जाता है वह साहित्य में 'मुक्तक' कहलाता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद ने प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है — बंध के विचार से दो प्रकार की रचनाएं देखी जाती हैं। एक प्रबन्ध और दूसरी निर्बन्ध। जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है वह 'प्रबन्ध-काव्य' कहा जाता है। जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और जो स्वच्छन्द रूप से किसी पद्य या गद्य-खण्ड के द्वारा कोई रस भाव या तथ्य को व्यक्त करती है उस बंध-हीन रचना को 'निर्बन्ध' या 'मुक्तक' कहते हैं।[१] प्रबन्ध काव्य के मुख्यतया दो प्रकार देखे जाते हैं। एक तो ऐसी रचना होती है जिसमें पूर्ण जीवन वृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है, इसे 'महाकाव्य' कहते हैं। दूसरे प्रकार की वह रचना होती है जिसमें खण्ड जीवन का चित्रण रहता है परन्तु वह 'महाकाव्य' की शैली में ही वर्णित होता है, इसे 'खण्ड-काव्य' कहते हैं। ये 'महाकाव्य' और 'खण्ड काव्य' साहित्यिक विधाएं प्रबन्ध काव्य के ही अन्तर्गत आती हैं। महाकाव्य में कवि नायक के सम्पूर्ण जीवन को प्रस्तुत करता है, इसी कारण उसमें जीवन और जगत का वैविध्य पाया जाता है। उसका आकार भी स्वभावत: विशाल होता है। इसके विपरीत खण्डकाव्य में एक देशीयता रहती है। उसमें नायक के जीवन की किसी विशिष्ट घटना का कथन किया जाता है, किन्तु यह आवश्यक है कि वह जीवन-घटना अपने आप में पूर्ण हो और उसमें, चरित्र को उभारने की क्षमता विद्यमान हो। 'महाकाव्य' की संज्ञा उसी रचना को दी जा सकती है जो काव्य सम्बन्धी समस्त अनुबंधों की दृष्टि से महिमा-मण्डित हो। प्रबन्ध काव्य की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें मुख्य कथा के साथ-साथ

---

१. वाङ्मय विमर्श — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १३-१४, प्रथम संस्क०, हिन्दी साहित्य कुटीर।

गौण कथाएं भी रहती हैं, जिन्हें हम [illegible] कहते हैं। 'खण्ड-काव्य' भी महाकाव्य के ढंग पर रचित होता है परन्तु उसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण कर एक खण्ड-जीवन को ग्रहण किया जाता है :—

'खण्ड काव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।'[1]

यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतःपूर्ण प्रतीत हो। इसीलिए 'महाकाव्य' के एक अथवा एकाधिक सर्गों को 'खण्ड-काव्य' नहीं कह सकते, चाहे उनमें जीवन के एक खण्ड की ही अभिव्यक्ति क्यों न दिखाई गई हो। क्योंकि उन सर्गों के लिए पूर्वापर की अपेक्षा होती है। खण्डकाव्य का विस्तार भी अपेक्षाकृत कम होता है।

काव्य का दूसरा वर्ग 'मुक्तक-काव्य' है। मुक्तक काव्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और यह रचना बंधहीन होती है। 'मुक्तक-काव्य' का तात्पर्य स्फुट पद्य रचना से है। 'मुक्तक' का अर्थ एक पद्य रचना से ही नहीं है, वरन् वे एकाधिक भी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने दो, तीन, चार और पांच तथा पांच से अधिक छंदों में पूर्ण होने वाले मुक्तकों को युग्मकं, संदानितकं आदि भिन्न भिन्न नाम दिए हैं।[2] परन्तु इन पदों में पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता। यह संक्षिप्त होता है, इसी कारण इसमें सम्पूर्ण जीवन का विशद चित्र न होकर एक ही स्थिति अथवा भाव का चित्रण होता है। कवि को सचेष्ट रहना पड़ता है कि वह कौशल के साथ सम्पूर्ण चित्र को एक मुक्तक में संजो कर रखता है। इसमें केवल सरस प्रसंगों को आवश्यकतानुसार ही रखा जाता है। अनावश्यक अथवा नीरस प्रसंगों के लिए इसमें स्थान नहीं होता। मुक्तक में पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता, अतएव उसे स्वयं ही पूर्ण होना चाहिए। 'मुक्तक' में

---

१. साहित्य दर्पण — आचार्य विश्वनाथ।

२. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकंमतम् ।
—साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, षष्ट परिच्छेद, श्लोक ३१४-१५

कथा और अन्तर्कथाएं भी नहीं होतीं । क्योंकि प्रत्येक पद मुक्त होता है और उनमें पूर्वापर का सम्बन्ध भी नहीं होता ।

प्रबन्ध काव्य में मुख्य कथा और गौण कथा :—

अपनी हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक स्मृतियों को सुनने की प्रवृत्ति द्वारा ही कथा कहने और सुनने का आरंभ हुआ होगा । मुख्य कथा और गौण कथा, दोनों का संयोजन प्रबन्ध-काव्यों में ही होता है । आदि कवि वाल्मीकि द्वारा रचित आदि-काव्य "रामायण" सबसे प्राचीन कथा-काव्य तथा प्रबन्ध काव्य है । क्रौंच-वध पर क्रौंची, के करुण रुदन से ही द्रवित होकर "मा निषाद प्रतिष्ठां..." के रूप में काव्य की प्रथम पंक्तियां आदि कवि के मुंह से अनायास ही फूट पड़ीं । और तभी स्वयं ब्रह्मा ने उपस्थित होकर उनसे राम-कथा लिखने के लिए कहा ।

यों तो भारत का प्राचीन कथा-साहित्य वैदिक-संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश आदि भाषा युगों में मिलता है । इन सभी भाषा-युगोंं में कथा की कला ने अपनी अलग-अलग विशेषताओं के साथ प्रतिष्ठा पाई है । इसीलिए अनेक आलोचकों ने प्राचीन कथा साहित्य का आरम्भ वैदिक संस्कृत अर्थात् ऋग्वेद से जोड़ा है । परन्तु ऋग्वेद में कथाएं नहीं प्राप्त होतीं वरन् कथाओं के बीज प्राप्त होते हैं ।

उपनिषद् ग्रन्थों में सुख शान्तिदायिनी सूक्तियों के बीच-बीच में कथाएं मिलती हैं । लेकिन ये कथाएं कथा साहित्य की दृष्टि से नहीं आई हैं, वरन् उपनिषदों के भिन्न भिन्न प्रतिपाद्य तत्वों को लेकर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गई हैं । जैसे केनोपनिषद् में देवताओं की शक्ति परीक्षा की कथा, कठोपनिषद् में नचिकेता के साहस की कथा आदि । संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों के कथा-तत्व के संयोग से आगे चलकर अनेक कथाएं प्रचलित हुईं और उनका इतना विकास हुआ कि तत्कालीन मनीषियों को कथाओं के महासंग्रह प्रस्तुत करने पड़े । समस्त पौराणिक साहित्य का उद्भव इसी प्रकार हुआ होगा । महर्षि वेद-व्यास ने कुछ मूल कथाओं को संग्रथित किया और कालान्तर में धीरे धीरे इनका एक विशाल कलेवर हो गया । मुख्य कथाओं के साथ धीरे-धीरे अनन्त अन्तर्कथाएं

जुड़ती चली गईं ।

वाल्मीकि और व्यास कृत 'रामायण' और 'महाभारत' में प्राचीन कथाएं और अन्तर्कथाएं विद्यमान हैं । काल की दृष्टि से 'रामायण' और 'महाभारत' का समय बौद्ध जातक कथाओं से बहुत पहले का है । 'रामायण' की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई थी, अर्थात् 'रामायण' को ५०० ई०पू० से पहले की रचना मानना न्याय संगत है ।[१] 'महाभारत' भी बुद्ध के पहले की रचना है परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ है ।[२] इस प्रकार यह निश्चित है कि 'रामायण' और 'महाभारत' के माध्यम से आख्यानकों और पौराणिक कथाओं का आरम्भ जातक कथाओं से बहुत पहले ही हुआ था ।

हमारे समस्त पौराणिक और रामायणीय साहित्य में कथाएं भरी हैं । ये कथाएं मुख्यतया दशावतार से सम्बन्धित हैं । पृथ्वी पर जब जब संकट आया, तब-तब भगवान् ने अधर्म को रोकने और धर्म की स्थापना करने के लिए समयानुसार अवतार लिया । धार्मिक साहित्य में इन्हीं दशावतारों से सम्बन्धित कथाएं मुख्य हैं । परन्तु इन मुख्य कथाओं के साथ अनन्त गौण-कथाएं, अर्थात् अन्तर्कथाएं जुड़ी हुई हैं । उदाहरण के लिए 'रामायण' प्रबन्ध काव्य है, इसकी मुख्य कथा रामावतार की कथा है । परन्तु इस मुख्य कथा की पुष्टि के लिए, इसके पूर्व इतिहास को बतलाने के लिए इसमें अनन्त अन्तर्कथाएं गुंथी हुई हैं । इसमें रामावतार की आवश्यकता को बताने के लिए अनेक अन्तर्कथाएं मूल कथा के साथ प्रासंगिक और अप्रासंगिक ढंग से जुड़ी हुई हैं । 'महाभारत' भी विशाल प्रबन्ध-काव्य है । इसमें भी मुख्य कथा के साथ अनेक गौण कथाएं जुड़ी हुई हैं । आख्यान और पौराणिक कथाओं की दृष्टि से 'महाभारत' का स्थान प्राचीन संस्कृत कथा-काव्य में अपूर्व है । कथा-तत्व की दृष्टि से इसकी कथाओं की विशेषता यह है कि इन में इतिहास, धर्म और कल्पना, तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है । 'महाभारत' की समस्त अन्तर्कथाएं मूल कथा के साथ अत्यधिक कलात्मकता से

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, गौरीशंकर उपाध्याय, पृ० ४५
२. वही, पृ० ५७

जुड़ी हुई हैं। यही कारण है कि `महाभारत` पुराण के साथ-साथ आख्यानक-काव्य भी है। `महाभारत` में अनेक प्रसिद्ध आख्यानों की सृष्टि हुई है। उदाहरणार्थ आदि पर्व में, `शकुन्तलोपाख्यान`, वनपर्व में `मत्स्योपाख्यान` और `रामोपाख्यान` आदि। प्रबन्ध काव्यों में कथा और अन्तर्कथा का सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। मुख्य कथा के साथ अनेक अन्तर्कथाएं गुम्फित होती हैं। उदाहरणार्थ `महाभारत` में कौरव-पाण्डवों की कथा मुख्य कथा है, परन्तु नहुष, देवयानी आदि की कथाएं, अन्तर्कथाओं के रूप में सैकड़ों की संख्या में उसके साथ जुड़ी हुई हैं।

इन्हीं प्राचीन आख्यानक काव्यों से उद्भूत अनेकानेक प्रबन्ध-काव्य आधुनिक काल में भी लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। `महाभारत` आदि पुराण और `रामायण` की एक-एक अन्तर्कथा पर एक-एक प्रबन्ध-काव्य का प्रणयन हो गया है। `कृष्णायन`[1], तथा `जयभारत`[2] तो सम्पूर्ण `महाभारत` पर आधारित हैं। `कृष्णायन` में `महाभारत` का सारांश कृष्ण के साथ अत्यन्त सुन्दरता से सम्बद्ध है, तथा `जयभारत` में `युधिष्ठिर` को प्रमुखता देते हुए `महाभारत` की कथा का संक्षेपण किया गया है। परन्तु `महाभारत` की एक ही अन्तर्कथा पर आधुनिककाल में `एकलव्य`[3] महाकाव्य की रचना हुई। खण्ड-काव्य तो अनेक लिखे गए हैं। `वन-वैभव`[4], `बक-संहार`[5], `जयद्रथ बध`[6], `हिडिम्बा`[7] आदि खण्ड काव्य[8] महाभारत की छोटी छोटी घटनाओं पर आधारित हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण के आधार पर अनेक रामायणों की रचना हुई। आधुनिक काल में `साकेत` लिख कर गुप्त जी ने उसका एक नया रूप उपस्थित किया।

---

१. कृष्णायन- द्वारकाप्रसाद मिश्र।
२. जयभारत -मैथिलीशरण गुप्त।
३. एकलव्य - डा० रामकुमार वर्मा।
४. वनवैभव-मैथिलीशरण गुप्त
५. बक-संहार- ,,
६. जयद्रथ-वध - ,,
७. हिडिम्बा - ,,

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रबन्ध-काव्यों में मुख्य कथा और गौण कथा, दोनों का महत्त्वपूर्ण अस्तित्व है । मुक्तक तथा गीतिकाव्य आदि काव्य रूपों में उनका अस्तित्व नहीं है ।

द्विवेदी युगीन हिन्दी प्रबन्ध-काव्य की स्थिति :—

यद्यपि आचार्य द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण उद्योग गद्य और काव्य की भाषा को एक करना था, तथापि रीति-कालीन विषयों को छोड़कर नए विषयों को काव्य-रचना के लिए अपनाने की प्रवृत्ति को भी उन्होंने उत्साहित किया । रीति-कालीन कविता मुख्यतया मुक्तकों के रूप में रची गई परन्तु द्विवेदी युग में प्रबन्ध-काव्यों की रचना का आरम्भ बड़ी तीव्रता से हुआ । सर्वप्रथम श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम इस दृष्टि से लिया जाता है । " द्विवेदी युग में सुघरै प्रबन्ध-काव्यों की रचना प्रारम्भ हुई । श्री मैथिलीशरण जी ने विशेष रूप से प्रबन्ध काव्य ही लिखे[१]।" भारतेन्दु युग में हिन्दी कविता को वर्णनात्मकता प्राप्त हुई थी जो विशेष रूप से प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त थी,[२] परन्तु द्विवेदी युग में प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा ही आरम्भ हो गई । द्विवेदी युग में गुप्त जी के `रंग में भंग`,`जयद्रथ-वध` , `भारत-भारती`, `पद्य-प्रबन्ध ` ,`किसान` तथा वैतालिक काव्यों की रचना हुई । `रंग में भंग ` गुप्त जी का प्रथम खण्ड-काव्य है । यह इतिहास पर आधारित है । दूसरा खण्डकाव्य `जयद्रथ-वध` है । यह हिन्दी का पहला सफल प्रबन्ध-काव्य माना गया है । इसके पश्चात् तो उन्होंने`सैरन्ध्री`,`वन-वैभव`, वक संहार`, नहुष` , `हिडिम्बा`, `युद्ध`, `विकट भट`, `सिद्धराज`, `गुरुकुल`, `पंचवटी`,` शक्ति`, `काबा और कर्बला`, `अर्जुन और विसर्जन`, `यशोधरा`, `शकुंतला`,`अजित` और `किसान`आदि खण्ड काव्यों की रचना कर डाली । वास्तव में गुप्त जी का मन प्रबन्ध काव्यों में ही विशेष रमा । `साकेत` महाकाव्य तथा` जय भारत` वृहद्-प्रबन्ध की भी उत्कृष्ट रचना उन्होंने की ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३४८ ,तृतीय संस्क०, १९६३ ई०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा , पृ० ३४८ , तृतीय संस्क०, १९६३ ई०

द्विवेदी युग के प्रबन्ध कवियों मैं अयोध्यासिंह उपाध्याय का नाम भी आता है । यद्यपि इनका प्रथम काव्य-ग्रन्थ 'रसिक-रहस्य' सन् १८६६ मैं ही प्रकाशित हो गया था और उसके बाद भी इनकी रचनाएं प्रकाशित होती रहीं, परन्तु इनकी उत्कृष्ट कवि के रूप मैं ख्याति तब हुई, जब कि इनका सन् १६१४ मैं 'प्रिय-प्रवास ' खंडकाव्य प्रकाशित हुआ । प्रिय प्रवास की कथा यद्यपि पुरानी है परन्तु कवि ने इसे आधुनिक दृष्टिकोण द्वारा अत्यधिक रोचक और सुन्दर बना दिया है ।' कृष्ण इस प्रबन्ध-काव्य मैं 'श्रीमद्भागवत्' तथा भक्त-कवियों के योगेश्वर कृष्ण नहीं हैं, वरन् जीवन मैं जन-सेवा की भावना को प्रश्रय देने वाले कर्मठ श्रीकृष्ण हैं । राधा भी अपने वियोग की व्यथा को जन-कार्यों मैं भुला देने वाली हैं ।'[१] उपाध्याय जी का दूसरा प्रबन्ध-काव्य 'वैदेही वनवास' है किन्तु इसमैं 'प्रिय-प्रवास' का वह मार्दव तथा प्रवाह किसी प्रकार भी नहीं है ।

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने भी द्विवेदी युग मैं काव्य रचना की । उनका 'माधवी' घनाक्षरी छन्दों का बड़ा सुन्दर संग्रह है । इनकी कविताओं का क्रम द्विवेदी युग के बाद भी चलता रहा । इनके अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए और अन्त मैं उन्होंने राष्ट्रपिता बापू को जीवन पर ' जगदालोक' महाकाव्य की रचना की ।

द्विवेदी युग मैं जगन्नाथदास' रत्नाकर' ने भी पर्याप्त प्रबन्ध-काव्यों ' काव्यों की सृष्टि की । उनकी अपनी मौलिक रचनाएं विशेषरूप से प्रबन्धात्मक ही हैं । 'हिंडोला' ,' हरिश्चन्द्र', तथा' गंगावतरण' उनके अच्छे प्रबन्ध काव्य है' । 'उद्धव-शतक' उनका अंतिम प्रबन्ध-काव्य है और इसकी यथेष्ट प्रसिद्धि भी हुई । इनके सभी प्रबन्ध काव्य भक्ति-काव्य से प्रभावित हैं ।

रामनरेश त्रिपाठी ने द्विवेदी-युग मैं राष्ट्रीय दृष्टि से अपना काव्यारम्भ किया । आगे चल कर उन्होंने प्रबन्ध-काव्य रचे ।'मिलन' और 'पथिक' उनके दो प्रसिद्ध खण्ड-काव्य है । इन दोनों ही खण्ड-काव्यों मैं राष्ट्रीय विचारधारा है ।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास —डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३५०(तृतीय संस्करण,

द्विवेदी-युग के अन्य प्रबन्ध काव्य प्रणेताओं में रामचरित उपाध्याय उल्लेख्य हैं। इन्होंने 'रामचरित-चिन्तामणि' प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इनके अतिरिक्त वियोगी हरि, दुलारे लाल, लालाभगवानदीन, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', कामता प्रसाद 'गुरु', लोचनप्रसाद पाण्डेय, रामचरित-उपाध्याय, गिरधर शर्मा, रूपनारायण पाण्डेय आदि कवि भी द्विवेदी-युग में ही आते हैं, परन्तु प्रबन्ध-काव्य की रचना की ओर इनकी दृष्टि नहीं थी।

सरस्वती का प्रकाशन और मैथिलीशरण गुप्त का अवतरण :—

'सरस्वती' का प्रकाशन सन् १९०० से प्रयाग में आरम्भ हुआ। इसके सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। वे सम्पादन कार्य के साथ-साथ झांसी के रेलवे दफ्तरमें भी काम करते थे। 'सरस्वती' साहित्यिक जगत की उल्लेखनीय - पत्रिका थी। यह देश का पहला मासिक था, जो विदेशी मासिकों के स्तर का था। इतना सुरुचिपूर्ण, मुद्रणकला की सुंदरता से ओत-प्रोत और साहित्यिक सामग्री से लब्ध कोई अन्य पत्र हिन्दी में उस समय देश में नहीं था। 'सरस्वती' ने अपने प्रकाशन के तीन वर्ष बाद से ही एक नए युग की स्थापना की। उसे 'द्विवेदी युग' नाम से मान्यता प्राप्त हुई। इसके पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग हिन्दी साहित्य में चला आ रहा था, उसके संस्कार व प्रभाव सभी हिन्दी लेखकों को प्रभावित कर रहे थे। भारतेन्दुहरिश्चन्द्र ने राष्ट्र को राष्ट्रभारती स्वर दिया था। पं० प्रताप-नारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, बा० बालमुकुन्द-गुप्त, लाला श्री निवासदास, ठा० जगमोहन सिंह, बा० तोताराम आदि साहि-त्यकारों ने भारतेन्दु युग के दायित्व को जन मंगल की तत्वानुभूति से भर दिया। इन साहित्यकारों ने क्रमश: मनोरंजकता सरलता, व्यंग्यात्मकता, आलंकारिकता के साथ अर्थ गाम्भीर्य व समास-पदावली, सरल शब्दों की मनोहरता तथा हार्दिक चुटकियों की विशेषताओं से समर्थ ब्रजभाषा को क्रमश: ढाल दिया। अंग्रेजों ने इस समय तक अपनी कुटिल नीति से आधिपत्य स्थापित कर देश को कानूनी शिकंजे में कस लिया था। अंग्रेजी का प्रबल आक्रमण भी देशी भाषाओं पर हो रहा था। इस समय भारतेन्दु ने साधु भाषा (खड़ी बोली) में काव्य रचा और उसी साधु-

भाषा का प्रयोग इन साहित्यकारों ने भी किया । भारतेन्दु युग में पत्र-निबंधों का सूत्रपात हुआ । इसी समय इतिवृत्तात्मक पद्य और प्रबोध गद्य भी लिखे गए । बाबू लक्ष्मी प्रसाद , श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री, बदरीनारायण चौधरी राय देवीप्रसाद "पूर्ण", नाथूराम शर्मा आदि ने भारतेन्दु के स्वप्नों को पूर्ण करते हुए खड़ी बोली को व्यवहृत किया । छंदों की नवीनता, स्वच्छन्दता, लय और स्वर पात का उद्गम भी भारतेन्दु युग की देन है । इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता यह हुई कि ब्रजभाषा पूरी एक शती तक व्यापक क्षेत्र की साम्राज्ञी रह कर अब उतार की अवस्था पर आ गई थी । भारतेन्दु ने उसे पदच्युत कर उसके स्थान पर जन जागरण की साधु भाषा खड़ी बोली को सिंहासनारूढ़ कराया ।

इसी पृष्ठभूमि को लेकर "सरस्वती" सम्मुख आई । प्राग्द्विवेदी-युग की परम्पराओं की दृढ़ आस्था उसके साथ थी । पथद्रष्टा के रूप में कुशल सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उसे मिले हुए थे । प्रारम्भ में "सरस्वती" में प्रकाशित कविताओं की संख्या अत्यल्प थी । उदाहरण के लिए सन् १९०४ में वर्ष भर में केवल तीस कविताएं ही छपीं । अर्थात् प्रतिमास लगभग दो कविताओं का प्रकाशन हुआ । इसका कारण यह था कि सम्पादक की कसौटी पर खरी उतरने वाली कविताओं का उस समय अभाव था । "सरस्वती" में आरम्भ से ही रविवर्म्मा आदि कलाकारों के चित्रों पर कविताएं लिखी गईं । मार्च सन् १९०५ की "सरस्वती" के मुख पृष्ठ के सामने रविवर्म्मा का इकरंगा चित्र एक दाक्षिणी स्त्री के मनोहर रूप से अंकित छपा और उसके नीचे "रम्भा" शीर्षक दिया गया था । इस चित्र की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता का रूप दिया । आगे चल कर गुप्त जी की अनेक कविताएं, विभिन्न चित्रों पर आधारित, "सरस्वती" में प्रकाशित हुईं ।

यह युग प्रधान रूप से समस्यापूर्ति का युग था । स्वतंत्र विषयों पर कविताएं अत्यल्प होती थीं । इस तरह की तुकबंदियों में निरुद्देश्य वाग्विलास की मात्रा अधिक और यथार्थ काव्य सौन्दर्य की मात्रा कम रहती थी । द्विवेदी युग जी ने धार्मिक, पौराणिक कथाचित्रों पर कविताएं रच कर इस प्रेम-प्रधान

काव्यधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया । धीरे-धीरे 'सरस्वती' मनोरंजक सामयिक-पत्र से अधिक पठनीय सामग्री से युक्त, एक संस्था रूप में प्रतिष्ठित माध्यम का रूप ग्रहण कर रही थी । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को साहित्यिक माध्यम का रूप दिया और उसमें उन्होंने साहित्य के अनेक अंगों की नैतिक मर्यादाओं को सुनिश्चित किया । उस माध्यम की ओर युवक श्री मैथिलीशरण गुप्त भी आकृष्ट हुए और देश के सभी हिन्दी लेखक भी । परन्तु द्विवेदी जी सिर्फ उन्हीं को इस माध्यम की सदस्यता दे रहे थे, जो उनकी कसौटी पर खरे उतरते थे । इसी का यह परिणाम हुआ कि अंतिम समय तक, बीस वर्षों की अवधि में भी, यह सदस्यता बहुत ही सीमित रही ।

'सरस्वती' में गुप्त जी की सबसे पहले 'हेमंत' कविता छपी । जल्द छपने के लोभ में कवि ने यही कविता 'मोहिनी' में भी छपने भेज दी थी । 'सरस्वती' में 'हेमंत' कविता सम्पादक द्वारा संशोधित और परिवर्धित करके छपी थी । 'मोहिनी' में वह अपने सहज रूप में ही छप कर आई थी । गुप्त जी द्विवेदी जी के प्रति इस व्यवहार से कृतज्ञ हुए और उन्होंने एक दूसरी कविता 'क्रोधाष्टक' 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेज दी । द्विवेदी जी को यह रचना मिली और इसी समय 'मोहनी' भी देखने को मिली जिसमें गुप्त जी की 'हेमंत' कविता अपने पूर्व रूप में छपी थी । इसमें 'हेमंत' कविता को देखकर उन्हें युवक मैथिलीशरणगुप्त की इस आतुरता पर खेद हुआ । उन्होंने समझ लिया कि संभवत: 'सरस्वती' में छपने से पहले ही इसने यह कविता दूसरे पत्र में भेजने की जल्दी दिखाई है । परन्तु उन्होंने अपनी तीव्र बुद्धि से कवि को समझ भी लिया था । शान्त मन से उन्होंने गुप्त जी को पत्र लिखा — "हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते । कुछ भी लिख कर छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है । आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए । x x x x इसे हम अवश्य सरस्वती में छापेंगे परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविता छपाने का विचार छोड़ दीजिए । जिस कविता को हम चाहें

उसे छापेंगे । जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए , न किसी को दिखाइए । ताले में बन्द करके रखिए ।"[1] इसके पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त ने उन्हें गुरु रूप में स्वीकार किया, और उन्होंने भी इन्हें सदा के लिए अपना लिया ।

जून, सन् १९०६ में गुप्त जी की तीसरी रचना 'प्रणय की महिमा' 'सरस्वती' में छपी । इस समय तक चित्रों पर कविता प्रकाशित होने के कारण 'सरस्वती' की लोकप्रियता बढ़ रही थी । सन् १९०७ में द्विवेदी जी ने गुप्त जी को कलात्मक चित्रों को विषय बनाकर पद्य रचना करने का अवसर दिया । इस समय गुप्त जी की आयु बाईस वर्ष की हो चली थी । इसी वर्ष अगस्त में 'सरस्वती' के अन्तर्गत पद्मावती के राजा के मंत्री भूरिवसु की कन्या मालती और विदर्भाधिपति के मंत्री के पुत्र माधव की कथा से संबद्ध 'मालती माधव' चित्र प्रकाशित हुआ । उसी पर गुप्त जी की इसी शीर्षक से कविता प्रकाशित हुई । इसी वर्ष गुप्त जी द्वारा किए गए महाकवि कालिदास के वसंत-वर्णन के छायानुवाद भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए । १९०८ में द्विवेदी जी ने चित्रों के ऊपर पद्य-रचना का भार पूर्ण रूप से गुप्त जी पर छोड़ दिया । इस वर्ष की अधिकांश चित्रोपजीवी कविताएं गुप्त जी की हैं । यह वास्तव में गम्भीर दायित्व का काम था । इसी कार्य को करते हुए गुप्त जी को पौराणिक पद्य-प्रबन्ध लिखने का मार्ग भी प्राप्त हो गया । जनवरी में 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' नामक चित्र पर इसी शीर्षक की कविता प्रकाशित हुई । इसी कविता ने 'जयद्रथ-वध' खण्ड काव्य का भी बीजारोपण कर दिया । यह गुप्त जी की पहली कविता है जो , हरिगीतिका छंद में लिखी गई है । अब 'सरस्वती' में गुप्त जी की पौराणिक विषयों पर कविताएं छपने लगीं ।

यह अंग्रेजी सत्ता का युग था । परन्तु 'सरस्वती' के संचालक तात्कालिक शासन की आलोचना करने के पक्ष में न थे । वे सरकारी नीतियों के समर्थक

---

१. राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १७८
प्रधान संपादक — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।
प्रबन्ध सम्पादक — कवि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' ।

थे। द्विवेदी जी सरस्वती-संपादकों की उस नीति को समझते हुए भी, यह जानते थे कि हिन्दी भाषा का जन्म राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अत्याचारों को सहने के लिए नहीं हुआ है। इसीलिए गुप्त जी संचित भाव से उन्होंने सामयिक उच्छ्वासित आवेगों को सरल ध्वनि के साथ समय-समय पर सरस्वती में स्थान दिया। कभी कभी आवश्यकतानुसार राजनीतिक ध्वनि से उनकी रचना करते हुए, उन्हें उग्र भी बनाना पड़ा। हिन्दी का यह युग उस चिंतनीय अवस्था में था जबकि हिन्दी का पत्र पढ़ना अनावश्यक नहीं अपितु बेकार समझा जाता था। हिन्दी के नाम पर व्यय करना एक प्रकार से अशोभन समझा जाता था। ऐसी स्थिति में गुप्त जी 'सरस्वती' में कविताएं भी लिखते थे पर उसे खरीद कर ही पढ़ते थे।

सन् १९०६ में 'सरस्वती' की ग्राहक संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। 'सरस्वती' की लोकप्रियता और भी बढ़ गई। 'सरस्वती' में चित्रों को काव्यमय अभिव्यक्ति दी जा रही थी। देश-प्रेम से लेकर सांस्कृतिक विषयों तक उन पर प्रकाश पड़ रहा था। इस वर्ष गुप्त जी ने पौराणिक गाथावली के साथ ऐतिहासिक कथानकों को भी पद्यबद्ध किया। आज पत्र और लेखक में आत्मीयता स्वार्थ परक और औपचारिक बन कर रहती है। लेकिन गुप्त जी और 'सरस्वती' में यह आत्मीयता हार्दिक थी। 'कविता-कलाप' के प्रकाशन से यह बात और स्पष्ट हो गई। यह ४६ कविताओं का संग्रह इंडियन प्रेस ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित करके प्रकाशित किया था। इन ४६ कविताओं में अकेले गुप्त जी की २८ कविताएं हैं। यह हिन्दी का सर्वप्रथम लोकप्रिय व प्रतिनिधि काव्य संग्रह था। सन् १९१० से द्विवेदी युग का दूसरा चरण आरम्भ हुआ। इस समय तक 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका बन चुकी थी। 'सरस्वती' की इस सफलता में गुप्त जी का भी बहुत दायित्व था। इसी वर्ष गुप्त जी की पहली पुस्तक 'रंग में भंग' इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुई और उसका विज्ञापन इसी वर्ष की अप्रैल अंक की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही यह प्रशंसात्मक विज्ञापन प्रकाशित करवाया था। इस प्रकार 'सरस्वती' की लोकप्रियता के साथ-साथ गुप्तजी की लोकप्रियता भी बढ़ती चली गई। कई पत्र-सम्पादकों ने अपने अपने पत्रों में छापने के लिए उनसे रचनाएं मांगने लगे। परन्तु

गुप्त जी उनकी कविताएं उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकती थी । अतः वे गुप्त जी से नाराज़ होने लगे । इस प्रकार गुप्त जी की लोकप्रियता बढ़ती ही गई ।

प्रथम अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य, विकास और अध्ययन

क. काव्य-क्षेत्र में गुप्त जी के पदार्पण के समय की खड़ी बोली :—

ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यद्यपि खड़ी बोली प्रमुख काव्य-भाषा के पद पर आसीन थी, परन्तु वह लड़खड़ा रही थी । उसका सुनिश्चित, सुदृढ़ और सुन्दर रूप अभी निर्धारित नहीं था । भारतेन्दु काल से ही वह गद्य की भाषा के रूप में चली आ रही थी परन्तु अब भी उसमें अनेक त्रुटियाँ थीं । संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव, ब्रज के शब्दों का अधिक प्रवेश, वाक्य-विन्यास की त्रुटियाँ और व्याकरण सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ उसमें वर्तमान थीं । ब्रज भाषा का बोलबाला तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही कम हो चला था । गद्य लेखन के लिए इसी समय से खड़ी बोली का पूर्ण प्रयोग हो रहा था । फिर भारतेन्दु जी के पश्चात् यह आन्दोलन और भी तीव्रता से चला ।

काव्य रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग एक नई ही वस्तु थी । इस समय के कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाना प्रारम्भ किया । परन्तु प्रारम्भ में उनके काव्य में खड़ी बोली का सुनिश्चित और सुव्यवस्थित रूप नहीं आ पाया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक उदाहरण देखिए —

बरखा रितु सखि सिर पर आई पिय बिदेस छाए ।
हमें अकेली छोड़ आप कुबरी सों बिलमाए ।।
सन्देश भी नहीं भिजवाए ।
वादे पर वादा भूठा कर अब तक नहिं आए ।
बिथा सौ कही नहीं जाती
पिय बिना मैं व्याकुल तड़पूं नींद नहीं आती ।।
रात अंधेरी पंथ न सूझै घोर घटा छाई ।

रिमझिम रिमझिम बूँदें बरसें झरी पुरवाई ।।
पपीहा पी पी रट लाई[1]।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ के कवियों की काव्य-भाषा में भी इसी प्रकार की अपरिपक्वता दिखाई पड़ती है । दो-एक उदाहरण देखने से भाषा का रूप स्पष्ट हो जाता है । अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का एक उदाहरण देखिये —

'रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली ।'[2]

इस उद्धरण में संस्कृत पदावली का प्रभाव अत्यधिक दिखलाई पड़ता है । खड़ी बोली की सरलता और स्वाभाविकता का सर्वथा लोप है । रूपनारायण पाण्डेय द्वारा रचित एक उदाहरण देखिये —

' वन-बीच बसे थे, फसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं,
दिनरात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं ।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रही ।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ।'[3]

पाण्डेय जी की खड़ी बोली में संस्कृत का प्रभाव तो नहीं, परन्तु, एक अपरिपक्वता है । भाषा में प्रवाह का सर्वथा अभाव है ।

भारतेन्दु युग में भाषा के सुधार को करने वाले केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही नहीं थे । उनके साथ दयानन्द सरस्वती, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास दास आदि सभी थे । परन्तु फिर भी भारतेन्दु-युग ने खड़ी बोली में पर्याप्त और उच्चकोटि की रचना नहीं की । यद्यपि बंगला के प्रभाव से हिन्दी में कोमलता और अभिव्यंजना की शक्ति आ रही थी, साथ ही अंग्रेजी के प्रभाव के फलस्वरूप विराम आदि चिह्नों का प्रयोग भी हिन्दी में होने लगा

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, सं० ब्रजरत्नदास, संस्करण, संवत् १९९१, पृ० ५०६
२. प्रिय-प्रवास, पृ० २६ (पंचम संस्करण)
३. कवि-भारती (साहित्य सदन, चिरगाँव, प्रथमावृत्ति, पृ० १३०)

था, परन्तु यह सब अत्यल्प था। हिन्दी के लेखक और कवि भाषा का मनमाना प्रयोग कर रहे थे। व्याकरण की त्रुटियाँ, वाक्य विन्यास की त्रुटियाँ भाषा में बराबर रहने लगीं। लेखक और कवि खड़ी बोली का मनमाना प्रयोग करने लगे। उन्हें न भाषा की शुद्धता का ध्यान रहा, और न शैली की शुद्धता का।

भाषा की इस भूमिका में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रवेश किया। कविता के क्षेत्र में वे विषय, भाव, भाषा, शैली सभी की नवीनता लेकर आए। भाषा सुधारक होने पर भी द्विवेदी जी की आरम्भिक कविताएँ त्रुटिपूर्ण हैं। एक उदाहरण देखिए —

> कामिनियों के मधुर मधुर रवकारक नव नूपुर-धारी,
> पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी।
> गुदे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण महा मनोहारी,
> कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी ॥[1]

द्विवेदी जी की इन पंक्तियों में भाषा की पर्याप्त अशुद्धियाँ हैं। उनकी आरम्भिक रचनाओं — 'अमृत-लहरी', 'भामिनी विलास', 'बेकन-विचार', 'रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली-तृतीय भाग की समालोचना' आदि — में लेखन त्रुटियों, व्याकरण की अशुद्धियों और रचना सम्बन्धी दोषों की इतनी प्रचुरता है कि वे भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतियाँ नहीं प्रतीत होतीं।"[2] परन्तु आगे चल कर अपने गंभीर अध्ययन, मनन और चिंतन से उन्होंने भाषा का परिष्कार किया। साथ ही साथ 'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों की भाषा का भी परिष्कार किया। यह कार्य उन्होंने कितनी तत्परता, परिश्रम और मनोयोग से किया यह तो तभी मालूम हो सकता है जब कला-भवन (वाराणसी) में सुरक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ देखी जायँ। तत्कालीन प्रसिद्ध लेखक अध्यापक पूर्ण सिंह, कामता प्रसाद गुरु, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, मिश्रबन्धु, वृन्दावनलाल वर्मा, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा रामचरित उपाध्याय आदि की भाषा का परिमार्जन

---

१. कवि-भारती, पृ० ११ (साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, प्रथमावृत्ति)
२ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह (प्रथमावृत्ति), पृ० १६२

आचार्य द्विवेदी ने ही किया था । वे लेखकों की त्रुटियों की कटु आलोचना करते थे और कटु टिप्पणियां लिखते थे । ऐसे ही समय में मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया ।

स. गुप्त जी का काव्य क्षेत्र में प्रवेश और प्रारम्भिक रचना :—

गुप्त जी की रुचि साहित्य की ओर बालपन से ही थी । तेरह-चौदह वर्ष की आयु में ही वे अनेक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों को पढ़ने और समझने लगे थे । वे स्वयं लिखते हैं — "उन्हीं दिनों की वह बात भी नहीं भूलती, जब एकांत में बैठ कर मैंने राजा लक्ष्मण सिंह की 'शकुंतला' पढ़ी थी । उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा का वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था । उस तेरह-चौदह वर्ष की आयु में कैसे ऐसा भावोद्रेक हुआ, नहीं जानता । x x x मेरे पिता जी अनन्य वैष्णव भक्त थे । 'रामचरित मानस' और 'अध्यात्मरामायण' दोनों के पाठ प्रति सप्ताह पूरे किया करते थे । मैंने भी मानस के अनेक पारायण किये हैं । फिर भी मैंने संस्कृत और हिन्दी के बहुत से सुभाषित कंठ किए थे और मैं उन्हें अकेले में अपनी धुन से दुहराया करता था । धीरे धीरे औरों के सम्मुख भी पढ़ने लगा था । परन्तु मेरे कवित्व का आरम्भ, जहां तक मैं समझता हूँ, इस प्रकार हुआ । पिता जी ने 'कवितावली' के अनुकरण पर कुछ सवैये भी लिखे थे । एक छन्द में सीता जी से उनकी माता जी कहती हैं —

दूर गली जनि जाहु लली निज आंगन खेल-रचौ रस भीनी,
कनकलता हिय माँहि बसौ नित तात औ मात की जीवन जी नीं ।

इस छंद में 'कनकलता' नाम अपनी सहज गति से नहीं आता । यह बात मुझे खटकी मैंने सोचा कि पिता जी का नाम 'कनकलता' न होकर स्वर्णलता अथवा हेमलता होता तो अच्छा होता । सवैया पढ़ते समय मैं स्वर्ण लता ही कहने लगा । मेरे भीतर यहीं से छन्द का उदय समझिये ।"[1] आगे गुप्त जी लिखते हैं — "परन्तु

---

१. मेरे कवि का आरम्भ, शीर्षक रेडियो वार्ता, अप्रैल १९५५ को नई दिल्ली से प्रसारित ।

छंदोरचना कठिन ही लगी । एक दिन कुछ साथी बैठे थे । मतिराम और पद्माकर आदि के कितने ही पद पढ़े गए । फिर बिहारी की चर्चा चली । उनके दोहों का भी पाठ हुआ । मेरी बाल्य-बुद्धि ने गर्व किया, दोहे बनाने में क्या है । किसी ने कहा — 'उर मुतियन की माल ।' मेरे अग्रज रामकिशोर जी भी गोष्ठी में थे । उन्होंने सहसा कह दिया — 'चंद्रमुखि मृग लोचनी उर मुतियन की माल ।' परन्तु मैं अपने मिथ्या गर्व की रक्षा न कर सका । मौन ही रह गया । मुतियन की माल से सम्बन्ध जोड़कर पादान्त में अनायास मराल आ सकता था । जैसे —पायन में मंजीर- मिस मचलत जात मराल । जैसे — पायन में मंजीर, परन्तु मैं बाल भी कहाँ, निरा बालक था । < < < < तथापि मैंने छंद को आयत्त करने की ठान ली । आपको सुन कर आश्चर्य होगा, कि मात्रिक छंदों की अपेक्षा गणवृत्तों की रचना मुझे सुलभ जान पड़ी । कैसे, सुनिये — मैंने यह श्लोक सीख लिया था ; आदि मध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्, यरता लाघवयान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् । मैंने स्लेट पर पहले एक नगण के चिह्न लिखे, फिर दो भगण और एक रगण के । उनके नीचे उसी क्रम से अक्षर बिठाने आरम्भ कर दिये — अजहुं दीन दयाल दया करो, सपदि भारत की विपदा हरो । " < < < " परन्तु घनाक्षरी की गठन बड़ी कठिन लगी । यह गण नहीं, वर्णवृत्त था । तथापि उस समय का लिखा , उसका एक चरण स्मरण आ रहा है — ' जगमग जरी जोति जटित जवाहर की, अंग-अंग अतर तरंग रंग न्यारी न्यारी कटित राचे है ।' पद्माकर का मनहरण मुझे बहुत रुचता था । उसे पढ़ने में फूल से झड़ते थे ।"[1] इस प्रकार कवित्त-प्रेम का अंकुर गुप्त जी के हृदय में जम गया और विकास की ओर उन्मुख हुआ । अजमेरी जी लिखते हैं — " मैथिलीशरण की पद्य रचना से प्रेम उसी समय (लघु सिद्धान्त कौमुदी के पढ़ने के दिनों में) हुआ था । उन दिनों आप कभी दोहा और कभी छप्पय लिखा करते थे और लिख कर फाड़ फेंकते या यों ही डाल देते थे । एक दिन आपका लिखा छन्द दाऊजू की दृष्टि में पड़ गया । उन्होंने मुझसे पूछा कि यह क्या मैथिलीशरण ने लिखा है ? उन्हीं का बनाया हुआ है ? वे पद्य बना लेते हैं ? मेरे हाँ कहने पर बोले

---

१. मेरे कवि का आरंभ—रेडियो वार्ता नई दिल्ली से प्रसारित, अप्रैल, १९५५

कि कहलाओगे, ये कैसी कविता करेंगे ? हम जैसी या हमसे अच्छी ? मैंने कहा कि आप जैसी तो क्या करेंगे, पर हाँ, अच्छी करेंगे । तब उन्होंने हँस कर कहा कि तुम्हें मालूम नहीं है, हमने उन्हें हृदय से आशीर्वाद दिया है कि हमसे हजार-गुनी अच्छी कविता करेंगे , सो हम तो न रहेंगे, पर तुम देखना ।" इसी प्रसंग में मुंशी अजमेरी जी आगे लिखते हैं — "भाई मैथिलीशरण जी ने जब कविता लिखना शुरू किया था, तब ब्रजभाषा में ही शुरू किया था । उस समय आप दोहा, चौपाई और छप्पय ही लिखा करते थे ।"[1] वास्तव में यह वह समय था जब कि ब्रजभाषा ने अपने प्रासाद और लालित्य से समस्त उत्तर भारत को प्रभा-वित कर रखा था, और वही मुख्य रूप से काव्य की भाषा थी । इसीलिए वैष्णव और अन्य सम्प्रदायों के भक्त भी इसी में रचना करते थे । इस युग की नई संतति ने भी विरासत में यही भाषा पाई । अतः अपनी युवावस्था के प्रथम चरण में पैर रखते ही १६ वर्षीय मैथिलीशरण ने जो दोहे, चौपाई और छप्पय लिखने शुरू किये, वे ब्रजभाषा में ही थे । इस समय गुप्त जी की भाषा ब्रज-मिश्रित बुन्देलखण्डी थी ।

प्रारम्भ में गुप्त जी ने अन्योक्तियाँ भी लिखी थीं । इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं — "मैंने संस्कृत की अन्योक्तियों से ही प्रथम उन्हें लिखने की प्रेरणा पाई थी । अतएव आरंभ में कुछ भी वे ही लिखे थे । × × × बुन्देल-खण्ड का एक लोकगीत 'लेद' कहलाता है । कभी-कभी इसका प्रयोग मैंने किया है । इसमें कही गई एक अन्योक्ति इस प्रकार है —

चषक, जा उनके मुँह लग मान तू जो चिंतन से थक जायँ ,
धधकता भभका मुझको जान तू तुझ जैसे सौ छक जायँ ।[2]

मैथिलीशरण गुप्त को बाल्यावस्था से ही कविता करने की धुन सी हो गई थी । इसी प्रसंग में वे लिखते हैं — "प्रसंगवश उस समय की एक बात कह दूँ । एक बार मैंने अपने लिपिकार बंधु, मुंशी अजमेरी से कहा, 'मेरे संध्याशतक की प्रतिलिपि करने के लिए प्रस्तुत हो जाओ ।' उन्होंने विस्मित होकर मुझसे पूछा कि तुमने

गुप्त जी और मेरा सम्बन्ध

१. दैनिक प्रताप, जुलाई २६, १६३६ ।

२. अन्योक्ति-शीर्षक रेडियो वार्ता, नई दिल्ली, होली, संवत् २००६ को प्रसारित

संध्या के वर्णन में कब सौ पद लिख डाले ? मैंने निश्चिंतता से उत्तर दिया कि दो पद आज लिखे हैं, केवल अट्ठानवे और लिखने हैं। वे हँस पड़े और बहुत दिनों तक मेरी हँसी उड़ाते रहे। यह अट्ठानवे नहीं निन्यानवे का फेर समझिए।[१]

सन् १८९८ से १९०३ तक स्फुट छंद और छप्पय लिखने का सिलसिला चलता रहा। इन दिनों कलकत्ता के राम प्रेस से श्री रामलाल जी नेमाणी 'वैश्योपकारक' नामक एक जातीय पत्र निकाल रहे थे। इस पत्र में गुप्त जी ने अपनी अन्योक्तियाँ प्रकाशनार्थ भेजी जो कि धारावाहिक रूप से प्रकाशित भी हुईं।

मैथिलीशरण गुप्त जब १८ वर्ष के हुए तो उस समय तक पिता, माता और प्रथम पत्नी का चिर वियोग हो चुका था। इस आघात ने उनके हृदय पर एक गहरी गंभीरता व्याप्त दी और इस किशोर कवि को एक सीधा मार्ग दिखाया। चिरगाँव में आने वाले सभी समाचार पत्रों को तो आप पढ़ते ही थे, अब नवीन प्रकाशित काव्य कृतियों को भी मँगा मँगा कर पढ़ने लगे। सन् १९०४-१९०५ में 'वैश्योपकारक' में आपके पद्य धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। अभी आप ब्रजभाषा में ही काव्य रचना करते थे। इस समय प्रयाग से 'सरस्वती' को निकलते पाँच वर्ष हो चले थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके संपादक थे और साथ ही झाँसी के रेलवे दफ्तर में भी कार्य करते थे और सीपरी बाजार में रहते थे। वैश्योपकारक एक जातीय पत्र था, अतः गुप्त जी की यह इच्छा हुई कि उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में, जो कि एक साहित्यिक पत्रिका है, प्रकाशित हों। अतः वे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिलने गए। वे स्वयं लिखते हैं — मैं कुछ पद्य बनाने लगा था। पंडित जी (श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी) उन दिनों झाँसी में ही थे। उनका नाम मैं सुन चुका था और उनकी 'सरस्वती' के दर्शन भी मैंने पा लिए थे। मेरे मन में प्रश्न उठा — क्या सरस्वती में अन्य कवियों की भाँति मेरा नाम नहीं छप सकता ? इसका उत्तर अपने ही दीर्घ निःश्वास के रूप में मुझे मिल जाना चाहिये था, परन्तु लड़कपन अल्हड़ होता है और दुस्साहसी भी।

पिता जी के साकेतवास के पीछे उनके नाते, कृपा बनाये रखने के

---

१. अन्योक्ति शीर्षक रेडियो वार्ता, नई दिल्ली, छोटी संवत्, २००६ को प्रसारित

प्रार्थी होकर, अपने काका जी के साथ हम लोग पहली बार कलक्टर साहब को जुहारने फाँसी गये थे। मेरे जाने का प्रधान उत्साह और ही था। भीतर-भीतर 'सरस्वती' में अपना नाम छपाने का हौसला लगाने की उत्कण्ठा थी और बाहर ऐसे महानुभाव के दर्शन करने की इच्छा से, अपने अग्रज को साथ लेकर मैं पण्डित जी के स्थान पर पहुँचा। घर छोटा ही था। द्वार पर बाँस की तीलियों की बनी लिपटी हुई चिक बँधी थी, जिसकी गोट का हरा कपड़ा कुछ फीका पड़ गया था। एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी। दूसरी ओर भी एक पटली थी, उसमें लिखा था, 'सबेरे भेंट न होगी।' हम लोग इस बात को सुन चुके थे। अतएव तीसरे पहर गये थे। तब भी वे आफिस से नहीं लौटे थे। छोटे से ओसारे में एक बेंच पड़ी थी। उसी पर हम बैठ गए।"[1] ~~पण्डित जी अच्छे दिखाई पड़े~~।

उस दिन संकोचवश गुप्त जी अपनी कविता छपने की बात न कह पाए। परन्तु घर आकर अपनी ब्रजभाषा में लिखी एक कविता द्विवेदी जी को भेज दी।" यथा समय उत्तर आ गया," आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गई है। 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएं छापना पसंद करते हैं।" < < < < " बोलचाल की भाषा अर्थात् खड़ीबोली और पुरानी भाषा अर्थात् ब्रजभाषा। पाठक ही समझ लें, मेरे मन में अपनी रचना की अस्वीकृति खली या ब्रजभाषा की उपेक्षा। मन कुछ विद्रोही था ही, आशा भी पूरी न हुई। अब क्या था, एक कड़ा सा पत्र लिख दिया। एक बात सुनी थी कि शेख सादी साहब को फ़ारसी भाषा की मधुरता का बड़ा अभिमान था। एक बार वे यहाँ आए। ब्रजभाषा की प्रशंसा सुनकर उन्होंने नाक सिकोड़ी और भौंह चढ़ाई। घूमते-फिरते वे ब्रज पहुँचे। वहाँ मार्ग में चलते-चलते उन्होंने एक छोटी सी लड़की की बात सुनी। वह माता से कह रही थी," मायरी माय, मग चल्यो न जाय, साँकरी गली, पाय काँकरी गड़तु है।" इसका संकेत भी अपने पत्र में कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया —" कार्तिक शुक्ल ३, संवत् १९६१ श्रीमान् पण्डित जी महाराज, चरणारविन्दों में बहुशः प्रणाम। भवदीय चरण रत पत्र प्रयागात्र कुशलं तत्रास्तु, कृपा - कृपाभिलाषी हूँ। कृपासिन्धु! का कृपांकित शिक्षापत्र २८।१०।१९०४ का प्राप्त हुआ। पत्र देने में कई कारणों से विलम्ब हुआ, क्षमा कीजियेगा। भगवान

इतना खेद मुझे अपनी कविता सरस्वती के पाठकों की ब्रजभाषा पर तुच्छता का ।" जो हो अपनी रुचि होती है, मुंडे मुंडे रुचिर्भिन्ना । इसी प्रकार शेख सादी साहब को भी इस ब्रजभाषा पर एक तुच्छता प्रगट हुई थी । परन्तु इन व्यर्थ के पचड़ों से क्या लाभ ? महात्मन् निःसन्देह श्रीमान के चरणाम्बुजों में मेरी हार्दिक भक्ति है । सरस्वती से पूर्ण प्रेम है और खड़ी बोली में यथासाध्य कविता भी रच सकता हूँ । परन्तु क्या किया जाय ? खेद का विषय है कि इस दास को स्वभाव से ही खड़ी बोली से कुछ अरुचि सी है । अरुचि है सही किन्तु "यदादा चरित श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जन: सयत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" इस न्याय से जब श्रीमान् जैसे विद्वद्वर पुरुषों को ही खड़ी बोली रुचिकर है तब मुझ जैसे अशिक्षित अल्पज्ञ अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या ? अस्तु, अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान् की सेवा में अर्पण करूंगा । ...... -[१]

सम्भवत: मैथिलीशरण गुप्त का यह पहला साहित्यिक पत्र था । वे पुन: लिखते हैं[२]— परन्तु इस पत्र का कोई उत्तर न मिला । भगवान ही जानें, इससे मैं अपनी जीत समझा यह अपने प्रहार को सर्वथा निष्फल समझ कर और भी हताश हो गया । प्रतिघात सह लिया जा सकता है, किन्तु आघात का व्यर्थ होना प्रतिघात से भी कठोर होता है । तथापि मेरी धृष्टता का वे क्या उत्तर देते ? मैंने धृष्टता पूर्वक एक पत्र और भी इस सम्बन्ध में भेजा । वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया । इस बीच कलकत्ते के "वैश्योपकारक" मासिक पत्र[३] में मेरे पद्य छपने लगे थे । इससे मुझे कुछ अभिमान भी हो गया था । परन्तु हिन्दी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका "सरस्वती" थी । मेरा मन उधर ही लगा था ।

---

१. "सरस्वती" का द्विवेदी स्मृति अंक (फरवरी १९३९ ई०)
२. ,, ,, ९६
३. "वैश्योपकारक" के दूसरे वर्ष के प्रथम अंक में सम्पादकीय टिप्पणी का एक अंश इस प्रकार है — "बाबू मैथिलीशरण गुप्त का नाम भी कृतज्ञता के साथ स्मरण करने के योग्य है । इन महाशय की कविता लगातार छपती रही है ।"

झख मारकर खड़ी बोली के नाम से 'हेमन्त' शीर्षक कुछ पद्य लिखे। उन्हीं दिनों राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'वसन्त' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी। वह पुरानी भाषा में ही थी। 'वसन्त' छपी तो 'हेमन्त' भी छप सकता है। उसे भेजते हुए मैंने निर्लज्जतापूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है, अब 'पुरानी भाषा' के सम्बन्ध में आपका मत बदला है, जिस दिन उत्तर मिलना चाहिये था, उत्सुकतापूर्वक मैं स्वयं डाकघर पहुँचा। उत्तर पोस्टकार्ड के रूप में उपस्थित था। धड़कते हृदय से पढ़ा। लिखा था, 'आपकी कविता मिली। राय साहब की कविता अच्छी होने से छापनी पड़ी है।' अब समझ में आया कि नई-पुरानी भाषा का तो एक बहाना था, मेरी कविता अच्छी न होने से न छप सकी थी। यह उस समय भी न समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होंने उसे बुरा न बताकर भाषा की बात कह कर कितनी शिष्टता से मुझे उत्तर दिया, यद्यपि यह ठीक था कि बोलचाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे। जो हो मेरा जी बैठ गया। 'सरस्वती' आई पर 'हेमन्त' न आया। वह क्यों नहीं आया, आवेगा भी या नहीं, यह पूछने का भी धीरज न रहा। कन्नौज से 'मोहनी' नामकी एक समाचार - पत्रिका निकलती थी। उसी में छपने के लिए मैंने 'हेमन्त' भेज दिया और अगले सप्ताह ही वह छप गया। एक द्विवेदी जी न सही, तो दूसरे गुणग्राहक विद्यमान हैं, यों मैंने मन समझाने की चेष्टा की। मन ने मान भी लिया, कारण अपमान भी उसी ने माना था। तथापि उसके एक कोने से यह शब्द उठे बिना न रहा कि हाय 'सरस्वती'।"[1]

परन्तु यह झगड़ा यहीं समाप्त न हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हेमंत' कविता को परिष्कृत करके 'सरस्वती' में छाप दिया। जब गुप्त जी ने 'सरस्वती' में 'हेमन्त'[2] कविता छपी देखी तो उनका रोम रोम खिल उठा। लेकिन यह कविता 'मोहनी' में तो अपने सहज रूप में छपकर आई थी, 'सरस्वती'

---

१ 'सरस्वती' का द्विवेदी स्मृति अंक, फरवरी, १६३६

२ 'मंगल-घट', पृ० १०५, प्रथम संस्करण, १६१२ ई०

में उसकी दूसरे ही रूप में वह दिखाई पड़ी । उसने सोचा," इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्तन हुआ कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती । कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्ति । वह कितना विद्रूप और यह कितना परिष्कृत । फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है ।"[1]

'हेमंत' का अंतिम पद मूल और संशोधित रूप में इस प्रकार था —

मूल— ओढ़े दुशाले अति उष्ण अंग ,
धारें गरम वस्त्र हिये उमंग ।
तो भी करें हैं सब लोग सी, सी ,
हेमंत में हाय कँपै बतीसी ।।

संशोधित— अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले
हैं ओढ़ते जो बहुविध वाले ।
तो भी नहीं बन्द अमन्द सी,सी ,
हेमन्त में है कंपती बत्तीसी ।।

इसके पश्चात् गुप्त जी ने 'क्रोधाष्टक'[2] कविता 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी । 'क्रोधाष्टक' के निम्नपद्य को पढ़ कर आचार्य द्विवेदी को गुप्त जी पर काफी रोष प्रकट करना पड़ा । यथा —

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया ।
जानें न वे तनिक भी अपना पराया ।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी ।
रे क्रोध, जो मन करें तुझको कदापि ।

इन पंक्तियों में प्रयुक्त क्रियाओं से ऐसा प्रतीत होता है मानों क्रोध को आशीर्वाद दिया जा रहा है । आचार्य द्विवेदी ने गुप्त जी को लिखा—" हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । आप दो बातों में से एक भी करना नहीं चाहते ।

---

१. सरस्वती का द्विवेदी स्मृति अंक (फरवरी १९३९)
२. 'पद्य-प्रबन्ध', पृ० ८९

कुछ भी लिख कर छपा देना आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'ग्रीष्मवर्णन' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए।, < < क्या आप क्रोध को मानसिक [illegible] दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया ? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर उधर अपनी कविता छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। बक्से में बंद करके रखिए।"[1]

इसके बाद से गुप्त जी ने अपने सारे अध्ययन और अध्यवसाय को केन्द्रित कर, अब खड़ी बोली के काव्य की ओर अपना ध्यान लगाया। वास्तव में ब्रजभाषा पूरी एक शती तक व्यापक क्षेत्र की साम्राज्ञी रह कर अब निःशक्त हो चली थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसी ब्रजभाषा के किले में बैठ कर उसे पदच्युत किया और खड़ी बोली की सजीव प्रतिमा का निर्माण किया। युवक मैथिलीशरण गुप्त के समय तक आते आते ब्रजभाषा के प्रकंपन और माधुर्य का समय लगभग समाप्त हो चला था। फिर 'सरस्वती' ने प्रकट होकर ब्रजभाषा की रही सही प्रभुता को भी समाप्त कर दिया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गुप्त जी को जब अपनी 'सरस्वती' की सदस्यता का अवसर प्रदान कर दिया तो गुप्त जी को एक नवीन ही मार्ग मिल गया। गुप्त जी से द्विवेदी जी युवक मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं को संशोधित करके, एक नया कलेवर देकर 'सरस्वती' में छापते थे। इसी बात की अभिव्यक्ति करते हुए वे कहते हैं — " मैं जब और कुछ न हो सका, तब मैंने कवि बनने की ठानी। हाय, कहीं सब घोड़े वाले बैरागू बन सकते हैं। एक जन,, जो गधे पर बैठने की भी योग्यता न रखता था बनाने वाले के बढ़ावे में आकर घोड़े पर चढ़ बैठा। घोड़ा भी ऐसा, जो धरती पर पैर ही न रखना चाहता था। ऐसा आरोही तो उसके लिए अपमान जनक था। परन्तु क्या जानें, घोड़े को भी विनोद सूझा और वह उसे एक वर्जित स्थान में ले दौड़ा। वहाँ का प्रहरी सतर्क होकर चिल्लाया, 'सावधान'

---

१. मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १७८
प्रबन्ध सम्पादक — कवि जैमिनी कौशिक 'बरुआ'

परन्तु आरोही सावधान होकर भी क्या करे ? तब प्रहरी ने उसका संभाल कर कहा, 'अच्छा चला आ ऐसे ही । अब आरोही चिल्लाया, ' दुहाई आपकी, मैं स्वयं नहीं आ रहा हूं, यह दुर्मुख मुझे लिए चला आ रहा है ।' प्रहरी भी समझ गया और जिसे अनधिकार प्रवेश करने का दण्ड देने जा रहा था, उस भाग्यहीन अथवा भाग्यवान की उसे उल्टी संभाल करनी पड़ी । कवि तो [illegible] नहीं जाते, परन्तु कोपभाजन होने के योग्य होकर भी, मैं पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह -भाजन हो गया । इससे बढ़कर किसी का क्या सौभाग्य होगा ।"[1]

प्रयाग से प्रकाशित 'राघवेन्द्र' में भी गुप्त जी की खड़ी बोली में लिखी कविताएं प्रकाशित हुई । 'राघवेन्द्र-स्तव' और 'सेतु-बंध' राघवेन्द्र में ही प्रकाशित हुए थे । 'सरस्वती' में तो पैंतालिस रचनाओं का प्राय: एक दशक में क्रमश: प्रकाशन हुआ । वास्तव में 'हेमन्त' कविता का आचार्य द्विवेदी ने जो कायापलट किया, उसी से प्रभावित होकर गुप्त जी ने खड़ी बोली में काव्य रचना प्रारम्भ कर दिया । ब्रजभाषा की प्रारम्भिक रचनाओं के कुछ उदाहरण देखिये —

" जयति जयति जगदंब जयति जय जनक लड़ैती ।
जयति काल विकराल ज्वाल जल शीतल सैंती ।"

कवि की भाषा में क्रमश: धीरे धीरे परिवर्तन होता गया है । उक्त पंक्तियों में ब्रजमिश्रित बुंदेलखण्डी का रूप दिखाई पड़ता है । यहां 'लड़ैती' शब्द बुन्देलखंडी का है । तत्पश्चात गुप्त जी ने परिमार्जित ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया । यथा: —

"जग की गति सौं अपनी गति कौं नित देखत हैं पहचानत ना ,
सब बाँधि गए, बकिकै थकिकै टक भूलि गए सुधि आनत ना ।
हम जात किएँ किनकैं कित हैं, जब लौं हरिजू तुम तारत ना ।
अपनी अपनी सपनौ सब है, जन जानत हैं, मन मानत ना ।"

---

१ सरस्वती का द्विवेदी स्मृति अंक (फरवरी १९३९ ई०)

ब्रजभाषा की कविता में धीरे धीरे खड़ी बोली का प्रभाव भी आने लगा । उपर्युक्त पंक्तियों में से पहली पंक्ति में ब्रजभाषा का 'आपुन' न होकर 'अपनी' का प्रयोग है । यही खड़ी बोली का प्रभाव है । यद्यपि गुप्त जी को ब्रजभाषा से स्वाभाविक प्रेम था । वे लिखते हैं :—

' ब्रजभाषे, हौं भूल सपन कबहूं नाहिं तजौं ,
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहित मोकों ।'[१]

परन्तु दूसरी पंक्ति में खड़ी बोली का प्रभाव भी स्पष्ट है ।

ग खड़ी बोली में काव्य रचना का आरम्भ —

सन् १६०५ से गुप्त जी ने लगातार खड़ी बोली में ही काव्य रचना की । सन् १६०५ के पूर्व की प्रारम्भिक रचनाएं— 'दुर्दशा-निवेदन' तथा फुटकर-पद अवश्य ब्रजभाषा में और ब्रज-मिश्रित-बुन्देलखण्डी में लिखे थे । जब उन्होंने खड़ी बोली में रचना प्रारम्भ की तो सरस्वती में प्रकाशित पैंतालिस कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य स्फुट रचनाएं, जिनमें से कुछ 'राघवेन्द्र' तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित हुईं, वे सभी 'आस्वाद' और 'मंगल-घट' में संगृहीत हैं । इनके अतिरिक्त गुप्त जी ने जो अन्योक्तियां लिखी थीं, वे किसी संग्रह में संगृहीत नहीं हैं । 'कविता-कलाप' में उनकी चित्रों पर लिखी हुई कविताएं संगृहीत हैं ।

प्रारम्भिक कविताओं में कुछ ऐसे संकेत या बीज हैं जो परिपक्व काल की रचनाओं में विकसित रूप में दिखाई पड़ते हैं । उदाहरणार्थ 'उर्मिला' कृति (अपूर्ण)[२] 'साकेत' रचना की भूमिका प्रस्तुत करती है, 'उत्तरा और अभिमन्यु'[३]

---

१. ब्रजभाषा और खड़ी बोली, इस शीर्षक की कविता- रचनाकाल, सं० १६६७
२. हस्तलिखित प्रति
३. सरस्वती, जनवरी, १६०८, पृ० ४४

जयद्रथवध की रचना की, 'शकुंतला पत्र लेखन'[1] 'शकुन्तला' काव्य[2], 'कीचक की नीचता'[3] 'सैरन्ध्री' की और 'काली किला'[*] तथा 'रंग में भंग' की रचना की । 'उत्तरा का उत्ताप'[4] तथा 'जयद्रथ बध' का रचनारंभ हुआ । आशय यह है कि गुप्त जी की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर अग्रसर हुईं ।

सन् १९०५ से गुप्त जी ने जब खड़ी बोली में काव्य रचना की तो उसमें भी भी उत्तरोत्तर परिपक्वता दिखाई पड़ती है । सन् १९०५ में लिखी 'क्रोधाष्टक' कविता का छठा पद्य लीजिए —

> " गंभीरता, सुखद शांति, विवेक, भक्ति
> आनन्द, नीति, क्षमता, सुविचार-शक्ति ।
> तौ लौं निवास करते नर चित्त-बीच —
> जौं लौं प्रवेश नहिं हो तब क्रोध नीच ।"

यह खड़ी बोली में लिखी कवि की प्रारम्भिक कविता है । इसमें खड़ी बोली की स्वाभाविकता नहीं है वरन् यह संस्कृत के बोध से दबी हुई है । भाषा के सुन्दर प्रवाह का इसमें अभाव है । इसी प्रकार सन् १९०५ से सन् १९०२ तक की कविताओं में भाषा की स्वाभाविकता न आ सकी । भाषा प्रयोग पर संस्कृत पदावली का प्रभाव यथावत् रहा, साथ ही साथ अलंकृत पदावली की रचना प्रारम्भ की गई । उपदेश-योजना भी उनके काव्य में दिखाई पड़ने लगी । परन्तु सन् १९०९ में मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में स्वाभाविकता आने लगी ।

गुप्त जी के काव्य का विकास —

मैथिलीशरण गुप्त ने एक लम्बी अवधि तक काव्य सर्जना की । उनकी प्रथम कविता 'हेमंत' से लेकर अंतिम समय तक की कविता के विकास का स्वरूप

---

१ सरस्वती, नवम्बर, १९०८, पृ० ४९१
२ वही, मार्च, १९०९, पृ० ११९
३ वही, दिसम्बर, १९०९, पृ० ५५४
४ वही, सितम्बर, १९०९, पृ० ४०५

प्रकृति भी मनोवैज्ञानिक है। इन पैंसठ वर्षों की काव्य साधना को सुविधा के लिए छः विभागों में विभाजित किया जा सकता है :-

१. पृष्ठोत्थान काल (१९०१-१९१०)

इन वर्षों में कवि ने अपनी काव्य साधना प्रारम्भ की और प्रारम्भिक कठिनाइयों को बड़े साहस और उत्साह के साथ झेला। इस काल में गुप्त जी ने ब्रज, ब्रज मिश्रित बुन्देलखण्डी और खड़ी बोली, तीनों में काव्य रचना की। इस काल की रचनाएँ मुख्यतया स्फुट रचनाएँ हैं। इसी काल में कवि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में भी आया और खड़ी बोली में काव्य रचने की प्रेरणा प्राप्त की। इसी समय कवि ने हिन्दू राष्ट्रवाद तथा पुनरुत्थानवाद की प्रेरणा प्राप्त की और साथ ही अपने काव्य के विषय इतिहास और पुराण से भी लेने आरम्भ किए।

यह गुप्त जी के काव्याभ्यास का काल है। घर का वातावरण अनुकूल होने के कारण गुप्त जी ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही काव्य रचना प्रारम्भ कर दी थी। काव्य रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति प्रारंभ से ही थी। स्कूली शिक्षा और रटंत विद्या में उन्हें रुचि न थी। कवि की मित्रमंडली ऐसी थी कि जिसमें मित्र लोग हास-परिहास के बीच समस्यापूर्ति के ढंग के दोहों की रचना किया करते थे। एक दिन ऐसे ही अवसर पर 'गनपत काका जई बसे' - की पाद पूर्ति 'नित उठ खोदें घास' जोड़ कर करनी पड़ी।[१] कवि ने छन्द को आयत्त करने का भी प्रयत्न किया। मात्रिक छंदों की अपेक्षा उन्हें गणवृत्तों की रचना अधिक आसान प्रतीत हुई। वास्तव में गुप्त जी ने वर्ण-वृत्तों, गणवृत्तों और मात्रिक छन्दों का इसी समय अभ्यास किया। संस्कृत वृत्तों में कवि को एक नवीनता सी जान पड़ी। उन्होंने लिखा है -" यद्यपि संस्कृत वृत्तों के प्रयोग से मुझे एक नवीनता जान पड़ी परन्तु भाषा वही पुरानी थी।"[२] गुप्त जी ने अपनी प्रारम्भ

---

१. 'अपने विषय में' कवि-लिखित निबंध, साहित्यकार, मई १९५५

२. वही, मई १९५५

की गईं रचनाएं गणावृत्तों में भी लिखीं। 'उर्मिला', 'दुर्दशा निवेदन', 'कल्पोज्जित पुष्पावली' इसके उदाहरण हैं। काव्य रचना के प्रारम्भिक काल में कवि ने बुन्देलखंड के लौकगीतों की 'लेद' शैली में भी कविता की थी। परन्तु इस 'लेद' शैली की उन्होंने रचनाएं अधिक नहीं कीं। 'लेद' शैली के अतिरिक्त गुप्त जी ने एक अन्य शैली का भी प्रारम्भ में प्रयोग किया। वह लघु वर्णों की मैत्री से मुक्त छन्द-शिल्प की शैली है। यथा —

"मचलत चलत ठगत जग लग-लग जन जन जगत शयन पर।
झल-झल करत हरत बल गलगत लखकर लजत मयन-शर[1]।"

प्रथमोत्थान काल की प्रारम्भिक रचनाएं ब्रज मिश्रित बुन्देलखण्डी में लिखी गईं थीं। परन्तु इसके बाद 'दुर्दशा-निवेदन' तथा कुछ स्फुट पद्य-रचना के अतिरिक्त सभी रचनाएं खड़ी बोली में रचीं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव के फलस्वरूप सन् १९०५ से गुप्त जी ने बराबर खड़ी बोली में ही काव्य रचना की। यद्यपि इस काल की उनकी खड़ी बोली में प्रौढ़ता और परिपक्वता नहीं आ पाई है। खड़ी बोली की प्रारम्भिक रचना क्रोधाष्टक की पंक्तियां देखिये —

"गंभीरता, सुखद शान्ति, विवेक, भक्ति,
आनन्द, नीति, क्षमता, सुविचार-शक्ति।
तौ लौं निवास करते नर चित्त-बीच-
जौ लौं प्रवेश नहिं हो तव क्रोध नीच।"

यह रचना सन् १९०५ की है। इसके बाद धीरे धीरे भाषा में सुधार होता गया है। सन् १९०६ तक आते आते कवि की भाषा में पर्याप्त सुधार हो गया। सन् १९०६ की एक कविता 'कुंती और कर्ण' जो कि सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, उसकी ये पंक्तियां देखिये —

"इस कारण है जननी, रहो जीवित जो लौं।
होने दो अहित न दुर्योधन का तौं लौं,

---

१. कला भवन वाराणसी में संगृहीत कवि की हस्तलिपि में, उसकी आरम्भिक प

लैंगे हम आमरण पत्र उस नकारी का ।
करना क्या अपकार चाहिये उपकारी का ।"[१]

सन् १६०६ में भी जुलाई की सरस्वती में 'कारुण्य भारती' प्रकाशित हुई । यथा —

किसको हुआ है सुख यहाँ यह दुःखमय संसार है ।
जो वस्तु है ही नहीं उसका व्यर्थ सोच-विचार है ।
जो है हृदय, धैर्य बिना अधिक कठिन है शांति पाना शोक में ।
आती नहीं है मृत्यु भी हत-भाग्य को इस लोक में ।"

इन पंक्तियों की खड़ी-बोली सशक्त प्रतीत होती है । इनकी भाषा में खड़ी बोली के संगीत का प्रथम उन्मेष दिखाई देता है । संस्कृत पदावली का भी प्रभाव कम दिखलाई पड़ता है । इस प्रथमोत्थान काल में ही हम कवि की भाषा में बहुत परिवर्तन देखते हैं । सन् १६०५ में कवि की भाषा कृत्रिम है और उस पर संस्कृत पदावली का अत्यधिक प्रभाव है , परन्तु सन् १६०६ तक आते आते पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है । भाषा का एक परिमार्जित रूप सामने आ जाता है ।

गुप्त जी की इस काल की रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है । (१) निराख्यानक रचनाएं और (२) आख्यानक रचनाएं । क्योंकि गुप्तजी की ये रचनाएं या तो किसी विषय को लेकर लिखी गई हैं, या किसी आख्यान या वृत्तान्त को लेकर लिखी गई हैं । आचार्य बाजपेयी जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है —" गुप्त जी की आरम्भिक रचनाएं निबन्धात्मक होती थी । इन निबन्धों में कभी किसी आख्यान का माध्यम रहा करता था और कभी बिना आख्यान के ही कोई बात कही जाती थी, जैसे —" नर हो न निराश करो मन को" । गुप्त जी के इन दोनों आरंभिक काव्य-प्रकारों में निर्माण की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं था — थोड़ा बहुत अन्तर था तो आकार का । आख्यान कुछ लम्बे होते थे और निराख्यानक रचनाएं कुछ छोटी होती थीं । यद्यपि इसे

---

१. सरस्वती, अप्रैल सन् १६०६, पृ० १५०

अपवाद भी मौजूद हैं और मिल जाते हैं। गुप्त जी के इन्हीं आरम्भिक प्रयोगों से नवीन कथानक काव्य की भी सृष्टि माननी चाहिये।"[१]

गुप्त जी ने अपनी इन रचनाओं को "प्रबंध" कहा है— "खड़ी बोली में भिन्न भिन्न विषयों पर अब तक हिन्दी-पत्रों में मुख्यतया "सरस्वती" में —मेरे जो पद्य-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं उनका यह संग्रह अनेक मित्रों की आज्ञानुसार, पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता है।"[२] परन्तु रामदहिन मिश्र ने लिखा है — "कथात्मक या वर्णनात्मक जो कविता कई पद्यों में लिखी जाती है, वह निबंध काव्य कहलाती है। वह अपने कुछ पद्यों के भीतर ही सम्पूर्ण होती है।"[३] ये आख्यानक और निराख्यानक रचनाएं भी कई प्रकार की हैं। ये प्रथमोत्थान काल की कविताएं कवि के आरम्भिक विकास का परिचय देती हैं।

१. निराख्यानक कविताएं :-

इस काल में कवि का उद्देश्य खड़ी बोली को काव्य भाषा बनाना और छंदों को आयत्त करना था। अतः ये रचनाएं कुछ-कुछ गद्य के समीप दिखाई पड़ती हैं। अभी कवि की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव भी अधिक था और भाषा में परिष्कार भी नहीं आने पाया था। इन निराख्यानक कविताओं में तत्कालीन युग का प्रभाव परिलक्षित होता है। वे उपदेशात्मक और सुधारवादी दृष्टिकोण को लिए हुए हैं। इनमें वर्णन की प्रधानता है। निराख्यानक रचनाएं कई विषयों पर लिखी गई थीं।

कुछ कविताओं को देखने से कवि पर संस्कृत काव्य के प्रकृति वर्णन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। कालिदास से कवि अधिक प्रभावित है। प्राकृतिक सौन्दर्य की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं —

---

१. आधुनिक-साहित्य, भूमिका, पृ० २६
२. पद्य-प्रबंध, निवेदन, पृ० १ (सं० १९६८)
३. काव्य दर्पण - रामदहिन मिश्र पृ. २५०

" कान्ता कपोलों पर स्वेद-सीकर , हैं यों सुहाते तप में मनोहर
ज्यों ओस के बूंद प्रभात काल में, फूले हुए सुन्दर पद्मजाल में ।"[१]

यहाँ स्वतंत्र-प्रकृति-वर्णन का अभाव है । और शैली संस्कृत पदावली से प्रभावित है । गुप्त जी वैष्णव संस्कारों से प्रभावित थे, अत: यह स्वाभाविक ही था कि अपने आराध्य सीता-राम की स्तुति में रचना करते । " सीता समेत उन राघव को प्रणाम्"[२] कह कर उन्होंने सीता-राम की उपासना के गीत गाए हैं । भगवद्भक्ति और स्तुति सम्बन्धी अनेक उदाहरण गुप्त जी की निराख्यानक कविताओं में मिलते हैं । निराख्यानक कविताओं में मनोवृत्तियों के गुणों और दोषों का भी वर्णन कवि ने किया है ।

गुप्त जी ने निराख्यानक कविताओं में समाज, जाति और धर्म को ध्यान में रख कर भी कविताएं की हैं । पद्य प्रबंध में "ब्रह्मचर्य का अभाव" और "ब्राह्मणों से विनय" शीर्षक कविताओं में कवि ने अपने समाज की हीन अवस्था की ओर इंगित किया है । पद्य प्रबंध की "ब्रह्मचर्य का अभाव" और "ब्राह्मणों से विनय" कविताओं में समाज के प्रति क्षोभ प्रकट किया है —
यथा —

" हो उठे यदि फिर यहाँ पर ब्रह्मचर्य स्फूर्ति,
तो हमारी हीनता की हो सहज ही पूर्ति ।"[३]

और —

" हिन्दू-समाज के दोष तुम्हीं पर आते हैं,
सब बातों में अगुआ ही पूछे जाते हैं । "[४]

इसी प्रकार इस काल की "स्वर्ग-सहोदर" कविता में राष्ट्रकवि ने देश-भक्ति की भावना प्रकट की है —

---

१ पद्य- प्रबंध , निदाघ-वर्णन , पद्य १५, पृ. १०१-१०२ (सं-१९६८)
२. श्री राघवेन्द्रस्तव, पद्य-प्रबन्ध, पृ० १ (सं० १९६८)
३. पद्य-प्रबन्ध—ब्रह्मचर्य का अभाव ।
४. पद्य प्रबन्ध- ब्राह्मणों से विनय ।

यथा—

" जगत ने जिसके पद थे छुए, सकल देश ऋणी जिसके हुए ।

ललित लाभ-कला सब थी जहाँ, अब हरे, वह भारत है कहाँ ? [१]

प्रथमोत्थानकाल की निराख्यानक कविताओं के अन्तर्गत गुप्त जी ने कुछ कविताएँ भाषा और साहित्य की समस्या को भी लेकर लिखी हैं । पद्य-प्रबन्ध में "नागरी और हिन्दी" कविता इसका अच्छा उदाहरण है ।

यथा —

"अब एक लिपि से ही अधिकतर एक भाषा इष्ट है,

जिसके बिना होता हमारा सब प्रकार अनिष्ट है ।

अतएव है ज्यों एक लिपि के योग्य केवल "नागरी"

त्यों एक भाषा योग्य है "हिन्दी" मनोज्ञ उजागरी ।"

इसके अतिरिक्त" हिन्दी की वर्तमान दशा" ,"कुकवि कीर्तन", "ग्रन्थ-गुणगान" "सुकवि संकीर्तन" आदि रचनाएँ भी निराख्यानक रचनाओं के अन्तर्गत आती हैं । "ग्रन्थ गुणगान" से पता चलता है कि कवि सुरुचिपूर्ण साहित्य के द्वारा समाज की बहुत सी कुरीतियों को दूर कर सकता है । इसी प्रकार "कुकवि-कीर्तन" में निकृष्ट कवियों का वर्णन हुआ है और" सुकवि-संकीर्तन" में अच्छे कवियों के गुणों का वर्णन किया है । हिन्दी की दशा के प्रति कवि प्रारम्भ से ही सचेष्ट था अतः" हिन्दी की वर्तमान दशा" में कवि ने हिन्दी के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं ।

कवि को अपने अतीत और भारतीय संस्कृति के प्रति विशेष प्रेम था। "प्राचीन भारत" और "स्वर्ग सहोदर"[२] रचनाएँ उनके अतीत प्रेम और भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम को प्रकट करती हैं । "मातृभूमि" कविता में भारत के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है । यथा —

" नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,

सूर्यचन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है ।

---

१. सरस्वती अगस्त, १६०६, पृ० ३६२

२. स्वर्ग-सहोदर, सरस्वती, अगस्त, १६०६, पृ० ३६२

नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेषफन सिंहासन हैं ।।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की,
हे मातृमूर्ति तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ।"[१]

२. आख्यानक रचनाएँ —

इस काल की आख्यानक रचनाएँ कई कोटि की हैं । इनमें कुछ तो पौराणिक हैं, कुछ ऐतिहासिक हैं और कुछ सामाजिक हैं । इन रचनाओं में कवि का ध्येय किसी चरित्रादर्श को चित्रित करना अथवा किसी उपदेश को देना रहा है । ये रचनाएँ इतिवृत्तात्मक हैं । कवि ने इन आख्यानक रचनाओं की प्रेरणा पुनरुत्थानवादी चित्रकला से प्राप्त की थी । डा० कमलाकान्त पाठक ने इस सम्बन्ध में लिखा है — "गुप्त जी की आख्यानक रचनाओं की पृष्ठभूमि में पुनरुत्थानवादी चित्रकला का विशिष्ट महत्व है । इन्हीं की प्रेरणा से वे आख्यानक कविताएँ लिखने लगे और उनके काव्य में चित्रणकला का सन्निवेश हुआ । कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में भी इनका अपना महत्व है । कवि 'रामायण', 'महाभारत' तथा इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन, मनन करने लगा तथा कालिदास, तुलसीदास आदि कवियों का काव्यास्वादन ।"[२]

पौराणिक कथाओं के प्रति प्रेम उन्हें प्रारम्भ से ही था । श्री सियारामशरण गुप्त ने लिखा है — "राजा रविवर्मा के पौराणिक चित्रों की प्रेरणा के अतिरिक्त उनका पैतृक पौराणिक कथा प्रेम भी मैया के पौराणिक आख्यान रचना में प्रेरक रहा ।"[३] गुप्त जी के पौराणिक आख्यान वास्तव में बहुत ही उच्चकोटि के हैं । पौराणिक चित्रों पर लिखी हुई गुप्त जी की निम्नलिखित कविताएँ हैं —

---

१. मंगल-घट, पृ० ६ (सन् १९१०)
२. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ० १५७ (प्रथम संस्करण)
३. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० १७२ से उद्धृत

१. प्रार्थना-पंचमी, २. द्रौपदी हरण, ३. राजकुमार की भावभंगिमा, ४. अभ्यागत, ५. उत्तरा से अभिमन्यु की विदा, अर्जुन और उर्वशी, भीष्म-प्रतिज्ञा, शकुन्तला-पत्र-लेखन, रास निर्माण, कुंती और कर्ण, कैकेयी की कथा, शकुंतला को दुर्वासा का अभिशाप, उत्तरा का उत्ताप, सीता हरण, मुनि का मोह, गोवर्धन धारण, कुरुक्षेत्र के संग्राम का परिणाम, धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान, धृतराष्ट्र और संजय, प्रह्लाद, सुलोचना का निराकरण, शकुंतला को कण्व का आशीर्वाद, निरभिमानी सीता। डा० सुधीन्द्र का कथन है —
" पौराणिक चित्रों पर तो गुप्त जी से बढ़ कर अच्छी कविता कदाचित ही कोई दूसरा कवि लिख पाता।"[१]

गुप्त जी की पौराणिक आख्यान रचनाएं भी तीन प्रकार की मानी जा सकती हैं। कुछ तो रामायण से सम्बन्धित, कुछ महाभारत से सम्बन्धित और कुछ अन्य पौराणिक कथानकों से सम्बन्धित। रामायणीय आख्यान रचनाएं रामकथा से ही सम्बन्धित हैं। इस काल की इन आख्यानक रचनाओं में `अशोकवाटिनी सीता` `सीता का पृथ्वी प्रवेश`, `रामचन्द्र जी का गंगावतरण` और `वनवास` एवं मुनि का मोह ` स्फुट रचनाएं हैं। रघुवंश के आधार पर रचित` महाराजा दशरथ का आखेट` और` प्राण घातक माला` कविताएं हैं।

रामायणीय स्फुट काव्यों के अतिरिक्त गुप्त जी ने रामकाव्य पर आधारित ` उर्मिला काव्य`[२] की भी रचना की। परन्तु यह काव्य अपूर्ण है। यह अपूर्ण खण्डकाव्य है। इसकी रचना सन् १६०६ के आसपास की है। इस अपूर्ण खण्डकाव्य के केवल ढाई सर्ग रचे गए हैं। इसके प्रथम सर्ग में चौसठ पद्य हैं। द्वितीय सर्ग में सतास्सी पद्य हैं। तथा तीसरे अधूरे सर्ग में केवल तेरह पद्य रचे गए हैं। प्रारम्भ में उर्मिला और लक्ष्मण के संयोग शृंगार का सुन्दर वर्णन है। कवि संयोग का वर्णन करते हुए कहता है —

---

१. हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० १७२ से उद्धृत (साहित्य सदन चिरगांव, झांसी)
२. उर्मिला, हस्तलिखित पाण्डुलिपि, कवि का संग्रहालय।

" दोनों झूली हो कुछ देर शान्त, भूले रहे देह-दशा नितान्त,
पूर्ण-प्रभा को करके सनाथ, सानन्द पैठे फिर एक साथ।"

यहाँ उर्मिला का भी सुन्दर वर्णन कवि करता है -

" पद्मस्थ पद्मेव शुभासनस्था, अपूर्व-सी है जिसकी अवस्था।
प्रत्यक्ष देवी-सम दीप्ति-माला, प्रासाद में है यह कौन बाला।।"[१]

यह काव्य यदि पूर्ण हो जाता तो अत्यधिक सुन्दर काव्य रचना होती, परन्तु यह पूर्ण न हो सका और केवल 'साकेत' रचना की भूमिका बन सका।

इसी समय गुप्त जी ने अन्य अनेक पौराणिक वृत्तान्त आख्यानक निबंध शैली में लिखे। यथा -

रत्नावली, मालती माधव, सती सावित्री, दमयंती और नल आदि। इसी समय कवि ने अभिज्ञान शाकुंतलम् से प्रभावित होकर 'शकुंतला' काव्य की रचना प्रारम्भ की। और इसी समय सरस्वती में 'शकुन्तला पत्र लेखन' तथा 'शकुन्तला को दुर्वासा का शाप' ये दो रचनाएं सचित्र छपीं।

सन् १९०८ में गुप्त जी की प्रथम आख्यानक रचना 'उत्तरा और अभिमन्यु'[२] प्रकाशित हुई। यह भी एक सफल आख्यानक काव्य है। इसके एक वर्ष बाद ही द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' में गुप्त जी की अनेक महाभारतीय आख्यानक कविताएं छपीं। ये सब रचनाएं महाभारत की कथा के ही आधार पर रची गई थीं :-

'उत्तरा से अभिमन्यु की बिदा', 'द्रौपदी दुकूल', 'कर्ण की कथा', 'अर्जुन और उर्वशी', 'भीष्म-प्रतीज्ञा', 'प्रण-पालन' अथवा 'रुक्मांगद और मोहिनी, कीचक की नीचता,' 'अर्जुन और सुभद्रा', 'द्रौपदी-हरण' तथा 'कुन्ती और कर्ण।'

---

१. उर्मिला, हस्तलिखित पाण्डुलिपि, कवि का संग्रहालय।
२. 'उत्तरा और अभिमन्यु', सरस्वती, जनवरी १९०८।

"कविता-कलाप" में संगृहित इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य अधिक आख्यानक रचनाएं सरस्वती में सन् १९०८ से सन् १९१० तक प्रकाशित हुईं। ये सब भी महाभारत की कथा पर आधारित हैं :-

" धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान" ," धृतराष्ट्र और संजय","उत्तरा और बृहन्नला"," विदुर-वाणी"," उत्तर का उत्ताप ।"

प्रथमोत्थान काल में ही गुप्त जी ने श्रीमद्भागवत के आधार पर कुछ कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित रचनाएं भी लिखीं। ये रचनाएं दो हैं :-" गोवर्धन धारण" और" राधा-कृष्ण की आँख-मिचौनी" । ये रचनाएं श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित हैं।" द्वापर" काव्य का मूलाधार भी श्रीमद्भागवत है

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित आख्यानक रचनाएं भी कवि ने लिखीं। इस समय की एक रचना "शिक्षा"[1] है। इसमें कवि ने यह स्पष्ट किया है कि पुत्र को बनाने और बिगाड़ने का श्रेय माता और पिता को ही है। इस प्रकार की दूसरी रचना" मक्खीचूस"[2] है। इसमें संचय-व्यय का उचित नियम मैंने निर्धारित उपदिष्ट हुआ है।[1] इसी प्रकार की एक और रचना है -" निन्यानवे का फेर इसमें यह बताया गया है कि "आय के अनुसार ही व्यय नित्य करना चाहिये[3]।" इन कविताओं को नीति की कविताएं भी कहा जा सकता है। इन कविताओं की शैली निबंधात्मक है।

ऐ ऐतिहासिक आख्यानक रचनाएं भी इस समय लिखी गईं। गुप्त जी की ऐतिहासिक आख्यानक रचनाओं के अन्तर्गत तीन रचनाएं मुख्य रूप से आती हैं :- "नकली किला" ," वीररत्न बाजी प्रभु देशपांडे" और "न्यायादर्श" ।
" नकली किला[4]" में राजपूतों के शौर्य का वर्णन है, उनकी आन-बान और गौरव

---

१. पद्य-प्रबन्ध-शिक्षा, पृ० ११३ (सं० १९६८)
२. पद्य-प्रबन्ध" मक्खी-चूस", पृ० ११६ ।
३. मंगल घट , पृ० १९९ (रचना संवत् १९६७)
४. मंगल घट, नकली-किला, पृ० १९३-१९४

का वर्णन है । इस कविता से देश-प्रेम की भी भावना व्यक्त होती है :—

' नकली किला' की ये पंक्तियाँ देखिये —[1]

" प्राण देते हैं तुम्हें देखा न मैंने मान है ,
धर्म के सम्बन्ध में नृप और रंक समान है ।
बंधु भी अवहेलना करने तुम्हारी जो चले,
क्षोभ से तो क्या तुम्हारा उर न उस पर भी जले ?
स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्म-भूमि कही गई ,
सेवनीया है सभी की वह महामहिमामयी ।"

'वीररत्न गाजी प्रभु देशपांडे'[2] कविता में गाजी प्रभु की वीरता और उनके देशप्रेम का वर्णन हुआ है । 'न्यायादर्श' कविता में कवि ने बुंदेलखंड के राजा वीरसिंह के आदर्श न्याय की प्रशंसा की है जिसमें कि राजा वीरसिंह ने अपने पुत्र को मृत्यु-दण्ड दिया था ।"

प्रथमोत्थानकाल की काव्य कृतियों के अन्तर्गत आख्यानक और निराख्यानक रचनाओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गुप्त जी ने अपने काव्य का आरम्भ बड़े विस्तृत क्षेत्र से विषयों को चुन कर किया । इसमें गुप्त जी ने केवल काव्य रचना ही नहीं की वरन् काव्याध्ययन और शास्त्राध्ययन भी पर्याप्त किया ।

(२) द्वितीयोत्थान काल :— (१९१० – १९२५)

इस काल में कवि की वैचारिक प्रगति देखने योग्य है । पिछले दस वर्षों में कवि ने काव्याभ्यास के द्वारा और आचार्य द्विवेदी के सुचारु नियंत्रण और प्रभाव से एक दिशा प्राप्त कर ली थी । बुंदेलखण्डी मिश्रित ब्रज का प्रभाव भी लगभग समाप्त हो चला था । काव्य रचना के लिए विविध विषय प्राप्त

---

१. मंगल घट, नकली-किला, पृ० १९३-१९४
२. पद्य प्रबंध, पृ० १३१ (सं० १९६८)

हो चुके थे । इस काल में कवि महाकाव्य, निबंध-काव्य, गीतिकाव्य, नाटक, मुक्तक-काव्य और अनुवाद करने के लिए तैयार हो चुका था । इसीलिए इस काल की रचनाएं विविध विषयक और विविध रूपात्मक हैं । इस काल में कवि ने केवल छोटे छोटे निराख्यानक और आख्यानक पद्य-निबन्धों की ही रचना नहीं की वरन वह खंड काव्य और बड़े-बड़े पद्य निबन्धों की ओर प्रवृत्त हुआ ।

प्रथमोत्थान काल में ही गुप्त जी जातीय पुनरुत्थान की भावना से पूर्ण हो गए थे । अब द्वितीयोत्थान काल में आकर जातीय भावना के साथ - साथ राष्ट्रीय भावना को भी उन्होंने आत्मसात कर लिया । इस भावना का सबसे अच्छा उदाहरण इस काल की रचना 'भारत-भारती' है । 'भारत - भारती' के रचनाकाल में अतीत प्रेम और आर्य समाज की सुधारवादी प्रवृत्तियों को उन्होंने ग्रहण किया । इस अवस्था में वे जातीयता और राष्ट्रीयता से पूर्ण होकर काव्य रचना करने लगे । यथा :-

> "मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती -
> भगवान ! भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती ।"[१]

भारत की शोचनीय दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है —

> "है ठीक ऐसी ही दशा हतभाग्य भारतवर्ष की,
> कब से इतिश्री हो चुकी इसके अखिल उत्कर्ष की ।
> पर सोच है केवल यही यह नित्य गिरता ही गया,
> जब से फिरा है दैव इससे नित्य फिरता ही गया ।"[२]

कवि राष्ट्रीय भावों से उद्दीप्त हो ही रहा था कि इसी समय सन् १९१८ - १९१९ के लगभग देश में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह सा फैल गया । गांधीयुग का आरंभ हो गया और राष्ट्रीय चेतना को एक नवीन दिशा प्राप्त हो गई । गांधी जी का प्रभाव गुप्त जी पर पर्याप्त पड़ा और उनकी जीवन-दृष्टि का विस्तार और अधिक हुआ । राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित होकर 'स्वदेश-

---

संगीत' की रचना की । निम्न पंक्तियों में कवि अंग्रेजों से सम-सम्बन्ध की कामना करता हुआ कहता है —

" पर संगम गोरों से अपना
        गंगा यमुना तुल्य रहे ।
    दोनों के भीतर समता की,
        सरस्वती काव्रीत बहे ।।"[१]

इसी प्रकार " वैतालिक" में वे जागरण का संदेश देते हैं । यथा —

" जीवन के सब फल चक्खो,
    इसका किन्तु ध्यान रक्खो —
        आये जगत जुड़ाने तुम,
        उसके बंधन छुड़ाने तुम ।।
    भारत माता के बच्चे,
    विश्व बन्धु तुम हो सच्चे ।
        फिर तुमको किसका भय है,
        उद्यत हो जय ही जय है ।"[२]

गांधी जी के प्रभाव से ही कांग्रेस में किसानों की संख्या बढ़ी । " किसान " काव्य में कवि किसानों की ओर से भगवान से प्रार्थना करता हुआ कहता है —

"भूखे भी हैं किसी भांति सम्भोदर भरते,
करके अन्नोत्पन्न हमीं हैं भूखों मरते ।
कृषि निन्दक मर जाय अभी यदि हो वह जीता,
पर वह गौरव-समय कभी का है अब बीता ।
कृषि से ही थीं हुई जगज्जननी श्री सीता,
गाते अब भी मनुज यहाँ जिनकी गुण-गीता ।।

---

१. "स्वदेश-संगीत" , प्रथम संस्करण, पृ० १२६

२. वैतालिक, पृ० ३० (सं० २०१४ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

एक समय था, कृषक आर्य थे समझे जाते —
भारत में थे वही 'अन्नदाता' पद पाते।
जनक सदृश राजर्षि यहाँ हल रहे चलाते,
स्वयं रेवतीरमण हलायुध थे कहलाते।।[१]

इस समय गांधी जी ने राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय जागरण का संदेश ग्रामीण जनता, किसान और सर्व सामान्य तक फैला दिया था। फलस्वरूप कांग्रेस में किसान तथा अन्य ग्रामीण जनता बढ़ गई थी। चारों ओर लोक-तंत्र की भावना भी जागृत हो गई थी।[२] लोकतंत्र की भावना से समन्वित उनका 'त्रिपथगा' काव्य है। इसमें तीन काव्य संकलित हैं :- 'वक-संहार', 'वन-वैभव' और 'सैरन्ध्री'। प्रतिपाद्य 'महाभारत' की कथा है। परन्तु इसमें यत्र-तत्र कवि ने अपने लोक तंत्र से समन्वित भावों और आदर्शवाद का भी प्रकाशन किया है। 'महाभारत' की ब्राह्मणी स्वयं मरने का प्रस्ताव करती हुई कहती है —

उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव।।
न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम्।[३]

परन्तु गुप्त जी की ब्राह्मणी निशंक होकर कहती है —

मैं एक तुममें रत यथा,
तुम एक पत्नीव्रत तथा।
मैं जानती हूँ, तुम कहो न कहो न कहो इसे।[४]

---

१. किसान, पृ० ६-७ (सं० २०१६ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

२. "Gandhi for the first time entered the Congress organisation and immediately brought about a complete change in its Constitution. He made it democratic and a mass organisatio

The Discovery of India, J.L. Nehru, Page 338.

३. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १५७, श्लोक ३५-३६ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

४. त्रिपथगा, वक संहार (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

'वन वैभव' का कथानक भी महाभारत से ही लिया गया है। परन्तु इसका सम्पूर्ण महत्त्व युधिष्ठिर के चरित्र के कारण है। गुप्त जी ने युधिष्ठिर के चरित्र को 'महाभारत' से भी अधिक उदात्त रूप में चित्रित किया है। सैरन्ध्री भी 'महाभारत' की कथा के आधार पर रचित काव्य है। इसमें भी यत्र-तत्र लोकतंत्रात्मक भावना के संकेत मिल जाते हैं।

इस काल में कवि ने साम्प्रदायिक द्वेष-भावना से दुःखित होकर 'हिन्दू' और 'गुरुकुल' काव्य की रचना की। हिन्दुओं को विधर्मी बनते देख कर कवि क्षुब्ध हो उठता है :—

" हिन्दू न हो आप अनुदार,
छोड़ो वे संकीर्ण विचार।
किया तुम्हीं ने जगदुपकार,
करो आज अपना उद्धार।
अपनों पर अपनों की ग्लानि,
करती है यह किसकी हानि ?
अपना एक बड़ा समुदाय
है बन रहा विधर्मी हाय।"[१]

'हिन्दू' काव्य में कवि जातीयता से ऊपर नहीं उठ सका है, यद्यपि कहीं कहीं राष्ट्रीय भावना की झलक भी मिल जाती है। कवि कहता है :—

सुनें प्रथम शासक अंग्रेज,
जो कहने करने में तेज।
यदि सचमुच तुम योग्य, उदार
तो पावें हम निज अधिकार।
अब भी यदि अयोग्य हम लोग,
तो असाध्य तुमसे यह रोग।

---

१. हिन्दू, पृ० ६५ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

और दूर से तुम्हें प्रणाम् ,
रहे हमारा रक्षक राम ।

< <

निज शासन-सेवा का मोल,
लेते हो जो तुम जी खोल ।
देकर उसे, बाप रे बाप ।
निके जा रहे हैं हम आप ।"[1]

इस काल में कवि की वैचारिक प्रगति उत्तरोत्तर होती गई । गांधीवाद का प्रभाव उनके काव्य में निरन्तर दिखाई पड़ता है । "गुरुकुल" में कवि जातीय और राष्ट्रीय भावों से पूर्ण होकर "मंगलाचरण" के रूप में कहता है —

" जिस कुल, जाति, देश के बच्चे
दे सकते हैं यों बलिदान ,
उसका वर्तमान कुछ भी हो,
पर भविष्य है महा महान् ।"[2]

कवि सत्याग्रह की नीति से भी प्रभावित होता है । "अनघ" पद्य नाट्य की रचना का आधार सत्याग्रह का प्रभाव ही है । वे सभी रचनाएं राष्ट्रीय भावना और देश प्रेम की भावना से पूर्ण हैं । गुप्त जी पर गांधीवाद का प्रभाव स्थायी बनकर आया ; इसका कारण है गांधी जी के व्यक्तित्व की विशेषताएं ।"[3]

---

१. हिन्दू, "अंग्रेजों के प्रति" , पृ० १८०-१८१ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी ।
२. गुरुकुल, मुख पृष्ठ (२०१४वि० ,, ,,

३. " Gandhi was essentially a man of religion, a Hindu to the innermost depths of his being and yet his conception of religion has nothing to do with any dogma or custom or religion. It was basically concerned with his firm belief in the moral law, which he calls the Law of truth of love. Truth or non-Violence appear to him to one and the same thing and he uses these words almost interchangeably."

गुप्त जी इस काल में जातीय भावना के सुधारवादी कवि के रूप में और राष्ट्रीय चेतना के कवि के रूप में दिखाई पड़े । इसी बीच में हिन्दी साहित्य में छायावादी काव्य प्रवृत्तियों का तथा प्रगीत काव्य का भी प्रचार हुआ । इस नई काव्य शिल्प के उन्नायक गुप्त जी बने , परन्तु केवल `झंकार` की ही रचना की । प्रगीतों की रचना उन्होंने कम ही की, क्योंकि गुप्त जी को सोद्देश्य काव्य-रचना ही इष्ट थी । उनकी रुचि कथात्मक काव्य रचना की ओर अधिक थी । गुप्त जी की गांधीवादी विचारधारा उनके इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी । भावना के क्षेत्र में गांधी जी और साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी ने ही उनकी भावना और काव्यगत विशेषताओं का निर्माण किया ।

द्वितीयोत्थान काल की रचनाओं का क्रम-विकास —

इस काल में गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्यों, निबंध काव्यों, गीतिकाव्य, नाटक, मुक्तक काव्य तथा अनुवाद की रचना की ।

१. प्रबन्धकाव्य —

रंग में भंग — मैथिलीशरण गुप्त के द्वितीयोत्थान काल का आरम्भ ऐतिहासिक खंडकाव्य `रंग में भंग` से होता है । `रंग में भंग` के प्रकाशित होने के पूर्व ही गुप्त जी ने इसी को एक आख्यानक कविता के रूप में लिखा था और उसका अधिकांश सरस्वती में प्रकाशित हुआ था ।[१] यह एक खण्डकाव्य है । परन्तु इसे सफल खंडकाव्य नहीं कहा जा सकता । यह खण्डकाव्य एक प्रयोग है । `जयद्रथ वध` की पूर्ववर्ती प्रबन्ध सृष्टि होने का इसे गौरव प्राप्त है । अतएव `रंग में भंग` को आख्यानक कविता नहीं कहा जा सकता । केवल `नकली किला` काव्यांश को इस श्रेणी में रखा जा सकता है । इस कृति में दो घटनाएं हैं । एक तो चित्तौड़ के नरेश का बूंदी में विवाह होना तथा विग्रह

---

१. सरस्वती, सितम्बर, १९१६, पृ० ५५४

गुप्त जी इस काल में जातीय भावना के सुधारवादी कवि के रूप में और राष्ट्रीय चेतना के कवि के रूप में दिखाई पड़े। इसी बीच में हिन्दी साहित्य में छायावादी काव्य प्रवृत्तियों का तथा प्रगीत काव्य का भी प्रचार हुआ। इस नई काव्य शिल्प के उन्नायक गुप्त जी बने, परन्तु केवल 'झंकार' की ही रचना की। प्रगीतों की रचना उन्होंने कम ही की, क्योंकि गुप्त जी को सोद्देश्य काव्य-रचना ही इष्ट थी। उनकी रुचि कथात्मक काव्य रचना की ओर अधिक थी। गुप्त जी की गांधीवादी विचारधारा उनके इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। भावना के क्षेत्र में गांधी जी और साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी ने ही उनकी भावना और काव्यगत विशेषताओं का निर्माण किया।

द्वितीयोत्थान काल की रचनाओं का क्रम-विकास —

इस काल में गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्यों, निबंध काव्यों, गीतिकाव्य, नाटक, मुक्तक काव्य तथा अनुवाद की रचना की।

१. प्रबन्धकाव्य —

रंग में भंग — मैथिलीशरण गुप्त के द्वितीयोत्थान काल का आरम्भ ऐतिहासिक खंडकाव्य 'रंग में भंग' से होता है। 'रंग में भंग' के प्रकाशित होने के पूर्व ही गुप्त जी ने इसी को एक आख्यानक कविता के रूप में लिखा था और उसका अधिकांश सरस्वती में प्रकाशित हुआ था।[१] यह एक खण्डकाव्य है। परन्तु इसे सफल खंडकाव्य नहीं कहा जा सकता। यह खण्डकाव्य एक प्रयोग है। 'जयद्रथ वध' की पूर्ववर्ती प्रबन्ध सृष्टि होने का इसे गौरव प्राप्त है। अतएव 'रंग में भंग' को आख्यानक कविता नहीं कहा जा सकता। केवल 'नकलीकिला' काव्यांश को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इस कृति में दो घटनाएं हैं। एक तो चित्तौड़ के नरेश का बूंदी में विवाह होना तथा विग्रह

---

१. सरस्वती, दिसम्बर, १९१९, पृ० ५५४

गुप्त जी इस काल में जातीय भावना के सुधारवादी कवि के रूप में और राष्ट्रीय चेतना के कवि के रूप में दिखाई पड़े। इसी बीच में हिन्दी साहित्य में छायावादी काव्य प्रवृत्तियों का तथा प्रगीत काव्य का भी प्रचार हुआ। इस नई काव्य शिल्प के उन्नायक गुप्त जी बने, परन्तु केवल 'झंकार' की ही रचना की। प्रगीतों की रचना उन्होंने कम ही की, क्योंकि गुप्त जी को सोद्देश्य काव्य-रचना ही इष्ट थी। उनकी रुचि कथात्मक काव्य रचना की ओर अधिक थी। गुप्त जी की गांधीवादी विचारधारा उनके इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। भावना के क्षेत्र में गांधी जी और साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी ने ही उनकी भावना और काव्यगत विशेषताओं का निर्माण किया।

द्वितीयोत्थान काल की रचनाओं का क्रम-विकास —

इस काल में गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्यों, निबंध काव्यों, गीतिकाव्य, नाटक, मुक्तक काव्य तथा अनुवाद की रचना की।

१ प्रबन्धकाव्य —

<u>रंग में भंग</u> — मैथिलीशरण गुप्त के द्वितीयोत्थान काल का आरम्भ ऐतिहासिक खंडकाव्य 'रंग में भंग' से होता है। 'रंग में भंग' के प्रकाशित होने के पूर्व ही गुप्त जी ने इसी को एक आख्यानक कविता के रूप में लिखा था और उसका अधिकांश सरस्वती में प्रकाशित हुआ था।[१] यह एक खण्डकाव्य है। परन्तु इसे सफल खंडकाव्य नहीं कहा जा सकता। यह खण्डकाव्य एक प्रयोग है। 'जयद्रथ वध' की पूर्ववर्ती प्रबन्ध सृष्टि होने का इसे गौरव प्राप्त है। अतएव 'रंग में भंग' को आख्यानक कविता नहीं कहा जा सकता। केवल 'नकलीकिला' काव्यांश को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। इस कृति में दो घटनाएं हैं। एक तो चित्तौड़ के नरेश का बूंदी में विवाह होना तथा विग्रह

---

१ सरस्वती, दिसम्बर, १९११, पृ० ५५४

और लाड़ा रानी के सती होने का वर्णन । दूसरा बूँदी का नकली किला चित्तौड़ में बनाया जाना और उसकी रक्षा में कुंभ का वीरगति को प्राप्त होना ।

इसकी कथा ऐतिहासिक है इसमें वीर भावना का सुंदर प्रस्फुटन हुआ है । इसकी कथा करुणा से पूर्ण है । 'रंग में भंग' के प्रथम संस्करण की भूमिका में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -" जिस घटना के आधार पर यह कविता लिखी गई है, वह एक ऐतिहासिक घटना है, कोरी कवि-कल्पना नहीं । वह जितनी कारुणिक है, उतनी ही उपदेश-पूर्ण भी । इसी से उसके महत्व की महिमा बहुत अधिक है ।"

प्रबन्ध शिल्प भाषा और काव्य की दृष्टि से 'रंग में भंग' अधिक सफल नहीं है परन्तु उसमें साकेताधार काव्य की प्रांजल तथा कांतिमयी खड़ी बोली की और निश्चित संकेत है । जिस समय खड़ी बोली का कोई स्थिर रूप नहीं था और वह काव्य के लिए उपयुक्त भी नहीं समझी जाती, उस समय तरुण कवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक ऐतिहासिक घटना को लेकर 'रंग में भंग' जैसी रोचक और वीरोल्लास से पूर्ण रचना को प्रस्तुत किया । यह काव्य वीर भावना से पूर्ण तो है ही साथ ही इसमें करुणा भावना की भी प्रधानता है । कवि ने इस रचना द्वारा मातृ-भूमि के प्रति प्रेम को भी व्यंजित किया है ।" इस काव्य-रचना में गुप्त जी का उद्देश्य वीरोल्लास से परिपुष्ट सकरुण आख्यान लिखना रहा है, जिसके द्वारा मातृभूमि प्रेम की व्यंजना की जा सके और मृत्यु को सुनिश्चित समझ कर भी राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की भावना से प्रेरित होकर बलिदान करवाया जा सके । मध्ययुगीन वीरत्व का आदर्श, आन की रक्षा और पात्रों की अभिन्न मनोवृत्तियाँ इस काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं ।"[१] यह गुप्त जी की सर्वप्रथम रचना है । विकासकाल के आरंभिक छोर पर यह 'रंग में भंग' है, जो कवि की अवस्था और खड़ी बोली की अनिश्चितता को देखते हुए सफल प्रयास है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० १६६ प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद,सागर, विश्ववि

२. जयद्रथ-वध –

जयद्रथ-वध गुप्त जी की द्वितीय प्रबन्ध रचना है। यह महाभारतीय रचना है। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १९११ में हुआ। इससे पहले जनवरी सन् १९०८ की सरस्वती में जयद्रथवध विषयकस्पक आख्यानक रचना 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' प्रकाशित हो चुकी थी। सन् १९०८ से सन् १९१० तक इस विषय से सम्बन्धित अन्य रचनाएं भी सरस्वती में प्रकाशित होती रहीं। इसकी कथा का आधार महाभारत है। काव्य की दृष्टि से जयद्रथ-वध गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में श्रेष्ठ है। गुप्त जी का यह केवल द्वितीय प्रबन्ध काव्य होने पर भी इसमें प्रबन्ध-शिल्पबहुत स्पष्ट और कथा में प्रवाह है।

इसकी ऐतिहासिकता को महत्वपूर्ण बतलाते हुए डा० श्रीकृष्णलाल कहते हैं – "आधुनिक-काल में काव्यों का प्रारंभ 'जयद्रथ-वध' से होता है। उस समय काव्य के अनेक अध्यायों में विभाजित पद्यबद्ध इतिवृत्तात्मक प्रबंध मात्र हुआ करते थे। प्रत्येक अध्याय का प्रारम्भ प्राय: प्रकृति-वर्णन से हुआ करता है.... जयद्रथ-वध में मैथिलीशरण गुप्त ने परम्परागत प्रचलित काव्य रूप में अपनी मौलिक प्रतिभा का सम्मिश्रण कर एक अपूर्व काव्य की रचना की। उन्होंने 'रामचरित मानस' में प्रयुक्त हरिगीतिका छंद को सरल साहित्यिक और ओजपूर्ण खड़ी बोली में ढाल दिया। कथानक के लिए उन्होंने महाभारत का एक बहुत ही प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रसंग लिया। फिर युद्ध भूमि का चित्रमय चित्रण, करुण रस का अबाध प्रवाह और भक्ति-भावना की सुंदर व्यंजना ने पाठकों का हृदय मोह लिया और पन्द्रह वर्ष के भीतर उसके चौदह संस्करण प्रकाशित हुए। परन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण अंग इसकी भाषा थी, जो साहित्यिक होती हुई भी अद्भुत गीतिपूर्ण और लय संयुक्त थी।"[१]

इस समय तक खड़ी बोली अपने आदर्श से काफी दूर था इसलिए कहीं कहीं संस्कृत के बोझिल शब्दों का प्रयोग हो गया है किन्तु भाषा में प्रवाह है और विषय के अनुरूप ओज है। 'जयद्रथ वध' की कथा को कवि ने सात सर्गों में विभक्त किया है। स्थान स्थान पर उत्साह और शोक की सुन्दर व्यंजना

हुई है। कवि अपने इस काव्य से शिक्षा देता है कि धैर्य धारण करने से सफलता मिलेगी अवश्य। यथा —

" दुःख, शोक जब जो आ पड़े, सो धैर्य पूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो ।।
अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।"[१]

जयद्रथ वध कवि का प्रारंभिक खण्डकाव्य है, परन्तु इसमें पर्याप्त प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संरक्षण के चिह्न स्पष्ट हैं। इस खण्ड-काव्य को कवि ने आचार्य द्विवेदी को ही समर्पित किया है। यथा :—

पाई तुम्हीं से वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूं ?
पर क्या परीक्षा रूप में पुस्तक न यह आगे धरूं ?
अतएव मेरी धृष्टता यह ध्यान में मत दीजिये,
कृपया इसे स्वीकार कर कृत कृत्य मुझको कीजिये।"[२]

३. शकुंतला :—

'जयद्रथ-वध' के दो वर्ष पश्चात् 'शकुंतला' काव्य प्रकाशित हुआ। परन्तु इस काव्य का रचनारंभ सरस्वती में प्रकाशित चित्रों पर आख्यानक पद्य-निबंधों के रूप में हुआ था। गुप्त जी ने कई पद्य-निबंध शकुंतला काव्य से सम्बन्धित लिखे थे। यथा, ' शकुन्तला-पत्र-लेखन,'[३] शकुन्तला को दुर्वासा का शाप,[४] ' शकुन्तला को कण्व का आशीर्वाद',[५] 'पूर्व स्मृति'[६] आदि। 'शकुंतला'

---

१. जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पन्चासवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
२. ,, समर्पण ,,
३. सरस्वती, नवम्बर १९०८, पृ० ४९१
४. वही, मई १९०९, पृ० २०७
५. वही, मई, १९११, पृ० २४१

काव्य का रचनारंभ सन् १९०८ में हुआ और सन् १९१४ में यह काव्य कृति प्रकाशित हो गई । इस काव्य का मूल आधार कालीदास कृत " अभिज्ञान शाकुंतलम् " है । कवि ने स्वयं इसे स्वीकारा है ।[1]

४ पंचवटी —

" विकास काल " के समय के खंड काव्यों में यह तीसरा रामायणीय खंडकाव्य है । इसमें गुप्त जी की खंडकाव्य-कला पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त दिखाई पड़ती है । यह काव्य-कला और कथा-सौन्दर्य की दृष्टि से पर्याप्त सफल है । जयद्रथवध " वाली इतिवृत्त वर्णना भी इसमें नहीं दिखाई देती । उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति भी कम होती गई है । युवक कवि मैथिलीशरण गुप्त एक कुशल प्रबन्ध-काव्य प्रणेता के समान दिखाई पड़ता है । पंचवटी खंडकाव्य काफी लोकप्रिय रहा है और उसके इक्कीस संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । यह एक चरित्र-प्रधान काव्य है । यद्यपि इसका कथानक राम साहित्य का चिर परिचित प्रसंग शूर्पणखा प्रसंग है परन्तु कवि ने इसके ख्यात वृत्त में भी परिवर्तन किया है । यद्यपि कथा का मूल रूप वही है परन्तु कवि की कतिपय मौलिक उद्भावनाएं भी है । कवि ने पंचवटी के प्रत्येक पात्र को अधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न किया है । अलौकिकत्व और अति आदर्शवाद से कवि दूर हटा है । कवि ने पंचवटी में एक ऐसे पारिवारिक जीवन का चित्रण किया है जो अत्यन्त स्वाभाविक है ।" कवि ने पारिवारिक जीवन के ऐसे सहज स्वरूप का चित्रण किया है, जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता साधारण जीवन-चर्या को अपनाते हैं, पर जिसका आन्तरिक उल्लास मानवतादर्श का परिणाम ज्ञात होता है । पंचवटी के पात्र जन साधारण से भिन्न नहीं हैं, पर वे अपनी विशेषताओं के कारण ही विशिष्ट हैं । कवि का लक्ष्य पाप-प्रवृत्ति का पराभव और सात्त्विक प्रवृत्ति का उत्कर्ष चित्रित करना रहा है । शूर्पणखा की अतृप्त वासना अपवित्र होने के कारण असफल हुई और लक्ष्मण की शक्तिमती सत्य-निष्ठा अपनी निष्कलुषता के कारण विजयिनी ।"[2] कवि ने यद्यपि चरित्र चित्रण में परम्परा

---

१. शकुंतला, उपक्रम, पृ० ६ (पन्द्रहवां संस्करण, साहित्य स०, चिरगांव, झांसी
२. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय ।

के अनुसार सीता, राम, लक्ष्मण और शूर्पणखा के इतिहास प्रतिष्ठित रूप को ही स्वीकार किया है परन्तु फिर भी उनमें आधुनिकता का प्रभाव है।" उन्होंने इन ऐतिहासिक पात्रों की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए भी उन्हें यथासंभव मानवीय रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है — राम के गुण-गाम्भीर्य में भी मानवोचित स्निग्धता एवं कोमलता है, लक्ष्मण के औद्धत्य में तारल्य है, सीता के आर्या-रूप में भी मधुर हास्य की स्थापना है तथा शूर्पणखा की राक्षसता में भी स्त्री सुलभ मुग्ध भाव एवं वाग्वैदग्ध्य है। सीता और लक्ष्मण का संवाद तो स्पष्ट रूप से आधुनिक युग के देवर-भाभी का चित्र प्रस्तुत करता है।"[1]

पंचवटी में प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर है। इसकी भाषा खड़ी बोली भी निखरी हुई है। पंचवटी में जो संवाद हैं उनमें एक प्रवाह है जिससे भाषा में चमक आ गई है। डा० सत्येन्द्र के अनुसार —

१. "आदर्श को यथार्थ बनाने के लिए उन्होंने जहाँ अन्तरात्मा में शुद्ध सात्त्विकता रखी है, वहाँ व्यवहार में धरातल की बातों को भी स्थान दिया है।"

२. "पंचवटी से ही गुप्त जी की शैली, भाव और भाषा सभी में परिमार्जन प्रारम्भ होता है।"

३. "पंचवटी में 'अनघ' के बराबर भी राष्ट्रीयता का पुट नहीं मिलता, केवल 'काव्य' और 'मानव-जीवन' यह दो बात ही कवि के समक्ष इस रचना के समय रही प्रतीत होती है।"[2]

काव्य की दृष्टि से यह रचना कवि के विकास काल की समस्त रचनाओं से अधिक उत्कृष्ट है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता। डा० उमाकान्त, पृ० २३ (द्वितीय संस्करण, नैशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली)

२. गुप्त जी की कला, पृ० २८-२६ (चतुर्थ संस्करण, साहित्यरत्न भंडार, आगरा)

५. किसान :-

"किसान" सामाजिक खण्डकाव्य है और इसकी रचना सन् १६१५ मैं हुई, तथा उस समय यह तीन खण्डों मैं सरस्वती मैं प्रकाशित भी हुआ ।[१] फिर सन् १६१७ मैं इसका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ । इस खंडकाव्य की रचना तत्कालीन परिस्थितियों की प्रेरणा से हुई है । इसमैं भारतीय किसान के उत्पीड़ित जीवन के प्रति करुणा प्रकट की गई है । यथा —

" एक समय था, कृषक आर्य थे समझे जाते -
भारत मैं थे सभी "अन्नदाता" पद पाते ।
जनक सदृश राजर्षि यहां हल रहे चलाते,
स्वयं रेवतीरमण हलायुध थे कहलाते ।।
लीलामय श्रीकृष्ण जहां गोपाल हुए हैं,
समय फेर से वहां और ही हाल हुए हैं ।
हा ! सुकाल भी आज दुरन्त दुकाल हुए हैं !
थे जो मालामाल अधम कंगाल हुए हैं ।"[२]

किसान का नायक समाज की भिन्न-भिन्न विभीषिकाओं मैं फंसता है । कभी वह पुलीस के अत्याचारों मैं पीसा जाता है, कभी महाजन के द्वारा सताया जाता है और कभी जमींदारों के नृशंस अत्याचारों से पीड़ा पाता है । नायक पुलीस के अत्याचारों से पीड़ित होकर कहता है —

" पुलिस मुझे भी व्यर्थ लुटेरा कह रही,
देखो अब वह शीघ्र कि हां, मैं हूं वही ।।
आप लुटेरे और बनाते हैं हमैं,
लुटवाते हैं आप, सताते हैं हमैं ।"[३]

जमींदार के प्रति रोष प्रकट करते हुए वह कहता है —

---

१. सरस्वती, जुलाई १६१५, पृ० १५, सरस्वती, अगस्त १६१५, पृ० ७६ और सितम्बर, १६१५, पृ० १३२

२. किसान, पृ० ७ (२०१६ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

" जमींदार भी झुकता दिखै न पायगा ,
झूठे लिखके फिर न कभी लिखवाएगा ।।[१]

'किसान' का नायक दिन रात के कठोर परिश्रम से भी अपने और अपने परिवार के उदरपूर्ति की व्यवस्था में स्वयं को असमर्थ पाता है । जीवन में कष्टों के थपेड़े खाता खाता वह 'आरकटियों' के फंदे में फंस जाता है फिर फीजी द्वीप में कुली बनाकर भेज दिया जाता है । जहाँ वह अपनी पत्नी कुलवन्ती सहित अत्यधिक कष्ट पाता है और वहीं ओवरसियर की नृशंसता के कारण गर्भवती कुलवन्ती की मृत्यु हो जाती है । इसका वर्णन भी कवि ने बड़ा ही रोमांचकारी किया है । नायक कहता है —

" कहीं दूर सुन पड़ा अचानक मुझको कुछ चिल्लाना,
चिर-परिचित कुलवन्ती का स्वर कानों ने पहचाना ।।

× × ×

शीघ्र दौड़कर जाकर मैंने कुलवन्ती को देखा,
भू-पर पड़ी हुई थी मेरे नभ की हिमकर-लेखा ।
मुँह से बहते हुए रुधिर से अंचल लाल हुआ था,
हा! स्वधर्म रखने में उसका ऐसा हाल हुआ था ।।
पूछा मैंने —" यह क्या है" वह बोली—" अन्त समय है,
किन्तु आ गए तुम अब मुझको नहीं मृत्यु का भय है ।
तुम्हें देखकर कालरूप वह ओवरसियर गया है,
यह चिर शान्ति आ रही है अब यह भी दैव-दया है ।।
प्रकटित करके पाप-वासना वह दुःशील सुरा पी ,
लोभ और भय देकर मुझको लगा छेड़ने पापी ।
किन्तु विफल होकर फिर उसने यह दुर्गति की मेरी,
सुखी रहो तुम सब सर्वदा, मुझे नहीं अब देरी ।।

---

१. किसान, पृ० २८ (२०१६ वि०, साहित्य सदन, चिरगांव,फांसी

बची सौत है दे न सकी मैं अंक-पर्यंक तुम्हारा,
रहा पेट ही में बच मेरे चारा नहीं कुछ चारा ।"[१]

इस काव्य में तत्कालीन युग की स्पष्ट छाप है । इन्हीं दिनों सन् १९१५ में कांग्रेस के दसवें प्रस्ताव में बंबई में इस बात का दुःख प्रकट किया गया था कि दक्षिण अफ्रीका में जो कानून भारतवासियों के लिए प्रचलित हैं वे उचित नहीं हैं ।[२] गांधी जी इसका विरोध कर रहे थे ।[३] इसी वर्ष फिजी की गिरमिट प्रथा बन्द हुई थी । इन सब बातों का सम्मिलित प्रभाव 'किसान' काव्य में दिखाई पड़ता है । इसी समय सियारामशरण गुप्त ने भी 'अनाथ' की रचना की । 'किसान' से पहले भी गुप्त जी की 'दुर्दशा-निवेदन' और 'भारत-भारती' में भी पीड़ित जनता के दुःख की झांकी दिखाई थी । परन्तु किसान में कई विशेषताएं दिखाई पड़ती हैं । इसी समय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था । गरीब जनता अधिकाधिक संख्या में सेना में भर्ती हो रही थी । भारतीयों को सैनिक अफसरी के परवाने प्राप्त हुए और उन्होंने अपने युद्ध-कौशल को दिखाना प्रारम्भ किया । उस युग की राजनैतिक परिस्थिति थी । इस समय गांधी जी का बहुत प्रभाव था और उनका यह आदेश था कि किसानों के दुःख को फैलाने वाली शोषण-पद्धति को तुरंत समाप्त कर देना चाहिये ।[४] किसान में इन सब बातों का सम्मिलित प्रभाव दिखाई देता है ।

'किसान' की भाषा पर्याप्त विकसित और सुव्यवस्थित है । 'रंग में भंग' से 'किसान' तक आते आते भाषा उत्तरोत्तर मार्जित और सजीव होती गई है । इस काव्य में करुण रस का परिपाक है । शिल्प की दृष्टि से 'किसान'

---

१. किसान, फिजी, पृ० ३९-४० (२०११ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. कांग्रेस का इतिहास, भाग २, पृ० १०१, पट्टाभि सीतारमैया ।
३. "मैंने देखा कि स्वाभिमान की रक्षा चाहने वाले हिन्दुस्तानियों के लिए दक्षिण अफ्रीका योग्य मुल्क नहीं है ।" —सत्यके प्रयोग, महात्मागांधी, पृ१६।
४. "Get off the backs of these peasants and workers, he told us, all you who live by their exploitation; get rid of the system that produces this poverty and misery."
- J.L. Nehru, P.336.

कवि की आरंभिक कृतियाँ, वैतालिक आदि से निम्नतर ही है।' किसान' में कवि का ध्यान विशेष रूप से वृद्ध की ओर ही अधिक रहा है।

शक्ति —

'शक्ति' काव्य का निर्माण द्वितीयोत्थान काल में ही हो गया था, परन्तु इसका प्रकाशन सन् १९२७ में हुआ। 'शक्ति' का आधार यद्यपि मार्कण्डेय पुराण का दुर्गा सप्तशती खण्ड है परन्तु यह धार्मिक काव्य नहीं है। इसमें कवि ने हिन्दुओं को शक्तिवान् और पुरुषार्थी होने का संदेश दिया है। संगठन के महत्त्व को बतलाया है। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से धार्मिक समन्वय को महत्त्व दिया है। इस कृति में कवि गांधीवाद से बहुत प्रभावित प्रतीत होता है। आगे चल कर' त्रिपथगा' में इसी विचारधारा का विकास दृष्टिगोचर होता है।' शक्ति' में कवि ने संदेश दिया है —' संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक।'[१]

बक-संहार —

यह एक पौराणिक कृति है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। महाभारत के' बकवध पर्व' में यह कथा बड़े ही रोचक ढंग से दी गई है। जिस समय पांडव लोग लाक्षागृह के जलने के बाद भटक रहे थे, उसी समय एक बार व्यास ने एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के यहां कुंती और उसके पांचों पुत्रों के रहने का प्रबन्ध कर दिया। पाण्डव एकचक्रा नगरी में रहने लगे। वहां अपने गुणों के कारण वे सबके प्यारे हो गए। दिन भर पांचों भाई भीख मांगते फिरते और जो कुछ पाते शाम को माता के पास ले आते। माता उसके दो भाग करती। एक तो भीमसेन को देती और बाकी को निज-सहित चारों पुत्रों में बांट देती।

---

१. शक्ति, पृ० ११ (२०१७ वि०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

ऐसे ही दिन बीत रहे थे कि एक दिन ब्राह्मण के घर में अचानक रोना-पीटना प्रारम्भ हो गया । कुंती से न रहा गया और भीतर जाकर उसने विलाप का कारण पूछा । और अंत में बक संहार के लिए अपने पुत्र भीम को भेज कर बक राक्षस का वध करवा दिया । महाभारत में यह कथा बड़े ही धार्मिक ढंग से आई है । ब्राह्मण , ब्राह्मणी, पुत्र और पुत्री चारों में से प्रत्येक यही चाहता है कि वही बक के पास जाकर, अपने प्राण देकर परिवार के अन्य व्यक्तियों की प्राण रक्षा कर ले ।

मैथिलीशरण गुप्त ने ' बक-संहार ' में कथा को ज्यों का त्यों लिया है । महाभारत की कथा के कुछ अंशों को संक्षेप में और कुछ को अधिक विस्तार से दिखाया है । ऐसा केवल कथा की रोचकता बढ़ाने के लिए ही किया गया है । कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों महाभारत की इस कथा के एक अंश का अनुवाद ही करके रख दिया हो ।

' बक संहार ' में कुंती के चरित्र की उदारता व्यंजित है । साथ ही इसमें ब्राह्मण परिवार की सदाचारिता भी दिखाई गई है । परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना जीवनोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत रहता है । यहां तक कि अतिथि भी इस आदर्श का प्रदर्शन करते हैं । इन सब आदर्शों के साथ - साथ सम्पूर्ण काव्य की आत्मा में कवि का एक तीक्ष्ण स्वर सर्वोपरि है, और वह है अन्याय के प्रति विद्रोह- भयंकर विद्रोह । कवि कुंती के माध्यम से अन्याय के प्रति अपना रोष प्रकट करते हुए कहता है —

" पर मरण क्या उसका भला,
तृण तुल्य जो धीरे जला ?
उसकी अपेक्षा भभक जाना ठीक है ।
है तेज तो उसमें तनिक,
चकचौंध होती है क्षणिक,
हा ! एक ही सबकी तुम्हारी लीक है ।
विवशता, मैं क्या कहूं,
पर, मौन भी कैसे रहूं ?

निज जन्मभू की भी दुहाई व्यर्थ है ।
क्या जन्मभू है हाय ! सो ,
निज मृत्यु भू बन जाय जो ,
विस्तीर्ण वसुधा भर हमारे अर्थ है ।
पर शक्ति हममें चाहिये,
अनुरक्ति उसमें चाहिये ,
निर्बल जनों का विश्व में कोई नहीं ।"
कुंती सिहर कर चुप हुई,
(घहरी घटा फिर घुप हुई)
भर नैत्र आये किन्तु वह रोई नहीं ।"[१]

कवि ने महाभारत की एक कथा का चित्रण "बक-संहार" में किया है, परन्तु कैवल कथा कहना ही कवि का अभिप्राय नहीं है । "बक-संहार" एक कैवल घटना-प्रधान-काव्य रचना नहीं, वरन् चरित्र प्रधान तथा विचारात्मक खण्ड काव्य है ।

सैरन्ध्री :-

सैरन्ध्री, वन-वैभव और बक-संहार तीनों महाभारतीय खण्ड प्रबन्धों का प्रकाशन एक साथ तथा पृथक-पृथक भी हुआ है । इन तीनों की विचारधारा भिन्न-भिन्न है । इन तीनों काव्यों में सैरन्ध्री की रचना सर्वप्रथम हुई । इस काव्य में पाण्डवों के अज्ञातवास के समय की एक घटना रोचक कथात्मक रूप में दी गई है । अज्ञातवास के समय मत्स्यराज विराट के अन्त:पुर में द्रौपदी ने नीच कीचक से कैसे अपने पातिव्रत धर्म की रक्षा की थी, इसी का वर्णन इस काव्य में है । सैरन्ध्री काव्य की रचना के पूर्व ही सरस्वती में 'कीचक की नीचता' कविता के रूप में इसका रचनारंभ हो चुका था ।[२] इस कविता का प्रारम्भ करते

---

१. बक-संहार, पृ० २५-२६ (२०१३ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. सरस्वती, १ मार्च, १९१२, पृ० ११५

दुर कवि कहता है —

" करने को अज्ञात-वास अपना पूरा जब
नृप विराट के यहां रहे छिप कर पाण्डव सब
एक समय तब देख द्रौपदी की शोभा अति ,
उस पर मोहित हुआ नीच कीचक सेनापति
यों हुई प्रकट उसकी दशा
दृग्गोचर कर रूप वर
होता अधीर ग्रीष्मार्त गज
पुष्करणी ज्यों देख कर ।।"[१]

द्रौपदी यद्यपि मलिन वेश में दासी के रूप में है, फिर भी उसका स्वाभाविक सौन्दर्य जन-साधारण को आकर्षित करने वाला है।

यद्यपि दासी बनी वस्त्र पहने साधारण
मलिन वेश द्रौपदी किये रहती थी धारण ।
वस्त्रानल सम किन्तु छिपी रह सकी न शोभा
उस दर्शक का चित्त और भी उसपर लोभा ।[२]

कीचक द्रौपदी के सामने अनुचित प्रस्ताव रख देता है —

" सैरन्ध्री, किस भाग्यशील की भार्या है तू ?
है तो दासी किन्तु गुणों से आया है तू !
मारा है स्मर ने शर मुझे
तेरे इस भ्रू चाप से !
अब कब तक तड़पूंगा भला
विरह-जन्य संताप से ?"[३]

---

१. सरस्वती, १ मार्च, १६१२ ई०, पृ० ११५
२. सैरन्ध्री, पृ० ११६ (ग्यारहवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव,भांसी
३. वही, पृ० १२१ ,, ,,

कीचक के इस नीच प्रस्ताव को सुनने के पश्चात् द्रौपदी जो कुछ कहती और करती है, वही इस काव्य की आत्मा है। वह कीचक की प्रतारणकरते हुए कहती है कि —

" सावधान है वीर, न ऐसे वचन कहो तुम
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम।
है मेरा भी धर्म, उसे क्या खो सकती हूँ ?
अबला हूँ, मैं किन्तु न कुलटा हो सकती हूँ।
मैं दीना हीना हूँ सभी,
किन्तु लोभ-लीना नहीं,
करके कुकर्म संसार में
मुझको है जीना नहीं।[१]
पर-नारी पर दृष्टि डालना योग्य नहीं है,
और किसी का भाग्य किसी को भोग्य नहीं है।
तुमको ऐसा उचित नहीं, यह निश्चय जानो,
निन्द्य कर्म से डरो, धर्म का भी भय मानो।"

इस काव्य में कविका उद्देश्य नारी का पातिव्रत, पातिव्रत की पवित्रता नारी का साहस और स्वरक्षा की शक्ति तथा सामर्थ्य, दुराचारी का अन्त व और सत्य की असत्य पर विजय, दिखाना रहा है।

'कविता-कलाप' में पच्चीस छन्दों में रचित यह कविता प्रकाशित हुई थी उसी का परिवर्द्धित रूप सैरन्ध्री है।

वन वैभव —

त्रिपथगा के तीनों महाभारतीय खण्ड-प्रबन्धों की विचारधारा की विभिन्नता और भी स्पष्ट हो जाती है जब वन-वैभव की मूल विचार-धारा में 'शक्ति' काव्य की सी संगठन की भावना दिखाई पड़ती है। " वन-वैभव' और 'शक्ति' काव्य एक जैसी मन-स्थिति की रचनाएं हैं। शक्ति का संगठन 'वन-वैभव' का भी अभिप्रेत है, पर उसमें नैतिक भावना का आधिक्य है,"[२]

---

१. सैरन्ध्री, पृ० १२२, (ग्यारहवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

पाप त्याज्य है, पुण्य ही ग्रहण के योग्य है। धन, वैभव, और राज्य के संग्रह के बदले धर्म का संग्रह ही उपयुक्त है। यही विचार धारा वन-वैभव का मूल है। वनवास के समय का मैं पाण्डव टिके हैं, दुर्योधन अपनी सेना के साथ कर्ण और शकुनी को लेकर हिंसक पशुओं को मारने के बहाने जाता है और पाण्डवों को सताना चाहता है। परन्तु इससे पहले कि दुर्योधन पाण्डवों को सताने का कोई प्रयत्न करे चित्ररथ से उसका युद्ध हो जाता है और वह अपनी सेना आदि के सहित संकट में फंस जाता है। इस समय धर्मराज जब यह वृत्तांत सुनते हैं तो कौरव दल की रक्षा करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं —

" करें यदि अन्य मनुज दुष्कर्म ,
तजें तो क्यों हम अपना धर्म ?
धैर्य ही धर्म्म-परीक्षा है,
वही वीरों की दीक्षा है।
राम ने राज्य विभव छोड़ा ,
उन्हें था वन में दुख थोड़ा ?
भरत ने भी निज मुख मोड़ा,
धर्म्म-धन ही सबने जोड़ा।
सहेंगे दुख हम भी धर्म्मार्थ ,
पुण्य ही तो है परम पदार्थ।" १

वन-वैभव में युधिष्ठिर की यही विचार-धारा प्रमुख है कि पाप के क्षणिक चकमक और लाभ को देख कर उससे दूर रहना, वीरों के उपयुक्त कार्य करना और अन्यायी को भी शरण में आने पर क्षमा करना तथा उसकी रक्षा करना। कवि ने दिखाया है कि एक सच्चे वीर और धर्मात्मा के रूप में युधिष्ठिर अपना कर्तव्य करते हैं पर पापाचारी दुर्योधन पर उसका क्षणिक भी प्रभाव नहीं पड़ता :—

" झुका दुर्योधन का भी भाल,
अंक में भर उसको तत्काल ,
युधिष्ठिर बोले आँसू ढाल -
" कुल-व्रत पालो है कुलपाल ।"
किन्तु दुर्योधन का वह मौन
कहेगा सम्मति सूचक कौन ?"[१]

२. निबंध काव्य —

निबंध काव्य के अन्तर्गत कवि की निराख्यानक और आख्यानक कविताएं आ जाती हैं। निराख्यानक कविताएं अधिकतर पद्य- प्रबन्ध में और मंगल घट में संगृहित हुई थीं। इनके अतिरिक्त कुछ सरस्वती में प्रकाशित हुई। यथा-स्वर्गीय संगीत, ग्राम्य जीवन, आर्य-भार्या, दो दृश्य , हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रदर्शनी, सुकवि संकीर्तन, पूर्व प्रभा, राज्याभिषेक, यांचा हिन्दू विश्वविद्यालय, मृत्यु, संबोधन आदि ।

आख्यानक कविताओं के अंतर्गत भी कई रचनाएं आती हैं -विकट भट, दस्ताने, मुनि का मोह, सुलोचना का चितारोहण, प्रह्लाद , पंजर बद्ध कीट, टाइटानिक की सिंधु समाधि,चांडाल आदि । वृहद निबंधों में भारत-भारती और हिन्दू है।

भारत-भारती —

भारत-भारती की रचना द्वितीयोत्थान काल के प्रारम्भ में हुई थी । इस काल के अन्त में जो रचना 'हिन्दू' हुई वह भी हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस काल की ये दोनों 'भारत भारती' और 'हिन्दू' काव्य कृतियां अपना ऐतिहासिक धार्मिक और सामाजिक महत्व रखती हैं। ये दोनों ही निराख्यानक वृहत् निबन्ध काव्य हैं।

---

१. वन-वैभव —पृ० २८ (२००५ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)

'भारत भारती' हिन्दू की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुई। इसका कारण यह था कि 'भारत भारती' की रचना जिस वातावरण में हुई वह उसके लिए उपयुक्ततम स्थिति थी। उस समय द्विवेदी युग की राष्ट्रीय भावना का बोल बाला था। उस समय ऐसे ही काव्य की आवश्यकता भी थी जो राष्ट्रीय जातीय, साहित्यिक भावनाओं से ओत-प्रोत हो। गुप्त जी की 'भारत-भारती' इन सब भावनाओं से पूर्ण होकर अपने योग्य उपयुक्त समय में प्रकाश में आई। भारत भारती की रचना का प्रारम्भ गुप्त जी के 'प्राचीन भारत', पूर्व-प्रभा और पूर्व-दर्शन कविताओं के बाद हुआ। जनवरी सन् १९१० में सरस्वती में प्राचीन भारत छपा, फिर 'पूर्व-प्रभा' सरस्वती के नवम्बर १९११ के अंक में छपा। लगभग इसी समय 'मर्यादा' में पूर्वदर्शन भी प्रकाशित हुआ।

हिन्दू —

गुप्त जी के काव्य की द्वितीय विकास स्थिति की अंतिम प्रमुख रचना हिन्दू है। इसे विचारधारा की दृष्टि से भारत-भारती का परिशिष्ट कहा जा सकता है। 'हिन्दू' नाम से जातीयता की प्रधानता का बोध होता है — परन्तु कवि ने जातीय भावना की संकीर्णता कहीं भी नहीं दिखाई है, वरन् राष्ट्रीय भावना ही सर्वोपरि है। जो राष्ट्रीय जागृति की भावना 'भारत-भारती' में मुकुलित दिखाई पड़ती है वही भावना 'हिन्दू' में विकसित हुई है और फिर आगे उसका पूर्ण विश्वास 'गुरुकुल' तथा 'काबा और कर्बला' में दिखाई पड़ता है। इसलिए राष्ट्रीय चेतना की भावना से प्रेरित होकर कवि ने जो काव्यकृतियां सृजन कीं उनकी पंक्ति में भारत-भारती को जो वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ वह 'हिन्दू' को नहीं, क्योंकि वह उस पंक्ति का दूसरा पुष्प था। 'हिन्दू साहित्यिक विकास की दृष्टि से 'भारत-भारती' का केवल प्रतिवर्तन है, नव्य रचना नहीं। अतएव 'भारत-भारती' का प्रकाशन जहाँ साहित्यिक घटना बन गई, वहाँ 'हिन्दू' को ऐतिहासिक या साहित्यिक कोई महत्त्व नहीं मिला।'[१] वास्तव में जहाँ भारत-भारती में नव निर्माण की

---

१. मैथिलीशरण गुप्त — व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकांत पाठक, पृ० १८२-१८३ (प्र०सं० हिन्दी परि०, सागर)

और अधिक बल है, वहाँ 'हिन्दू' में कवि देश और समाज की शांति की चिंता में है। वह तत्कालीन साम्प्रदायिक झगड़ों से प्रभावित है। वह साम्प्रदायिक दंगों से दारुण घबरा उठा है और उसी अवस्था में उसने 'हिन्दू' की रचना की है।

३. गीतिकाव्य –

मुख्यतया गुप्त जी की गीति रचनाएं सन् १९१२-१३ में ही लिखी गईं परन्तु इस काल की लावनी, कजली, दादरा, कव्वाली, बिरहा आदि में लोकगीतों से प्रभावित गीति काव्य का रूप दिखाई पड़ता है।[1] फिर इसके पश्चात् गीति-शिल्पका चरमोत्कर्ष छायावादी कवियों में मिलता है। लगभग सन् १९१३ में, जिस समय रवीन्द्रनाथ को नोबल पुरस्कार मिला, गीतांजलि की व्यापक प्रसिद्धि हो चुकी थी और छायावादी कवियों को प्रभावित कर चुकी थी। इसी समय अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य का भी उस पर प्रभाव पड़ा।[2] रवीन्द्रनाथ ने भी उपनिषदों के दर्शन को पश्चिमी सौन्दर्यबोध के साथ आत्मसात करके छायावादी मनोभावना को जन्म दिया।[3] इस नई काव्य धारा प्रगीत काव्यशैली का प्रवर्तन हिन्दी में हुआ और गुप्त जी ने उसे बढ़ावा दिया।

'कुकवि-कीर्तन', 'स्वर्ग सहोदर', 'स्वर्ण-संगीत आदि रचनाएं कवि की अभ्यास काल के समय की रचनाएं हैं। वास्तव में गुप्त जी के गीतकाव्य का आरम्भ राष्ट्रीय चेतना की भावाभिव्यक्ति के रूप में विशेषकर हुआ। सन् १९१२ के लगभग भारत-भारती का 'विनय' शीर्षक सोहनी-गीत और 'टाइटानिक की सिन्धु समाधि'[4] शीर्षक मृत्यु गीत लिखे गये। इसी समय 'सांत्वना'

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इविकास, डा० कृष्णलाल, पृ० १०७

२. छायावाद का आरम्भ कब हुआ ? सियारामशरण गुप्त, अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृ० १८९

३. छायावाद का आरम्भ कब हुआ ? सुमित्रानन्दन पंत, अवन्तिका जनवरी, १९५४, पृ० १९०

४. सरस्वती- १ जुलाई १९१२, पृ० ३

गीत की भी रचना हुई,¹ इसके पश्चात् १९१४ में 'अनाथ-विधवा' शीर्षक गीत प्रकाशित हुआ।[2] सन् १९१६ में 'पत्रावली' का प्रकाशन हुआ। यह पत्र गीतियों का पुस्तकाकार प्रकाशन है। ये पत्र-गीतियाँ [illegible] काव्य के आधार पर लिखी गई हैं। कवि की पत्र-गीतियों में मुख्यतया वीर-भावना का सन्निवेश है। 'आध्यात्मवादी' आशावादी प्रार्थना' की रचना कवि ने सन् १९१३ में की।[3]

इस प्रकार कवि ने सन् १९१२ से सन् १९१६ तक अनेक रूप में व्यक्तिगत अनुभूति, राष्ट्र-प्रेम, पत्र-गीति, आध्यात्मवाद आदि की गीति-काव्यात्मक अभिव्यक्ति की। 'स्वदेश संगीत' का प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ। इसमें कवि के राष्ट्रधर्मी गीत संगृहीत हैं। असहयोग आन्दोलन के समय गुप्त जी ने सामयिक राष्ट्रीयगीत भी लिखे थे। वे साप्ताहिक 'प्रताप' में छपे। इनका शीर्षक 'फुलझड़ियाँ' दिया गया था। कवि के कुछ गीतों में व्यंग के छींटे भी हैं। 'रोना या गाना' शीर्षक कविता, प्रान्तीय भारत सभा में बजट सम्बन्धी वाद विवाद जो कि न्याय-विभाग के पदों को लेकर चला था उस पर लिखी गई है। इस कविता में पर्याप्त व्यंग कसे गये हैं —

> ' न्यायदेव को किसी सिविलयन ने इसलिए रुलाया है,
> हाईकोर्ट में उसका बन्दी मुक्ति-लाभ कर लाया है।
> न्याय मूर्ति ने यह चर्चा सुन साभिप्राय दृष्टि डाली,
> न्यायदेव की झांकी पर थी मधुर हास्य की उजियाली।
> गूंज उठी यह गिरा हृदय में — आप किसलिये डरते हैं ?
> हाथी सदा चले जाते हैं, कुत्ते भूंका करते हैं।'[4]

कवि के व्यंग्य तीखे नहीं हैं वरन मार्मिकता से पूर्ण हैं।

'वैतालिक' की रचना सन् १९१७ में हुई।[5] और सन् १९१८ में उसका-

---

१. सरस्वती — १ अगस्त, १९१२, पृ० ४२६ (तथा मंगल घट में भी संकलित)

२. सरस्वती — जून १९१४, पृ० ३०४

३. सरस्वती, नवंबर, १९१३, पृ० ६२९

४. लीडर, ७ अप्रैल १९२१

५. सरस्वती, जुलाई १९१७, पृ० ४ और अगस्त १९१७, पृ० ६७

पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ । इसमें भी राष्ट्रवादी गीतों की प्रमुखता है । 'झंकार' कवि के आध्यात्मवादी प्रगीतों का संकलन है । इसका प्रकाशन सन् १९३० में हुआ था । परन्तु इसके अधिकांश प्रगीत पहले प्रकाशित हो चुके थे ।

द्विवेदोत्थान काल की इस स्थिति में गुप्त जी ने विविध प्रकार के गीतों का निर्माण किया और छायावादी काव्य शैली का उन्होंने विस्तार भी किया ।

४. नाट्य रचनाएं —

इस काल में कवि ने चार नाट्य रचनाएं की हैं । 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास', 'अनघ' और लीला । तिलोत्तमा की रचना तो सन् १९१३-१४ में हुई थी, परन्तु इसका प्रकाशन १९१६ में हुआ । 'चन्द्रहास' नाटक की रचना तो वसंतपंचमी संवत १९७० को हो गई थी, परन्तु यह प्रकाशित सन् १९१८ के लगभग हुआ । अनघ का प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ । लीला का प्रकाशन कार्तिकी पूर्णिमा, २०१७ वि० को हुआ ।

इन नाट्य कृतियों में द्विवेदी युग की नाट्य-शिल्प का प्रभाव है । 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' संस्कृत की नाट्य पद्धति में लिखे गए हैं ।

५. मुक्तक काव्य —

मुक्तक काव्य शैली को भी गुप्त जी ने अपनाया है । उनकी काव्य-रचना का प्रारंभ ही मुक्तक काव्य से हुआ था और यह मुक्त काव्य शैली बराबर उनके साथ रही । परन्तु वह गुप्त जी के काव्य की अप्रधान काव्य रचना-प्रक्रिया है । मुक्तक काव्य शैली को कवि ने दो आग्रहों के कारण अपनाया है । एक तो सजीव-संवाद योजना के लिए, जैसे 'तिलोत्तमा' नाटक में —

इन्द्र— बहुत दिनों से निरुपयोग से अस्त्र पड़े हैं,
पाकर अवसर आज व्यग्र हो रहे बड़े हैं ।
वह प्रयोग—कौशल्य कहीं कर भूल न जावें—
इससे वे भी आज उसे फिर नया बनावें ।

मैं देखूं, रिपुओं ने इधर कितना बल-संचय किया ?
अदृष्ट-भाव से ही सही, जाना निश्चय कर लिया ।।[1]

< <

इन्द्र- वही धन्य है सृष्टि में जन्म उसी का सार ।
हो कुल, जाति, समाज का जिससे कुछ उपकार ।।[2]

'तिलोत्तमा' नाटक की ही भाँति 'चन्द्रहास' में भी संवाद योजना के अन्तर्गत इस मुक्तक शैली के सुन्दर उदाहरण देखते हैं :—

चन्द्रहास- आके जाना चाहती है कहाँ तू ?
बैठी मेरे चित्त में है यहाँ तू ।
लेती है क्या तू प्रतीक्षा-परीक्षा ?
क्या ऐसी ही है प्रिये ! प्रेम-दीक्षा !"[3]

< <

धृष्टबुद्धि- करूँगा वही जो न कोई करेगा,
मरेगा विपक्षी, मरेगा, मरेगा ।
उठूं तो अभी मेरु को मैं हिला दूं,
कि आकाश-पाताल दोनों मिला दूं ।[4]

< <

दूसरी मुक्तक-काव्य-शैली, जिसका प्रयोग गुप्त जी ने किया है—वह है अलंकृति-प्रधान उक्ति चमत्कार के लिये । कवि की 'काट-छांट' कविता में व्यंग्योक्ति का उदाहरण देखिये —

" कोकिल, क्यों तू कु- ऊ कु-ऊ कहता, रहता है,
करके उसमें संधि क्यों न 'कू-कू' कहता है ? "

---

१. तिलोत्तमा- दूसरा अंक, पृ० ३३
२. वही, पृ० ३४
३. चन्द्रहास- चतुर्थाङ्क, पृ० १०६ 'शालिनी'।
४. वही, पृ० ११४ भुजंग प्रयात (सातवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव

" आलोचक जी, रीति मुझे भी यह जंचती है,
बात वही है और एक मात्रा बचती है ।
सुनिए वह उल्लू व्याकरण कैसा अच्छा जानता है ।
हैं घु-ऊ घुं-ऊ कहकर न जो घू-घू मात्र बखानता है ।"[१]

इस प्रकार कवि ने मुक्तक काव्य शैली का भी प्रयोग किया है, परन्तु वह गौण है ।

६. अनुवाद —

अनुवाद का कार्य गुप्त जी ने मुख्यतया अपनी काव्य रचना की प्रथम अवस्था, प्रथमोत्थान काल में ही किया था । बंगला और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद उन्होंने किया था । बंगला से अनूदित 'विरहणी ब्रजांगना' का प्रकाशन सन् १६१५ में हुआ था । वैसे इसका अनूदित अंश सरस्वती के मई १६१२ में छप चुका था । दूसरा बंगला से अनूदित 'वीरांगना' का काव्यानुवाद सन् १६२८ में प्रकाशित हुआ । 'विरहणी ब्रजांगना' और 'वीरांगना' दोनों ग्रन्थ माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा रचित शृंगारिक काव्य हैं । नवीनचन्द्र सेन कृत 'पलाशिर-युद्ध' काव्य को बंगला से हिन्दी में कवि ने अनूदित किया और उसका प्रकाशन भी सन् १६१५ में हुआ ।

गुप्त जी ने 'मेघनाद-वध' महाकाव्य का अनुवाद सन् १६२८ में प्रकाशित किया । 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के आधार पर उन्होंने शकुंतला खण्डकाव्य की सृष्टि की । इसके पश्चात १६१५ के लगभग उन्होंने कई संस्कृत के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया । भास के नाटकों में से 'स्वप्नवासवदत्ता' का अनुवाद सन् १६१५ में प्रकाशित हुआ । भास के 'दूत घटोत्कच' का अनुवाद सन् १६५६ में प्रकाशित हुआ इनके अतिरिक्त भास द्वारा रचित 'उरुभंग', 'प्रतिमा', 'अविमारक', 'अभिषेक', 'चारुदत्त', 'दूतवाक्य' तथा 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण' नाटकों का अनुवाद भी कवि ने किया, पर वे अप्रकाशित हैं । उनकी पेंसिल से लिखी हस्त-

---

१. मंगल घट, काट-छांट, पृ० २६८ (रचना सं० १६७२)

लिखित प्रति कलाभवन, काशी और कवि के संग्रहालय में संगृहीत हैं ।

इस अनुवाद कार्य से कवि के प्रारम्भिक समय में ही उनकी काव्य-कला अधिक परिष्कृत हो गई थी । कहीं कहीं अनुवाद के स्थल दृष्टव्य हैं । "अभिषेक" नाटक का पद्यानुवाद अनुवाद की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है —

मूल— रजत रचित दर्पण प्रकाश : करनिकरैर्हृदयं ममाभिपीड्य ।
उदयति गगने विजृम्भमाण: कुमुदवन प्रियबान्धव: शशांक: ।"[१]

अनुवाद—" रजत मुकुट सम कान्तिमय कुमुद-बन्धु राकेश ।
चढ़ कर स्वकरों से मुझे देता है यह क्लेश ।"[२]

गीतामृत का अनुवाद सन् १६२५ में प्रकाशित हुआ । यह गीता के दूसरे अध्याय का सम-श्लोकी अनुवाद है ।

इस काव्य रचना की दूसरी स्थिति द्वितीयोत्थान काल में गुप्त जी ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है । जहाँ प्रथमोत्थान काल में कवि उत्कृष्ट काव्यों का सृजन न कर पाया था, वहाँ द्वितीयोत्थान काल में पहुँचते पहुँचते कवि तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं के अनुसार कविता करने लगा । इस समय जहाँ कवि राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है व वहीं जातीयता और सामाजिकता के प्रति भी कर्तव्य-निष्ठ है । आध्यात्मिक भावना तो उसमें प्रारम्भ से अंत तक विद्यमान है ।

---

१. अभिषेक नाटक, भास, द्वितीय अंक, श्लोक११

२. हस्तलिखित अनुवाद ।

तृतीयोत्थान काल (सन् १६२५—१६३७)

द्वितीयोत्थान काल का प्रारम्भ जैसे "भारत-भारती " जैसी जागरूक और लोकप्रिय रचना से हुआ था , उसी प्रकार इस काल का प्रारंभ "गुरुकुल" से होता है । "गुरुकुल" का प्रकाशन यद्यपि सन् १६२८ में हुआ, परन्तु इसकी मानसिक तैयारी तथा वस्तु-चयन का कार्य द्वितीयोत्थान काल में ही हो गया था । गुप्त जी ने सामाजिक विषमता को दूर करने के लिये हिन्दू मुसलमानों की एकता और सिक्खों एवं हिन्दुओं के पारस्परिक सौहार्द्र पर बल दिया है । "गुरुकुल" में सिक्ख गुरुओं की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है क्योंकि इससे कवि मुसलमानों को उनके अत्याचारों से अवगत कराना चाहता था । इस विषय में कवि का दृष्टिकोण गांधी जी के समान ही है । वस्तुत: कवि ने साम्प्रदायिक समस्या को गांधी जी के दृष्टिकोण से देखा था । वह समझता था कि सत्याग्रही वृत्ति से ही आत्मशक्ति का विकास हो सकता है तथा पाप-कर्म करने वालों की चित्त-शुद्धि भी संभव है । गांधी जी सर्व-धर्म-समन्वय के पक्ष-पाती थे और समस्त जीवन को उसी के अधीन रखना चाहते थे ।"[1] गुप्त जी ने मानवता को सर्वोपरि समझा और हिन्दू मुसलमान तथा सिक्ख में समानता लाने का प्रयत्न किया । यथा —

" हिन्दू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच,
मनुष्यत्व सबके ऊपर है
मान्य महीमण्डल के बीच।
सच्चा हिन्दू होकर ही मैं
यह कहने के लिए समर्थ—
'तुझसा पापी हिन्दू है तो
मुसलमान हूं तेरे अर्थ ।"[2]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य- डा० कमलाकांत पाठक, पृ० २०४ (प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद् सागर वि०वि०)
२. गुरुकुल, बंदा बैरागी, पृ० २३७-२३८ (२०१४ वि०सा०स०,चिरगांव,झांसी)

गुप्त जी तत्कालीन साम्प्रदायिक दंगों से व्यथित थे और साम्प्रदायिक एकता की भावना उनमें झलकती थी । हिन्दुओं और सिक्खों के विरोध को दूर करने की लालसा उनमें प्रबल थी —

" किन्तु हिन्दुओं से सिक्खों का
मुझे विरोध नहीं है इष्ट ,
सम्प्रदाय है एक उन्हीं का
तत्व खालसा वीर विशिष्ट ।
सिक्ख-संघ हिन्दू कुल का ही
निज रक्षार्थ संघटन मात्र,
गुरुओं ने समयानुसार ही
किये सुशिक्षित अपने पात्र ।"[१]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'गुरुकुल' की मूल भावना हिन्दू मुसलमान और सिक्खों के अन्तर्गत एकता स्थापित करना है ।

साकेत :-

'साकेत' का रचनारंभ यद्यपि द्वितीयोत्थान काल में ही हो गया था परन्तु इसका प्रकाशन इस काल में हुआ । गुप्त जी की बाल्यावस्था में ही राम भक्ति का प्रभाव उनके ऊपर पर्याप्त मात्रा में था । 'साकेत' में गुप्तजी की राम के प्रति भक्ति-भावना तत्कालीन युग के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक प्रभावों से युक्त होकर महाकाव्य के रूप में प्रस्फुटित हुई । इसके अतिरिक्त गुप्त जी ने अपने जीवन दर्शन की भी अभिव्यक्ति 'साकेत' में की है । इस महाकाव्य में कवि ने नारीत्व की महानता और उच्चता को सर्वोपरि बतलाते हुए भी राम के महत्व को कहीं ठेस नहीं पहुंचाई है । इसका कारण है कवि का राम-भक्त होना । 'साकेत' नायिका प्रधान महाकाव्य है । इसमें तीन काव्य शैलियों वर्णनात्मक, प्रगीतात्मक और मुक्तक का प्रयोग हुआ है । वस्तु-विस्तार के संकोच के कारण इसे एकार्थ काव्य भी कहा गया है ।[२] बीच बीच में मनोभावों की व्यापकता हो गई है और चित्रण लम्बे हो

---

१. गुरुकुल , बंदा बैरागी, पृ० २४५ (२०१४ वि० साहित्य स०, चिर०, झांसी
२. काव्य-दर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० २५०

हो गए हैं। इस कारण प्रबन्ध-धारा अटूट न रह सकी।[१] गुप्त जी ने यहाँ भी 'साकेत' में महाकाव्य की रूढ़ियों का पालन नहीं किया है। परन्तु यह एक सफल महाकाव्य है। इसे बृहत् प्रबंध की संज्ञा दी गई है।[२]

महाकाव्य 'साकेत' में कवि ने वस्तु विन्यास सविस्तार नहीं किया है क्योंकि वह जीवन की विभिन्न अर्थ-भूमियों से प्रभावित होता रहा और अभिनव जीवन काव्य के सृजन को प्रश्रय देता रहा।[३] उन्होंने 'साकेत' में जो सबसे बड़ी नवीनता उपस्थित की है वह यह है कि उर्मिला को नायिका के रूप में प्रतिष्ठित करके भी राम के चरित्र को पूरा महत्व दे सके। उनके ऊपर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भास, भवभूति और तुलसीदास का बहुत अधिक प्रभाव था। प्राचीन कथा को नवीन रूप देकर उन्होंने 'साकेत' के महत्व को स्थायी कर दिया है।

यशोधरा —

'साकेत' की समाप्ति के दो वर्ष बाद यशोधरा की समाप्ति हुई। 'साकेत' में जिस प्रकार गुप्त जी ने उर्मिला के चरित्र को उभारा है और उसके त्याग का उसे पूरा महत्व दिया है उसी प्रकार 'यशोधरा' काव्य में राहुल की जननी यशोधरा के चरित्र द्वारा नारी की उच्चता व्यंजित की है, यथा--

' दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी ,
मूर्ति-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से ।'[४]

'यशोधरा' उर्मिला के चरित्र का ही स्वाभाविक विकास कहा जा सकता है। कवि ने स्वयं लिखा है -- भगवान बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना। और उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने

---

१ आधुनिक साहित्य बीसवीं शताब्दी, आचार्य वाजपेयी, पृ० ५३, संस्करण १९५६, लोकभारती

२ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शम्भुनाथ सिंह, पृ० २६७ द्वितीय संस्क०, हि०प्र०पुस्त०, वाराणसी।

३ साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० २५७, द्वादश संस्क०, सा०र०भ० आगरा

४ यशोधरा, पृ० १४५ (२०२१ वि०) साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।

कृपा पूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है ।"[1] गुप्तजी ने गोपा के बिना गौतम के महत्त्व को भी अस्वीकार कर दिया ।

" गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको ।"[2]

'साकेत' की उर्मिला में मातृत्व की जो कमी दिखाई देती है वह यशोधरा में पूरी हो जाती है । गुप्त जी ने पुत्रवती यशोधरा उर्मिला को वियोगिनी और वात्सल्य की मूर्ति के रूप में चित्रित किया है । 'साकेत' राम काव्य है और 'यशोधरा' बुद्ध-चरित से सम्बन्धित काव्य है, इस दृष्टि से दोनों ही स्वतंत्र काव्य हैं, परन्तु दोनों में चारित्रिक एकता और कल्पना का तारतम्य दिखाई पड़ता है । कवि ने अपनी वैष्णव भावना के तीव्र आलोक में बुद्ध को भी भगवान के रूप में देखा है --

" मैत्री-करुणा-पूर्ण आज वह शुद्ध-बुद्ध भगवान ।"[3]

गुप्त जी के 'यशोधरा' काव्य को चम्पू काव्य अथवा मिश्र काव्य कहा गया है और यह भी कहा गया है कि 'अबला-जीवन की कहानी गद्य, पद्य, संवाद आदि सब प्रकार के काव्य-गत विधानों द्वारा कही गयी है ।[4] यों शैली की दृष्टि से तो यह अवश्य ही चम्पू अथवा मिश्र काव्य कहा जा सकता है । परन्तु इसकी रचना खंडकाव्यात्मक है । { वस्तुत: इसका काव्य रूप तो खण्ड-काव्य है और इसकी शैली चम्पू की है । } इसका प्रारम्भ गौतम की विरक्ति से होता है , फिर यशोधरा के विप्रलंभ का वर्णन है और अन्त में भगवान बुद्ध के दर्शन यशोधरा को हो जाते हैं । यशोधरा का प्रेम भक्ति-भावना में परिणत हो जाता है ।

" लूंगी क्या तुमको रोकर ही ?
मेरे नाथ , रहे तुम नर से नारायण होकर ही ।"[5]

---

१. यशोधरा, शुल्क, पृ० ५ (२०२१ वि० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
२. वही, शुल्क ६ ,, ,, ,,
३. वही, पृ० १४३ ,, ,, ,,
४. आधुनिक साहित्य, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ५८
५. यशोधरा, पृ० १८८ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

<u>सिद्धराज</u> —

गुप्त जी ने सन् १९२९ के लगभग 'सिद्धराज' के तीन सर्गों की रचना की थी। फिर (यशोधरा) की रचना के पश्चात् सन् १९३४-३५ में 'सिद्धराज' को पूरा किया। इस काव्य को कवि ने गुजरात के राजा जयसिंह के जीवन-वृत्त के आधार पर रचा है। इस काव्य में जयसिंह का चरित्र आदर्श चरित्र नहीं है, पर उसे उच्च अवश्य कहा जा सकता है। पहले कवि ने उसके चारित्रिक पतन का वर्णन किया है — फिर धीरे-धीरे वह अपनी कुप्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है, और उसका चरित्र ऊंचा उठता है। जयसिंह के चरित्र में कवि ने पर्याप्त उतार चढ़ाव दिखा कर चरित्र परिवर्तन करवाया है। इस परिवर्तन को 'छायावाद-युग की यथार्थोन्मुख काव्य-चेतना का परिणाम' भी कहा गया है[१]।

कथावस्तु के तथ्यों और तत्वों का संग्रह कवि ने विभिन्न स्रोतों से किया है। 'पुस्तक में जो घटनाएं हैं, वे ऐतिहासिक हैं परन्तु उनका कुछ क्रम संदिग्ध है। पुस्तक की सामग्री के लिए लेखक ने महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा के वृहत् निबंध' सोलंकी राजा जयसिंह- सिद्धराज' से सहायता ली। इसके अतिरिक्त श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सिद्धराज सम्बन्धी अपने तीन उपन्यास भेजकर लेखक को सहायता दी। रानकदे के सम्बन्ध की विशेष जानकारी कवि को अपने दूसरे गुजराती बन्धु श्री एस०पी० शाह, आई०सी०एस० के अनुज श्री एच०बी० शाह एडवोकेट से प्राप्त हुई। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के अंग्रेजी ग्रन्थ के ('मध्ययुगीन भारत' हिन्दी अनुवाद से भी कवि ने लाभ उठाया है।[२]

<u>द्वापर</u> —

इस काव्य में एक काल के विविध पात्रों के मानसिक द्वन्द्व और प्रतिक्रिया को चित्रित किया गया है। इसमें कवि ने कृष्ण चरित की सोलह कलाओं अर्थात् पात्रों के द्वारा उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति की है। इसलिए

---

१. मैथिलीशरण गुप्त-व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ०२०६ (प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)

द्वापर को आत्माभिव्यंजक काव्य कहा जा सकता है। वैसे द्वापर के रचना-शैली का विवेचन करते हुए उसे प्रगीतात्मक आत्म संलाप काव्य रूप की संज्ञा दी गई है।[1] यह एक आवेशमयी काव्य-कृति है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि "जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही है।"[2] द्वापर की रचना से पहले ही कवि के दो पुत्र, सुमंत्र और सुदर्शन दिवंगत हो चुके थे। कवि का मन इस दुर्घटना से क्षुब्ध था। इसी समय कवि पैतृक ऋण से भी मुक्त हो गया था। बड़ी ही उथल-पुथल कवि के जीवन में मची हुई थी। इन्हीं कारणों से द्वापर जैसी आवेशपूर्ण रचना कवि कर सका। इस काव्य का नाम 'द्वापर' कृष्ण चरित का काव्य होने के कारण ही नहीं रखा गया, वरन कवि की अव्यवस्थित मानसिक दशा के कारण भी रखा गया है।[3]

'द्वापर' का आरम्भ 'सुदामा' को लेकर हुआ था। पुस्तक को तीन खण्डों में लिखने की योजना बनाई गई — 'गोपाल', 'द्वारकाधीश', और 'योगिराज'। 'सुदामा' प्रगीत 'द्वारकाधीश' का परिच्छेद है।[4]

सान्त्वना—

यह एक शोक गीत है। 'द्वापर' के रचना-काल में ही इसकी भी रचना हुई। यह एक वैयक्तिक शोक-गीत है। कवि ने अपने पुत्रों को एक के बाद एक करके खोया। पहले श्रीहर्ष की मृत्यु हुई और फिर सुमंत्र की। इसके पश्चात् एक मास के भीतर ही सुदर्शन भी दिवंगत हो गया। कवि का हृदय चीत्कार कर उठा। 'सान्त्वना' शोक-गीत इसी आहत वात्सल्य की करुण चीत्कार है। इसकी रचना संवत् १९९२ की जन्माष्टमी को पूरी हुई है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० २१०
(प्रथम संस्करण, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)

२. द्वापर, निवेदन, पृ० १ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

३. द्वापर, निवेदन, पृ० १ ,, ,, ,,

४. द्वापर, निवेदन, पृ० १ ,, ,, ,,

अनुवाद—

इस काल में भी गुप्त जी ने कुछ महत्वपूर्ण अनुवाद किये । उमरखैयाम की रुबाइयों को फिट्जरैल्ड कृत अँग्रेजी अनुवाद से हिन्दी में पद्यानुवाद किया । इसका प्रकाशन पहली जुलाई १९३१ को 'रुबाइयात उमरखैयाम' के नाम से हुआ । इस अनुवाद को करने की प्रेरणा देने वाले हैं श्री रायकृष्णदास । इनके अतिरिक्त डा० मोतीचन्द्र विद्यार्थी तथा श्री शिवनारायण ने भी बहुत आग्रह किया था । रुबाइयात अनूदित 'उमर खैयाम' में खैयाम की पचहत्तर रुबाइयात अनूदित की गई हैं ।

इस अनुवाद के अतिरिक्त श्रीप्रकाश जी के विशेष अनुरोध पर, श्रीप्रकाश जी के लिखे हुए नागरिक-शास्त्र विषयक निबन्धों और भाषणों का सार भी कवि ने पद्य-बद्ध किया है ।

४. चतुर्थोत्थान काल (१९३७—१९४७)—

इस काल में गुप्त जी के जीवन दर्शन का पूर्ण परिपाक हुआ है । इस समय तक आते-आते गुप्त जी मानव संस्कृति के कवि हो गये । अभी तक कवि ने अपनी काव्य साधना के द्वारा आदर्शवादी आख्यान लिखे थे और मानवतावादी चरित्रों की सृष्टि की थी । इस काव्य काल में आकर उसने दार्शनिक काव्य की सृष्टि की । एक दार्शनिक की भाँति कवि ने जीवन दर्शन, चरित्र-निर्माण और पात्रों के मानसिक विकास का चित्रण किया है । इससे कवि की काव्य-शक्ति के विकास का ही पता चलता है ।

इस काल का प्रारम्भ 'नहुष' की रचना से होता है और अन्त 'अजित' के प्रकाशन से । 'नहुष' और 'अजित' दोनों ही रचनाएं दार्शनिक गांभीर्य से ओत-प्रोत हैं । 'कुणाल-गीत' दार्शनिक गीति-काव्य है । इस काल में कवि ने खण्ड प्रबंधों और गीति काव्यों की ही रचना की है । खण्ड प्रबन्धों में 'नहुष', 'अर्जन और विसर्जन', 'काबा और कर्बला', तथा अजित आते हैं ।

गीति - काव्यों में प्रगल्भ गीत, और विरह-वेदना आती हैं। [illegible]
यह है कि [illegible] कवि [illegible] काव्य [illegible] उत्कर्ष की [illegible]
को पहुँच गया है। इस काल की रचनाएँ विशेष प्रधान हैं। काव्य की अभिव्यक्ति
अधिक सफल और प्रौढ़ है। गीति-पद्धति में भी पहले की अपेक्षा अधिक स्वच्छ-
न्दता, एकाग्रता, वैयक्तिकता और उन्मुक्तता है।

नहुष —

नहुष महाभारतीय आख्यान है। 'महाभारत' के आदि पर्व, उद्योग पर्व और वन पर्व में राजा नहुष की कथा का वृत्तान्त मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' में भी नहुष की कथा मिलती है। 'महाभारत' और रामायण के अतिरिक्त नहुष की कथा अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' में भी आती है। कवि ने इसका भी पारायण किया था। कवि इसका उद्धरण[८६] भी देता है —

भुक्तावापि राज्यं दिवि देवतानाम्
शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा
कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात। (११।१४)

नहुष का नाम तो वैदिक काल से ही सुना जाता है। परन्तु गुप्त जी को इस अत्यन्त पुरानी कथा ने नये ही रूप में आकर्षित किया। यह ग्रन्थ गुप्त जी ने अपने अभिन्न मित्र मुंशी अजमेरी जी के निधन के पश्चात् लिखा था। "तीन वर्ष से ऊपर हुए, मेरे वात्सल्यबन्धु मुन्शी अजमेरी जिन्हें मुन्शी जी के बदले कभी कभी हमलोग 'मनीषी जी' भी कहा करते थे, एक दिन अकस्मात हम लोगों को सदा के लिए छोड़कर चल दिये। ऐसा जान पड़ा, जैसे जीवन का रस ही सूख गया। मन विक्षिप्त सा रहने लगा। उसे किसी प्रकार स्थिर करने और कुछ सान्त्वना पाने की आशा से मैंने श्रीमद्वाल्मीकि रामायण और महाभारत का एक एक पारायण करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक स्थलों ने कुछ लिखने के लिए प्रेरित किया, परन्तु किसी कार्य का भार उठाने के लिए शरीर प्रस्तुत न था। तथापि उद्योग पर्व में वर्णित नहुष के आख्यान ने कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया। ‹ ‹ रामायण में भी यह

आख्यान मिला । प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी अपने 'बुद्धचरित' में इसकी चर्चा की है ।"[१]

पहले कवि ने 'इन्द्राणी' नाम देकर इस आख्यान की रचना की थी, फिर कुछ पंक्तियाँ लिख जाने के पश्चात् क्रम टूट गया और वही बीज बढ़कर नाम बदल कर 'नहुष' हो गया ।

'नहुष' काव्य में कवि ने नहुष के इन्द्रत्व प्राप्ति से लेकर स्वर्ग से पतित होने तक की कथा को लिया है । चारित्रिक पतन दिखाना कवि का उद्देश्य हो सकता है । स्वयं कवि ने लिखा है — 'व्यास देव के द्वारा वर्णित इस आख्यान में स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य बार बार ऊंचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएं बार-बार उसे नीचे ले जाती हैं । मनुष्य को अन्त पर विजय पानी ही होगी । इसके लिए उसे साहस-पूर्वक फिर-फिर उठ खड़ा होना पड़ेगा । तब तक , जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले ।[२] चरित्र-पतन का वर्णन गुप्त जी ने 'सिद्धराज' में भी किया था । परन्तु वहाँ कवि केवल चारित्रिक पतन ही दिखा कर रह गया था । 'नहुष' में कवि ने चारित्रिक पतन दिखाने के बाद उसके उन्नत होने का मार्ग भी दिखलाया है । चारित्रिक पतन जैसी समस्या का दार्शनिक समाधान इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है ।

कुणाल गीत —

इसका प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ था । इस काव्य की कथा ऐतिहासिक है परन्तु कवि ने उसे बड़ी कलात्मकता से उपस्थित किया है । कवि ने किसी सूरदास को गाते देखा तो उसे इस काव्य के सृजन की प्रेरणा मिली ।[३] 'यशोधरा' की रचना करते समय कवि ने बौद्ध साहित्य, बौद्ध दर्शन और इतिहास का

---

१. नहुष-निवेदन, पृ० ५ (चौदहवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. नहुष – निवेदन, पृ० ४ ,, ,, ,,
३. कुणाल गीत – निवेदन, पृ० ५ ,, ,,

भी पारायण किया था । इसी इतिहास में सम्राट अशोक और उसके पुत्र कुणाल की कथा का भी अध्ययन किया था ।

विश्व-वेदना —

विश्व-वेदना की रचना सन् १९४३ में समाप्त हुई और इसका प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ । वैसे इसकी रचना का प्रारम्भ कवि ने प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर किया था । परन्तु उस समय इसका एक अंश ही लिखा जा सका था । फिर लगभग बीस वर्षों बाद सहसा वह अधूरी रचना कागद-पत्रों में दिखाई दे गई और कौतूहल पूर्वक ही हाथ में ले ली गई । परन्तु पूरी हुई द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव की ही प्रेरणा से । यद्यपि यह रचना दो भिन्न समयों में लिखी गई , परन्तु लेखक ने उसे सामयिक ही कहा है ।[1]

इस काव्य में " वैतालिक " की गीति-पद्धति को ही अपनाया गया है । परन्तु इन दोनों काव्यों में पर्याप्त अन्तर है । वैतालिक जहाँ एक जागृति का गीत काव्य है, वहाँ " विश्व-वेदना " युद्ध-विरोधिनी भावनाओं से ओत-प्रोत है इसमें कवि को विश्व की चिंता है । वह विश्व के लिए मंगल कामना करते हुए कहता है —

" आज के योग्य , एक अविभाज्य ,
विश्व को मिले राम का राज्य ।"[2]

काबा और कर्बला —

" काबा और कर्बला " भी " विश्व-वेदना " की भाँति सामयिक प्रेरणा के आधार पर लिखा गया काव्य है । स्वयं कवि का कथन है — " अपने देश में आन्तरिक सुखशांति के लिए हमको हिलमिल कर ही रहना होगा । समान-दुःख ही हमारी पारस्परिक सहानुभूति का आधार नहीं होना चाहिये । यह तो एक विवशता का विषय है । हमें एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा , एक दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा । हमारी मैत्री

---

१. विश्व-वेदना, सूचना , कविलिखित (पाँचवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव.फाँसी)

भावना 'प्रेम एव परोधर्मः' पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है।"[१] 'काबा और कर्बला' इस्लाम विषयक काव्य मानवता की उच्च भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है।

" २२ अप्रैल सन् १९४१ को कामन-सभा में श्री एमरी ने भारत के राजनीतिक दलों को आपस में सुलह कर लेने का सुझाव दिया था। इस पर गांधीजी ने आपत्ति की थी और कहा था कि यह हमारे घर का पारिवारिक झगड़ा है, अंग्रेजों के हट जाने पर हम इसे स्वयं सुलझा लेंगे।"[२] इसी कारण को लेकर गुप्त जी ने 'काबा और कर्बला' काव्य की रचना की है। गुप्त जी ने मुसलमान और हिन्दू संस्कृति में समानता स्थापित करने की चेष्टा की है। इस संबंध में कवि ने मुहम्मद साहब के विचार भी दिये हैं —

" यह सारा संसार है उस प्रभु का परिवार,
सबसे रखना चाहिये प्रेम-पूर्ण व्यवहार।
यही ईश्वरोपासना, यही धर्म का मर्म,
एक दूसरे के लिए करें यहाँ हम कर्म।
मनुज मात्र के अर्थ जो करते हैं उद्योग,
सच्चे मन भगवान के हैं बस वे ही लोग।[३]

प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अमीर खुसरो के सूफी विचार तो यहाँ तक जाते हैं —

मैं प्रेम का पूजक, मुझे इसलाम से क्या काम है,
प्रति तंतु तन्मय है यहाँ, उपवीत किसका नाम है।[४]

'काबा और कर्बला' के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में काबा-विषयक आख्यान कविताएँ हैं। इनकी संख्या इकतीस है। दूसरे खंड में 'कर्बला' एक खण्डकाव्य के रूप में है। इस खंडकाव्य में मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसैन के बलिदान की कथा दी गयी है।" स्वर्गीय प्रेमचन्द ने इसका ऐतिहासिक प्रमाण पाया था। इसलिए लेखक इसकी चर्चा किये बिना न रह सका।[५] परन्तु कवि

---

१. काबा और कर्बला- आवेदन, पृ० ५ (चौथा संस्करण,साहि०स०चि०,झाँसी)
२. कांग्रेस का इतिहास- पट्टाभिसीतारामैया, खंड २, अध्याय १४,पृ०३८६
३. काबा और कर्बला, - आवेदन, पृ० ५

ने इमाम हुसैन का चित्रण अपने ही दृष्टिकोण से किया है — 'बहुत से शत्रुओं के संहार की अपेक्षा उनकी वीरता उनके बलिदान में ही लेखक की दृष्टि में, अपनी विशेषता रखती है। इसी प्रकार उनकी करुणा भी अधीर होने में नहीं, गम्भीर होने में ही अपना महत्व प्रकट करती है।'[1] गुप्तजी ने सहानुभूति और सम्मान के वश ही इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस किया है।

कवि ने सन् १९१२ में स्वर्गीय मुंशी अजमेरी जी के संसर्ग में मुहम्मद साहब के उपदेशों को दोहों में लिखा था। ये उपदेश सार्वजनिक हैं। इनमें साम्प्रदायिकता नहीं है।[2]

अर्जन और विसर्जन —

'काबा और कर्बला' की रचना के पश्चात् कवि ने 'अर्जन और विसर्जन' दो लघु-आख्यान निबंध काव्यों का सृजन किया। इनकी कथा के सूत्र कवि को अरब और सीरिया के इतिहास से प्राप्त हुए थे। 'अर्जन' में सीरिया के सातवीं शताब्दी की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है। 'विसर्जन' में उत्तरी अफ्रीका के आठवीं शताब्दी के इतिहास की घटनाओं का वर्णन है।

अजित —

'अजित' का रचनारंभ कवि ने 'कारा' नाम से सन् १९४१ में किया था। इस सम्बन्ध में कवि-कथन है — 'अपने कारा-वास की स्मृति के रूप में, 'कारा' नाम से, वहीं मैंने इस रचना का आरम्भ किया था। बहुत दिनों तक यह अधूरी पड़ी रही। इधर जब मैं इसे पूरा कर सका तब इसके प्रमुख पात्र के नाम पर ही इसका नाम-संस्कार कर देना उचित जान पड़ा।'[3] 'अजित' की समाप्ति सन् १९४७ में हुई और इसका प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ। 'अजित' में वर्णित

---

१. काबा और कर्बला, आवेदन, पृ० ४ चौथा संस्करण

२. हजरत मुहम्मद साहब के उपदेश, हस्तलिखित, कवि का संग्रहालय।

३. अजित, निवेदन, पृ० १ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन चिरगांव, झांसी)

अनेक घटनाएं सच्ची हैं। उनके देश, काल और पात्र ही विभिन्न हैं। उन्हीं विभिन्नताओं को मैंने अपने शब्दों में एकत्र कर दिया है।"[1] कवि ने इस काव्य में अपने जीवन की यथार्थ घटनाओं को और जेल जीवन के स्वरूप को चित्रित किया है। यह एक आदर्शवादी काव्य है। इसमें सत् और असत् प्रवृत्तियों का द्वन्द्व दिखलाया गया है। कवि ने कारागार में जिन मानसिक द्वन्द्वों को झेला उनका भी सजीव चित्रण इसमें किया गया है। इसमें जेल जीवन की भारतीय दंड व्यवस्था की भी आलोचना की गई है। साथ ही अभियुक्तों के प्रति एक सहानुभूति का दृष्टिकोण भी अपनाया है। कवि ने जमींदार और पुलिस का अत्याचार दिखाया है। इस काव्य का चरित्रनायक अजित मातृभूमि को पराधीनता की बेड़ियों से छुड़ाना चाहता है। वह स्वयं कहता है —

> आया फिर फिर याद मुझे दादा का कहना —
> " माँ बन्धन में पड़ी प्रतीक्षा में है मरती,
> अपना ही धन आज माँगती मुझसे धरती।
> जिससे बंधन-जाल कटे वह घोर घिनौना,
> उस लोहे के लिए तुच्छ क्या चाँदी-सोना ?
> तू विद्रोही भद्र युवक है, नहीं लुटेरा,
> क्रिया गौण, उद्देश्य मुख्य है निश्चय तेरा।"[2]

'अजित' का चरित्रनायक आतंकवादी हो उठा है। गुप्त जी ने ग्रामजीवन की पृष्ठभूमि में आतंक का सच्चा चित्रण किया है। यद्यपि यह भावना कवि के अन्तर्गत उस समय भी विद्यमान थी, जिस समय कि कवि ने भारत-भारती की रचना की थी। परन्तु उस समय ब्रिटिश राज्य के कारण वह खुलकर जो नहीं कह सका उसे 'अजित' में उसने कह दिया।[3] कवि ने 'अजित' काव्य में सरकार की आतंकवादी नीति का विरोध किया है। कवि गांधी जी के मानवतावाद

---

१. अजित--निवेदन, पृ० १ (चतुर्थ संस्करण साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. वही, परिच्छेद ८, पृ० ७१ ,, ,,
३. " मैं भी उस समय जो कुछ नहीं कह सका, उसे और भी उग्र रूप में 'अजित' नामक पुस्तक में निर्भय होकर मैंने कह डाला।" भारत भारती के विषय

और गांधीवाद से प्रभावित है।

> " विरोधियों से दृढ़ विरोध है सदा भी मेरा,
> घेरे हैं तो हमें डाल लोहे का घेरा।
> पर वस्तुतः लोभ-पाप तो उनके मन में,
> किन्तु भांजने चले शस्त्र हम केवल तन में।
> हमने किया प्रयास सदा तन के रोगों पर,
> क्यों अब नये प्रयोग न हों मन के योगों पर ?
> गांधी जी का यही यत्न, प्रभु करें सफल हो,
> क्या बाहर के विघ्न, हमारे भीतर बल हो।"[1]

कवि ने 'अजित' काव्य में हिंसक नीति की असफलता दिखाई है। उसका कहना है कि हृदय परिवर्तन के बिना कुछ न होगा।

पंचमोत्थान काल (१६४७ से १६५७) —

इस काल तक आ जाने पर हम देखते हैं कि गुप्त जी ने अपने काव्य में नई भावभूमि, नए विचार और नई दिशाओं की अपेक्षा अपनी सम्पूर्ण काव्य की दिशाओं को संहित किया है। इस समय कवि ने पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक तथा सामयिक सभी विषयों पर अपनी रचनाएं की हैं। इस समय आकर कवि ने अपने जीवन के दर्शन को, श्रेष्ठ कार्यों को, विचारों को तथा काव्य की प्रवृत्तियों को संहित किया। काव्य रूपों में, कवि ने इस काल में प्रबंध संकलन, खंड काव्य, निबंध काव्य, आख्यान काव्य, पद्यनाट्य, गीति-काव्य, स्फुट रचनाओं तथा अनुवादों की सृष्टि की।

जयभारत —

महाभारतीय कथाएं गुप्त जी को विशेष प्रिय थीं। उनकी सर्वप्रथम महाभारतीय रचना 'उत्तरा और अभिमन्यु' सरस्वती में सचित्र प्रकाशित हुई थी। इसमें अभिमन्यु के चरित्र से कवि अत्यधिक प्रभावित है। वह कहता है —

---

१. अजित परिच्छेद १३, पृ० १०८-१०६ (चौथा संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

अभिमन्यु का चरित अनुकरणीय प्राय: है सभी ।
जो हो सका तो युद्ध भी इसका सुनाऊँगा कभी ।"[१]

कवि को महाभारतीय प्रसंग इतने प्रिय थे कि कवि अर्धशताब्दी तक महाभारतीय प्रसंगों को लेकर काव्य रचना करता रहा । कवि के मन में महाभारत के सम्पूर्ण वृत्तान्त को छन्दोबद्ध करने की बात भी आई, परन्तु उसके पूरे होने में संदेह रहा इससे कवि ने उस कार्य को नहीं किया । स्वयं कवि का कथन है —
'अर्धशताब्दी होने आई, जब मैंने जयद्रथवध' का लिखना प्रारम्भ किया था । उसके पश्चात् भी बहुत दिनों तक 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने मैंने अनेक रचनाएं कीं । उन्हें लेकर कौरव पाण्डवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परन्तु उस प्रयास के पूरे होने में संदेह रहने से वैसा उत्साह न होता था ।"[२]

'जयभारत' का रचना कार्य कारावास में ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु फिर 'अजित' और 'कुणाल गीत' की रचना में व्यस्त हो जाने के कारण कवि 'जयभारत' के कार्य को आगे न बढ़ा पाया । कवि ने अपनी सभी महाभारतीय काव्य-कृतियों का उपयोग इसमें किया और जिन महाभारतीय प्रसंगों पर कवि अभी तक लिख नहीं पाया था उन पर रचनाएं कीं । 'जयभारत' में कवि ने 'महाभारत' के सैंतालिस महत्वपूर्ण प्रसंगों पर काव्य रचना की है । इसे बृहद्-प्रबन्ध का रूप प्राप्त हुआ है । जय-भारत महान काव्य है । इसमें क्रमबद्धता है । प्रत्येक प्रसंग और घटना अपने में पूर्ण है । फिर भी यह महाकाव्य नहीं है, वरन् एक महान संकलन - काव्य है । 'कथावस्तु के विन्यास की स्वच्छन्दता उसे संकलन-काव्य की सीमा ही प्रदान करती है, महाकाव्य का गौरव नहीं देती ।"[३]

---

१. सरस्वती, जनवरी, सन् १६०७, पृ० ४४

२. जय-भारत, निवेदन, पृ० ३ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

३. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० २३१, प्रथम संस्करण हिन्दी परिषद्, सागर विश्वविद्यालय ।

कवि ने महाभारतीय कथानकों को अपने काव्य का विषय बनाया है, परन्तु उन्होंने उसमें पर्याप्त मौलिकता रखी है। उदाहरण के लिए उन्होंने धर्म के तात्त्विक रूप को ही ग्रहण किया है। इसीलिए कवि ने इस ग्रन्थ का नाम 'महाभारत' न देकर 'जय-भारत' दिया है। 'महाभारत' धर्म-ग्रन्थ का आभास देता है।[1] गुप्त जी ने महाभारत के धर्म तत्त्व को जीवन दर्शन के रूप में लिया है और उसे मानवतावाद के रूप में व्यक्त किया है।

'जय-भारत' में जितने भी प्रसंग लिए गये हैं उनमें से कई प्रसंगों पर कवि इससे पूर्व भी काव्य रचना कर चुका था। इन प्रसंगों पर कवि ने पुनर्विचार और कतिपय परिवर्तन भी किये हैं। कुछ प्रसंगों पर नितान्त नवीनकाव्य रचनायें लिखी हैं। कुछ पूर्व रचित आख्यानों को संक्षिप्त करके इसमें रखा है। जय-भारत में संवादमयी भाषा बहुत ही प्रभावोत्पादक है। भावनाओं की अभिव्यक्ति भी पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। यह कवि के उत्तरोत्तर विकास का ही लक्षण है। कवि 'नहुष', 'बकसंहार', 'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव' गमन, 'गीतामृत' (अर्जुन का मोह), तथा 'शांति-संदेश' की रचना पहले भी कर चुका था परन्तु इन सब रचनाओं को संक्षिप्त करके कवि ने जय-भारत' में उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाओं का कवि ने पुनर्लेखन किया है, जिससे उनमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया है — वे रचनायें ये हैं — भीष्म-प्रतीज्ञा', 'द्रौपदी दुकूल', 'वरदान', 'अर्जुन और सुभद्रा', 'अर्जुन और उर्वशी' 'द्रौपदी-हरण', 'केशों की कथा', 'रण निमंत्रण', 'कुंती और कर्ण', 'विदुर-वाणी', 'उत्तर और बृहन्नला', 'कुरुक्षेत्र' के संग्राम का परिणाम तथा 'धृतराष्ट्र और संजय'। कवि ने 'जयद्रथ-वध' से कुछ नहीं लिया। 'जयभारत' में जो 'युद्ध' प्रकरण है उसकी रचना भी भिन्न प्रकार की है। स्वयं कवि ने कहा है — अपनी जिन पूर्व कृतियों के सहारे यह काम सुविधा-

---

१. चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा।
तदाप्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।।
—महाभारत, आदिपर्व, १।२७३, गीताप्रेस गोरखपुर

पूर्वक धर लैने की मुझे आशा थी, वह भी पूरी न हुई। 'जयद्रथ-वध' से तो मैं कुछ भी न ले सका। युद्ध का प्रकरण ही मैंने और प्रकार से लिखा। अन्य रचनाओं में भी मुझे बहुत हेर-फेर करने पड़े। कुछ तो नये सिरे से पूरी की पूरी फिर लिखनी पड़ीं। तथापि इसके अन्त में मुझे संतोष ही हुआ और इसे मैंने अपनी लेखनी का क्रम विकास ही समझा।"[१] इक्तीस अन्य प्रकरण बिल्कुल नए हैं -- यदु और पुरु, कौरव-पाण्डव, बंधु-विरोध, द्रोणाचार्य एकलव्य, परीक्षा, याज्ञसैनी, लाक्षागृह, हिडिम्बा, लक्ष्य-वेध, इन्द्रप्रस्थ, वनवास, वन-गमन, अस्त्रलाभ, तीर्थयात्रा, द्रौपदी और सत्यभामा, दुर्योधन का दु:ख, वन-मृगी, अतिथि और आतिथेय, यक्ष, अज्ञातवास, उद्योग, अनाहूत, मद्रराज, युयुत्सु, समर-सज्जा, युद्ध, हत्या, विलाप, अंत और स्वर्गारोहण। 'शान्ति-सन्देश' की रचना 'सैरन्ध्री' के आस पास ही हुई थी। यह अलग से प्रकाशित नहीं हुई है। योजन-गंधा, चूत, जयद्रथ, बृहन्नला, विदुर वार्ता, रण निमंत्रण, कैशों की कथा, कुंती और कर्ण, अर्जुन का मोह, शांति उपदेश और कुरुक्षेत्र -- इन प्रसंगों पर कवि ने नये आख्यान लिखे हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'जय भारत' एक नई रचना ही है। यह 'महाभारत' की विशाल कथा के आधार पर लिखा हुआ साढ़े चार सौ पृष्ठ का संकलित प्रबंध काव्य है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे प्रबन्ध काव्य की संज्ञा दी है।[२] प्राचीन कथानक को लेकर भी कवि अपने युग की उपेक्षा नहीं कर पाया है। वह 'आर्य' की विशेषता भी नये ढंग से बताता है। कि

कुल से नहीं, शील से ही तो होता है कोई जन आर्य।[३]

'महाभारत' की प्राचीन कथा को गुप्त जी ने एक नया ही रूप दिया। डा० नगे

---

१. जय-भारत, निवेदन, पृ० ३ (साहित्य सदन चिरगाँव, झाँसी)

२. मैथिलीशरण गुप्त -- कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, डा० उमाका
पृ० ७४ (द्वितीय संस्करण, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली)

३. जय भारत, पृ० २३ (द्वितीय संस्करण, सा०सदन, चिरगाँव, झाँसी)

का कथन है -- " काव्य का युग-धर्म है मानवतावाद और गुप्त जी ने महाभारत के पात्रों का पुनर्निर्माण इसी के आधार पर किया है।"[१]

प्रदक्षिणा--

'साकेत' के प्रकाशन के समय ही कवि ने 'प्रदक्षिणा' की रचना भी की, पर प्रकाशन का कार्य उस समय रह गया। स्वयं कवि का कथन है -- 'साकेत प्रकाशित होने के पश्चात् पीछे ही प्रयास से अपने प्रभु की प्रदक्षिणा का वह अवसर मुझे मिल गया था। परन्तु इसके प्रकटीकरण में बरसों का विलम्ब हुआ।'[२] अतः यह रचना इस काल की नहीं है। इसका प्रकाशन 'जयभारत' के लगभग ही हुआ। यह वर्णनात्मक काव्य है। इसे स्वतंत्र काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें 'साकेत' के एकादश सर्ग के चौहत्तर छन्द तथा अष्टम सर्ग का एक छन्द लिया गया है। इसमें 'पंचवटी' से भी तीन छंदों को लिया गया है 'प्रदक्षिणा' का मूल उद्देश्य रामभक्ति है। इसमें अत्यन्त संक्षेप में रामकथा का वर्णन हुआ है। इसकी कथा में प्रवाह है। भाषा में समास-गुण की विशेषता है।' प्रदक्षिणा की पदावली अत्यन्त परिष्कृत है, भाषा कांतिमयी है और इसके संवादों में चुस्ती है।' प्रदक्षिणा' कवि की प्रौढ़ता की परिचायक है। कवि ने लोकहित के लिए एक नवीन रामराज्य की कल्पना की है।

" निर्मम होकर भी निज युग की मर्यादा प्रभु ने रक्खी,
जीवन का मधु दिया जनों को, कटुता आप यहाँ चक्खी।
रक्षक मात्र रहे वे राजा, राज्य प्रजा ने ही भोगा,
हुआ यहाँ तब जो जन-रंजन, वह कब और कहाँ होगा ?[3]

---

१. जयभारत समीक्षा, विचार और विश्लेषण, पृ० १२७
२. प्रदक्षिणा, शीर्षक रहित आमुख (तीसवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
३. प्रदक्षिणा, पृ० ७६, अंतिमपद ,, ,,

कवि-श्री-

कवि श्री में गुप्त जी की ग्यारह कविताएं संगृहीत हैं। इसमें कवि ने पौराणिक स्त्री पात्रों को ही लिया है। वे ग्यारह कविताएं ग्यारह पौराणिक स्त्री पात्रों को ही लेकर लिखी गई हैं। ये कविताएं इस प्रकार हैं -- १. आश्रम कन्या, २. कैकेयी, ३. सीतामाता, ४. माण्डवी, ५. उर्मिला, ६. यशोदा, ७. राधा, ८. कुब्जा, ९. हिडिम्बा, १०. उत्तरा, ११. यशोधरा,। प्रथम कविता 'आश्रम कन्या' में शकुन्तला काव्य के जन्म और बाल्यकाल को संक्षेप में करके रखा गया है। दूसरी कविता' कैकेयी' को 'साकेत' में उद्धृत किया गया है। तीसरी रचना 'सीतामाता' को भी 'साकेत' से ही उद्धृत किया गया है।' साकेत' से ही चौथी रचना 'माण्डवी' उद्धृत हुई है। पांचवीं 'उर्मिला' रचना 'साकेत' के नवम सर्ग के ग्यारह प्रगीतों के रूप में उद्धृत की गई है। छठीं, सातवीं और आठवीं रचनाएं 'यशोदा' ,'राधा' और'कुब्जा' 'द्वापर' से उद्धृत हैं। नवीं रचना' हिडिम्बा' 'जयभारत' की 'हिडिम्बा' कविता का संक्षेप है। दसवीं कविता 'उत्तरा' ,'जयद्रथ वध' काव्य से आंशिक उद्धरण हैं। ग्यारहवीं कविता 'यशोधरा' में कवि के 'यशोधरा' काव्य से पन्द्रह प्रगीत और चार मुक्तक चुन कर रखे गये हैं।

इस विवरण को देखते हुए यह स्पष्ट है कि 'कवि-श्री' कोई मौलिक या नवीन रचना नहीं है। कवि ने स्त्री पात्रों को ही चुन कर 'कवि-श्री' के माध्यम से अपनी-नारी विषयक भावना का अच्छा परिचय दिया है।

हिडिम्बा -

इस खण्डकाव्य की कथा महाभारतीय है।'महाभारत' के आदि पर्व के पैंतालीसवें और छियालीसवें अध्याय की कथा के आधार पर इस काव्य की रचना हुई है।' महाभारत' की मूल कथा के इस अंश में भीम का चरित्र प्रधान है, परन्तु गुप्त जी ने इसमें हिडिम्बा के चरित्र को प्रधानता दी है। कवि की दृष्टि सदैव से संस्कार-परिष्कार की ओर रही है।'हिडिम्बा' के चरित्र में भी गुप्त जी ने पर्याप्त कोमलता ला दी है। क्योंकि यद्यपि वह राक्षसी है, पर है तो नारी। गुप्त जी ने उसे वैष्णवी रूप दिया है, कुलवधू का रूप दिया

है और एक नारी के रूप में चित्रित किया है —

" होकर मैं राक्षसी भी अंत में तो नारी हूँ ,
जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ ।"[१]

पाण्डवों का नाश करने के लिए जब हिडिम्ब जाता है तब 'महाभारत' की हिडिम्बा उसे गालियाँ देती है —

'आर्यपुत्रैष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः ।"[२]

परन्तु गुप्त जी ने एक नारी के मुख से ऐसे शब्दों के निकलवाने के स्थान पर स्वयं कह दिया —

आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा ,
भीरुओं की कल्पना का सच्च भयभूत सा ।[३]

हिडिम्बा वैर के स्थान पर प्रेम का बीजारोपण करती है । वह भीम का प्रेम पाना चाहती है और उसमें वह सफलता भी प्राप्त करती है । गुप्त जी ने हिडिम्बा के माध्यम से राक्षसों द्वारा आर्यत्व की कामना करवाई है । हिडिम्बा कहती है —

" यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृत कार्यता ।"[४]

कवि ने मूल कथा की रक्षा करते हुए यथा संभव अप्राकृतिक और घृणित तत्त्वों का बहिष्कार किया है । काव्य की रचना यद्यपि जयभारत के 'हिडिम्बा' काव्य के आधार पर हुई थी, पर बाद में वह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हो गई और एक सफल खंडकाव्य का रूप इसने धारण कर लिया ।

<u>युद्ध —</u>

' युद्ध' काव्य 'जय-भारत' का ही उत्तरकालीन अंश है, परन्तु इसका स्वतंत्र पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ है । इसमें महाभारत के युद्ध का आख्यान

---

१. हिडिम्बा, पृ० ४३ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी)
२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १५३, श्लो०८,(गीताप्रेस,गोरखपुर)
३. हिडिम्बा, पृ० १८ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी)

वर्णित है । युद्ध के सम्बन्ध में कवि ने अपने विचार भी इसमें व्यक्त किये हैं, काव्य के प्रारम्भ में ही कवि कहता है – युद्ध कहीं पाल पाता अपने नियम ही ।' महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ से दुर्योधन के गदा-युद्ध में पराजित होने तक की कथा को इसमें लिया गया है । यह कथा महाभारत के युद्ध विषयक भीष्म, द्रोण, कर्ण, और शल्य पर्वों से ली गई है । 'युद्ध' की कथा अपने में पूरी प्रतीत होती है ।

विष्णु-प्रिया –

'विष्णु-प्रिया' खण्ड काव्य की रचना कवि ने रामदयाल डालमिया के आग्रह से की थी । कवि से दिल्ली में डालमिया जी ने आग्रह किया – 'आपने उर्मिला पर लिखा है, 'यशोधरा' भी लिखी है । मेरा प्रस्ताव है, श्री चैतन्य महाप्रभु की गृहिणी विष्णुप्रिया पर भी आप अवश्य कुछ लिखिए[1]।" कवि ने जब 'विष्णुप्रिया' सम्बन्धी सामग्री पढ़ी तो उन्हें बहुत ही आनन्द हुआ, वे उससे बहुत प्रभावित हुए । कवि स्वयं कहता है –' प्राप्त सामग्री तो आज तक भी मैं बहुत नहीं पढ़ पाया हूँ । परन्तु कथा मैंने संक्षेप में जान ली । वास्तव में महाप्रभु के विषय में मुझे कोई खोज नहीं करनी थी । इतना ही जानना था । विष्णु-प्रिया का व्यक्तित्व तो मानो स्वयं उन्होंने मेरे अन्तस् में आकर स्पष्ट कर दिया था । बाहर जो था सो था ही । उस व्यक्तित्व का मैं कैसा चित्रण कर सका, यह दूसरी बात है । परन्तु मैं उससे विशेष रूप से प्रभावित हुआ, इसमें संदेह नहीं ।'[2] ' अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी' कह कर उपेक्षित नारियों के प्रति विशेष सहिष्णुता व्यक्त करने वाले कवि को विष्णु प्रिया का चरित्र भी अपनी इसी शृंखला में जोड़ने के लिए प्रयुक्त लगा । विष्णुप्रिया को लेकर कवि ने मध्ययुग की उस नारी का संवेदनात्मक गीत गाया है जो पति द्वारा परित्यक्ता है, जिसने जीवन की विभीषिकाओं को

---

१. विष्णु-प्रिया- निवेदन, पृ० ३ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

२. विष्णु-प्रिया, निवेदन, पृ० ५१ ,, ,,

करती रहा है । परन्तु समाज ने त्याग की मूर्ति 'विष्णुप्रिया' को तो विस्मृत कर दिया । और उसके पति महाप्रभु चैतन्य का स्मरण रखा । कवि ने इस उपेक्षित नारी के चरित्र की महानता को पुनर्स्थापित किया , उसे उच्चता और गौरव से आच्छादित किया ।

इस काव्य में कवि का लक्ष्य केवल उपेक्षिता 'विष्णुप्रिया' के चरित्र को उभारना है । चैतन्यदेव के लील-निरूपण की ओर कवि ने ध्यान तक नहीं दिया है । क्योंकि वह उसका लक्ष्य नहीं है । चैतन्य देव का केवल उल्लेख मात्र कवि करता है –

' आया फिर एक दिन ऐसा समाचार भी –
दिव्योन्माद बढ़ता गया अन्त में निमाई का ।
प्रभु के हित वे अब हो गये अधीर से ।
घूमते थे 'कृष्ण-कृष्ण' कातर पुकारते ।

< <

मन्दिर के भीतर कभी वे नहीं जाते थे,
प्रतिदिन बाहर से दर्शन थे करते ।
उस दिन भीतर गये तो नहीं लौटे वे ,
कहते हैं हो गये विलीन प्रभु-मूर्ति में ।' [1]

' विष्णु प्रिया' काव्य की कथा का आकलन कवि ने विशेषकर शिशिरकुमार घोष की बंगला ग्रन्थावली ' श्री अमिय निमाई चरित' तथा श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा लिखित ' श्री चैतन्य चरितावली' से किया है । हिन्दी और बंगला के अन्य ग्रन्थों को देखकर है ।[2]

' विष्णु प्रिया' काव्य 'साकेत' और ' यशोधरा ' की भावधारा का विकसित रूप कहा जा सकता है ।' यशोधरा' की ही भाँति 'विष्णुप्रिया'

१_ विष्णुप्रिया- परिशिष्ट, पृ० १३३ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन, चिर०, झाँसी)

२_ विष्णु प्रिया- निवेदन, पृ० ४ ,, ,, ,,

का वियोग भी निरवधि है। परन्तु यशोधरा के पास तो उसके वियोग के क्षणों का सहारा उसका पुत्र राहुल है जबकि 'विष्णुप्रिया' निःसन्तान है। इसके अतिरिक्त विष्णुप्रिया जीवन के भार को, दायित्व को भी वहन करती है। वह अपनी आजीविका और सास की सेवा में भी रत रहती है। विष्णु-प्रिया में उर्मिला और यशोधरा की अपेक्षा सामाजिक जीवन का अधिक प्रभाव है। वह राजकुल की वधू न होकर एक साधारण जीवन में जीती है। सामा-जिक जीवन कठिनाइयों को झेलती है। 'विष्णुप्रिया' जैसे काव्य की रचना को प्रारम्भ करते ही कवि पुलक का अनुभव भी करता है। कवि का कथन है— 'जो हो, गत वसंत-पंचमी के दिन कौतूहल पूर्वक ही मैंने स्लेट उठा ली और 'विष्णुप्रिया का मंगलाचरण कर दिया। कह नहीं सकता, उस दिन मुझे कैसा पुलक हुआ। अपने चिर बन्धु राय कृष्णदास को मैंने लिखा, इधर बहुत दिनों से मुझे ऐसा आनन्द नहीं मिला।'[१]

'विष्णु प्रिया' खण्ड काव्य की समाप्ति के बाद इसके दो प्रसंग 'सरस्वती'[२] और 'आजकल'[३] मासिक पत्रिकाओं में मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुए[३]।

राजा-प्रजा –

प्रस्तुत काव्य में कवि ने राजा और प्रजा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय प्रजातंत्र में 'राजा' का अस्तित्व समाप्त हो गया है। इस काव्य के दो भाग हैं। राजा शीर्षक प्रथम भाग में राजा ने प्रजा को सम्बोधित करके अपने विचार व्यक्त करता है। इस भाग में, लोकतंत्र की स्थापना हो जाने के कारण राजा की मानसिक प्रतिक्रिया का सुंदर चित्रण हुआ है। वह प्रजातंत्र की आलोचना करता हुआ, प्रजातंत्र के दोषों से प्रजा और प्रजातंत्र के समर्थकों को चेतावनी देता है। यह वर्णन संवाद शैली में हुआ है। राजा

---

१. विष्णु प्रिया, निवेदन, पृ० ६ (चतुर्थ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

२. सरस्वती, जुलाई, सन् १९५७

निर्वाचन प्रणाली के दोषों को बतलाता है । नवीन वर्गों के उदय, घूसखोरी, अनुशासनहीनता, पदलोलुपता आदि पतनों के बढ़ जाने की संभावना बतलाता है । कवि जनता को सावधान करते हुए कहता है —

" लो कटा युगों का पाप, बजाओ बाजा,
है तो अब कोई राज, यहाँ मैं राजा ।
पर सावधान है सब समान बहुभागी,
अब तक मैं ही था पाप-दोष का भागी ।"[1]

× ×

पद लोलुपता की वृद्धि के सम्बन्ध में कवि आशंका प्रकट करता है —

" लक्षण कुछ ऐसे मुझे दीख पड़ते हैं,
पद गिने-चुने, अनगिनत लोग लड़ते हैं ।
जग अपनी आशा फिर न कहीं सो जावे,
प्रभु न करे, कोई बुरी बुह काल हो जावे ।"

राजा विश्व के प्रजातन्त्र राज्यों के दोष और भय का भी वर्णन करता है । चारित्रिक पतन की ओर भी वह इंगित करता है ।

इसी प्रकार राजा के प्रत्युत्तर में प्रजा द्वारा मार्मिक उत्तरों की सृष्टि की गई है । प्रजा लोकतंत्र पर किये गये आक्षेपों का खण्डन करती है । वह चाहती है कि राजा भी प्रजा में ही सम्मिलित हो जाय । प्रजा राजा की समाप्ति चाहती है । वह अपने अधिकारों की रक्षा की बात करती है । राजा के अत्याचारों का स्मरण करती है —

" जो सुन्दर था, रहा सभी का सभी तुम्हारा,
कुत्सित था सो मिला हमें सारा का सारा ।
बहू-बेटियाँ तक न हमारी रहीं हमारी,
जीवन में थी निपट निराशा की अँधियारी ।"[3]

---

१. राजा-प्रजा, पृ० ६ (प्रथम संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
२. राजा-प्रजा, पृ० ६ ,, ,,
३. राजा-प्रजा, पृ० २७ ,, ,,

प्रजा प्रजातंत्र की उन त्रुटियों से सम्मत है जिनको और राजा ने इंगित किया है, पर वह उन दोषों को अपना ही दोष मानती है —

"हो सकती हैं प्रजातंत्र में भी कुछ त्रुटियाँ,
प्रासादों से हीन न होंगी उसमें कुटियाँ।
एक श्रमिक जो आज भूमि ही खन सकता है,
कल सुयोग्य वो अन्न भूमिवही राष्ट्रपति बन सकता है।
प्रजातंत्र के दोष वस्तुत: स्वयं हमारे,
होते हम क्यों पतित न परवशता के मारे।"[१]

प्रजा के माध्यम से कवि ने चरित्र-दोष, प्रजा का राजनीतिक अज्ञान और उसका समाधान, अहिंसा की शक्ति, वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न, सर्वोदय की इच्छा, नारी की उन्नति, पंचवर्षीय योजनाएं, स्वराज्य को सफल करने के उपाय आदि विषयों का वर्णन किया है।

इस प्रकार कवि ने राजतंत्र और प्रजातंत्र दोनों पक्षों के गुण-दोषों का वर्णन किया है। इस काव्य के प्रथम खण्ड 'राजा' को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि अपने प्राचीन संस्कारों के कारण 'राजा' और राजतंत्र में ही विश्वास करता है। परन्तु इस काव्य के उत्तरार्ध 'प्रजा' शीर्षक खण्ड को पढ़ने से पता चलता है कि कवि युग धर्म में विश्वास रखता है और प्रजातंत्र का भी समर्थक है। 'राजा' और प्रजा का राजतंत्र और प्रजातंत्र पर उत्तर-प्रत्युत्तर दे देने के बाद, कवि लोकहित पर अपना निर्णय देते हुए कहता है —

"रहे रक्त या अश्रुपात के हम अभ्यासी,
पर अब अपनी भूमि पसीने ही की प्यासी।"[२]

---

१. राजा-प्रजा, पृ० २७ (प्रथम संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. राजा-प्रजा, पृ० ४२ ,, ,, ,,

<u>अंजलि और अर्घ्य –</u>

प्रस्तुत गीतिकाव्य महात्मा गांधी के निधन पर कवि ने लिखा था । रेडियो द्वारा गांधीजी के निधन का दुःखद समाचार पाकर कवि के कंठ से केवल यही उक्ति निकली –

" हरे राम कैसे हम झेलें,
    अपनी लज्जा, उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से
    अपना राष्ट्रपिता परलोक ।"[१]

उसके बाद कवि इस सम्बन्ध में और न लिख पाया । फिर डेढ़-दो वर्ष के बाद यह रचना लिखी जा सकी । इस विषय में स्वयं कवि का कथन है –
" काल गतिशील है । परन्तु मेरी वाणी इस सम्बन्ध में जहाँ की तहाँ थी । उसे कुछ कहने का साहस ही न होता था । इष्ट मित्रों ने प्रेरित भी किया, परन्तु उस ओर जाते ही वह स्तंभित-सी हो उठती थी । दिन पर दिन बीतते गये, मैं कुछ भी न कर सका । बीच में एक आध बार चेष्टा भी की, परन्तु वह दो चार पंक्तियों से आगे न चल सकी ।

तथापि श्रद्धांजलि न देने में धर्म-हानि थी । उसी से करने का यह प्रयत्न है । इतना भी करना संभव न होता, यदि वर्तमान व्याधियाँ इसे न कर जा सकने की ग्लानिमयी व्याधि उत्पन्न न कर देतीं ।"[२]

कवि ने लगभग दो वर्षों में इस शोक-गीति की रचना की और तब इसका प्रकाशन हुआ । गांधी जी का निधन सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए शोक का कारण था । गुप्त जी ने गांधी जी को निकट से देखा था, और उनके विचार को आत्मसात् भी किया था । अत: गुप्त जी का संवेदनशील मन इस दुर्घटना से चीत्कार कर उठा । गुप्त जी ने गांधी जी के व्यक्तित्व में अनेक गुणों को

---

१. अंजलि और अर्घ्य – निवेदन, पृ० ३ (पाँचवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

२. अंजलि और अर्घ्य – निवेदन, पृ० ४ ,, ,,

देखा और समझा था । कवि ने गांधी जी को एक आदर्श मानव की भांति समझा था । वे लोक नायक थे । कवि उनकी धर्मनिष्ठा, त्यागशीलता, देश के प्रति त्याग, समाज और विश्व के लिए मंगल कामना को स्मरण करता है और उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है । स्वराज्य दिलवाने वाले राष्ट्रपिता से कवि पुन: लौट आने की कामना करता है ।

" लौट लौट, यह लुटा था रत्न
तेरे अर्जन का निधि तो ,
तूने हमें स्वराज्य दिया है ,
बता भोगने की विधि तो ।"[1]

'अंजलि और अर्घ्य' व्यक्तिगत शोकगीत नहीं है । इसमें गांधी जी के प्रति, उनके आदर्शों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है । कवि कहता है —

" भौतिक सुख समृद्धि के भीतर
सबकुछ भर पावे जड़वाद ,
पर तेरा चेतन अपने से
करता कैसे आप प्रमाद ?
पुरुष आज निज पशु-बल से है
पल में प्रलय मचा सकता ,
पर तेरा पथ छोड़ उसे भी,
कोई नहीं बचा सकता ।"

कवि ने अपने इस काव्य को गांधी जी के लिए 'तर्पण' की संज्ञा दी है । कवि कहता है —

" बड़े लोग ही कर सकते हैं,
कोई बड़ा समर्पण तो,
छोटा भी असाधु बड़ों का
कर सकता है तर्पण तो ।"[2]

---

१ अंजलि और अर्घ्य, पृ० १६ (पांचवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२ अंजलि और अर्घ्य, पृ० ४१ ,, ,,
३ अंजलि और अर्घ्य , पृ० ५ ,, ,,

भूमि-भाग —

प्रस्तुत संग्रह में भूदान से सम्बन्धित इक्कीस प्रगीत हैं। इन गीतों में मुख्यतया भूमि-हीनों की समस्या को उठाया गया है और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न भी किया गया है। कवि भूदान के महत्त्व को समझाता है। वह कहता है —

" कैसे भूमि समस्या सुलझे,
नए जाल में देश न उलझे ,
इसके समाधान करने में,
रचित रस निज उपदेश[1]

कवि के इस विश्वास के पीछे उसकी करुणा की भावना और मानवतावादी दृष्टिकोण है। कवि भूमिदान की अनिवार्यता को महत्त्व देता है। इन इक्कीस प्रगीतों में भूमि की ही समस्या को लिया गया है। परन्तु प्रत्येक प्रगीत की अपनी विशेषता है। कुछ प्रगीतों में भूमिहीनों की करुण दशा का चित्रण है। इसी प्रकार कुछ प्रगीतों में कवि ने पृथ्वी पर सबके समान अधिकार को दिखाया है। किन्हीं प्रगीतों में पृथ्वी की वंदना की गई है। कुछ प्रगीतों में व्यंग्यात्मकता दिखलाई पड़ती है। 'भूमिहीन' प्रगीत में कवि कहता है कि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को पृथ्वी पर जन्म-सिद्ध अधिकार दिया है, जैसे आकाश जल, अग्नि और समीर पर —

" प्रभु ने जिस दिन दिया शरीर ,
दिये उसी दिन हमें दयाकर भू, नभ, पावक, नीर, समीर।"[2]

इस संग्रह के प्रगीत गीति-काव्य के अच्छे उदाहरण हैं। ये प्रगीत व्यक्तिगत न होकर सामयिक हैं।

---

१. भूमि-भाग, उत्तर प्रदेश के प्रति, पृ० ३३ (प्रथम संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

२. भूमिभाग, भूमिहीन, पृ० ६ " "

<u>पृथ्वीपुत्र</u> –

दिवोदास, जयिनी और पृथ्वीपुत्र इन तीनों काव्यों का संग्रह 'पृथ्वीपुत्र' संवत् २००७ में प्रकाशित हुआ। 'दिवोदास' 'प्रतीक' के पहले अंक में छपा था। 'जयिनी' उसके भी कई वर्ष पूर्व 'हुंकार' में छपी थी। 'पृथ्वीपुत्र' इसी वर्ष 'नया समाज' में प्रकाशित हुआ।'[1] इन तीनों काव्यों को 'संवाद' की संज्ञा दी गई है। 'प्रस्तुत पुस्तक में तीन संवादों का संग्रह है, जो क्रम से पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक हैं।'[2] तीनों संवादों का कथानक अत्यन्त रोचक है। ये तीनों ही रचनाएं अत्यन्त प्रौढ़ हैं। कवि की काव्यानुभूति और काव्यकला इस समय तक चरम सीमा पर पहुंच चुकी है। कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई है। तीनों ही संवादों की अभिव्यंजना अत्यन्त सशक्त है।

'पृथ्वीपुत्र' में 'मातृभूमि' और 'पृथ्वीपुत्र' के संवाद हैं। मातृभूमि मानवता की प्रतीक है और पृथ्वीपुत्र यांत्रिक सभ्यता का प्रतीक है। वह अस्त्र-शस्त्रों को सौंपता है और भयंकर युद्ध से सारा युद्ध को ही समाप्त करना चाहता है। 'जयिनी' संवाद मार्क्स और जैनी का वार्तालाप है। इनके वार्तालाप में आदर्श दांपत्य-भाव का वर्णन हुआ है। मार्क्स अपने सिद्धान्तों को पूरा करने के लिए जैनी को त्याग देना चाहता है परन्तु जैनी उसका साथ देना चाहती है। दोनों का प्रेम अभिन्न है।

'दिवोदास' का कथानक पौराणिक है। इसको लिखने का संकेत कवि को श्री सम्पूर्णानन्द जी की 'गणेश' पुस्तक से मिला था। जब काशी को गणेश जी ने बसाया था, तभी का यह पौराणिक आख्यान है। काशीनरेश दिवोदास ने देवताओं के विरुद्ध अपने पौरुष की पताका फहराई थी और देवों को अपने राज्य से निष्कासित भी कर दिया था,'[3] स्कंद पुराण के

---

१. पृथ्वीपुत्र, भूमिका, पृ० ६ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. पृथ्वीपुत्र, भूमिका, पृ० ५ ,, ,, ,,
३. पृथ्वीपुत्र, भूमिका, पृ० ५ ,, ,, ,,

काशी आठ-उत्राहों में यह आख्यान उपलब्ध है।

कवि ने इन दोनों काव्यों को संवाद कहा है, परन्तु ये कथात्मक हैं। इनमें संवादों के कारण ही नाटकीयता आई भी है, साथ ही इनमें एकांकी नाटकों के दृश्य-विधान की व्यवस्था भी की गई है। इन्हें पद्य-नाट्य भी कहा जा सकता है।" मैंने इन्हें पद्य-नाट्य की संज्ञा इसी अर्थ में दी है कि ये मूलतः काव्य रचनाएं हैं, पर इनका वस्तु-विधान नाटकीय है।"[1]

फुटकर रचनाएं (प्रकीर्ण)—

इस काव्य युग में कवि ने अनेक छोटी रचनाएं भी की हैं जो यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई हैं। इनमें मुख्यतया दो प्रकार की रचनाएं हैं —(१) मुक्तक तथा(२) प्रगीतात्मक। मुक्तक रचनाएं अपेक्षाकृत अधिक हैं और वे विभिन्न विषयों से संबद्ध हैं। परन्तु प्रगीत कम हैं और वे कवि की आन्तरिक प्रेरणा से ही रचे गये हैं।

मुक्तक:नीति-पद्य :—

" चिंता हो तारक को, मुझे सोच और भय क्या पथ का ?
मैंने तो गोचारक को, बना लिया सारथी मनोरथ का।"

स्वस्ति-पद्य —

देती रही रत्न-धन जन के तू मुझको चिरकाल से,
देगी आज प्रसाद-रूप क्या प्रभु पूजा के थाल से ?
पुण्य-भूमि यह सुन जगती से बोली वचन रसाल से,
" मेरा-सा तेरा आँचल भी भरे जवाहरलाल से।"[2]

---

१. 'सारथी' साप्ताहिक का नीति पद्य, दिसम्बर, १९५२।
२. नेहरू-अभिनन्दन ग्रन्थ, मुख-पृष्ठ (रचना- चैत्र कृष्णा ३, सं० २००५)

'चेतन हूँ मैं'[१] नवनीत नवम्बर १९५३ में छपा था —

" झुका सकेगा मुझे कभी तू, क्या था चेतन हूँ हूँ मैं ?
मरण, नित्य नव-जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं ।"

इसी प्रकार यह गीत कवि ने लिखा जो अप्रकाशित है —

" अब तो वे वासर बीत गये ।
मन तो भरा-भरा है अब भी, पर तन के रस रीत गये ।"[२]

इसके अतिरिक्त 'साहित्यकार' के जून ५१ के अंक में कवि की 'बुद्ध-विजय' कविता छपी थी । सन् ५४ के बजट पर केन्द्रीय राज्य-सभा में उन्होंने पद्य-बद्ध भाषण दिया था । 'आजकल' के मई ५६ के अंक में 'तथागत' कविता छपी थी ।

अनुवाद —

इस काव्य काल में 'दूत-घटोत्कच' नाट्यानुवाद प्रकाशित हुआ है परन्तु इसका निर्माण पहले ही हो चुका था ।

६. षष्ठोत्थान काल (१९५७-१९६४) —

गुप्त जी की काव्य-सर्जना का अंतिम काल है । इस काल की कतिपय स्फुट रचनायें विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं । 'रत्नावली' काव्य की रचना भी इसी समय हुई । इस काव्य की समाप्ति सावन तीज २०१७ वि० को हुई । इस समय कवि को वृद्धावस्था ने घेर रखा था और कम्पित करों से ही कवि ने इस काव्य की रचना की है ।[३]

---

१. 'चेतन हूँ मैं' नवनीत, नवम्बर १९५३, पृ० ४१
२. गीत, हस्तलिखित, रचना संवत् पौष २००६
३. रत्नावली, मुखपृष्ठ, पृ० ६ (प्रथम संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

कवि की नारी विषयक उदारता क्रमशः बढ़ती ही चली गई और यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि नारियों के पश्चात् अन्त में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के चरित्र को प्रकाश में लाकर ही समाप्त हो गई। यह काव्य कवि का अंतिम काव्य कहा जा सकता है।

इस काल में स्फुट रचनाएं कवि ने की हैं। एक स्थल पर वे लिखते हैं — आजकल मेरे कृपालु जन प्राय: मुझसे पूछा करते हैं कि मैं आजकल कौन सा काव्य लिख रहा हूं परन्तु मेरी शारीरिक स्थिति ऐसी हो गई है कि मैं कोई बड़ी रचना करने में असमर्थ हूं। हाँ! कभी कभी कुछ मार्मिक प्रसंगों पर छोटी छोटी रचनाएं हो जाती हैं।[१]

स्फुट-रचनाएं —

अपने जीवन के अंतिम दिनों में कवि ने कतिपय स्फुट रचनाओं का सृजन किया था। अन्तिम समय की रचनाओं में से "दीपक" के ऊपर लिखी यह कविता देखिये —

जल है दीपक जल तू
जिनके आगे अँधियारा है
उनके लिए अजल तू।
जोता बोया बुना जिन्होंने
श्रम कर औंटा धुना जिन्होंने
बत्ती बटकर तुझे संजोया
उनके श्रम का फल तू। जल है०
अपना तिल तिल पिरवाया है
तुझे स्नेह देकर पाया है
उच्च स्थान दिया है घर में
रह अविचल झलमल तू। जल है०

---

१. आज - मैथिलीशरण गुप्त, स्मृति अंक, दिनांक १०।१।१९६५

चूल्हा छोड़ जलाया तुझको
क्या न किया जो पाया तुझको
भूल न जाना कभी ओट का
    वह पुनीत अंचल तू । जल है०
कुछ न रहेगा, बात रहेगी
होगा प्रात, न रात रहेगी ।
सब जागें तब सोना सुख से
    तात न हो चंचल तू ।
    जल है दीपक जल तू ।[1]

यह कविता कवि की मृत्यु से लगभग एक सप्ताह पूर्व आकाशवाणी दिल्ली में ४-५ दिसम्बर को रेकार्ड कराई गई थी । एक अन्य कविता की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

" पाँच पाँच तत्वों के रहते, मैं क्यों चुप रह जाऊं ?
साम गान गा गए जहाँ, ऋषि, मैं क्या वहाँ न गाऊं ?
मिली हमें अपने मुनियों से, जो प्रेरणा अनूठी ,
वह क्या मेरे मौन मरण से हो न जायगी झूठी ?
भर पाई भी कहूं क्या न मैं, उनसे पाए धन से ,
मेरे कुल , बोल क्या तुझसे सरस्वती है रूठी ?
प्राप्त सत्य को क्यों मैं नव-नव सज्जा से न सजाऊं ?
सामगान गा गए जहाँ, ऋषि , मैं क्या वहाँ न गाऊं ?"[2]

यह कविता भी ४-५ दिसम्बर को आकाशवाणी , दिल्ली में रिकार्ड की गई थी । इन पंक्तियों में मानो कवि के सम्पूर्ण जीवन का सार-संकेत आ गया है । वास्तव में पंचत्व प्राप्त कर और फिर उसी में लवलीन होने तक कवि मौन नहीं रहा । जिस धरती पर ऋषियों ने साम गान गाया, मुनियों ने अनूठी प्रेरणाएं दीं, उन्हें कवि ने झूठी नहीं होने दिया । उन्होंने भी गाया और मुक्त कंठ से गाया ।

---

१ आज --मैथिलीशरण गुप्त. स्मृति अंक. पृ० १०. कवि की लेखनी का

गुप्त जी प्राय: बजट- अधिवेशन के अवसर पर अपनी कविता पढ़ा करते थे। फरवरी १९५८ का बजट प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने उपस्थित किया। बजट के ऊपर- राज्यसभा में जो चर्चा हुई उसका उत्तर नेहरू जी ने ११ मार्च को कार्य जारी कर लिया। उनके भाषण से पहले गुप्त जी ने बजट पर अपनी कविता पढ़ी। यह जानते हुए कि इसका उत्तर नेहरू जी को देना है, उन्होंने वेस्टके अपना भाषण पढ़ा। यथा —

आय कठिन, व्यय सहज; मिलेगा क्या दोनों का मेल कभी।
सहनी पड़ी हमें धन से भी बढ़ी एक जनहानि अभी।

....

किन्तु जहाँ धन वहाँ चोर भी अपनी घात लगायेंगे।
हम तब भी संतोष करेंगे हमने जो कुछ प्राप्त किया। [1]

'आभार' शीर्षक कविता भी गुप्त जी के अंतिम समय की रचना है। उन्हें राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट किया गया। इस अवसर पर कवि ने आभार प्रदर्शन किया। यह कविता उसी अवसर की है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये —

पूज्यवर राष्ट्रपते! बंधु और बहनों!
आपकी उदारता का समधिक लाभ मैं
ले रहा हूँ यह अपराध की-सी बात है।
और ऐसा पहले-पहल ही नहीं हुआ,
इसके भी पूर्व निज राष्ट्रपिता बापू के
हाथों एक बार ऐसा लाभ ले चुका हूँ मैं।

* *

अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ कैसे मैं,
शब्द इस भाव के लिए हैं किस भाषा में?

---

१. [illegible], राष्ट्रकवि अंक, मार्च, १९६५, पृ० १९

आपका प्रसाद रूप पाया यह ग्रन्थ जो,
मैं पाथेय मान कर उस को स्वपथ का
प्रस्तुत हूँ चाहे जिस यात्रा के लिए सदा ।
बंधुओ, जै भारत , जै भारत की भारती ।" [१]

गुप्त जी की अंतिम समय की लिखी हुई ये चार पंक्तियाँ हैं —

" प्राण, न पागल हो तुम यों पृथ्वी पर है वह प्रेम कहाँ ?
मोहमयी छलना भर है, भटको न अहो अब और यहाँ ।
ऊपर को निरखो अब तो, मिलता बस है चिर मेल वहाँ,
स्वर्ग वहीं, अपवर्ग वहीं, सुख सर्ग वहीं निज वर्ग जहाँ ।" [२]

इन पंक्तियों में कवि का सारा जीवन दर्शन परिलक्षित होता है । ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि को यह पता चल गया था कि उसे अब इस संसार से सम्बन्ध तोड़कर ऊपर जाना ही है ।

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २५ अप्रैल, १९६५
२. आजकल, राष्ट्र कवि अंक, मार्च, १९६५ , अंतिम पंक्तियाँ, पृ० ३

द्वितीय अध्याय

क कथाओं और अंतर्कथाओं का सम्बन्ध :—

कथाओं और अन्तर्कथाओं का सम्बन्ध जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि पुराणों में वर्णित कथाओं की उत्पत्ति कहां से हुई ? किसने की और कैसे की ? हमारे धार्मिक साहित्य में और विशेष कर पुराण साहित्य में कथाओं और अन्तर्कथाओं का अनन्त कोष है। इस विषय की पर्याप्त खोज की गई है, परन्तु इन धार्मिक कथाओं की उत्पत्ति तथा उनके वास्तविक अर्थों के विषय में कोई भी दो विद्वान् , कदाचित् ही कहीं एकमत हुए हों। परन्तु इतना तो निश्चित है कि ये कथाएं मन से गढ़ी हुई कहानियां नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने इन कथाओं की उत्पत्ति का सम्बन्ध प्रकृति से माना है। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Max Muller) के अनुसार आरंभिक आर्य प्रकृति के पूजक थे। उन्होंने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु, उषा, रात्रि वृष्टि, विद्युत आदि प्राकृतिक विभूतियों के दो नाम दिये, उन नामों के अपने अपने लिंग अथवा वचन थे। उन नामों का कोई न कोई अन्य अर्थ भी था, जिसके कारण उनके विषय में अनेक कथाओं का प्रादुर्भाव हुआ।[१] मानव विज्ञान वेत्ता सर जेम्स जार्ज फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'Golden Bough' में संसार की प्रायः सभी जातियों की धार्मिक कथाओं की उत्पत्ति को वृक्षों अथवा पौधों के विकास तथा क्षय से संबद्ध माना है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् जंग (Jung)[२] का मत है कि धार्मिक कथाओं की उत्पत्ति किसी

---

१. Contribution to the Science of Mythology - By Prof. Max Muller, 1897.

२. Introduction to a Science of Mythology - By Jung and Kerenyi. Publisher - Rouledge and Kegan Paul, London.

ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन से भी हो जाती है। परन्तु जब तक किसी धार्मिक कथा का ऐतिहासिक होना प्रमाणों से सिद्ध न हो जाय, तब तक कदाचित् प्राकृतिक विभूतियों अथवा धार्मिक कार्यों में व्यवहृत भौतिक पदार्थों (यज्ञ, वेदी, द्रव्य, पात्र आदि) से ही उनका सम्बन्ध समझना अधिक युक्तिसंगत होगा। डा० जीवोंस ने अपनी पुस्तक[१] में धार्मिक रीति-रस्मों से ही तात्कालिक धार्मिक कथाओं की उत्पत्ति अथवा उनका रूपान्तर सिद्ध करने की चेष्टा की है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पुराणों के वर्ण्य विषयों का स्रोत वेदों से माना है।" भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति, सदाचार एवं सामाजिक और राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक विषय पुराणों में आए हैं। वस्तुत: पुराणों की वर्णन समृद्धि से स्तब्ध हो जाना पड़ता है। किन्तु इनमें सबसे महत्वपूर्ण अंश वेदों की अध्यात्म ब्रह्मविद्या या सृष्टि विद्या है जिसे पुराणों ने खुलकर स्वीकार किया है। इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् —यह सूत्र ही मानों पुराणों का रचना-बीज बन गया था। इस दृष्टि से वेद-विद्या का ही लोक सुलभ रूपान्तर पुराण विद्या है।"[२] वस्तु पुराणों ने वेदों से बहुत कुछ ग्रहण किया है। स्कन्द पुराण तो पुराण-शास्त्र को वेद की आत्मा मानता है —

आत्मा पुराणं वेदानाम् ,
वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमा: ।
वेदा: प्रतिष्ठिता: सर्वे पुराणे नात्र संशय: ।[३]

नारदीय पुराण के अनुसार सब वेदों के अर्थों का सार पुराण है :—

---

१. Introduction to the History of Religion - By Dr.Jeevor

२. मार्कण्डेय पुराण - एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, भूमिका, (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।)

३. स्कन्द पुराण—प्रभास खण्ड २।६

सर्ववेदार्थसारार्णि पुराणानीति भूपते ।[१]

तात्पर्य यह है कि वेदार्थ परम्परा ही पुराण का मूल बीज है । पौराणिक आख्यान भी वेदों से ही उत्पन्न हुए हैं । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वेद सम्बन्धी सृष्टि-विद्या के उपबृंहण के लिए ही पुराणों के अनेक आख्यानों का निर्माण हुआ था । वस्तुत: वेद में जिन्हें 'अव्यय' ,'अक्षर' और 'क्षर पुरुष' कहा जाता है, वे ही पुराणों में ब्रह्मा विष्णु और शिव नामक तीन गुण हैं ।[२] छान्दोग्योपनिषद् में विद्याओं की सूची में इतिहास-पुराण विद्या का उल्लेख पंचम वेद के रूप में है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद और उपनिषदों की पृष्ठभूमि में पुराण विद्या का आरम्भ हो गया था । अश्वमेध के पारिप्लव आख्यान में अन्य विद्याओं के साथ साथ पुराणों के आख्यान का भी उल्लेख है ।[3] संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मणग्रन्थों का समय आता है । इनमें यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन है, साथ ही साथ अनेक आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं या ऋषियों की कथाएं भी मिलती हैं । उपनिषदों की महती संख्या विष्णु , शिव तथा शक्ति की उपासना का प्रतिपादन करती हैं ।[४] इस प्रकार पुराणों में वर्णित कथाओं को कपोल-कल्पित नहीं कहा जा सकता, वरन् इनके मूल स्रोत वैदिक साहित्य में प्रचुरता से प्राप्त होते हैं । वैदिक वाङ्मय सभी के लिए सुगम नहीं था, अतएव वेदोक्ति को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत किया गया । इसके पीछे अभिप्राय था, वेद से अपरिचित लोक समुदाय के ज्ञान को गुरुतर बनाना ।

---

१. नारदीय पुराण १।६।१००

२. मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, (हिन्दुस्तानी एकेडेमी,प्रयाग

३. शतपथ ब्राह्मण १३।३।५।१५

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास —बलदेव उपाध्याय, पृ०- शारदा मंदिर, बनारस, सप्तम संस्करण, पृ० २६,३०

भारतीय धर्म में अवतारों का बहुत महत्व है। जब जब पृथ्वी पर संकट आया तब-तब भगवान ने अवतार लिया। अवतार लेकर उन्होंने धर्म की स्थापना की और दुष्टों का संहार किया। सृष्टि उत्पत्ति से पहले जब चारों ओर जल ही जल था तब भगवान ने धर्म-स्थापना के लिए मत्स्यावतार लिया था फिर जब जब आवश्यकता पड़ी तब-तब समय के अनुकूल वे अवतार लेते गए ~~[illegible]~~ हमारा धार्मिक साहित्य इन अवतारों की कथाओं और अन्तर्कथाओं से भरा हुआ है। यह अवतारवाद स्पष्ट रूप से वैदिक काल के बाद के साहित्य में प्राप्त होता है परन्तु इसके बीज वैदिक साहित्य में अवश्य उपलब्ध होते हैं। फर्कुहर ने महाकाव्यों में अचानक मिल जाने वाली इस प्रवृत्ति में वैदिक उपादानों का समावेश देखकर यह संकेत किया था कि वैदिक साहित्य का, अवतारवादी तत्वों की दृष्टि से पुनर्विवेचन होना चाहिए।[१] वस्तुत: वैदिक साहित्य में अवतार शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु 'अवतृ' से बनने वाले 'अवतारी' और 'अवतर' शब्दों के प्रयोग संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। ऋग्वेद में 'अवतारी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२] सायण के अनुसार इस मंत्र का अर्थ है, 'हे इन्द्र! तू इन मेरी स्तुतियों से शत्रु सेनाओं की हिंसा करती हुई ~~सेना~~ से मेरी सेना की रक्षा करता हुआ शत्रु के कोप को नष्ट कर दे और इन स्तुतियों से ही यज्ञादि कर्म के लिए पूजन करने वालों के अन्तराय, विघ्न या संकट से पार कर।' 'अवतारी' के अनन्तर 'अवतृ' से ही बनने वाला एक दूसरा शब्द 'अवतर' अथर्ववेद में मिलता है।[३] सायण

---

१. Out-line of the Religious Literature of India - P.87
- J.N. Farkuhar.

२. "आभिः स्पृधो मिथतीररिषण्यन्न मित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र।
अभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽवतारीर्दासीः।"

३. "उपवाम वेतसम् अवत्ऽतर: नदीनाम्।
अग्ने पित्तम् अपाम् असि।
-अथर्ववेद १८।३।५

के अनुसार 'अत्यन्त रक्षण में समर्थ जिसमें सारभूत अंश हों, वही अवतर कहा जाता है —

'अवतरः परिरक्षणेन अत्यन्तं रक्षण समर्थः सारभूतांशो विद्यते ।[1]

सायण ने पुनः 'अवतर' शब्द के निर्माण पर विचार कर यह व्याख्यान किया कि इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अवतर' में रक्षा का भाव निहित है —

अवतर इति । अव रक्षणे इत्यस्मात् लट् शत्रादेशः ततः प्रकर्षार्थे तरप् ।[2]

अवतार के मुख्य प्रयोजनों में रक्षा का भी स्थान रहा है । इसलिए 'अवतर' का भावार्थ अवतारवाद की सीमा से परे नहीं है । परन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि सायण चौदहवीं शताब्दी में हुए थे और मध्यकालीन अवतारवाद से भी वे अवश्य परिचित रहे होंगे ।

यजुर्वेद में भी 'अवतर' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[3] इस मंत्र में प्रयुक्त 'अवतर' प्रायः उतरने के अर्थ में गृहीत हुआ है । अंग्रेजी टीकाकार गृफिथ ने संभवतः 'अवतर' के अर्थ में अंग्रेजी ' Descend ' शब्द का प्रयोग किया है ।[4]

ब्राह्मण ग्रन्थों में अवतार शब्द का अस्तित्व अधिक नहीं है । तैत्तरीय ब्राह्मण में[5] अवतारी' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु मंत्र वही[5] है जो ऋग्वेद (६।२५।२) में मिलता है ।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'अवतार' या 'अवस्तार' का उल्लेख कुएं में उतरने के अर्थ में किया है —

---

१. अथर्ववेद—सा०भा० १८।३।५

२. अथर्ववेद- सा०भा० १८।३।५

३. उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरा गहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि । — यजु० १७।६

४. Descend upon the earth, the reed, rivers;
Thou art the gall, O Agni of the waters.

५. तैत्तिरीय ब्राह्मण— २,८।३।३

अवेतृस्त्रोर्घञ् अवतारः कूपादिः अवस्तारो जवनिका ।[१]

केनोपनिषद् में यक्ष के प्रकट होने के अर्थ में 'प्रादुर्भाव' का प्रयोग हुआ है ।[२] परन्तु कालान्तर में विष्णु पुराण आदि में 'अवतीर्ण' या 'अवतार' शब्द विष्णु की उत्पत्ति या जन्म बोधक शब्द के रूप में प्रचलित हो चुके थे ।[३] 'महाभारत' 'श्रीमद्भागवत' तथा अन्य पुराणों में दशावतारों से सम्बन्धित अनेक कथाएं और अंतर्कथाएं विद्यमान हैं । 'महाभारत' के 'नारायणीयो-पाख्यान' में दशावतार का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है । इस उपाख्यान में न्यून अन्तर के साथ चार, छः और दस के क्रम से अवतारों की तीन सूचियाँ मिलती हैं । विष्णु पुराण में दशावतारों का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है । किन्तु परवर्ती अग्नि, वराह आदि पुराणों में मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि का क्रम मिलने लगता है ।[३] मध्य-काल में यही क्रम सर्वाधिक प्रचलित रहा है । 'श्रीमद्भागवत पुराण' में कृष्ण को छोड़कर इसी क्रम से नौ अवतारों का उल्लेख हुआ है ।[४] पुराण साहित्य इन दशावतारों से सम्बन्धित कथाओं और अंतर्कथाओं से भरा हुआ है ।

यहाँ कथाओं और अन्तर्कथाओं का सम्बन्ध भी समझ लेना आवश्यक है । यह तो स्पष्ट है कि कथा और अन्तर्कथा दोनों 'कथानक' के अर्थ को लक्षित करते हैं । परन्तु कैसे कथानक को ? इसका उत्तर है कि 'आख्यान' या 'कथा' है स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन , अर्थात् ऐसे अर्थ का प्रकाशन जिसका साक्षात्कार वक्ता ने स्वयं किया है । इसके विपरीत 'उपाख्यान' या अंत-कथा' का तात्पर्य है श्रुत या सुने गए अर्थ का कथन, अर्थात् वक्ता के द्वारा

---

१. अष्टाध्यायी, पाणिनि, ३।३।१२०

२. केनोपनिषद्, ३।२

३. वही, ३।२

३४. अग्नि पुराण ४९।१

४५. श्रीमद्भागवत पुराण, १०।२।४०

परम्परा से जुड़े गए (अनुभूत नहीं) कथों का प्रकाशन । उदाहरण के लिए वाल्मीकि कृत रामायण 'आख्यान' अथवा 'कथा' है इस कथा में दशरथ मरण एक मुख्य घटना है । इस मरण की कथा की पुष्टि की गई है अंधमुनि के शाप से । अतः रामायण में श्रवणकुमार की कथा एक अन्तर्कथा के रूप में है क्योंकि वह मुख्य कथा की ऐतिहासिक पुष्टि करती है या यों कहें कि वह 'दशरथ-मरण' की कथा का पूर्व इतिहास बताकर उसके तथ्यों को स्पष्ट करती है । इस प्रकार दशावतारों की मुख्य कथाओं की अनेक घटनाओं की पुष्टि के लिए, उनके प्राचीन इतिहास को स्पष्ट करने के लिए तथा उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए अनेक 'अन्तर्कथाएं' उनके साथ जुड़ी हैं । दशावतार में राम का भी अवतार है । राम की मुख्य कथा के साथ 'सती मोह' की कथा, 'शिव-पार्वती-संवाद' की कथा तथा 'नारद-मोह' की कथा वस्तुतः अन्तर्कथाएं हैं जो राम की कथा के महत्त्व को बतलाती हैं ।[१] ऐसी अन्तर्कथाओं से यह स्पष्ट किया गया है कि राम कोई साधारण मानव नहीं हैं वरन वे अवतार लेकर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना करने और अधर्म का नाश करने आए हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दशावतारों से सम्बन्धित कथाओं के साथ 'अन्तर्कथाएं' उनकी प्रामाणिकता पुष्ट करने के लिए और उन अवतारों के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए उनके साथ जुड़ी हुई हैं ।

प्रश्न यह उठता है कि ये अन्तर्कथाएं इतनी अधिक संख्या में कहां से और कैसे उत्पन्न हो गई हैं । वायु पुराण में उल्लेख आता है कि मूल पुराण संहिता चार सहस्त्र श्लोकों की थी ।[२] परन्तु इस समय उसमें सौ गुनी वृद्धि हो चुकी है । इसका सम्प्रदायानुगत उत्तर तो यही है कि अकेले वेदव्यास ने ही अष्टादश पुराणों की रचना की । परन्तु इस सम्बन्ध में वायुपुराण में जो कहा गया है वह अधिक समीचीन ज्ञात होता है । अर्थात वेद-व्यास ने मूल पुराण संहिता का संकलन किया और उसे अपने छः शिष्यों को पढ़ाया । इन्हीं के द्वारा संहिताओं की परम्परा आगे बढ़ी । पुराण शास्त्र को जानने

---

१. रामचरित मानस—बालकाण्ड(ना०प्र०सभा, काशी)

२. वायु पुराण, ६१।५५-५६

वाले विद्वान् पौराणिक कहलाए । पौराणिकों में अधिकतर कथा वाचक होते थे । उनमें से कुछ इतने मेधावी होते थे कि वे नवीन मौलिक रचना करके पुराण में नए विषय जोड़ लेते थे । इन्हें हम उपबृंहक कह सकते हैं ।[१] इनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य का परिचय देना नहीं था, वरन् इन्हें उच्चकोटि के धर्ममूलक और दर्शन-मूलक तत्वों को सरल एवं सुग्राह्य शैली में उतारना था । दशावतारों आदि की कथाओं की प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए तथा उसके प्राचीन इतिहास को बतलाने के लिए, छोटे, छोटे तत्वों के आधार पर असंख्य छोटी बड़ी अन्तर्कथाओं की सृष्टि की गई । जो दिन प्रतिदिन बढ़ती ही चली गई । इसीलिए समस्त प्राचीन आख्यानक-काव्यों में कथाओं के साथ-साथ अनंत अन्तर्कथाएं विद्यमान हैं ।

ख. गुप्त जी के काव्य का, अन्तर्कथाओं के आधार पर वर्गीकरण और अध्ययन—

गुप्तजी मुख्यतया कथाकार कवि थे । उन्होंने अपने लगभग सभी काव्यों में रोचक ढंग से कथा कही है । इन समस्त कथाओं के स्रोत विविध हैं । रामायणीय काव्यों में 'पंचवटी', 'साकेत', और '[illegible] प्रदक्षिणा' काव्य आते हैं । महाभारतीय स्रोत के आधार पर 'जयद्रथ-वध', 'सैरन्ध्री', 'बकसंहार', 'वन-वैभव', 'नहुष', 'हिडिम्बा', तथा 'जयभारत' की रचना हुई है । यद्यपि हिडिम्बा, नहुष, बक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री स्वतंत्र खण्डकाव्य हैं परन्तु किंचित परिवर्तन के साथ कवि ने इन सब का समावेश 'जय-भारत' वृहत् प्रबंध में कर लिया है । 'युद्ध' भी एक स्वतंत्र महाभारतीय खण्डकाव्य है, परन्तु वह जयभारत का ही अंश है । 'जयद्रथ-वध' खण्डकाव्य को कवि ने 'जय-भारत' में समाविष्ट नहीं किया है वरन् नए ढंग से अत्यन्त संक्षेप में इस कथा का संकेत 'जयभारत' में किया है । 'रामायणीय' और 'महाभारतीय' रचनाओं के अतिरिक्त कवि ने प्राचीन इतिहास के आधार पर भी रचनाएं की हैं । कुछ रचनाएं राष्ट्रीय और समसामयिक हैं, जिनकी प्रेरणा स्रोत तत्कालीन परिस्थितियां हैं । इनके

---

१. मार्कण्डेय पुराण- एक सांस्कृतिक अध्ययन, भूमिका, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ०-हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अतिरिक्त कुछ विविध - विषयक अन्तर्कथाओं से युक्त काव्य भी हैं, जिनकी सृष्टि निमित्त विशेष [illegible] हैं। [illegible] इसी दृष्टि से निम्नलिखित गुप्त जी के काव्य का अध्ययन किया जायगा।

१ रामाख्यानीय-काव्य :-

राम-कथा पर आधारित गुप्त जी का प्रथम काव्य 'पंचवटी' है। इसके पश्चात महाकाव्य 'साकेत' की रचना हुई और अन्त में 'प्रदक्षिणा' काव्य रचा गया।

पंचवटी-

परिचय-- 'पंचवटी' खण्डकाव्य का कथानक रामसाहित्य का चिरपरिचित आख्यान शूर्पणखा-प्रसंग है। परन्तु गुप्त जी ने इसमें पर्याप्त नवीनता का समावेश किया है। इस काव्य में प्रमुख पात्र लक्ष्मण प्रतीत होते हैं।

कथावस्तु-- प्रारम्भ में लक्ष्मण पंचवटी में, पर्णकुटी के बाहर, रात्रि के समय प्रहरी के रूप में चित्रित हैं।

"जाग रहा यह कौन धनुर्धर,
जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है।

× ×

राज भोग्य के योग्य विपिन में
बैठा आज विराग लिए।
बना हुआ है प्रहरी जिसका
उस कुटीर में क्या धन है ?"[१]

लक्ष्मण रात्रि के समय जागृत रहकर आत्मसंलाप में लीन हैं। उर्मिला की स्मृति उन्हें घेर लेती है -- लक्ष्मण सोचते हैं "बेचारी उर्मिला हमारे लिए व्यर्थ रोती होगी।" इसी समय उनके सम्मुख प्रखर ज्योति की ज्वाला सी दिखाई

पड़ी और उन्होंने देखा कि " निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख, एक हास्य वदनी बाला" । यह शूर्पणखा थी जो लक्ष्मण से प्रणय-निवेदन करने आई थी । यहाँ दोनों की कथनी उत्तमता दर्शनीय है । शूर्पणखा का निवेदन सुन कर लक्ष्मण विचलित हो उठते हैं वे कहते हैं —

" पाप शान्त हो, पाप शान्त हो,
कि मैं विवाहित हूँ बाले ।"[१]

परन्तु शूर्पणखा तर्कशीला है वह बड़ी तत्परता से कहती है —

पर क्या पुरुष नहीं होते हैं
दो-दो दाराओं वाले ?
नर कृत शास्त्रों के सब बंधन
हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर ।"[२]

कुछ समय उपरान्त पौ फट जाती है और सीता उठ कर उस रमणी और लक्ष्मण को देखती हैं । वे परिहास करती हुई शूर्पणखा से कहती हैं —

" अजी, खिन्न तुम न हो हमारी
ये देवर हैं ऐसे ही ।
घर में ब्याही बहू छोड़कर
यहाँ भाग आए हैं ये ,

× ×

किन्तु तुम्हारी इच्छा है, तो
मैं भी इन्हें मनाऊँगी ,
रहो यहाँ तुम बहन ! तुम्हारा
वर मैं इन्हें बनाऊँगी ।"[३]

---

१. पंचवटी, पृ० ३२ (पाँचवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. पंचवटी, पृ० ३२ ,, ,, ,,
३. पंचवटी, पृ० ४१-४२ ,, --

इसी समय राम कुटीर से बाहर आते हैं और शूर्पणखा को देखकर उससे पूछते हैं — "शुभे बाहती हो तुम क्या ?" लक्ष्मण की अपेक्षा राम को कोमल और सहृदय समझ कर शूर्पणखा राम के प्रति ही प्रणय निवेदन कर बैठती है। सीता मुस्करा कर कहती हैं —

" प्रथम देवरानी फिर सौत।
अंगीकृत है मुझे, किन्तु तुम
मांगो कहीं न मेरी मौत।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके
तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही अंगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।"[१]

परन्तु एक ही आदर्श को सामने रखकर लक्ष्मण और राम दोनों ही उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं। शूर्पणखा क्रोधित हो उठती है और उसका भयंकर रूप प्रकट हो जाता है। लक्ष्मण उसे विकलांगी बना कर छोड़ देना चाहते हैं जिससे वह भविष्य में सुंदरी का रूप धारण कर किसी को छल न सके। लक्ष्मण शूर्पणखा का नासिकाच्छेदन कर देते हैं। और वह रुधिर बहाती, चिल्लाती हुई वहाँ से भाग जाती है।

विवेचन — 'पंचवटी' में नवीन प्रसंगोद्भावनाएं की गई हैं। इसमें नासिकाच्छेदन के अतिरिक्त सभी प्रसंगों में नवीनता है। रामायण के इस प्रसिद्ध कथानक को गुप्त जी ने स्वाभाविकता का पुट देकर अधिक विश्वसनीय और अधिक मानवीय बना दिया है। हास्यविनोद और तर्क-वितर्क के द्वारा इसे और रोचक बना दिया है। तुलसीदास ने इस प्रसंग को मुख्यतया राम की वीरता से सम्बद्ध किया है। परन्तु गुप्त जी ने इस काव्य के द्वारा नारी, सदाचार, प्रेम, नैतिकता, देवर-भाभी परिहास आदि का चित्र खींचा है। इस कथा को एक पारिवारिक काव्य का रूप दिया है।

---

१. पंचवटी, पृ० ५३ (पांचवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

इस काव्य में गुप्त जी ने चरित्र-चित्रण परम्परा के अनुसार ही रखा है परन्तु उसमें पर्याप्त मौलिकता है। इन प्रसिद्ध पात्रों की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए इन्हें मानवीय रूप देने की चेष्टा की है। राम के गुरु-गाम्भीर्य में मानवीय सरलता है सीता के परम्परित आदर्श-रूप में भी मधुर-हास्य और व्यंग की स्निग्धता है। लक्ष्मण का औद्धत्य रूप सरलता लिए हुए है। शूर्पणखा की राक्षसता भी स्त्री सुलभ सरल भावों से पूर्ण है।

'पंचवटी' के कथानक के द्वारा गुप्त जी ने आत्मसंयम और वासना का संघर्ष दिखाया है। वासना का पक्ष निर्बल होता है अत: शूर्पणखा असफल-कार्य हुई। इस काव्य में गुप्त जी ने अमानवीय तत्वों को मानवीय बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु शूर्पणखा के रूप परिवर्तन को, जो कि अतिमानवीय वस्तु है, गुप्त जी ने ज्यों का त्यों स्वीकारा है।

इस काव्य में पंचवटी की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण स्वच्छन्द रूप से हुआ है। यह गुप्त जी का प्रथम काव्य है जिसमें प्राकृतिक वर्णनों की सुंदर नियोजना हुई है। यह प्रकृति वर्णन गतिशील भी है। इस काव्य का प्रारम्भ ही चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में' के दृश्य से हुआ है। इस काव्य में कुछ स्थलों पर प्रकृति के आलंकारिक प्रयोग भी हुए हैं। जैसे —

" हँसने लगे कुसुम कानन के
देख चित्र-सा एक महान,
विकच उठीं कलियाँ डालों में
निरख मैथिली की मुसकान।
कौन-कौन से फूल खिले हैं,
उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके
जुड़ आई भौंरों की भीर।।"[१]

भाषा की दृष्टि से पंचवटी काव्य परवर्ती काव्यों से बहुत आगे है। इसकी भाषा में निखार है और चंचलता है, जिससे संवाद आकर्षक हो गये हैं।

---

१ पंचवटी, पद सं० ६८, पृ० ३९, पाँचवाँ संस्क०, साहित्य स०चि०, झाँसी

गुप्त जी के साहित्य में पंचवटी का अपना विशेष महत्व है । यह गुप्त जी की रचनाओं का एक विकास-स्तंभ है ।

साकेत —

नामकरण— सर्व प्रथम जब मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत काव्य का प्रारम्भ किया तब इसका नाम 'उर्मिला-काव्य' या 'उर्मिला-उत्ताप' रखा था । क्योंकि कवि 'काव्य की उपेक्षित उर्मिला' के चरित्र से ही प्रभावित होकर इस काव्य की सृष्टि कर रहा था । महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगला में 'काव्येतर उपेक्षिता' नामक एक निबन्ध लिखा था । इसमें उन्होंने भारतीय साहित्य में उपेक्षिता नारियों पर दृष्टि डालते हुए 'अव्यक्त वेदना- देवी उर्मिला' के उपेक्षित जीवन पर प्रकाश डाला था । इस निबन्ध से प्रभावित होकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी एक निबन्ध 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' लिखा । इस समय गुप्त जी के काव्य गुरु और भाषा गुरु एक प्रकार से आचार्य द्विवेदी ही थे । इन्हीं के निर्देशन और प्रोत्साहन के कारण गुप्त जी हिन्दी जगत को अपनी प्रतिभा से आलोकित कर रहे थे । गुप्त जी ने जब आचार्य द्विवेदी के इस निबन्ध को देखा तो उनके ऊपर इसका विशेष प्रभाव पड़ा । एक तो वे स्वयं नारी को आदरणीया मानते थे और उपेक्षिता नारियों से उन्हें विशेष सहानुभूति थी । दूसरे आचार्य द्विवेदी ने उन्हें एक सुस्पष्ट मार्ग भी दिखला दिया था । अतः वे इस काव्य की रचना करने में संलग्न हो गये । कवि 'उपेक्षिता उर्मिला' से प्रभावित था इसलिए उसने प्रारम्भ में उर्मिला के ही नाम से इस काव्य को को लिखना चाहा । परन्तु ऐसा करने के लिए कवि को अपनी अन्तः प्रेरणा का हनन करना पड़ता । क्योंकि यह कथा तो होती राम-कथा से संबद्ध, परन्तु 'उर्मिला काव्य' अथवा 'उर्मिला-उत्ताप' से उर्मिला के महत्व की ही ध्वनि निकलती और कवि के इष्टदेव 'राम' का महत्व लुप्त हो जाता । अतः राम-भक्त कवि का हृदय इस बात को स्वीकार न कर सका । दूसरे उर्मिला शीर्षक देकर कवि महाकाव्य का प्रणयन न कर सकता था । इससे तो कवि का क्षेत्र छोटा हो जाता और यह काव्य खण्ड-काव्य की कोटि में ही आता । अतः इस काव्य को 'साकेत' नाम देकर कवि अपने आदर्श की भी रक्षा कर सका और उर्मिला को भी महत्व दे सका । 'साकेत' में ही

उपेक्षिता उर्मिला के विरह-युक्त चौदह वर्ष व्यतीत हुए थे। कवि ने इस महाकाव्य को साकेत नाम देकर अपनी वैष्णव भावना की भी रक्षा की और युग प्रभाव को भी रक्षित रखा। उसने न तो राम को भुलाया और न उर्मिला को ही। 'साकेत' अयोध्या का ही पौराणिक नाम है। और यह नाम एक महाकाव्य के लिए अनुपयुक्त भी नहीं है। कवि इसे अपने महाकाव्य के लिए उपयुक्त समझता है। 'सर्वोपरि साकेत, राम का धाम तू'[1] कह कर कवि साकेत और अयोध्या को अभिन्न बतलाता है। अवध, अयोध्या और साकेत, सब एक ही हैं। कवि कहता है 'और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा'[2] तथा 'अवध को अपना कर त्याग से।'[3]

किसी भी काव्य का नामकरण पात्र, घटना, समस्या, मनोवृत्ति, स्थान आदि की विशेषता के आधार पर रखा जाता है। यद्यपि प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य के नामकरण के विषय में 'साहित्य दर्पणकार' आचार्य विश्वनाथ ने कहा है —

' कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामस्य सर्गोपादेय कथया सर्ग नाम तु।'[4]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर होना चाहिये अथवा कथावस्तु के आधार पर, अथवा नायक के नाम पर या किसी अन्य पात्र के नाम पर। परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर होना चाहिये। आचार्य विश्वनाथ ने स्थान के आधार पर महाकाव्य के नामकरण की व्यवस्था नहीं बतलाई है। परन्तु यह प्राचीन

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १२५ (२०२१ वि०) साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० ६५ ,, ,, ,,
३. साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६८ ,, ,,
४. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३२१

मान्यता है । आधुनिक काल के महाकाव्य इन प्राचीन मान्यताओं को लेकर चले भी नहीं हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी की सम्मति है - " यद्यपि महाकाव्यों के परंपरागत लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी प्रबन्धपूर्ण कोई रचना महाकाव्य हो सकती है ।"[1] अन्यथा उनमें आधुनिकता का समावेश कैसे होता । अनेक काव्यों के नामकरण स्थान की विशेषता के कारण ही हुए हैं । गुप्त जी ने 'पंचवटी' काव्य का शीर्षक भी स्थान की विशेषता के आधार पर ही किया है । सच तो यह है कि कवि को अपने काव्य में स्थान, घटना, चरित्र, समस्या, भावना या कथा का कोई भी अंश , जो भी अधिक महत्वपूर्ण समझ में आवे उसके आधार पर वह अपने काव्य का शीर्षक रख सकता है । परन्तु इसकी सार्थकता के लिए किन्हीं बातों की ओर ध्यान रखना आवश्यक है । जैसे वह वर्ण्य विषय से सबद्ध हो । वह शीर्षक सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र हो । वह आकर्षक भी हो । शीर्षक को देखकर पाठक के मन में जिज्ञासा और औत्सुक्य का भाव भी जागृत होना चाहिए । अब हम इन विशेषताओं के आधार पर 'साकेत' शीर्षक की सार्थकता देखें ।

'साकेत' की कथा, साकेत (अयोध्या) से पूर्णरूपेण संबद्ध है । संबद्ध ही नहीं वरन् सम्पूर्ण कथा साकेत में ही केन्द्रित हो गई है । इस ग्रन्थ का साकेत नाम रख कर कवि ने अपने लिए कतिपय प्रतिबन्धों की सृष्टि कर ली है[2] ।" साकेतकार का मुख्य ध्येय इस काव्य में रामकथा के उपेक्षित अंगों का उद्घाटन करना और उन्हें उचित महत्व देना है । इस दृष्टि से कवि ने तीन ऐसे प्रसंग चुने हैं जो रामकथा में सदैव उपेक्षणीय रहे । सर्वप्रथम कवि उपेक्षिता उर्मिला को लेता है । राम बनवासकी चौदह वर्षों की लम्बी अवधि में विरहिणी उर्मिला की विरह-कथा को कवि ने अपने काव्य का विषय बनाया है । इस अंश का पूरा सम्बन्ध साकेत अर्थात् अयोध्या से है । क्योंकि लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला अपने

---

१ आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी, पृ० ८० (२००७ वि० , भारती भण्डार , लीडरप्रेस, प्रयाग)

२ मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४१२, (प्रथम संस्करण १९६०, हिन्दी परिषद्, सागर विश्वविद्यालय)

विरह के चौदह वर्षों को साकेत में ही व्यतीत करती है। कवि ने उर्मिला को महत्व देने के लिए लाक्षागृह की कथा का वर्णन नहीं किया है। इसके बाद में नवम सर्ग में विरहोद्गार के रूप में उसका वर्णन हुआ है। कवि ने दूसरा उपेक्षित प्रसंग कैकेयी का कलंकित चरित्र लिया है। पूर्ववर्ती सम्पूर्ण रामकाव्य में कैकेयी का कलंकित चरित्र ही दिखाया गया है। परन्तु गुप्त जी ने उपेक्षिता कैकेयी के चरित्र की मनोवैज्ञानिकता को स्पष्ट किया है उसे उज्ज्वल रूप देने का प्रयत्न किया है। कैकेयी के इस अंश का भी पूरा सम्बन्ध साकेत से है क्योंकि इसी साकेत अर्थात् अयोध्या का राज्य वह भरत को देना चाहती थी। इसी अयोध्या के लिए वह भयंकर रूप धारण करती है और दशरथ-मरण तथा राम-वनवास का कारण बनती है। तीसरा उपेक्षित विषय, जो कि गुप्त जी ने 'साकेत' में उठाया है, वह है लक्ष्मण को शक्ति-बाण लग जाने के कारण अयोध्या-वासियों का व्याकुल होना। इस प्रसंग का भी पूरा सम्बन्ध साकेत से है क्योंकि लक्ष्मण के शक्ति लग जाने का समाचार सुन कर समस्त साकेतवासी व्याकुल हो उठते हैं और उनमें हलचल मच जाती है। इस प्रकार 'साकेत' की सम्पूर्ण कथा अयोध्या से सम्बन्धित है और इस दृष्टि से 'साकेत' शीर्षक भी उपयुक्त है। डा० नगेन्द्र ने साकेत के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है —"स्थान - ऐक्य का साकेत की कथावस्तु में बड़ा सफल प्रयोग है और साथ ही साकेत नाम भी पूर्ण रूप से सार्थक होता है।"[1] तथा" साकेत में जाकर राम और सीता की कहानी प्रधानत: उर्मिला की कहानी बन जाती है और इसी रूप में उसका विकास और संघटन (राम-कथा की पृष्ठ भूमि पर) होता है।"[2]

'साकेत' में साकेतकार ने स्थान-ऐक्य को बहुत महत्व दिया है। साकेत या अयोध्या का महत्व बनाए रखने के लिए कवि ने अपनी कथावस्तु को साकेत में ही बराबर संजोए रखा। और 'साकेत' काव्य का केन्द्र स्थान साकेत को ही बनाए रखा। इसके लिए कवि को वनवास की घटनाओं का परोक्ष रूप में वर्णन करना पड़ा। अष्टम सर्ग में चित्रकूट का वर्णन उसने परोक्ष रूप में किया

---

१. साकेत - एक अध्ययन, पृ० ७ (द्वादश संस्करण, प्रका० साहित्यरत्न भंडार, आगरा)

२. साकेत- एक अध्ययन, पृ० ६ .. .. ..

है । क्योंकि चित्रकूट 'साकेत' की सीमा के बाहर है । इस सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का मत दृष्टव्य है — "एक बात यह भी हो सकती है कि 'साकेत' की सीमा में गुप्त जी चित्रकूट को भी सन्निविष्ट करते हों ।
... ... साकेत तो प्रागैतिहासिक नगरी थी जो त्रेता तक इस धरातल पर रही, तदुपरान्त स्वर्ग चली गई और उसके स्थान पर अयोध्या की सृष्टि हुई । साकेत नगरी के अतिरिक्त किसी साकेत प्रान्त की कल्पना ऐतिहासिक नहीं है । ... ... 'साकेत' नामकरण के कारण उसमें समाविष्ट सम्पूर्ण कथा-वर्णन प्रधान हो गई है और घटनाएँ प्रत्यक्ष के स्थान पर परोक्ष बन गई हैं ।[1]
स्वयं कवि ने इस विषय में स्पष्टीकरण किया है । वह कहता है —

" चल चपल कलम, निज चित्रकूट चल देखें,
प्रभु चरण-चिह्न पर सफल भाल-लिपि लेखें ।
संप्रति साकेत-समाज वहीं है सारा ।
सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा ।"[2]

चित्रकूट में ही सारा साकेत उपस्थित है । चित्रकूट में ही राम हैं, साकेत की सारी प्रजा भी चित्रकूट में है और 'सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा' होने से चित्रकूट साकेत में ही समाहित सा हो गया है । दोनों में अभिन्नता सी स्थापित की गई है । कवि ने प्रयत्न किया है कि चित्रकूट में साकेत न छूटने पाये ।" कवि चाहता तो इस सर्ग को भी सूच्य बना सकता था, पर उस स्थिति में न तो वह उर्मिला को लक्ष्मण के सम्मुख पुन: उपस्थित कर सकता था, न कैकेयी के चारित्र्य की उज्ज्वलता को प्रमाणित । यदि यह प्रसंग घटनात्मक न होता, तो काव्य का अधिकांश केवल सूच्य हो जाता ।"[3] अत: गुप्त जी ने घटनाओं की स्थिति को देखते हुए स्थान ऐक्य का सुन्दर विधान किया है ।

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ४२ (लोक भारती प्रका०, संस्क० सन् १९६६)

२. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२०

३. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४२३ (प्रथम संस्करण, सन् १९६०, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)

उर्मिला अपने वियोग के चौदह वर्ष साकेत में बिताती है। गुप्त जी ने इन चौदह वर्षों में वनवास की जो घटनाएँ घटित हुईं उनका परोक्ष वर्णन किया है ।

साकेत शीर्षक इस महाकाव्य के लिए उपयुक्त ही है । 'साकेत' शीर्षक में एक नवीनता है, जो 'रामचरित' नाम में न होती । 'साकेत' नाम से पौराणिकता का आभास होता है । अतएव साकेत महाकाव्य का नामकरण 'साकेत' उपयुक्त प्रतीत होता है ।

साकेत का प्रबन्ध-शिल्प –

प्रबन्ध काव्य साहित्य की वह विधा है जिसमें कथावस्तु सुसंबद्ध हो । कथावस्तु में प्रत्येक घटनाएँ शृंखला की कड़ियों की भाँति एक दूसरे से सम्बन्धित हों । प्रबंधधारा अटूट हो । प्रबन्ध काव्य में एक ऐसी सानुबंध कथा होनी चाहिये जिसमें अनेक अवांतर कथाएँ रहें और उसका धारावाहिक रूप आदि से अन्त तक चलता रहे । भारतीय और पाश्चात्य दोनों देशों के विद्वानों ने यह माना है कि प्रबन्ध काव्य में सम्पूर्ण कथा को अव्याहत और अटूट होना चाहिए । डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' में इस सम्बन्ध में कहा है कि महाकाव्य में सुसंघटित जीवंत कथानक होना चाहिये, महाकाव्य की कथा में कार्यान्विति हो पर नाटक की भाँति संकीर्ण न हो । कथा बिखरी हुई न हो, न ही सीमित हो । कथा को सर्गबद्ध होना चाहिये और वह नाट्य-संधियों से युक्त हो । पाश्चात्य देशों के महाकाव्य भी सर्गबद्ध होते हैं और उनमें नाटक के गुण होते हैं । कथानक में पर्याप्त विस्तार होता है । घटनाप्रवाह से सक्रियता का गुण उत्पन्न होता है, जो महाकाव्य में अवश्य होना चाहिये । महाकाव्य की कथावस्तु कहाँ से ली जाय इसके लिए कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता ।[१] अतएव यह निश्चित है कि पाश्चात्य और भारतीय दोनों देशों के विद्वान् महाकाव्य के इन तत्त्वों को महत्त्व देते हैं । वस्तुतः प्रबन्धकाव्य कवि की ऐसी सुसंबद्ध रचना है जिसमें कि

---

१ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ०११०से११२, (द्वितीयावृत्ति, मई १९६२, प्रका० ओमप्रकाश बेरी, हिन्दी प्रचा०,वाराणसी)

वह अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होकर संसार के विविध रूपों, कृत्यों और घटनाओं का आकलन करता है और अपनी सम्पूर्ण घटनाओं का विभाजन विभिन्न करता है। महाकाव्य में इन सब घटनाओं का विभाजन सर्गों के रूप में विद्यमान रहता है।' महाकाव्य के शरीर के अन्तर्गत सर्गबद्ध रचना का होना आवश्यक है, किन्तु सर्गों की संख्या के सम्बन्ध में सब आचार्य एक मत नहीं हैं।'[1] प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भी महाकाव्य की सर्गबद्धता को महत्त्व दिया है --यथा--

'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्'[2]

आचार्य वाजपेयी जी ने तो प्रबंधात्मकता और सर्गबद्धता को पर्याय माना है।[3] प्रबन्ध काव्य के वस्तु वर्णनों में एक सूत्रता होनी चाहिये। घटनाओं की क्रमबद्धता का होना, कथा में प्रवाह और धारावाहिकता का होना और 'कार्य' की सम्पूर्णता के लिए कथा में सुसंबद्धता और एकरूपता होना भी आवश्यक है।

सानुबंध कथा --

'साकेत' की कथा उर्मिला-लक्ष्मण के जीवन से संबद्ध है। यह कथा सानुबंध है, और इसमें कथा के आदि, मध्य और पर्यवसान स्पष्ट है। साकेत के प्रथम सर्ग से अष्टम सर्ग तक कथा का आदि भाग है। इसमें लक्ष्मण और उर्मिला के हास-परिहास से लेकर चित्रकूट की पर्णकुटी में उर्मिला-लक्ष्मण के क्षणिक मिलन तक का वर्णन है। इसमें कवि ने बालकाण्ड की कथा को छोड़ दिया है। साकेत के प्रथम आठ सर्गों में मानस के अयोध्याकाण्ड की कथा और घटनाओं को लिया गया है। प्रारंभ तो उर्मिला और लक्ष्मण के मिलन और वाग्विनोद से होता है, फिर राम के राज्याभिषेक की सूचना दी

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपाल सिंह, पृ० १६

२. काव्यादर्श - दण्डी, प्रथम परिच्छेद, श्लोक, १६३

३. आधुनिक साहित्य - आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० ५३

जाती है । तत्पश्चात् कैकेयी-मंथरा संवाद, राम-वन-गमन, निषाद आदि से भेंट, दशरथ मरण, चित्रकूट प्रस्थान, भरत मिलाप आदि घटनाओं का वर्णन हुआ है । यह सब वर्णन प्रत्यक्ष शैली से हुआ है । इस कथा में कवि ने पूर्व परिचित रामकथा से पर्याप्त नवीनताएं रखी हैं । जो कथा केवल अयोध्याकाण्ड में है, उस कथा को पर्याप्त नवीनता देकर कवि ने 'साकेत' के आठ सर्गों में रखा है । इसका कारण यह है कि कवि उर्मिला को अधिक महत्व देना चाहता है ।" वह उर्मिला को अधिकाधिक प्रसंगों अथवा घटनाओं से संबद्ध दिखाना चाहता था, संबद्ध ही नहीं, प्रमुखता भी देना चाहता था ।"[१] साकेत की कथा के इस आदि भाग में कवि ने यद्यपि उर्मिला-लक्ष्मण की कथा को महत्व देना चाहा है, परन्तु वह अधिक सुनियोजित नहीं है । क्योंकि उसमें रामकथा मिली हुई है ।" जिससे कि उर्मिला की कथा गौण सी दिखाई पड़ती है और अष्टम सर्ग तक ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि उर्मिला-कथा न कह कर राम-कथा कह रहा है । फिर भी अयोध्याकाण्ड की कथा से इस कथा में पर्याप्त अन्तर है और उर्मिला का महत्व कवि स्थापित कर देता है ।

'साकेत' की कथा का 'मध्य' नवम और दशम सर्ग में दिखाई पड़ता है । इन दोनों सर्गों में कवि मुख्य कथा की ओर पूर्ण रूप से मुड़ जाता है । लक्ष्मण के वन चले जाने पर वियोगिनी उर्मिला का वियोगावस्था का चित्रण किया जाता है । कवि उर्मिला के वियोग का चित्रण करने में इतना लीन हो गया है कि कथा-प्रवाह एकदम रुक सा गया है ।" नवम सर्ग में उर्मिला के विलाप का वर्णन करते हुए कवि काव्य के कथा-वस्तु को छोड़ बैठा है ।"[२] दशम सर्ग में भी उर्मिला के वियोग का ही वर्णन है, परन्तु वह कलात्मक है । उर्मिला सरयू को लक्ष्य करके विरह-निवेदन करती है । इस विरह वर्णन के साथ साथ उर्मिला अपने जन्म से लेकर सीता स्वयंवर तक की बालकाण्ड में वर्णित कथा का स्मरण करती है । अतएव दशम सर्ग में उर्मिला के विरह-वर्णन के साथ-साथ बालकाण्ड की कथा का भी समावेश हो जाता है ।" स्मरण संचारी के अन्तर्गत समस्त बालकाण्ड की कथा नियोजित करके कवि ने उसे भावात्मक बना

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४१६

किया है। x x x साकेत वर्णनात्मक प्रेम-कथा है, अतएव उसमें पूर्व-राग की व्यंजना भी की जानी चाहिये थी।"[1] अत:दशम सर्ग में इस दृष्टि से नवीनता भी है, उर्मिला की प्रधानता भी है और बालकाण्ड की घटनाओं की परोक्ष रूप से वर्णना भी है।

'साकेत' की कथा का पर्यवसान एकादश और द्वादश सर्ग में है। कवि एकादश सर्ग में साकेत के राजपरिवार के उदासीन जीवन की एक झांकी दिखाता है। इसके पश्चात् शत्रुघ्न और हनुमान अयोध्याकाण्ड के पश्चात् की समस्त घटनाओं का वर्णन करते हैं। लक्ष्मण को शक्ति लगने तक की सूचनायें देते हैं। अत: इस सर्ग की समस्त कथा सूच्य है। घटनाओं का अप्रत्यक्ष वर्णन है। एकादश सर्ग में रामकथा ही मुख्य है। फिर द्वादश सर्ग में साकेत की रण-सज्जा से प्रारम्भ होता है। इसमें मेघनाद-वध, राम के प्रत्यागमन और उर्मिला-लक्ष्मण के पुनर्मिलन का चित्र है। इस सर्ग की समस्त घटनाओं का वर्णन प्रत्यक्ष है। इसमें कथा-प्रवाह तीव्र है। एकादश सर्ग और द्वादश सर्ग में कवि ने राम-कथा की चौदह वर्ष की घटनाओं का वर्णन करके अपनी प्रबंध कुशलता का परिचय दिया है, जबकि प्रथम आठ सर्गों में कुछ ही दिनों की घटनाएं हैं। इस दृष्टि से साकेत का वस्तु शिल्प- आदि, मध्य और अन्त ठीक नहीं है। उनमें संतुलन नहीं है। प्रथम आठ सर्गों में केवल अयोध्याकाण्ड की कथा विस्तार के साथ दी गई है। इन आठों सर्गों में प्रबंधात्मकता है। परन्तु नवम सर्ग में कथा विशृंखलित हो गई है। इसमें केवल भावात्मक विरहवेदना का ही वर्णन है। दशम सर्ग में जो कथा है वह केवल स्मरण मात्र है। एकादश सर्ग में और द्वादश सर्ग में चौदह वर्षों की लम्बी अवधि की कथा अत्यन्त वेगपूर्ण है। इस प्रकार यद्यपि 'साकेत' की मुख्य कथा, उर्मिला लक्ष्मण की कथा सानुबंध है, उसमें पूर्वापर सम्बन्ध भी है और वर्णनात्मकता भी सफल है परन्तु इस कथा में सुनियोजन नहीं है, और सुगठित भी नहीं है। परन्तु 'साकेत' के अन्य काव्य-गुणों के समक्ष सदोष वस्तु-शिल्प की स्थिति महत्व न पा सकी।[2]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४१७ (प्रथम संस्करण, सन् १९६०, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)
२. आधुनिक साहित्य - आचार्य वाजपेयी, पृ० ५३(सं० २००७,भारती भंडार,प्रयाग

प्रासंगिक कथावस्तु -

महाकाव्यों में अधिकारिक कथावस्तु के साथ-साथ प्रासंगिक वस्तु की भी योजना की जाती है `साकेत` की आधिकारिक कथा लक्ष्मण-उर्मिला की प्रेम-कथा है। इसी कथा के साथ साथ राम-सीता की कथा भी चलती है। राम कथा इतने गौण रूप में नहीं आई है कि उसे प्रासंगिक कथा कहा जाय। इसका कारण यह है कि यद्यपि गुप्त जी ने `उर्मिला` के चरित्र को उभारने के लिए उर्मिला-लक्ष्मण की कथा को ही मुख्यता देना चाहा है, परन्तु राम-भक्त कवि कहीं भी अपने प्रभु को भूलने नहीं पाया है। वह राम के गौरव को ठेस नहीं लगने देना चाहता। इसलिए `साकेत` की कथा में उर्मिला-लक्ष्मण की कथा और रामकथा मिली-मिली सी चलती है। कवि ने दो कथाओं को बिना किसी क्षति के सम्पूर्ण काव्य में निभाया है। दोनों कथाओं के उचित रूप से निर्वाह होने के कारण ही `साकेत` एक महाकाव्य का रूप पा सका अन्यथा केवल लक्ष्मण-उर्मिला की कथा को ही लेने के कारण वह खंडकाव्य मात्र रह जाता। क्योंकि उर्मिला-लक्ष्मण की कथा केवल प्रेम-कथा मात्र होकर रह जाती। राम-कथा के भी आ जाने से `साकेत` महाकाव्य की कोटि में आ गया।

कार्य की दृष्टि से एकरूपता -

प्रबन्धकाव्य का एक निश्चित उद्देश्य या लक्ष्य रहता है, उसे `कार्य` कहा जाता है। इसी कार्य को दृष्टि में रख कर सम्पूर्ण काव्य की रचना होती है। महाकाव्य की सम्पूर्ण कथावस्तु का केन्द्र यही `कार्य` होता है। रामायण और रामचरित मानस का मुख्य कार्य रावण-वध है। परन्तु साकेत का कार्य यह नहीं है। साकेत का मुख्य कार्य लक्ष्मण-उर्मिला मिलन है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है -" साकेत में हम यदि कार्य की ओर दृष्टि-पात करें तो उसे सहज ही ढूंढ निकालना कठिन होगा। रामायण का मुख्य कार्य है रावण-वध, परन्तु वह साकेत में भी उसी स्थान का अधिकारी है, यह मानने में आपत्ति होगी क्योंकि साकेत का रंगस्थल है अयोध्या, और उर्मिला

विरह की उसकी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। अतः उसका कार्य उर्मिला लक्ष्मण मिलन है,"[१] साकेत का कार्य है चौदह वर्ष उपरान्त विरहिणी उर्मिला का लक्ष्मण से मिलन। इस कार्य की सहायक घटनाएं हैं मेघनाद-वध, और चौदह वर्षों के वनवास के पश्चात राम का अयोध्या लौटना। वास्तव में साकेत घटनात्मक रचना तो है नहीं वरन वह चरित्र प्रधान काव्य है। सभी घटनाएं उर्मिला के चरित्र को उभारने के लिए सहायक होती हैं। इसी प्रकार साकेत के सभी पात्र भी उर्मिला के चरित्र-विकास में सहायक होते हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने सभी घटनाओं को नायिका के व्यक्तित्व द्वारा बड़े ही भाव-पूर्ण ढंग से अन्वित किया है। उसमें प्रयत्न अवश्य है परन्तु कृत्रिमता नहीं है। सभी घटनाएं उर्मिला के चरित्र पर घात-प्रतिघात करती हैं — उसके वियोग की करुणा को और त्याग की महत्ता को स्पष्ट करती हैं। साकेत के पात्रों में कोई भी ऐसा नहीं है जो उसके चरित्र पर किसी न किसी अंश में प्रकाश न डालता हो। राम-सीता, दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, माण्डवी, भरत, साकेत-वासी और लक्ष्मण सभी के मुख उसकी गौरव-गरिमा अथवा करुण दशा से आपूर्ण हैं —"[२] कवि के उर्मिला के चारित्रिक संगठन के कारण इस काव्य के कार्य की अन्विति हुई है।

कार्यावस्था की दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साकेत की रचना प्राचीन महाकाव्यों के आधार पर नहीं की गई है। अतः साकेत में नाट्य संधियों का विनियोग भी उस प्रकार का नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कार्यावस्थाएं दिखती ही नहीं। डा० नगेन्द्र ने साकेत में काव्य-व्यापार की अवस्थाएं इस प्रकार दिखलाई हैं —" शूर्पणखा के प्रसंग से ही

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ७,८ (द्वादश संस्करण, प्रका० साहित्यरत्न भण्डार, आगरा)

२. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १७-१८ ,, ,,

प्राप्त्याशा आरंभ हो जाती है, और लक्ष्मण की मूर्च्छा भंग होते ही नियताप्ति समझनी चाहिये । आगे मेघनाद के वध से रावण और उसके साथ ही उर्मिला लक्ष्मण का मिलन निश्चित होता है । तब फिर कार्य सिद्ध हो जाता है ।"[१] इस प्रकार कार्यावस्थाओं का विवरण मिल जाता है । यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त ने प्राचीन परिपाटी को लेकर इस काव्य की रचना की ही नहीं है ।

साकेत की कथावस्तु –

किसी भी साहित्यिक कृति के कथानक को वस्तु या कथावस्तु कहा जाता है । महाकाव्य एक कथा-काव्य होता है । अत: वस्तु उसका एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग है । प्राचीन धारणा के अनुसार महाकाव्य की वस्तु को ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होना चाहिये । आधुनिक विद्वानों का मत है कि महाकाव्य में सुसंघटित जीवंत कथानक हो ।[२] साकेत आधुनिक मान्यताओं के अनुसार रचा हुआ महाकाव्य है । प्राचीन मान्यताओं को कवि ने महत्व नहीं दिया है । 'साकेत' की कथावस्तु , जैसा कि हम देख चुके हैं सुसंघटित नहीं है, परन्तु वह जीवंत अवश्य है । इसमें मानवता के उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा कीगई है, साथ ही उर्मिला-लक्ष्मण की कथा के साथ साथ चिर-परिचित गौरवपूर्ण रामकथा का भी समावेश है । रामायण की यह कथा सहस्त्रों वर्ष उपरान्त भी आज भारतीय जनमानसपर प्रभाव डालने वाली है । अत: साकेत की कथा पर्याप्त महत्वपूर्ण है और महाकाव्य के अनुरूप है । महाकाव्य की वस्तु विस्तृत भी होनी चाहिये और महान् भी होनी चाहिये । 'साकेत' की वस्तु, भारतवर्ष में शताब्दियों से गाई जा रही है । तथा प्रत्येक युग में समय, विश्वासों और मान्यताओं की विभिन्नता के कारण उसमें पर्याप्त परिवर्तन भी होता आया है । गुप्त जी ने भी राम कथा में पर्याप्त परिवर्तन किया है । साकेत

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १७-१८, द्वादश संस्क०,सा०र०भं०,आगरा
२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० ११० ,
(द्वितीयावृत्ति सन् १९६२ प्रका०, ओमप्रकाश बेरी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी).

में मुख्य कथा के रूप में लक्ष्मण उर्मिला की कथा को लेना और साथ में राम-कथा का भी निर्वाह करना कवि की मौलिकता है। इस प्रकार दो कथाओं को समानान्तर चलाने से वस्तु अत्यन्त विशद एवं विशाल हो गई है। साथ ही कथानक जटिल हो गया है परन्तु कवि ने बराबर अपने लक्ष्य की रक्षा की है। उर्मिला के चरित्र की प्रमुखता को अक्षुण्ण बनाए रखा है और लक्ष्मण की अपने आराध्य राम के महत्त्व को भी कम नहीं होने दिया है।

'साकेत' की कथावस्तु के एक दोष की ओर अनेक विद्वानों ने संकेत किया है दोष यह है कि कवि ने रामायण के उपेक्षित विस्मृत और त्यक्त प्रसंगों और पात्रों तथा कार्य व्यापारों पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। अतएव रामायण का जो महान् कार्य है उसकी योजना साकेत में नहीं हो सकी है। कवि का ध्येय उपेक्षित पात्रों और प्रसंगों को उभारने का ही था और साथ ही सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन करना भी था। अतएव दोनों ध्येयों के निर्वाह करने में कथानक का संतुलन बिगड़ जाता है। डा० शम्भूनाथ सिंह का मत है कि इस प्रयत्न में कथानक का संतुलन बिगड़ गया। साकेत का वस्तु-विन्यास न सुगठित रह सका, न फल प्राप्ति की ओर उत्तरोत्तर विकसित हो सका। उसमें रसानुरूप सन्धियों और कार्यावस्थाओं की योजना नहीं की गई।[1] श्री गिरीश,[2] और डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी[3] ने भी साकेत की इस त्रुटि पर टिप्पणी की है। वास्तविकता भी यही है कि साकेत की कथावस्तु असंतुलित और अव्यवस्थित है। परन्तु जिन कारणों से साकेत की वस्तु में यह त्रुटि आई है, उन्हीं कारणों से साकेत की वस्तु में यह मौलिकता भी आई है।" निश्चय ही उसकी कथावस्तु असंतुलित और अव्यवस्थित है, पर उसमें नवीनता और आधुनिकता भी इसी कारण है।"[4] 'साकेत' में साकेतकार ने

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास- डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० ६९८-६९९
२. गुप्त जी की काव्य धारा, श्री गिरीश, पृ० १८६-२३३ चतुर्थ संस्क० प्रका० ज्ञान विकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग,
३. गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा, पृ० ६०-६१, प्रथम सं० १९४१, प्रका० पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, पटना
४. मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त, पाठक, पृ०४२१

पद्धतियों का पालन नहीं किया है । उन्होंने राम-कथा काव्य के तिरस्कृत और उपेक्षित पात्रों और घटनाओं को उचित महत्व देने के लिए ही साकेत का निर्माण किया है परन्तु वे एक सहृदय राम-भक्त भी थे, अतएव रामकथा की भी अवज्ञा नहीं कर सके हैं —इसी कारण साकेत की वस्तु में असंतुलन अवश्य आ गया है परन्तु घटनाओं की शृंखलाएं टूटने नहीं पाई हैं । स्वयं गुप्त जी के शब्दों में " यद्यपि मेरी सहानुभूति उर्मिला के साथ बहुत थी फिर भी मेरी श्रद्धा और पात्रों को न छोड़ सकी ..... इनके विषय में मुझे अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रगट करनी थी ।"[1] इस प्रकार गुप्त जी ने सभी पात्रों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की और इसी कारण कथा के संतुलन का ध्यान न रहा । 'साकेत' के प्रत्येक सर्ग के विवरण को देखने से उसकी विशेषताएं स्पष्ट हो जायेंगी ।

'साकेत' की कथावस्तु लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम पर आधारित है । इसे प्रेम-कथा कहा जा सकता है । लक्ष्मण-उर्मिला के संयोगावस्था के वाग्विनोद और हास-परिहास तथा विरहावस्था के करुण चित्र का बड़ा ही सजीव चित्रण साकेत में हुआ है । साकेत के प्रथम सर्ग का आरम्भ सरस्वती वंदना से होता है । यथा —

" अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे,
इधर भी निज वरद-पाणि पसार दे ।
दास की यह देह-तन्त्री तार दे,
रोम-तारों में नई झंकार दे ।"[2]

सरस्वती वंदना के साथ ही साथ कवि राम, लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न की युगलमूर्तियों, अयोध्या और समस्त भारतवर्ष के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है — यथा :—

" राम-सीता, धन्य धीराम्बर-इला,
शौर्य- सहस्सम्पत्ति, लक्ष्मण-उर्मिला ।

---

१. साकेत एक अध्ययन, गुप्त जी के पत्र का उद्धरण, पृ० १६ (द्वादश संस्करण प्रका० साहित्यरत्न भण्डार, आगरा)

२. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० १७

भरत कर्ता, माण्डवी उनकी क्रिया,
कीर्ति-सी श्रुतिकीर्ति शत्रुघ्नप्रिया ।
ब्रह्म की हैं चार जैसी मूर्तियाँ,
ठीक वैसी चार माया-मूर्तियाँ ।
धन्य दशरथ - जनक- पुण्योत्कर्ष हैं,
धन्य भगवद्भूमि भारतवर्ष है ।"[1]

राम,लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न के परिवार का इस प्रकार वर्णन करता हुआ कवि इस परिवार के जीवनोद्देश्य को स्पष्ट करता है । यथा —

" पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को,
सफल करने के लिए जन दृष्टियाँ
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ ।"[2]

इस प्रकार कवि अयोध्या, राजप्रासाद, सरयू नदी, साकेतवासी आदि का वर्णन करते हुए उर्मिला का परिचय देता है । कवि उर्मिला का परिचय देने के लिए प्रभात की पृष्ठभूमि दिखाता है —

" खुल गया प्राची दिशा का द्वार है,
गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है ।
पूर्व के ही भाग्य का यह भाग है,
या नियति का राग-पूर्ण सुहाग है ।"[3]

प्रभात की इस बेला में उर्मिला मूर्तिमती उषा का सा आभास देती है । कवि उर्मिला का बड़ा ही रमणीक चित्र खींचता है —

---

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० १८,१९

२. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० १८

३. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ०२६

" अरुण पट पहने हुए आह्लाद मैं,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद मैं ?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजैला कर रहीं ।"[१]

उर्मिला कै शील-सौंदर्य के चित्र को अंकित करने कै पश्चात लक्ष्मण का आगमन होता है, और फिर उर्मिला लक्ष्मण के प्रेम और उनके सुखमय जीवन की अनेक मधुर झांकियों के चित्र कवि ने अंकित किये हैं । सम्पूर्ण प्र सर्ग मैं उर्मिला-लक्ष्मण के आत्मसमर्पण और संतुष्ट दाम्पत्य जीवन का वर्ण है । गुप्त जी की उर्मिला प्राचीन नायिकाओं की भांति मौन रहने वाली अथवा वाक्चातुरी से हीन नहीं है । वह लक्ष्मण से वाग्विनोद करती हुई हर्षोल्लसित दिखाई पड़ती है । लक्ष्मण के यह कहने पर कि —

" धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,
मोहिनी सी मूर्ति, मंजु-मनोज्ञता ।
धन्य जो इस योग्यता के पास हूं,
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूं ।"[२]

उर्मिला कहती है —

" दास बनने का बहाना किसलिये ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिये ?
दैव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और दैवी ही मुझे रक्खो, अहो ।"[३]

प्रथम सर्ग में गुप्त जी ने लक्ष्मण और उर्मिला के प्रेम, प्रणय और विलास के चित्र मैं रम से जाते हैं । लक्ष्मण उर्मिला के इस विनोद मैं 'बीत जाता एक युग पल-सा वहां' । परन्तु इस वर्णन मैं कहीं कहीं शृंगारिक अमर्यादा के भी

---

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० २९
२. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० ३०
३. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० ३०

दर्शन हो जाते हैं।" गुप्त जी ने लक्ष्मण के प्रेम को उपस्थापित करने के प्रसंग में उपासक्ति में परिणत ही नहीं किया वरन् उसकी शरीरी भी बनाया है। इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं, पर यह शृंगारिक अमर्यादा का उदाहरण तो है ही।"[1] कवि एक स्थल पर लक्ष्मण की उपासक्ति का वर्णन करता हुआ कहता है —

" हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले — " एक परिरम्भण प्रिये।"
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।"[2]

सच तो यह है कि ऐसे चित्रों के द्वारा कवि ने उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम की एक ऐसी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है कि जिसके कारण नवम सर्ग में उर्मिला का विरह वर्णन इतना प्रभावोत्पादक हो सका है। यदि प्रथम सर्ग में लक्ष्मण की रसिकता और आत्मसमर्पण तथा उर्मिला का वाग्वैभव न वर्णित होता तो संभवत: नवम सर्ग का विरह वर्णन भी अपेक्षाकृत कम प्रभावोत्पादक हो जाता।

इसी प्रथम सर्ग में कवि लक्ष्मण के द्वारा " कल प्रिये निज आर्य का अभिषेक है" कहलाकर कथा का प्रारम्भ कर देता है। लक्ष्मण भावी राम-राज्य की कल्पना करके कहते हैं —

" राम राज्य विधान होने जा रहा,
भूत पर पावन नया युग आ रहा।
अब नया घर-वेश होगा आर्य का,
और साधन धर्म-कुल के कार्य का।
व्रत सफल होंगे हमारे शीघ्र ही,
सिद्ध होंगे सुकृत सारे शीघ्र ही।"[3]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ५२२
(प्रथम सं० १९६०, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)

इस प्रकार कवि साकेत की वस्तु का सूत्रपात प्रथम सर्ग में ही कर देता है ।

द्वितीय सर्ग से कवि अयोध्याकाण्ड की समस्त घटनाओं का वर्णन प्रारम्भ कर देता है । अयोध्याकाण्ड की समस्त घटनाएं साकेत के सप्तम-सर्ग तक चलती हैं । इस द्वितीय सर्ग में कैकेयी के मन में मंथरा संदेह का बीजारोपण करती है । वह भरत के ननिहाल से न बुलाए जाने के कारण भी शंका जगाती है और कैकेयी को भड़काती है । वह कहती है -

" भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य ।
भरत- से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।"[१]

अन्त में कैकेयी एकाएक मंथरा की बात पर विश्वास नहीं करती और उससे 'दूर हो दूर अभी निर्बोध' कह कर सामने से हट जाने के लिए कहती है । परन्तु 'गई दासी, पर उसकी बात, दे गई मानो कुछ आघात' । और कैकेयी के मन में बार बार मंथरा की बात ही चक्कर काट रही थी -

' भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।
गूंजते थे रानी के कान ,
तीर-सी लगती थी वह तान -'[२]

कैकेयी के मन में संदेह का बीजारोपण हो जाता है । यहां गुप्त जी ने तुलसी की भांति' अजस फटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि' कह कर कैकेयी की मति को नहीं फेरा है । गुप्त जी ने कैकेयी के मन में संदेह का बीजारोपण बड़े मनोवैज्ञानिक रूप से किया है । उसकी मन:स्थिति का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाया है । इस द्वितीय सर्ग में अयोध्या के राज परिवार के सभी पात्रों का चित्रण बड़ी ही विविधता के साथ हुआ है । एक ओर राम के राज्याभिषेक की प्रसन्नता में डूबती उतराती कौशल्या

---

१. साकेत द्वितीय सर्ग, पृ० ४७
२. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ४९

सीता का प्रसाधन करती हुई युवराज्ञी के योग्य उपदेश दे रही थीं । यथा—

> " इधर माता कौशल्या मग्न,
> सजाकर पट आभूषण एक-
> वधू को युवराज्ञी के योग्य,
> दे रही थीं उपदेश अनेक ।"[1]

लक्ष्मण दूसरी ओर भरत की अनुपस्थिति की चर्चा करते हुए उर्मिला से कहते हैं —

> " बताते थे लक्ष्मण वह भेद
> कि " इसका है हम सबको खेद ।
> किन्तु अवसर था इतना अल्प,
> न आ सकते वे शुभ संकल्प ।
> परे थी और न ऐसी लग्न ,
> पिता भी थे आतुरता-मग्न ।
> चलो, अविभिन्न भावों की मूर्ति
> करेगी भरत - भाव की पूर्ति ।"[2]

तीसरी ओर राम "पिता का निकट देख वनवास , हो रहे थे वे आप उदास" ।
इसी समय सीता के पूछने पर कि —

> " अभी तक चारों भाई साथ-
> भोगते थे तुम सम-सुख-भोग ,
> व्यवस्था मेट रही वह योग ।
> भिन्न सा करके कौशलराज -
> राज्य देते हैं तुमको आज ।
> तुम्हें रुचता है यह अधिकार ?"[3]

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ५४
२. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ५५,५६
३. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ५७

राम कहते हैं कि राज्य भोग की वस्तु नहीं वह तो भार ही है —
" राज्य है प्रिये, भोग या भार ?"

चौथी और राजा दशरथ मुनि वशिष्ठ से भरत के विषय में वार्तालाप करते हुए यह समझते हैं कि मुनि-शाप के फलस्वरूप ही उन्हें भरत का वियोग मिला है। और पांचवीं और कैकेयी के प्राणों में अंगारा का मंत्र गूंज रहा है और कवि गुप्त जी उसके विकराल रूप का वर्णन करते हैं —

" अंत में सारे अंग समेट
गई वह वहीं भूमि पर लेट ।
छोड़ती थी जब तब हुंकार,
चुटीली फणिनी-सी फुंकार ।"[1]

राजा दशरथ कैकेयी के क्रोध से व्याकुल होकर उसे भाँति भाँति से मनाना प्रारंभ करते हैं, और दो वरदानों के देने का अपना वचन भी याद दिलाते हैं

" तुम्हें पहले ही दो वरदान
प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान ?

यहां पर स्वयं दशरथ के द्वारा इन वरदानों का स्मरण दिलाने से कैकेयी के चरित्र की कलुषता में थोड़ी कमी सी आ जाती है साथ ही राजा दशरथ का चरित्र और ऊँचे उठ जाता है। इसके पश्चात् सर्गान्त में कैकेयी अपने दोनों वरदानों को मांगते हुए कहती है — " नाथ मुझको दो यह वर एक-
भरत का करो राज्य अभिषेक ।
दूसरा, सुन लो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष राम-वन-वास ।"

कैकेयी के वचनों को सुनकर दशरथ का विश्वास ही डगमगा जाता है —

" दैव, यह सपना है कि प्रतीति ?
यही है नर-नारी की प्रीति ?
किसी को न दें कभी वर देव ,
वचन देना छोड़ें नर-देव ।

---

१ साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ५६

> दान में दुरुपयोग का त्रास
> किया जावे किसका विश्वास ?"[१]

इस द्वितीय सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण प्रधान पात्र हैं। इसमें रामकथा ही मुख्य है।

तृतीय सर्ग में राम और लक्ष्मण कैकेयी और राजा दशरथ के सामने उपस्थित होते हैं। राजा की दशा 'विकट संकटमयी थी' और 'नियति सी पास बैठी कैकेयी थी।' वातावरण एकदम क्षुब्ध था। दशरथ बार-बार 'हाराम' कह कर चिल्ला उठते थे। इस अवसर पर राम का रूप बड़ा ही सौम्य है और लक्ष्मण उग्र और वाचाल। राम कैकेयी से पिता के दुःख का कारण जानना चाहते हैं —

> " देवि ! यह क्या है, सुनूं मैं
> कुसुम सम तात के कंटक चुनूं मैं।"

तब कैकेयी उत्तर देती है —

> " सुनो हे राम ! कण्टक आप हूं मैं,
> कहूं क्या और बस चुपचाप हूं मैं।"

राम इस उत्तर के आघात को सुन कर चुप रहे, यह राम की उच्चाशयता है। परन्तु लक्ष्मण उग्र हो उठते हैं और कहते हैं —

> " ——— " मां चुप हुई क्यों ?
> चुभाती चित्त में हो सुई क्यों ?
> न हो कंटक पिता के हेतु, मानो,
> हमें पितृ-भक्त मार्ग-सुत्य जानो।"[२]

यहां राम धीर, गंभीर और पितृभक्त हैं, लक्ष्मण वाचाल, उग्र और चपल हैं। राजा दशरथ वात्सल्य से पूर्ण हैं। वे राम से स्वयं को कहते हैं कि उनका आदेश न माना जाय। लक्ष्मण का भ्रात प्रेम इतना उत्कृष्ट है कि वे

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ६४-६५
२. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७२

राम के सुहृद, सहचर, सचिव, सेवक सभी "[1] बन जाते हैं। लक्ष्मण का भ्रात-प्रेम इतनी प्रमुखता पा जाता है कि उनका पितृ-प्रेम उसके पीछे छिप सा जाता है। उनकी हार्दिक कोमलता और प्रेम भावना मुख्य रूप से ऊर्मिला और राम के प्रति ही दिखाई देती है। लक्ष्मण कैकेयी को तो दोषी समझते ही हैं, साथ ही वे राजा दशरथ को भी क्षमा नहीं कर पाते। वे पिता को कैकेयी का दास समझते हैं। यथा —

" खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह !
अनार्यों की जनी हतभागिनी यह।
अभी विषदंत इसके तोड़ दूँगा।
न रोको तुम तभी मैं शांत हूँगा।
बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से दे रहे वनवास हैं जो,
पिता हैं वे हमारे —या कहूँ क्या ?
कहो हे आर्य, फिर भी चुप रहूँ क्या ?"[2]

इस सर्ग में भरत के चरित्र की उज्ज्वलता पर भी प्रकाश पड़ा है। लक्ष्मण भरत के लिए कैकेयी से कहते हैं —

" भरत होकर यहाँ क्या आज करते -
स्वयं ही लाज से वे डूब मरते।
तुम्हें कुल-भक्षिणी साँपिन समझते,
निशा को मुँह छिपाके, दिन समझते।"[3]

सर्गान्त में सुमंत्र यह शंका प्रकट करते हैं कि इस राज्य को क्या भरत भोगेंगे ?

" भरत दशरथ पिता के पुत्र होकर -
न लेंगे फेर देंगे राज्य रोकर।"[3]

अंत में राम और लक्ष्मण कौशल्या से मिलने चल पड़ते हैं। इस सर्ग में भी

---

१. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७७
२. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७८-७९
३. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ८०

उर्मिला और लक्ष्मण अप्रधान पात्र हैं। रामकथा ही प्रमुख प्रतीत होती है।

चतुर्थ सर्ग का आरंभ देवार्चन में लगी हुई, मूर्तिमयी ममता माया, कौसल्या के पास खड़ी जनकसुता के चित्र से होता है। सीता सास की पूजा की सभी सामग्री ला-लाकर दे रही थीं। इसी समय राम-लक्ष्मण माता से वन-गमन की आज्ञा माँगते हैं। माता उन्हें देखते ही प्रसन्नता से कह उठती हैं — " जियो, जियो, बेटा ! आओ, पूजा का प्रसाद पाओ।" और लक्ष्मण सोच में पड़ जाते हैं कि जाने देंगी ये वन में ?। राम के द्वारा इनके वन गमन की बात सुनकर एकाएक कौशल्या उस पर विश्वास नहीं करतीं। परन्तु लक्ष्मण को रोता देखकर वे भयभीत हो जाती हैं। लक्ष्मण के ही द्वारा उन्हें मालूम पड़ता है कि इस बात के पीछे कैकेयी है। परन्तु फिर भी कौशल्या के मन में कोई द्वेष का भाव जागृत नहीं होता बस वह यही कहती हैं —

" समझ गई मैं समझ गई,
कैकेयी की नीति नई।
मुझे राज्य का खेद नहीं,
राम-भरत में भेद नहीं।
मँझली बहन राज्य लेवें,
उसे भरत को दे देवें,
पुत्र स्नेह धन्य उनका
दृढ़ है हृदय जन्य उनका।
मुझे राज्य की चाह नहीं,
उस पर कुछ भी डाह नहीं।
मेरा राम न वन जावे,
यहीं कहीं रहने पावे।" [१]

कौशल्या के मातृहृदय की यह करुण पुकार है। वह राज्य नहीं चाहतीं, परन्तु राम को वन भी नहीं भेजना चाहतीं। वे कैकेयी से राम की भिक्षा माँगना चाहती हैं —

---

१ साकेत चतुर्थ सर्ग, पृ० १००

" उनके पैर पड़ूँगी मैं,
कह कर यही अड़ूँगी मैं ।"[१]

उनका वात्सल्य ममाहित है । फिर भी वे कहती हैं —

" भरत राज्य की जड़ न हिले,
मुझे राम की भीख मिले ।"[२]

राम जननी की यह बात समाप्त ही होती है कि एकाएक नई वाणी गूँजती है और सुमित्रा उर्मिला के साथ " नहीं, नहीं, यह कभी नहीं, दैन्य विषय बस रहे यहीं " कहती हुई प्रवेश करती हैं । सुमित्रा का स्वाभिमान गर्जन कर उठता है वे कहती हैं —

" स्वत्वों की भिक्षा कैसी ?
दूर रहे इच्छा ऐसी ।
उर में अपना रक्त बहे ,
आर्य भाव उद्दीप्त रहे ।
पाकर वंशोचित शिक्षा —
मागैंगी हम क्यों भिक्षा ?
हम पर-भाग नहीं लेंगी
अपना त्याग नहीं देंगी ।"[३]

सुमित्रा अन्याय का विरोध करती हैं । परन्तु राम फिर भी पुत्र-धर्म के पालन को श्रेष्ठ समझते हैं और कहते हैं —

" माँ ने पुत्र-वृद्धि चाही,
नृप ने सत्य-सिद्धि चाही ।
मझली माँ पर कोप करूँ ?
पुत्र धर्म का लोप करूँ ?"[४]

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग पृ० १००
२. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० १००
३. साकेत चतुर्थ सर्ग, पृ० १०१-१०२
४. साकेत , चतुर्थसर्ग, पृ० १०४

राम के इस कथन से सीता प्रसन्न ही होती हैं —

" सीता ने सोचा मन में -
स्वर्ग बनेगा अब वन में,
धर्मचारिणी हूँगी मैं
वन विहारिणी हूँगी मैं ।"[१]

इस अवसर पर उर्मिला की वेदना विवशता में जकड़ उठी है । लक्ष्मण के हृदय में स्थित उर्मिला पूछ रही थी — " मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ? हाय और क्या आज कहूँ ?" लक्ष्मण व्याकुल हो उठते हैं । वे कहते हैं —

" रहो, रहो, हे प्रिये रहो ।
यह भी मेरे लिए सहो ,
और अधिक क्या कहूँ, कहो ?"[२]

यह विवशता ही थी जिसके कारण —

लक्ष्मण हुए वियोग जयी,
और उर्मिला प्रेम मयी ?
वह भी सब कुछ जान गई ,
विवश भाव से मान गई ।"[३]

लक्ष्मण उर्मिला को घर ही पर छोड़ कर स्वयं राम के साथ जाना चाहते हैं । और लक्ष्मण को राम के साथ भेजने का प्रस्ताव स्वयं सुमित्रा करती है । उर्मिला विवश होकर विरह-व्यथा को सहती हुई पति के कर्तव्यपथ में बाधक नहीं होती । वह अपने विरही मन को भाँति-भाँति से प्रबोधती है । सीता उर्मिला के कष्ट का अनुभव करती हुई कहती है —" आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा ।"[४] उर्मिला का त्याग और प्रेम अपूर्व

---

१. साकेत, चतुर्थसर्ग, पृ० १०५
२. ,, ,, १०६
३. ,, ,, १०६
४. साकेत, सर्ग चतुर्थ, पृ०१२१

.... है । सीता के समान ही राम भी लक्ष्मण से कहते हैं -" लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही, मैं वन में भी रहा गृही ।"[१] सुमंत्र वन-गमन का विरोध करते हैं । वे प्रजा की भावना तथा दशरथ की स्पृहा की आड़ लेते हुए राम के वन-गमन का विरोध करते हैं परन्तु राम और सीता वनगमन के लिए वल्कल वेष धारण करके तत्पर हो जाते हैं । सीता" पति ही पत्नी की गति है" कह कर पत्नीधर्म का पालन करने के लिए तत्पर दिखाई पड़ती है । उर्मिला सीता की यह बात सुन कर मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती है । इस सर्ग में भी उर्मिला और लक्ष्मण अप्रधान पात्र हैं । द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सर्गों में उर्मिला की परिस्थिति की भूमिका सी तैयार की गई है ।

साकेत के पंचम सर्ग में राम के वन गमन का वर्णन हुआ है । राम को वन जाते देख कर नर-नारियाँ अश्रुओं की वर्षा करने लगे और -

" जहाँ हमारे राम, वहीं हम जायेंगे,
वन में ही नव-नगर-निवास बनायेंगे ।
ईंटें पर अब करें भरत शासन यहाँ ।"
जन समूह ने किया महा कलरव वहाँ ।"[१]

इससे राम का जनप्रिय होना भी सिद्ध होता है । राम को लोक-नायक का रूप भी दिया गया है । यह साकेत की आधुनिकता है, पर इसे साकेत की ऊपरी और कृत्रिम आधुनिकता भी कहा गया है । आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार" "साकेत" काव्य की इस वास्तविक आधुनिकता के साथ साथ उसमें ऊपरी और कृत्रिम आधुनिकता के भी उल्लेख मिलते हैं । ऐसा ज्ञात होता है कि कवि इन प्रलोभनों से बच नहीं सका है । एक स्थान पर अयोध्या से राम के विदा होते समय जनता द्वारा रास्ता रोक कर खड़े होने और भद्र अवज्ञा करने का दृश्य है ।"[२] गुप्त जी ने इस समय राम को अपना चरित्रादर्श वर्णित

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १२७
२. आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी

करने का भी अवसर लिया है। राम कथा के लिए यह भी नवीन वस्तु है। राम अयोध्या वासियों को समझाते हुए कहते हैं —

" उठो प्रजा-जन, उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?

x x

मैं स्वधर्म से विमुख नहीं हूँगा कभी,
इसीलिए तुम मुझे चाहते हो सभी।"[1]

राम के समझाने पर अयोध्यावासी मार्ग दे देते हैं और राम साकेत की सीमा पर जाकर मातृभूमि की वंदना करते हैं।

" हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नर-लोक में,
शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमि के ओक में।
यहीं हमारे नाभि-कंज की नाल है,
विधि-विधान की सृष्टि यहीं सुविशाल है।"[2]

निषादराज को गुप्त जी ने आधुनिक राम-भक्त और राम-सेवक के रूप में चित्रित किया है। गुहराज का दर्शन कवि इस प्रकार करवाता है —

" प्रभु आए हैं, समाचार सुनकर नया,
भेंट लिये गुहराज सपरिकर आ गया।"[3]

राम ने निषादराज को उचित समादर दिया जिससे निषाद संकुचित हो जाता है और कहता है —

" रहिए रहिए, उचित नहीं उत्थान यह,
देते हैं श्रीमान किसे बहुमान यह।
मैं अनुगत हूँ, भूल पड़े कहिये कहाँ ?
अपना भृत्या दास समझ रहिए यहाँ।[4]

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १२६
२. ,, पृ० १३४
३. ,, पृ० १३७
४. ,, पृ० १३७

इस समय राम की व्यावहारिकता भी भली भाँति प्रकट हुई है। वे निषाद की दीन और भोली बातों को सुनकर मुग्ध हो जाते हैं और –

" सिर गुह ने हँस उन्हें हँसाकर नत किया,
प्रभु ने तत्क्षण उसे अंक में भर लिया।"[२]

इसी समय गुहराज राम के वल्कल वस्त्रों को देखता है और चौंक जाता है। राम-वनवास का हाल जानकर उस भावुक के अश्रु उमड़ कर बह चले। इसी अवसर पर लक्ष्मण एकान्त में निषादराज को अनासक्ति योग और सांसारिक माया के विषय में उपदेश देते हैं। राम बड़ी कुशलता से सुमंत्र को विदा करते हैं। वे सुमंत्र को सांत्वना देते हुए कहते हैं –

" जाकर मेरा कुशल कहो तुम तात से,
दो सबको संतोष, मिले जिस बात से।
मूल तुल्य तुम रहो, फूल से हम खिलें,
कल बीते यह अवधि और आकर मिलें।
फिर भी ये दिन अधिक नहीं हैं अल्प हैं
काल सिंधु में बिन्दु तुल्य युग-कल्प हैं।"[३]

तत्पश्चात राम लक्ष्मण और सीता गंगा को नौका से पार करते हैं। इस समय तीनों का वाग्विनोद वनवास की गंभीरता और दुःख का विस्मरण करा देता है। हास्य के वातावरण में राम का मानवीय रूप दिखाई पड़ता है। फिर गंगा तट से चित्रकूट तक राम सीता और लक्ष्मण पद यात्रा करते हैं। मार्ग में ग्राम वधुएँ सीता से लक्ष्मण और राम का परिचय पूछती हैं। सीता बड़ी सरलता से कहती हैं –

" गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।"

इस प्रसंग को तुलसी स्वयं इतना रोचक बना चुके हैं[४] तुलसी की भाँति गुप्तजी

---

२. साकेत पंचम सर्ग, पृ० १३८

३. ,, पृ० १४३

४. कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी ॥१॥

की सीता भी राम का परिचय भारतीय नारी के आदर्शों की रक्षा करते हुए ही देती है। संधीरण्य में जब राम की भरद्वाज मुनि से भेंट होती है, उस समय मुनि भारतीय कुलवधुओं के त्याग और आदर्श की बात करते हैं। यथा —

" पर देती हैं दान न अपने आप को ,
कैसे अनुभव करें आत्म-सन्ताप को ।
वैदेही की बात सदैव विदेहिनी,
वन में भी प्रिय-संग सुखी कुल-गेहिनी ।"[1]

राम सीता और लक्ष्मण की भेंट महामुनि वाल्मीकि से होती है। राम अत्यन्त विनम्रता से वाल्मीकि को प्रणाम करते हैं —

" अहो, दाशरथि राम आज कृतकृत्य है,
करता तुम्हें प्रणाम सपरिकर भृत्य है।"[2]

राम के विनत भाव का उचित स्वागत करते हुए वाल्मीकि कह उठते हैं —

" राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है ,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है ।[3]

राम के चित्रकूट आ जाने पर वहाँ के वनचारी राम के भक्त हो जाते हैं। उनका स्वागत करते हुए वे आत्मविभोर हो उठते हैं —

पिछले पृष्ठ का अवशेष —

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी ।।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी । बोली मधुर बचन पिक बैनी ।।२।।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखनु लघु देवर मोरे ।।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।३।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ।।
भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं । रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ।।४।।

—रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड ।

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १५०
२. ,, पृ० १५६
३. ,, पृ० १५६

" लेकर पवित्र नेत्रनीर रघुवीर धीर,
वन में तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम ,

< <

जंगल में मंगल मनाओ , अपनाओ देश,
शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम ।"[१]

षष्ठम सर्ग का प्रारम्भ सुख-शांति और सौभाग्य से रहित साकेत के अन्दर दुःखातिरेक से विमूर्च्छित विरहिणी उर्मिला के चित्रण से होता है । चतुर्थ सर्ग में ही कवि ने उर्मिला को पति-वियोग की कल्पना से ही मूर्च्छित होते चित्रित किया है । उर्मिला के " कहकर 'हाय' , धड़ाम गिरी , प्रसंग के द्वारा ही कवि ने उसके जिस विरह का सूत्रपात कर दिया है, वह विरह इस षष्ठ सर्ग में विकसित दिखाई पड़ता है ।

" पुरदेवी-सी यह कौन पड़ी ?
उर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी ,
किन तीक्ष्ण शरों से छिन्न हुई
यह कुमुदती जल भिन्न हुई ?
सीता ने अपना भाग लिया,
पर इसने वह भी त्याग दिया ।"[२]

कह कर कवि उर्मिला के प्रति सहानुभूति ही प्रकट करता है । उसके त्याग, प्रेम और आदर्श की दुहाई देता हुआ, युग-युग से उपेक्षिता इस वियोगिनी के चरित्र का उद्घाटन करता है । गुप्त जी उर्मिला के प्रति अपनी सम्पूर्ण संवेदना व्यक्त करते हैं । विरहिणी उर्मिला विरह की अवस्था में भी पति-प्रेम के अवलम्बन को ही महत्व देती है । यथा —

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १५८

आने का दिन है दूर अभी,
पर है, मुझको अवलम्ब यही ।
आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी ।"[1]

उर्मिला वियोग के क्षणों में भी कर्तव्य का महत्त्व स्वीकार करती है । विरह ने उसे और भी गंभीर बना दिया है । प्रथम सर्ग में जो उर्मिला वाचाल प्रेम-प्रगल्भा है, वही यहाँ शान्त और विरह-विदग्धा हो गई है । राजा दशरथ भी दुःखिनी उर्मिला के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं और स्वयं को ही उसके दुःख का कारण समझते हैं ।

" उर्मिला कहाँ है, हाय बहू !
तू रघुकुल की असहाय बहू !
मैं ही अनर्थ का हेतु हुआ ,
रविकुल में सचमुच केतु " हुआ ।"[2]

पुत्र-वियोग में दशरथ व्याकुल हैं, इसी समय सुमंत्र के लौट आने पर उनकी मनोव्यथा और भी बढ़ जाती है । कवि ने इस समय 'साकेत' को भी राम के वियोग में विरह-विधुरा की भाँति दिखाया है । सारा वातावरण क्षुब्ध है । " हा राम, राम लक्ष्मण सीते" कहते कहते राजा दशरथ का प्राणान्त हो जाता है । सारा राजपरिवार शोकाकुल हो जाता है —

" माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिता ?"
करके पुकार यों शोक-सिता
उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे ,
जा गिरी कैकयी के आगे ।"[3]

---

१. साकेत, षष्ठ सर्ग, पृ० १६४
२ पृ० १६८
३ पृ० १७६

गुप्त जी ने उर्मिला को इस अवसर पर सबसे अधिक दु:खी दिखल है। वह कैकेयी के आगे जा गिरती है। कैकेयी भय और पश्चात्ताप में डू जाती है —

" कैकेयी का मुंह भी न खुला ,
पाषाण-शरीर हिला न डुला ।
बस फट-सी गईं बड़ी आँखें ,
मानों थी नईं बड़ी आँखें ।
रोना उसको उपहास हुआ, निजकृत वैधव्य विकास हुआ ।
तब वह अपने से आप डरी,
गिरा कुसमय में मंथरा मरी ।"[1]

मुनि वशिष्ठ तेल में नृप के शव को रखवा देते हैं और तत्काल भरत को बुला के लिए दूत भेजते हैं।

सप्तम सर्ग में भरत और शत्रुघ्न के लौट कर साकेत आने का वर्ण है। शोकपूर्ण नगरी साकेत को देखकर दोनों भाइयों के मन में भाँति-भाँति की दुश्चिंताएं जागृत होती हैं। राजमहल में पहुंचने पर वे पिता के शव को देखते ही " हा पिता ! कह कर गिर पड़े और 'कैकयी बढ़ मन्थरा के साथ, फेरने उनपर लगी झट हाथ।' कहकर कवि ने कैकेयी की कठोरता पर व्य किया है। भरत पिता मरण तथा राम-वन गमन के पीछे किसी गूढ़ भेद व शंका करते हैं। कैकेयी बड़े साहस के साथ 'वत्स , मेरा भी इसी में सार, जो किया , कर तू उसे स्वीकार' [2] कह कर बतलाती है —

" तो सुनो, वह क्यों हुआ परिणाम-
प्रभु गये सुधाम, वन को राम ।
माँग मैंने ही लिया कुल-केतु ,
राज सिंहासन तुम्हारे हेतु ।" [3]

---

१. साकेत, षष्ठ सर्ग, पृ० १७६
२. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० १६५

भरत और शत्रुघ्न कैकेयी की भर्त्सना करते हैं। कैकेयी अपने पुत्र-प्रेम की दुहाई देती है। परन्तु भरत कैकेयी को फटकारते हुए कहते हैं –

" धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह !
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त,
और नाचे निज दुराशय- दृप्त ।"[१]

गुप्त जी ने भरत का रूप गोस्वामी तुलसीदास के भरत के समान ही रखा है। कौशल्या का उदार रूप दिखाई पड़ता है। कौशल्या भरत को राम के ही समान मानती हैं और पति के साथ सती होने की इच्छा करती हैं । वशिष्ठ मुनि उन्हें उपदेश देते हैं और सहमरण का विरोध करते हैं –

" सहमरण है धर्म से भी ज्येष्ठ
आयुभर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ !
तुम जियो अपना वही व्रत पाल,
धर्म की फल-वृत्ति हो चिरकाल।
सहनकर जीना कठिन है देवि,
सहज मरना एक दिन है देवि !"[२]

समाप्ति में राम को लौटा लाने के लिए भरत चित्रकूट जाने का निश्चय करते हैं। –

अष्टम सर्ग में कवि चित्रकूट की रम्य झाँकी दिखलाता है और राम-सीता के स्वावलम्बी जीवन का चित्रण करता है। सीता ! मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया" गीत गाते हुए अपने जीवनोत्साह को व्यक्त करती हैं। वे कहती हैं –

" औरों के हाथों यहां नहीं पलती हूं,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं।
श्रमवारिबिन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूं,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूं।

---

१. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० १६७
२. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० २१०,२११

तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया में राज्य भवन मन भाया ।"[१]

राम सीता को देखकर संतुष्ट है और मुग्ध हैं । सीता जंगली स्त्रियों को सभ्यता का संदेश देती हैं । वे उन्हें नव्यता, भव्यता और नागर भाव देना चाहती हैं । राम भी अपना जीवनादर्श बतलाते हैं । वे कहते हैं कि मैं आर्यों का आदर्श बताने आया हूं " सुख शान्ति हेतु मैं क्रान्ति, मचाने आया हूं, मैं राज्य भोगने नहीं, भुगाने आया हूं," नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया हूं, मैं स्वर्ग का संदेश नहीं लाया, हूं वरन भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया हूं । समष्टि के लिए व्यष्टि को बलिदान करना चाहिये । राम का जीवनादर्श बहुत महान् है । इस सर्ग में कवि ने राम को अच्छा अवसर दिया है जब कि वे अपना जीवनादर्श स्पष्ट करते हैं —

" राम अपने कृतत्व को भूले नहीं हैं वे कहते हैं —

" निश्चिंत रहें, जो करें भरोसा मेरा
बस मिले प्रेम का मुझे परोसा मेरा"[२]

और — " जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे ।"[३]

तत्पश्चात् लक्ष्मण के द्वारा राम को भरत के ससैन्य आने की सूचना मिलती है । यद्यपि लक्ष्मण इस बात से बहुत उत्तेजित हो रहे हैं परन्तु राम उसमें कुछ भी शंका नहीं करते । राम लक्ष्मण को समझाते हैं और लक्ष्मण राम की बात मान लेते हैं । भरत- आदि के आ जाने पर प्रेम और शोक का सागर सा उमड़ने लगता है । तदनन्तर चित्रकूट में राजपरिवार की सभा बैठ जाती है राम गम्भीर वाणी से कहते हैं" भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना" । भरत आर्त वाणी से अपने को ही दोषी ठहराते हैं । राम उनकी प्रशंसा करते हैं और भरत को रोदन-जल से सींचते हुए कहते हैं —

---

१. साकेत अष्टम सर्ग, पृ० २२३
२. साकेत ,, पृ० २२८
३ ,, ,, पृ० २३५

" उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी भी जान न पाई जिसको ।" [१]

कैकेयी राम से लौट चलने का आग्रह करती है । इस समय कैकेयी पश्चात्ताप की अग्नि में जल रही है । कवि ने उसके चारित्रिक कालुष्यको धोने का प्रयत्न किया है । कैकेयी स्वयं को धिक्कारती है —

" युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा —
धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।" [२]

परन्तु राम कैकेयी को सौबार धन्य मानते हैं —

" सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई ।" [३]

कवि ने पारिवारिक मर्यादा का पूर्ण पालन करवाया है । प्रत्येक पात्र का शील निरूपण देखने योग्य है । कैकेयी एकाएक उर्मिला के प्रति भी सकरुणा हो उठती है । गुप्त जी ने उर्मिला के दुःख को और अधिक गंभीरता देने के लिए तथा कैकेयी के चरित्र के कालुष्य के प्रक्षालन के लिए ही यह प्रसंग रखा है कैकेयी उर्मिला से कहती है —

" रानी, तूने तो रुला दिया पहले ही,
यह कह काँटों पर सुला दिया पहले ही,
आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी, आजा,
पिस मुझसे चंदन-लता मुझी पर छा जा ।" [४]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४७
२. ,, पृ० २४६
३. ,, पृ० २५०
४. ,, पृ० २५६

भरत प्रार्थना करते हैं कि जब तक राम वन में पितृ-आज्ञा का पालन करें तब तक सीता जी घर पर स्वगृहस्थ सँभालें । राम भी इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहते हैं — " भाई अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे ? हमको- तुमको सन्तोष सभी को जिससे ।" किन्तु सीता जी इस प्रस्ताव को अस्वीकृत करते हुए कहती हैं — " पर मुझको भी हो तब न ?" और " हुई कुटिल-सी सरल दृष्टियाँ भोली" । गुप्त जी की सीता तर्कशीला हैं और स्वधर्म को समझने वाली हैं । इस सर्ग में विशेष रूप से नारी पात्रों में सीता और कैकेयी को प्रमुखता मिली है । सर्गान्त में लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन नाटकीय ढंग से होता है । यह क्षणिक मिलन सुख और दुःख का सम्मिलित सा प्रभाव छोड़ जाता है ।

" मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी, तुम्हें तजो भय भारी ।"
गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पद-तल में,
वह भींग उठी प्रिय चरण धरे दृग-जल में ।"[1]

ऐसे चित्रण से लक्ष्मण और उर्मिला का दाम्पत्य प्रेम तो व्यंजित होता ही है, साथ ही उनके त्याग की भावना और भी ऊँची हो जाती है । नारी की महानता व्यंजित करने के कारण लक्ष्मण को उर्मिला के चरणों पर गिरते दिखाया गया है । अन्त में जनक के आगमन की सूचना मात्र दी गई है ।

नवम सर्ग में केवल उर्मिला का विरह वर्णन है । अत: कोई कथा इसमें नहीं है । जिन प्रसंगों की कल्पना की भी गई है वे भी कथा के रूप में नहीं वरन उर्मिला की विरह-व्यथा को और तीव्र बनाते हैं । विरह वेदना उसके जीवन का अंग सी हो गई है, वेदना में ही उसे शान्ति है —

" वेदने तू भी भली बनी ।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।

x x

तुझे तभी छोड़ूँ जब सजनी पाऊँ प्राण-धनी ।"[2]

---

१ साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २६५
२ ,, पृ० २८०

कवि ने इस नवम् सर्ग को बड़े ही मनोयोग से लिखा है। वियोगिनी उर्मिला के विरह व्यथित की विचारधारा में कवि ने स्वच्छन्दता से काम लिया है। लेकिन फिर भी कवि का अनुभव है कि यह अभी भी अधूरा सा है। स्वयं कवि का कथन है -- मैं तो 'साकेत' को कब का पूरा कर चुका था, परन्तु नवम सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार आज भी यह अधूरा है।"[1] नवम सर्ग में कवि ने मुक्त छन्दों और गीतों का प्रयोग किया है। वास्तव में उर्मिला की विरहवेदना को कवि ने विभिन्न छन्दों के माध्यम से प्रकट किया है। महाकाव्य की दृष्टि से ऐसा प्रयोग सदोष नहीं है। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी इसे मान्यता दी है।[2] डा० सहल ने नवम सर्ग के इस नानावृत्तमयी योजना को केवल कवि कौशल ही नहीं वरन मनोवैज्ञानिक उद्भावना भी मानता है।[3] नवम् सर्ग के छोटे छोटे वियोग व्यथा को व्यक्त करने के लिए बड़ेही उपयुक्त हुए हैं।

दशम सर्ग का प्रारम्भ सरयू तट के राजमहल की खिड़की से देखती विरहिणी उर्मिला के चित्र से होता है।

" जल से तट है सटा पड़ा,
तट के ऊपर है अटा खड़ा।
खिड़की पर उर्मिला खड़ी,
मुंह छोटा, अँखियाँ बड़ी बड़ी।
कृशदेह, विभा भरी भरी,
धृति सूखी, स्मृति की हरी हरी।"

उर्मिला तारों को देख-देख कर प्रिय की प्रतीक्षा करता है वह सरयू नदी को अभिसारिका मानकर, उसे अपनी सखी समझ कर अपनी विरह-व्यथा और जीवन का वृत्तान्त सुनाती है --

" सरयू अब क्लान्ति पा रही,
अब भी सागर ओर जा रही।

सखि री, अभिसारिका है यही
जन का जीवन-सार है यही ।"[१]

वह उसे रघुवंश का महत्व बतलाती है । पितृकुल का भी स्मरण करती है और अपनी बाल्यावस्था की घटनाओं का वर्णन करती है । वह सरयू से अपनी बहनों के साथ क्रीड़ा का वर्णन करती है, मिथिलापुर की नदी कमला, सखियां, पुष्पवाटिका, पिता के वात्सल्य आदि का स्मरण करती है । अपनी माता की मन:स्थिति का वर्णन करती है । माता उमा की कथा सुनाती थीं, वही उमा की कथा आज उर्मिला की सान्त्वना हो गई है । यथा

" निज शंकर हेतु शंकरी,
तपती थीं कितनी भयंकरी ।
उनकी शिव-साधना वही,
अयि मेरी यह सान्त्वना रही ।"[२]

इसीप्रकार उर्मिला राम और उनके अनुजों के बाल्यकाल का वर्णन किया है ।

" जननी इस सौध-धाम में,
उनके ही शुभ-सौख्य-काम में,
करती कितने प्रयोग थीं,
रखती व्यंजन-बाल-योग थीं ।
तनुजों पर प्राण वारतीं,
तनु की भी सुध थीं बिसारतीं ।"[३]

तत्पश्चात वे पुष्पवाटिका प्रसंग को छेड़ देती हैं । उन्हें कवि सीता के साथ पुष्पवाटिका में दिखाता है । प्रथम दर्शन से प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है । यह यद्यपि स्वानुभूति का विषय है, परन्तु इसकी स्मृति वियोगाग्नि को और भी प्रज्वलित करने वाली है ।

" तिरछी यह दृष्टि हो उठी,
तकती-सी सब सृष्टि हो उठी ।
मन मोहित-सा विमूढ़ था,
प्रकट कौन रहस्य गूढ़ था ?"[४]

---

१. साकेत दशम सर्ग, पृ० ३४७ २. साकेत दशम सर्ग, पृ०

उर्मिला को लक्ष्मण का स्वप्न दर्शन भी होता है।

" वह स्वप्न कि सत्य कहा कहूँ ?
सरयू, तू वह और मैं वहूँ।
प्रकटी प्रिय-मूर्ति मोहिता,
कब सोई यह दृष्टि रोहिता।"[1]

उर्मिला शंकित थीं कि शायद राम धनुष को चढ़ा न पाएं। परन्तु सीता इस शंका का निवारण कर देती हैं और उर्मिला आश्वस्त हो जाती है।

पहले सोच हुआ यही मुझे -
प्रभु चाप न जो चढ़ा सके ?
उड़ता था मन, अंग थे थके।
तब मैं अति आर्त हो उठी,
धर जीजी-मणि को भिगो उठी।
हंसके कहने लगीं - अरी,
यह तू क्यों इतनी डरी डरी ?"[2]

उर्मिला अपने विवाह-संस्कार का भी स्मरण करती है। वह अपनी माता से वियुक्त होकर अपने श्वसुर के घर में प्रवेश तक का स्मरण करती है। यह वर्णन बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। माता पुत्री का वियोग बड़ा ही करुणापूर्ण है[3]। परन्तु यह वियोग भी प्रिय ने भुलवा दिया था।[4]

इस प्रकार इस सर्ग में राम, सीता और उर्मिला लक्ष्मण के बाल्यकाल के अनेक प्रसंगों की परोक्ष वर्णना हुई है। ये सब प्रसंग उर्मिला-वियोग के उद्दीपन के रूप में ही आए हैं।

---

१. साकेत दशम सर्ग, पृ० २७०
२. ,, पृ० २७४
३. ,, पृ० २८१
४ "बहिनी, वह बात है तुझे, प्रिय ने दुःख भुला दिया मुझे।"

एकादश सर्ग में रामकथा आगे बढ़ती है । भरत के साधु व्यक्तित्व का वर्णन है । माण्डवी, उर्मिला की वियोग व्यथा का चित्रण करती है, और दुःखी राजपरिवार की भी झाँकी दी गई है । कैकेयी तपस्विनी के समान हो गई हैं । शत्रुघ्न राम लक्ष्मण के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन करते हैं । वे पंचवटी प्रसंग तक की घटनाओं का वर्णन करते हैं । तत्पश्चात हनुमान जिन्हें दैत्य समझ कर पृथ्वी पर गिराया गया था, वे सीता हरण से लक्ष्मण को शक्ति लगने तक की घटनाओं का वर्णन करते हैं । कवि ने उर्मिला को प्रधानता देने के लिए लक्ष्मण शक्ति के प्रसंग को अधिक महत्त्व दिया है । साकेत में ही संजीवन बूटी की व्यवस्था की गई है । भरत घायल हनुमान से बतलाते हैं कि संजीवन बूटी यहीं है —

" प्रस्तुत है वह यहीं, उसीसे
प्रियवर, हुआ तुम्हारा त्राण ।"[१]

यह घटना उर्मिला से सबसे अधिक सम्बन्धित है, और इसी को कवि ने प्रमुखता भी दी है ।

द्वादश सर्ग साकेत का अन्तिम सर्ग है । इस सर्ग में भरत तथा राजपरिवार राम की वन-कथा को हनुमान के मुख से सुन कर अत्यधिक व्याकुल हैं । माण्डवी सभी को सँभालती है, सान्त्वना देती है । वह भरत से कहती है — "स्वामी, निज कर्तव्य करो तुम निश्चित मन से, रहो कहीं भी, दूर नहीं होगे इस जन से ।"[२] भरत भी माण्डवी से कहते हैं —

" जाओ, जाओ, प्रिये, सभी को शीघ्र सँभालो,
यह मुख देखें शत्रु, यहाँ तुम देखो-भालो ।"[३]

भरत लंका पर सेना सहित चढ़ाई करने का निश्चय करते हैं और सेना को शत्रुघ्न से भिजवा देते हैं । साकेत वासियों की यह सैन्य-सज्जा साकेत की एक नवीन उद्भावना है इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कथन है — " वास्तव में कवि की राष्ट्र प्रेम में रंगी भावुकता को यह सह्य न हो सका कि राम और लक्ष्मण

---

१. साकेत एकादश सर्ग, पृ० ४१६
२. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ५५१
३. ,, पृ० ५५२

की इस विपत्ति को सुनकर भी उन पर मर मिटने वाले भरत, शत्रुघ्न और साकेत के प्रजा जन चुपचाप बैठे रहें। ...... साकेत का यह स्थल बड़ा सजीव है। कवि की राष्ट्रीयता बोल उठी है। यह उद्भावना स्वाभाविकता, भावुकता और राष्ट्रीयता के आग्रह का फल तो है ही साथ ही उर्मिला के चरित्र के वीर-पक्ष पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।"[1] कौशल्या भरत और शत्रुघ्न को रोकने का प्रयत्न करती हैं—परन्तु सुमित्रा उन्हें जाने देती है। भरत के द्वारा शत्रुघ्न से यह कहलाकर कि भरत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में " गुप्त जी अपने देश प्रेम को व्यंजित करते हैं। भरत " लक्ष्मण-पथ-पथी " हो जाते हैं। इस समय उर्मिला के अश्रु भी सूख गये हैं। वह भरत से कहती है—

" देवर, तुम निश्चिंत रहो, मैं कब रोती हूं?
किन्तु जानती नहीं, जागती या सोती हूं?
जो हो, आंसू छोड़ आज प्रत्यय पीती हूं-
जीते हैं वे वहां, यह जब मैं जीती हूं।"[2]

उर्मिला श्रुतिकीर्ति से रोली का प्रबन्ध करवाती है।

तत्पश्चात वसिष्ठ मुनि साकेतवासियों को दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं और लंका की युद्धभूमि का दृश्य उन्हें दिखाई पड़ने लगता है।[3] गुप्त जी ने साकेतवासियों को दिव्यदृष्टि दिलवा कर लंका कांड का प्रत्यक्ष वर्णन करने का प्रयत्न किया है। सर्गान्त में रावण वध की घटना का वर्णन है। लक्ष्मण के नायकत्व के कारण रावण-वध से मेघनाद-वध की घटना अधिक प्रधान है। राम के राज्याभिषेक से कथा का अन्त न करके उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन से किया गया है। उर्मिला प्रिय के आगमन पर सखी से दो बार फूल भेंट के लिए लाने को कहती है, परन्तु इसी बीच लक्ष्मण आ जाते हैं और मिलन हो जाता है—

---

१. साकेत एक अध्ययन, पृ० २१-२२। (द्वादश आवृत्ति, पृ० साहित्यरत्न भण्डार, आगरा।)

२. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४६०

"जा नीचे, दो चार फूल चुन, ले आ डाली ।
वनवासी के लिए सुमन की भेंट भली यह,
" किन्तु उसे तो अभी पा चुका प्रिये, कली यह ।"
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने, सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी ।"[१]

इस प्रकार राम कथा का अन्त रामादि के प्रत्यागमन से हो जाता है और उर्मिला-लक्ष्मण के प्रेम की कथा का अन्त उनके पुनर्मिलन से होता है ।

साकेत की कथा प्राचीन होते हुए भी नए परिवेश में सुसज्जित है । इस दृष्टि से गुप्त जी ने साकेत की रचना का महत्कार्य बड़ी सफलता से किया है । पुरातन कथाओं को महाकाव्यों में आबद्ध करना और इस प्रकार आबद्ध करना कि उनमें नवीनता, आ जाय, कोई सरल काम नहीं है । राम, लक्ष्मण, सीता, उर्मिला, भरत, माण्डवी, कौशल्या, कैकेयी ये सब पुराण पात्र है । भारतीय कवि परम्परा ने अनेक बार इन पात्रों का आख्यान किया है । मैथिलीशरण जी ने भी हमें इन सब महा-मानव स्त्री-पुरुषों के पुनर्दर्शन कराए हैं । मैथिलीशरण के सब पात्र वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी के पात्रों से भिन्न हैं । कविवर मैथिलीशरण के राम अतिमानव, अवतारी पुरुष होते हुए भी अत्यधिक संवेदनशील, सहानुभूतिपूर्ण, सुसंस्कृत, स्नेहागार और जाने-पहचाने मानव के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं । उसी प्रकार माता कौशल्या और माता कैकेयी भी उदात्त नारी रूप में प्रकट होती हैं । ..... उर्मिला गुप्त जी की अमर देन है, जिसके लिए सहृदय जन उनके सदा ऋणी और चिरकृतज्ञ रहेंगे ।"[२]

---

१. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४१८

२. मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, एकाराधननिष्ठ मैथिलीशरण गुप्त, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृ० ३५४ (संस्करण, सन् १९५९)

चरित्र चित्रण

साकेत में प्रमुख पात्र की स्थिति —

महाकाव्य में चरित्र-चित्रण का बहुत महत्त्व होता है । साकेत में अधिकांश घटनाएँ घटित होते हुए न दिखा कर उनकी परोक्ष व्यंजना की हुई है अतः कथा का विस्तार घटनाओं को दिखाकर नहीं वरन पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा मुख्य रूप से हुआ है । अतः साकेत घटना-प्रधान काव्य न होकर चरित्र - प्रधान काव्य है ।[1] साकेत महाकाव्य का उद्देश्य रामायणीय कथा के उपेक्षित पात्रों के साथ न्याय करना है । कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता को दूर करना गुप्त जी का मुख्य उद्देश्य है।इसके अतिरिक्त राम की अपेक्षा भरत पर कवि की दृष्टि अधिक है ।" कवि की दृष्टि वनवासी राम पर नहीं, तपस्वी भरत पर केन्द्रित होती है, वीर लक्ष्मण पर नहीं, वियोगिनी उर्मिला पर केन्द्रित होती है । सन्यासी भरत और विधुरा उर्मिला का चरित्र करुणा-पूर्ण है ।"[2] साकेत में सबसे प्रमुख पात्र उर्मिला है । सम्पूर्ण कथा उर्मिला को ही केन्द्र में रख कर और उर्मिला को ही महत्त्व देने के लिए लिखी गई है । चरित्र-प्रधान काव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी पात्र मुख्य पात्र के चरित्र-विकास में योग दें । कभी परिस्थिति और कभी पृष्ठभूमि के रूप में उसके सहायक बनें । डा० नगेन्द्र ने साकेत की इस विशेषता के लिए लिखा है — " इसमें उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता है । ऐसे काव्य की सफलता के लि यह वांछित है कि उसके सभी पात्र मुख्य पात्र के चरित्र पर घात-प्रति-घात द्वारा प्रभाव डालें तथा कभी परिस्थिति और कभी पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित होकर उसको प्रकाश में लावें । साकेत का चरित्र-चित्रण इस कसौटी पर खरा उतरता है ।" साकेत के सभी पात्र सभी धारणाएं और सभी परिस्थितियाँ

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १५१, द्वादश संस्करण,सा०र०भं०आगरा
२. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य- डा० कमलाकान्त पाठक, पृ०४४३ (प्रथम संस्करण, १९६० ,हिन्दी परि०,सागर वि०वि०)

उर्मिला के चरित्र को उत्कर्ष देने में सहायक हुई हैं। कवि इस दिशा में निरंतर सजग रहा है और उसी के लिए कुछ प्रसंग भी गढ़ना पड़ा है। पात्रों में, लक्ष्मण का सम्पूर्ण जीवन ही उर्मिला की चारित्रिक विशेषता का मूला-धार है, राम की कर्तव्यपरायणता तथा सीता का पति-प्रेम और वनगमन भी उर्मिला के चरित्र के उद्रेक में सहायक है। कैकेयी और सुमित्रा का मातृत्व उर्मिला के चरित्र-चित्रण में योग देता है। भरत-शत्रुघ्न तथा माण्डवी पृष्ठभूमि के रूप में आते हैं। इस प्रकार सभी पात्र उर्मिला के चरित्र पर घात - प्रति-घात के द्वारा प्रभाव डालने में सहायक हुए हैं। कवि ने उर्मिला की कथा की अधिकांश घटनाओं के साथ संबद्ध किया है। इसके लिए कवि ने बहुत प्रयास किये है क्योंकि राम-काव्य में सभी घटनाएं राम से संबद्ध हैं। 'साकेत' का आरंभ बालकाण्ड की घटना से न करके कवि ने लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग वर्णन से किया है। गुप्त जी ने यह परिवर्तन साभिप्राय किया है। वे उर्मिला को अधिक महत्व देना चाहते थे।" साकेत का प्रथम सर्ग लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग वर्णन से आरम्भ होता है। यहाँ यह आभास है कि लक्ष्मण काव्य के नायक और उर्मिला नायिका है। परन्तु परवर्ती सर्गों में लक्ष्मण राम के साथ वनवासी होकर साकेत से निर्वासित हो जाते हैं, इसलिए 'साकेत' में नायक लक्ष्मण का चरित्र गौण और नायिका उर्मिला का प्रमुख बन जाता है।"[1] उर्मिला साकेत की प्रधान नायिका है और उसका सम्बन्ध कथा की सभी घट-नाओं से है। कवि ने बालकाण्ड के कुछ रसमय अंश उर्मिला के नवम सर्ग के विरह वर्णन में स्मृति-उद्दीपन बनाए गए हैं।[2] दशरथ मरण के अवसर पर भी उर्मिला को ही सर्वाधिक रोते दिखाया है, यहाँ तक कि दशरथ की विधवा रानियों से भी अधिक दुःखी उसे ही चित्रित किया गया है। इस स्थल पर उर्मिला की इतनी अधिक प्रधानता खटकती है। इसी प्रकार जब साकेत की सेना युद्ध के लिए लंका जाने के लिए तत्पर है तब उर्मिला सेना के सामने आ जाती

---

१. हिन्दी साहित्य —बीसवीं शताब्दी, आचार्य द्विवेदी, पृ० ४२, १९५६ ई०
लोक भारती प्रका०

है और लोगों से सम्मान न लाने के लिए सेना को उपदेश देने लगती है ।" कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के पीछे उसे उचित से कुछ अधिक मुखर बना दिया है । प्रमुखता और मुखरता में भेद है ।[1] उर्मिला को भरत से नन्दिग्राम से न लौटने के सम्बन्ध में लक्ष्मण से वार्तालाप करते हुए चित्रित कराया गया है । रामवन गमन के अवसर पर भी उसे उपस्थित किया है और भरत-विलाप के अवसर पर भी उसे प्रमुखता दी गई है । उर्मिला के त्याग के प्रति दशरथ, सीता, कैकेयी, राम तथा माण्डवी आदि पात्रों से संवेदना प्रकट करवाया है । इन सब अवसरों को कवि ने बड़े प्रयत्न से उपस्थित किया है और यह स्पष्ट है कि उर्मिला साकेत की प्रधान पात्र है ।

<u>पुरुष पात्र —</u>

साकेत के समस्त पात्र पूर्वकल्पित थे और उनकी विशेषताएं चिरकाल से प्रसिद्ध थीं । गुप्त जी भी यदि उनका यथा तथ्य चित्रण कर देते तो नवीनता और मौलिकता की सृष्टि न हो पाती । अतः गुप्त जी ने राम-काव्य के लगभग सभी पात्रों में थोड़ा परिवर्तन किया है । पर वह इस कुशलता से किया गया है कि पात्रों की ऐतिहासिकता और लोकप्रसिद्धि पर कोई ठेस नहीं पहुंचने पाई है । वाल्मीकि रामायण में राम महामानव के रूप में चित्रित हैं । मानस में राम नर होते हुए भी नारायण हैं । परन्तु साकेत में राम मानवतादर्श के प्रतीक हैं, वे नर को ईश्वरता को दिखाने आए हैं । राम स्वयं कहते हैं" नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया" राम को लोक-शिक्षक के रूप में चित्रित किया है । अष्टम सर्ग में गद के माध्यम से वे विभिन्न शिक्षाएं सीता को देते हैं । गुप्त जी के राम मानव और ईश्वर दोनों हैं ।

" राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?[2] राम अपने ईश्वरत्व की झलक स्वयं देते हैं । वे कहते हैं —

---

१. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, आचार्य द्विवेदी, पृ० ४२, १९६६ ई० लोक भारती प्रका०, इलाहाबाद ।

२. साकेत, मुख पृष्ठ (२०२१ वि० , साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

' निश्चिंत रहे जो करे भरोसा मेरा,
गया, निज प्रेम का मुझे परीक्षा पूरा ।[1]

× ×

' जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे ,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे ।'[2]

भगवान होते हुए भी मनुष्य-कर्म करते हैं । वे 'मनुष्यत्व का नाट्य खेलने'[3] आये हैं । वे कहते हैं —

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया[4] ।

लक्ष्मण का चरित्र गुप्त जी ने अपनी मौलिक तूलिका से चित्रित किया है । वे प्राचीन राम कथा के अनुसार ही राम के सेवक, अनुज और भक्त हैं । परन्तु गुप्त जी के लक्ष्मण प्रथम सर्ग में ही प्रेमी पति के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं । लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता देने के प्रयत्न में लक्ष्मण का प्रेमी रूप भी उभर कर आया है । साकेत में लक्ष्मण के दर्शन सर्वप्रथम एक प्रेमी के रूप में ही होते हैं । वे उर्मिला से प्रेमालाप करते हुए कहते हैं —

' धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,
मोहिनी-सी मूर्ति, मंजु-मनोज्ञता ।
धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ ।'[5]

प्रेमी लक्ष्मण ललित कला के प्रशंसक भी हैं । वे उर्मिला से कहते हैं —

' चित्र क्या तुमने बनाया है अहा ?'
हर्ष से सौमित्र ने सागृह कहा —

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२८ (२०२१ वि० साहित्य सदन , चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २३५ ,, ,,
३. ,, पृ० २३४ ,, ,,
४. ,, पृ० २३५ ,, ,,
५. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३० ,, ,,

" तो तनिक लाओ, दिखाओ, है कहाँ ?
कुछ नहीं मैं बहुत कुछ दूंगा यहाँ ।" [१]

और चित्र को देखकर लक्ष्मण मुग्ध हो उठते हैं ।

" सुध न अपनी भी रही सौमित्र को,
देर तक देखा किये वे चित्र को ।" [२]

लक्ष्मण ने अपने त्याग और तपस्या के द्वारा अपने प्रेम को महत्व-पूर्ण बनाया है । लक्ष्मण राम के अनुसार वनवासी, तपस्वी और निर्मोही हैं । उन्हें उर्मिला के प्रति अनन्य प्रेम है । वे उर्मिला से कहते हैं —

" वन में तनिक तपस्या करके, बनने दो मुझको निज योग्य ।
भाभी की भगिनी , तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।" [३]

गुप्त जी ने लक्ष्मण की चारित्रिक कोमलता के साथ-साथ उनके चारित्रिक उग्रता का भी चित्रण किया है । साकेत के लक्ष्मण , मानस के लक्ष्मण से भी अधिक उग्र दिखाई पड़ते हैं । वे कैकेयी की भर्त्सना करते हुए अपेक्षाकृत अधिक कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं जो इस उक्ति में स्पष्ट है :-

" खड़ी है माँ बनी जो नागनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह
अभी विषदंत इसके तोड़ दूंगा
न रोको तुम तभी मैं शांत हूंगा ।
बने जो दस्युता के दास हैं जो,
पिता है वे हमारे या कहूं क्या ?
कहो है आर्य ! फिर भी चुप रहूं क्या ?" [४]

---

१. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३४ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, पृ० ३५ ,, ,, ,,
३. साकेत अष्टम सर्ग, पृ० २६५ ,, ,, ,,
४. ,, तृतीय सर्ग, पृ० ७८,७९ ,, ,, ,,

लक्ष्मण के प्रस्तुत कथन को यदि प्रसंग से अलग करके देखा जाय तो संभवतः उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न हो सकती है। परन्तु परिस्थिति को देखते हुए ऐसा नहीं प्रतीत होता।

गुप्त जी ने साकेत में लक्ष्मण को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, परन्तु फिर भी नायकोचित गुण उनमें नहीं आ सके हैं क्योंकि उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है। वे राम के दृढ़व्रती दास हैं और अनुवर्ती हैं। वे कहते हैं --

" इधर मैं दास लक्ष्मण हूँ तुम्हारा,
उधर हो जाय चाहे लोक सारा।"[१]

और राम भी उनसे कहते हैं --

" अनुज ! मुझसे न तुम न्यारे कभी हो,
सुहृत्, सहचर, सचिव, सेवक सभी हो।"[२] साकेत के लक्ष्मण रामभक्त हैं। अवसर आने पर राम से कहते हैं -- "प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में।" मानस के भरत या तो उग्र हैं और या फिर सीता-राम के समक्ष पूर्णतया नम्र। परन्तु ऐसा स्वाभाविक रूप साकेत में ही दिखाई पड़ता है।)

भरत के चरित्र में भी गुप्त जी ने परिवर्तन किया है। साकेत के भरत की साधुता मानस के भरत से अधिक है। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की साधु-वादिता सकरुण है। यदि मानस में राम भरत की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -- " भरतहिं होहिं न राजु मदु, विधि हरि हर पद पाइ।"[३] तो साकेत के राम भरत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं --

" उठ भाई, तुल सका न मुझसे, राम खड़ा है,
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमि पर आज पड़ा है।"[४]

शत्रुघ्न के स्वभाव में उग्रता है। वे भरत के सहयोगी हैं। वे राज्य

---

१. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७८, (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० ८७ ,, ,,
३. मानस, अयोध्याकांड-- ना०प्र०सभा, काशी, इंडियन प्रेस, श्यामसुन्दरदास, संपा०)
४. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४६२ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

संचालन में अधिक संलग्न हैं। वे राम-वनवास की घटना से क्षुब्ध हो उठते हैं और वे राज्य-क्रान्ति मचाकर प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं।

" राज्यपद ही क्यों न अब हट जाय,
लोभ मद का मूल ही कट जाय,
कर सके कोई न दर्प, न दंभ ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।"[१]

साकेत के शत्रुघ्न में यह नवीनता गुप्त जी ने उपस्थित की है। राजा दशरथ साकेत में मुख्यतया वात्सल्य की मूर्ति के रूप में दिखाई देते हैं। उनके लिए राम का वियोग असह्य है। धर्म-भावना की प्रमुखता अपेक्षाकृत कम है। राम के वियोग में उनका प्राणांत भी हो जाता है। उनका सारा व्यक्तित्व शोक और स्नेह से पूर्ण है।

नारी पात्र — उर्मिला

" साकेत" का एक उद्देश्य कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता का परिहार करना भी था। अत: गुप्त जी ने उर्मिला को अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा एक नया ही रूप प्रदान किया है। सर्व प्रथम "साकेत " में जब कवि उर्मिला की झांकी दिखाता है, तब वह अनेक गुणों से युक्त दिखाई पड़ती है। यह "प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं ?"[२] या फिर" सजीव सुवर्ण की प्रतिमा है।[३] जिसकी" कान्ति की किरणें उजेला कर रही[४] हैं। जो" विधि के हाथ से ढाली गई है,[५] " कमल सी कोमला" है,[६] जिसके नेत्र मानो" हीरकों में गोल

---

१. साकेत सप्तम सर्ग, पृ० २०२ (२०२१ वि०सा०स०,चिरगांव,झांसी)
२. साकेत प्रथम सर्ग पृ० २६ ,, ,,
३. ,, पृ० २६ ,, ,, ,,
४. ,, पृ० २६ ,, ,, ,,
५. ,, पृ० २६ ,, ,, ,,
६. ,, पृ० २७ ,, ,, ,,

नीलम हैं जड़े,[१] और पद्मरागों से अधर मानो बने हैं,[२] दाँत मोतियों से निर्मित हैं। उर्मिला, के घन पटल से ढके[३] हैं, उसके कान्त-कपोल हैं,[४] वह जब इधर उधर देखती है तो 'चमकती है दामिनी सी द्युति-भरी[५], उसका सौन्दर्य अनिंद्य है, मानो 'स्वर्ग का सुमन धरती पर खिला'[६] है। उर्मिला सहृदया है। उसका प्रेम पूरित सरल कोमल चित्त'[७] है। उसका सौन्दर्य शील और ~~वैविध्य-भाव~~ स्वभाव की उच्चता से भी पूर्ण है। उर्मिला के व्यक्तित्व से 'शील-सौरभ की तरंगें आ रहीं'[८] हैं और वे 'दिव्य-भाव भवाब्धि में हैं ला रहीं।'[९]

साकेत की उर्मिला हास-परिहास में भी चतुर है। वह लक्ष्मण से कहती है 'दास बनने का बहाना किसलिए? क्या मुझे दासी कहाना इसलिए?[१०] एक अन्य स्थल पर उर्मिला लक्ष्मण को लक्ष्य करके कहती है 'और भी तुमने किया कुछ है कभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी?' प्रेम-प्रगल्भा के रूप में वह कहती है 'मन गज बनकर विवेक न छोड़ना, कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना।'[११]

उर्मिला चित्र-कला में भी निपुण है। उसके द्वारा बनाया गया चित्र भी एक चित्र और चित्रित भी' 'और उसे देखकर रह गये चित्रस्थ - से सौमित्र भी।'[१२] उर्मिला की 'तूलिका सर्वत्र मानो थी तुली' वर्ण-निधि-सी-व्योम-पट पर थी खुली।'[१३]

---

१. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० २७
२. ,, पृ० २७
३. ,, पृ० २७
४. ,, पृ० २७
५. ,, पृ० २७
६. ,, पृ० २८
७. ,, पृ० २७
८. ,, पृ० २७
९. ,, पृ० २७
१०. ,, पृ० ३०
११. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३८
१२. ,, पृ० ३४
१३. ,, पृ० ३५

साकेत की उर्मिला आदर्श-पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। वह लक्ष्मण से कहती है —

" सोचती हैं किन्तु जाता भाग भ्रम ,
मानती हूँ एक तुम-सा भाग्य मम ,
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निज भव-भार यों हलका करें।"[1]

उर्मिला का सम्पूर्ण व्यक्तित्व त्यागपूर्ण है। गुप्त जी ने उर्मिला के महत्व को बढ़ाने के लिए और उसके चारित्रिक उत्कर्ष को दिखाने के लिए उसे त्याग की मूर्ति के रूप में उपस्थित किया है। लक्ष्मण राम के साथ वन जाने को तत्पर हैं, उर्मिला पति के पथ में बाधा उपस्थित नहीं करना चाहती। वह अपने व्याकुल मन को समझाने का प्रयत्न करती है। यथा: —

" रे मन !
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन ।
आज स्वार्थ है त्याग-भरा ।
है अनुराग विराग भरा ।
तू विकार से पूर्ण न हो ।
शोक भार से चूर्ण न हो ।"[2]

उर्मिला के त्याग-पूर्ण जीवन के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कथन है— "उसका आदर्श आत्म-त्याग संस्कार रूप में उसे प्राप्त नहीं है — वह धीरे धीरे विकसित होता है। पहले तो वह उस त्याग को विवश भाव से ही मानती है, परन्तु बाद में जाकर वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है।"[3] उर्मिला के त्याग को महत्व देती हुई सीता कहती है —

---

१. साकेत प्रथमसर्ग, पृ० ३२ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, चतुर्थ सर्ग पृ० ११० ,, ,,
३. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १५५, दशम संस्करण साहित्यरत्न भंडार, आगरा।

" आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा ! तेरा ।"[१]

सीता उर्मिला को स्वयं से भी अधिक भाग्यवती और महत्त्वपूर्ण समझती है । यथा:—

" सम्प्रति ससुर की स्नेह लता,
मिली उर्मिला पतिव्रता ।
सिद्ध करेगी वही यहाँ,
जो मैं भी कर सकी कहाँ ।" [२]

गुप्त जी ने विरहिणी उर्मिला की विरह व्यथा को उभारा है । गोस्वामी जी का ध्यान जहाँ गया भी नहीं उसी की ओर गुप्त जी का ध्यान सर्वाधिक रहा । षष्ठ सर्ग में कवि गौरव, शान्ति और सौभाग्य से शून्य 'साकेत' में सर्व प्रथम विरहिणी उर्मिला पर ही दृष्टिपात करता है । उर्मिला की वेदना से सहानुभूति प्रकट करता हुआ कवि कहता है —

" पुरदेवी- सी यह कौन पड़ी ?
उर्मिला मूर्च्छिता मौन पड़ी ।
किन तीक्ष्ण शरों से छिन्न हुई-
यह कुमुदती जल-भिन्न हुई ?"[३]

राजा दशरथ उर्मिला की विरह का कारण स्वयं को समझते है, वे उर्मिला के दु:ख से व्याकुल हो जाते हैं —

" उर्मिला कहाँ है, हाय बहू !
तू रघुकुल की असहाय बहू ।
मैं ही अनर्थ का हेतु हुआ,
रविकुल में सचमुच "केतु" हुआ ।"[४]

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ०१२१ (२०२१ वि० द्वादश संस्करण, [illegible]) झाँसी
२. ,, पृ० ११८ ,,
३. साकेत, षष्ठ सर्ग, पृ० १६० २०२१ सा०स०, चिरगाँव, झाँसी
४. ,, ,, पृ० १६८ ,,

विरहिणी उर्मिला को विरह के क्षणों में भी यह चिंता है कि लक्ष्मण उसकी चिंता करके अपने व्रत में विघ्न न उपस्थित कर लें।

"करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।"[१]

वे व्रत धारी में संलग्न हैं, और यही एकांत कामना है कि —

"आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"[२]

दशरथ की मृत्यु पर मानस की उर्मिला व्यथित होती हुई चित्रित नहीं की गई है। परन्तु साकेत में वह दशरथ की मृत्यु पर सबसे अधिक दुःखित होती है। यथा:—

"हा! कहाँ गये वे पूज्य पिता?"
करके पुकार यों शोक-सिता,
उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे,
जा गिरी कैकेयी के आगे।"[३]

उर्मिला के विरह वर्णन में कवि ने अनेक दशाओं के चित्र खींचे हैं। उर्मिला विषयक कवियों की उदासीनता दूर करना कवि का एक लक्ष्य था, अतः उर्मिला के विरह को पर्याप्त प्रमुखता दी गई है। वह प्रवासी प्रिय की मूर्ति में ही लीन है — "आँखों में प्रिय-मूर्ति थी भूले थे सब भोग।"[४] वह अपने एकाकी व्यथा भार को ढोती हुई कहती है — "प्रोषितपतिकाएँ हों, जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ।"[४] वह समदुःखिनी के साथ मिल कर अपनी विरह व्यथा को हल्का करना चाहती है। यथा:—

"इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई?
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई?"[५]

---

१. साकेत षष्ठ सर्ग, पृ० १६३ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० १६४ ,, ,,
३. ,, पृ० १७६ ,, ,,
४. नवम सर्ग पृ० २६६ ,, ,,
५. ,, पृ० २७५ ,, ,,

विरह व्यथिता उर्मिला वैभव में भी दुःख का अनुभव करने लगती है। वह कहती है — "कैसी हूँ मैं यहीं नहीं ।"[१] उसमें प्रेम-निष्ठा है। लक्ष्मण के प्रति पूर्ण विश्वास है। खंजन पक्षी को देख कर उर्मिला सोचती है कि मानो लक्ष्मण ने ही इधर नेत्र फेर दिये हैं वह शरद ऋतु में अपने प्रिय को ही देख लेती है —

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये !

< <

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये ।"

< ˎ

स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये ।"[२]

उर्मिला के "मुझे फूल मत मारो ।"[३] इस गीत विरह-गीत में अनेक विरोधी भाव भरे हैं। "मैं अबला, बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो" कह कर वह अपना दैन्य प्रकट करती है। परन्तु मदन के "दया" न करने पर वह थोड़ा कठोर होकर कहती है — "नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो ।" मदन के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट करते हुए कहती है — "बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह, यह हर-नेत्र निहारो ।" और इस गीत के अन्त में गर्वीली उक्ति कहती है कि "लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो ।"

उर्मिला अपने प्रिय की प्रेम साधना में लगी हुई है। इस साधना में उसका मन पुजारी और तन पूजा का थाल बना हुआ है ।

---

१. साकेत, नवम् सर्ग, पृ० २८० (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० २९६ ,, ,,
३. ,, पृ० ३१४ ,, ,,

'मन पुजारी और तन इस दु:खिनी का थाल।'[१]

स्वयं दारुण वियोग सह कर भी वह यही मनाती है कि 'सखि, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मैं सुध करके रोती।' वह अहर्निश प्रिय की साधना में ही रत है। वह कहती है 'मानती हूँ, तुम मेरे साध्य, अहर्निश एक-मात्र आराध्य।'

उर्मिला प्रेम-वियोगिनी है परन्तु वह वीरलक्ष्मण की पत्नी है। द्वादश सर्ग में उसकी वीर-पत्नीत्व का रूप कवि ने उभारा है। साकेत की सेना राम की सहायता के लिए प्रस्थान करने को तत्पर है। उस समय उर्मिला जोश भरे शब्दों से कहती है —

'ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति-सी आगे आगे,
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे।'[२]

उर्मिला के चरित्र में गुप्त जी ने अपनी मौलिक कल्पना से विभिन्न रंग भरे हैं। उसका चरित्र परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से विकसित हुआ है।

<u>कैकेयी</u> —

गुप्त जी ने कैकेयी के परम्परित रूप में बहुत परिवर्तन किया है। कतिपय नई रेखाओं से उसे अंकित किया है। मानस की कैकेयी में जहाँ दोष ही दोष विद्यमान हैं,वहाँ साकेत की कैकेयी में दोष और गुण दोनों ही विद्यमान हैं। गुणों का आरोप करके गुप्त जी ने कैकेयी के धिक्कृत चरित्र का परिष्कार किया है। कैकेयी के लिए पुत्र-प्रेम अभिशाप बन जाता है और वह कलंकित हो जाती है। गुप्त जी ने उसके इस कलंक का प्रक्षालन किया है। भरत जब कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहते हैं —

'-धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह।'[३]

---

१. साकेत नवम् सर्ग, पृ० ३२६, (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४७५ ,, ,,
३. साकेत सप्तम सर्ग, पृ० १६७ ,, ,,

तो वह अपने पुत्र-स्नेह की दुहाई देते हुए ओजस्वी शब्दों में कहती है —

चुप अरे चुप, कैकयी का स्नेह,
जन्म पाया तू न निस्सन्देह ।
पर कहीं यह वत्स तुझ में व्याप्त ,
छोड़ता है राज्य-पद भी प्राप्त ।"[1]

कैकेयी के पुत्र-स्नेह के लिए राम और कौशल्या भी इसी प्रकार की उक्ति कहते हैं ।

राम —" माँ ने पुत्र-वृद्धि चाही
नृप ने सत्य-सिद्धि चाही ।"[2]

कौशल्या—" पुत्र स्नेह धन्य उनका
हठ है हृदय-जन्य उनका ।"[3]

गुप्त जी ने कठोर हृदया कैकेयी को अपने पुत्र के लिए हर प्रकार का मानापमान सहने वाली सरल और वात्सल्यमयी जननी के रूप में चित्रित किया है । भरत जब ननिहाल से आ जाते हैं और मृत पिता को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं तब कैकेयी का वात्सल्य उमड़ पड़ता है, और वह एक सहृदय माँ के समान भरत पर हाथ फेरने लगती है । भरत जब पिता की मृत्यु का कारण पूछते हैं तो वह —" मैं स्वयं पतिघातिनी हूँ हाय "[4] कह कर अपना अपराध स्वीकार कर लेती है । और " जो किया कर तू उसे स्वीकार " कह कर वह दोनों वरदानों के विषय में भी बता देती है ।

तो सुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,
प्रभु गये सुर-धाम, वन को राम ।
माँग मैंने ही लिया कुल केतु ,
राजसिंहासन तुम्हारे हेतु ।"[5]

---

१. ...त, सप्तम सर्ग, पृ० १९७ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
२. चतुर्थसर्ग, पृ० १०४ ,, ,,
३. ,, पृ० १०० ,, ,,
४. सर्ग पृ० १६४ ,,

कैकेयी के हृदय में अपने पुत्र को सभी प्रकार से सुख,समृद्धि से पूर्ण बनाने की लालसा है । इसी लिए वह अपने मान-अपमान की कोई चिंता नहीं करती । वह कहती है —

" सब करें मेरा महा अपवाद
किन्तु उठ ओ भरत, मेरे प्यार ,
मांगता है एक तेरा प्यार ।
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे लाल ,
मैं नरक भोगूं भले चिरकाल ।
दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप,
दे रही हूं [illegible] वह मैं आप ।" [१]

कैकेयी ने बिना भरत के विचारों को समझे यह सब कर डाला । उसने वात्सल्य में अन्धी होकर अपने पुत्र के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न किया । सहज पुत्र स्नेह में यह सब स्वाभाविक ही था । परन्तु चित्रकूट जाते-जाते उसके हृदय में बड़ा भारी परिवर्तन कवि कर देता है । चित्रकूट में वह पवित्र प्रेममयी जननी के रूप में दिखाई देती है । उसके हृदय के सभी कलुषित भाव अब तक तिरोहित हो चुके हैं । राम और भरत पुनः उसके नेत्रों के दो तारों की भांति प्रिय हो गये हैं । वह अपने किये पर पश्चाताप भी कर रही है । मंथरा द्वारा डाला गया प्रभाव समाप्त हो गया है ।

साकेतकार ने चित्रकूट की सभा में कैकेयी को अपनी सफ़ाई देने का अवसर दिया है । वह अपने सदेही मन को धिक्कारती है और सारा दोष अपने ऊपर ही ले लेती है । वह कहती है —

" क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी ,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।" [२]

वह राम और भरत में अब अन्तर नहीं देखती —

" ढोया जीवन भार, दुःख ही ढोया मैंने,
पाकर तुम्हें, परन्तु भरत को पाया मैंने ।" [३]

---

१. साकेत, षष्ठम सर्ग, पृ० १९६, २०२१ वि० सा०सदन, चिरगांव,झांसी
२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २४८ ,, ,,
३. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४६५ ,,

वह अपनी नीचता और तुच्छता के लिए दण्ड लेना चाहती है । जो मानिनी कैकेयी कभी अपमान नहीं सहती थी, जो दैन्य भी [illegible] नहीं जानती थी, उसी कैकेयी का मन आज महादीन हो गया है । वह राम से प्रार्थना करती है ' हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य संभालो '[१]। कैकेयी अपनी भूल को मान कर कहती है ' मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे ।'[२]

कैकेयी के चरित्र का यह परिवर्तन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । जिस पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर उसने धर्म को त्याग दिया, न्याय-अन्याय को न समझा, पति का चिरवियोग स्वीकारा, परिजन और पुरजनों के व्यंग्य और कटाक्ष का लक्ष्य बनी, वही पुत्र जब उसका विरोध करने लगता है तो उसके हृदय में परिवर्तन उपस्थित हो जाना स्वाभाविक ही था । पश्चाताप की अग्नि से उसका हृदय दग्ध हो गया । वह कह उठती है —

" युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी -
' रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा -
धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा ।"[३]

कैकेयी का यह पश्चाताप उसके सारे कलंक का प्रक्षालन कर देता है । और राम के पास चित्रकूट की सारी सभा चिल्ला उठती है —" सौ बार धन्य वह एक लाल की माई ।"[४]

कवि ने मनोवैज्ञानिक सूत्र के द्वारा कैकेयी का चरित्र-विकास दिखाया है । ' भरत से सुत पर भी संदेह बुलाया तक न उसे जो गेह ' की भावना बार-बार उसके हृदय में संदेह जागृत करती है । कवि ने रामके राज्याभिषेक के अवसर पर भरत की अनुपस्थिति को ही कैकेयी के संदेह का कारण बनाया है ।

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २५३ (२०२१ वि० साहित्य सदन चिरगांव,झांसी)
२. ,, ,, पृ० २५२ ,, ,,
३. ,, पृ० २४६ ,, ,,
४. ,, पृ० २५० ,, ,,

कैकेयी के चरित्र में साकेतकार ने पवित्रता, पीड़ा, भावुकता और वात्सल्य का समन्वित किया है। जहाँ मानस की कैकेयी "कुटिल रानी" है और असत-प्रवृत्तियों से ही पूर्ण है वहाँ 'साकेत' की कैकेयी वात्सल्य से पूर्ण जननी, साध्वी और तपस्वी है। वह राम-वनवास के अवसर पर तपस्विनी के समान जीवन व्यतीत करती है। कवि ने उसे अन्त में वीरांगना के रूप में भी उपस्थित किया है। साकेत की सेना जब राम की सहायता के लिए जाती है तब कैकेयी कहती है --

" भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी ,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?"[१]

<u>सीता</u>

साकेत में सीता परम्परागत आर्या-रूप में ही प्रतिष्ठित है -- परन्तु साकेतकार ने उनमें मानवीयता का समावेश किया है। सीता एक कुल-वधू के रूप में चित्रित हैं। साकेत के चतुर्थ सर्ग की सीता मानवीयता से पूर्ण हैं। पुत्रवधू के रूप में वे कौशल्या की पूजा-सामग्री का प्रबन्ध कर रही हैं। यथा :--

" माँ ! क्या लाऊँ ?" कह कहकर -
पूछ रही थीं रह रहकर ।
सास चाहती थीं जब जो,
देती थीं उनको सब सो ।"[२]

अष्टम सर्ग में सीता के चरित्र की नवीनता स्पष्ट होती है। "सीता माता की आज नई छवि धारे।"[३] कहकर कवि उन्हें नए ही परिवेश में उपस्थित करता है। चित्रकूट में सीता अपनी पर्णकुटी के वृक्षों को सींचती हुई गाती हैं -- "मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया" वन में भी उनका जीवन पूर्ण है किसी

---

१. साकेत द्वादश सर्ग, २०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
२. साकेत चतुर्थ सर्ग, पृ० ६४ ,, ,,
३. साकेत अष्टम सर्ग पृ० २२१ ,, ,, ,,

प्रकार का कोई अभाव उन्हें नहीं सालता । चित्रकूट में आकर उनका जीवन और भी स्वावलम्बी हो गया है और इसी में उन्हें आनन्द है । यथा: -

" औरों के हाथों नहीं यहां पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ ।
श्रम वारि बिन्दु-फल स्वास्थ्य-शुचि फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ ।
तनु लता - सफलता स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया ।"[1]

सीता वनचारियों को सभ्य बनाने के लिए भी उत्सुक रहती हैं । वे अपनी नागरिक सभ्यता 'कोल-किरात-भिल्ल बालाओं' को देना चाहती हैं । वे इन वनचारियों को कातना और बुनना सिखाना चाहती हैं । राम सीता के इस उन्मुक्त जीवन से प्रभावित हैं, वे तन्मय होकर सीता का गीत सुनते हैं ।[2] चित्रकूट में साकेत समाज के पहुंच जाने पर वे एक सुगृहिणी के समान उनका आतिथ्य सत्कार भी करती हैं । चित्रकूट में ही सीता बड़ी चतुराई से लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन करा देती हैं ।[3]

द्वितीय सर्ग में सीता राम से राज्यत्व-विषयक वार्तालाप भी करती हैं । यह वे जिज्ञासा से पूछती हैं कि अभी तक तुम चारों भाई समान सुखों को भोगते थे परन्तु आज कौशलराज तुम्हें राज्य देकर उस व्यवस्था को मिटा रहे हैं । क्या तुम्हें यह अधिकार रुचेगा ? आदि आदि.... । वे राम की सहधर्मिणी हैं अत: राम के साथ वन जाने के लिए उद्यत हो जाती हैं । सीता गौरव पूर्ण गुणयुक्त, आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित हैं । वे सुकोमला हैं परन्तु वन के जीवन को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया है । वन में भी राजमहल के सभी सुखों को उपस्थित कर दिया है, तभी तो राम कह सके हैं कि वे वन में भी गृही रहे ।

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२३, (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, ,, पृ० २२७ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २७५ ,, ,,

साकेत में सीता के पति-वियोगजन्य दुःख को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। इसका कारण यह था कि यदि कवि सीता के विरह को उभारता तो संभवतः उर्मिला का विरह इतना न उभर पाता। कवि अपनी सम्पूर्ण करुणा उर्मिला के ही प्रसंग में उड़ेलना चाहता था। उर्मिला को ही अधिक महत्त्व देना चाहता था। सीता के रूप में कवि ने भारत-लक्ष्मी को देखा। उसकी मुक्ति के लिए वह भरत को भी तत्पर कर देता है। भरत कहते हैं —

" भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु-पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।"[1]

सीता की आदर्श पत्नी हैं। उनके हृदय में राम के प्रति अनन्य प्रेम, निष्ठा और दृढ़ प्रत्यय है। उनका और राम का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का है वे अपने सभी कष्टों को भुला कर यही कामना करती हैं —

" करें न मेरे पीछे स्वामी, विषम कष्ट साहस के काम!
यही दुःखिनी सीता का सुख, सुखी रहें उसके प्रिय राम।
मेरे धन वे घनश्याम ही, जानेगा यह भीमाकार अंध।
इसी जन्म के लिए नहीं हैं राम जानकी का सम्बन्ध।"[2]

कौशल्या —

साकेत में कौशल्या वात्सल्य की मूर्ति हैं। कवि उन्हें मूर्तिमती ममता-माया"[3] के रूप में चित्रित करता है। राम के वनवास का समाचार सुन कर उनका वत्सल हृदय क्रन्दन कर उठता है। वे कैकेयी से राम की भीख मांगने तक के लिए तत्पर हैं। उन्हें राज्य का तनिक भी लोभ नहीं है।

" मंझली बहन राज्य लेवें,
उसे भरत को दे देवें।"[4]

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४५४ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, ,, पृ० ४३३,४३४ ,, ,,
३. ,, चतुर्थ सर्ग, पृ० ९३ ,, ,,
४. ,, ,, पृ० १०० ,, ,,

परन्तु उनकी केवल इतनी ही इच्छा है कि मेरा राम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे।[1] कौशल्या कैकेयी के पैर पकड़ कर राम की भीख माँगना चाहती हैं

"उनके पैर पड़ूंगी मैं,
कह कर यही कहूंगी मैं--
भरत-राज्य की जड़ न हिले,
मुझे राम की भीख मिले।"[2]

कौशल्या का हृदय अत्यधिक उदार है। वे राम और भरत में भेद नहीं मानतीं— "मुझे राज्य का खेद नहीं, राम-भरत में भेद नहीं।"[3] कौशल्या में क्षमावृत्ति भी है। राम-वन गमन का मूल कैकेयी को जानते हुए भी वे कहती हैं — "पुत्र-स्नेह जन्य उनका, हठ है हृदय-जन्य उनका।"[4] "दूसरे के दोषों का अच्छा अर्थ निकाल कर उन्हें सर्वथा भुला देने की साधु-प्रवृत्ति राम और कौशल्या दोनों में पाई जाती है।"[5] राम के साकेत लौट आने पर कौशल्या का वात्सल्य उमड़ा पड़ता है। साकेत में कौशल्या ममता, त्याग, उदारता और वात्सल्य की मूर्ति के रूप में चित्रित हैं।

सुमित्रा

साकेत की सुमित्रा एक क्षत्राणी की भाँति ओजस्वी हैं। उनके भीतर उनके पुत्रों की ही भाँति उग्रता भी है। वे अन्याय का विरोध करना चाहती हैं —

" हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।
वीरों की जननी हम हैं, भिक्षा मृत्यु समी सम हैं।
राघव! शान्त रहोगे तुम, क्या अन्याय सहोगे तुम?
मैं न कहूँगी, लक्ष्मण तू? नीरव क्यों है इस क्षण तू?"[6]

---

१. साकेत चतुर्थ सर्ग, पृ० १०० (२०२१वि० साहित्य सदन चिरगांव, झाँसी)
२. ,, पृ० १०० ,, ,,
३. ,, पृ० १०० ,, ,,
४. ,, पृ० १०० ,, ,,
५. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६० (द्वादश संस्करण; साहित्यर०भं०
६. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० १०२, साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी

माण्डवी

माण्डवी के चरित्र में गुप्त जी ने कई नई रेखाएं अंकित की हैं। उनके परम्परित रूप में पर्याप्त भिन्नता और नवीनता का समावेश किया गया है। वे पतिव्रता हैं और कुलवधू हैं। एकादश सर्ग में वे भरत के साथ वार्तालाप करती हैं और पारिवारिक चिन्ताओं से ग्रस्त हैं। भरत के त्याग और साधु जीवन का महत्व वे समझती हैं। तपस्वी भरत का दर्शन करने वे नित्य जाती थीं। कवि इसका वर्णन करते हुए कहता है -

" यही नित्य का क्रम था उसका,
राजभवन से आती थी,
श्वश्रू-शुश्रूषिणी अंत में
पति-दर्शन कर जाती थी।"[1]

वह भरत के त्यागमय जीवन के विषय में कहती है -

" सुख को लात मार कर तुम-सा
कौन दु:ख से जूझा है ?"[2]

वह पतिव्रता है और पति के साथ ही उसे संतोष है -

" मेरे नाथ जहाँ तुम होते
दासी वहीं सुखी होती।"[3]

श्रुतिकीर्ति

श्रुतिकीर्ति के चरित्र को भी कवि ने उभारा है। श्रुतिकीर्ति वीर शत्रुघ्न की पत्नी हैं और वे युद्ध के लिए शत्रुघ्न को विदा करते समय कहती हैं-

" जाओ, स्वामी, यही माँगती मेरी मति है,
जो जीजी की, उचित वही मेरी भी गति है।"[4]

शत्रुघ्न भी स्नेह सिक्त होकर उत्तर देते हैं -

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ३६२ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, ,, पृ० ३६७ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० ३६८ ,, ,,
४. ,, द्वादशसर्ग पृ० ४६० ,, ,,

"अर्द्धांगिनी से प्रिये, भली आशा थी मुझको,
तुझे, और क्या कहूँ, मिले मुंह-माँगा तुमको ।"[१]

द्वादश सर्ग में कवि ने श्रुतिकीर्ति के व्यक्तित्व को भली भाँति उभारा है ।

संवाद

संवाद कथा, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक तथा वर्णनात्म काव्य के लिए अत्यावश्यक उपकरण है । 'साकेत' महाकाव्य वर्णनात्मक काव्य है । इसमें संवाद का महत्व बहुत अधिक है । संवादों के द्वारा ही कथा आगे बढ़ती है, चरित्र की अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण होता है, वर्णन में सरसता और सजीवता आती है, चरित्र-चित्रण में सहायक होता है । विद्वानों ने संवाद के अन्तर्गत कुछ गुणों का होना आवश्यक बताया है ।" संवाद के गुणों की विवेचना करते हुए आचार्यों ने स्वाभाविकता अर्थात् परिस्थिति और पात्र की अनुरूपता, सजीवता अथवा उद्दीप्ति,गतिशीलता एवं रसात्मकता पर जोर दिया है ।"[२]

स्वाभाविकता और पात्रानुकूलता

साकेत के संवादों में यह गुण मिलता है । सभी पात्र अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार बोलते हैं । सभी पात्र अपने स्वभाव के अनुसार वार्तालाप करते हैं । स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक पात्र के संवादों में अन्तर देखा जा सकता है । उदाहरण के लिए लक्ष्मण के स्वभाव के अनुसार उनके संवादों में उग्रता और उष्णता रहती है । लक्ष्मण का स्वभाव उग्र है फिर परिस्थिति के कारण वे और भी उग्रता से बातचीत करते हैं तो अपने चरित्र और परिस्थिति के कारण और भी उग्रतो उठते हैं । वे कैकेयी की प्रतारणा करते हुए कहते हैं —

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६८ द्वादश संस्क०,सा०र०भण्डार,आगरा
२. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७६ (२०२१ वि०,साहित्य सदन, चिरगाँव,झांसी)

" खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी, हतभागिनी यह,
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम, तभी मैं शान्त हूँगा ।"[१]

यह कथन लक्ष्मण के ही स्वभाव के अनुकूल है । इस प्रकार अष्टम सर्ग में जब चित्र-कूट में वे भरत को ससैन्य आता देखते हैं तो सीता से वार्तालाप करते हुए अपने स्वभाव के अनुसार उग्रता प्रकट करते हैं । यथा :-

" भाभी भय का उपचार चाप यह मेरा,
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा ।
कोटिक्रम-सम्मुख कौन टिकेगा इसके —
आई पद्मास्तता धर्म भोग में जिसके ।"[२]

इसके विपरीत राम अपने सौम्य स्वभाव के अनुसार अति नम्रता से वार्तालाप करते हैं । लक्ष्मण की उग्रता में परिस्थिति के अनुसार उतार-चढ़ाव भी दिखाई पड़ता है । राम के समझाने पर वे कहते हैं —

" बस हार गया मैं आर्य आपके आगे
तब भी तनु में शत पुलक भाव ये जागे ।"[३]

" साकेत के संवादों में स्वाभाविकता प्राय: मिलती ही है ।"[४] राम के कथन में सदैव गंभीरता है और भरत के कथनों में प्रशांति । इसी प्रकार उर्मिला के संवाद शील समन्वित हैं । उर्मिला के संवादों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण उतार चढ़ाव आया है । प्रथम सर्ग में वह प्रेम प्रगल्भा की भाँति उपस्थित है । लक्ष्मण से हास-परिहास करती हुई कहती है —

" और भी तुमने किया कुछ है कभी,
या कि तुमने ही पढ़ाये हैं अभी ?"[५]

---

१. साकेत तृतीय सर्ग, पृ० ७९, (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २३७ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २३६ ,, ,,
४. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६८ (द्वादश संस्क० सा० र० भं०, आगरा)
५. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३३ (२०२१ साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

और नवम सर्ग में विरह विदग्धा उर्मिला दुःख के आतिरेक से कोमल शब्दा-वली का प्रयोग करती है । परन्तु साकेत सेना के तैयार हो जाने पर वह एक वीर क्षत्राणी की तरह ओजपूर्ण वचनावली का प्रयोग करती है । यथा —

" ठहरो, यह मैं चलूं कीर्ति-सी आगे आगे,
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे ।"[१]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने संवादों में पात्रानुकूल और परिस्थिति अनुकूल स्वाभाविकता रखी है ।

सजीवता

संवादों में सजीवता का होना भी आवश्यक है ।" सजीवता अथवा उद्दीप्ति तो साकेत के संवादों की प्राण है ।[२] गुप्त जी ने साकेत में संवाद के इस गुण का विशेष ध्यान रखा है । उनके संवाद संक्षिप्त और चुटीले हैं । लक्ष्मण उर्मिला के वार्तालाप को देखिये —

" निरुपमे पर चित्र मेरा है कहां ?"
" प्रिय तुम्हारा कौन-सा पद है यहां ?"
" भावती , मैं भार हूं किस काम का ?
एक सैनिक मात्र लक्ष्मण राम का ।"
किन्तु सीता की बहन है उर्मिला,
वाह उलटा योग यह अच्छा मिला ।"[३]

यहां उर्मिला और लक्ष्मण के उत्तर-प्रत्युत्तर में संक्षिप्तता ही नहीं वरन सजीवता भी है । गुप्त जी ने संवादों में सजीवता लाने के लिए व्यंग्य और परिहास का भी पुट दिया है । यथा —

राम— "इतनी निष्ठुरता, और उन्हीं के ऊपर,
जो फूलों के प्रतिकूल भाव से भू पर ।"

---

१ . साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४७५(२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी
२ . साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६६ (द्वादश संस्करण)
३ . साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३८,(२०२१ वि० सा०स० चिरगांव,झांसी)

और नवम सर्ग में विरह विदग्धा उर्मिला दुःख के अतिरेक से कोमल शब्दावली का प्रयोग करती है। परन्तु साकेत सेना के तैयार हो जाने पर वह एक वीर क्षत्राणी की तरह ओजपूर्ण वचनावली का प्रयोग करती है। यथा —

" ठहरो, यह मैं चलूं कीर्ति-सी आगे आगे,
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे।"[1]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने संवादों में पात्रानुकूल और परिस्थिति अनुकूल स्वाभाविकता रखी है।

सजीवता

संवादों में सजीवता का होना भी आवश्यक है। " सजीवता अथवा उद्दीप्ति तो साकेत के संवादों की प्राण है।[2] गुप्त जी ने साकेत में संवाद के इस गुण का विशेष ध्यान रखा है। उनके संवाद संक्षिप्त और चुटीले हैं। लक्ष्मण उर्मिला के वार्तालाप को देखिये —

" निरुपमे पर चित्र मेरा है कहाँ ?"
" प्रिय तुम्हारा कौन-सा पद है यहाँ ?"
" भाववती, मैं भार हूँ किस काम का ?
एक सैनिक मात्र लक्ष्मण राम का।"
किन्तु सीता की बहन है उर्मिला,
वाह उलटा योग यह अच्छा मिला।"[3]

यहाँ उर्मिला और लक्ष्मण के उत्तर-प्रत्युत्तर में संक्षिप्तता ही नहीं वरन सजीवता भी है। गुप्त जी ने संवादों में सजीवता लाने के लिए व्यंग्य और परिहास का भी पुट दिया है। यथा —

राम— "इतनी निष्ठुरता, और उन्हीं के ऊपर,
जो झूलों के प्रतिकूल भाव से भू पर।"

---

१. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४७५(२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी
२. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६६ (अष्टदश संस्करण)
३. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ३८,(२०२१ वि० सा०स०चिरगांव,झांसी)

सीता -- " यह संग-दोष है, और क्या कहूँ तुमसे ,
मैं [illegible] प्राणिनी आज [illegible] कुसुम सी ।
पर जो उनका अनुराग, उसे स्वीकार कर हूँ,
वह आप [illegible] क्यों न उसे फिर कर हूँ ।"

राम-- " यह राग रंग रच लो सुहाग-अंचल में,
क्या कहना है, आ गई ठिकाने पल में ।" [1]

यहाँ सीता द्वारा " यह संग दोष है" कहलाकर गुप्त जी ने हाज़िर जवाबी अथवा प्रत्युत्पन्न-मतित्व का भी अच्छा प्रयोग किया है ।

संवादों में सजीवता लाने के लिए सूक्ति रूप में कुछ कहना भी उपयोगी होता है । संक्षिप्त कथनों में गहन भावों का समावेश, भी संवादों में सजीवता ला देता है । यथा --

उर्मिला -- " मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी ।"

लक्ष्मण -- " वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।" [2]

गुप्त जी के संवाद प्रायः सजीव हैं । "सजीवता की उपस्थिति ही प्रायः संवाद को गतिशील बनाने के लिए पर्याप्त होती है । साकेत की कथा, अधिकतर संवादों और दृश्यों द्वारा ही आगे बढ़ती है ।"[3]

रोचकता

डा० नगेन्द्र ने संवादों की रोचकता के सम्बन्ध में कहा है --
" रोचकता भी बड़ा सूक्ष्म गुण है और निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि कब किस प्रकार वार्तालाप में रोचकता आ जाती है, किन्तु प्रायः तीन तत्व उसमें मिलते हैं -- प्रत्युत्पन्नमति(हाज़िर-जवाबी), सौजन्य (ettiquette)

---

१. साकेत अष्टम सर्ग, पृ० २३१ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २६५ ,, ,,
३. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० २०० ,दशम संस्करण , सा०र०भ०,आगरा

और संगति । साकेत के संवादों में ये विशेषताएं अवश्य मिलती हैं ।"

साकेत का प्रत्येक पात्र प्रत्युत्पन्न मति-युक्त है । रावण और राम के संवाद में इस गुण को देखिये -

रावण - " पंचानन के गुहा द्वार पर रक्षा किसकी ?
मैं तो हूँ विख्यात दशानन, सुध कर उसकी ।"

राम- " (हँस बोले प्रभु) " तभी निज गुण पढ़ता है मुझमें,
तूने ही आखेट-रंग उपजाया मुझमें ।"[१]

शब्द-चमत्कार के द्वारा ही प्राय: प्रत्युत्पन्न मति का चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है । कुशल वक्ता प्रतिपक्षी के किसी एक शब्द अथवा वाक्य को लक्ष्य करके उसी के द्वारा उसे निरुत्तर करना चाहता है । ऐसे प्रयोग साकेत में बहुत हैं । चित्रकूट की सभा में भरत राम के 'अभीप्सित' शब्द को पकड़ लेते हैं और उसी शब्द के कुशल प्रयोग से वे राम को निरुत्तर सा कर देते हैं । यथा -

राम- " हे भरत भद्र अब कहो अभीप्सित अपना ।"

भरत - " हे आर्य, रहा क्या भरत - अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?

x x

अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?"[२]

कोमल प्रसंगों में भी संवादों की यह विशेषता रखी गई है । द्वादश सर्ग में राम की विपत्तियों का समाचार हनूमान से सुन कर भरत की

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ३८२ , २०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २४६,२४७ ,, ,,

ग्लानि पुन: जागृत हो जाती है। वे सोचते हैं कि जनता राम की समस्त विपत्ति का मूल उन्हें ही समझती होगी। यह एक कोमल प्रसंग है। भरत शत्रुघ्न से पूछ उठते हैं —

लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ?"[१] तो शत्रुघ्न बड़ी प्रत्युत्पन्नमति के सहारे एक ही शब्द के द्वारा भरत की शंका का समाधान कर देते हैं। यथा —

" आर्य नाम के पूर्व साधु-पद वे देते हैं।"[२] इस प्रकार के संवादों में एक चमत्कार रहता है जिससे रोचकता की सृष्टि होती है।

भावमयता—

साकेत एक महाकाव्य है अत: स्वभावत: उसमें कवित्व है। साकेत के संवाद इसीलिए कवित्वमय हैं और भावुकता से पूर्ण हैं। उनमें रसोद्रेक रहता है। साकेत में विशेषकर लक्ष्मण-उर्मिला संवाद, राम-सीता संवाद, भरत कौशल्या संवाद भावुकता से पूर्ण हैं और वे रस की पुष्टि करते हैं। वास्तुत: महाकाव्य के संवाद भाव-व्यंजक होने ही चाहिये, क्योंकि उनसे ही कथा में गतिशीलता आती है और सरसता उत्पन्न होती है। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला संवाद के अन्तर्गत भावमयता दृष्टव्य है। यथा —

लक्ष्मण—" तदपि तुम-यह कीर क्या कहने चला ?
कह अरे, क्या चाहिये तुझको भला ?"

तोता —" जनकपुर की राज-कुंज-विहारिका,
एक सुकुमारी सलोनी सारिका।"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे,
उर्मिला के नेत्र खंजन से फँसे।

उर्मिला— " तोड़ना होगा धनुष उसके लिए।"

लक्ष्मण — " तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये!
धनुष टूटे का भला क्या तोड़ना ?
कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।"
तोड़ दातों की तुम्हारे वो अरे,

उर्मिला— " और भी तुमने किया कुछ है कभी,
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी ?"[१]

इस वार्तालाप में व्यंग्य, हास परिहास और मान का भाव मिला जुला है।

<u>गतिशीलता</u>

संवाद यदि कथा को आगे बढ़ाने वाले न हों, कार्य-प्रेरक न होकर यदि कार्य-रोधक हो जायं तो प्रबंध काव्य की सजीवता नष्ट हो जाय। साकेत की कथावस्तु मुख्यतया संवादों के द्वारा ही गतिशील हुई है। किन्हीं स्थलों पर ऐसे संवाद भी आए हैं जो कथा को गतिशील नहीं बनाते। उदाहरण के लिए पंचम सर्ग में राम-सीता और लक्ष्मण की वन-यात्रा के समय की विनोद-वार्ता और परिहास की गति मन्द है। इसका कारण बताते हुए डा० नगेन्द्र का कथन है —" कारण यह है कि वहां कथा में रिक्तता है और कार्य काफी दूर है। अत: उसका वास्तविक प्रयोजन तो मार्ग श्रम को दूर करना ही है। गुप्त के शब्द-'परिहास तथा वनवास यह' उक्त अर्थ की सिद्धि की ओर ही संकेत करते हैं।" इसका एक उदाहरण देखिये —

" वन में अग्रज अनुज, अनुज है अग्रणी"
सीता ने हंस कहा —" न हो कोई ऋणी।"
" भाभी फिर भी गईं न आईं तुम कहीं,
मध्यभाग की मध्यभाग में ही रहीं।"
मुसकाए प्रभु, मधुर मोदधारा बही,
" वन में नागर भाव प्रिये, अपना यही।"[२]

परन्तु ऐसे संवाद कम ही हैं। गतिशीलता लाने वाले संवाद ही साकेत में अधिक हैं। विशेषकर उर्मिला-लक्ष्मण संवाद और दशरथ - कैकेयी संवाद कार्य प्रेरक संवाद हैं। उदाहरणार्थ चतुर्थ सर्ग में राम-कौशल्या के संवाद में यह गुण देखने योग्य है। राम के संक्षिप्त कथन से ही उनके वन-गमन का समाचार दे दिया जाता है। यथा —

---

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० ३३ (२०२१ वि० सा०स०चिरगांव,झांसी)
२. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० २००(द्वादश संस्करण,सा०भ०१९५०,आगरा
३. साकेत पंचम सर्ग, पृ० १५६ (२०१वि०)

" माँ, मैं आज कृतार्थ हुआ,
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ ।
पावनकारक जीवन का,
मुझको वास मिला वन का,
जाता हूँ मैं अभी वहाँ,
राज्य करेंगे भरत यहाँ ।"[१]

वाक्चातुर्य

संवाद के क्षेत्र में साकेतकार को विशेष सफलता प्राप्त हुई है । साकेत के लगभग सभी संवाद वचन-चातुरी के उदाहरण हैं । प्रत्येक पात्र वाक्-पटु दिखाई पड़ता है । अष्टम सर्ग से एक उदाहरण देखिये —

जाबालि — " हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका ?"
राम — " हे जरठ, नहीं इस समय आप को जिसका ।"
जाबालि— " पशु-पक्षी तक हैं धीर, स्वार्थ रागी हैं ।"
" हे धीर, किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हैं ।"[२]

यहाँ राम के कथन वाक्चातुर्य के उदाहरण हैं, वे हास्य की भी योजना करते हैं । " हे जरठ" और " मैं पशु न आप पक्षी हैं" पढ़ कर पाठक बिना हँसे नहीं रह सकता । इस प्रकार के उत्तरों में विशेष चमत्कार रहता है । चतुर वक्ता वार्तालाप में संगति और युक्ति का भी उपयोग करता है । गुप्त जी के पात्र कुशल वक्ता की भाँति वाद-विवाद करते हैं । चित्रकूट के प्रसंग में राम-लक्ष्मण का वाद-विवाद इस दृष्टि से देखने योग्य है । भरत को ससैन्य आता देख कर लक्ष्मण क्रोधित हो उठते हैं और राम उन्हें धैर्य धराने की चेष्टा करते हैं यथा —

" राम —" भद्र भरत भी उसे छोड़ आए हों ,
मातृश्री से भी मुँह न मोड़ आए हों ।
लक्ष्मण, लगता है यही मुझे हे भाई ,
पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई ।

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० ६७(२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी)
२ .. अष्टम सर्ग पृ० २५६ ..

लक्ष्मण — आज्ञा अन्तःपुर-मध्य वासिनी कुलटा,
सीधे हैं आप परन्तु जगत है उलटा ।
जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं,
तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं ?

राम — भाई कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा,
पर मेरा ही विश्वास सत्य है सारा ।
माता का चाहा किया राम न आहा,
तो भरत करेंगे क्यों न पिता का चाहा ।"[१]

वचन चातुरी की दृष्टि से साकेतके समस्त संवाद सफल हैं । परन्तु कहीं कहीं दोष के रूप में भी संवादों की यह विशेषता आ गई है । इस सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी जी का मंतव्य दृष्टव्य है । यथा: —

" साकेत के प्रथम सर्ग की सर्वथा संगत वर्णन-प्रणाली की आवृत्ति आगे के सर्गों " में भी की गई, जहाँ वह असंगत बन गई । प्रथम सर्ग प्रीति के एक लघु मोदमय वातावरण में आरम्भ होता है । वहाँ कवि ने वार्तालाप का जो चमत्कार दिखाया है, वह संपूर्ण प्रासंगिक है । पर आगे के सर्गों में उस चमत्कार की आवश्यकता नहीं थी । काव्य सरिता दूसरे उपकूलों से बहने लगी थी , वहाँ कल-कल , छल-छल का तरल स्वर नहीं रहा था, पर कवि अपने को वातावरण के अनुकूल नहीं बना सका । उसका प्रथम सर्ग वाला वाक्छल और "सभा-चातुरी " नहीं छूटी ।"[२] " वाक्चातुरी का अपूर्व चमत्कार "साकेत" में दिखाया गया है पर यह चमत्कार सर्वत्र महाकाव्य के उपयुक्त नहीं होता ।"[३]

वक्तृत्व

साकेत के पात्र जब कथोपकथन करते हैं तो कभी कभी किन्हीं स्थलों

---

१ साकेत- अष्टम सर्ग, पृ० २३८ (२०२१ वि० सा०स०,चिरगाँव, झाँसी)

२ हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ४८, सं० १९९९, लोकभारत प्रका०)

३ ,, ,, ,, ,,

पर कवि ने सुदीर्घ वक्तृताओं की योजना भी कर दी है। ऐसी वक्तृताओं की योजना द्वारा पात्रों के चरित्र पर बहुत प्रकाश पड़ा है। उदाहरण के लिए अष्टम सर्ग में राम, कैकेयी और सीता की लम्बी वक्तृताएं उनकी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं। परन्तु इन लम्बी-लम्बी वक्तृताओं से अस्वाभाविकता टपकती है। जैसे कैकेयी के कथन पर्याप्त नाटकीय से प्रतीत होने लगते हैं। जिस कैकेयी ने कठोरता की चरम सीमा को पहुंच कर इतना कठोर कार्य कर डाला वही एकाएक चित्रकूट की सभा में इतने जोर-शोर से, भाषण सी देती हुई अपनी सफाई देने लगती है कि उसमें अस्वाभाविकता का आ जाना स्वाभाविक ही है।" हां जन कर भी मैंने न भरत को जाना " ? कहकर वह अपना वक्तव्य प्रारम्भ कर देती है अन्य सभी श्रोता के समान शान्त बैठे रहते हैं। काफी लम्बे वक्तव्य के पश्चात् वह कहती है —

" युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।"
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा —
धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।"[२]

तब' सौ बार धन्य वह एक लाल की माई' कह कर राम के साथ सभा भी चिल्ला उठती है। इसके पश्चात् पुन: कैकेयी अपना पश्चाताप प्रकट करते हुए अपना वक्तव्य प्रारम्भ कर देती है। यद्यपि वह सम्पूर्ण सभा को लक्ष्य करके अपना कथन कहती है, परन्तु कहीं उसका कथन स्वगत-कथन के समान प्रतीत होता है। इस प्रकार के लम्बे वक्तव्य खटकने वाले भी हो गये हैं।

इसी प्रकार अष्टम सर्ग में ही राम की लम्बी वक्तृता की नियोजना की गई है। 'हां इसी भाव से भरा यहां आया मैं'[३] कह कर राम अपनी दीर्घ वक्तृता द्वारा अपने महत्व का विज्ञापन सा करते हैं। सीता भी

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६, २०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. ,, ,, पृ० २४६ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २३३ ,, ,,

अपनी लम्बी वक्तृता को गीति का सहारा लेकर व्यक्त करती है।" मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।"[१] एक लम्बा गीत है, जिसमें सीता स्वच्छन्दता से अपने मनो भावों को व्यक्त करती है। उर्मिला भी द्वादश सर्ग में एक वीरांगना की भांति अपने भावोंको व्यक्त करती हुई वक्तव्य सा देती है। कहीं कहीं सहृदय भक्त कवि पात्रों के आदर्श की रक्षा करने के कारण लम्बे-लम्बे संवादों का सृजन कर गया है। उदाहरण के लिए सीता का वन जाने के पूर्व का कथन लिया जा सकता है।[२] पंचम सर्ग में निषाद के प्रति लक्ष्मण का कथन भी इसी दृष्टि से प्रलम्बित किया गया है।[३]

विविध वस्तु वर्णन

महाकाव्य जैसी विराट् रचना में कथावस्तु के अतिरिक्त कवि अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा अनेक प्रकार का वस्तु-निरूपण करता है, जैसे रूप चित्रण, प्रकृति-चित्रण, सामाजिक चित्रण, राजनैतिक चित्रण, धार्मिक चित्रण आदि आदि। महाकाव्य के अन्तर्गत विविध वस्तु वर्णन भाव-व्यंजना और प्रभावान्विति में सहायक होता है। यदि वस्तु-चित्रण भाव-व्यंजना में सहायक नहीं है तो वह व्यर्थ है। महाकाव्य में जीवन और जगत् के इन विविध वस्तु-वर्णनों का महत्व आचार्यों ने माना है। इन विविध वस्तु वर्णनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. प्रकृति-चित्रण

२. सांस्कृतिक चित्रण (इसमें सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक आदि का भी वर्णन आता है)

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० १२२-१२८ तक (२०२१ वि० साहित्य सदन चिरगांव झांसी)

२. ,, चतुर्थ सर्ग, पृ० ११६ से १२० तक ,, ,,

३. (" नाथ न मुझ सौंपा इसे .... अगम गहन क्या दहन नहीं।")

३. साकेत पंचम सर्ग, पृ० १३१ से पृ० १४२ तक

"बन्धु तुम शान्त हो .... सबसे समन्वय करो भक्ति का भुक्ति से"

प्रकृति चित्रण

प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन में कवि का मन यद्यपि अधिक नहीं रमा है परन्तु फिर भी साकेत में पर्याप्त प्रकृति वर्णन हुआ है ।" प्राकृतिक दृश्य साकेत में बहुत हैं । कुछ साधारण भूमिका स्वरूप हैं, कुछ समता अथवा वैषम्य के द्वारा पात्रों के भावों पर घात-प्रतिघात करते हैं । कुछ का उपयोग महाकाव्य की परम्परा-वश भी हो सकता है । कुछ प्राकृतिक दृश्यों की परीक्षा करते समय हम तुरन्त ही इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि यह कवि का अपना क्षेत्र नहीं है । साकेत में प्रकृति के चित्र नहीं वर्णित है — उनमें भी शिथिलता है ।"[1] कल्पना और भाव का सुन्दर योग होते हुए भी उनका सम्पूर्ण चित्र कवि के मन पर प्राय: अंकित नहीं होता, अत: उनमें एकता (   ) का अभाव है ।"[2]

साकेत में प्रकृति का चित्रण नहीं हुआ है, वरन प्रकृति का वर्णन हुआ है । क्योंकि उसमें संश्लिष्ट चित्रोपमता प्राय: नहीं है । प्रकृति का जहां स्वतंत्र रूप में चित्रण होता है वहां शास्त्रीय दृष्टि से उसका चित्रण आलम्बन रूप में माना जाता है । परन्तु जहां वह गौण रूप में चित्रित होती है वहां उसकी कई रूपों में वर्णना होती है । जैसे उद्दीपन रूप में, किसी भाव या रूप का सादृश्य या साधर्म्य बताने के लिए, वातावरण निर्माण के लिए मानवीकरण के रूप में, अलंकार रूप में, रहस्यात्मक रूप में , संवेदनात्मक रूपमें प्रतीकात्मक रूप में तथा दूत या दूती रूप में प्रकृति का वर्णन होता है । साकेत में गुप्तजी ने प्रकृति-चित्रण को अधिक प्रमुखता नहीं दी है, परन्तु फिर भी कई रूप में प्रकृति का वर्णन किया है ।

आलम्बन रूप

प्रकृति का स्वतंत्र रूप से चित्रण होना ही आलम्बन रूप कहा जाता है । आलम्बन रूप दो प्रकार का होता है ।

१. बिम्ब ग्रहण के रूप में

२. अर्थ ग्रहण के रूप में इसे नाम परिगणन प्रणाली भी कहते हैं

साकेत में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण कई स्थलों पर हुआ है । अष्टम सर्ग में प्रभात के वर्णन में प्रकृति के संश्लिष्ट रूप की झांकी विद्यमान है ।

यथा:-

" मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चिंत हँसी ज्यों बाँकी ।
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला ।
सिन्दूर-चढ़ा आदर्श-दिनेश उदित था,
जन-जन अपने को आप निहार मुदित था ।"[१]

प्रकृति के इस संश्लिष्ट चित्र में उसके कोमल और आकर्षक रूप की झाँकी आँक दी गई है । साकेत के प्रथम सर्ग में उषा का वर्णन सुन्दर है परन्तु उसे प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र नहीं कहा जा सकता । यथा:-

" सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य-रत्नाभरण ढीले पड़ चले ।
(एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ ।)
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा ।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे
देख लो, लोचन-कुसुम झँपने लगे ।
वेष-भूषा साज ऊषा आ गई,
मुख-कमल पर मुस्कराहट छा गई ।"[२]

इस प्रकृति वर्णन के बीच में ही एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ, राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ, कह कर कवि ने प्रकृति-वर्णन के सौन्दर्य को कम कर दिया है और ऐसा प्रतीत होता है मानों उपदेश देने के

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २६४ (२०२१ वि० सा०स०, चिरगाँव, झाँसी)
२. साकेत, प्रथम सर्ग ,, पृ० २४ ,,

लिए प्रकृति का माध्यम अपनाया गया हो । प्रकृति का यह वर्णन दृष्टि से सूक्ष्म अन्वीक्षण और निरालमयी कल्पना की साक्षी हैं , परन्तु चित्र में एकता नहीं है । उसकी गठन में कई भद्दे जोड़ हैं, जो 'आता हुआ' , 'जाता हुआ, 'क्योंकि' आदि शब्दों में स्पष्ट हैं ।"[१] परन्तु फिर भी साकेत में अनेक स्थानों पर बिम्ब ग्रहण के रूप में प्रकृति का वर्णन हुआ है ।

प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में उसके कोमल और रम्य रूप के अतिरिक्त प्रकृति के भयानक और कठोर रूप के चित्र भी दिखाई पड़ते हैं । उदाहरण के लिए नवम सर्ग में ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में प्रकृति के भयंकर रूप की झांकी देखी जा सकती है । यथा :-

" आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही ,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही ।
लपट से झट रूख जले, जले,
नद-नदी घट सूख चले चले ।
विकल वे मृग-मीन मरे, मरे,
विफल ये दृग दीन भरे, भरे ।"[२]

साकेत में बिम्ब ग्रहण प्रणाली के अतिरिक्त नाम-परिगणन-प्रणाली के रूप में भी प्रकृति वर्णन हुआ है । उदाहरण के लिए अष्टम सर्ग में केवल पक्षियों के नाम ही गिनाए गये हैं । यथा :-

" नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े ,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े ।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास वर्ष हैं थोड़े ।"[३]

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १८६(द्वादश संस्क०सा०र०भण्डार, आगरा
२. साकेत नवम सर्ग, पृ० २८७(२०२१ वि० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
३. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २२५ ,, ,,

जहाँ कवि ने प्रकृति का कोई संश्लिष्ट चित्र नहीं अंकित किया है।

साकेत में प्रकृति के आलम्बन रूप के अन्तर्गत कवि ने षट् ऋतुओं का भी वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि विशेष सफल हुआ है। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है —

" बरसो बरसो घन, बरसो,
सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नवयौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित चरित, स्वाति घर बरसो" [1]

एक और उदाहरण —

" मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी।" [2]

इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है —

" [illegible] तप न तपो तुम प्यारे,
जले आग सी जिसके मारे।
देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे,
जन को भी मन जीतो।" [3]

और

" लपट से झट रूख जले, जले,
नद-नदी-घट सूख चले, चले।
विकल वे मृग - मीन मरे, मरे,
विफल ये दृग दीन भरे, भरे।" [4]

इसीप्रकार उर्मिला के विरह वर्णन के अन्तर्गत शरद्ऋतु का वर्णन आया है।

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६३(२०२१ वि० सा०स०चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २६२ ,,
३. ,, ,, पृ० २८६ ,,
४. ,, ,, पृ० २८७ ,,

" निरख सखी, ये खंजन आये,

स्वागत, स्वागत, शरद्, भाग्य से मैंने दर्शन पाए
नभ ने मोती वारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाए ।"[१]

और -

" अम्बु, अवनि, अम्बर में स्वच्छ शरद की पुर्लात क्रीड़ा सी रस
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पिशाच-पीड़ा-सी ।"[२]

हेमंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है -

" आयाय हेमन्त दयाकर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत ।

आगत का स्वागत समुचित है, पर क्या आँसू लेकर ?
प्रिय होते तो लेती उसको मैं घी-गुड़ दे देकर ।"[३]

शिशिर का वर्णन कवि इस प्रकार करता है -

" करती है तू शिशिर का बार बार उल्लेख,
पर सखि, मैं जल-सी रही, धुवाँधार यह देख ।"[४]

और-

शिशिर न फिर गिरि-वन में,
जितना मांगे पतझड़ दूंगी मैं इस निज नन्दन में ।"[५]

वसंत ऋतु का वर्णन गुप्त जी इस प्रकार करते हैं -

" काली काली कोयल बोली-
होली-होली-होली !

साकेत नवम सर्ग, पृ० २९९ (२०२१वि०साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
,, पृ० ३०० ,,
,, पृ० ३०४ ,,
,, पृ० ३०६ ,,
,, पृ० ३०६ ,,

हँसकर आज लाल होठों पर हरियाली खिल डोली,
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीलीपीली चोली।
होली- होली-होली।"[1]

कवि ने इस प्रकार आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन करते हुए षट् ऋतु का सुन्दर वर्णन किया है।

<u>उद्दीपन रूप</u>—

साकेत के नवम सर्ग का षट्ऋतु वर्णन विरहिणी उर्मिला के विरह को उद्दीप्त करता हुआ अंकित है। कवि ने प्रकृति के उद्दीपन रूप द्वारा यह दिखाया है कि जहाँ प्रकृति के विभिन्न उपकरण संयोगावस्था में आनन्द की सृष्टि करते हैं, वहीं विरहावस्था में वे विरह को उद्दीप्त भी करते हैं। साकेत में प्रकृति संयोग के सुख और वियोग के दु:ख दोनों को उद्दीप्त करती हुई चित्रित की गई है। उदाहरण के लिए वर्षा ऋतु संयोगावस्था में उसके सुख को वर्धित करती हुई दिखाई पड़ती है —यथा :-

उर्मिला — " मैं निज अलिंद में खड़ी थी सखि एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई! मुख लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।"[2]

वही वर्षा ऋतु वियोग की अवस्था में उर्मिला को भयभीत कर देती है और उसके विरह को बढ़ा देती है।

" कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं,
आली, तोयद तड़प रहे हैं।"[3]

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३१२ (२०२१ वि० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
२. ,, ,, पृ० २९६ ,,

उपदेशात्मक रूप—

प्रकृति का उपदेशात्मक रूप भी कवि ने दिखाया है। यद्यपि प्रकृति का यह रूप काव्य के सौन्दर्य का वर्धन नहीं करता, परन्तु फिर भी प्राय: कवियों की दृष्टि प्रकृति के उन मार्मिक रहस्यों अथवा गूढ़ तथ्यों के उद्घाटन में लगी रहती है जिनके द्वारा वह शिक्षाप्रद बातें बतलाती है। कवि युग सृष्टा भी होता है और वह बहुत सी शिक्षाप्रद बातें बतलाती है। कवि युग सृष्टा भी होता है और वह बहुत सी शिक्षाप्रद बातें सीधे-सीधे न कह कर प्रकृति का उदाहरण देते हुए कहता है, जिससे वे बातें अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकृति वर्णन की यह प्रणाली बहुत अपनाई है। यथा:—

"दामिनि दमक रही घन माहीं। खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि निअराएं। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएं।"[1]

गुप्त जी ने भी यह प्रणाली अपनाई है। साकेत में अनेक स्थलों पर प्रकृति के माध्यम से उन्होंने अच्छे उपदेश दिये हैं। यथा:—

"एक राज्य न हो, बहुत से हों जहां,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां।
बहुत तारे थे, अंधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब तब मिटा।"[2]

यहां पर सूर्य के आने और तारों का वर्णन करके कवि ने उपदेश दिया है कि राष्ट्र की बिखरी हुई शक्ति का संगठन करने से राष्ट्र की शक्ति बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कवि ने प्रकृति के माध्यम से संसार के कटु-सत्य की झांकी भी दिखाई है:—

"पास पास ये उभय वृक्ष देखो, अहा।
फूल रहा है एक, दूसरा झड़ रहा।
है ऐसी ही दशा प्रिये, नर लोक की,
कहीं हर्ष की बात, कहीं पर शोक की।"[3]

---

१. मानस, किष्किन्धा काण्ड,१४।१-२

२. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० २४ (२०२१ वि० साहित्य सदन चिरगांव,झांसी)

हरे-भरे और सूखे वृक्ष के माध्यम से कवि ने संसार के दुःख और सुख की ओर संकेत किया है। प्रकृति चित्रण की यह प्रणाली अनेक कवियों ने अपनाई है। प्रसाद की यह प्रणाली अनेक स्थलों पर कामायनी में सुख और दुःख के प्रसंगों में उभर कर आई है। श्रद्धा मनु को समझाते हुए कहती है —

" दुःख की पिछली रजनी बीच,
  विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील,
  छिपाए है जिसमें सुख गात।"[1]

संवेदनात्मक रूप

मानव जीवन का विकास प्रकृति के प्रांगण में हुआ है। कवियों ने प्रकृति को मानव के दुःख में रुदन करते हुए और सुख में खिलखिलाते हुए चित्रित किया है। साकेत में भी प्रकृति मानव की चिर-सहचरी है और सन्देश के पात्रों के सुख,दुःख में वह भाग लेती है। उर्मिला की विरह दशा को देख कर प्रकृति भी शोकाकुल हो उठती है। यथा :—

" वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूल भरती है,
उबल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है।"[2]

यहाँ उर्मिला की करुण दशा देख कर, जो कोयल कूका कूका करती थी, आज हूक भर रही है, सूर्यास्त की लाली मानो रोष प्रकट कर रही है, समीर मानो उर्मिला के दुःख से संतप्त होकर निःश्वास निकाल रहा है। सुरभि धूल भरने लगती है। उर्मिला की विरहाग्नि के कारण मानो जलधारा उबल कर सूखने लगती है और धरती दुःख के कारण मरने लगती है। प्रकृति के प्रत्येक अवयव मानो उर्मिला की करुण दशा देख कर अपनी संवेदना प्रकट करते हैं।

---

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग
२. साकेत, नवम सर्ग (पृ० २७७(२०२१ वि० सा०स०, चिरगांव, झांसी)

गुप्त जी ने प्रकृति भावनाओं के सुख में सुखी होते हुए भी दिखाया है। सीता की प्रसन्नता में प्रकृति भी प्रसन्न है। यथा:-

" विखग्र-पर स्वागत हेतु निरत करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य पका करते हैं,
तृण तृण पर मुक्ता-भार थका करते हैं।
निरख नौली-विरलता रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।"[1]

<u>प्रतीकात्मक रूप</u>

जब कवि उपमेय के स्थान पर उपमान का ही प्रयोग करता है और ध्वनि तथा व्यंग द्वारा चित्रण करता है तो उसे प्रतीकात्मक प्रयोग कहते हैं। भावारोप का ही एक प्रकार प्रतीक-व्यंजना है। इसमें प्रधानतया अलंकरण की ही प्रवृत्ति रहती है। कवि अपनी भावना को सुन्दर और सुस्पष्ट रूप में प्रकट करने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेता है। कवि का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही होता है। ऐसे वर्णन में बाह्य साम्य की अपेक्षा अन्तर्साम्य की प्रमुखता होती है। गुप्त जी ने प्रकृति का प्रतीकात्मक रूप वर्णन किया है। उर्मिला की विरह-दशा को सजीवता प्रदान करने के लिए विशेष रूप से ऐसे प्रयोग किये गये हैं। उदाहरण के लिए नवम सर्ग के "जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी"[2] गीत में प्रतीक पद्धति को अपनाया गया है। इसमें प्रभात को बाल्यावस्था के रूप में, मध्याह्न को विरहाग्नि से जलते यौवन के रूप में और संध्या को वृद्धावस्था के रूप में चित्रित किया है। एक अन्य स्थल पर गुण के आधार पर भी प्रतीक कल्पना की है। यथा:-

" ऊषा सी आई थी जग में, संध्या सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ।"[3]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२४ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी)
२. ,, नवम सर्ग, पृ० २७७ ,,
३. ,, ,, पृ० २२१-२२२ ,,

प्रतीकों का प्रयोग गुप्त जी ने किया है परन्तु उनकी भरमार भी नहीं की है। महादेवी वर्मा के काव्य में प्रतीकों का बहुत ही अधिक प्रयोग हुआ है। प्रसाद की कामायनी भी प्रतीक शैली का एक अच्छा उदाहरण है।

अलंकार रूप

साकेत में प्रकृति का प्रयोग अलंकारों के लिए भी हुआ है। गुप्तजी ने पात्रों के धर्म, रूप और भाव का साम्य दिखाने के लिए भी प्रकृति के उपमानों को चुना है। प्रकृति के इन उपमानों के द्वारा पात्रों के रूप-गुण, धर्म और कर्म का सौन्दर्य स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए अष्टम सर्ग का सीता-सौन्दर्य का वर्णन लिया जा सकता है। यथा: —

" अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।

x x

कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से,
थे पत्र पुंज में अलग प्रसून प्रकट-से।
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक-से लहर रहे थे उनके।
मुख धर्म-बिंदुमय ओस-भरा अम्बुज - सा,
पर कहाँ-कंटकित नाल सुपुलकित भुज-सा।

x x

तनु गौर केतकी-कुसुम कली का गाभा,
थी अंग सुरभि के संग तरंगित आभा।
भौंरों से भूषित कल्पलता सी फूली,
गाती थीं गुनगुन गान भान-सा भूली।"[1]

यहाँ पर अनेक प्राकृतिक उपमानों के द्वारा कवि ने सीता के रूप में सौन्दर्य

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२१,२२२, (२०२१वि० सा०स०, चिरगांव, झाँसी)

का चित्र अंकित है । ये सभी उपमान काव्य में प्राचीन काल से प्रयुक्त होते आ रहे हैं । इन प्रयोगों में नवीनता अथवा कवि की मौलिकता नहीं है । इसी प्रकार अष्टम सर्ग में जब लक्ष्मण राम के साथ वन जाने लगते हैं तो उर्मिला की दयनीय दशा का वर्णन कवि प्रकृति के उपमानों द्वारा करता है । यथा —

" वह नई वधू भोली भाली, जिसमें सु-रंग की भी लाली,
कुम्हलाई यथा कैरवाली, या ग्रस्त चंद्र की उजियाली ।"[१]

<u>वातावरण के लिए —</u>

यह कवि की कुशलता है कि वह आगामी शोक अथवा प्रसन्नता को दिखाने के लिए प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है कि पाठक अथवा श्रोता पहले ही उसका अनुमान लगा लेते हैं । प्रकृति वर्णन के द्वारा ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अब दुःखद घटना आने वाली है अथवा सुखद । उल्लासपूर्ण वातावरण की सृष्टि के लिए प्रकृति के प्रफुल्ल रूप का चित्रण होता है तथा शोकपूर्ण वातावरण के लिए प्रकृति को गंभीर और उदास रूप में चित्रित किया जाता है । साकेत में प्रकृति का प्रयोग वातावरण के निर्माण के लिए बहुत हुआ है । प्रथम सर्ग में तो लक्ष्मण-उर्मिला के जीवन के उल्लास को प्रकट करने के लिए कवि ने प्रकृति को प्रफुल्ल रूप में चित्रित किया है । यथा :-

" है बनी साकेत नगरी नागरी,
और सात्विक भाव से सरयू भरी ।
पुण्य की प्रत्यक्ष धारा बह रही,
कर्ण-कोमल कल-कथा सी कह रही ।
तीर पर हैं देव-मंदिर सोहते ।
भावुकों के भाव मन को मोहते ।
आस पास लगी वहाँ फुलवारियाँ,
हँस रही हैं खिलखिलाकर क्यारियाँ ।"[२]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० १६१ (२०२१वि० साहित्य स०चिरगांव,झांसी)
२ ,, प्रथम सर्ग, पृ० २२ ,,

प्रकृति के विषादपूर्ण चित्र को भी गुप्त जी ने विषाद के वातावरण-निर्माण के लिए प्रयुक्त किया है। राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त कवि ने प्रकृति के विषाद पूर्ण चित्र द्वारा विषादमय वातावरण चित्रित किया है। ऐसे वातावरण को देखकर भरत एवं शत्रुघ्न जान गये कि अयोध्या में कोई न कोई दुर्घटना या अमंगल घटना हो गई है। प्रकृति चित्रण के द्वारा विषादपूर्ण वातावरण का निर्माण कवि यों करता है —

" नागरिक-गण-गोष्ठियों से हीन,
राज उपवन हैं विजन में लीन।
वृक्ष मानों आँखें बाट निहार,
कँप उठे हैं फुनगि, फुल, फल, हार।
बह रही सरयू किसी दुख रुद्ध,
बह रही है वायु धारा शुद्ध।
पर किसे है आज इसकी चाह?
भर रही वह लम्ब ठण्डी आह!
जा रहा है व्यर्थ सुरभि-समीर,
हैं पड़े हत-से सुरभि के तीर!
(देख ये रिक्त क्रीड़ा चित्र,
हैं भरे आते उमड़ कर नेत्र।)[१]

मानवीकरण के रूप में

गुप्त जी ने साकेत में अनेक स्थलों पर प्रकृति का मानवीकरण किया है। आधुनिक कवियों ने प्रकृति का इस रूप में बहुत प्रयोग किया है। वे प्रकृति में एक प्राणवान सत्ता की झलक देखते हैं। वे प्रकृति को जड़ नहीं वरन चेतन देखते हैं। इसीलिए कवि प्रकृति की विभिन्न क्रीड़ाओं, चेष्टाओं और व्यापारों का मानव व्यापारों की भाँति वर्णन करते हैं। गुप्त जी ने भी प्रकृति की अनेक

---

१. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० १८४-८५ (२०२१ वि० सा०स०चिरगाँव,झाँसी।)

क्रीड़ाओं और व्यापारों का चित्रण मानवीय क्रीड़ाओं तथा व्यापारों की भाँति किया है । प्रकृति का इस रूप में प्रयोग प्रकृति का मानवीकरण कहलाता है । साकेत में कतिपय स्थल इस प्रणाली के कई उदाहरण हैं । द्वितीय सर्ग में यामिनी का मानवीकरण किया गया है । वह एक नारी की भाँति चित्रित है । यथा :-

" अरुण संध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल, यामिनी आ पहुँची तत्काल ।"[१]

यहाँ यामिनी पर मानवीय चेष्टाओं का आरोप है । नारी की भाँति शृंगार से आच्छादित है और कौतुक देखने के लिए संध्या को सामने से आगे ठेल जगत में पदार्पण करती है । इसी प्रकार नवम सर्ग में ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर वसंत ऋतु की मृत्यु का वर्णन किया है । यथा:-

लो ही मरा वह वराक वसन्त कैसा ।
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा ।
देखो, बढ़ा ज्वर, जरा-जड़ता जगी है ।
लो, ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है ।"[२]

यहाँ वसंत की मृत्यु में मृत्युगत मानवीय चेष्टाओं का आरोप किया गया है । इस प्रकार के अनेक चित्र साकेत में उपलब्ध हैं ।

दूती रूप में —

कालिदास के 'मेघदूत' में प्रकृति चित्रण की यह प्रणाली बड़े ही सौष्ठव के साथ अपनाई गई है । अन्य कवियों ने भी इस प्रणाली को अपनाया है । साकेत में भी दो एक स्थलों पर प्रकृति को दूतीरूप में चित्रित किया गया है । नवम सर्ग में विरहिणी उर्मिला अपने समस्त पालित पशु-पक्षियों को बंधन मुक्त कर देती है । तभी उसका प्रिय शुक उसके पास आता है । उर्मिला उसे देखकर उसे भी बंधन मुक्त करते हुए उसके द्वारा लक्ष्मण के पास संदेश भेजती है ।

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ४०, (२०२१ वि० , साहित्य सदन, चिरगांव)
२. ,, नवम सर्ग, पृ० [illegible]

यथा:--

" तुझपर मुझ पर हाथ फेरती साथ यहाँ,
कह, निश्चित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ?
तेरी ही प्रिय जन्म-भूमि में, दूर नहीं,
जा तू भी कहना कि उर्मिला क्रूर नहीं ।"[१]

इसी प्रकार उर्मिला कपोत से भी निवेदन करती है कि तुम्हें वन में लक्ष्मण क्यों नहीं ले गये ? तुम वन में चले जाओ और मेरे प्रियतम का पत्र ले आओ तो मेरे दुःख-सागर को पार करने के लिए पोत बन जाये । यथा :--

" लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ?
लाते तुम्हीं हा ! प्रिय-पत्र-पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे । [२]

सावेत की आधुनिकता

गुप्त जी सामंजस्यवादी कवि हैं । उन्होंने अपने काव्य में प्राचीन और अर्वाचीन का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित किया है । " प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं ।"[३] गुप्त जी सामंजस्य-वादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले या मद में झूमने वाले कवि नहीं हैं ।[४] वास्तव में गुप्त जी की विचारधारा विकासशील है । वे अपने युग के साथ चले हैं ।

आधुनिकता की दृष्टि से साकेत की पहली विशेषता उसकी भाषा सम्बन्धी है । इस सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी जी ने कहा है साकेत की एक

---

१. साकेत नवम सर्ग, पृ० २७६, (२०२१ वि० सा०स०चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, पृ० २७८ ,, ,,
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्लजी, पृ० ५३६(सं० २००२)
४. ,, ,, पृ० ५३६ ,,

प्रमुख आधुनिकता है -- उसमें ब्रजभाषा और पुरानी हिन्दी के स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग । इस विषय में उनकी तुलना गुप्त जी के दूसरे समकालीन कवि हरिऔध जी के 'प्रिय-प्रवास' काव्य से भी की जा सकती है । 'प्रिय-प्रवास' की खड़ी बोली पर संस्कृत का पूरा आच्छादन है और उसके छंद, समास आदि संस्कृत से ही ग्रहण किये गए हैं । साकेत की खड़ी बोली अधिक स्वतंत्र है । उस पर संस्कृत का प्रभाव यत्र-तत्र अधिक नहीं है, और न उसके छंदों और समासावलियों में संस्कृत की पद्धति स्वीकार की गई है । खड़ी बोली के विकास की दृष्टि से वह 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा अधिक आधुनिक कृति है ।"[1] यह तो हुई साकेत की वाह्य शरीर यष्टि की नवीनता और आधुनिकता ।

यदि हम साकेत के अंतरंग की आधुनिकता देखना चाहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि आधुनिक शब्द सर्वथा सापेक्ष है और किसी भी वस्तु की आधुनिकता उसके ऐतिहासिक निर्माण-क्रम की परिधि में ही देखी जा सकती है, इतिहास से निरपेक्ष होकर नहीं ।"[2] यदि साकेत की आधुनिकता को समझने के लिए इस ऐतिहासिक पक्ष का ध्यान रखा जाय तो साकेत की आधुनिकता पुरानी प्रतीत होगी । क्योंकि हिन्दी साहित्य में साकेत के बाद 'प्रसाद' की 'कामायनी', 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' और डा० रामकुमार का 'एकलव्य' भी प्रकाशित हुए हैं । कामायनी में कवि ने आधुनिक विज्ञान के द्वारा मानव के विकास का दार्शनिक चित्रण किया है । इसमें हमारी तर्क बुद्धि को उत्तेजित करने की अधिक शक्ति है । 'कुरुक्षेत्र' में कथानक यद्यपि प्राचीन है परन्तु उसमें नये युग के राजनीतिक विद्रोह और समाजवादी भावधारा का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । अतः इन दोनों काव्यों के सामने 'साकेत' की आधुनिकता आरम्भिक या अविकसित कही जा सकती है । किन्तु ऐतिहासिक नवीनता की दृष्टि से 'साकेत' की आधुनिकता स्पष्ट है ।[3]

---

१. आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी, पृ० ६६
२. ,, ,, पृ० ६७
३. आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी, पृ० ६७

साकेत की समानता यदि 'मानस' से की जाती तो उसकी आधुनिकता स्पष्ट होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम को परब्रह्म के अवतार के ही रूप में चित्रित किया है। उन्होंने अवतारवाद के सिद्धान्त को ही मान्यता दी है और ईश्वर की मानवता दिखाई है। परन्तु साकेत में ठीक इसका उलटा क्रम है। साकेत में मानवता का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर ईश्वरत्व को प्राप्त करता हुआ दिखाया गया है। राम स्वयं कहते हैं 'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया'[1]। आचार्य वाजपेयी जी का कथन है — 'साकेत में प्रथमबार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम-सीमा पर ईश्वर के समकक्ष लाकर रखा गया है, जो मध्ययुग में किसी प्रकार संभव न था[2]।' इसके अतिरिक्त साकेत के प्रमुख पात्र यद्यपि राजपरिवार के हैं परन्तु कवि ने उन्हें लोक-सामान्य-धरातल पर चित्रित किया है, जिससे वे अत्यंत समीप मालूम पड़ते हैं। सीता चित्रकूट में अपने हाथों सब कार्य करती हैं —

> औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ।
> अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
> श्रमवारि बिन्दु फल स्वास्थ्य शुचि फलती हूँ।
> अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
>> तनुलता सफलता स्वादु आज ही आया,
>> मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।[3]

साकेत की मूलवर्तिनी आधुनिकता यह है कि राम काव्य में प्रथम बार उर्मिला को नायिका बनाया गया। आचार्य वाजपेयी का इस सम्बन्ध में कथन है — हम यह नहीं कहते कि 'साकेत' में चित्रित उर्मिला और भरत के चरित्र नितान्त नवीन हैं, किन्तु राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिला के

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ०
२. आधुनिक साहित्य-आचार्य वाजपेयी, पृ० ६७
३. साकेत, अष्टमसर्ग, पृ०

जीवन-मूल्यों से कला-वस्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास में एक प्रवर्तन है और विचारों की दुनिया में एक अभिनव क्रान्ति । इस नवीनता को यदि साकेत में प्रतिष्ठित आधुनिकता की आधार मान लिया, तो कुछ भी अनुचित न होगा ।"[1] साकेत में राम-काव्य के विपरीत राम-सीता को नायक-नायिका न बनाकर उर्मिला-लक्ष्मण को नायिका और नायक बनाया गया है । यह साहित्यिक मौलिकता है । उर्मिला का स्थान राम-काव्य में नगण्य ही था, अथवा नहीं के बराबर आया था । ऐसे नगण्य पात्र को प्रमुखता देकर कवि ने दो दृष्टियों से क्रान्ति की है — १. सामाजिक, २. साहित्यिक । उर्मिला के चरित्र में पुराने संस्कार भी हैं और प्राचीन सामाजिक आदर्श भी, परन्तु गुप्त जी ने उसके चरित्र में नवीन भावनाओं को भी भरा है । मानव महत्व की सामाजिक कल्पना से साकेत पूर्ण है ।[2] साहित्यिक क्रान्ति के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी का कथन है — "साकेत में महाकाव्य-सम्बन्धी नया आदर्श और प्रतिमान स्थिर करने का प्रयत्न जानबूझ कर भले ही न किया गया हो, परन्तु महाकाव्य विषयक क्रमागत व्यवस्था और परिपाटी से यह अनजाने में ही इतना दूर चला गया है कि आधुनिक युग का नया साहित्यिक प्रवर्तन उसे स्वभावत: अपने विकास की आरम्भिक कड़ी मान कर चलता है ।"[3]

साकेत में कुछ कृत्रिम और ऊपरी या नकली आधुनिकता भी आ गई है । जैसे राम जब अयोध्या छोड़ कर वन जाने के लिए तत्पर हैं, उस समय जनता भद्र-अवज्ञा करती है और राम का मार्ग रोक कर खड़ी हो जाती है । इसी प्रकार द्वादश सर्ग में उर्मिला सैनिकों को गांधी जी का अहिंसा का उपदेश देने लगती है ।

सारांश में यही कहा जा सकता है कि साकेत में बीसवीं शताब्दी ईसा की आरंभिक आधुनिकता अवश्य ही है ।

---

१. आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी, पृ० ९९
२. ,, ,, पृ० ९९
३. ,, ,, पृ० १००

मौलिक उद्भावनाएं --

गुप्त जी ने साकेत की वस्तु में अनेक मौलिक कल्पनाएं की हैं। "इसका सबसे बड़ा कारण यही यह है कि 'साकेत' आधुनिक-काल की कृति है, यद्यपि इसकी कथा प्राचीन है। कवि ने आधुनिकता के प्रभाव से इसमें अनेक नवीन उद्भावनाएं की हैं।" ये सभी उद्भावनाएं कवि की गम्भीर भावुकता और प्रौढ़ कल्पना का परिचय देती हैं। साकेत लिखने का मूल उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला के प्रति न्याय करना था, अतः उसी के अनुसार आवश्यक उद्भावनाएं भी हुई हैं।"[1] इसके अतिरिक्त नूतन उद्भावनाओं के मूल में, नारी जागरण की भावना, आधुनिक बुद्धिवाद, राष्ट्रप्रेम, गांधीवाद आदि प्रवृत्तियां बलवती रही हैं। साकेत की मौलिक उद्भावनाओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है --

१. गुप्त जी ने साकेत में मानव की ईश्वरता का प्रतिपादन किया है। राम कहते हैं -- "नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।"[2] "'मानस' में गोस्वामी जी ने अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्य में ईश्वर की मानवता प्रदर्शित की है। 'साकेत' में इसका ठीक उल्टा क्रम है। इसमें ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव की ईश्वरता का निरूपण किया गया है, जो दार्शनिक दृष्टि से ठेठ आधुनिक युग की वस्तु है।"[3]

२. साकेत में गुप्त जी ने राम- सीता आदि पात्रों का चित्रण लोक सामान्य धरातल पर किया है। "मानस में ये पात्र अलौकिकत्व से पूर्ण दिखाई पड़ते हैं। 'साकेत के लक्ष्मण उर्मिला ऐसे व्यक्ति नहीं हैं, जिनसे हम दूरी का अनुभव करें.. ...... गुप्त जी के 'साकेत' का समस्त जीवन विवरण हमारे साधारण पारिवारिक जीवन के साथ मिला जुला प्रतीत होता है।"[4] "मैथिलीशरण

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० १६(द्वादश सं०, सा०र०भं०,आगरा)
२. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३४
३. आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ६७
४. ,, ,, ,, पृ० ६८(नैशनल पब्लि०हा०दिल्ली)

जहाँ पारिवारिक स्त्रियों का चित्र इस पर उन्हें स्वाभाविक रूप देते हैं वहाँ पात्रों में उन का सम्बन्धीयता के स्थान पर मानवीय शक्ति का विकास दिखाते हैं।"

३. साकेत यद्यपि राम-काव्य है परन्तु गुप्त जी ने इसमें रामकथा को मुख्य-कथा के रूप में न रख कर उर्मिला लक्ष्मण की कथा को ही मुख्य कथा बनाया है। युग युग से उपेक्षित उर्मिला को सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया है। "रामायण के प्रमुख चरित्रों और क्रमागत कथानक को छोड़कर कवि ने उर्मिला और भरत की रागात्मयी जीवनी चित्रित की है। महाकाव्य की पद्धति है जिसके साधु भरत ने नायक और वियुक्ता उर्मिला को नायिका बनाया है।"[२] "उर्मिला के पूर्वराग संयोग, वियोग और पुनर्मिलन-विषयक समस्त घटनावली और प्रसंग-कल्पना कवि की अपनी उद्भावना है। उसे प्रायः राम-कथा के अनेक स्थलों पर उपस्थित ही नहीं किया गया, मुखर भी बनाया गया।"[३]

४. कैकेयी के सम्बन्ध में भी गुप्त जी की नवीन कल्पना है। गुप्त जी ने कैकेयी के चरित्र में मौलिकता का पुट देकर युग-युग से घृणा की पात्र बनी हुई इस जननी के पापों का प्रक्षालन किया है। चित्रकूट की सभा में कवि उसे अपनी सफाई देने का पूरा अवसर देता है। और कैकेयी अपने कलंक को धो देती है।" तुलसी ने तो "गरी गलानि कुटिल कैकेयी" कह कर उसे छोड़ दिया था मानों उसको कुछ कहना ही न हो। यहाँ वह अपनी मातृत्व-अपने वात्सल्य की दुहाई देकर अपने कृत्य का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करती है। कैकेयी का चरित्र यहाँ अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है।"[४] अन्त में वह तपस्विनी हो जाती है और द्वादश सर्ग में वह भरत के साथ लंका पर चढ़ाई करने के लिए भी तत्पर हो जाती है।

५. कवि ने साकेत में प्रबंधात्मकता की प्रतिष्ठा के लिए चित्रकूट मिलन के पश्चात की सभी घटनाओं की परोक्ष वर्णना की है। बालकाण्ड की कथा उर्मिला

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, डा० उमाकान्त, पृ० १६३-१६४, नेशनल पब्लि०हा०, दिल्ली, द्वितीय संस्करण।

२. आधुनिक साहित्य - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ६८

३. मैथिलीशरण गुप्त-व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४४१

४. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ०२० (द्वादश संस्करण)

वर्णित करती है। अरण्यकाण्ड की कथा अक्षुण्ण और किष्किन्धा, सुन्दर तथा लंका काण्ड की कथा हनुमान के द्वारा कहलाई गई है। राम-रावण युद्ध का दृश्य वशिष्ठ साकेतवासियों को दिव्य-दृष्टि देकर दिखाते हैं। इस कानि में अलौकिकता का समावेश है। 'इस तत्व में दिव्यदृष्टि के द्वारा कवि ने प्रत्यक्ष दर्शन का मार्ग निकाला है, पर दिव्य दृष्टि का विनियोग आधुनिक बुद्धिवाद की वस्तु नहीं है, वह केवल कवि की विश्वासपरायणता का परिणाम है। उसने योग शक्ति से हनुमान को आकाशचारी बनाया और उसी शक्ति से साकेत के नर-नारियों को दिव्य दृष्टि प्रदान की।'[1] इसी प्रकार की दूसरी अवस्था हनुमान के आकाश मार्ग से, अपने शरीर को योगाभ्यास द्वारा हलकी करके जाता है।' यहाँ अलौकिक कृत्य को बुद्धिवादी ढंग से स्पष्ट करना पड़ा, अन्यथा आकाश से उड़ना अथवा भरत के बाण पर लौट जाना, ये दोनों ही अतिप्राकृत कार्य होते।'[2]

६. माँडवी के चरित्र को भी कवि ने गीत के अंतिम सर्ग में प्रफुल्लता देने का प्रयत्न किया है।

७. साकेत वासियों की रण-सज्जा भी कवि की मौलिक उद्भावना है। राम पर आपत्ति को देख कर कवि भरत और शत्रुघ्न को चुपबैठे नहीं रहने देता। 'तुलसी के राम को तो इसकी आवश्यकता ही नहीं थी .... और भरत आदि भी इस बात को पूर्णतया जानते थे कि 'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई, सपनेहु संकट परै कि सोई', अतः उनके लिए तो यह प्रश्न ही आवश्यक था।'[3]

८. कैकेयी-मंथरा संवाद में मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है।

९. कैकेयी को स्वयं राजा दशरथ से दोनों वर माँगने की याद नहीं आती, वरन् राजा दशरथ ही उसे स्मरण कराते हैं और वर माँगने के लिए कहते हैं।

१०. लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद के द्वारा भरत के साकेत न बुलाए जा सकने का कारण कवि स्पष्ट कर देता है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४३६, प्रथम संस्करण, १९६०, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय, सागर

२. वही, पृ०४३६

११. चरण-पादुका का प्रसंग मानस की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

१२. कौशल्या पति के साथ सती होने का प्रस्ताव करती हैं। "दशरथ की मृत्यु के उपरान्त उनकी बड़ी रानी का सहगमन-व्यापार के लिए प्रस्तुत न होना — ऐसा उनके गौरव के अनुकूल नहीं। तुलसीदास जी तो राम में इतने तन्मय थे कि उनके सम्मुख ये अतिरिक्त प्रश्न आए ही नहीं। सुलोचना, मन्दोदरी आदि राक्षस-पत्नियाँ तो अपने पतियों के साथ सती हो गईं किन्तु कौशल्या सुमित्रा जैसी आदर्श महिलाओं ने ऐसा विचार तक प्रकट न किया। साकेतकार ने इस असंगति को पहिचाना है और उनकी कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती हैं, परन्तु भरत की विनय और वशिष्ठ के उपदेश उन्हें रोक लेते हैं।"[1]

१३. लक्ष्मण को शक्ति लग जाने के बाद साकेत के राम व्याकुल होकर विलाप नहीं करते, वरन् क्रोधित होकर भीषण मारकाट मचा देते हैं। कुम्भकरण उनके सामने पड़ जाता है और वे "भाई का बदला भाई ही" कह कर उसे समाप्त कर देते हैं। इसके पश्चात राम जब रावणकी ओर देखते हैं तो उसे मूर्छित पाते हैं और उन्हें लक्ष्मण की मूर्छा का स्मरण हो आता है। वे रावण की प्रशंसा करते हैं — "प्रभु भी यह कह गिरे राम से रावण भी सहृदय है आज।"

१४. हनुमान को संजीवन बूटी साकेत में ही मिल जाती है।

१५. प्रथम, पंचम और अष्टम सर्ग में कवि ने पारिवारिक हास-परिहास की योजना की है।

१६. कवि ने सीता को स्वावलम्बी रूप में चित्रित किया है। चित्रकूट में सीता 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' गीत गाती हुई अपने स्वावलम्बी जीवन की झाँकी दिखाती हैं। गुप्त जी ने उनके हाथों में चरखा और तकली के साथ-साथ खुरपी और कुदाल भी दे रखी है।

१७. लक्ष्मण उर्मिला के हास-परिहास में कुछ शृंगारिक चित्र भी दिखाई पड़ते हैं जैसे — "हाथ लक्ष्मण ने तुरंत बढ़ा दिये, और बोले — "एक परिरम्भण प्रिये !"
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया, एक तीक्ष्णापांग ही उसने दिया
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया, आपही फिर प्राप्य अपना ले लिया"[2]

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० २२,२३ (द्वादश संस्करण)
२. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० ४० (२०२१ वि० संस्करण), सा

साकेत की ये मौलिक उद्भावनाएं हैं। कवि ने मौलिकता और आधुनिकता को भी प्रश्रय दिया है। जहां कहीं अस्वाभाविक प्रसंग थे वहां कवि ने मनोविज्ञान का आधार ले लिया है। नारी को कवि ने एक विस्तृत क्षेत्र दिया है। कवि ने रामायण और मानस की इस कथा का कहीं भी हनन नहीं किया है, परन्तु फिर भी पर्याप्त मौलिकता का प्रतिपादन किया है।

सांस्कृतिक चित्रण —

महाकाव्यकार विविध वस्तु वर्णन करते समय प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त सांस्कृतिक-चित्रण भी करता है। इसके अन्तर्गत जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकार के वर्णन आते हैं जैसे सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक आदि।

१. सामाजिक जीवन का चित्रण —

साकेतकार ने साकेत में सामाजिक जीवन का चित्रण किया है। कवि रामभक्ति का उपासक है और राम के द्वारा सामाजिक आदर्श की स्थापना की है। सामाजिक जीवन की सुदृढ़ता के लिए मर्यादा अपेक्षित है।

" निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।"[१]

समाज की उचित व्यवस्था के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति स्वार्थी न हो जाय। उसे दूसरों के अधिकारों का भी ध्यान रखना चाहिए। यथा—

" केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार-धारिणी भरणी।
जन-पद के बंधन मुक्ति हेतु हैं सबके,
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके।"[२]

गुप्त जी समाज में वर्ण-भेद और ऊँच-नीच की भावना नहीं देखना चाहते, वे साकेत में एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करते हैं। वे समाज में समानता लाना चाहते हैं। साकेत में राम गुह को हृदय से लगा लेते हैं और जैसे-तैसे विदा करते हैं। यथा:—

" उसे हृदय से लगा लिया श्री राम ने,
ज्यों-त्यों करके विदा किया धी-धाम ने।"[३]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३१ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २३१ ,, ,,
३. पंचम सर्ग, पृ० १४६ ,, ,,

उर्मिला जो कि राजरानी है, वह सुशीलशालिनी, शाली शान्ति की प्रोषित पतिकाओं को निमंत्रित करती है और उन सबों को आदर देती है कि वे उन्हें प्रेम से लिवा लावें ।[१] गुप्त जी वर्ण व्यवस्था के अनुयायी होकर भी सामाजिक समानता को महत्व देते हैं । राम वन में ऋक्ष-वानरों के समान रहने वाले नीच जनों को आर्यत्व प्रदान करते हैं । यथा:-

" बहुजन वन में हैं बने ऋक्ष-वानर से,
मैं दूंगा आर्यत्व उन्हें निज कर से ।"[२]

राजरानी सीता भी कोल, किरात, भिल्ल बालाओं के साथ सखी के समान व्यवहार करती हैं और उनकी सेवा में भी लगी रहती हैं ।[३]

साकेत में एक सुसंगठित समाज का सुन्दर चित्र भी गुप्त जी ने अंकित किया है । साकेत के एकादश सर्ग में सामाजिक एकता और सुसंगठित भावना का व्यापक विस्तार से किया है । शत्रुघ्न भरत के पास आकर बतलाते हैं कि उनके जनपद में कहीं भी असंतुष्टि नहीं है ।

" नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में,
है संतुष्ट तथा सब शान्त ,
उनके आगे सदा उपस्थित
दिव्य राज-कुल का दृष्टान्त ।"[४]

क्योंकि सब ओर सुव्यवस्था है और सुसंगठन भी है । चारों ओर नवीन जागृति है । बड़े बड़े ज्ञानी विज्ञानी नवीन सत्यों की शोध कर रहे हैं । कविगण प्रति-दिन नवीन गीतों की सृष्टि कर रहे हैं और कुशल गायक उन गीतों को नए रागों में बांधते हैं और तालों में जमाते हैं । कुशल शिल्पी नवीन अच्छे वाद्यों का निर्माण कर रहे हैं । सूत्रधार नवीन नाटकों की सज्जा में लीन रहते हैं । ऐन्द्रजालिक अपने नए नए अद्भुत खेल दिखाते हैं । चित्रकार सुन्दर नए-नए चित्रों को बनाते हैं । वैद्य नई और अच्छी वनस्पतियों की खोज कर नई औषधियां

साकेत
१ नवम् सर्ग, पृ० २०५ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
२ अष्टम सर्ग, पृ० २३५ ,, ,,
३ साकेत अष्टम सर्ग, पृ० २३१ ,, ,,
४ ,, ,, ,, ,,

बनाते हैं जिनकी गन्ध मात्र से गाय के सब रोग समाप्त हो जाते हैं । माली लोग नवीन प्रकार के पौधों को उगाकर नए प्रकार के फूलों को उत्पन्न कर-करके नई सुगन्धियों को तैयार कर रहे हैं । तंतुवाय नए प्रकार के कपड़े बुनते हैं । स्वर्णकार नए प्रकार से स्वर्ण और माणिक का संयोग करके आभूषण बनाते हैं । कृषक गाढ़े परिश्रम से कृषि की वृद्धि में लगे हैं, सैनिक युद्ध कौशल की शिक्षा पाकर नए प्रकार के शस्त्र बनाते हैं और लक्ष्यों को सिद्ध करते हैं । वे विविध युद्ध कौशल का प्रदर्शन करते हैं ।[1]

इस प्रकार गुप्त जी ने साकेत में सामाजिक जीवन का भव्य चित्र उपस्थित किया है ।

२ पारिवारिक जीवन का चित्रण

गुप्त जी ने साकेत में अयोध्या के राजा दशरथ के परिवार का एक भव्य चित्र अंकित किया है । गुप्त जी पारिवारिक चित्रण करने में बहुत ही कुशल हैं । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गुप्त जी के इस गार्हस्थ्य वातावरण को 'गार्हस्थ्य-रस' की संज्ञा दी है ।[2] गुप्त जी के इस वर्णन की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं -" मुझे ठीक नहीं मालूम कि भारतवर्ष के किसी और कवि ने इस पारिवारिक या गार्हस्थ्य रस को इतनी निपुणता से चित्रित किया है या नहीं, पर मैं निस्सन्देह कह सकता हूँ, इस रस के लिए गुप्त जी सरीखे आदर्श गृहस्थ से अधिक उचित अधिकारी की कल्पना नहीं की जा सकती । साकेत के प्रेम, विरह और परिश्रमत उत्कर्ष इसी मजबूत भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं ।"[3] साकेत में साकेतकार ने अयोध्या के राजपरिवार के सुख:-दुख का वर्णन किया है । इस राजपरिवार का जीवन आदर्श हिन्दू गृहस्थ के जीवन के समान है , इस परिवार के अन्तर्गत गुप्त जी ने पति पत्नी, पिता-पुत्र, माताएं-

---

१. साकेत, एकादश सर्ग , पृ० ४०४ - ४०६ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

२. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, भूमिका, पृ० ६ ,द्वादश संस्करण

३. ,, ,, ,, ,, .

विमाताएं, भाई-भाई, देवर-भाभी, सासें और पुत्र वधुएं, स्वामी-सेवक तक का सम्बन्ध दिखाया है। इन सम्बन्धों के विविध चित्र अनेक भावों से आप्लावित हैं। "साकेत जीवन-काव्य है। उसमें एक व्यक्ति का जीवन अनेक घटनाओं और व्यक्तियों के बीच अंकित है — अतः उसमें मानव राग द्वेषों की क्रीड़ा के लिए विस्तृत क्षेत्र होना स्वाभाविक है।"[१] साकेत के पारिवारिक जीवन पर कवि के स्वयं के गार्हस्थिक जीवन का प्रभाव पड़ा है। गुप्त जी का पारिवारिक जीवन भी सुख और स्नेह से भरा था।

१ दाम्पत्य —

गुप्त जी ने साकेत के गार्हस्थिक वातावरण के अन्तर्गत दाम्पत्य जीवन का बड़ा ही स्वाभाविक और मनोहारी चित्रण किया है। वास्तव में दाम्पत्य ही गृहस्थ जीवन का प्राण है। साकेत में पांच दंपत्तियों के चित्र हैं— उर्मिला-लक्ष्मण, राम-सीता, भरत-माण्डवी, दशरथ और उनकी तीन रानियां (विशेष रूप से दशरथ और कैकेयी) शत्रुघ्न और श्रुतिकीर्ति। साकेत के मुख्य पात्र उर्मिला-लक्ष्मण हैं। उनके दाम्पत्य जीवन का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है। उर्मिला-लक्ष्मण के दाम्पत्य जीवन का चित्र कवि की मौलिक कल्पना है। दाम्पत्य जीवन का महत्त्व कवि ने प्रतिपादित किया है। पत्नी के संसर्ग से जीवन स्वर्ग के समान सुखपूर्ण हो जाता है। लक्ष्मण उर्मिला से कहते हैं —

" भूमि के कोटर, गुहा, गिरि गर्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त भी,
प्रेयसी, जिसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?" २

उर्मिला भी नारी के लिए पुरुष की महत्ता स्वीकार करती है। पुरुष नारी के लिए ऐसा आश्रय है जिससे कि नारी अपने समस्त दुःख और भार को हलका बना लेती है। उर्मिला कहती है —

" खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम ,

से प्रार्थनाएं करते और मिन्नतें भी कीं। कल्पवृक्ष पूजे और अनेक प्रयत्न, जप-तप और कठिन तपस्या के उपरान्त चार पुत्रों की प्राप्ति हुई। अतएव पुत्रों पर अत्यधिक स्नेह होना स्वाभाविक ही है। उनके वात्सल्य की पराकाष्ठा कैकेयी के वर माँगने पर होती है। दशरथ के चरित्र में वात्सल्य का उत्कर्ष दिखाई देता है। वनवास का प्रस्ताव सुनते ही उनका वात्सल्यपूर्ण हृदय फट पड़ता है। वे तड़प उठते हैं। परन्तु साथ ही वे कैकेयी के वर देने की अनिवार्यता भी समझते हैं और निश्चेष्ट हो ही जाते हैं।

> " हुए जीवन-मरण के मध्य भूत-से वे।
> रहे बस अर्ध-जीवित अर्ध-मृत-से वे।"[१]

और अन्त वात्सल्य के कारण ही वे अपने प्राणों का त्याग देते हैं।

कौशल्या के वात्सल्य में भोलापन है। उनका हृदय कोमल और सहज सरल है। उनका हृदय कुल की मंगल कामना में ही रत है। राम के मुँह से वनवास जाने की बात सुनकर भी "माँ" को प्रत्यय भी न हुआ, इसलिए भय भी न हुआ। वे लक्ष्मण द्वारा अपनी परिस्थिति की गंभीरता को समझ कर ही कैकेयी के चरणों पर गिर कर एक भिक्षा माँगना चाहती हैं। और वह भिक्षा भी कितनी दैन्य है —

> " मेरा राम न वन जावे,
> यहीं कहीं रहने पावे।"[२]
>
> × ×
>
> भरत राज्य की जड़ न मिले,
> मुझे राम की भीख मिले।"

"यहीं कहीं रहने पावे" में उनका दीन वात्सल्य कराह रहा है। उनका यह वात्सल्यभाव अन्त तक है। जब हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार प्राप्त करके शत्रुघ्न सेना सहित लंका जाने को प्रस्तुत होते हैं, उस अवसर पर भी कौशल्या का

---

१. साकेत द्वितीय सर्ग, पृ० ६८ (२०२१ वि० साहित्य सदन चिरगांव, झांसी)
२. ,, चतुर्थ सर्ग, पृ० १०० ,, ,,

मातृत्व उमड़ उठता है। वे केवल राम की ही नहीं सभी पुत्रों की माता हैं। वे शत्रुघ्न को वन जाने से रोकती हैं —

"हाय ! गए सो गए, रह गए सो रह जावें,
जाने दूंगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें।

< <

देखूं तुमको कौन छीनने मुझसे आता ?"
पकड़ पुत्र को लिपट गईं कौसल्या माता।"[१]

कौशल्या के विपरीत कैकेयी के वात्सल्य में दीनता नहीं है। उसमें ममत्व है, पुत्र प्रेम है, एक तीव्रता है और अधिकार की भावना है। कैकेयी में ममत्व की मात्रा इतनी अधिक है कि मंथरा द्वारा उकसाये जाने पर वह अपना विवेक खो बैठती है, और भरत के लिए राज्य मांगती है। अन्यथा वह राम को भरत से कम स्नेह नहीं करती। इसीलिए वह कहती है —

"होने पर प्रायः अर्धरात्रि अंधेरी,
जीजी आकर करतीं पुकार थीं मेरी,
"लो कुहुकिनि अपना कुहुक राम यह जागा
निज मंझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा।"[२]

अष्टम सर्ग में कैकेयी "अपराधिन मैं हूं तात तुम्हारी मैया"[३] कह कर वे अपना अपराध स्वीकार कर लेती हैं, परन्तु फिर भी अपने वात्सल्य की दुहाई देती हुई कहती हैं — "कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र, क्या तेरा"।[४] इस वाक्य में उसके आहत हृदय की टीस है। जिस पुत्र के लिए उसने इतना किया वही उसे धिक्कार रहा है। अन्त में वह इतनी ही याचना करती है कि "छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे।"[५]

---

१. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४५७-४५८ (२०२१वि० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २५२ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २४८ ,, ,,
४. ,, ,, पृ० २४६ ,, ,,
५. ,, ,, पृ० २४६ ,, ,,

सुमित्रा माता वीर क्षत्राणी हैं और उनका वात्सल्य मोहजन्य दुर्बलता से रहित है। वे कर्तव्य के आगे स्नेह का बलिदान करने के लिए तत्पर हैं। उनके वात्सल्य में दुर्बलता नहीं है, त्याग है और कर्तव्य की दृढ़ता है। वे राम के साथ लक्ष्मण को विदा उत्साह से भेज देती हैं, उसी उत्साह से शत्रुघ्न को भी राम की सहायता के लिए भेज देती हैं। उन्होंने कर्तव्य से मुंह मोड़ना नहीं सीखा है। वे शत्रुघ्न से कहती हैं —

" जा, भैया, आदर्श गये तेरे जिस पथ से,
कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से।
जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझको जैसा,
लौटाती हूँ आज उसे वैसा का वैसा।"[1]

परन्तु उनकी ममता उमड़ ही पड़ती है —

" पोंछ लिया नयनाम्बु मानिनी ने अंचल से"[2]

सुमित्रा के मातृत्व में प्रेम, त्याग और कर्तव्य का सुंदर मिलन है।

सास-बहू सम्बन्ध

साकेत के भरे पूरे परिवार में सास-बहू के मधुर सम्बन्ध का भी सुन्दर चित्र अंकित है। विशेषकर सीता और कौशल्या के बीच इस सम्बन्ध का मार्मिक चित्र उपस्थित है। सीता अपनी सास कौशल्या को पूछ-पूछ कर पूजा की सामग्री ला-ला कर दे रही हैं और पूजा के उपकरणों को सजाने में सहायता कर रही हैं —

" माँ क्या लाऊँ कह-कह कर , पूछ रही थीं रह रह कर।
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं उपकरण सभी।"[3]

इसी समय राम आकर माता को प्रणाम करते हैं , तो सीता संकुचित हो जाती हैं —

---

१ साकेत,द्वादश सर्ग, पृ० ४५८, (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
२ ,, ,, पृ० ४५८ ,, ,,
३ ,, चतुर्थ सर्ग पृ० ६४ ,, ,,

" हँस लज्जा कुछ सकुचाई "
आँखें तिरछी हो आईं ",
कन्या ने घूँघट काढ़ा
मुख का रँग किया गाढ़ा । "[१]

यह चित्र सास-बहू के मधुर सम्बन्ध का है ।

<u>भाई-भाई का सम्बन्ध</u> —

राम लक्ष्मण का पारस्परिक प्रेम मानस में आदर्श की कोटि तक पहुँचा हुआ है । साकेत में भी राम-लक्ष्मण का प्रेम ममत्व और श्रद्धा , स्नेह तथा त्याग से पूर्ण है । लक्ष्मण ने राम के लिए त्याग किया है । अपनी प्राणप्रिया उर्मिला का वियोग सहा है । उन्होंने राम के लिए युद्ध, पितृ-भर्त्सना, माता की निन्दा , क्या क्या नहीं किया ? इसीलिए वे राम पर अपना पूर्ण अधिकार भी समझते हैं । यद्यपि लक्ष्मण अग्रज के लिए सब कुछ करने को तत्पर हैं, परन्तु अवसर आने पर वे उन्हें तीखे वचन भी कह देते हैं । यह उद्दंडता नहीं है, वरन् स्नेहानुरोध का अधिकार है । अष्टमसर्ग में राम लक्ष्मण से कहते हैं —

"प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में ।"[२]

और

" सीधे हैं आप परन्तु जगत है उलटा ।"[३]

भरत के रूप में भ्रातृत्व का एक अन्य उदाहरण मिलता है । चित्रकूट में भरत का भ्रात हृदय राम के सम्मुख अत्यन्त दीन है । भरत कातर होकर कहते हैं " मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुख फेरा " और विह्वल होकर " प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा ।"[४] भरत का भ्रातृत्व आदर्श की कोटि का

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० ९५ (२०२१ वि० साहित्य सदन,चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २३७ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २३८ ,, ,,
४. ,, ,, पृ० २४७ ,, ,,

है । राम का अपने अनुजों पर वात्सल्य का भाव है । भरत और राम की प्रीति ऐसी है जो राम को राज्य न लौटा सकी और न ही भरत को राजा बना सकी ।

देवर-भाभी सम्बन्ध

गुप्त जी ने साकेत में देवर-भाभी के मधुर सम्बन्ध का भी सुन्दर चित्रण किया है । 'वात्सल्य और दाम्पत्य की मध्यवर्तिनी एक और भावभूमि जिसका प्रतिफलन देवर-भाभी के स्निग्ध सम्बन्ध में मिलता है । ... साकेत के कवि को उसके चित्रण में खास-कमाल हासिल है ।'[1] चित्रकूट में जिस समय भरत ससैन्य आते हैं, तो लक्ष्मण क्रोधित हो उठते हैं । राम उन्हें समझाने की चेष्टा करते हैं तो लक्ष्मण कुछ कड़ी बातें भी कह देते हैं । पर अन्त में लक्ष्मण राम के आगे हार जाते हैं । सीता यह देख कर प्रसन्न हो उठती हैं । उनका संतोष उमड़ उठता है । वे कहती हैं –

" देवर, मैं तो जी गई, मरी जाती थी,
विग्रह की दारुण मूर्ति दृष्टि आती थी ।
अच्छा ले आये आर्यपुत्र तुम इनको,
ये तुम्हें छोड़ कब, कहाँ मानते किनको?"[2]

भरत और सीता के सम्बन्ध में भी मधुरता है । वे भरत की राम-भक्ति को देखकर गदगद हो उठती हैं और उन्हें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं –

" मैं अम्बा सम आशीष तुम्हें दू आओ,
निज अग्रज से भी अधिक सुयश तुम पाओ ।"[3]

इसीप्रकार दु:खपूर्ण वातावरण में शत्रुघ्न की सेवा वृत्ति देखकर माँडवी का सुख-संतोष मुखरित हो उठता है । वह शत्रुघ्न पर प्रेम प्रकट करती हुई कहती है –

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ५४ (द्वादश संस्करण)
२. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३६ (२०२१ वि० सा०स० चिरगांव, झाँसी)
३. ,, ,, पृ० २६२ ,,

कोई तापस, कोई त्यागी,
कोई आज विरागी हैं,
घर संभालने वाले मेरे,
देवर ही बड़भागी हैं ।"[1]

देवर भाभी के सम्बन्ध में स्नेह की सरलता के अतिरिक्त परिहास की भी झांकी मिलती है । नवम सर्ग में उर्मिला, देवर शत्रुघ्न के परिहास का स्मरण करती है । दैवि दोनों और मेरा रसवाद है[2] कह कर शत्रुघ्न ने परिहास किया था । इसीप्रकार पंचम सर्ग में सीता और लक्ष्मण का हास-परिहास व्यक्त हुआ है —

" हंसकर बोलीं जनक सुता सस्नेह यों -
श्याम गौर तुम एक प्राण,दो देह ज्यों ।"[3]

साकेत में देवर-भाभी सम्बन्धित सभी प्रसंग बहुत मर्यादित हैं ।

भगिनी सम्बन्ध

साकेत में राम की बहिन शान्ता का भी उल्लेख हुआ है । विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम को शान्ता ने राखी बांधी थी ।

" प्रभु ने चलते हुए कहा, "अब शान्ते भय सोच क्या रहा,
भगिनी जय-मूर्ति-सी झुकी, यह राखी जब बांध तू चुकी ।"[4]

राम की अनुजा शान्ता का उल्लेख ननद के रूप में भी हुआ है । वियोगिनी उर्मिला उस परिहास का स्मरण करती है जब उसने लक्ष्मण के प्रति शान्ता को लक्ष्य बना कर चातुर्यपूर्ण उत्तर दिया था, और लक्ष्मण निरुत्तर हो गये थे -

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४०१ (२०२१ वि० साहित्यसदन,झांसी)
२. ,, नवम सर्ग पृ० २६७ ,,
३. ,, पंचम सर्ग, पृ० १४६ ,,
४. ,, दशम सर्ग, पृ० ३६२ ,,

" भूलते हो नाथ , फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देती प्रीति पद-जलजात की ।"[१]

इस प्रकार अधिक तो नहीं परन्तु शान्ता के रूप में भगिनी और ननद का वर्णन भी गुप्तजी ने किया है। इसके अतिरिक्त दशम सर्ग में सीता आदि चारों बहनों के पारस्परिक प्रेम का उल्लेख हुआ है।

इस तरह गुप्त जी ने साकेत में गृहस्थजीवन का आदर्श चित्र अंकित किया है। आदर्श परिवार में सेवक का भी स्थान होता है। साकेत में सेवक समाज प्रायः मूक ही है। वह सुखी है और भरत उनका सदैव ध्यान भी रखते हैं।

राजनैतिक चित्रण

गुप्त जी ने साकेत में सामाजिक चित्रण के अतिरिक्त राजनैतिक चित्रण भी किया है। वे प्राचीन राज्य प्रणाली को दूषित कहते हैं और साम्यवाद की घोषणा करते हुए कहते हैं —

" विगत हों नरपति, रहें नर मात्र ,
और जो जिस कार्य के हों पात्र —
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त ।"[२]

परन्तु कवि राज्य प्रथा का पूर्णतः अन्त स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। वह 'राम-राज्य' की दुहाई देता है और उस कुराज्य का अंत हो जाना ही श्रेयस्कर समझता है। भरत के द्वारा कवि स्पष्ट शब्दों में कहलाता है —

" अनुज, उस राजत्व का हो अन्त,
हन्त ! जिस पर कैकयी के दन्त ।

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३१४(२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० २०२ ,,

किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त ,
शिव के विग्रह सदृश कान्त ।"[१]

अत: गुप्त जी राज्य प्रथा को आवश्यक मानते हैं। परन्तु ऐसे राज्य को नहीं जिसके लिए पिता को स्वर्गवास और भाई को वनवास मिला हो। शत्रुघ्न के द्वारा गुप्त जी कहलाते हैं --

" राज्य भी अब तो बना व्यवसाय ।

< <

भ्रात-निष्कासन, पिता का घात,
हो चुके दो दो जहाँ उत्पात ।
और हो यों-मातृवध, गृहदाह ।
बस यही इस चित्र की अब चाह ।"[२]

राजा का महत्व बहुत अधिक है , परन्तु उसमें लोकसेवा की भावना भी होनी चाहिए । राज्य किसी एक की सम्पत्ति नहीं है । राजा केवल जनता का सेवक मात्र है । राज्य राजा की सम्पत्ति नहीं वरन् प्रजा की थाती है । साकेत में गुप्त जी स्पष्ट कहते हैं –

" तात राज्य नहीं किसी का वित्त
वह उन्हीं के सौख्य-शांति-निमित्त-
स्वबलि देते हैं उसे जो पात्र
नियत शासक लोक-सेवक मात्र ।"[३]

राजा यदि अपने दायित्व को भूले और राज्य को भोग की वस्तु समझे तो उस राज्य में क्रान्ति का होना ही आवश्यक है –

" वह प्रलोभन हो किसी के हेतु ,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु ।

---

१. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० २०२ (२०२१ वि०साहित्य सदन चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, पृ० २०३ ,,

दूर हो ममता, विषमता मोह,
आज मेरा धर्म राजद्रोह ।"[१]

साकेत में राम राज्याभिषेक का समाचार पाकर सीता से कहते हैं कि राज्य भोग नहीं वरन भार है, वह प्रजा की थाती है, भोगने की वस्तु नहीं है ।

" राज्य है प्रिये, भोग या भार ?
बड़े के लिए बड़ा ही दंड ।
प्रजा की थाती रहे अखण्ड ।"[२]

राज्य का भार बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण है । वे राज्य को सबकी मंत्रणा से चलाने की सोचते हैं । राम के इस विचार में प्रजातंत्र प्रणाली का बोध होता है । राम सीता को राज्य की व्यवस्था के विषय में बताते हुए कहते हैं -

" रहेगा साधु भरत का मंत्र,
मनस्वी लक्ष्मण का बल-तंत्र ।
तुम्हारे लघु देवर का धाम ,
मात्र दायित्व-हेतु है राम ।"[३]

गुप्त जी ने राजा के लिए कुलीन राजपुत्र होना, तथा वंश परम्परा को बहुत महत्व दिया है । राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है ।

"राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ" [४]

राजा को भी नियमों में बद्ध होना चाहिए । शासन सब पर है, राजा पर भी है । गुप्त जी शासकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं -

" शासन सब पर है इसे न कोई भूले -
शासक पर भी, वह भी न फूलकर झूले ।"[५]

---

१. साकेत-सप्तम सर्ग, पृ० २०१ (२०२१वि० साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी
२. ,, द्वितीय सर्ग, पृ० ५७ ,,
३. ,, ,, पृ० ५७ ,,
४. ,, ,, पृ० ५० ,,
५. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २६० ,,

किसी भी राष्ट्र में एक ही शासन होना चाहिये । यदि कोई राष्ट्र कई राज्यों में विभक्त हो अथवा उसमें कई राजा हों तो उस राष्ट्र का बल छिन्न-भिन्न हो जाता है । उस राज्य का संगठन नष्ट हो जाता है । उसकी शक्ति बिखर जाती है । गुप्त जी कहते हैं —

एक राज्य न हो, बहुत से हों जहां,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां ।"[१]

इस प्रकार कवि केवल राज्य का ही नहीं, साम्राज्य का भी समर्थन करता है । राजा का दृष्टिकोण उदार होना चाहिए । अपने देश के विकास के लिए अन्य देशों पर अत्याचार नहीं करना चाहिये । भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है । अपने राज्य या अपने ही सुख-समृद्धि की ओर दृष्टि नहीं रहनी चाहिये, वरन् सम्पूर्ण विश्व के सुख का ध्यान रहना चाहिये । गुप्तजी ये उदार विचार विभीषण के द्वारा व्यक्त करवाते हैं —

" तात, देश की रक्षा का ही कहता हूं मैं उचित उपाय,
पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरों पर अन्याय ।"[२]

दूसरे देश का धन आदि बलपूर्वक हरना भी राज्य के लिए अनुचित है । दूसरे देश पर बलात् अत्याचार करना, आक्रमण करना, सताना आदि , गुप्त जी उचित नहीं समझते । साकेतवासियों को लंका पर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध देखकर तथा वहां के स्वर्ण को लूटने के लिए तत्पर देख कर उर्मिला गरज उठती है —

" गरज उठी वह" नहीं, नहीं पापी का सोना ,
यहां न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना ।
धीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ ।
जाते हो तो मान हेतु ही तुम सब जाओ।
सावधान ! वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना ।"[३]

---

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० २४ (२०२१ वि०,साहित्य सदन, चिरगांव,झां०
२. ,, एकादश सर्ग , पृ० ४३७ ,,
३. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४७४ ,,

गुप्त जी आधुनिक विचारों से प्रभावित हैं। वे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत राज्यतंत्र को ही महत्त्व देना चाहते हैं वे समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी कह कर अपना उदार दृष्टिकोण दिखलाते हैं।

धार्मिक चित्रण

भारत आस्तिक और धर्मप्राण देश है। यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह निर्गुण मत का अनुयायी हो अथवा सगुण का, उस ईश्वर में विश्वास रखता है जो संसार का नियामक है। यह ईश्वर वह सत्ता है जो संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। साकेतकार ने उस विराट सत्ता को साकार अथवा सगुण रूप में परिकल्पित किया है। भगवान संसार में साकार रूप धारण करके अवतरित होते हैं, जन्म लेते हैं। इसका कारण यह है कि जब-जब संसार में धर्म की हानि होती है या अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब वह अपना रूप धारण करता है और पृथ्वी पर अवतरित होता है। तब वह साधु व्यक्तियों का परित्राण करता है और दुष्ट व्यक्तियों का विनाश करता है और इस प्रकार धर्म की स्थापना करता है।[१] साकेतकार भी साकेत में बतलाते हैं कि राम ने भक्तवत्सल बनकर संसार को मार्ग दिखाने के लिए पृथ्वी के भार को हल्का करने के लिए, तथा जन-दृष्टियों के करने के लिए संसार में अवतार लिया है।[२] राम ने भारत में अवतार है। कवि इसीलिए भारत-भूमि की प्रशंसा करते हुए कहता है — 'धन्य भगवद्भूमि भारतवर्ष है।'[३] इस भारत भूमि के प्रत्येक उपकरण के

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
—श्री मद्भागवत ४।७-८

२. साकेत प्रथम सर्ग, पृ० १० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

३. ,, ,, ,, पृ० १६ ,,

प्रति कवि अपनी आस्था प्रकट करता है । साकेत में प्रवाहित होने वाली नदी सरयू स्वर्गङ्गा से भी अधिक महान् है — "किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?"[१] चित्रकूट की पवित्रता और दिव्यता के प्रति भी कवि अपनी असीम आस्था प्रकट करता है —

सिद्ध-शिलाओं के आधार, और गौरव गिरि उच्च उदार ।
तुझ पर ऊँचे ऊँचे झाड़ । तने पत्रमय छत्र पहाड़ ।
क्या अपूर्व है तेरी आड़ , करते हैं बहु जीव विहार ।

राम ब्रह्म के अवतार हैं, तथा सीता माया अथवा शक्ति हैं । इन दोनों के द्वारा ही संसार का क्रम चल रहा है, संसार गतिशील है । राम के द्वारा कवि कहलाता है —

"इसको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा
आनन्दमयी नित नई प्रसव की पीड़ा ।"[१]

कवि की राम में अनन्य भक्ति है । राम का जन्म आर्य धर्म के संस्थापन के लिए हुआ है । राम साकेत में कहते हैं —मैं आर्यों का आदर्श बताने आया"[२] धन जन के सम्मुख तुच्छ है — "जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया ।"[३] गुप्त जी ने धर्म में सत्य को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है । सत्य सब धर्मों का सार है और सत्य पर ही संसार स्थित है । साकेत में राजा दशरथ सत्य के महत्व को बतलाते हुए कहते हैं —

" सत्य से ही स्थिर संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार,
राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार ।"[४]

गुप्त जी ने साकेत में भाग्यवादिता के साथ साथ कर्तव्यनिष्ठा का भी महत्व प्रतिपादित किया है । ईश्वर के विधान में कर्मों के अनुसार ही जीवन का सुख होता है । राम सीता को समझाते हैं और कहते हैं कि कर्मानुसार ही

---

१. साकेत अष्टम सर्ग, पृ० २३२, २०२१ वि० साहित्य सदन,चिरगाँव,झाँसी
२. ,, ,, पृ० २३४ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० २३४ ,, ,,
४. ,, द्वितीय सर्ग पृ० ६४ ,, ,,

भाग्य का निर्माण होता है । यथा:

" माना मार्यें, सभी भाग्य का भोग है,
किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है ।"[१]

भारतीय संस्कृति में धार्मिक दृष्टि से विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना मान्य है । यद्यपि गुप्त जी राम के एकनिष्ठ भक्त हैं और सब कर्मों की गति को भी राम ही जानते हैं वे कहते हैं -" कहे कब क्या, इसे बस राम जानें, वही अपने अलौकिक काम जानें ," परन्तु फिर भी वे साकेत के प्रथम सर्ग में शारदादेवी की, द्वितीय सर्ग में, जगदम्बिका की पंचम सर्ग में गंगा की, कहीं शिव और पार्वती की उपासना करते हैं । मंगलाचरण में गणेश की वंदना भी की है । वे वास्तव में एक ही शक्ति को भारतीय धर्म पद्धति के अनुसार अनेक रूपों में देखते हैं ।

देवार्चना का महत्व भी साकेतकार ने दिखाया है । माता कौशल्या राम के राज्याभिषेक के अवसर पर" पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई" चित्रित की गई हैं । देवार्चन के विभिन्न उपकरणों का भी महत्त्व है , और सीता उन उपकरणों को कौशल्या के पास संजो रही हैं -" कभी आरती धूप करती कभी"।[२] कौशल्या राम को पूजा का प्रसाद भी देती हैं । यथा:-

जियो जियो बेटा ! आओ,
पूजा का प्रसाद पाओ ।[३]

साकेत में व्रत, जप, समाधि,तप पूजा-पाठ सभी का महत्त्व प्रतिपादित है । भरत के शासन में ये सभी धार्मिक क्रियाएं निर्विघ्न सम्पन्न होती हैं । यथा -

"होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब जप-समाधि-तप-पूजा पाठ ।
यश गाती हैं मुनिकन्यायें कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ ।"[४]

---

१. साकेत पंचम सर्ग, पृ० १५३, २०२१ वि० सा०स० चिरगांव, झांसी
२. ,, चतुर्थसर्ग, पृ० ६४ ,, ,,
३. ,, ,, पृ० ६५ ,, ,,
४. ,, एकादशसर्ग पृ० ४१५ ,, ,,

भगवान के प्रति आत्मसमर्पण का भाव भी भारतीय धर्म साधना में महत्त्वपूर्ण रहा है। गुप्त जी साकेत में बताते हैं कि भवसागर को पार करने का एकमात्र साधन आत्मसमर्पण है। यथा:—

" मैं तो निज भवसिन्धु कभी का तर चुका,
रामचरण में आत्म-समर्पण कर चुका।"[१]

भारतीय-धर्म-साधना में मोक्ष का भी बहुत महत्त्व है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर संसार के आवागमन से छुटकारा मिल जाता है। भरत ननिहाल से लौट कर पिता के बारे में पूछते हैं तो सचिव उन्हें उत्तर देते हैं — "पा चुके वे विषय-बाधा-मुक्ति"[२] अर्थात् उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो गई है। दशरथ के लिए कैकेयी भी ऐसा ही संकेत करती है —

" बस, स्वामी तो गये उस ठौर,
लौटना होगा न जिससे और।"[३]

गुप्त जी ने साकेत में धर्म के महत्त्व को अक्षुण्ण रखा है। जहाँ धर्म है वहाँ विजय है और जहाँ अधर्म है वहीं पराजय है। इसी के आधार पर गुप्त जी उर्मिला के द्वारा कहलाते हैं —

" धर्म तुम्हारी ओर, तुम्हें फिर किसका भय है?
जीवन में ही नहीं, मरण में भी निज जय है।"[४]

कवि भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रखता है और उसका जीवन भी पूर्णतया धार्मिक है, अतः उसने साकेत में सर्वत्र धार्मिक दृष्टिकोण रखा है।

युग चित्रण

श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने युग के वैतालिक कहे जाते हैं। उन्होंने अपने काव्य में युग की विशिष्ट मान्यताओं, धारणाओं, मनोवृत्तियों आदि

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४२, २०२१ वि० सा०स०चिरगांव, झांसी
२. ,, सप्तम सर्ग, पृ० १६२, ,,
३. ,, ,, पृ० १६३ ,,
४. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४५६ ,,

का वर्णन विस्तार से किया है। फिर साकेत तो एक महाकाव्य है, और महाकाव्य अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है, वह अपने युग की समस्त प्रवृत्तियों को अपने विराट कलेवर में स्थान देता है। साकेत में आधुनिक युग की मुख्य प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों का उल्लेख हुआ है। साकेत में तत्कालीन आन्दोलनों, क्रान्तियों, संघर्षों आदि की झलक दिखाई देती है।

साकेत के रचनाकाल में आर्य समाज, ब्रह्म-समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी आदि अनेक सुधारक संस्थाएं जन्म ले चुकी थीं और कार्य कर रही थीं। इन सभी संस्थाओं का प्रयत्न यही था कि देश में ऐसे आदर्श समाज का जन्म हो जिसमें सभी व्यक्ति सुखी और स्वस्थ हों। प्रत्येक व्यक्ति आंतरिक दृष्टि से योगी हो, चाहे बाहर से भोगी ही क्यों न दिखाई पड़े। व्यक्तियों को किसी प्रकार की आधि-व्याधि न हो, आंगन में शिशु क्रीड़ाएं करते हों, घर में गोशाला तथा अश्वशाला अवश्य हो। सभी व्यक्ति कला प्रेमी हों तथा सभी धन-धान्य से पूरे हों। ऐसे समाज का चित्रण साकेत के प्रथम सर्ग में ही किया गया है।[१] कवि ने साकेत के जिस समाज का वर्णन किया है वह ऐसा ही है।

साकेत में राजतंत्र का विरोध प्रकट हुआ है। आधुनिक युग में साकेत के रचनाकाल के समय राजतन्त्र के विरुद्ध बड़ी तीव्रता से विचार उठे थे। विचारक समाज और प्रजा के लिए सामन्तशाही को बाधक समझते थे। उनकी दृष्टि में यह लोभ-मद का मूल था। क्योंकि इसके ही कारण गृहकलह हो जाता था। इन दोषों को देखते हुए ही भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजतंत्र का उन्मूलन किया गया और प्रजातंत्र के आधार पर देश में शासन व्यवस्था स्थापित हुई। साकेत में राजतंत्र के समस्त दोषों का वर्णन कवि ने किया है। यथा: -

> राजपद ही क्यों न अब हट जाय ?
> लोभ - मद का मूल ही कट जाय ?

---

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० २२,२३(२०२१वि० सा०स०, चिरगांव,झांसी

कर सके कोई न दर्प न दम्भ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।
विगत हों नरपति, रहें नर मात्र,
और जो जिस कार्य के हों पात्र
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल मुक्त।"[१]

गुप्त जी गाँधी नीति से भी पर्याप्त प्रभावित हैं। साकेत उस युग की कृति है जो आज समाप्त हो गया है। साकेत की देश-भक्ति गाँधीजी की देश-भक्ति से प्रभावित है। गाँधीवाद से प्रभावितकवि को अन्याय और अधर्म से घृणा है। गुप्त जी का कथन है — "पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरे पर अन्याय।" वे गाँधीजी द्वारा बतलाए सत्याग्रह के मार्ग को भी उचित समझते हैं। जब राम वनवास के लिए जाते हैं तब साकेतवासी जो उद्गार प्रकट करते हैं उनमें सत्याग्रह की झलक देखी जा सकती है। यथा—

"राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।
जाओ यदि जा सको रौंद हमको यहाँ,
यों कह पथ में लेट गये बहुजन वहाँ।"[२]

साकेत के रचनाकाल के समय नारी-स्वातंत्र्य तथा नारी को समाज में महत्व देने का बहुत प्रयत्न हुआ था। वह नारी आन्दोलन का युग था। अत:नारी के लिये आधुनिक क्रान्तिकारी विचारों का जो प्रवर्तन हुआ उसका संकेत भी साकेत में मिलता है। चित्रकूट में सीता का जो स्वावलम्बी जीवन है वह नारी स्वातंत्र्य का उदाहरण है। यथा—

"औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ,
श्रमवारि बिन्दु-फल स्वास्थ्य-शुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।

---

१. साकेत, [illegible] सर्ग, पृ० २०२ (२०२१ वि० सा०स० चिरगाँव, झाँसी)
२. [illegible] पंचम सर्ग, पृ० १२६

तनुलता-सफलता-स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।"[१]

कैकेयी के द्वारा भी नारीजागरण की झलक दिखाई देती है। देश-रक्षा के लिए पुरुष के साथ नारी भी एक वीरांगना की भाँति युद्ध में भाग ले सकती है। यथा: —

" मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-संगर में ।"[२]

आधुनिक युग में पूँजीवाद के विरोध में जो नारा लगा उसकी भी झलक साकेत में दिखाई पड़ती है। साकेत में कवि राम के द्वारा कहलाता है —

" हाँ तब अनर्थ के बीज अर्थ बोता है,
जब एक वर्ग में मुष्टि-बद्ध होता है।
जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,
वह दस्यु लोक-धन लूट लूट क धरता है ।"[३]

आधुनिक युग में कृषि की ओर दृष्टि डाली गई है और किसानों की दशा को सुधारने के भी प्रयत्न हुए हैं। गुप्त जी ने भी साकेत में किसानों की दशा का वर्णन किया है। उर्मिला ने भरत से एक बार कृषी के विषय में पूछा था—उसी का स्मरण करते हुए वह कहती है —

" पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से —
कैसी हुई उपज कपास, ईख धान की ?
बोले—" इस बार देवि देखने में भूमि पर
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान की ।"[४]

गुप्त जी ग्रामीण जीवन का महत्व बतलाते हुए कहते हैं — कि देश का सच्चा राजा तो किसान ही है। यथा —

साकेत
१. अष्टम सर्ग, पृ० २२३, २०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, भ
२. साकेत द्वादश सर्ग, पृ० ४५६ ,,
३. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २३२ ,,
४. ,, नवम सर्ग, पृ० ३०६

" हम राज्य लिए मरते हैं ?
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं ।
जिनके खेतों में है अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?
पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव वैभव भरते हैं,
हम राज्य लिए मरते हैं ।"[1]

साकेत की रचना के समय भारत विदेशियों के आधीन था । कवि अपने देश की परतंत्रता और बंधन के प्रति आक्रोश प्रकट करता है । युग की इस विकट दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

" भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिंधुपार वह बिलख रही है व्याकुल मन में ।"[2]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने युग की विभिन्न दशाओं और प्रवृत्तियों का चित्रण करके साकेत को युग का प्रतिनिधि काव्य बनाया है ।

खल-निंदा और सज्जन-प्रशंसा–

महाकाव्य के लिए आचार्यों का यह मत है कि उसमें खल निंदा और सज्जन-प्रशंसा भी होनी चाहिये ।[3] साकेतकार ने साकेत में सर्वत्र इस बात का ध्यान रखा है । उन्होंने मंथराकी भर्त्सना के रूप में खलों की निंदा कराई है । यथा :–

" दूर हो दूर अभी निर्बोध,
सामने से हट, अधिक न बोल ,

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३०७ (२०२१वि० साहित्य प्रकाशन,झांसी)
२. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४५४ ,,
३. ,, क्वचिन्निंदा खलादीनां सतांच गुणकीर्तनम "
—साहित्य दर्पण, ६।३१६

री जिह्वे, रस में विष मत घोल ।
उड़ाती है तू घर में कीच
नीच ही होते हैं बस नीच ।"[१]

खलों के रूप में कौणप-गणों की भी निन्दा कवि ने राम के द्वारा करवाई है । यथा :-

" मुनियों को दक्षिण देश आज दुर्गम है,
जहाँ कौणप-गण वहाँ उन्हें यम-सम है ।
वह भौतिक मद से मत्त यथेच्छाचारी,
मेटूँगा उसकी कुगति कुमति मैं सारी ।"[२]

इसी प्रकार सज्जन प्रशंसा के रूप में कवि ने राजा दशरथ, राम और लक्ष्मण की प्रशंसा वशिष्ठ मुनि के द्वारा कराई है ।[३]

वसुधैवकुटुम्बकम्—

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि उसमें संकीर्णता और लघुता को कभी महत्व नहीं दिया गया । भारत के वातावरण में सारे जगत के कल्याण की भावना की गूंज सुनाई देती है । साकेत में अनेक स्थलों पर मानव मात्र की कल्याण कामना की गई है, सबको एक ही कुटुम्ब का व्यक्ति माना गया है । यहाँ भगवान का अवतार केवल भारत के भार उतारने के लिए और सत्य का मार्ग दिखाने के लिए हुआ है । यथा:—

" पथ दिखाने के लिए संसार को, दूर करने के लिये भू-भार को ।
सफल करने के लिए जन-दृष्टियां, क्यों न करता वह स्वयं निजसृष्टिय

उर्मिला का हृदय भी विश्व-बन्धुत्व तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना की भावना से ओत-प्रोत है । वह बादलों से कहती है कि तुम वर्षा करके

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३०७ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. द्वादश सर्ग, पृ० [illegible] ,, ,,
३. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० २०६ ,, ,,
४. ,, प्रथम सर्ग, पृ० १८ ,, ,,

सम्पूर्ण जड़ और चेतन में बिजली का संचार कर दो । जो मृण्मय हैं, उनमें भी चेतना का संचार कर दो, तुम तीनों लोकों के मानस-रस कलश कहलाकर कल-कल, छन-छन करते हुए इस पृथ्वी के घर को भर दो । यथा: -

" जड़ चेतन में बिजली भरदो ओ उद्बोधन, बरसो ।
चिन्मय करें हमारे मृण्मय पुलकांकुर घन, बरसो ।

x x

घट पूरो त्रिभुवनमानस रस, कल-कल, छन छन, बरसो ।"[१]

उर्मिला का दृष्टिकोण उदार है । वह अपने सुख से पहले प्राणिमात्र का सुख चाहती है ।

" सबको सुख होगा तो मेरी भी आयेगी बारी ।"[२]

विभीषण के द्वारा भी कवि ने विश्वबंधुत्व की भावना को व्यक्त कराया है । विभीषण रावण से कहता है " एक देश क्या, अखिल विश्व का तात चाहता हूं मैं त्राण ।"[३]

साकेत में विरह वर्णन -

साकेत में उर्मिला का विरह सबसे महत्वपूर्ण घटना है । इसी विरह को प्रमुखता देने के लिए साकेत की रचना हुई है । कवि ने साकेत के नवम और दशम सर्ग को उर्मिला की विरह व्यथा के प्रकाशन के लिए ही रखा है । क्योंकि उपेक्षित उर्मिला की वियोग-व्यथा को उभारना, साकेत का मुख्य उद्देश्य था यद्यपि बहुत से विद्वानों का यह मत है कि नवम सर्ग के विरह वर्णन के कारण साकेत की कथा का संतुलन बिगड़ गया है, यह विरह वर्णन प्रबंध के अव्याह तत्व को तोड़ देता है । इसीकारण साकेत में कथानक की सुनिश्चित योजना तथा समग्र जीवन चित्रण का अभाव दिखाई पड़ता है ।[४] परन्तु वास्तविकता

---

१. साकेत-नवम, सर्ग, पृ० २६३ (सं० २०२१ वि० साहित्यसदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, ,, पृ० २६३ ,,
३. एकादश सर्ग, पृ० ४३७ ,,
४. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ [illegible]

यह है कि साकेत महाकाव्य का निर्माण , महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के आधार पर नहीं हुआ, अत: कथा की प्रबंधात्मकता में भी कुछ अन्तर आ जाना स्वाभाविक है । साकेत का लक्ष्य तो उपेक्षित पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करना है । यह एक चरित्र प्रधान महाकाव्य है, और उर्मिला का चरित्र ही इसमें प्रमुख है ।[१] उर्मिला के वियोग वर्णन के लिये यदि-कवि कवि एक सर्ग न देता तो उसके चरित्र के उद्घाटन का प्रश्न ही कैसे हल होता वियोगिनी उर्मिला के चौदह वर्षीय वियोग की व्यंजना के लिए कम से कम एक सर्ग तो अपेक्षित ही था । साकेत चरित्र प्रधान रचना होने के अतिरिक्त प्रेमाख्यानक काव्य भी है । अत: इसमें यह आवश्यक था कि कवि प्रेम के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का वर्णन करे । संयोग वर्णन से तो साकेत का प्रारम्भ किया गया और वियोग के लिये काव्य का मध्यांश नियोजित किया गया । इस सम्बन्ध में एक बात और दृष्टव्य है । वह यह कि नवम सर्ग के विरह वर्णन से कथा का कोई अंश नहीं छूटा है । राम-वन गमन के पश्चात साकेत में और कोई मुख्य घटना घटित नहीं हुई थी जिसका वर्णन कवि ने छोड़ दिया हो । हाँ ! यह अवश्य है कि उर्मिला की वियोग दशा में कवि इतना अधिक रम गया कि सूनी अयोध्या का चित्र भी अंकित न कर सका डा० कमलाकांत पाठक ने इस सम्बन्ध में लिखा है -" जो कथा-क्रम को सानुबंध देखना चाहते हैं, उनसे यह निवेदन है कि वे नवम सर्ग का यह ध्वनि संकेत भी ग्रहण करें कि उस कालावधि में साकेत का इतिवृत्त राम-वन-गमन के कारण सर्वांशत: स्थिर था । इस धैर्य को किस प्रकार गति दी जाती ? साकेत में जब कोई शुद्धिलन हुआ तब उसकी वर्णना कवि ने साकेत के उत्तरांश में की । कवि की यह सीमा अवश्य रही कि उसने इस अवधि में साकेत के नर-नारियों की ओर झांका तक नहीं ।"[२]

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपाल सिंह, पृ० १३२

२. मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४८६, प्रथम संस्करण, सागर विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद)

नायिका-भेद की दृष्टि से यदि देखा जाय तो गुप्त जी ने साकेत में विरहिणी उर्मिला को प्रवत्स्यत्पतिका और प्रोषितपतिका रूप में चित्रित किया है। प्रवत्स्यत्पतिका का दुःख प्रोषितपतिका से भी अधिक होता है। अतः "प्रवत्स्यत्पतिका का चित्र प्रोषितपतिका के चित्र से अधिक मार्मिक होता है।"[1] वस्तुतः प्रिय के वियोग का अवसर वियोग से अधिक दुःखद होता है। साकेत के चतुर्थ सर्ग में उर्मिला के इसी रूप का चित्रण हुआ है। लक्ष्मण राम, सीता के साथ वन को प्रस्थान कर रहे हैं। उर्मिला के मन में भाँति भाँति के भाव जागृत होते हैं। सीता अपने पति के साथ जा रही है, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति भी अपने-अपने पतियों से विभक्त नहीं हैं। परन्तु उर्मिला विवश है, वह विवश भाव से लक्ष्मण के विछोह को स्वीकार कर लेती है। लक्ष्मण के विचारों "रहो, रहो, हे प्रिये रहो। यह भी मेरे लिए सहो" को समझ कर वह पावन हो जाती है। लक्ष्मण वियोग-जयी होकर चले जाते हैं और उर्मिला प्रेममयी बन कर रह जाती है। वह अपने मन को प्रबोधती है — "तू प्रिय पथ का विघ्न न बन"। उसके मन में सीता के प्रति ईर्ष्या नहीं है। वह लक्ष्मण के प्रवास के समय चिन्ता, दुःख, मोह, काम आशंका, एकाकीपन, निरवलम्बता आदि भावों से भरी है। सीता उसकी इस असहायावस्था को देखकर कह उठती हैं — "आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा तेरा।" उर्मिला की दीन दशा को देख कर उसकी माता भी कहती हैं — "मिला न वन ही, न भवन ही तुझको?" उर्मिला की पीड़ा को समझ कर सभी कातर हो जाते हैं। लक्ष्मण आँखें बन्द कर लेते हैं और सीता व्यजन डुलाने लगती हैं।

सीता और उर्मिला की परिस्थिति में बड़ा अन्तर है। वन के कष्टों को बताने पर सीता राम से कहती हैं —

"अथवा कुछ भी न हो वहाँ,
तुम तो हो जो नहीं यहाँ।
मेरी यही महामति है,
पति ही पत्नी की गति है।[3]

---

1. साकेत : एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ६३
2. साकेत नवम सर्ग, पृ० २७३
3. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० १[illegible]

राम निरुत्तर हो जाते हैं और साथ चलने की स्वीकृति दे देते हैं । उर्मिला अपनी और सीता की परिस्थिति की इस विषमता को देखती है, उसकी भावना और तीव्र हो जाती है और वह 'हाय' कह कर धड़ाम से गिर पड़ती है । वियोग का यह चित्र बड़ा ही हृदयद्रावक है । उर्मिला की माता भी कहती हैं – 'मिला न वन ही न गेह ही तुमको ।' उर्मिला विरह के कारण कृशित हो गई है –

" मुख कान्ति पड़ी पीली-पीली ,
आँखें अशांत नीली-नीली ,
क्या हाय ! यही वह कृश काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ?"[1]

उर्मिला सम्बलहीन है, वियोग के आदर्श को ही निभाती है । 'सब गया हाय आशा न गई' कह कर वह अपना विश्वास और निराशा प्रकट करती है ।

इसी प्रकार चित्रकूट में पुन: सीता के द्वारा उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन होता है । सीता धोखे से लक्ष्मण को उस कुटिया में भेजती हैं, जहाँ उर्मिला है । लक्ष्मण उर्मिला को देखकर विमूढ़ से हो जाते हैं, उर्मिला रेखा मात्र रह गई है । उर्मिला लक्ष्मण की इस अवस्था को देख कर कह उठती है–

" मेरे उपवन के हरिण आज बन चारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी ।"[2]

लक्ष्मण के हृदय में भी विप्लव हो रहा था वे कुछ कह न सके और उर्मिला के चरणों पर ही गिर पड़े । यथा –

" गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में,
वह भीग उठी प्रिय-चरण धरे दृग जल में ।"[3]

वे उर्मिला के सामने स्वयं को दोषी समझते हैं । 'वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य' कह कर अपनी हीनता प्रकट करते हैं । उर्मिला

---

१. साकेत, [illegible] सर्ग, पृ० १६१, सं० २०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
२ .. अष्टम सर्ग, ...

को बहुत कुछ लक्ष्मण से कहना था- वह पहले भी न कह सकी थी, परन्तु अब भी वह नहीं कह पाती है —उसे वह अपने कर्मों का दोष ही समझती है। इस प्रकार वियोग के दोनों ही अवसरों पर उर्मिला की व्यथा ध्वनित हुई है, व्यंजित हुई है, उसकी वर्णना नहीं हुई है।

नवम सर्ग में उर्मिला प्रोषित पतिका के रूप में चित्रित है। चौदह वर्षों के लिए वह अपने प्रिय से दूर है। उर्मिला का यह विरह वर्णन कहीं कहीं ऊहात्मक भी हो गया है, फिर भी स्वाभाविकता और मनोज्ञता से परे नहीं है। " उर्मिला के विरह वर्णन में भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी शैली की भांति प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है। एक ओर उसमें ताप का ऊहात्मक वर्णन है, षड्ऋतु आदि का समावेश है तो दूसरी ओर व्यथा का संवेदनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक व्यक्तीकरण।"[1] गुप्त जी का विरह वर्णन न तो रीतिकालीन कवियों के विरह वर्णन की भांति अत्यधिक स्थूल और हास्यास्पद ही है और नहीं आधुनिक कवियों की भांति अत्यन्त सूक्ष्म। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों में बिहारी का विरह वर्णन देखा जा सकता है। यथा—

> " करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
> दीनै हूं चसमा चखनु, चाँहे लहै न मीचु।"[2]

इसके विपरीत आधुनिक कवियों में महादेवी वर्मा नायिका की क्षीणता का चित्र बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक व्यंजना पद्धति से खींचा है। यथा—

> " खोलकर जो दीप के दृग, कह गया 'तम में बढ़ा पग',
> देख श्रम-धूमिल उसे करते निशा की साँस जगमग,
> क्या न आ कहता वही सो याम अंतिम ढल चुका है!
> मोम सा तन घुल-चुका, अब दीप सा मन जल चुका है। [3]

गुप्त जी ने विरह का वर्णन न तो रीतिकालीन परम्परा के अनुसार किया है और न ही आधुनिक कवियों के ही सदृश्य । वे उर्मिला उर्मिला की वियोगजन्य दुर्बलता और कृशता का वर्णन इस प्रकार करते हैं –

"मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही तू अरी मुझे दर्पण में ?
देख, निरख मुख मेरा, वह तो धुंधला हुआ स्वयं ही ताप में ।"[1]

कवि ने प्राचीन परम्परा के अनुसार उर्मिला के विरह में उसके ताप, कृशता और वेदना पर ऊहात्मक उक्तियाँ की हैं । ऐसे वर्णन को विरह वर्णन का बाह्यपक्ष कहा जा सकता है । दूसरा पक्ष आन्तरिक है, जिसमें विरह का वर्णन मनोविज्ञान और भावना की भित्ति पर आश्रयित है । विरह-वर्णन के बाह्य पक्ष में ताप का ऊहात्मक रूप देखिये –

" जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप ।
लगे न लू हो कर कहीं, तू अपने को आप ।।"[2]

और

" ठहर अरी इस हृदय में लगी विरह की आग ।
ताल-वृन्त से और भी धधक उठेगी जाग ।"[3]

ऐसे वर्णन विरह की गंभीरता को न्यून कर देते हैं और केवल काल्पनिक चमत्कार से प्रतीत होते हैं । इन पर रीतिकालीन कवियों तथा संस्कृत आलंकारिकों के शृंगार वर्णन का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है । परन्तु ऐसे ऊहात्मक वर्णन बहुत ही कम हैं । प्रधानतया उनका विरह-वर्णन स्वाभाविकता से दूर नहीं होने पाया है । उदाहरण के लिये निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं । यथा –

" मानस मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप ।
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप ।"[4]

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० ३०६ (२०१२वि० साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

उर्मिला का विरह राजमहल में भी प्रतिफलित होता है। वह गृहस्थ-जीवन से परे नहीं है। वह विरहजन्य उन्माद की अवस्था में कुलकानि को त्याग कर घर से निकलती नहीं है। वह अपने दैनिक कार्यों को छोड़ती नहीं। उसका जीवन प्रेम-बन्दिनी की भाँति व्यतीत हो रहा है। वह विवश भाव से ही सभी कार्य करती चलती है।

'बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना?'[1]

रसोई बनाते समय उसे लक्ष्मण की सुधि आ जाती है। वह लक्ष्मण को स्वादिष्ट भोजन दिया करती थी। लक्ष्मण की अनुपस्थिति में इस कार्य में भी अब इसीलिए रुचि नहीं है। प्रिय के वियोग में उसे व्यंजन अरुचिकर लगते हैं। भूख लगती ही नहीं है। सखी खीर लाती है और पीने के लिए हठ करती है तो उर्मिला चिढ़ जाती है और कहती है –

लाई है क्षीर क्यों तू? हठ मत कर यों,
मैं पियूँगी न आली।'[2]

सखी के भाँति, भाँति से समझाने पर वह विवश भाव से परन्तु बड़ी खीज के साथ खाने को तत्पर हो जाती है। यथा –

'पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि पहन लूँ ला, सब करूँ,
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो मानूँ सो, किस विधि बता धीरज धरूँ,
अरी कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।।'[3]

चौदह वर्षों की अवधि को पूर्ण करने के लिए उसे जीवित भी तो रहना है

---

१. साकेत, नवम सर्ग, पृ० २७१ (सं० २०१२ वि०सा०स०चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २७१ ,,
३. ,, ,, पृ० २७२ ,,

जीवित रखना भी आवश्यक है क्योंकि एक बार वह प्रिय के चरण अवश्य पकड़ेंगी, फिर चाहे मर ही क्यों न जाय। उसे जीवन में कोई रुचि नहीं है।

उर्मिला का वियोग में समय ही नहीं कटता है। वह कला-मंदिर भी खोलना चाहती है। समदु:खिनियों के साथ बैठकर अपने दु:ख को भी हल्का करना चाहती है। इसीलिए वह प्रोषितपतिकाओं को निमंत्रण भेजती है। यथा--

" प्रोषितपतिकाएं हों
जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
समदु:खिनी मिले तो
दु:ख बंटे, जा, प्रणयपुरस्सर ले आ।
सुख दे सकते हैं तो दु:खी जाकर मुझे, उन्हें यदि भेंटूं,
कोई नहीं यहां क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूं ?"[1]

वह कभी चित्र-रचना द्वारा अपना मन बहलाना चाहती है, और कभी शुक और सारिका द्वारा। रात्रि उसे संतप्त करती है, वह नींद का आह्वान करना चाहती है। प्रिय के स्वप्न को देखना चाहती है परन्तु असफल हो जाती है -यथा -

हाय न आया स्वप्न भी, और गई यह रात।
सखि उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूं प्रभात।"[2]

साकेत में ऋतु परिवर्तन के साथ साथ वियोगिनी उर्मिला की भावनाओं में भी परिवर्तन होता है। षटऋतु के वर्णन की यह परम्परा यद्यपि प्राचीन है परन्तु साकेत में उसे नवीन रूप दिया गया है। इस ऋतु वर्णन का प्रारम्भ साकेत में ग्रीष्म ऋतु से हुआ है। एक के बाद एक ऋतु के बदलने से उर्मिला के मन में जो परिवर्तन होता है उसी का वर्णन कवि ने किया है। प्रकृति उद्दीपन का कार्य भी करती है। परन्तु वह उद्दीपन शारीरिक ताप का अनुमान लगाने के लिए, अथवा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखाने

---

१. साकेत, नवमसर्ग, पृ० २७५-७६, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२ ,, पृ० २८५ ,,

को नहीं है ।"[1] सभी ऋतुएं उर्मिला को प्रिय का स्मरण दिलाती हुई आती हैं । ग्रीष्म के ताप को वह लक्ष्मण के तप के कारण उत्पन्न समझती हैं, वर्षा के बादलों को देख कर उसे अपने संयोग के दिवस याद आ जाते हैं —

" हूँ हूँ कर लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर से संकुचित भीतर से फूले-से ।"[2]

शरद ऋतु में खंजन पक्षी को देखकर प्रिय के नेत्रों का आभास वह पा लेती है—

निरख सखी ये खंजन आए,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन-भाए ।"[3]

इस प्रकार ऋतुओं के आधार पर उर्मिला का विरह वर्णन सुन्दर चित्रित है ।

उर्मिला वियोगिनी है अतः वह सबसे सहानुभूति प्राप्त करना चाहती है और स्वयं भी सबके प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है । उसका हृदय आत्मीयता से ओत-प्रोत है । वह कभी कोक से कहती है —

कोक शोक मत कर हे तात
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात ।"[4]

कभी उसे मकड़ी से ही सहानुभूति हो जाती है —

" सखि न हटा मकड़ी को आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी, हम दोनों की यहाँ समान दशा ।"[5]

उर्मिला के आन्तरिक स्वरूप पर इन सब बातों के बाह्य पक्ष पर प्रभाव भी पड़ता है । आचार्यों ने विरह की दस अवस्थाएं बताई हैं — १. अभिलाषा, अर्थात् प्रिय से मिलने की इच्छा ।

२. चिंता — प्रियतम के इष्ट अनिष्ट के प्रति चिन्ता ।

---

१. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ७४
२. साकेत नवम सर्ग, पृ० २१५, सा०स०चिरगाँव,झाँसी
३. ,, ,, पृ० २१६ ,,
४. ,, ,, पृ० ३०१ ,,
५. ,, ,, पृ० ३१० ,,

३. स्मृति -संयोग के सुखों का स्मरण ।
४. गुणकथन-प्रिय के गुणों का वर्णन ।
५. उद्वेग
६. प्रलाप
७. उन्माद
८. व्याधि
९. जड़ता
१०. मरण

गुप्त जी ने उर्मिला के वियोग वर्णन में इन सभी अवस्थाओं के चित्र खींचे हैं। यथा -

अभिलाषा - "कब जो प्रियतम को पाऊं" [१]
" यही आता है इस मन में।" [२]

चिंता- " मुझे भूल कर ही विभुवन में विचरें मेरे नाथ।" [३]
" मन को यों मत जीतो।" [४]

स्मृति- " आली इस वापी में हंस बने बार-बार हम विहरे,
सुधि कर उन छींटों की मेरे ये अंग आज भी सिहरे।" [५]

गुण कथन-" प्रिय ने सहज गुणों से दीक्षा दी थी, मुझे प्रणय की तेरी।"

उद्वेग- " मेरे चपल यौवन बाल"। [७]
" मुझे फूल मत मारो।" [८]

---

१. साकेत नवम सर्ग, पृ० ३२४ (सं०२०२१ वि० सा०स०वि०भा०सी)
२. ,, ,, पृ० ३२३ ,,
३. ,, ,, पृ० ३४० ,,
४. ,, ,, पृ० २६६ ,,
५. ,, ,, पृ० २८८ ,,
६. ,, ,, पृ० २७६ ,,
७. ,, ,, पृ० ३२६ ,,
८. ,, ,, पृ० ३१४ ,,

प्रलाप _" भय खाऊँ, आँसू पियूँ, मन मारूँ, झक मार ।"[१]

उन्माद-" अब भी समझा वह नाथ कहें......

प्रियपदों सदा उर्मिला रहे ।"[२]

व्याधि -" भूल अवधि -सुधि प्रिय से कहती जागती हुई कभी "आओ"

किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर जाओ ।"[३]

जड़ता - " सप्तपदी देकर यहाँ बैठी मैं गतिहीन"[४]

मरण - " मरण का यथार्थ चित्रण नहीं हुआ है परन्तु उसका आभास अथवा

उसके समान दशा का वर्णन कवि ने किया है । यथा-

" सखी ने अंक में खींचा, दु:खिनी पड़ सो रही,

स्वप्न में हँसती थी, हा सखीकेसे थी देख रो रही ।"[५]

कवि ने उर्मिला के विरह का आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का चित्रण किया है ।

साकेत में रस --

महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त इनमें से कोई एक रस अंगी, प्रधान होता है और अन्य रस गौण रूप से रहते हैं । ये गौण रस, प्रधान रस के परिपोषक होते हैं ।[६] साकेत का मूलवर्ती भाव प्रेम अथवा रति है और

---

१. साकेतनवम सर्ग, पृ० २८३ (२०२१ सा०स०चिरगाँव,झाँसी)

२. ,, पृ० ३३१-३३८ ,,

३. ,, पृ० २६८ ,,

४. ,, पृ० ३१६ ,,

५. ,, दशम स्कन्ध, पृ० ३८७ ,,

६. साहित्य दर्पण -आचार्य विश्वनाथ, षष्ठ परिच्छेद,श्लोक ३१७

" शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।

अंगानि सर्वेपि रसा: सर्वे नाटकसंधय: ।"

प्रधान रस शृंगार है। साकेत की मुख्य कथा उर्मिला-लक्ष्मण का संयोग और वियोग दोनों ही काव्य के विषय हैं, परन्तु विप्रलम्भ की ही प्रमुखता है। वही काव्य का मूल आधार है।" विप्रलम्भ शृंगार ही इस महाकाव्य का अंगीरस है।"[१] वियोग शृंगार ~~की कीका~~ स्थायी भाव रति है। उर्मिला के वियोग में लक्ष्मण के लिए शोक की भावना नहीं है केवल प्रेम ही प्रधान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है -" साकेत में न करुण रस प्रधान है, न विप्रलम्भ शृंगार ही, किन्तु विप्रलम्भ ही 'उत्तररामचरित' की भाँति इस काव्य का अंगी रस है।"[२]

श्री सावित्रीनन्दन ने लिखा है कि साकेत में" प्राधान्य करुण रस ही का है।"[३] परन्तु साकेत में करुणा रति का संचारी होकर आया है, वह शोक का पर्याय नहीं है। उर्मिला के विप्रलम्भ में करुणा का पुट देकर उसके गाम्भीर्य को और बढ़ाया गया है। गुप्त जी ने भी लिखा है -

" करुणे क्यों रोती है, ' उत्तर ' में और अधिक तू रोई,
मेरी विभूति है जो, उसको ' भवभूति ' क्यों कहे कोई ' ।"[४]

इस कथन में गुप्त जी ने 'करुणा' का यही भाव रखा है। करुण रस का शास्त्रीय आख्यान करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है -

'यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः।"[५]

लक्ष्मण लोकान्तर-गमन भी नहीं करते, और न ही उर्मिला के मन में पुनर्मिलन की आशा ही असम्भव है। यदि मिलन की आशा न होती तो करुण वियोग होता। यहाँ आशान्वित विप्रलम्भ है। कवि ने उर्मिला के विरह को और भी अधिक संवेदनात्मक बनाने के लिए ही उसे करुण से भी पूर्ण किया है। अत: उर्मिला का विरह करुण विप्रलम्भ नहीं है। 'काव्य-दर्पण'

---

१. आलोचना के पथ पर, डा० कन्हैयालाल सहल, पृ० २२५ । (राजपूत प्रेस लि०, जयपुर, सं० २००४
२. आलोचना के पथ पर, पृ० २३१ ,,
३. भारत, ७ मई सन् ३३, 'गुप्त जी का साकेत' निबंध, सा०स०, चि०, फांसी)
४. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, परि० ३, श्लोक २०६

के अनुसार मिलन यदि असंभव हो तो करुण-विप्रलम्भ होता है ।[१]

सावैत में भावपूर्ण स्थल —

महाकाव्यकार की भावुकता का निकष यह है कि वह काव्य के मर्म-स्पर्शी स्थलों को चुने और उनका सुन्दर सरस चित्रण करे । गुप्त जी ने साकेत की मूल धारा में परिवर्तन किया है अत: नवीन परिस्थितियों का सृजन भी उन्होंने किया है । साकेत के मार्मिक स्थल मुख्य रूप से ग्यारह हैं । १. लक्ष्मण उर्मिला की विनोद-वार्ता, २. कैकेयी मंथरा संवाद, ३. विदा प्रसंग, ४. निषाद मिलन, ५. दशरथ मरण, ६. भरत आगमन , ७ चित्रकूट-सम्मिलन , ८. उर्मिला की विरह-कथा , ९. नन्दिग्राम में भरत और माण्डवी का वार्तालाप, १०. हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर साकेत के नागरिकों की रण-सज्जा ११. राम-रावण-युद्ध और पुनर्मिलन ।[२]

लक्ष्मण-उर्मिला विनोद में संयोग शृंगार की व्यंजना हुई है । यह मार्मिक स्थल है । परन्तु इस चित्रण को अश्लील कहा गया है । बाबू गुलाबराय ने इस समस्या को उठाया भी है, और उसका निदान भी किया है । वे कहते हैं " .... प्रेमालाप अश्लीलता के वर्ज्य तट को स्पर्श कर गया है । ...... उर्मिला के त्याग और विरह-वेदना की विषमता दिखलाने के लिए तुलना में संयोग का सुख दिखलाना वांछनीय था । यदि लक्ष्मण आरंभ से ही यती और उदासीन होते तो न उनके और न उर्मिला के त्याग का ही इतना महत्व होता।[३] डा० कमलाकान्त पाठक ने इसका समाधान इन शब्दों में किया है — द्विवेदी युगीन मर्यादित शृंगार-वर्णना, जो अस्वाभाविकता की सीमा लांघ रही थी और जो स्वत: रीतिकालीन स्थूल शृंगारिकता की प्रतिक्रिया थी, गुप्त जी को यथोचित न जान पड़ी । नई स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर उन्होंने

---

१. काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ० १७९

२. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ९०-९१(द्वादश संस्करण)

३. काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय, पृ० ९७

तत्कालीन वर्जनाओं से पीछा छुड़ाया । यह प्रभाव बंगला काव्य का था कि वे शृंगार का स्वस्थ और संयत वर्णन करने लगे।"[1] वास्तव में साकेत की यह उर्मिला लक्ष्मण-विनोद वार्ता मार्मिकता लिए हुए है ।

कैकेयी-मंथरा संवाद में पुत्र के प्रति वात्सल्यभाव की व्यंजना हुई है । यह भाव अत्यन्त तीव्र है और रोष तथा घृणा इसके सहयोगी भाव हो गये हैं । विदा - प्रसंग राम-सीता के संयोग शृंगार और उर्मिला के करुण भाव से पूर्ण है । वन गमन में करुण भाव और रामसीता के रति भाव को प्रमुखता दी गई है पर वह गंभीर और मर्यादित है । ग्रामीण स्त्रियों का सीता से परिचय पूछना और सीता का उन्हें उत्तर देना मर्यादित रति व्यंजक है । यथा:

" शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं,"
" गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं ।"[2]

निषाद मिलन का प्रसंग मानस में भी अत्यन्त मार्मिक है । गुप्तजी ने भी उसे मार्मिक बनाया है । कवि निषाद की प्रीति, भक्ति के कोटि की है । कवि ने कहा है —

" प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया,
कर चरणामृत-पान अमर वह हो गया ।"[3]

दशरथ मरण का प्रसंग करुणा से पूर्ण है । यह आहत वात्सल्य की मार्मिक कथा है । करुण रस की इस धारा में उर्मिला का वियोग-वर्णन भी नियोजित किया गया है । परन्तु दशरथ-मरण अधिक करुण है अत: दशरथ के ही साथ साधारणीकरण होता है । भरत का आगमन और भी अधिक मार्मिक है । दशरथ-मरण की इस करुण भूमिका में भरत के अन्तर्गत क्षोभ, ग्लानि, शोक और क्रोध के भाव उग्र रूप धारण कर लेते हैं । कैकेयी

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ०४९७ (प्रथम संस्करण १९६०, हिन्दी परिषद, सागर विश्वविद्यालय)
२. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४८ (सं० २०२१वि० साहित्य सदन, चिर०, झाँसी)
३. " " पृ० १४४ "

जब मतृत्व की दुहाई देने लगती है , तब भरत कह उठते हैं —

" सब बचाती हैं सुतों के गात्र, किन्तु देती हैं डिठौना मात्र,
नील से मुँह पोत मेरा सर्व, कर रही वात्सल्य का तू गर्व ।"[1]

इस प्रसंग में चित्रकूट - मिलन का प्रसंग आता है । " रामकथा में इस प्रसंग का बड़ा माहात्म्य है । तुलसी ने उसे 'भायप-मिलन' को अमर कर दिया है । साकेत में भी इस प्रसंग का महत्त्व उर्मिला विषयक कुछ स्थलों को छोड़, और सबसे अधिक है ।"[2] चित्रकूट के प्रसंग में सबसे पहले सीता की सुन्दर झाँकी दिखाई पड़ती है । राम-सीता के संयोग शृंगार का चित्र बड़ा ही मधुर है । इसके पश्चात् राम और भरत का मिलन होता है ।" राम और भरत का चित्र-कूट मिलन प्रेम और आवेग का मिलन है ।"[3] गुप्त जी ने इस प्रसंग को अत्य-धिक मार्मिक बनाया है । कैकेयी को अपनी सफाई देने का पूरा अवसर देकर कवि ने उसके वात्सल्य को निष्कलंक सिद्ध किया है । इस सम्मिलन का अन्त उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन से होता है ।

उर्मिला के विरह वर्णन को गुप्त जी ने प्रमुखता दी है । नवम और दशम सर्ग उसके विप्रलम्भ के प्रकाशन के लिए ही रचे गये हैं । उनमें उर्मिला के वियोग का विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है । नन्दिग्राम में भरत और माण्डवी के वार्तालाप में शृंगारिकता नहीं आने पाई है । उसमें त्याग की भावना प्रमुख है । उनके वार्तालाप में राम-मिलन की आशा है । भरत कहते हैं —

" रोक सकेगा कौन भरत को
अपने प्रभु को पाने से ?

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४४ (२०२१ वि० सा०स०चि०,झाँसी)
२. ,,एक अध्ययन,डा० नगेन्द्र, पृ० १०० (द्वादश संस्करण)
३. ,, ,, ,, पृ० १०१ ,,

टोक सकेगा रामचन्द्र को

कौन अयोध्या जाते से ?"[१]

भरत-माण्डवी के सम्पूर्ण वार्तालाप में शान्त रस की धारा ही प्रवाहित है । द्वादश सर्ग में हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति लग जाने का समाचार सुन कर रण-सज्जा होती है । इस वर्णन में वीरोत्साह व्यंजित है । युद्ध के वर्णन में पर्याप्त सजीवता है ।

अन्त में सम्पूर्ण राजपरिवार का पुनर्मिलन होता है । राम-भरत और लक्ष्मण-उर्मिला का मिलन अपूर्व है । 'कवि ने न अन्तिम दृश्य को, पुनर्मिलन को, स्थूल वस्तु-योजना मात्र रक्खा , न उसने हर्षोल्लास की भौतिक सीमा ही आंकी । उसने जीवन-साधना का पूर्ण कामत्व व्यंजित किया, जिसमें समस्त मनोमालिन्य प्रक्षालित हो गये और सुखान्त परिणति प्रशांति का गांभीर्य व्यक्त कर सकी ।'[२]

उपर्युक्त वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की भावुकता उत्कृष्ट है । 'भावुकता की परीक्षा के लिए तीन बातें दृष्टव्य हैं, १. विस्तार, २. तीव्रता, ३. सूक्ष्मता । .... जिस कवि का इन तीन शक्तियों पर जितना वृहत अधिकार होगा उसकी प्रतिभा उतनी ही जीवन-व्यापिनी होगी, जीवन के चिरन्तन राग-द्वेषों का उसको उतना ही स्पष्ट और गहरा परिज्ञान होगा और उतना ही वह कवि महान् होगा ।'[३] इस दृष्टि से गुप्त जी एक सफल काव्यस्रष्टा हैं और 'साकेत मानव-जीवन की बड़ी अनूठी और पूर्ण व्याख्या है ।'[४]

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ३६४, (सं० २०२१ वि० सा०स० चिरगांव, झांसी)

२. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ०४६६ प्रथम संस्करण, १९६० ई० हिन्दी परिषद, सागर, विश्वविद्यालय

३. साकेत एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ११४-११५ (द्वादश संस्करण)

४ वही, पृ०११५

प्रदक्षिणा—

परिचय— प्रस्तुत काव्य में सम्पूर्ण राम-कथा को अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया गया है। राम-जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनाओं को संक्षेप में नियोजित किया है। इसलिए यह काव्य विवरणात्मक (   ) हो गया है। इसका कथा-प्रवाह अत्यन्त क्षिप्र है। साकेत के बहुत समय पश्चात् इस काव्य का प्रकाशन हुआ। गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है —" साकेत प्रकाशित होने के पश्चात् थोड़े ही प्रयास से अपने प्रभु की प्रदक्षिणा का यह अवसर मुझे मिल गया था परन्तु इसके प्रकटीकरण में बरसों का विलम्ब हुआ।"[१] वास्तव में यह स्वतन्त्र रचना कार्य नहीं है। इसमें "साकेत" के एकादश सर्ग के चौहत्तर छंद तथा अष्टम सर्ग का एक छंद है। इसमें पंचवटी से तीन छंद लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त अड़तालीस छन्द मिला कर इस काव्य-रचना का निर्माण हुआ है। तात्पर्य यह है कि प्रदक्षिणा का लगभग दो तिहाई भाग संकलन मात्र है और एक तिहाई अंश नई रचना कहा जा सकता है। इस काव्य-रचना का घटना-क्रम साकेत से भिन्न और मानस के अनुसार है। परन्तु यह अवश्य है कि प्रदक्षिणा में भी कवि ने लक्ष्मण और उर्मिला के प्रसंग को, चित्रकूट के मिलन आदि को नियोजित किया है।

---

१. प्रदक्षिणा—शीर्षक रचित आमुख, बीसवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।

महाभारतीय-काव्य —

गुप्त जी की सबसे अधिक रचनाएं `महाभारत` पर आधारित हैं। महाभारतीय आख्यान पर आधारित उनका सर्वप्रथम काव्य `जयद्रथ-वध` है। इसके उपरान्त सैरन्ध्री, वकसंहार, वन-वैभव, नहुष, हिडिम्बा और जय-भारत हैं।

जयद्रथ-वध—

परिचय— `उत्तरा` से अभिमन्यु की विदा` शीर्षक चित्र पर गुप्त जी की सरस्वती में आख्यान रचना प्रकाशित हुई थी।[१] उसमें गुप्त जी ने लिखा था —

" है विज्ञ दर्शक देखिये है दृश्य क्या अद्भुत अहा !
यह वीर-करुणा-सम्मिलन कैसा विलक्षण हो रहा ।।"

साथ ही पाठकों को यह आश्वासन भी दिया था कि —

अभिमन्यु का यह चरित आदरणीय प्रायः है सभी ।
जो हो सका तो युद्ध भी इसका सुनाऊंगा कभी ।

वस्तुतः यह भूमिका थी `जयद्रथ-वध` पौराणिक खण्डकाव्य की रचना की। `जयद्रथ-वध` खण्डकाव्य इसी आकांक्षा की पूर्ति है।

---

१. सरस्वती, जनवरी १९०८।

'जयद्रथ-वध' गुप्त जी का दूसरा खण्डकाव्य है। परन्तु पौराणिक काव्यों की शृंखला में प्रथम है। इसमें वीर अभिमन्यु की कथा वर्णित है। यद्यपि गुप्त जी ने पौराणिक आख्यानों पर आधारित अपनी कृतियों से अति-मानवीय तत्वों को निकाल कर सहज स्वाभाविक रूप में उन्हें उपस्थित करने का प्रयास किया है, क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग में पाठकों का विश्वास अमर अथवा अतिमानवीय शक्तियों पर से उठ गया है, परन्तु फिर भी प्रारम्भिक रचनाओं में अतिमानवीय तत्वों को स्वीकारा गया है। जयद्रथ-वध में भी पौराणिक अतिमानवीय घटनाओं को ज्यों का त्यों रखा गया है। जैसे अर्जुन द्वारा छिन्न जयद्रथ के शीश का आकाशमार्ग से उड़कर जयद्रथ के वृद्ध तपस्यारत पिता क्षत्र की गोद में जा गिरना और फिर क्षत्र का भी सिर फट जाना तथा कृष्ण के द्वारा सूर्य को कुछ समय के लिए छिपा लेना ऐसी ही घटनाएं हैं।

कथावस्तु--

'जयद्रथ-वध' की कथावस्तु सात सर्गों में विभाजित है। प्रथम सर्ग में वीर अभिमन्यु के वध का करुण और वीर रस से ओत-प्रोत वर्णन है। महाभारत के युद्ध में कौरव-पक्षी द्रोण ने चक्रव्यूह की रचना की, जिसका भेदन अर्जुन के अतिरिक्त अन्य कोई पाण्डव नहीं कर सकने में समर्थ था। षोडश वर्षीय अभिमन्यु ने इस दुष्कर कार्य को करने का निश्चय किया।[1]

---

१. जयद्रथ वध, पृ० ७ (पचासवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

उसने युधिष्ठिर से कहा —

" हे तात ! तजिए सोच को, है काम ही क्या क्लेश का ?
मैं द्वार उद्घाटित करूँगा व्यूह बीच प्रवेश का ।"[१]

अभिमन्यु अपनी नवोढ़ा पत्नी उत्तरा के पास विदा माँगने जाते हैं । वह पति के अनिष्ट की कल्पना से व्याकुल हो उठी । वह कहती है —

जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न बाधा डालती
होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती ?
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे सब जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिए ।

× × × × × ×

कुछ राज-पाट न चाहिये, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही,
हे उत्तरा के धन ! रहो तुम उत्तरा के पास ही ।।"[२]

अभिमन्यु उत्तरा को सांत्वना देता है और अन्त में कहता है —

रण में विजय पाकर प्रिये ! मैं शीघ्र आऊँगा यहाँ,
चिंतित न हो मन में, न तुमको भूल जाऊँगा वहाँ ।[३]

---

१. जयद्रथ वध, पृ०७ (पचासवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० ६ ,, ,, ,,
३. ,, पृ० १० ,, ,, ,,

कवि ने अभिमन्यु की वीरता का वर्णन भी यहाँ बहुत सुन्दर ढंग से किया है। उसका शौर्य अतिमानवीय दिखाई पड़ता है।

उसकाल जिस-जिस ओर वह संग्राम करने को गया,
भगते हुए अरिवृन्द से मैदान खाली हो गया।"[1]

युद्ध में अभिमन्यु को अकेला पाकर सप्त-महारथी युद्ध रीति के विपरीत उस पर आक्रमण करते हैं। अभिमन्यु निःशस्त्र हो जाता है परन्तु तब भी शत्रु आक्रमण करते ही रहते हैं और जयद्रथ निःशस्त्र अभिमन्यु का क्रूरतापूर्वक वध कर देता है। प्रथम सर्ग में शृंगार वीर और करुण रसों की अभिव्यक्ति हुई है।

द्वितीय सर्ग में अभिमन्यु की मृत्यु से पाण्डवों के शोक का वर्णन किया गया है। पाण्डव पक्ष में शोक का साम्राज्य छा जाता है। कवि ने उत्तरा के शोक की व्यंजना इस प्रकार की है —

" प्रिय मृत्यु का अप्रिय यहाँ संवाद पाकर विष-भरा,
चित्रस्थ-सी निर्जीव मानों रह गई हत उत्तरा।
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी
उसकाल मूर्च्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बड़ी।"[2]

इस सर्ग में उत्तरा का विलाप अत्यन्त करुण है। द्रौपदी और सुभद्रा का भी करुण विलाप इसमें वर्णित है। युधिष्ठिर की आत्मग्लानि की भी व्यंजना कवि ने भावपूर्ण शैली में की है —

विचलित न देखा था कभी जिनको किसी ने लोक में,
वे नृप युधिष्ठिर भी स्वयं रोने लगे इस शोक में।"[3]

अभिमन्यु के वध से पाण्डव इतने व्यथित हो उठते हैं कि वे युद्ध से विरत होने को तत्पर होने लगे। युद्ध से प्राप्त राज्य का जिन्हें उपभोग

---

१. जयद्रथ वध, पृ० १२ (पचासवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
२. ,, पृ० २१ ,,
३. ,, पृ० २७ ,,

करना है, जब वे ही न रहे तो युद्ध का प्रयोजन ही क्या है ? परन्तु फिर कृष्ण पाण्डवों को समझाते हैं और युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हैं ।

कृष्ण अर्जुन का प्रबोधन करते हुए उन्हें युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हैं —

> मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
> सर्वस्व मानो है हमारा हर लिया दुरुपाय से ।
> हे वीरवर ! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं ?
> इस वैर का बदला कहो क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं ?"[1]

कृष्ण के वचन सुनकर अर्जुन क्रोध से जलने लगे और युद्ध के लिए तत्पर हो गये । उन्होंने शपथ ली कि — सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ वध करूँ,
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ ।।"[2]

इसी सर्ग में अभिमन्यु के दाह-संस्कार का भी वर्णन हुआ है । सुभद्रा और उत्तरा के करुण विलाप की मार्मिक व्यंजना है । उत्तरा गर्भिणी होने के कारण सती न हो पाई । यह पूरा सर्ग शोक से पूर्ण है और करुण रस से ओत-प्रोत है ।

चतुर्थ सर्ग अतिमानवीय कार्य से ही प्रारंभ होता है । कृष्ण ने अपनी योगमाया के द्वारा अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति करवाई । पाशुपतास्त्र को पाकर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति की सफलता के विषय में आश्वस्त हो जाते हैं । महाभारतीय आख्यान की इस अतिमानवीय घटना को कवि ने ज्यों का त्यों ले लिया है ।

पंचम सर्ग में युद्ध की वर्णना हुई है । अर्जुन की प्रतिज्ञा के कारण जयद्रथ भयभीत है और वह अर्जुन की प्रतिज्ञा को असफल करने के लिए सूर्यास्त तक छिपे रहने का प्रयत्न करता है । कौरव उसकी रक्षा के लिए तत्पर हैं । अर्जुन बड़ा ही भीषण युद्ध करते हैं । भीम भी युद्ध में बड़ा ही शौर्य और साहस का प्रदर्शन करते हैं ।

षष्ठ सर्ग में जयद्रथ के वध की वर्णना है । अर्जुन कौरवों के साथ

---

1. जयद्रथ वध, पृ० २६ (पचासवाँ संस्करण, साहित्य सदन, चिर०, झाँसी)
2. ,, पृ० ३६ ,,

बड़ा ही रोमांचक युद्ध करने लगे। कवि ने युद्ध में रत अर्जुन का चित्रण बड़ा ही प्रभावोत्पादक अंकित किया है —

> ऐन्द्रास्त्र से कर नष्ट वे शर पार्थ प्रकटे भानु से ।।
> टंकार ही निर्घोष था, शर-वृष्टि ही जलवृष्टि थी,
> जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युतदृष्टि थी ।
> गाण्डीव रोहित-रूप था, रथ ही सशक्त समीर था,
> उसकाश अर्जुन-वीर अद्भुत-जलद गंभीर था ।।

कृष्ण की योगमाया के द्वारा सूर्यास्त होने का दृश्य दिखाई पड़ने लगा। जिसे देखकर अर्जुन कृष्ण से आत्मग्लानि और शोकपूर्ण वचन कहने लगे। दूसरी ओर सूर्यास्त का दृश्य देख कर शत्रुपक्षी संतुष्ट होने लगे और जयद्रथ भी प्रकट हो गया। इसी समय सूर्य भी निकल आया, जिसे कृष्ण ने अपनी योगमाया से छिपा दिया था। यह अति प्राकृत घटना है। सूर्य को देखकर अर्जुन प्रसन्न हो गये और जयद्रथ अर्जुन से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। जयद्रथ का सिर धड़ से अलग हो गया और आकाश मार्ग से जाकर जयद्रथ के पिता की गोद में गिर पड़ा। जिससे पिता की भी मृत्यु हो जाती है।

सप्तम सर्ग उपसंहार का है। अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके शिविर में लौट आते हैं। पाण्डवों में हर्ष की तरंग प्रवाहित है। युधिष्ठिर कृष्ण के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। अन्त में कवि ने कृष्ण को परब्रह्म के अवतार रूप में चित्रित किया है।

> विख्यात वेदों में विभो ! सबके तुम्हीं आराध्य हो,
> कोई न तुमसे है बड़ा, तुम एक सबके साध्य हो ।।
> पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है,
> पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है ।[१]

प्रस्तुत खण्डकाव्य में कवि ने अतिप्राकृत तत्वों को नियोजित किया है इससे वस्तु-कल्पना की रूढ़ि-बद्धता प्रकट होती है। वस्तु-विन्यास सुन्दर

---

१. जयद्रथ वध-पृ० ८३ (पचासवां संस्करण, सा०स०चिरगांव,झांसी)

का है और सर्वांगपूर्ण है । क्रमबद्धता विशृंखलित नहीं होने पाई है । शृंगार, वात्सल्य, वीर और करुण रसों की व्यंजना सुन्दर रूप में हुई है । इसमें न्याय का समर्थन और अन्याय का प्रतिकार दिखाया गया है । कवि ने अपनी भक्ति-भावना को भी प्रकट किया है । यह काव्य हिन्दी-जगत में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ ।[१]

<u>सैरंध्री</u> –

<u>परिचय</u>– इस खण्डकाव्य के कथानक का आधार महाभारत है । अज्ञातवास के समय 'सैरंध्री' (द्रौपदी) एवं कीचक का चिरप्रसिद्ध कथानक ही इसका मूल है । द्रौपदी के द्वारा कवि ने नारी के उज्ज्वल चरित्र का उद्घाटन किया है और उसको बहुत महत्व दिया है । 'सैरन्ध्री' काव्य नायिका-प्रधान खण्ड काव्य है । कथावस्तु अज्ञातवास के समय की है ।

<u>कथावस्तु</u>– अज्ञातवास के समय पाण्डव सैरंध्री, छद्मना धारिणी द्रौपदी के साथ मत्स्यराज राजा विराट के यहाँ गुप्त रूप से रहने लगे । विराट की पत्नी सुदेष्णा की दासी के रूप में सैरंध्री रहने लगी । विराट का साला कीचक, जोकि राज्य का सेनापति भी था, सैरंध्री के सौन्दर्य को देखकर कामातुर हो उठा । कवि इसका वर्णन इस प्रकार करता है –

> " जब विराट के यहाँ वीर पाण्डव रहते थे,
> छिपे हुए अज्ञात-वास-बाधा सहते थे ।
> एक बार तब देख द्रौपदी की शोभा अति –
> उस पर मोहित हुआ नीच कीचक सेनापति ।"[२]

कीचक सैरंध्री से अनुचित प्रस्ताव कर बैठता है । सैरंध्री रोष से

---

१. सन् १९७० तक जयद्रथ-वध के पचास संस्करण प्रकाशित हुए ।
२. [illegible], सैरन्ध्री, पृ० ११८, द्वितीय संस्करण, साहित्य स०, झांसी

मन ही मन कहने लगी और उसने विपरीत समय देखकर धीरज धारण किया।
और कीचक को नैतिकता का उपदेश देते हुए कहती है —

" सावधान हे वीर, न ऐसे वचन कहो तुम,
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम ।
है मेरा भी धर्म, उसे क्या खो सकती हूँ ?
अबला हूँ, मैं किन्तु न कुल्टा हो सकती हूँ ।"[1]

सैरन्ध्री के समझाने बुझाने पर भी वह चेतता नहीं और अपनी भगिनी सुदेष्णा से सैरंध्री के विषय में पूछ-ताछ करता है। सुदेष्णा सैरंध्री के विषय में बतलाते हुए कहती है कि वह दृढ़ जटिल चरित्र नारी है साथ ही वह दुखिया है, पर कौन उसको बेचारी कह सकता है। सुदेष्णा कीचक को भाँति भाँति से समझाती है, वह कहती है — 'गुप्त पाप ही नहीं, प्रकट भयभी है इसमें'। सुदेष्णा कीचक को समझाती तो है परन्तु बाद में वह अपने दुर्बल नारीत्व के कारण कीचक की सहायिका बन जाती है। वह सैरन्ध्री द्वारा भीम-गज-युद्ध का एक चित्र बनवाती है। और उसे आदेश देती है कि वह उस चित्र को स्वयं जाकर कीचक को भेंट कर आए। सैरंध्री इसका अपवाद करती है परन्तु सुदेष्णा के हठ के सामने उसे झुकना पड़ता है। वह यह विश्वास रख कर ही कीचक को चित्र भेंट करने जाती है कि —

" पापी जन का पाप उसी का भक्षक होगा ।
मेरा तो ध्रुव धर्म सहायक रक्षक होगा ।"[2]

सैरन्ध्री को इस बात से बहुत दु:ख हुआ कि नारी होते हुए भी सुदेष्णा ने कीचक का पक्ष लिया। वह अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने आत्मबल और राम पर ही भरोसा करती है —

" मैं अबला हूँ तो क्या हुआ ?
अबलों का बल राम है,

---

१. त्रिपथगा, सैरन्ध्री, पृ० १२२ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगाँव)
२. ,, पृ० १४८ ,,

धर्मानुसार ही अन्त में,

शुभ का सच्चा परिणाम है ।"[१]

सैरंध्री जब कीचक को चित्र देती है तो वह सैरंध्री के हाथों को चूमने का हठ करने लगा, जिन हाथों द्वारा इतना सुन्दर चित्र बना था। कीचक ने बलपूर्वक उसका हाथ पकड़ना चाहा । सैरंध्री ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कीचक को पृथ्वी पर गिरा दिया और शीघ्रता से रोती-रोती वह कीचक की न्याय सभी में गई । पर पीछे पीछे कीचक ने भी आकर भरी सभा में सैरंध्री पर पद-प्रहार किया । सैरंध्री छिन्नलता के समान पृथ्वीपर गिर पड़ी । सैरन्ध्री ने राजा विराट को इस अन्याय के लिए धिक्कारा ।

"छोड़ धर्म की रीति, तोड़ मर्यादा सारी,
भरी सभा में लात मुझे कीचक ने मारी ,
उसका यह अन्याय देख कर भी भय-दायी
न्यायासन पर रहे मौन तुम बन कर न्यायी ।"[२]

रात्रि में इस दुर्घटना की सूचना सैरंध्री ने भीम को दी और दोनों ने मिल कर कीचक के वध की योजना बनाई । इस योजना के अनुसार दूसरे दिन सैरंध्री ने कीचक को रात्रि में अपने शयन-कक्ष में निमंत्रित किया । रात्रि में कीचक सैरन्ध्री के शयन-कक्ष में पहुंचा, वहां सैरन्ध्री तो न मिली परन्तु भीम ने उसको परलोक पहुंचा दिया ।

विवेचन-- इस खण्डकाव्य में नायिका द्रौपदी है और प्रतिनायक कीचक है । विपरीत परिस्थितियों और खलकामी कीचक के चरित्र के द्वारा द्रौपदी की सात्विक मनोवृत्तियों का उद्घाटन किया गया है । कवि ने उचित संवादों , वर्णनों और नाटकीय परिस्थितियों के द्वारा द्रौपदी का शील निरूपण किया है । यह एक घटना प्रधान खंडकाव्य है । रस की दृष्टि से यह काव्य पर्याप्त सफल है । मुख्यतया करुण रस की सृष्टि हुई है । इस काव्य में कथा यद्यपि प्राचीन है परन्तु शैली की मौलिकता है । कथा में प्रारम्भ से अन्त तक रोचकता बनी रही है ।

---

१. सियशरण, सैरन्ध्री, पृ० १४६ द्वितीय संस्क०, साहित्य स०, चिरगांव, झांसी
२. ,, पृ० १५६

वक-संहार —

परिचय— 'वक-संहार' लघु खण्डकाव्य है और इसका आधार महाभारत है।

कथावस्तु— पाण्डव वनवास-काल मैं लाक्षा-गृह सै किसी प्रकार बच गये और एकचक्रा नगरी मैं एक ब्राह्मण परिवार कै यहाँ अतिथि कै रूप मैं रहनै लगै। उस नगर मैं राजाज्ञा सै प्रतिदिन एक परिवार का एक व्यक्ति बकासुर कै पास भैजा जाता था। जिससै वकासुर अपनी क्षुधा शान्त करता था और फिर सारै नगर वासियों कौ उसका भय नहीं रहता था। यह व्यवस्था उस नगर मैं चल रही थी कि एक दिन उसी ब्राह्मण परिवार की बारी आ गई जब कि पाण्डव उसकै यहाँ अतिथि थै। जब उस परिवार की बारी आ गई तौ ब्राह्मणी और उसकी पुत्री विलाप करनै लगीं। तीनौं प्राणियौं मैं विवाद हौनै लगा कि कौन वक का भक्ष्य बन कर जाय। ब्राह्मण स्वयं जानै कै लिए उद्यत हुआ परन्तु ब्राह्मणी और पुत्री भी जानै कै लिए तत्पर हौ गईं। तीनौं ही प्राणी आत्म-बलि दैनै कै लिए अपनै-अपनै पक्ष मैं विवाद करनै लगै। कवि नै ब्राह्मण-परिवार कै इस तर्क-वितर्क सै कथा कौ रौचक बनाया है और अबौध शिशु तक कौ आत्म-त्याग कै लिए उत्सुक दिखाया है। इस दृश्य कै द्वारा बड़ा ही करुण और मार्मिक चित्र अंकित हुआ है।

ब्राह्मण परिवार का विवाद चल रहा था उसी समय कुंती कौ उसकै संकट का पता चला और कुंती कै मन मैं सर्व-प्रथम राज-व्यवस्था कै प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वह कहती है —

> यदि भीरु वह दुर्बल मना,
> तौ व्यर्थ क्यौं राजा बना ?
> कर दै रहै हौ तुम उसै किस बात का ?
>
> × ×
>
> यदि वह प्रजा-पालक नहीं तौ त्याज्य है।
> हम दूसरा राजा चुनैं,
> जौ सब तरह अपनी सुनै
> कारण, प्रजा का ही असल मैं राज्य है।"[१]

ब्राह्मण अति धर्मनिष्ठ था । अत: वह वक के भय से राजा के साथ हुए समझौते को तोड़ कर कहीं अन्यत्र भी नहीं जा सकता था । कुंती अत्यधिक दयावान हैं और वे वक के लिए अपने एक पुत्र को भेजने का निर्णय करती हैं । ब्राह्मण इसके लिए तत्पर नहीं होता और भाँति-भाँति की बाधाएं बताता है । परन्तु कुंती ब्राह्मण परिवार की रक्षा का व्रत ले लेती है । इसके पश्चात कवि ने कुंती के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया है । कुन्ती सोचती है कि वे किस पुत्र को वक के पास भेजेंगी । कुन्ती ब्राह्मण की कृतज्ञतावश यह प्रतिज्ञा कर बैठती हैं, बाद में उनका मातृहृदय कार्य की भीषणता पर विचार कर कंपित हो जाता है ।

' बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुईं

< <

भगवान मैं ही किस तरह,
जाने उन्हें दूं इस तरह,
क्या मारने को ही उन्हें मैंने जना ?

< <

जो थी शिला सी निश्चला,
अब रुँध गया उसका गला,
वह देर तक जल मग्न सी लेटी रही ।[१]

पाण्डवों के आने पर कुंती स्वयं भीम को वक के पास भेजने का निर्णय नहीं करतीं वरन् वार्तालाप के द्वारा ही यह निश्चित कराया गया है कि भीम का जाना ही उचित है । भीम वक के पास जाते हैं और उसका वध कर देते हैं -परन्तु इस प्रसंग का कवि ने इस काव्य में वर्णन नहीं किया है ।

<u>विवेचन</u>- यद्यपि इस खंडकाव्य का प्रतिपाद्य महाभारत की सुप्रसिद्ध कथा है परन्तु गुप्त जी ने उसमें कुछ परिवर्तन भी किया है । इस काव्य में

---

१. बक-संहार- त्रिपथगा, पृ० ८०-८४,८६ (दूसरा संस्करण,साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी ।

संवाद अत्यधिक सजीव है और कवि का काव्यशिल्प और निखरा हुआ है। यह मुख्यतया करुणारस प्रधान खंड-काव्य है परन्तु इसमें स्थान-स्थान पर प्रसंग के अनुसार वात्सल्य, उत्साह, प्रेम आदि मनोभावों की सफल व्यंजना हुई है। इस काव्य के पूर्वार्द्ध में ब्राह्मण प्रमुख पात्र है, परन्तु उत्तरार्द्ध में कुंती की प्रधानता है। कार्य की सिद्धि भीम के द्वारा हुई है अतः इस काव्य में ब्राह्मण, कुंती और भीम महत्वपूर्ण पात्र हैं। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कुंती हैं। यह एक आदर्शवादी काव्य है। इसमें परोपकार की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

वन-वैभव —

परिचय —वन-वैभव महाभारत पर आधारित एक लघु खंड काव्य है। इसमें युधिष्ठिर के उदात्त रूप का विशेष वर्णन है। इस काव्य में कवि ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि जैसा भी कार्य होगा, उसका वैसा ही परिणाम होगा। इस काव्य में करुणा की भावना प्रमुख है। इसमें शान्त रस की व्यंजना अधिक हुई है।

कथावस्तु—वन-वैभव में कथा उस समय की है जब पांडवों को नीचा दिखाने के लिए वनवास के अवसर पर शकुनि के उकसाने पर दुर्योधन अपने राजसी ठाठ के साथ मृगया खेलने के बहाने वन यात्रा करता है। शकुनि, दुर्योधन और कर्ण तीनों मृगया का बहाना करके एक ढेले में दो पक्षी का षड्यंत्र करके वन में पहुंच जाते हैं। कौरवों के वन प्रवेश का बड़ा ही आतंककारी चित्रण कवि ने किया है। यथा —

" उठा कोलाहल घोर घना,
हुए सब खग-मृग भीत-मना।
जिधर पाण्डव थे, वे भागे-
खबर सी देने को आगे।"[१]

पश्चात् कवि ने पाण्डवों के वनवास के जीवन का वर्णन किया है।

---

[१] गुप्त, वन-वैभव, पृ० ६७, (दूसरा संस्करण, साहित्य सदन, चिर-

उनके पास आज दास-दासी नहीं हैं वे न भोगी हैं, न विलासी हैं, वे उदासी हैं और सन्यासी हैं वे वैभव से हीन हैं। पर्णकुटीर में वे पांचों पाण्डव द्रौपदी के साथ रहते हैं। वही द्रौपदी जो कभी महारानी थी आज स्वयं पानी भरती है। परन्तु उसको शत्रु-कृत अपमान विष-विशिख के समान सालता रहता है। कवि ने द्रौपदी को क्षत्रिय-भार्या के रूप में चित्रित किया है, वह अपना अपमान नहीं भूल पाती। पाण्डव भी धैर्य-पूर्वक समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। पार्थ ने तप करके शंकर से विजय-वर प्राप्त कर लिया था और वे दिव्यायुध ले आये थे।

कौरवों के वन आगमन की सूचना जब पाण्डवों को मिली तो उनके मन में विभिन्न प्रकार के भाव आए। कवि ने उनका चित्र सा अंकित कर दिया है —

युधिष्ठिर ने ली लम्बी सांस,
भूमि के रोम हुए कुश-कांस।
गही अर्जुन को मानो गांस,
नकुल के नख में थी क्या फांस?
सन्न सहदेव हुए निरुपाय,
हंसी या रोई कृष्णा हाय।"[1]

इस समय द्रौपदी का चरित्र विशेष रूप से उभरा है। उसे अपना अपमान पुन: स्मरण आ जाता है। परन्तु युधिष्ठिर द्रौपदी और अपने भ्राताओं को शान्त करते हैं। बिना उपयुक्त अवसर आये वे अपना रोष प्रकट करना ठीक नहीं समझते।

'वन-वैभव' के उत्तरार्ध में कौरवों के वन-विहार का वर्णन है। वे आमोद-प्रमोद में लीन हैं और चांदनी रात्रि में गंधर्वों के जलाशय में क्रीड़ा करने लगते हैं। गंधर्वों को इसमें आपत्ति होती है। गंधर्वराज अपनी जल-

---

१. त्रिपथगा, वन-वैभव, पृ० ७५, दूसरा संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।

क्रीड़ा के इस सरोवर में कौरवों को रोकते हैं परन्तु जब कौरव अपनी जल-क्रीड़ा नहीं बंद करते तो चित्ररथ, से उनका युद्ध होता है। कवि ने कौरवों को यहाँ अन्यायी, मदान्ध, उद्धत और तमोगुणी चित्रित किया है। पहले तो गंधर्वराज चित्ररथ और दुर्योधन वाग्युद्ध करते हैं, फिर गंधर्व कौरवों को सम्मोहित करके उन्हें अपने विमानों से बाँध लेते हैं।

कुरु मंत्री द्वारा यह सारा वृत्तान्त युधिष्ठिर को मालूम हुआ और कुरुमंत्री ने युधिष्ठिर से रक्षा की याचना भी की। युधिष्ठिर कौरवों की रक्षा के लिए तुरंत तत्पर हो गये। यद्यपि इस समय द्रौपदी और भीम ने इसका विरोध किया। परन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें शरणागत-रक्षा का धर्म समझाया और उसका महत्त्व बतलाया तथा अर्जुन को कौरवों की रक्षा का भार सौंप कर वहाँ भेजा। यद्यपि चित्ररथ पाण्डवों का हितैषी और अर्जुन का मित्र था परन्तु फिर भी अर्जुन ने चित्ररथ के साथ युद्ध किया और कौरवों की रक्षा की। चित्ररथ के साथ अर्जुन का मैत्रीभाव समाप्त नहीं हुआ। अंत में अर्जुन कौरवों के साथ युधिष्ठिर के पास आए। युधिष्ठिर के सामने दुर्योधन का मान मर्दित हो गया।

<u>विवेचन</u> -'वन-वैभव' की कथा में आए हुए अमानवीय तत्वों को कवि ने स्वीकार कर लिया है। गंधर्वों के सम्मोहन शस्त्र द्वारा कौरवों को सम्मोहित कर लिया जाना अति प्राकृत घटना है। परन्तु इस अतिप्राकृत घटना को कवि ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। इस काव्य में करुणा की भावना प्रमुख है। अतएव इसे शान्त रस का काव्य कहा जा सकता है। कोमल भावनाओं का महत्व स्थापित किया गया है। पाण्डवों द्वारा कौरवों की रक्षा से एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी सामने आता है, कि यदि भाई-भाई में शत्रुता भी हो तो भी बाह्य शत्रु के सामने उन्हें एक हो जाना चाहिए। 'वन-वैभव' में गुप्त जी की कला पर्याप्त मंजी हुई है और उसका एक कारण युधिष्ठिर का भव्य चरित्र भी है। यों तो युधिष्ठिर परम्परा से धीर-प्रशान्त चरित्र के रूप में प्रख्यात हैं परन्तु गुप्त जी ने उसमें और भी भव्यता का समावेश किया है। इस काव्य में गुप्त जी के युद्ध सम्बन्धी कतिपय विचार भी दृष्टव्य हैं। व वे लोभवश किये गये युद्ध के विरोधी हैं और धर्म के लिए किये गये युद्ध के

विरोधी हैं और धर्म के लिए किये गये युद्ध के पक्ष में हैं।

'वन-वैभव' संवत् १९८४ में पहली बार प्रकाशित हुआ और अब तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

नहुष –

परिचय– 'नहुष' खंडकाव्य में राजा नहुष के इन्द्र-पद प्राप्त करने और फिर मानवीय दुर्बलताओं के कारण पथ-भ्रष्ट होने का वर्णन है। सात प्रसंगों में यह कथा विभाजित है।

कथावस्तु– सर्वप्रथम शची प्रसंग है। शची पति वियोग से व्यथित है। उसका सब वैभव समाप्त हो गया है। वह दीन वाणी से कहती है–

" क्या थी, अब कौन हूँ, कहाँ थी, अब मैं कहाँ,
क्या न था, परन्तु अब मेरा क्या रहा यहाँ ?
आज मैं विदेशिनी हूँ अपने ही देश में,
बन्दिनी सी आप निज निर्मम निवेश में !

× ×

मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है,
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है।"[१]

शची अपने सतीत्व का आदर्श रखती है। वह अपने सतीत्व के लिये नहुष से सशंकित है। वह कहती है कि –

" देव सदा देव तथा दनुज हैं,
जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज हैं।
रह सकती हूँ सावधान दानवों से मैं,
शंकित ही रहती हूँ हाय ! मानवों से मैं।"[२]

---

१. नहुष, शची, पृ० १७ (चौदहवां संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी
२. ,, शची, पृ० १९ ,,

वह पति के ही ध्यान में रहती है । दूसरे प्रसंग "नहुष" में शची की ध्यानावस्था का वर्णन है । नारद मुनि ध्यानस्थ शची को देखते हैं और उसकी अवज्ञा पाकर वे नहुष से भेंट करते हैं । नहुष नारद का आदर-पूर्वक स्वागत करते हैं — यथा —

" आज का प्रभात सुप्रभात ,आप आए हैं,
दीजिये, जो आज्ञा स्वयं मेरे लिए लाए हैं ।"[१]

नहुष सदेह इन्द्रपद प्राप्त कर लेने के पश्चात भी अपने मानवीय पुरुषार्थ से विरत नहीं होना चाहता । उसके हृदय में मातृभूमि के लिए अनन्त प्रेम है । नहुष के इस प्रेम को देखकर नारद मुनि कहते हैं —

" वीर, पक्षपाती रहो तुम नरलोक के !
जीवनमात्र को है निज जन्मस्थान प्यारा है,
किन्तु भूलते हो, सुरलोक भी तुम्हारा है ।"[२]

इसी प्रसंग में नहुष की काम-वृत्ति भी दिखाई देती है । तृतीय "उर्वशी" प्रसंग में उर्वशी स्वर्ग की वैधानिक राज्य-व्यवस्था का विवरण देती है । वह इन्द्रपद के राज्य-प्रतीक की उपयोगिता भी स्पष्ट करती है । वह मानवों के लिए उद्योगशीलता और श्रम को अनिवार्य मानती है यथा —

" समझी मैं, पृथ्वी पर धान्य धन वृद्धि हो,
और सुरलोक की-सी उसकी समृद्धि हो ?
किन्तु अमरत्व क्या इसी से नर पा लेंगे ?
उलटी मनुष्यता भी अपनी गवाँ देंगे ।
फिर क्यों बहायेंगे वे श्रम के पसीने को ,
पायेंगे प्रयास-बिना लोग खाने पीने को ।
होंगे अकर्मण्य ,उन्हें क्या क्या नहीं सूझेगा ?
कोई कुछ मानेगा न जानेगा न बूझेगा ।"[३]

---

१ नहुष, नहुष, पृ० २४ (चौदहवाँ संस्क०सा०स०,चिरगाँव,झाँसी)
२ ,, ,, पृ० २८ ,,
३ ,, उर्वशी, पृ० ३३ ,,

चतुर्थ प्रसंग 'स्वर्ग-भोग' में नहुष की स्वर्ग-भोग प्रवृत्ति का चित्रण है। वह सद्य:स्नाता शची को देखता है तो उसी पर मोहित हो जाता है। वह इंद्राणी पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। वह कहता है –

"विस्मय है किन्तु यहाँ भूला रहा कैसा मैं ?
इन्द्राणी उसीकी, इन्द्र है जो, आज जैसा मैं।"[१]

पंचम प्रसंग 'संदेश' में इन्द्राणी को नहुष का प्रेम संदेश मिलता है। वह क्रोधित हो उठती है और कहती है –

"त्यागो शची-कांत बनने की पाप-वासना।
हरे न राघव न काम-देवोपासना।"[२]

षष्ठ प्रसंग 'मंत्रणा' के अन्तर्गत स्वर्ग की परिषद् इस विषय पर विचार-विमर्श करती है पर नहुष के शची-पति होने का विरोध नहीं कर पाती। विवश होकर शची सोचती है कि –"जाकर नहुष से अकेली ही अड़ूंगी मैं, लड़ न सकूंगी तो पदों पर पडूंगी मैं।" तत्पश्चात शची चाहती है कि जिन ऋषियों ने नहुष को राजा बनाया, वे ही ऋषि नहुष की शिविका को कंधे पर उठाकर लावें। अत: जिन ऋषियों ने इन्द्र पर ब्रह्महत्या का पाप लगाया था वे ही ऋषि नहुष के यान के वाहक बनते हैं। अंतिम प्रसंग 'पतन' में कामातुर नहुष ऋषि-वाहकों से जल्दी आगे बढ़ने को कहता है और जब वे कंधा बदलने के लिए रुकते हैं तो नहुष क्रोधित होकर पैर पटकता है। उसका पैर ऋषि को लग जाता है। पदाघात से ऋषि क्रोधित हो उठते हैं और वे नहुष को शाप देते हैं। यथा —

"भार वहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम ?
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम ?
पैर था या सांप यह, डंस गया संग ही,
पामर, पतित हो तू होकर भुजंग ही।"[३]

---

१. स्वर्गभोग, पृ० ४२ (चौदहवाँ संस्क०, साहित्य स०, चिरगाँव, झाँसी)
२. संदेश पृ० ४६ ,,
३. पतन पृ० ६३ ,,

नहुष का पतन हो गया परन्तु वह पराजित न हुआ। क्योंकि गिर कर उठना ही जीवन है।

" आज मेरा भैस्य भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी।

× ×

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूं जो अभी।
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूंगा मैं,
नर हूं पुरुष हूं मैं, चढ़ के रहूंगा मैं।"[१]

इस कथा के द्वारा मानवीय कर्म प्रवृत्ति की महत्ता सिद्ध की गई है।

विवेचन —

गुप्त जी ने 'नहुष' खण्ड काव्य का आख्यान महाभारत के उद्योग पर्व में वर्णित नहुष के आख्यान के आधार पर रचा है। रामायण में भी यह आख्यान मिलता और तीर्थकवि अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में भी इसकी चर्चा है। कवि ने पहले इस काव्य का नामकरण 'इन्द्राणी' किया था परन्तु बीच में ही इसकी रचना का क्रम टूट गया। इसी बीच इसका नाम भी बदल गया। और यह काव्य 'नहुष' नाम से रचा गया।[२] इस काव्य का केन्द्रवर्ती पात्र नहुष है। उसका विरोध और संघर्ष शची से है। शची के साथ-साथ सप्तऋषि और देव-सृष्टि भी उसके विरोध में हैं। नहुष का चरित्र महत्वपूर्ण है। उसकी असाधारण मानवता ने उसे सदेह इंद्र का पद दिया परंतु अकर्मण्यता के कारण वह विषयासक्त हुआ और विषयासक्त होने से कामान्ध हो गया। कामान्ध होने से उसकी बुद्धि का नाश हो गया। फलत: अभिशप्त होकर वह अपनी मानवता तक से हाथ धो बैठा। परन्तु फिर भी वह निराश नहीं होता। कवि के अनुसार देवत्व से

---

१. नहुष 'पतन', पृ० ६५-६६ (चौदहवां संस्क०, सा०स०चि०, झांसी)
२. ,, 'निवेदन', पृ० ३-४ ,,

मानव जीवन की अधिक श्रेयस्कर है। नहुष इस काव्य में नायक है और शची प्रतिनायिका के पद पर है।

'नहुष' खंडकाव्य में भावव्यंजना की दृष्टि से नहुष के उत्साह, मद, क्रोध, मोह, विषाद और हर्ष आदि मनोभाव प्रकाश में आए हैं। शची का करुण-विप्रलम्भ-भाव व्यंजित हुआ है। उर्वशी का विलास और ऋषियों के क्रोध का भाव वर्णित है। यह काव्य संवादात्मक काव्य है। इस काव्य के वस्तु शिल्प में संवाद योजना महत्त्वपूर्ण है। संवादों में मुख्यतया इन्द्राणी और उसकी सखी के संवाद, नारद-नहुष संवाद तथा उर्वशी नहुष संवाद उल्लेखनीय हैं। 'मंत्रणा' प्रसंग में संवाद तर्क के रूप में उपस्थित हुए हैं। संवादों के माध्यम से कथा सुविन्यस्त हुई है और रोचकता बराबर स्थायी रूप से रही है। इस खंडकाव्य के माध्यम सेकवि ने अपनी राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त किया है। इसमें नारी के सतीत्व और पुरुष की उत्थान-भावना का समावेश है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता मानवता की गौरव-भावना है। मानव-स्तवन की दृष्टि से गुप्त जी के समस्त साहित्य में 'नहुष' काव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

हिडिम्बा -

परिचय- 'हिडिम्बा' महाभारतीय आख्यान पर आधारित खंड - काव्य है। यह नायिका-प्रधान काव्य है। इसमें अनेक स्थलों पर कवि ने कथा का संस्कार-परिष्कार करने का प्रयत्न किया है। महाभारत की हिडिम्बा राक्षसी को मानवी रूप देने का प्रयत्न किया है। यह कवि की नारी विषयक उदारता है। इसमें कवि ने अतिप्राकृत तत्वों के बहिष्कार का प्रयत्न भी किया है।

कथावस्तु - 'हिडिम्बा' काव्य की कथा-महाभारतीय आख्यान पर आधारित है। वनवास के समय पांडव अपनी माता कुंती सहित लाक्षा-गृह से बच कर वन में चल पड़े। गंगापार जाने पर बीहड़ मार्ग मिला और कुंती भीम के कंधे पर ही चढ़ कर जा सकीं। मार्ग में सभी तृषित हो गये तब युधिष्ठिर ,भीम से बोले कि पहले कहीं पानी खोजो। भीम ने पानी

का पता लगाया और उनकी तृषा शान्त की । रात्रि में सब सो गये तो भीम प्रहरी के रूप में जागृत थे । इसी समय दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको । यह नववधू के वेश में हिडिम्बा थी । हिडिम्बा ने भीम के समक्ष प्रेम-निवेदन किया । दोनों में प्रेम-संलाप होता रहा । इसी बीच में हिडिम्बा का भाई हिडिम्ब आया और भीम को द्वन्द्व युद्ध के लिए लल-कारने लगा । द्वन्द्व युद्ध में भीम ने हिडिम्ब का वध कर डाला । मरते समय हिडिम्ब ने अपनी बहन हिडिम्बा को योग्य वर चुन लेने के लिए आशीर्वाद देता है । युधिष्ठिर चिंतित होते हैं कि उनके अज्ञातवास का भेद हिडिम्बा पर खुल गया है । परन्तु हिडिम्बा विश्वास-पात्री है । वह पांडवों को उपयुक्त निवास-स्थान बताकर हिडिम्ब का शव-संस्कार करके तीन दिन तक के शोक मनाने के लिए चली गई ।

चौथे दिन वापस आकर हिडिम्बा कुन्ती से वार्तालाप करती है और अपने गुणों का परिचय देती है । कुंती उसे आशीर्वाद देती हैं । कुंती और हिडिम्बा का संवाद विस्तृत है । वह कुंती की सम्मति से ही भीम को पति बनाना चाहती है । वह भीम की सहधर्मिणी नहीं, वरन् केवल माता बनना चाहती है । वही पुत्र पांडवों के कार्य भी आ सकेगा । कुंती अन्त में भीम का हाथ हिडिम्बा के हाथ में दे देती है । अन्त में संक्षिप्त रूप में नकुल और हिडिम्बा का देवर-भाभी के रूप में परिहास होता है ।

<u>विवेचन</u> -- 'हिडिम्बा' खंडकाव्य ,नायिका प्रधान काव्य है । कवि ने हिडिम्बा के वैष्णवी रूप का चित्रण किया है । पंचवटी में शूर्पणखा के द्वारा कवि ने वासना के पतनोन्मुख रूप का चित्रण किया है, परन्तु प्रस्तुत काव्य में प्रेम के आदर्शोन्मुख रूप को नियोजित किया है । कवि ने आर्य-अनार्य की पृथकता को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया है । नारीत्व की उच्च भावना , पुत्रवती बनने की आकांक्षा , सोद्देश्य प्रेम, मानव और राक्षस का सम्मिलन दिखाना इस काव्य की मूल प्रेरणा प्रतीत होती है । इस काव्य की नायिका हिडिम्बा यद्यपि राक्षसी है परन्तु वह

अपनी असभ्यता त्याग कर सभ्य होना चाहती है यथा -

" यदि तुम आर्य हो तो दो मुझे भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता ।"[१]

नारी स्वभावत: पुत्रवती होना चाहती है और हिडिम्बा इसी कारण जन्म से राक्षसी होते हुए भी चरित्र से वैष्णवी बन गई है । कवि युधिष्ठिर से उसके लिये कहलाता है -

" आई यातुधान वंश में हिडिम्बा किसी भूल से,
वैसे सुसंस्कार वह रखती है मूल से ।
स्त्री का गुण रूप में है और कुलशील में,
पद्मिनी की पंकजता डूबे किसी झील में ।"[२]

इस काव्य में कवि ने अति प्राकृत तत्वों का बहिष्कार किया है, इससे काव्य रोचक और विश्वसनीय बन गया है । इसमें वीर, शृंगार, हास्य एवं रौद्र के उदाहरण हैं परन्तु यह वीर रस से परिपुष्ट शृंगार रस से पूर्ण काव्य है । इस काव्य में भी गुप्त जी की नारी भावना को प्रकाश मिलता है और इसी के फलस्वरूप हिडिम्बा के चरित्र को नया सौन्दर्य प्राप्त हुआ है ।

जयभारत -

परिचय - 'जयभारत' महाभारतीय कथा पर आधारित सैंतालिस आख्यान रचनाओं का एक वृहत् संकलन है । इसका आकार-प्रकार यद्यपि महाकाव्य के अनुरूप प्रतीत होता है, किन्तु मेरे मत से यह महाकाव्य की कोटि में नहीं आता । इसे वृहत् प्रबन्ध कहा जा सकता है । 'जयभारत' महाकाव्य के मूल तत्वों से रहित है । न तो यह एक समय की रचना है, न ही किसी विशिष्ट मनस्थिति का प्रभाव इसमें परिलक्षित होता है । इसमें वैसा प्रबंध संघटन भी नहीं है, जैसा कि महाकाव्य में अपेक्षित है । यह काव्य ग्रन्थ

---

१. हिडिम्बा--पृ० २४ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, पृ० २८ ,,

खण्डकाव्यों का संग्रह मात्र है । इसके कथा सूत्र में तारतम्य अथवा एकता नहीं है । यह विभिन्न खण्डकाव्यों का संग्रह अथवा वृहत प्रबन्ध कहा जा सकता है ।

'जयभारत' के संबंध में विद्वानों में मतभेद है । डा० उमाकांत ने उसे महाकाव्य की संज्ञा देते हुए लिखा है -" साकेत और जयभारत निश्चित रूप से महाकाव्य हैं । इन दोनों के आधार पर उनकी महाकाव्य सम्बन्धी धारणाओं की कल्पना की जा सकती है ।"[१] डा० उमाकान्त ने वस्तु घटना ऐक्य,चरित्र-चित्रण, प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता, रस, विविध वस्तु वर्णन, सामाजिक, राजनीतिक, जीवनका चित्रण , प्रकृति-चित्रण , उद्देश्य तथा शैली के आधार पर साकेत के समान ही जयभारत को एक सफल महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । डा० कमलाकान्त पाठक ने जयभारत को महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी है । उन्होंने लिखा है -" जयभारत' अपूर्व प्रबंध-सम्बन्ध रचना है, जिसे किसी विज्ञात काव्य-रूप की संज्ञा नहीं दी जा सकती। .... इस काव्य के आख्यानों की कवि ने पृथक्-पृथक् रचना की है और उन्हें 'महाभारत' के कथा-क्रम के अनुसार संग्रथित कर दिया है । महाकाव्य वस्तुत: एक समय की अथवा विशिष्ट मनस्थिति की रचना होते हैं, पर 'जयभारत' की रचना प्रक्रिया का संबंध कवि के समस्त रचना काल से तथा कवि के जीवन की विविध मनस्थितियों से है । आशय यह है कि 'जयभारत' न एक समय की ही रचना है, न विशिष्ट मनस्थिति का ही निर्माण । इसी कारण उसमें कथा का संग्रथन है, पर प्रबंध का संघटन नहीं । सुविन्यस्त कथावस्तु की नियोजना 'जयभारत' में संभव नहीं हुई, क्योंकि उसे अखंड-काव्य के रूप में नहीं रचा गया । आख्यान-खण्डों को संग्रथित करके उसे सम्पूर्ण काव्य बनाया गया है । .... व्यवहार में दो और दो का योग चार हो सकता है, पर काव्य-कला के अन्तर्गत यह चरितार्थ नहीं होता । चार खंडकाव्यों अथवा आठ आख्यान-काव्यों का क्रमबद्ध संग्रथन एक 'महाकाव्य' की सृष्टि नहीं कर सकता ।"[२]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता , डा० उमाकांत, पृ० १६८, द्वितीय संस्करण, नेशनल पब्लि०हा०, दिल्ली ।

२ मैथिलीशरण गुप्त-व्यक्ति और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० [illegible]

'जयभारत' महाकाव्य की कोटि में यद्यपि नहीं आता परन्तु यह एक प्रबन्ध रचना अवश्य है। उसमें 'महाभारत' की सम्पूर्ण कथा का संक्षेपण किया गया है। इसमें कार्यान्विति का गुण सुनियोजित नहीं है। इसका कथानक महाकाव्यों की भाँति अविच्छिन्न भी नहीं है। इसका प्रबन्धशिल्प यद्यपि सुगठित नहीं है फिर भी इसे प्रबंध कहा जा सकता है। डा० पाठक ने इसे तीन कारणों से वृहत् प्रबन्ध माना है -- नायक, उद्देश्य और सांस्कृतिक विषय। कवि ने युधिष्ठिर की मानवता को जीवनादर्श के रूप में चित्रित करने के लिए ही विभिन्न कथाओं को संग्रथित किया है। युधिष्ठिर के उदात्त चरित्र का औदात्य कवि ने व्यक्त किया है। इस काव्य का उद्देश्य 'मानवता का आदर्श रखा है, जिसे युधिष्ठिर के चरित्र द्वारा उपस्थित किया है। साधुता, साधनाशील, धर्मनिष्ठा आदि गुणों के द्वारा कवि ने युधिष्ठिर का महामानवत्व स्थापित किया है। इस काव्य में भारत के सांस्कृतिक जीवन की भी वर्णना हुई है। कवि ने स्पष्ट किया है कि सांस्कृतिक उन्नति का अर्थ भौतिक उन्नति ही नहीं वरन मानवता का पूर्ण विकास है।

गुप्त जी ने प्रारंभ से ही महाभारतीय आख्यानों के आधार पर रचनाएं की थीं। 'जयभारत' का निर्माण करते समय उनके सामने उनकी सम्पूर्ण वैविध्यपूर्ण महाभारतीय रचनाएं थीं। उन्होंने अपनी सभी महाभारतीय रचनाओं का समावेश जयभारत में किया है, परन्तु ज्यों का त्यों नहीं। उन रचनाओं में पर्याप्त परिवर्तन और परिवर्द्धन किये गये हैं। जो प्रारम्भ की रचनाओं का रूप था उनका पुनर्लेखन करके उनमें पर्याप्त परिवर्तन किया है। इन रचनाओं को कवि ने अपनी नई प्रबन्ध-कल्पना में परिणत करने का सफल प्रयास किया है। कुछ महाभारतीय रचनाओं जैसे 'जयद्रथ-वध' की कथा का संकेत मात्र 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित है। कतिपय महाभारतीय प्रसंगों पर नई काव्य-सृष्टि करके 'जयभारत' में समाविष्ट किया है। इस प्रकार 'जयभारत' के अन्तर्गत महाभारत के लगभग सभी प्रमुख और महत्वपूर्ण आख्यानों का समावेश किया गया है। 'जयभारत' इसीलिए महाभारत का संक्षेप कहा जा सकता है।

कथावस्तु--

'जयभारत' की कथा आख्यान खंडों के द्वारा क्रमबद्ध की गई है। इसके समस्त खंड अपने आप में स्वतः पूर्ण हैं। इन्हीं विभिन्न आख्यान खंडों के द्वारा जयभारत की कथावस्तु का अनुशीलन किया जाएगा।

'जयभारत' का प्रथम खंड 'नहुष' है। यह एक पृथक खंड काव्य है, जिसका समावेश 'जयभारत' में 'पूर्वाभास' के रूप में किया गया है। इसके द्वारा कवि ने दिखाया है कि मानवीय वृत्तियाँ कामादि के कारण दूषित हो जाती हैं और भोग-वृत्तियों के कारण ही मानव का अधःपतन हो जाता है। दूसरा खंड 'यदु और पुरु' है। 'यदु और पुरु' काव्य कवि की नव्य रचना है। इसमें 'महाभारत' के प्रसिद्ध प्रसंग शर्मिष्ठा और देवयानी के कलह तथा देवयानी का ययाति के साथ विवाह और शर्मिष्ठा के दासत्व स्वीकार करने की कथा का वर्णन है। देवयानी अपनी अनुचरी को सपत्नी के रूप में पाकर क्रोधित होकर पितृगृह चली गई। देवयानी के पिता शुक्राचार्य ने ययाति को वृद्धत्व का शाप दिया। ययाति दुःखी होकर अपने पुत्रों यदु और पुरु से उनका यौवन माँगता है। यदु तो नहीं देता, परन्तु पुरु पिता की 'आर्ति का उपचार' करता है और ययाति उसे ही अपने राज्य का अधिकार दे देता है। इस काव्य के द्वारा कवि ने बहुपत्नीत्व और काम को अनर्थ का मूल माना है। गुप्त जी ने 'नहुष' खंड के पश्चात बराबर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भारत वंश में प्रत्येक पुत्र अपने पिता से 'जयभारत' अधिक मानवीय आदर्श रख सका। राजपुत्रों में युधिष्ठिर में यह गुण सबसे अधिक दिखाया गया है।

'जयभारत' का तृतीय खंड 'योजनगंधा' है। इसके प्रारंभ में कवि ने दो पद्यों में ययाति से शांतनु तक के वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। शांतनु गंगा के विरह में आर्त, अधीर और उदासीन होकर घूमा करते थे कि खिलती हुई कली के समान धीवर-कन्या योजनगंधा उन्हें दीख पड़ी। शांतनु सत्यवती (योजनगंधा) पर मुग्ध हो गये और उससे विवाह का प्रस्ताव उसके सामने रख दिया। शांतनु अपने पुत्र देवव्रत पर असीम प्रेम होने के कारण सत्यवती के पुत्र को राज्यत्व देने का वचन नहीं देते हैं। परन्तु देवव्रत आजन्म अविवाहित रहने और राज्यपद को छोड़ने की भीष्म-प्रतिज्ञा करते हैं। शांतन

पुत्र के त्याग से प्रसन्न होकर उसे इच्छा-मरण का वरदान देते हैं।

'जयभारत' का चतुर्थ खंड 'कौरव-पाण्डव' खण्ड है। इस खण्ड में सत्यवती के पुत्रों और पुत्र-वधुओं का वर्णन बड़ी ही क्षिप्र गति से किया गया है। इसमें चित्रांगद के प्रसंग से पांडु के राज्यत्व की समाप्ति तक की कथा दी गई है। 'जयभारत' का पंचम खंड 'बंधु-विरोध' है। इस खंड में भीम और दुर्योधन का वैर भाव बालक्रीड़ा के साथ ही होता दिखाया गया है। भीम को दुर्योधन ने चोरी से भोजन में मिलाकर विष खिला दिया। फिर भीम को उठा कर गंगातट पर छोड़ आया। वहां किसी विषधर ने भीम को डस लिया, जिससे कि भीम का विष शांत हो गया। भीम को चेतना अभी नहीं आने पाई थी कि दुर्योधन फिर आया और भीम को गंगा में डुबा दिया। बाद में भीम पुनर्जीवित हो गये। वे नागपाश में बद्ध अपने प्रमातामह के यहां से वापस आए। पर नाना ने उन्हें एक मणि दी जो सपने को सच्चा करती है और सब कुछ फलती है। इस खंड में दुर्योधन का अत्याचार और कुंती का वात्सल्य उभरा है।

इस काव्य का षष्ठ खंड 'द्रोणाचार्य' है। इसमें द्रोणाचार्य की आचार्य पद पर नियुक्ति और कौरव-पाण्डवों की शस्त्र-शिक्षा की कथा है। प्रारम्भ में कूप से कंदुक के निकालने का वृत्तांत है। द्रोणाचार्य ने सरकंडे लेकर तीर के सहारे कुएं से गेंद निकाल दी राजपुत्र विस्मित से हो गये और द्रोणाचार्य को अपने साथ ही ले गये। कवि ने द्रोणाचार्य का परिचय स्वयं उन्हीं के द्वारा दिलवाया है। द्रोणाचार्य का द्रुपद के साथ वैरभाव है। वे कहते हैं --

> " मेरी गुरुदक्षिणा नहीं रत्नाभरणों में,
> बांध द्रुपद को शिष्य डालदें इन चरणों में।"[१]

द्रोणाचार्य का अपने सर्वोत्तम शिष्य अर्जुन पर विशेष स्नेह है। अर्जुन की एकनिष्ठ धनुर्धरता भी दर्शनीय है।

---

१. जयभारत, पृ० ६६ (दूसरा संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

'जयभारत' का सप्तम खंड 'एकलव्य' है। कवि ने एकलव्य को आदर्श शिष्य के रूप में चित्रित किया है। द्रोणाचार्य ने एकलव्य को शूद्र-जन्य होने के कारण अपना शिष्य न बनाया। एकलव्य ने द्रोण की मूर्ति बनाई और मूर्ति के आदेश से ही धनुर्विद्या प्राप्त करने लगा। एकलव्य की साधना और सिद्धि को देख कर अर्जुन खीझ उठे। यथा —

" खीझ उठा धक्का-सा खाकर अर्जुन का अभिमान।

" एक धनुर्धरता की मेरी पूरी हुई न साध,

शेष प्रतिद्वन्द्वी है अब भी, वह भी वन का व्याध।"[1]

अर्जुन ने सारा वृत्तान्त द्रोणाचार्य को सुनाया। द्रोण को बहुत आश्चर्य हुआ और 'स्वयं देखने गये विलक्षण शिष्य-साधना द्रोण'। उन्होंने देखा कि 'एक ओर थी कुंज शिला पर उनकी मूर्ति गंभीर'। द्रोण ने गुरुदक्षिणा के रूप में, एकलव्य का अंगूठा कटवा लिया। अर्जुन को अप्रतिम धनुर्धर बनाने के लिए ही द्रोण ने ऐसा किया। इस काव्य में एकलव्य का चरित्रोत्कर्ष व्यक्त हुआ है।

'जयभारत' का अष्टम खण्ड 'परीक्षा' है। राजपुत्रों की शस्त्रा-शस्त्र शिक्षा की परीक्षा की गई। अर्जुन का धनुर्कौशल अद्वितीय है। उसे देखकर कर्ण के मन में ईर्ष्या जागृत हो गई। दुर्योधन को भी कष्ट हुआ। कर्ण को सूत-पुत्र होने के कारण रंगभूमि में अपनी धनुकला न दिखलाने दी गई और भीम ने कर्ण को कटुवी बातें भी कहीं। युधिष्ठिर का कर्ण पर प्रेम प्रकट हुआ। दुर्योधन ने कर्ण को अंगराज बनाया। यथा —

" कितने राजा रंक, रंक राजा होते हैं,

पद पाते हैं योग्य, अयोग्य उसे खोते हैं।

फिर भी पतित कहा जाय सच्चे सुवर्ण को

लो देता हूँ अंग-राज्य मैं अभी कर्ण को।"[2]

परन्तु परीक्षा का कार्य आगे न चल सका। इस खंड में कर्ण को अर्जुन के प्रतिपक्षी के रूप में उपस्थित किया गया है।

---

१. जयभारत पृ० ६४ (द्वितीय संस्करण-साहित्य सदन. चिरगांव.भांसी

२. ,, पृ० ६६ ,,

'जयभारत' का नवम खंड 'याज्ञसैनी' है। उसमें अर्जुन ने द्रुपद को बंदी बनाया है और उसे गुरु के पास ले आए हैं। क्योंकि इस कार्य में सफलता न प्राप्त कर सके। द्रोण द्रुपद का आधा राज्य लेकर उन्हें मुक्त करते हुए कहते हैं —

"मैत्री होती है समान से, द्रुपद तुम्हारी ही यह उक्ति,
इससे अर्द्ध राज्य लेकर ही देता हूँ मैं तुमको मुक्ति।"[१]

परशुराम ने द्रुपद से आग्रह किया कि वह द्रोण से प्रतिशोध न ले। परन्तु द्रुपद ने इसे न माना। धृष्टद्युम्न और द्रौपदी द्रुपद के पुत्र और पुत्री हैं। धृष्टद्युम्न को द्रोण ने अर्जुन जैसा ही धनुर्धर बनाया। द्रुपद को इस बात का विश्वास हो गया कि —

" होगी मेरी इच्छा पूर्ण,
मेरा पुत्र करेगा मेरे चरम शत्रु का चिर मद चूर्ण।"[२]

इस खंड में द्रुपद की प्रतिशोध भावना को प्रमुखता मिली है।

प्रस्तुत काव्य का दसवाँ खंड 'लाक्षागृह' है। सिंहासन पर दुर्योधन को पाकर प्रजा 'धर्म युधिष्ठिर' धन्य धर्म नर देह धरे" कहने लगी। इधर दुर्योधन षड्यंत्र की रचना में लगे। पांडवों को लाक्षागृह में जला डालने की योजना बनाई गई। विदुर को इस षड्यंत्र का पता चल गया और उन्होंने युधिष्ठिर को बता दिया। विदुर ने उस लाक्षागृह में एक सुरंग बनवाई, जिससे पांडव लोग आग में न जल सकें और वे उसी सुरंग से बाहर निकल गये। परन्तु पुरोचन जो कि इस षड्यंत्र का संचालक था वही अग्नि में जल मरा।

' जयभारत' का ग्यारहवाँ खंड 'हिडिम्बा' है। यह एक पृथक खंड काव्य है। इसी खंडकाव्य का प्रमुख अंश 'जयभारत' में संकलित है। इस आख्यान की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें हिडिम्बा को मानवीय रूप दिया गया है। 'जयभारत' का बारहवाँ खंड 'बक-संहार' है। यह भी एक

पृथक खंडकाव्य है। इसमें कुंती के करुणापूर्ण चरित्र की सुंदर अभिव्यक्ति है जयभारत में यह आख्यान पांडवों के लोक-रक्षा के कार्यों का विवरण देता है। इससे पांडवों के सत्-पक्ष का उद्घाटन होता है।

'जयभारत' का तेरहवाँ खंड लक्ष्यबेध है। इस आख्यान के तीन खंड किये जा सकते हैं। पहले आख्यान में कवि ने पांडवों की वनयात्रा का विवरण दिया है। इसमें कल्माषपाद के उपाख्यान का भी वर्णन है। वसिष्ठ के पुत्र अशीष से अनैतिक व्यवहार करने के कारण वह शापग्रस्त हुआ और राक्षस बना। राक्षस बनकर उसने सबसे पहले अशीष को ही खा लिया। वसिष्ठ मुनि ने उसपर क्रोध न करके उसे मानव बना दिया और सदाचरण करने का उपदेश दिया। इस आख्यान खंड में वसिष्ठ मुनि का महामानृत्व प्रकट हुआ है। दूसरे उपाख्यान में द्रुपद की राजसभा में लक्ष्यबेध का आयोजन किया गया है। द्रौपदी स्वयंवर के लिए परीक्षा की तैयारी इस प्रकार है —

" नीचे प्रतिबिम्ब निरख जल में
भेदे जो लक्ष्य नभःस्थल में,
वर वही द्रौपदी पावेगा,
शर सूक्ष्म छिद्र से जावेगा।"[1]

इस परीक्षा में अनेक राजा अनुत्तीर्ण हुए। जब लक्ष्यभेद के लिए चले तो स्वयं वधू ने ही उसे 'सूत-तनय' कह कर बाधा उपस्थित कर दी —

" मैं वरूँ भले भिक्षुक वर को,
वर नहीं सकूँगी उस नर को।
मैं राजसुता, यह सूत-तनय,
क्या नीति करेगी आप अनय ?"[2]

---

१. जयभारत, पृ० ११३ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चि०, झाँसी,

कर्ण ने धनुष वहीं रख दिया और कहा "तू मन से भी अचला नारी, जा भिक्षुक वटु पर ही वारी ।" कर्ण का यह कथन नाटकीय रूप से पूर्व-संकेत है, क्योंकि अर्जुन द्विजवटु के वेष में आए और लक्ष्य-वेध कर दिया द्रौपदी ने अर्जुन के गले में जयमाला डाल दी । इसी समय शोर होने लगा और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के दो दल हो गये । परन्तु कृष्णा ने सबको शान्त किया । पार्थ द्रौपदी को अपना परिचय देते हैं और चारों ओर सुहागपूर्ण वातावरण हो जाता है । यथा -

" मैं पार्थ" कहा झुक मृदु वाणी,
" तुम डरी तो नहीं कल्याणी ?"
गद्गद् कृष्णा कुछ कह न सकी,
हिल गई मात्र ग्रीवा उसकी ।
वह और समीप खिसक आई,
पतिव्रत पर प्रियता छाई ।
दीखा सर्वत्र सुहाग भरा,
अम्बर तक था अनुराग भरा ।"

तीसरे उपाख्यान में द्रौपदी के पंच-पत्नीत्व का सामान्य समाधान है । द्रौपदी के सहित पांडव घर पहुंचते हैं । युधिष्ठिर कुंती से कहते हैं - 'मां देखो, क्या कुछ लाये हम' । कुंती बिना देखे ही कह देती हैं कि जो लाये हो उसे पांचों मिल भोगो ' । इसी समय कृष्णा ने प्रवेश किया । द्रौपदी ने कृष्णा के सम्मुख अपने आदेश जो पाया, मिल भोगो सुख से' को समस्या के रूप में उपस्थित किया । कुंती चिंतित हैं और वधू द्रौपदी व्याकुल है । यथा -

" पीली-सी पड़ी वधू विकला,
तनु रक्त धर्म बन वह निकला ,
वह संभल गई गिरती गिरती ,
तब भी अथाह में थी तिरती ।"[1]

---

१. जयभारत, लक्ष्यवेध, पृ० १२० (द्वितीय संस्क०, सा०स० चिरगांव, झांसी)

युधिष्ठिर ने इस समस्या का निदान करते हुए कहा कि —

" नर पार्थ वधू है पांचाली,
दो वरज्येष्ठ का पद पावें, दो देवरत्व पर बलि जावें ।[1]
भोगें यों पांचों सुख समता, ताकें सदैव शुभ मुख समता[1]।"

कृष्णा ने द्वैपायन से पूछ कर ही इस समस्या का समाधान करना चाहा । और कुंती ने अंत में कहा —

" जो चाहे पंच-पुरुष भार्या,
तू सप्तर्षिओं की भी भार्या ।"[2]

चौदहवां खंड 'इन्द्रप्रस्थ' है । इस आख्यान के अन्तर्गत पांडवों के प्रति कौरवों की ईर्ष्या को व्यक्त किया गया है, साथ ही धर्म-नीति और सामाजिक मर्यादा के द्वारा द्रौपदी के पंच-पत्नीत्व के औचित्य का भी वर्णन है । द्रौपदी के संबंध में कौरवों की विभिन्न प्रकार की उक्तियां कवि ने रखी हैं । कर्ण के मत से द्रौपदी में ही पांडवों की अभेदता छुपी छिपी है । दुशासन का कथन है कि यह अनार्यता है । विकर्ण का कथन है कि —

" पाण्डवों के मन में जो ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूं, धर्म-हानि नहीं होती है ।"

कौरव कुमंत्रणा करते हैं और अन्त में धृतराष्ट्र के आदेश से पांडवों को आधा राज्य मिल जाता है । पांडव इन्द्रप्रस्थ में राजधानी बनाते हैं । वहीं वे राजप्रासाद बनाते हैं जिसकी तुलना में वैजयंत भी नहीं आ सकता था ।

पन्द्रहवां खंड 'वनवास' है । प्रारम्भ में कवि ने द्रौपदी के पंच-पत्नीत्व की मर्यादा का वर्णन किया है । एक दिन संयोगवश एक विप्र के गोधन का हरण हो जाने पर अर्जुन अपने आयुधों को लेने के लिए उसी कक्ष में पहुंच गये, जहां युधिष्ठिर और द्रौपदी एकांत में थे । युधिष्ठिर ने उन्हें दोषी नहीं माना परन्तु अर्जुन ने दण्डस्वरूप बारह वर्ष का वनवास ग्रहण किया । विप्र का कार्य करके वे वनवास के लिए चल पड़े । उन्होंने भारत - भ्रमण किया और मणिपुर में चित्रांगदा से विवाह किया । चित्रांगदा को

---

१. जयभारत, लक्ष्यवेध, पृ० १२०(द्वितीय संस्क० साहित्य स०, चिरगांव)
२. ,, ,, पृ० १२२ ,,

पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई । अर्जुन वहाँ से चल पड़े । द्वारिका में उन्होंने सुभद्राहरण किया । सुभद्रा को लेकर इन्द्रप्रस्थ लौट आए । कवि ने सुभद्राहरण का अनुमोदन कृष्ण द्वारा कराया और कृष्ण का नैतिक साहस प्रकट हुआ है । कवि ने कृष्ण द्वारा ही अर्जुन के साहस और शौर्य की प्रशंसा करवाई है । अन्त में द्रौपदी और सुभद्रा का मिलन वर्णित है ।

'जयभारत' का सोलहवाँ खंड 'राजसूय' है । कृष्ण के सत्परामर्श से युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया । चारों भाइयों ने चारों दिशाओं में जाकर दिग्विजय की । भीम ने जरासंध का वध किया । विजयी हो जाने पर युधिष्ठिर के विनय और शील का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है —

" राजसूय में धर्मराज यों सबको लगे विनीत,
हारे से वे नत रहे थे सारी भू को जीत ।"[1]

धर्मराज ने दुर्योधन को यह कार्य सौंपा कि वह उपहारों को सहेजे । कृष्ण ने पाद्य-दान किया । भीष्म ने कृष्ण को ही अर्घ्यदान देने का प्रस्ताव किया, परन्तु शिशुपाल इसे अपना अपमान मानकर क्रोधित हो गया । उसने कृष्ण और भीष्म दोनों से कुवाच्य कहे । यथा —

" राजाओं के रहते पूजा जाय गोप का बाल,
नष्ट भीष्म की भ्रष्ट बुद्धि के साक्षी हों भूपाल ।"[2]

कृष्ण के सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपाल का वध हो गया । तत्पश्चात् कवि ने दुर्योधन की बैर-बुद्धि विषयक घटनाओं का उल्लेख किया है । अन्त में दुर्योधन को जल में स्थल और स्थल पर जल का आभास प्रतीत हुआ । दास-दासी भी अपनी हँसी न रोक सके, और क्रोध के कारण दुर्योधन के हृदय में अग्नि सी जल उठी ।

'जयभारत' का सत्रहवाँ खंड 'द्यूत' है । दुर्योधन के हृदय में पांडवों के प्रति क्रोध की अग्नि तो प्रज्वलित हो ही चुकी थी । उसने द्यूत के लिए

---

१. जयभारत, राजसूय, पृ० १४१ (द्वितीय संस्क०, सा०स० चिरगाँव, झाँसी)
२ ,, पृ० १४२ ,,

युधिष्ठिर को निमंत्रण भेजा । युधिष्ठिर सर्वस्व हार गये । यथा —

" राजपाट फिर अनुज और फिर अपने को भी हार गये,
जान न पाये, कृष्णा को भी कब वे पण पर वार गये ।"[१]

दु:शासन कृष्णा के केश पकड़ कर खींचते हुए राजसभा में ले आया । कवि ने द्रौपदी-चीर हरण के प्रसंग को अति रोमांचक रूप में चित्रित किया है । भीम ने क्रोधित होकर प्रण किया —

" दु:शासन का हृदय चीर कर उसका रक्त न पी जाऊं,
तो सातों दिक्पाल, रहो तुम, मैं न वीर की गति पाऊं ।
दुर्योधन की जांघ न तोड़ूं तो मैं अपना सिर फोड़ूं,
यदि मैं कभी प्रतिज्ञा तोड़ूं तो पितरों से मुख मोड़ूं ।"[२]

द्रौपदी नर से निराश हो गई और उसने नारायण की शरण ली । उसने ईश्वर का स्मरण करते हुए नर को चुनौती दी । यथा —

रे नर, आगे नरक-वह्नि में तू निज मुख को लखी देख,
पीछे खड़ी पंचमुख शव पर नग्न कराला काली-वेश ।"[३]

दु:शासन कोसहसा चारों और अंधकार सा दीखने लगा । द्रौपदी का पट उसे अम्बर सा दीखने लगा । वह अत्यन्त भयभीत हो गया, उसके हाथ जड़ से हो गये और पैर कांपने लगे , वह गिरता सा बैठ गया । गुप्त जी ने यहां व्यास के समाधान को नहीं रखा है । युग के अनुसार कौशल से काम लिया है । इसी समय सभा में गांधारी का प्रवेश होता है । गांधारी के वचनों द्वारा भी कवि ने इस दुष्कृत्य की अनैतिकता को प्रकट किया है ।

अठारहवां खंड ' वन-गमन ' है । प्रस्तुत आख्यान में सर्वप्रथम कृष्ण के आने का वर्णन है । सब संवाद सुनकर कृष्ण दौड़े हुए आते हैं । सुभद्रा उन्हें रोकर अपनी दु:ख गाथा सुनाती है । कृष्ण सुभद्रा को सान्त्वना देते

---

१. जयभारत, गुप्त, पृ० १४६ (द्वितीय सं०,साहित्य स०चिरगांव,झांसी)
२. ,, गुप्त पृ० १४७-१४८ ,,
३. ,, गुप्त पृ० १४८ ,,

हुए कहते हैं —

" पर मैं उनको वार न सकूंगा कभी सहन,
यों अपमानित किया जिन्होंने मुझे बहन ।
अयि भारत-सम्राज्ञि, और क्या कहूं भला ?
छले गये वे स्वयं, जिन्होंने तुम्हें छला ।"[१]

कवि ने युधिष्ठिर का औदात्य युधिष्ठिर के ही द्वारा इस प्रकार प्रकट करवाया है —

" अनुचित मुझ पर द्रुपद-सुता का रोष नहीं,
करें मेरा त्याग अनुज तो दोष नहीं ।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने कष्ट सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा ?"[२]

कृष्ण सुभद्रा सहित पांडव पुत्रों को द्वारिका ले जाते हैं । द्रौपदी और सुभद्रा के पारस्परिक वार्तालाप में करुणा-वात्सल्य की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है ।

'जयभारत' का उन्नीसवां खंड 'अस्त्र-लाभ' है । अर्जुन ने तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया है और उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया है । संक्षेप में किरातार्जुन से युद्ध का वर्णन किया गया है । अर्जुन सदेह स्वर्ग में इन्द्र के अतिथि हुए । वहां उर्वशी अर्जुन पर मोहित हो गई और एक रात्रि अर्जुन के पास उपस्थित हुई । उर्वशी के मादक सौन्दर्य का कवि ने विलासपूर्ण चित्रण किया है । अर्जुन ने उर्वशी को इन्द्र की प्रेयसी होने के कारण अपनी माता के समान माना । उर्वशी ने क्रोधित होकर अर्जुन को क्लीव होने का शाप दिया । इस पापकर्म से अर्जुन ने शाप को अधिक अच्छा समझा ।

'तीर्थयात्रा' 'जयभारत' का बीसवां खंड है । प्रारंभ में भीम, द्रौपदी और युधिष्ठिर वार्तालाप करते हैं और सोचते हैं कि किसके प्रति कैसा व्यवहार किया जाय । भीम का मत है खलों के साथ भला बर्ताव ठीक नहीं है । यथा —

---

१ जयभारत, वनगमन, पृ० १५४ (द्वितीय संस्क०,साहित्य स०,चिरगांव झांसी)

' यदि क्रूरों से भी भला वर्ताव होगा,

तो भलों के प्रति अलग क्या भाव होगा ?'[१]

परन्तु युधिष्ठिर इससे सहमत नहीं हैं । उनका कथन है —

' सुजनता सर्वत्र अपनी रीति होगी,

सज्जनों के साथ समधिक प्रीति होगी ।'[२]

द्रौपदी अपने अपमान को भूल नहीं पाती वह अत्यधिक क्षुब्ध है और अपने पतियों को उसका प्रतिकार लेने के लिए बराबर प्रेरित करती है । इसी समय लोमश मुनि आकर सुसंवाद देते हैं कि ' पा चुके हैं पार्थ पाशुपतास्त्र शिव से ।' लोमश मुनि पांडवों को तीर्थयात्रा करने की सलाह देते हैं । कवि ने पांडवों की तीर्थयात्रा का वर्णन किया है । हिमालय के सौन्दर्य का नवीनढंग से वर्णन किया है । द्रौपदी घटोत्कच को अपने अपमान का विवरण देती है । कवि ने राजा नहुष के शाप मोचन की कथा की संक्षिप्त वर्णना की है तथा भीम और हनुमान की भेंट का भी वर्णन किया है । हनुमान भीम से युधिष्ठिर के लिए कहते हैं —

' है युधिष्ठिर की सुकर्मार्थ धर्मनिष्ठा,

पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा ।'[३]

हनुमान ने भीम को वचन दिया कि वे युद्ध में स्वयं अर्जुन के रथ पर रहेंगे । भीम कुबेर के सरोवर में से द्रौपदी के लिए स्वर्ण कमल तोड़ कर लाए ।

'जयभारत' का इक्कीसवां खंड 'द्रौपदी और सत्यभामा' है । पांडवों ने द्वैतवन में वर्षा ऋतु व्यतीत की । इसी समय अर्जुन भी दिव्यास्त्र पाकर लौट आए हैं । कवि ने इस खंड के प्रारम्भ में वर्षा ऋतु का सुन्दर वर्णन मधुर पदावली में किया है । शरद का आगमन हुआ । कवि ने पुष्पों का चयन करते हुए अर्जुन और द्रौपदी का मधुर प्रेमालाप वर्णित किया है । अर्जुन

---

१. जयभारत, तीर्थयात्रा, पृ० १६८, द्वितीय संस्करण, सा०स० चिरगांव, झांसी

२. ,, ,, पृ० १६८ ,,

३. ,, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १६१ (f ,,

स्वर्ग से दिव्यास्त्र, दिव्याभरण, गंधर्व-शिक्षा तथा उर्वशी का शाप लेकर लौटे हैं। उनके हृदय में युधिष्ठिर के प्रति और भी अधिक श्रद्धा हो गई है। दैवता भी युधिष्ठिर पर गर्व करते हैं। अतः द्रौपदी के मन में भी युधिष्ठिर के प्रति नूतन गर्व जागृत हो जाता है। श्रीकृष्ण के साथ सत्यभामा द्रौपदी के पास आती है। द्रौपदी और सत्यभामा का वार्तालाप चलता है। द्रौपदी पत्नी के [illegible] को इस प्रकार व्यक्त करती है —

> "नारी देने नहीं, [illegible] में देने ही आती है,
> अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है,
> पर देने में [illegible] न [illegible] जहाँ गर्व होता है,
> [illegible] का पर्व [illegible] वहीं [illegible] है।"

इस खंड में प्रकृति वर्णन के रूप में वर्षा ऋतु का वर्णन और पत्नीत्व के आदर्श के रूप में द्रौपदी का वर्णन नियोजित किया गया है।

[illegible] खंड `[illegible]' एक पृथक खंडकाव्य है। इस काव्य को पूरा का पूरा `जयभारत' में समाविष्ट किया गया है। [illegible] ने पांडवों को नीचा दिखाने के लिए [illegible] परन्तु [illegible] द्वारा ही अपनी रक्षा करवा कर उन्हें स्वयं नीचा देखना पड़ा। इस खंड में भी युधिष्ठिर का चारित्रिक उत्कर्ष प्रकट हुआ है।

तेईसवां खंड `दुर्योधन का दुःख' है। इस रचना को कवि ने अपने अभ्यास काल में रचा था। इस रचना में पर्याप्त संशोधन करके इसे `जयभारत' में रखा गया है। इस खंड में कवि का मुख्य ध्येय दुर्योधन की आत्मग्लानि को व्यक्त करना है। कवि ने दुर्योधन के मानवीय गुणों को व्यक्त किया है। कवि ने कर्ण की दिग्विजय और दुर्योधन के राजसूय यज्ञ की संक्षिप्त वर्णना की है। कर्ण ने अर्जुन के वध का प्रण किया। इन्द्र ने कर्ण के कवच और कुंडल मांग लिये, बदले में एकबार ही काम आने वाली शक्ति प्राप्त हुई।

`वनमृगी' `जयभारत' का चौबीसवां खंड है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है और इसमें एक मृगी के निरंतर वंश संहार होने के कारण, उसकी मनोव्यथा व्यक्त हुई है। युधिष्ठिर ने मांसाहार का त्याग किया। पांडवों [illegible]

'जयभारत' का पच्चीसवां खंड' जयद्रथ' है। इसमें जयद्रथ के चारित्रिक पतन का आख्यान वर्णित है। वनवास के समय द्रौपदी पांडवों के लिए कर रही थी। इसी समय जयद्रथ वहां आया और द्रौपदी से प्रणय निवेदन किया। पहले तो द्रौपदी धोखे में रही, वह इसे ननदोई का परिहास समझती रही। परन्तु फिर जयद्रथ को बलात्कार के लिए तत्पर देख कर वह क्रोधित हो उठी। इसी समय पांडव भी आ गये और भीम ने जयद्रथ पर प्रहार किया। जयद्रथ ने जीवन की भिक्षा मांगी। युधिष्ठिर ने उसे अपनी अपनी बहन दुःशला का पति होने के कारण प्राणदान दिया। परन्तु जयद्रथ के हृदय में प्रतिशोध की भावना भर गई। उसने शंकर की तपस्या की और उनसे अर्जुन के अतिरिक्त अन्य चारों पांडवों पर विजय प्राप्त करने का वरदान पाया।

'अतिथि और आतिथेय' जयभारत' का छब्बीसवां खंड है। दुर्योधन ने दुर्वासा को उनके शिष्यों सहित पांडवों का अतिथि बनने के लिए भेज दिया। वह समझता था कि पांडव दुर्वासा का आतिथ्य न कर सकेंगे और तब दुर्वासा उन्हें शाप दे देंगे। दुर्वासा के आने पर द्रौपदी व्यग्र हो उठी। उसके पास आतिथ्य-सत्कार के लिए कुछ भी न था। इसी समय दुर्वासा अपने शिष्यों को लेकर स्नान करने लगे। स्नान करते करते ही उनका पेट भर गया। यहां कवि ने अतिप्राकृत घटना को प्राकृत बनाने का प्रयास किया है। 'जय-भारत

' जयभारत ' का सत्ताईसवां खंड 'यक्ष' है। इस खंड में धर्म द्वारा युधिष्ठिर की परीक्षा ली गई है। एक मृग बटु की अरणि मथानी को लेकर भागा। पांडव उसकी खोज में निकले। सब मार्ग में प्यासे हो गये और जल की खोज में एक-एक कर सभी गये और कोई न लौटा। अंत में युधिष्ठिर उन्हें खोजने गये और जलाशय के समीप आए तथा भ्राताओं को मृत पाया। युधिष्ठिर जल लेने के लिए बढ़े ही थे कि अलक्ष्य रूप से उन्हें कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कहा गया। बिना उत्तर दिये जल लेने पर मृत्यु हो जायगी, ऐसा कह कर उन्हें सचेत किया गया। युधिष्ठिर ने प्रश्नों के उचित उत्तर दिये। पहले नकुल का जीवन मांगा और फिर सभी भाइयों को जीवित कर लिया।

इस प्रकार युधिष्ठिर धर्म-परीक्षा में सफल हुए । इसीकारण युधिष्ठिर धर्मराज कहलाये ।

इस वृहत् प्रबंध का अट्ठाईसवां खंड 'अज्ञात वास' है । बारह वर्षों के वनवास की अवधि व्यतीत हो जाने पर एक वर्ष का अज्ञात वास काटने का समय आ गया । युधिष्ठिर दुःखी हैं कि अब धौम्य आदि ऋत्विजों का सत्संग भी छूट जायगा । पांडवों ने राजा विराट के यहां रह कर अज्ञात-वास की अवधि पूरी करने का निश्चय किया । विराट के यहां कौन कौन किस-किस रूप में रहेगा, इसकी योजना बनी । इस खंड में भी धौम्य द्वारा युधिष्ठिर की प्रशंसा करवाई गई है ।

'सैरन्ध्री' जयभारत का उन्तीसवां खंड है । यह एक पृथक खंड-काव्य है । इस खण्डकाव्य को पूरा का पूरा 'जयभारत' में ले लिया गया है । विराट के यहां रहते हुए द्रौपदी के चरित्र का आख्यान इसमें वर्णित है । कीचक की लोलुप दृष्टि द्रौपदी पर पड़ी और अंत में वह भीम के द्वारा मारा गया ।

'वृहन्नला' 'जयभारत का तीसवां खंड है । कीचक की रहस्यपूर्ण मृत्यु का समाचार सुनकर कौरवों ने पांडवों की खोज की । पांडवों के अज्ञात वास की अवधि समाप्त होते-होते कौरवों ने सुशर्मा द्वारा राजा विराट के गोधन का अपहरण करवाया । युधिष्ठिर , भीम, नकुल और सहदेव विराट का संकट दूर करने के लिए युद्धभूमि की ओर चले । अर्जुन क्योंकि नृतक के रूप में अज्ञातवास कर रहे थे अतः वे उनके साथ नहीं गये । अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो गई थी, इसलिए अर्जुन ने स्वयं को प्रकट कर देने का विचार किया । अर्जुन उत्तर को लेकर युद्ध-भूमि में गये । वहां शत्रुसेना को देखकर उत्तर भयभीत हो गया । अर्जुन ने उसमें साहस का संचार किया और उसे अपना सारथी बनाया ।

'उद्योग' 'जयभारत' का इकतीसवां खंड है । इस खंड में सर्व प्रथम उत्तरा- अभिमन्यु विवाह का आख्यान वर्णित है । विराट और श्रीकृष्ण से परामर्श करके पांडवों ने धृतराष्ट्र के पास दूत द्वारा कहलवाया कि —

" हा तात, गोद वह क्या अब भी वही है ?
क्या स्थान शेष उसमें अब भी हमारा ?"[१]

धृतराष्ट्र की विवशता यहां व्यंजित है । संजय द्वारा प्रतिवाक्य भेजा गया कि संधि हो चाहे न हो, सद्वंश में ध्वंसकारी विग्रह न होना चाहिए । पांडवों ने सोचा "वंश-विग्रह हमें कब चाहते हैं ?" दुर्योधन का हठ है कि पांडवों को राज्य न दिया जाय । युधिष्ठिर इसका प्रतिकार करना चाहते हैं और वे कौरवों के पास संदेश भेजते हैं -"सद्धर्म की विजय ही जय है हमारी ।" इस खंड में कवि ने पांडवों का औचित्य और कौरवों का अनौचित्य व्यक्त किया है ।

`जयभारत` का बत्तीसवां खंड `विदुर वार्ता` है । धृतराष्ट्र कुल कलह से व्यथित हैं और युद्ध की आशंका से आतंकित हैं । विदुर उन्हें समझाते हुए कहते हैं -

" बुला के दे दो जो विषय जिसका प्राप्य जितना ।
भले ही दुष्टों की सम्मति न हो शिष्ट-विधि से ,
बनो सच्चे राजा व्रत-सुकृत से, न्याय निधि से ।
करेंगे क्या सोचो, शठ शकुनि कर्णाधिक वहां,
खड़े हैं धर्मात्मा नर सहित नारायण जहां ।"[२]

इस कथांश में धृतराष्ट्र की विवशता और विदुर की धर्म-नीति पूर्ण वार्ता प्रमुख है ।

` रण-निमंत्रण` इस वृहत् प्रबंध का तैंतीसवां खंड है । इस कथांश की रचना कवि ने संवत् १६६५ में की थी । `जयभारत` में उसे समाविष्ट कर लिया गया है । इसमें उस समय का प्रसंग है , जब कि कृष्ण को युद्ध में निमंत्रित करने के लिए अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही पहुंचते हैं । कृष्ण सोए हुए हैं । अर्जुन उनके चरणों की ओर बैठे और दुर्योधन सिर की ओर। जागृत होने पर

---

१. जयभारत, गुप्त, पृ० २८७ द्वितीय संस्क०,सा०स०,चिरगांव, झांसी

कृष्णा पहले अर्जुन को देखते हैं, यद्यपि पहले दुर्योधन ही वहां आए थे । कृष्णा दोनों की सहायता करने का वचन देते हैं । उन्होंने कहा कि एक ओर सशस्त्र नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर वे स्वयं निरस्त्र रूप में रहेंगे । अर्जुन ने निरस्त्र कृष्णा को अपनी ओर रखना स्वीकारा । कवि ने इस घटना को नाटकीय बनाया है ।

जयभारत का चौंतीसवां खंड 'अनाहूत' है । इस आख्यान खंड में रुक्मी का चरित्र और उसकी विचित्र स्थिति दिखाई गई है । युद्ध के समय वह पांडवों को सहायता देने के लिए ससैन्य आया है । उसकी सहायता को अस्वीकृत नहीं किया गया । परन्तु अर्जुन को निःशंक देखकर एवं गर्वित समझ कर चिढ़ उठा । वह भौंहें चढ़ाकर बोला —

' तो व्यर्थ ही मैं इस ओर आया ।
मैं पूर्व ही कौरव पक्ष लेता,
तो क्यों दिखाते तुम दर्प ऐसा ?' [१]

युधिष्ठिर ने रुक्मी को समझाने की चेष्टा की, परन्तु वह न माना । रुक्मी कौरवों के पास उनकी सहायता करने पहुंचा । वहां वह अनादृत हुआ और युद्ध से तटस्थ हो गया ।

'मद्रराज' उपाख्यान' जयभारत' का पैंतीसवां खंड है । प्रारम्भ में युद्ध विषयक कौरवों की मंत्रणा दिखाई गई है । दुर्योधन ने मद्रराज के स्वागत का ऐसा प्रबन्ध किया कि वे जब पांडवों की सहायता के लिए जा रहे थे तो कौरवों के षड्यंत्र में फंस गये । कौरवों के जाल में फंस कर मद्रराज को युधिष्ठिर के पास यह समाचार भेजना पड़ा कि वे कौरवों के दल में सम्मिलित हो गये हैं अतः वे पाण्डवों की सहायता को न आ सकेंगे । वे सोचते हैं कि उन्हें दुर्योधन ने कर्ण का सारथी बनाने के लिए छलपूर्वक रोका है । इस कथांश में युधिष्ठिर का उज्ज्वल चरित्र वर्णित है ।

'केशों की कथा' जयभारत का छत्तीसवां खंड है । युधिष्ठिर कृष्णा से अनुरोध करते हैं कि वे कौरवों के पास शांति का संदेश ले जाएं । कौरवों

---

१. जयभारत, अनाहूत, पृ० ३०३ (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव

ने पाँडवों के साथ जो कुछ भी किया है उसे पाँडवों ने विष के समान पी लिया है। पाँडव पाँच गाँव लेकर भी संधि के लिए तत्पर हैं। किन्तु इसी समय द्रौपदी जो कि अपने अपमान को अभी भूल नहीं सकी है, बिजली की कौंध के समान वहाँ प्रकट हो जाती है। वह कौरवों से संधि करने का कड़े शब्दों में विरोध करती है। उसके कथन में अपने पंच पतियों के लिए कठोर व्यंग्य भी है। अंत में विह्वल होकर वह कृष्ण से निवेदन करती है --यथा--

" करुणा-सदन तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो ,
चिन्ता-व्यथा सब पाँडवों की शान्तिकर हरने लगो ,
हे तात , तब इन मलिन मेरे कृष्ट केशों की कथा,
मैं और क्या विनती करूँ, भूले तुम्हें न यथा-तथा ।"[1]

कृष्ण द्रौपदी की दीन वाणी सुनकर द्रवित हो गये और उसे सांत्वना दी, " पर जीत तेरी ही रहेगी आज सबकी हार में।" इस आख्यान में द्रौपदी की उत्कट प्रतिकार भावना करुणा का संचार करने वाली है। युधिष्ठिर धर्म-निष्ठ हैं और मानवतादर्श को व्यक्त करते हैं। 'केशों की कथा' कवि की पूर्ववर्ती रचना है परन्तु 'जयभारत' में पर्याप्त परिवर्धन के साथ आई है।

'शांति संदेश' 'जयभारत' का सैंतीसवाँ खंड है। यह भी कवि की पूर्ववर्ती रचना है। कृष्ण कौरव-सभा में पाँडवों के दूत के रूप में पहुँचे और संदेश कह दिया। दुर्योधन के विरोध करने पर कृष्ण उन्हें भाँति भाँति से समझाते हैं। उन्होंने दुर्योधन के सामने अर्जुन से ही द्वन्द्व-युद्ध कर लेने का प्रस्ताव रखा। परन्तु दुर्योधन ने उसे स्वीकार नहीं किया। पाँडवों को पाँच गाँव मात्र देने का प्रस्ताव भी अस्वीकृत हुआ। दुर्योधन ने व्यंग करके कहा--

" सात स्वरों के तीन ग्राम तो सभी कहीं हैं ,
एक स्वर में पाँच ग्राम ये सुने यहीं हैं।"
वे मेरे तनु के तत्व हैं, प्राण-संग ही जाएंगे ,
रण बिना सुई की नोंक भर भूमि न पाण्डव पाएंगे ।"[2]

---

१. जयभारत- केशों की कथा, पृ० ३१७ (द्वितीय संस्क०, सा०स०, चिरगाँव)
२. ,, शांति संदेश, पृ० ३३२ ,,

उसी समय गांधारी ने वहाँ आकर पांडवों के प्रति अपनी ईर्ष्या का उल्लेख किया जिसके लिए उसने सौ पुत्र प्राप्त किये । धृतराष्ट्र आदि जब कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने लगे तब दुर्योधन ने उन लोगों को वहाँ से विदा करना ही उचित समझा । दुर्योधन ने कृष्ण को बंदी बनाना चाहा परन्तु कृष्ण ने दुर्योधन की ओर न जाने कैसे देखा कि कंपित होकर वहीं लड़खड़ा गया ।

कुंती ने कृष्ण के द्वारा पुत्रों के पास कष्ट झेलने के लिए साधुवाद भेजा और आशीष दिया कि धर्म ही उनकी रक्षा करे । कृष्ण ने कर्ण को यह भेदपूर्ण बात बता दी कि वह कुंती का ही पुत्र है, और उसे समझाया कि वह अपने ही अनुजों से न युद्ध करे । कर्ण पर इसका मार्मिक प्रभाव पड़ा । कवि ने कर्ण के चरित्रोत्कर्ष को दिखाया है । वह यद्यपि युधिष्ठिर का प्रशंसक है परन्तु उसकी विवशता यह है कि वह दुर्योधन के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता था ।

'कुंती और कर्ण' 'जयभारत' का अड़तीसवाँ खंड है । कुंती जब युद्ध को रुकता हुआ नहीं देखती है तो वह कर्ण के पास युद्ध को रुकवाने के लिए जाती है । माता और पुत्र की भेंट होती है और कुंती का वात्सल्य विह्वल हो उठता है । कर्ण अधर्म को जानता है पर उसे छोड़ने में असमर्थ है । उसने कुंती को आश्वासन दिया है कि युद्ध में अर्जुन अथवा वह स्वयं, कोई एक ही बचेगा । कर्ण का चारित्रिक उत्कर्ष इस प्रसंग में व्यक्त हुआ है ।

प्रस्तुत वृहत् प्रबंध का उन्तालीसवाँ खंड 'युयुत्सु' है । इस कथांश में धृतराष्ट्र के दासी पुत्र युयुत्सु और कर्ण का संवाद है । युयुत्सु कुंती का समर्थक है और युद्ध नहीं करना चाहता , परन्तु कर्ण युद्ध के लिए तत्पर है । युयुत्सु दुर्योधन के पक्ष में लड़ना नहीं चाहता । उसकी धर्म भावना जागृत है और वह अन्याय का पक्ष नहीं ग्रहण करना चाहता । वह कर्ण से परामर्श करता है कि उसे क्या करना चाहिये । कर्ण पश्चाताप में डूब जाता है । यथा ---

" सचमुच में क्रीत सुयोधन से,
क्या एकमात्र भौतिक धन से ?

मुझ पर है इतना भार लदा,
रहता हूँ जिससे दबा सदा।
जो था मैं हा! वह भी न बना,
जननी, क्यों तूने मुझे जना।"[१]

"समर-सज्जा" 'जयभारत' का चालीसवाँ खंड है। यह कथांश युद्ध की भूमिका के रूप में आया है। आरंभ में दुर्योधन के पुत्र की बाल-क्रीड़ा नियोजित की गई है। कुरुक्षेत्र में कौरवों की सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित हुई है। यह कथांश संवादों के द्वारा रोचक बनाया गया है।

इकतालीसवाँ खंड 'अर्जुन का मोह' है। इसमें श्रीमद्भगवद्गीता के मुख्य-मुख्य स्थलों का पद्य-बद्ध रूपान्तर किया गया है। युद्ध में अर्जुन अपने आत्मीयों को विपक्ष में देखकर व्याकुल हो गये। कृष्ण ने उन्हें उपदेश दिया और अपने विराट् रूप का दर्शन कराया। अर्जुन विस्मित हो गये और उन्हें जीव-जगत तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हो गया। अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हो गये। युधिष्ठिर ने भीष्म, कृप और शल्य के पदों में प्रणत होकर युद्ध करने की आज्ञा माँगी। युद्ध के पूर्व युधिष्ठिर ने घोषणा की —

"सुनो सब, जय है हरि के हाथ,
और हरि सदा हमारे साथ।
जिसे आना हो अब भी आव,
धर्म की ओर इधर हो जाव।"[२]

युधिष्ठिर की घोषणा सुन कर सभी स्तब्ध रह गये, केवल युयुत्सु पांडवों की ओर आ गये।

'युद्ध' इस बृहत्-प्रबंध का ब्यालीसवाँ खंड है। कृष्ण ने ही सर्वप्रथम युद्ध के नियमों को तोड़ा। कृष्ण ने भीष्म के विकट युद्ध से क्षुब्ध होकर स्वयं चक्र को धारण कर लिया। युधिष्ठिर ने कृष्ण को रोका और कहा कि वे चाहे हार जायँ पर कृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़नी चाहिये। शिखंडी की प्रतिज्ञा को सफल करने की योजना बनाई गई। भीष्म

ने शिखंडी के नारी-रूप में पैदा होने के कारण उस पर प्रहार नहीं किया । भीष्म ने दुर्योधन को आदेश दिया कि वह संधि कर ले । परन्तु दुर्योधन न माना । अर्जुन ने द्रोण के प्रति दुर्बलता दिखाई जिसका परिणाम अभिमन्यु का वध हुआ । अर्जुन ने जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा की । युधिष्ठिर ने भीम आदि को अर्जुन की रक्षा के लिए भेजा । कवि ने जयद्रथ के वध की सूचना मात्र दी है । अभिमन्यु-वध के दुःख से पांडव परिवार व्याकुल हो गया । कृष्ण ने सबको सान्त्वना दी । कवि ने द्रोण की आत्मग्लानि को भी प्रकट करवाया है । कर्ण के सेनापतित्व में जब युद्ध आरंभ हुआ तो शल्य ने उसको निस्तेज करने की चेष्टा की । घटोत्कच ने भीषण युद्ध प्रारम्भ किया । कर्ण ने इन्द्र द्वारा दी गई शक्ति का प्रयोग करके उसका संहार .... किया । कर्ण ने भीम को परास्त किया पर उनका वध नहीं किया । भीम ने दुःशासन के वक्ष को फाड़कर उसके रक्त से द्रौपदी के केश बांधने की अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण किया । कर्ण और अर्जुन का युद्ध आरंभ हुआ । अर्जुन ने कर्ण का वध कर डाला । शल्य ने युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने अथवा स्वयं वीरगति पाने का प्रण किया । युधिष्ठिर द्वारा शल्य का वध हुआ । कृपाचार्य ने दुर्योधन को संधि करने के लिए समझाया परन्तु दुर्योधन न माना । भीम ने सरोवर के पास जाकर दुर्योधन को ललकारते हुए उसकी जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा को दोहराया। गदा युद्ध में दुर्योधन परास्त हुआ । अंत में युधिष्ठिर विजयी हुए परन्तु वे दुर्योधन के आहत होने के कारण संतप्त हुए ।

युद्धोपरान्त बलराम, कृष्ण और युधिष्ठिर की वार्ता रखी गई है । बलराम ने युद्ध को सर्वनाश के समान समझा, कृष्ण ने युद्ध को धर्म-कार्य समझा और युधिष्ठिर ने उसे क्षात्र-धर्म की विवशता समझा । कविने इस प्रसंग में युधिष्ठिर के चरित्रादर्श को व्यक्त किया है । युधिष्ठिर त्यागी हैं, वे दूसरों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं । यथा —

> "राम, अब भी मैं यही कहता हूं मन से
> कामना नहीं है मुझे राज्य की, वा स्वर्ग की
> किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूं मैं यही
> ज्वाला ही जुड़ा सकूं मैं अपनों के दुःख की

भोगूं अपनों का सुख, मेरा पर कौन है ?
सब सुख भोगें, सब रोग रहित हों,
सब शुभ पावें, न हो दुःखी कहीं कोई भी ।"[1]

कवि ने युधिष्ठिर के चरित्र को अतिशय उन्नत बनाया है । युद्ध को कवि ने धर्म-युद्ध के रूप में रखा है और युद्ध के अन्तर्गत नियम विरुद्धता को मानव हीनता बताया है ।

तेंतालीसवाँ आख्यान 'हत्या' है । अश्वत्थामा रात्रि में पांडवों के शिविर में जाकर सबकी हत्या करने को सन्नद्ध हुआ । कृपाचार्य और कृतवर्मा के समझाने पर वह न रुका । वह पांडवों के शिविर में गया और सोते हुए पांचालों का वध करके धृष्टद्युम्न, शिखंडी, उत्तमौजा, युधामन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्रों का वध कर डाला । पांडव , सात्यकी और कृष्ण बच गये क्योंकि वे अन्यत्र गये हुए थे । अश्वत्थामा ने पांडवों के शिविर को भस्म भी कर डाला । इसके पश्चात् उसने मरणासन्न दुर्योधन को इसकी सूचना दी ।

प्रातः होने पर पांडव शिविर में लौट कर आए । द्रौपदी उनके सामने चीत्कार कर उठी । वह सारे अनर्थ का मूल स्वयं को ही समझती है । यथा --

" जन क्यों न कहें, यह पाप-कलह सब मैंने ही करवाया ,
पति और पिता का वंश नाशकर लाखों को मरवाया ।"[2]

अश्वत्थामा को कृष्ण , भीम और अर्जुन ने हराया । अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ को मर जाने का शाप दिया परन्तु कृष्ण ने उसके शाप से उत्तरा के गर्भ की रक्षा की, और कहा" चोरों का कोसा चन्द्र कहीं मरता है अरे अभागे" अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गए ब्रह्मास्त्र को अर्जुन ने स्वयं अपने ब्रह्मास्त्र को छोड़कर शान्त किया । भीम ने उसका चूड़ामणि छीन कर उसे जीवित छोड़ दिया ।

इस काव्य का चौवालीसवां खंड" विलाप" है । इस कथांश में धृतराष्ट्र के शोक को विलाप की शैली में व्यंजित किया गया है । वे दुर्योधनादि

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४१० (द्वितीय सं०,साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
२. ,, ,, पृ० ४१६ ,,

........से दुष्कर्मों का स्मरण करते हैं। धृतराष्ट्र गांधारी तथा कुरुकुल की स्त्रियों को लेकर कुरुक्षेत्र गये। वहां युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्र और द्रौपदी तथा गांधारी की सकरुण भेंट हुई। विजयी होने पर भी युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के सामने स्वयं को अपराधी समझते हैं तथा द्रौपदी गांधारी के सम्मुख स्वयं को एक किंकरी समझती है। यथा –

" मुझ नृशंस को मृत्यु दंड दो देव, दयाकर ,"
गिरे युधिष्ठिर मान भूल धृतराष्ट्र-पदों पर।

< >

गांधारी के पैर पकड़ पांचाली बोली –
" कृतवत्सा मैं योग्य किंकरी आज तुम्हारी," [१]

पैंतालीसवां खंड " कुरुक्षेत्र " है। इस कथांश के प्रारम्भ में कवि ने करुणाजनक, उजाड़ कुरुक्षेत्र का दर्शन कराया है। गांधारी युद्धभूमि को देखकर विलाप करती है। उसके पास कृष्ण खड़े हैं। वह प्रत्येक वीर की मृत्यु पर और अपनी पुत्रवधुओं के शोक पर व्यथित होती है। वह दुःख और क्रोध के आवेश में कृष्ण को यह शाप दे देती है कि " कुरुकुल सरीखा वृष्णिकुल भी लड़ परस्पर नष्ट हो।" कृष्ण हंसकर इस शाप को स्वीकार कर लेते हैं। वे कहते हैं –

हे देवि, जो तुमने कहा, समझो घटित उस बात को।
मेरे समय के साथ मेरा कार्य पूर्णप्राय है,
पर एक धीरज ही तुम्हारे शोक का सदुपाय है।" [२]

गांधारी कृष्ण के वचन सुनकर अनुतप्त भी होती है और कहती है –
" मुझ दुःखिनी हतबुद्धि का अपराध मतमन में धरो।"

" अन्त " जयभारत का छियालीसवां खंड है। युद्ध में वीरगति पाए वीरों का दाहसंस्कार हुआ और उसके पश्चात् युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

---

१. जयभारत, विलाप, पृ० ४२२-४२३ (द्वितीय सं०, साहित्य सदन, चि०, झांसी)
२. ,, ,, पृ० ४२८ ,,

हुआ । वे इस राज्याभिषेक से दुःखी हो उठे । कवि कथन है —

" तन से सिंहासन पर, मन से वन में भूप विराजे ।"[१]

भीष्म पितामह ने भाँति भाँति से युधिष्ठिर को प्रबोधा । उसी समय परीक्षित का जन्म हुआ और अश्वमेध यज्ञ की नियोजना की गई । अर्जुन ने अश्वमेध-यज्ञ के घोड़े की रक्षा करते हुए दिग्विजय की । युधिष्ठिर के राज में प्रजा सुखी और संतुष्ट रही । वृष्णिवंश परस्पर लड़ कर समाप्त हो गया । गान्धारी, धृतराष्ट्र, संजय, विदुर, तथा कुंती सब वन में चले गये । अर्जुन द्वारिका से लौटते समय स्त्रियों और बच्चों सहित व्याधों के द्वारा घेर लिए गये । वे बड़ी कठिनाई से छूट सके । अंत में युयुत्सु ने परीक्षित और वज्र को सारा राज्य बाँट दिया । सुभद्रा को उनका धात्री पद दे दिया और पाँचों पांडव द्रौपदी को साथ लेकर हिमालय पर्वत को चले गये ।

" जयभारत" का अंतिम खंड स्वर्गारोहण है जिसे कथा का उपसंहार कहा जा सकता है । पांडवों ने धर्म-राज्य की स्थापना की है और सभी भोगों का त्याग कर दिया है । उन्होंने अपने सभी शस्त्रों को जल में विसर्जित कर दिया है और अब वे हिमगिरि की यात्रा कर रहे हैं । इस महायात्रा का कवि ने सांगोपांग वर्णन किया है । यात्रा करते-करते सर्वप्रथम द्रौपदी गिरी । युधिष्ठिर ने द्रौपदी के गिरने को, अर्जुन के प्रति अपने पक्षपात का नाश माना द्रौपदी के पश्चात् सहदेव गिरे । इसे युधिष्ठिर ने अपने रूपाभिमान का अंत समझा । नकुल की मृत्यु को उन्होंने अपनी मति-गति के गर्व का अंत समझा । अर्जुन के गिरने को युधिष्ठिर ने अपने मानीमद का झड़ जाना समझा । भीम के टूट जाने पर युधिष्ठिर ने अपने औद्धत्य का नाश समझा । अब मानों युधिष्ठिर के सब बंधन खुल गये । उन्होंने अब अपने देह को भी छोड़ कर केवल आध्यात्मिक तत्व बनने की इच्छा की ।

---

१. जयभारत, मै०, पृ० ४३० (द्वितीय संस्क०, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)

वे श्वान को लिए हुए आगे बढ़ते गये । मार्ग में उन्हें इन्द्र का रथ मिला । युधिष्ठिर अकेले रथ पर चढने को तत्पर नहीं हुए । इन्द्र ने यह उनकी धर्म परीक्षा ली थी । इस धर्म परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर स्वर्ग में उनका स्वागत हुआ । वहाँ युधिष्ठिर ने दुर्योधन को भी देखा । दुर्योधन में भाव-परिवर्तन देख कर युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए । वे मर्त्यदेह त्यागने को तत्पर हुए । अपने स्वजनों से मिलने नरक में गये । उन्होंने स्वजनों के साथ नरक में रहना ही स्वीकारा । कवि ने इस नरक के दृश्य को युधिष्ठिर की धर्म-परीक्षा के काल्पनिक आख्यान के रूप में ही रखा है । अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर शुद्ध आत्मरूप हो गये और अपने स्वजनों के सहित गोलोक में स्थित हुए । अंत में स्वयं नारायण प्रकट हुए और उन्होंने युधिष्ठिर का स्वागत करते हुए कहा --

" आओ , हे मेरे नर आओ !
जो कुछ है जहाँ, तुम्हारा है,
मुझको पाकर सब कुछ पाओ ।"[१]

विवेचन --

'जयभारत' के सैंतालीस विभिन्न खंड यद्यपि स्वत: स्वतंत्र काव्य - कृतियाँ हैं, परन्तु वे इस वृहत्-प्रबंध के विभिन्न खण्ड भी हैं । इन सभी खंडों की रचना पद्धति में असमानता भी है । परन्तु कवि ने इन सभी खंडों को शृंखलाबद्ध किया है और 'जयभारत' में प्रबंधात्मकता लाने का प्रयत्न किया है । इस प्रबंधात्मकता में कवि कहाँ तक सफल हुआ है, यह कहना कठिन है परन्तु वह कथा - प्रसंगों के वर्णनों को क्रम-बद्ध रूप में अवश्य ही नियोजित कर सका है । कवि ने अपने आख्यानों को केवल इतिवृत्त-निरूपण के रूप में नहीं रखा है वरन् उनमें सजीवता और सप्राणता की प्रतिष्ठा की है ।

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४५२(द्वितीय संस्करण, सा०स०, चिरगांव,भांसी

वस्तु व्यंजना, रूप चित्रण, दृश्य चित्रण, संवाद, नाटकीयता, प्रकृति वर्णन आदि के द्वारा कवि ने अपने वर्णनों को सरस बनाया है। यही नहीं, कवि ने सभी पात्रों के चरित्रों की स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित की है। यद्यपि सभी पात्र पूर्व परिचित और प्रख्यात हैं, परन्तु कवि ने उन्हें स्पष्ट रूप देकर उनके अपेक्षित गुणों और अवगुणों से सम्पन्न बनाया है। सत् और असत् पात्रों में स्पष्ट अन्तर किया है। सत् पात्र उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए हैं। असत् पात्रों का सुधार भी हुआ है और कुछ असत् पात्र किन्हीं गुणों से युक्त भी हैं। युधिष्ठिर का चारित्रिक विकास दिखाना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। कवि ने युधिष्ठिर के महामानवत्व का पूर्णोत्कर्ष प्रदर्शित किया है। राक्षसों को मानवीयता प्रदान की गई है। हिडिम्बा और घटोत्कच को मानव बनाया है तथा अश्वत्थामा को राक्षस बनाया है। खंड रचनाओं के कारण पात्रों की चरित्र-कल्पना में कोई अन्तर्विरोध नहीं आने पाया है हाँ, दुर्योधन के चरित्र के अन्त में परिवर्तन दिखाया गया है। उसके चरित्र के औज्ज्वल्य को अंत में प्रकट किया है। 'जयभारत' के सभी खंडों में कथोपकथन को विभिन्न रूपों में नियोजित किया गया है। कहीं वे आलाप शैली में हैं, कहीं प्रलाप, कहीं संभाषण और कहीं वक्तृत्व के रूप में हैं। कहीं वे संक्षिप्त हैं, कहीं लम्बे हैं। स्वगत कथन के रूप में भी आए हैं। इनके द्वारा प्रत्येक चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। ये संवाद बुद्धिनिष्ठ हैं तथा भावनामय हैं। कहीं कहीं वे भावोच्छ्वसित भी हो गये हैं। ये संवाद रूप-वर्णन, दृश्य वर्णन, शील निरूपण, प्रकृति वर्णन और भाव-निरूपण करने में सफल हुए हैं।

भाषा सर्वत्र प्रवाहमयी रही है। प्रत्येक खंड में छंद परिवर्तन किया गया है। इस काव्य की पद रचना और शैली परिष्कृत और सक्षम है। सम्पूर्ण महाभारत के मार्मिक और विशिष्ट प्रसंगों को चुन कर कवि ने इस काव्य की नियोजना की है। अवश्य ही उनकी प्रबंधावयवों की भाँति क्रमिक वर्णना नहीं की गई है। इसीलिए सर्वांग-पूर्ण सुविन्यस्त कथावस्तु की रचना नहीं हुई है। 'जयभारत' की रचना में कवि ने देश-काल का ध्यान रखा है। उन्होंने नवयुग का महाभारतीय काव्य रचा है। इसमें मानवता के आदर्श, उसकी उत्थान

चेष्टा तथा उसके लौकिक और आध्यात्मिक रूप की सम्यक व्यंजना की गई है। जयभारत में मानवता की जय युधिष्ठिर के जय-गान द्वारा अभिव्यक्त हुई है। यह सम्पूर्ण मानव-जीवन का कथाकाव्य है। इसमें नारी का महत्व प्रतिपादित किया गया है। `जयभारत` यद्यपि महाकाव्य नहीं परन्तु इसमें एक महान् काव्य के लक्षण के सभी रूप उपस्थित हैं।

ऐतिहासिक काव्य

गुप्त जी ने अपनी कुछ कथाओं के स्रोत इतिहास से भी लिए हैं, उदाहरण के लिए — रंग में भंग, विकट भट, यशोधरा, सिद्धराज, कुणालगीत आदि। `कुणाल-गीत` सम्राट अशोक - कालीन इतिहास से संबद्ध है। `यशोधरा` बौद्ध इतिहास से सम्बन्धित है। `सिद्धराज` गुजरात के इतिहास से और `रंग में भंग` तथा `विकट-भट` राजपूत इतिहास से संबद्ध हैं।

रंग में भंग — संवत् १९६६ में, जबकि खड़ी बोली का कोई स्थिर रूप नहीं था, उस समय युवक कवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक ऐतिहासिक घटना को लेकर `रंग में भंग` जैसी रोचक काव्य की रचना खड़ी बोली में की थी। इस काव्य में बूंदी एवं चित्तौड़ के नरेशों की एक महत्वपूर्ण घटना कविताबद्ध हुई है।

विकट-भट — राजपूत इतिहास पर आधारित यह काव्य सं० १९८५ में प्रकाशित हुआ। इसकी कथा अत्यन्त आकर्षक एवं हृदयद्रावक है। इस ओजस्विनी काव्य पुस्तिका में राजपूती आन, उनके दर्प-अभिमान आदि का अच्छा वर्णन हुआ है। इस काव्य में दो रसों का मणि-कांचन संयोग है — एक वीर और दूसरा करुण।

यह गुप्त जी का सर्वप्रथम अतुकान्त काव्य है।

यशोधरा — गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा के चरित्र को उभारने के लिए कवि ने इस काव्य की रचना की। वास्तव में `यशोधरा` का उद्देश्य है पतिपरित्यक्ता यशोधरा के हार्दिक दुःख की व्यंजना तथा वैष्णव सिद्धान्तों की स्थापना। इससे पहले कवि ने साहित्य की चिर-उपेक्षिता उर्मिला को वाणी प्रदान की थी। गौतम बुद्ध की आभा से चौंधियाए हुए भक्तों की दृष्टि यशो-

धरा पर पड़ी ही नहीं, और एक नारी के साथ इतना बड़ा अन्याय देखकर मानवीय सम्बन्धों के अमर गायक श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि द्वारा यशोधरा से साक्षात्कार किया। यशोधरा के हृदय में उमड़ती हुई भावनाओं की परित्यक्ति के लिए कवि ने अनेक नूतन उद्भावनाएं कीं। 'यशोधरा' काव्य की कथा का पूर्वार्द्ध चिरविश्रुत एवं इतिहास प्रसिद्ध है परन्तु उत्तरार्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है।

इस काव्य में यशोधरा की चरित्र-सर्जना के साथ साथ बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन करके वैष्णव विचारों का संस्थापन अथवा मण्डन भी निश्चित रूप से कवि का उद्देश्य रहा है।

इस काव्य का शिल्प भी नवीन है। इसमें छायावादी शिल्प का आभास मिलता है।

<u>सिद्धराज</u> — यह काव्य भारत के मध्यकालीन वीरों के चरित्र-प्रदर्शन के लिए कवि ने रचा। इसका कथानक ऐतिहासिक है। गुजरात के सालंकी (चौलुक्य) राजाओं में जयसिंह (सिद्धराज) बड़ा ही प्रतापी, वीर, धार्मिक, दानी, अनेकदेश विजयी और प्रजापालक हुआ था। उसका देहान्त हुए लगभग ८००वर्ष हो चुके हैं, तो भी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि देशों में उसकी कीर्ति अब तक विद्यमान है। गुजरात आदि के ग्रामीण लोग भी 'सधरा जैसिंग' (सिद्धराज जयसिंह) नाम से उसे अब तक याद करते हैं। 'सिद्धराज' काव्य की यद्यपि सभी घटनाएं ऐतिहासिक हैं परन्तु कवि ने घटनाओं का क्रम अपनी सुविधानुसार रखा है।

<u>कुणाल-गीत</u> — इसकी कथा का प्रतिपाद्य अशोक-कालीन इतिहास है। कवि ने सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल की कथा को अत्यन्त रोचक और सहानुभूतिपूर्ण ढंग से वर्णित किया है। इसकी काव्य-कोटि विवादास्पद है। एक ओर तो यह अपने आप में पूर्ण ९५ गीतों का संकलन है, साथ ही इनमें पूर्वापर का सम्बन्ध भी प्रतीत होता है। यह सूरसागर, कवितावली, उद्धवशतक आदि उन प्रबन्ध मुक्तकों की शैली के समान है जिनमें मुक्तक शैली होने पर भी कथा-सूत्र अखंड है।

इस काव्य का विषय करुणा है। परन्तु इस काव्य में रस परिपाक ठीक से नहीं हो पाया है। इसका कारण यह प्रगीत-शैली में है। यदि कवि अपनी प्रबन्ध-शैली में ही इसकी रचना करता तो निश्चित रूप से करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित हो उठती। इसकी भाषा सुष्ठु, प्रांजल एवं कांतिमयी खड़ी बोली है।

राष्ट्रीय और समसामयिक काव्य

कवि ने कुछ रचनाओं का प्रणयन तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हो कर किया है, तथा कुछ काव्य राष्ट्रीय आंदोलनों और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के फलस्वरूप हैं। उदाहरण के लिए भारत-भारती, किसान, विश्ववेदना, गुरुकुल, भूमि-भाग, राजा-प्रजा, अंजलि और अर्घ्य, वैतालिक, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, अजित और पृथ्वीपुत्र तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित रचनाएं हैं।[1]

विविध -

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने रामायणीय, महाभारतीय, ऐतिहासिक तथा समसामयिक और राष्ट्रीय काव्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे काव्य भी लिखे हैं जिनके स्रोत अन्य विभिन्न स्थलों पर प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए विष्णुप्रिया, रत्नावली, कर्बला, अर्जन और विसर्जन, पत्रावली, लीला, तिलोत्तमा, चंद्रहास, शकुंतला, शक्ति, वयिनी, अनघ, दिवोदास आदि।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने अपने काव्यों के कथा-स्रोत अनेक स्थलों से लिए हैं। इन सभी के मूल स्रोतों का अध्ययन आगे अलग अध्यायों में किया गया है।

---

१. इनका विवेचन 'समसामयिक और राष्ट्रीय काव्य के मूलस्रोत' अध्याय में वर्णित है।
२. इनका विवेचन 'विविध काव्य और उनके मूल स्रोत'।

तृतीय अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के राम-काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत

(क) राम कथा के प्रेरक सूत्र

प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत वाल्मीकि रामायण, महाभारत, बौद्ध-ग्रन्थों, जैन-ग्रन्थों, पौराणिक साहित्य, साम्प्रदायिक रामायणों तथा ललित साहित्य में राम कथा व्याप्त है। यों तो राम-कथा के पात्र वैदिक साहित्य में भी प्राप्त हो जाते हैं।[1] परन्तु वाल्मीकि कृत रामायण ही राम-कथा की प्राचीनतम विस्तृत रचना मानी गई है।[2]

रामायण— वाल्मीकि कृत रामायण के तीन पाठ मिलते हैं — १. दाक्षिणात्य पाठ, २. गौड़ीय पाठ, ३. पश्चिमोत्तरीय पाठ। इन तीनों में दाक्षिणात्य पाठ ही सबसे अधिक प्रचलित है। इसी को वाल्मीकि कृत मूल कृति माना गया है। संस्कृत साहित्य में यह महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण 'आदि-काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदि-कवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याघ्र के बाण से बिंधे हुए क्रौंच के लिए विलाप करने वाली क्रौंची का करुण शब्द वाल्मीकि ने सुना, तो उनके मुख से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा —

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा: ।
> यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ।।[3]

---

१. राम-कथा, कामिल बुल्के, पृ० १-२३ (हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय)
२. ,, ,, पृ० २७ ,,
३ वाल्मीकि रामायण- बालकाण्ड, २।१५ (पं० रामनारायणलाल, प्रयाग)

अर्थात् हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौंची पक्षी को मारा है । अत: तुम सदा के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त न करो ।

महर्षि वाल्मीकि की यह वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने उनसे रामचरित मानस लिखने के लिए कहा । इसी प्रेरणा के फलस्वरूप रामायण की रचना हुई ।

महाभारत--'रामायण' में 'महाभारत' के पात्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता । परन्तु 'महाभारत' में न केवल रामकथा वरन वाल्मीकि कृत 'रामायण' का भी उल्लेख मिलता है । अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण की रचना के पश्चात् ही महाभारत को अपना यह वर्तमान रूप मिला है । महाभारत में रामकथा चार स्थलों पर मिलती है ।

१. रामोपाख्यान -- इसमें सबसे विस्तृत रूप में राम कथा दी गई है । द्रौपदी के हरण और उसको पुन: प्राप्त करने के पश्चात् युधिष्ठिर अपने दुर्भाग्य पर शोक प्रकट करते हैं ।[१] इस पर मार्कण्डेय राम का उदाहरण देकर युधिष्ठिर को धैर्य बंधाते हैं ।

२. आरण्यक पर्व की राम-कथा[२] -- इसमें भीम और हनुमान के संवाद के अन्तर्गत हनुमान ग्यारह श्लोकों में वनवास और सीताहरण से लेकर अयोध्या के प्रत्यागमन तक सम्पूर्ण राम-कथा संक्षेप में कहते हैं । इसमें बालकांड तथा उत्तरकांड की कथा का उल्लेख नहीं है ।

३. द्रोण-पर्व की रामकथा[३] -- द्रोणपर्व तथा शांतिपर्व की रामकथा षोडशराजोपाख्यान के अन्तर्गत मिलती है । द्रोणपर्व में अभिमन्युबध के कारण शोक संतप्त युधिष्ठिर को धैर्य देने के लिए व्यास मुनि उनको षोडशराजोपाख्यान सुनाते हैं । द्रोणपर्व का यह षोडशराजकीय वस्तुत: शांतिपर्व पर निर्भर है । इन सोलह राजाओं में से एक राम भी थे । नारद राम की महिमा का वर्णन करते हुए अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड के अन्ततक की राम-कथा बताते हैं

---

१. महाभारत- रामोपाख्यान- ३।२५७।१०(गीताप्रेस,गोरखपुर)

२. ,, ३।१४७।२८-३८

३. ,, द्रोणपर्व, ७।५६

४. शांति-पर्व की रामकथा-[१] इसमें प्रसंग द्रोणपर्व के ही समान हैं। यहां कृष्ण युधिष्ठिर को षोडशराजोपाख्यान सुनाते हैं। शांति पर्व में राम-कथा तो नहीं के बराबर है परन्तु राम राज्य तथा राम की महिमा का वर्णन किया गया है। चौदह वर्ष के वनवास का भी उल्लेख किया गया है।

बौद्ध-राम-कथा - प्राचीन बौद्ध साहित्य में राम-कथा सम्बन्धी तीन जातक सुरक्षित हैं -

१. दशरथ-जातक-कई विद्वानों का मत यह है कि इसमें राम-कथा का मूल रूप सुरक्षित है।[२]

२. अनामकं जातकम् - इस जातक में किसी भी पात्र के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है, लेकिन राम और सीता का वनवास, सीता-हरण, जटायु का वृत्तान्त, बालि और सुग्रीव का युद्ध, सेतुबंध, सीता की अग्नि परीक्षा, इन सबों का संकेत मिलता है।

३. दशरथ-कथानम् -इसमें पर्याप्त परिवर्तित रूप में राम की कथा वर्णित है।

जैन राम-कथा - जैन-कथा-ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तृत राम कथा साहित्य मिलता है। जैनियों ने राम-कथा के पात्रों को अपने धर्म में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस दृष्टि से दो ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

१. पउमचरियं - विमल सूरि ने 'पउमचरियं' लिखकर सर्व प्रथम लोक-प्रिय रामकथा को जैनधर्म के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया है।[३] विमल सूरि का समय संदिग्ध है। जैन परम्परा के अनुसार 'पउमचरियं'[४] ७२ ई० की रचना

---

१. महाभारत- शांति पर्व, १२।२९।४९-५५ गीताप्रेस, गोरखपुर

२. राम-कथा- कामिल बुल्के, पृ० ५८,८१-१०५, हिन्दी परि०प्रयाग विश्वविद्या

३. पउमचरियं, भवनगर, १९१४। एच०याकोबी का संस्करण

४. पउमचरियं, ११८,१०३

है, परन्तु भाषा के आधार पर डा० याकोवी इसे तीसरी अथवा चौथी शताब्दी ईस्वी की रचना मानते हैं।[१] यह ग्रन्थ शुद्ध जैन महाराष्ट्री में लिखा गया है। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेणाचार्य ने ६६० ई० में किया है, जो 'पद्मचरित'[२] के नाम से प्रसिद्ध है।

२. उत्तर-पुराण — जैन राम-कथा का दूसरा रूप गुणभद्र कृत उत्तर-पुराण में प्राप्त होता है। इसकी राम-कथा विमलसूरि और वाल्मीकि से बहुत भिन्न है। इसमें सीता को रावण और मंदोदरी की पुत्री माना गया है यथा — अलकापुरी के राजा अमितवेग की पुत्री राजकुमारी मणिमती विजयार्ध (विन्ध्य) पर्वत पर तपस्या करती थी। रावण ने उसे प्राप्त करने का प्रयास किया। सिद्धि में विघ्न उत्पन्न होने के कारण, मणिमती ने क्रुद्ध होकर निदान किया कि मैं रावण की पुत्री बनकर उसके नाश का कारण बन जाऊँगी। उस निदान के फलस्वरूप वह मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई। उसका जन्म होते ही लंका में भूकंप आदि अनेक अपशकुन होने लगे। यह देखकर ज्योतिषियों ने कहा कि यह कन्या रावण के नाश का कारण होगी। इस पर रावण ने मारीच को यह आदेश दिया कि वह उसे किसी दूर देश में छोड़ दे। मंदोदरी ने कन्या को द्रव्य तथा परिचयात्मक पत्र के साथ-साथ एक मंजूषा में रख दिया। मारीच ने उसे मिथिला देश की भूमि में गाड़ दिया जहाँ वह उसी दिन कृषकों द्वारा पाई गई। कृषक उसे जनक के पास ले गए। मंजूषा को खोलकर जनक ने उसमें से कन्या को निकाल लिया तथा उसे पुत्रीवत् पालने का आदेश देकर अपनी पत्नी वसुधा को सौंप दिया।[३]

पौराणिक साहित्य में रामकथा —

महापुराणों के अन्तर्गत तथा अन्य गौण पुराणों में रामकथा भिन्न भिन्न रूप में वर्णित है।

१. हरिवंश पुराण — इसमें संक्षिप्त रूप में रामावतार के उल्लेख के पश्चात वनवास से लेकर रावण-वध तक की राम-कथा की मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन है।[४] हरिवंश पुराण के दो स्थलों पर रामायण का तथा एक अन्य

---

१. एच०याकोबी : इन रि०ए०, भाग ७ और माडर्न रिव्यु, १९१४, दिसम्बर
ए हीस्ट्री ऑफ प्राकृत लिटरेचर; हिस्टरी सं० फि०, पृ० ३४, ए०सी०वूलनर: इन्ट्रोडक्शन, [illegible]

स्थल पर वाल्मीकि के काव्य का निदेश[१] मिलता है। तथा अन्य कई स्थलों पर भी राम कथा अथवा राम का उल्लेख किया गया है।

२. विष्णु पुराण — इसमें रामकथा का संक्षिप्त रूप मिलता है।[२] इसमें अयोनिजा सीता का भी उल्लेख हुआ है।[३]

३. वायु पुराण[४] — इसमें वर्णित रामकथा विष्णुपुराण की रामकथा के ही समान है।

४. भागवत पुराण— इसमें सीता लक्ष्मी के रूप में चित्रित हैं। राम सीता स्वयंवर में धनुष तोड़ते हैं। राम शूर्पणखा को विरूपित करते हैं तथा इसमें धोबी के कारण सीता-त्याग का वर्णन किया गया है।[५]

५. कूर्मपुराण — इसमें राक्षस-वंश-वर्णन के पश्चात् सूर्यवंश के अन्तर्गत राम-चरित का वर्णन है, जिसमें रावण-युद्ध के पश्चात राम द्वारा शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है।

६. ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य पुराण में केवल अन्य अवतारों के साथ राम का भी नाम लिया गया है।

गौण महापुराण — कुछ गौण महापुराणों में भी रामकथा संक्षिप्त रूप में प्राप्त होती है।

१. वाराह-पुराण — इसमें पूरी राम-कथा नहीं वर्णित है। एक स्थल पर दुर्जयकृत श्रीरामस्तवन उद्धृत है।[६] तथा एक अन्य स्थल पर यह वर्णित है कि वसिष्ठ के परामर्श से दशरथ ने रामद्वादशी-व्रत का पालन किया था, जिसके फलस्वरूप उनको राम आदि पुत्र प्राप्त हुए थे।[७]

पिछले पृष्ठ का शेष —१. मानिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, नं० २९-३१, पद्मचरितम्, बम्बई वि०सं० १९८५। ३. देखिए पर्व ९८। ४. हरिवंशपुराण २।६३।६, ३।१३२।६५

---

१. हरिवंशपुराण २।३।१८ (गीताप्रेस, गोरखपुर) २. विष्णुपुराण ४।४ गीता०गोरख

३. वही, ४।५। ४. वायुपुराण- आनन्दाश्रम प्रेस, पूना।

५. भागवतपुराण ९।१०-११ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

६. वाराहपुराण - अध्याय १२

७. वही, अध्याय ४५

२. अग्नि पुराण—इसकी रामकथा वाल्मीकि रामायण के सात काण्डों का संक्षेप मात्र है।[१] इसमें राम का मंथरा पर अत्याचार करना, वनवास का कारण बताया गया है।

३. लिंगपुराण— इसमें इक्ष्वाकुवंश-वर्णन के अन्तर्गत राम-चरित का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया गया है। अंबरीष उपाख्यान में राम-कथा उनके भाइयों के अवतारत्व का उल्लेख भी है।

४. वामन पुराण— में वेदवती तीर्थ के प्रसंग में रावण द्वारा अपमानित वेदवती की सीता के रूप में उत्पत्ति का उल्लेख है।

५. नारदीय पुराण — इसके पूर्व खण्ड में संक्षिप्त रामचरित (बालकाण्ड से युद्धकाण्ड तक) के बाद द्रविड़ देश में नागों से बांधे हुए विभीषण की रामकेश द्वारा मुक्ति की कथा दी गई है।[२] इसके उत्तर खण्ड में बालकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक समस्त वाल्मीकीय रामायण की संक्षिप्त राम-कथा वर्णित है।[३]

६. ब्रह्म पुराण —इसके १७६ वें अध्याय में रावण-चरित के अन्तर्गत रावण की तपस्या के वर्णन के बाद एक संक्षिप्त राम-कथा भी पाई जाती है, जिसमें रावण द्वारा अमरावती से चुराई हुई वासुदेव प्रतिमा का वृत्तान्त दिया गया है। रावणवध के बाद राम ने उस मूर्ति को समुद्र को अर्पित कर दिया था।

७. गरुण पुराण — इस रामकथा की यह विशेषता है कि इसमें राम स्वयं शूर्पणखा को विरूपित करते हैं और अयोध्या लौटने के बाद पितृकर्म के लिए गयाशिर जाते हैं।[४]

८. स्कंद पुराण — इसमें रावण चरित, रामावतार तथा राम द्वारा रावण वध की कथा दी गई है।[५] वाल्मीकि की जन्मकथा[६] भी दी गई है।

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ५-११
२. नारदीयपुराण, अध्याय - ७६
३. ,, अध्याय- ७५
४. गरुड़ पुराण - अध्याय १४३, वेंकटेश्वर प्रेस।
५. माहेश्वरखंड, अध्याय ८ (वेंकटेश्वर प्रेस का संस्कर
६. वैष्णव खण्ड - वैशाखमासमाहात्म्य, अध्याय २१

अयोध्यामाहात्म्य के अन्तर्गत राम का स्वधामगमन वर्णित है ।[1] इसके ब्रह्मखण्ड में संक्षिप्त रामकथा है जिसमें सेतुबंध का विशेष वर्णन है । इसके धर्मारण्यखण्ड में राम द्वारा धर्मारण्य की तीर्थयात्रा वर्णित है । चतुरशीतिलिंगमाहात्म्य के अन्तर्गत हनुमान की कथा वर्णित है । 'नागर खंड' में लक्ष्मण का स्वामिद्रोह तथा तपस्या, शनि से दशरथ द्वारा वर प्राप्ति, राम का स्वर्गारोहण आदि वर्णित है । प्रभास खण्ड में रामेश्वर तीर्थ में राम-लक्ष्मण द्वारा शिवप्रतिष्ठा , रावण द्वारा शिव प्रतिष्ठा तथा वाल्मीकि की कथा दी गई है ।

९. पद्मपुराण— इसके पाताल खंड में राम-कथा सम्बन्धी बहुत सामग्री मिलती है । इसके उत्तर खंड में भी रामचरित का पूरा वर्णन किया गया है । सृष्टि खंड में कोई विस्तृत रामचरित नहीं मिलता ।

१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण —इसमें वेदवती-वृत्तान्त के वर्णन के बाद सीता हरण की कथा दी गई है, जिसमें अग्नि के द्वारा एक मायामय सीता की सृष्टि करने का उल्लेख किया गया है ।[2] कृष्ण-जन्म-खण्ड में[3] अहल्योद्धार के वर्णन के प्रसंगवश एक संक्षिप्त रामकथा वर्णित है ।

उप-पुराणों में से भी कुछ में रामकथा मिलती है —

१. नृसिंह पुराण - इसके छ: अध्याय हैं जिनमें वाल्मीकि रामायण के प्रथम ६ ~~अध्याय हैं जिनमें वाल्मीकि रामायण के~~ काण्डों की कथा थोड़े परिवर्तन सहित संक्षिप्त रूप में, दी गई है । इसमें रामनारायण के पूर्णावतार तथा लक्ष्मण शेष के अवतार बताए गए हैं[4]।

२. वह्नि पुराण — इसकी सं० १६४६ की एक हस्तलिपि लंदन में सुरक्षित है ।[5] इसमें विस्तृत रामकथा मिलती है । इसमें बालकाण्ड से लेकर युद्ध-

---

१. अध्याय ६, (वेंकटेश्वर प्रेस का संस्करण)

२. प्रकृति खंड, अध्याय १४

३. अध्याय६२

४. नृसिंह-पुराण, अध्याय- ४७-५२

५. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी कैटलाग, पृ० १२६४ । डा० हाजरा के अनुसार यह प्राचीनकाल का आग्नेय पुराण है, जिसका वर्तमान वैष्णव रूप पांचवीं शताब्दी का है । [illegible]-भाग ५, पृ० [illegible]

काण्ड तक की घटनाओं की वर्णना की गई है।

३. शिव पुराण—में नारद-मोह की कथा[१] सती द्वारा राम की परीक्षा तथा राम का सती से यह कहना कि शंकर की आज्ञा से मैंने अवतार लिया है,[२] वर्णित है।

४. श्रीमद्देवीभागवत पुराण में नवरात्रमाहात्म्य की राम-कथा के अनुसार रामद्वारा शूर्पणखा को निरूपित करने की कथा है। शेष कथा वाल्मीकि रामायण की कथा से मिलती जुलती है। अन्तर यह है कि सीता हरण के बाद, नारद की शिक्षा के अनुसार राम-रावण पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से नवरात्रोपवास करते हैं तब सिंहारूढ़ा देवी भागवती राम को दर्शन देकर रावण पर विजय का आश्वासन देती हैं। तब राम विजया-पूजा करके वानर सेना सहित समुद्र को प्रस्थान करते हैं।

५. महाभागवत पुराण- में एक रामोपाख्यान[३] मिलता है। जिसकी कथावस्तु वाल्मीकि रामायण की कथा के बहुत निकट है। इस कथा की कुछ विशेषताएं हैं। जब देवता रावण-वध करने के लिए विष्णु से अवतार लेने की प्रार्थना करते हैं, विष्णु उनसे कहते हैं कि जब तक देवी लंका में निवास करती है, मैं रावण को पराजित नहीं कर सकता। तब सब मिलकर कैलाश पर देवी के पास जाते हैं। देवी सीता-हरण के कारण लंका को छोड़ देने की प्रतिज्ञा करती हैं तथा शिव हनुमान का रूप धारण कर राम की सहायता करने का वचन देते हैं। युद्ध के वर्णन में राम के देवी से प्रार्थना करने का अनेक स्थलों पर उल्लेख है, अन्त में राम देवी से अमोघ अस्त्र प्राप्त कर रावण को मारने में समर्थ होते हैं। (देखिए अध्याय ४७,६६)।

६. बृहद्धर्मपुराण की रामकथा महाभागवत पुराण से बहुत भिन्न नहीं है।

७. सौर पुराण में पौलस्त्य-संतति[४] तथा सूर्यवंश[५] का वर्णन किया

---

१. सृष्टि खंड- अध्याय ३-४ (वेंकटेश्वर प्रेस)

२. सती खंड - अध्याय २४-२६ ,,

३. अध्याय ३७-३८

४. सौर पुराण ३०।२४-२८

गया है ।

८. कालिका पुराण में ब्रह्मा द्वारा राम की विजय के लिए दुर्गा की पूजा का वर्णन है ।[१] इसमें जनक के हल जोतते समय सीता तथा अन्य दो पुत्रों को प्राप्त करने[२] की कथा दी गई है ।

९. आदि पुराण के "नन्ददृष्ट स्वप्न वर्णन" नामक १६ वें अध्याय में कृष्ण जन्म के पश्चात् नंद के एक स्वप्न का विवरण है, जिसमें एक संक्षिप्त राम-कथा के अतिरिक्त यह भी उल्लिखित है कि नंद ने पूर्व जन्म में भक्ति-पूर्वक भगवान से प्रार्थना की थी जिसके फलस्वरूप रामावतार में तथा अब कृष्णावतार में उनको भगवान के पिता होने का वरदान मिला था ।

१०. कल्कि पुराण में वर्णित राम-कथा में राम-सीता के पूर्वानुराग का वर्णन है ।[3] एक स्थल पर यह भी वर्णित है कि अशोक वन में सीता ने रुक्मिणी व्रत किया था, जिसके फलस्वरूप वे राम से पुनः मिल सकीं ।[४]

साम्प्रदायिक रामायणें -

राम-भक्ति के विकास के साथ-साथ बहुत सी साम्प्रदायिक रामायणों की सृष्टि होने लगी । इनमें अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामायण प्रमुख हैं ।

१. अध्यात्म रामायण में शंकराचार्य के सुप्रसिद्ध वेदान्त के आधार पर रामभक्ति का प्रतिपादन किया गया है तथा वाल्मीकीय राम-कथा को किंचित परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है । रामानन्दी सम्प्रदाय में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई और इसे रामचरित मानस का मुख्य आधार ग्रन्थ भी माना गया । साम्प्रदायिक रामायणों में "अध्यात्म रामायण" सबसे महत्वपूर्ण है ।

---

१. कालिका पुराण, ६२।२०-३८

२. ,, अध्याय ३८

३. कल्किपुराण, ३।३।२६-५८

४. ,, ३।१७।४०

इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में बहुत संदेह है।[१] संभवत: इसकी रचना १४ वीं अथवा १५ वीं शताब्दी में हुई थी। रामानन्द को इसके रचयिता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।[२] रामभक्ति के प्रतिपादन में इस ग्रन्थ का बहुत हाथ रहा है। अवतारवाद की व्यापकता : राम, सीता तथा लक्ष्मण के परब्रह्म, मूल-प्रकृति (योगमाया) तथा शेष के अवतार होने का निरंतर उल्लेख किया गया है। विश्वामित्र, वसिष्ठ, जनक, कौशल्या, कुंभकर्ण, रावण आदि रामावतार के रहस्य से परिचित हैं।

२. अद्भुत रामायण — इसकी भूमिका में समस्त वृत्तान्त वाल्मीकि भरद्वाज-संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सर्ग २ से ८ तक अवतार के कारणों का वर्णन है। सर्ग ६ से १६ तक परशुराम के तेजोभंग से लेकर रावण-वध तथा अयोध्या में प्रत्यागमन तक का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसके अंतिम भाग सर्ग १७ से २७ तक देव-माहात्म्य का अनुकरण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी रचना अध्यात्म रामायण के कुछकाल बाद हुई[३]। 'अद्भुत रामायण' में नारद तथा पर्वत द्वारा विष्णु को दिया हुआ शाप
~~३ आनन्द-रामायण--- आनन्द-रामायण की~~
रामावतार का कारण बताया गया है। इस कथा के अनुसार अंबरीष की पुत्री श्रीमती को भी शाप दिया जाता है। वह जानकी बनकर राक्षस द्वारा हराई जायगी। (सर्ग २-४)। सीता के अवतार की भी एक नई कथा दी गई है कि नारद ने स्वर्ग में अपमानित किए जाने के कारण लक्ष्मी को शाप दिया था, जिसके फलस्वरूप वह मंदोदरी की पुत्री बन गई। (सर्ग ५-८)

३. आनन्द रामायण — आनन्द-रामायण[४] की रचना अध्यात्म रामायण के बाद हुई प्रतीत होती है।[५] इसमें अनेक स्थलों पर अध्यात्म रामायण

---

१. कलकत्ता संस्कृत सिरीज़, भाग ११, भूमिका

२. The authorship of the Adhyatma Ramayan, Journal Ganga Nath Jha, Research Institute, Vol.1, P.215 -239.

३. राम कथा का विकास, डा० कामिल बुल्के- हिन्दी परिषद प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय तथा वे० बी० राघवन: म्युसिक इन दि अद्भुत रामायण, जर्नल म्यूजिक एकैडेमी, भाग १६, पृ० ६६

४. गीताप्रेस नारायण (बम्बई का संस्क

५. रामकथा- डा० कामिल बुल्के, पृ०

के उद्धरण मिलते हैं ।[१] इसमें सविस्तार रामकथा वर्णित है । १. सारकांड में दशरथ-कौशल्या-विवाह का वर्णन है । २. 'यात्राकाण्ड' में वाल्मीकि - रामायण की उत्पत्ति का वृत्तान्त है । ३. 'याग कांड' में राम के एक अश्वमेध का वर्णन है । ४. 'विलासकांड' में सीता का नखशिख वर्णन तथा राम-सीता की दिनचर्या का वर्णन है । ५. जन्मकाण्ड में राम द्वारा सीतात्याग की कथा तथा कुश जन्म और वाल्मीकि द्वारा लव की सृष्टि का वर्णन है ।[२] ६. 'विवाह कांड' में राम लक्ष्मण आदि के आठ पुत्रों के भिन्न भिन्न विवाहों का वर्णन है । ७. राज्यकांड में राम के राज्यशासन का विस्तृत वर्णन है । ८. मनोहरकांड में राम-कथा सम्बन्धी सामग्री नहीं मिलती । ९. पूर्णकाण्ड में कुश के अभिषेक तथा रामादि के वैकुण्ठारोहण की कथा वर्णित है ।

४ तत्व संग्रह रामायण —

इसकी रचना संभवत: १७ वीं श० में राम ब्रह्मानन्द द्वारा हुई थी ।[२] इस रचना में राम कथा के अतिरिक्त रामायण के प्रमुख पात्रों के विषय में प्रचलित कथाओं का संग्रह हुआ है । इस रामायण में राम की दास्य भक्ति के अतिरिक्त कौल रामोपासना का भी उल्लेख हुआ है । राम के परब्रह्मत्व पर भी प्रकाश डाला गया है । इसमें कुछ प्रसंग नवीन हैं (धर्मखंड- जो कि स्कंद पुराण का एक अंश माना जाता है और एक शैव-ग्रन्थ है, से प्रभावित प्रतीत होते हैं) जैसे सीता स्वयंबर में शिव की उपस्थिति, कैकेयी का पश्चाताप, सीता हरण (हस्तरेखा दिखलाने के लिए सीता लक्ष्मण द्वारा खींची हुई रेखा का उल्लंघन करके रावण के पास जाती है), अशोकवन में रावण-सीता संवाद के समय हनूमान का प्रकट होना तथा रावण पर प्रहार करना, मृत्यु द्वारा माया सीता का रूप धारण करना । 'तत्वसंग्रह रामायण' की अन्य विशेषता है कि सुतीक्ष्ण के आश्रम से विदा लेते समय सीता भूमि-देवी से रत्नजटित पादुकाओं का एक जोड़ा ग्रहण करती है, उन्हें पहन कर राम पाद-पीड़ा तथा भूख से मुक्त होंगे (३,६) । इसमें माया-सीता का वृत्तान्त भी है, जिसके अनुसार

---

१. महाराष्ट्रीय : श्री रामायण समालोचना, भाग २, पृ० ४२५

२. रामकथा- कामिल बुल्के, पृ० १७५ (द्वितीय संस्करण, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

वास्तविक सीता राम के वक्षस्थल में छिप जाती हैं (३,६३) । इसमें सीता द्वारा शतानन रावण का वध भी वर्णित है (७,१-८) ।

संस्कृत ललित साहित्य में राम-कथा -

संस्कृत के ललित साहित्य के अन्तर्गत रघुवंश, रावणावह अथवा सेतुबंध, भट्टिकाव्य अथवा रावण वध, जानकी हरण, अभिनंद कृत रामचरित, रामायण मंजरी, दशावतार चरित, उदारराघव, जानकी परिणय, रामलिंगामृत और राघवोल्लास उल्लेखनीय हैं ।

१. रघुवंश-- कालिदास कृत रघुवंश (४०० ई० के लगभग) का कथानक मुख्यतया वाल्मीकि रामायण पर आधारित है । 'रघुवंश' के नवम सर्ग में दशरथ के राज्य के वर्णन के अन्तर्गत मुनि पुत्र-वध का वर्णन मिलता है । इसके बाद समस्त रामचरित का छः सर्गों में वर्णन किया गया है । 'रघुवंश' में सीता-त्याग, कुश-लव जन्म, शम्बूक वध, लक्ष्मण मरण तथा स्वर्गारोहण का वर्णन है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास प्रचलित वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड से परिचित थे ।

२. रावणावह अथवा सेतुबंध --इसका रचनाकाल प्रायः छठवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है ।[1] इसके रचयिता के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं ।[2] इस ग्रन्थ में पन्द्रह सर्गों के अन्तर्गत 'वाल्मीकि-रामायण' के युद्धकाण्ड की कथा-वस्तु का अलंकृत शैली में वर्णन मिलता है ।[3]

३. भट्टिकाव्य अथवा रावण वध[4]--(५००-६५०) इसके २२ सर्गों में व्याकरण के नियमों के निरूपण के साथ-साथ वाल्मीकि कृत रामायण के

---

१. राम-कथा - डा० कामिल बुल्के, पृ० १६२ (द्वितीय संस्करण १९५०, प्रयाग
२. दि क्लासिकल एज, पृ० १८२-१८४
३. राजकमल प्रकाशन ने डा० रघुवंश का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है ।
४. रामकथा - डा० कामिल बुल्के, पृ० १६३

प्रथम छः काण्डों की कथावस्तु का थोड़े परिवर्तन के साथ वर्णन किया गया है। इसमें दशरथ के शिव होने का उल्लेख है (सर्ग १,२)। केवल राम तथा सीता के विवाह का उल्लेख है (सर्ग २।४३)। इसमें लक्ष्मण सीता को शाप देते हैं (सर्ग ५,६०)।

४. जानकीहरण (८०० ई० के लगभग) —कुमारदास कृत 'जानकीहरण' की कथावस्तु 'वाल्मीकि-रामायण' के प्रथम छः काण्डों पर निर्भर है। इसमें केवल राम के विवाह का वर्णन है परन्तु अन्य भाइयों के विवाह का भी निर्देश मिलता है।[1] प्रथम सर्ग में दशरथ-राज्य-वर्णन के अन्तर्गत उनके हिमालय में मृगया खेलने तथा मुनि-पुत्रवध करने का थोड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।[2] इस रचना में शृंगारात्मक वर्णन को पर्याप्त स्थान दिया गया है। इसमें राम-सीता के पूर्वानुराग का वर्णन है (सर्ग ७,१-३४)।

५. रामचरित –(नवीं शताब्दी) –अभिनंदकृत 'रामचरित' में ३६ सर्गों के अन्तर्गत राम-लक्ष्मण के प्रस्रवण पर्वत के वर्षा निवास से कुंभ-निकुंभ वध तक की वाल्मीकीय रामकथा का वर्णन संक्षेप में मिलता है। भीम नामक कवि ने चार सर्गों का एक परिशिष्ट लिख कर युद्धकाण्ड की कथावस्तु को पूरा किया है।

६. रामायण मंजरि –कश्मीर-निवासी कवि क्षेमेन्द्र ने १०३७ ई० में वाल्मीकि-रामायण के पश्चिमोत्तर पाठ की कथा का ५३८६ श्लोकों में वर्णन किया था। इस ग्रन्थ का नाम रामायणमंजरी रखा था। इसमें कोई नवीनता अथवा मौलिकता नहीं है।

७. दशावतारचरित – क्षेमेन्द्र ने ही अपने एक अन्य ग्रन्थ 'दशावतार चरित' में रामावतार का एक नवीन रूप रखा है। इसकी रचना १०६६ ई० के लगभग हुई थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें समस्त वर्णन रावण के दृष्टि-कोण से किया गया है।

---

१. जानकीहरण – सर्ग १
२. जानकीहरण – १।५५-८०

८. उदारराघव —इस काव्य की रचना १४ वीं श० के मध्य साक-ल्यमल्ल नामक कवि के द्वारा हुई थी । इस रचना का विस्तार १८ सर्गों का बताया जाता है लेकिन इसके नौ सर्ग ही प्रकाशित हैं । इसमें शूपर्णखा - विरूपण तक की कथा वर्णित है । इसकी कथा वाल्मीकि-रामायण के आधार पर है । इसमें राम विष्णु के पूर्णावतार माने गये हैं । तथा लक्ष्मण , भरत और शत्रुघ्न क्रमश: शेष-सुदर्शन-शंख के अंशावतार ।

९. जानकी-परिणय— यह चक्र कवि द्वारा रचित है । इसका समय १७ वीं श०ई० माना गया है । इसमें वाल्मीकि रामायण के आधार पर दश-रथ-यज्ञ से लेकर परशुराम-तेजोभंग तक की प्रधान घटनाओं का आठ सर्गों में वर्णन किया गया है ।

१०. रामलिंगामृत[1] —इस काव्य की रचना बनारस निवासी अद्वैत नामक कवि के द्वारा हुई थी । इसका रचनाकाल सन् १६०८ ई० है । हिन्दी स साहित्य में इसका महत्व माना गया है क्योंकि इसी समय गोस्वामी तुलसीदास भी बनारस में थे । इसमें सविस्तार राम-कथा वर्णित है । राम के जन्म से लेकर रावण-वध तथा राम राज्याभिषेक तक की कथा इसमें दी गई है । वाल्मीकि-रामायण के आधार पर सीता-त्याग और लवकुश की कथा भी इसमें वर्णित है ।

११. राघवोल्लास —इस काव्य का विस्तृत परिचय श्री राघव प्रसाद पाण्डेय ने दिया है ।[2] इस महाकाव्य की रचना भी अद्वैत नामक सन्यासी के द्वारा वाराणसी में हुई थी । इस महाकाव्य की हस्तलिपि लंदन में सुरक्षित है ।[3] इसके तीन प्रारंभिक सर्ग अप्राप्य हैं । शेष नौ सर्गों में लगभग १००० छंद

---

१. रामलिंगामृत की हस्तलिपि , लंदन में सुरक्षित है । इंडिया आफिस कैटलाग, नं० ३६२० ।

२. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७०२ तुलसीदासकालीन राघवोल्लास काव्य, राघवप्रसाद पाण्डेय ।

३. इसकी माइक्रोफिल्म डा० कामिल बुल्के के पास सुरक्षित है ।

हैं। रामचरित मानस की भाँति इसमें मर्यादित शृंगार है। इसका कथानक रामजन्म पर समाप्त हो जाता है।

नाटक साहित्य में राम-कथा —

१. प्रतिमा नाटक — इसे भास कृत माना गया है। परन्तु यह भी सन्देह है कि दक्षिण-भारत-निवासी अन्य कवि द्वारा कालिदास के काफी बाद इसकी रचना हुई है।[1] इसके सात अंकों में वाल्मीकीय अयोध्याकांड की कथावस्तु तथा सीताहरण का वृत्तान्त वर्णित है। इसमें राम को मनुष्य के रूप में देखा गया है।

२. अभिषेक नाटक —इसे भी भास कृत न मान कर दक्षिण भारत निवासी किसी अन्य कवि कृत मानने का तर्क है।[2] इसमें वाल्मीकि रामायण पर आधारित बालिवध से लेकर राम-राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। इसमें वाल्मीकि रामायण की कथा से बहुत कम परिवर्तन किया गया है। इसमें राम के विष्णुत्व का अनेक स्थलों पर उल्लेख है।

३. महावीर चरित (आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्वार्द्ध) — भवभूति - कृत "महावीर चरित" में सात अंकों के अन्तर्गत राम-सीता-विवाह से लेकर राम-राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन कतिपय परिवर्तन के साथ किया गया है। वाल्मीकि-रामायण का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

४. उत्तर रामचरित (आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्वार्द्ध) — भवभूति कृत उत्तर रामचरित में वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड की सामग्री को नवीन रूप में उपस्थित किया गया है। उत्तररामचरित की यह विशेषता है कि कैकेयी

---

१. एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री की आश्चर्य चूड़ामणि की भूमिका, बालमनोरमा सिरीज,मद्रास।

२ वही।

का एक जाली पत्र लेकर शूर्पणखा मंथरा के रूप में मिथिला पहुंचती है । इस पत्र में कैकेयी वर के बल पर राम का वनवास मांगती है । जिसके फलस्वरूप राम भरत को अपनी पादुकाएं देकर मिथिला ही से सीता तथा लक्ष्मण के साथ वन के लिए प्रस्थान करते हैं (अंक ४) ।

४. उदात्तराघव — इसकी रचना संभवत: ८ वीं शताब्दी ईसवी में अनंगहर्ष मायुराज (मातृराज) द्वारा हुई थी । इसके ६ अंकों में राम के निर्वासन से लेकर रावण वध के बाद उनके अयोध्या वापस आने तक की कथा वर्णित है ।[१] इसमें सीता हरण का एक नवीन रूप है । लक्ष्मण कनक-मृग को मारने जाते हैं तथा रावण आश्रम के कुलपति का रूप धारण कर राम और सीता के पास पहुंचता है तथा राम की निंदा करता है क्योंकि उन्होंने तरुण लक्ष्मण को भेज दिया है । उसी समय एक अन्य छद्म-वेषी राक्षस आकर यह समाचार देता है कि कनक-मृग राक्षस में बदल कर लक्ष्मण को ले जा रहा है । इस पर राम सीता को रावण की रक्षा में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता करने जाते हैं ।

५. कुन्दमाला — इस पर भवभूति का प्रभाव स्पष्ट है । इसकी रचना उत्तर रामचरित के पश्चात् तथा भोजदेव के शृंगार प्रकाश (१०५०) के पूर्व हुई प्रतीत होती है । इसमें कुश-लव - युद्ध को छोड़कर सीता त्याग से राम सीता मिलन तक की कथा वर्णित है ।

६. अनर्घराघव — इसकी रचना ९०० ई० के लगभग मुरारि कवि द्वारा हुई थी । इसमें विश्वामित्र के आगमन से लेकर अयोध्या में राम के राज्याभिषेक तक का वर्णन है । इसमें भी महावीर चरित की भाँति शूर्पणखा मंथरा के वेश में राम के पास जाती है ।

७. बाल रामायण — राम कथा सम्बन्धी सबसे विस्तृत नाटक 'ब 'बालरामायण ' की रचना १० वीं शताब्दी में हुई थी । इसके रचयिता राजशेखर हैं ।

---

१. रामकथा का विकास- कामिल बुल्के, पृ० २०६

८. महानाटक अथवा हनुमन्नाटक – लगभग दसवीं शताब्दी में इसके प्रथम रूप की रचना हुई।[१] परन्तु इसमें १४ वीं शताब्दी तक प्रक्षेप जोड़े गए हैं। इसलिए आजकल इसके दो बहुत भिन्न पाठ प्रचलित हैं। एक दामोदर मिश्र का तथा दूसरा (बंगाल में) मधुसूदन का। दामोदर मिश्र का पाठ मूल रचना के अधिक निकट और प्राचीन है।[२] दामोदर मिश्र के महानाटक में बड़े विस्तार से रामकथा की व्याख्या हुई है।

९. प्रसन्नराघव – महादेव के पुत्र जयदेव ने १२ वीं अथवा १३ वीं शताब्दी में प्रसन्न राघव की रचना की थी। इसमें सीता-स्वयंवर से लेकर राम के रावण-वध के बाद अयोध्या में लौटने तक की कथा सात अंकों में वर्णित है। कथानक के दृष्टिकोण से इसमें निम्नलिखित विशेषताएं मिलती हैं: सीता स्वयंवर में रावण तथा बाणासुर की उपस्थिति और धनुष-संधान करने के निष्फल प्रयत्न। इसी अवसर पर रावण का सीताहरण करने का संकल्प प्रकट करना (अंक १)। दूसरी विशेषता है धनुर्भंग के पूर्व राम और सीता का मिथिला के चंडिकायतन में मिलना (अंक २)।

हिन्दी साहित्य में राम-कथा –

हिन्दी-राम-कथा साहित्य में तुलसीदास का एक प्रकार से एकाधिकार सा है। तुलसी के पूर्व का हिन्दी-राम-साहित्य अधिक विशद नहीं है। रामानन्द के कुछ भक्ति विषयक पद हैं तथा सूरसागर में वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम-कथा के मार्मिक स्थलों पर लगभग १५० पदों की रचना की है।[३] इनमें केवट वृत्तान्त, और राम की सहायता करने जाने के पूर्व लक्ष्मण के द्वारा

---

१. एस०के०दे० दि प्राब्लम आव दि महानाटक, इं०हि०क्वा०, भाग ७, पृ० ५३७
२. ए० एस्टैर, दि एल्डेस्ट वार्शन उस महानाटक, जर्मन ओरियन्टल सोसाइटी, १९२६ ई०
३. सूरसागर- दूसरा खंड, नवम स्कंध, पद ४६०-६१३, ना०प्र०सभा, काशी।

कुटी के चारों ओर रेखा खींचने का उल्लेख हुआ है । पृथ्वीराजरासो के द्वितीय समय में राम-कथा के लगभग १०० छंद मिलते हैं । अग्रदास और नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे । अग्रदास के 'अष्टयाम' में राम की रासक्रीड़ा का वर्णन है । अग्रदास के शिष्य नाभादास ने भी सीता-राम-चरित को लेकर 'अष्टयाम' की रचना की है । तुलसीदास के समकालीन केशवदास की 'राम-चन्द्रिका' भी उल्लेखनीय है । इसमें प्रबंधात्मकता तो नहीं है परन्तु कथानक की दृष्टि से विशेष है । इसमें संक्षेप में पूरी रामकथा वर्णित है ।

तुलसीदास -- तुलसीदास कृत सभी रचनाएं उनके इष्टदेव राम से सम्बन्धित हैं । इन सब में रामचरित मानस का स्थान सर्वोपरि है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही लगभग सारी कथा है । केवल सीता-त्याग और लव-कुश की कथा इसमें नहीं है । तुलसी ने सीता-त्याग तथा लव-कुश-जन्म की कथा 'रामाज्ञाप्रश्न' तथा 'गीतावली' में दी है । रामचरित-मानस की कथा यद्यपि वाल्मीकि के अनुसार ही है, परन्तु आध्यात्मिक विचारों की दृष्टि से इस पर 'अध्यात्म-रामायण' का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है ।

केशवदास की रामचंद्रिका में भी राम-कथा है, परन्तु उसमें कोई प्रबंधात्मकता नहीं मिलती । कथानक की दृष्टि से भी 'रामचरित मानस' से इसमें कई स्थलों पर भिन्नता है ।

आधुनिक काल में पुरानी धारा के कवियों ने रामभक्ति-परक मुक्तक काव्य के अतिरिक्त प्रबन्ध काव्यों की भी रचना की है, उदाहरणार्थ रसिक - बिहारी का 'रामरसायन' , रघुनाथ दास का 'विश्राम सागर' , रघुराजसिंह का 'रामस्वयंबर', बाघेली कुंवरि का अवध-विलास आदि ।

खड़ी बोली का राम काव्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है । रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि (सन् १९२० ई०), मैथिलीशरण गुप्त का साकेत (सन् १९२६ ई०,), अयोध्या सिंह उपाध्याय का वैदेही वनवास (१९३९ई०) बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत संत' (१९४६ ई०),

---

१. सूरसागर, दूसरा खंड, नवम स्कंध, पद ४६०- ६१३ नागरी प्रचा०सभा काशी

केदारनाथ मिश्र का 'कैकेयी' (१९५० ई०) आदि महाकाव्य अपना साहित्यिक मूल्य रखते हैं।

(ख) मैथिलीशरण गुप्त के राम-काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत —

गुप्त जी के 'साकेत', 'पंचवटी' और 'प्रदक्षिणा' ये तीन मौलिक काव्य रामकथा से सम्बन्धित हैं। गुप्त जी राम-भक्त थे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन्होंने वाल्मीकि रामायण, आनन्द रामायण, अध्यात्मरामायण, रघुवंश आदि प्राचीन राम साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। अतः अपने रामकाव्यों की अंतर्कथाओं के स्रोत भी उन्हीं प्राचीन राम-कथाओं से लिए हैं। परन्तु 'साकेत' की कथा में पर्याप्त मौलिकता है। प्राचीन स्रोतों को ज्यों का त्यों नहीं ले लिया गया है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि 'साकेत' में कवि का उद्देश्य राम-कथा का वर्णन करते हुए उर्मिला के चरित्र को उभारना तथा कैकेयी के दोष का निवारण करना है। अतः ये प्रसंग ही विस्तार और महत्व पा सके हैं। राम-कथा की अन्य अन्तर्कथाओं का वर्णन कवि ने कुवल राम-कथा पूरी करने के लिए अत्यधिक संक्षेप में किया है।

उर्मिला और कैकेयी से सम्बन्धित प्रसंग, संजीवनी बूटी का प्रसंग, अयोध्यावासियों की रणसज्जा, वशिष्ठ मुनि द्वारा अयोध्यावासियों को दिव्य दृष्टि देने का प्रसंग आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें कवि ने प्राचीन स्रोतों के साथ साथ पर्याप्त मौलिकता रखी है और इन्हीं प्रसंगों के लिए 'साकेत' की कथा की रचना भी हुई है।

'पंचवटी' में विशेष रूप से शूर्पणखा विरूपण की कथा को कवि ने प्राचीनता और नवीनता के सम्मिलन से वर्णित किया है। 'प्रदक्षिणा' में बहुत ही शीघ्रता में लगभग सम्पूर्ण राम-कथा कही गई है। नीचे राम काव्य की अन्तर्कथाओं के मूल स्रोतों और उनकी रचना में कवि के मौलिक दृष्टिकोण का अध्ययन किया जायगा।

'साकेत' की अन्तर्कथाएं और उनके स्रोत —

१. लक्ष्मण उर्मिला का प्रेमी जीवन

प्रारम्भ में ही इस नव दम्पति के हास-परिहास, एकांत विलास और दाम्पत्य प्रेम की अनुपम झांकी प्रस्तुत की गई है। 'रामायण' आदि प्राचीन राम-कथा काव्यों में लक्ष्मण-उर्मिला की विनोद वार्ता और हास परिहास का कोई चित्र उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में गुप्त जी ने प्राचीन राम-कथा में इस प्रसंग का अवतरण करके 'साकेत' की रचना में रसात्मकता की अभिवृद्धि की है। अत: यह 'साकेत' की एक नवीन उद्भावना है। इसके स्रोत प्राचीन राम-कथा में कहीं भी प्राप्त नहीं होते।

३. कैकेयी-मंथरा संवाद —

'साकेत' में यह प्रसंग अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसका स्रोत प्राचीन ग्रन्थों में पर्याप्त स्पष्टता से प्राप्त होता है। वाल्मीकि कृत रामायण में कैकेयी भरत और राम में कोई विशेष भेद नहीं देखतीं। वे कहती हैं — मैं राम और भरत में कोई विशेष भेद नहीं देखती — अत: महाराज यदि राम को राज्य देते हैं, तो मुझे उनके इस कार्य से संतोष है :—

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ।।३५।।[१]

कैकेयी मंथरा से यह भी कहती है कि — हे मंथरे ! तू इस उत्सव के समय, जिससे सबका कल्याण होगा, क्यों गली जाती है ? यथा —

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते वर्तमाने च मन्थरे ।
भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ।।१७।२

मंथरा कैकेयी को मन की साफ और दशरथ को धूर्त बताती है। वह कहती है कि 'तेरा पति दिखाने को तो बड़ा सत्यवादी बना हुआ है, किन्तु भीतर से महा धूर्त है। वह बोलता मधुर है, किन्तु मन उसका बड़ा कठोर है। तू मन की साफ है, इसी से तेरे ऊपर यह विपत्ति आई है —

---

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७, पृ० ७३ (रामनारा०, प्रयाग)
२. ,, ,, सर्ग ८ ,,

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुण: ।
शुद्ध भावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता ।।२४।।[1]

वह आगे कहती है कि उस दुष्टात्मा ने भरत को तो तेरे माता-पिता के घर भेज दिया और वह अब निष्कण्टक राजसिंहासन पर कल प्रात:काल राम का अभिषेक करना चाहता है । यथा —

अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ।।२६।।[2]

वाल्मीकि रामायण में मंथरा के कैकेयी के भड़काए जाने का कोई कारण नहीं दिया गया है । साथ ही उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पहले कैकेयी को राम और भरत का समान प्रिय थे । मंथरा के भड़काने पर कैकेई उसे ही दोष देती है । परन्तु फिर जब मंथरा यह कहती है कि राजा दशरथ दुष्टात्मा है और उसने भरत को ननिहाल भेद कर कल राम को राज्य देने का निर्णय किया है, तो कैकेयी के हृदय में भी शंका हो जाती है ।

'महाभारत' के रामोपाख्यान[3] में जब राम की सहायता करने के लिए देवताओं द्वारा ऋक्षों तथा वानरों की स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न करने का उल्लेख किया गया है, गंधर्वी दुंदुभी के मंथरा के रूप में प्रकट होने की चर्चा मिलती है । इसी प्रकार पद्म पुराण के पाताल खंड के गौड़ीय पाठ[4] और आनन्द रामायण[5] में भी इसका उल्लेख किया गया है ।

'अध्यात्म रामायण'[6] और 'आनंद रामायण'[7] में मंथरा को मोहित करने के लिए सरस्वती के भेजे जाने का वर्णन मिलता है । यह वर्णन

---

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७ (प्रका०रामना०,प्रयाग)
२. " " "
३. महाभारत,रामोपाख्यान , ३।२६०।१० (गीता प्रेस,गोरखपुर)
४. अध्याय १५
५. आनन्द रामायण १।२।२ (गोपाल नारायण (बंबई) का संस्करण
६. अध्यात्म रामायण, २।२।४४ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
७. आनन्द रामायण , १।६।४१ (गोपाल नारायण (बम्बई) का संस्क

वाल्मीकिरामायण तथा रामोपाख्यान में नहीं मिलता ।

'रामचरित-मानस' में कैकेयी-मंथरा संवाद वर्णित है । मंथरा राम के राज्याभिषेक की तैयारी को देखकर त्रियाचरित्र करती है । उसे उदास देख कर कैकेई हँस कर उसकी उदासी का कारण पूछती है -- का अनमनि हसि कह हँसि रानी' । परंतु मंथरा कोई उत्तर नहीं देती --'उतरु देइ नहिं लेइ उसासु' । फिर कैकेयी के बारम्बार पूछने पर वह कहती है --

' रामहि छाँडि कुसल केहि आजू । जेहि जनेसु देइ जुबराजू ।।'[१]

मंथरा भरत और राम में भेद बताती है । कैकेयी एकाएक इस भेद को मानने के लिएतैयार नहीं होती । वह तो समझती है कि राम को सभी माताएं कौशल्या के समान ही प्यारी हैं । वरन वह तो यहां तक समझती हैं कि उन पर राम का प्रेम और भी अधिक है । यथा --

' कौसल्या सम सब महतारी । रामहि सहज सुभाय पियारी ।
मोपर करहिं सनेहु बिसेषी । मैं करि प्रीति परीछा देखी ।।[२] '

'रामचरित मानस' में मंथरा स्वयं को दोष देकर कैकेयी को प्रभावित करने का प्रयत्न करती है । यथा--

' जारइ जोगु सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।
तातें कछुक बात अनुसारी । छमिय देबि बड़ि चूक हमारी ।।[३] '

'वाल्मीकि रामायण' की ही भांति'मानस' की मंथरा भी कैकेई को भोली बताती है और राजा दशरथ को मन का मैला । यथा--

' तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ ।
मन मलीन मुहु मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ ।।'[४]

'मानस' की मंथरा' वाल्मीकि रामायण' की मंथरा की ही भांति भरत को ननिहाल भेज कर राम का राज्याभिषेक करने की बात भी कैकेयी से कहती है ।

---

१. रामचरित मानस- अयोध्याकांड, पृ० ३६३ (नागरी प्रचा०सभा,काशी)
२. वही, १५।३, पृ० ३६४ ,,
३. वही, १६।४, पृ० ३६५ ,,
४. वही, पृ० ३६६ ,,

वह कहती है कि दशरथ और चतुर कौशल्या ने मिलकर षड्यंत्र किया है -
भरत को ननिहाल भेजकर राम का राजतिलक करने का निश्चय किया है। यथा-

चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी।।
पठये भरतु भूप ननिअउरे। राम-मातु मत जानब रउरे।।

रचि प्रपंचु भूपहिं अपनाई। राम तिलक-हित लगन लगाई।।[१]

'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरित मानस' की ही भाँति 'साकेत' की कैकेयी भी स्वभावत: कुटिल नहीं है। मंथरा उसे भाँति-भाँति से भड़काने और उकसाने का प्रयत्न करती है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी को देखकर मंथरा उदास हो जाती है। उसे उदास देखकर कैकेयी उससे उसकी उदासी का कारण पूछती है। मंथरा कैकेयी के भोलेपन को देख कर अपना कपाल ठोंकती है और कहती है -'हो गया भोलेपन का अन्त।' परंतु कैकेयी उसका आशय नहीं समझती और पुन: कहती है -

" वचन तू क्यों कहती है वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?"[२]

'साकेत' की कैकेयी भी राम और भरत में भेद नहीं समझती। वह कहती है - " भला दोनों में है क्या भेद ?" परंतु कुटिल मंथरा दोनों में भेद बतलाते हुए कहती है -

" राजमाता जब होंगी एक
दूसरी देखेंगी अभिषेक।"[३]

कैकेयी का सरल हृदय इस बात को नहीं मानता। वह कहती है -

"राम की माँ क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज ?"[४]

---

१. रामचरित मानस,अयोध्याकांड, पृ० ३६७ (नागरी प्रचारिणी सभा,काशी)
२. साकेत,द्वितीय सर्ग, पृ० ४४ (२०२१ वि०साहित्य सदन चिरगाँव,झाँसी)
३. ,, ,, पृ० ४५ ,,
४. ,, ,, पृ० ४५ ,,

'साकेत' की मंथरा भी 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'मानस' की मंथरा की भाँति इस बात को कहती है कि आप तो भोली हैं, ऐसा भोलापन व्यर्थ है। भरत को घर से निकाल कर उनके पीछे दशरथ राम को राज्य दे रहे हैं। यथा -

'सरलता भी ऐसी है व्यर्थ,
समझ जो सके न अर्थानर्थ
भरत को करके घर से त्याज्य
रामको देते हैं नृप राज्य।'[1]

'साकेत' में मंथरा जो यह बात कहती है कि भरत को घर से निकाल कर राजा, राम का राज्याभिषेक कर रहे हैं, इसके मूल स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'मानस' दोनों में हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित किया जा चुका है। परन्तु 'साकेत' में कवि ने कैकेयी की बुद्धि को भ्रमित करने वाली इसी बात को बड़े ही मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रित किया है। वह बार बार यही सोचने लगती है -

" भरत से सुत पर भी संदेह
बुलाया तक न उन्हे जो गेह।"[2]

और -

" पवन भी मानो उसी प्रकार
शून्य में करने लगा पुकार -
'भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"[3]

इस समय कैकेयी के कानों में मंथरा की यही बात तीर के समान लगती थी -

" गूंजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान-

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ४६-४७ (२०२१ वि०, साहित्य सदन, चिरगाँव,
२. ,, ,, पृ० ४६ ,, झाँसी)
३. ,, ,, पृ० ४६ ,,

भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।"[१]

'साकेत' की कैकेयी तो यहाँ तक सोचने लगती है कि –

" न थी हम माँ-बेटे की चाह,
आह ! तो खुली न थी क्या राह !
मुझे भी भाई के घर नाथ,
भेज क्यों दिया न सुत के साथ ?"[२]

'साकेत' में कैकेयी के बुद्धि भ्रमित होने का बड़ा मनोवैज्ञानिक विकास दिखाया गया है ।

'साकेत' में जब प्रारंभ में मंथरा एकाएक कैकेयी को प्रभावित नहीं कर पाती है तो स्वयं को दोष देने लगती है । वह कहती है –

"लगे इस मेरे मुँह में आग !
मुझे क्या मैं होती हूँ कौन ?
नहीं रहती हूँ फिर क्यों मौन ?
देख कर किन्तु स्वामि हित घात
निकल ही जाती है कुछ बात ।"[३]

और

" क्षमा हो मेरा यह अपराध ।
स्वामि - सम्मुख सेवक या भृत्य,
आप ही अपराधी हैं नित्य ।
दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ,
कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?"[४]

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ४६ (२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० ५० ,, ,,
३. ,, ,, पृ० ४६ ,, ,,
४. ,, ,, पृ० ४८ ,, ,,

इसका मूल आधार 'रामचरित मानस' है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। 'वाल्मीकि रामायण' में यह वर्णन नहीं मिलता।

अन्त में यह स्पष्ट हो जाता है कि साकेत में वर्णित कैकेयी-मंथरा-संवाद के मूलस्रोत वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस में प्राप्त होते हैं। 'आनन्द रामायण', अध्यात्म रामायण' तथा' रामचरित मानस' में सरस्वती द्वारा मंथरा की बुद्धि भ्रमित करवाने का वर्णन मिलता है। परन्तु 'साकेत' में ऐसा नहीं है। किसी दैवीशक्ति द्वारा मंथरा की बुद्धि को भ्रमित न करवा कर, मनोवैज्ञानिक ढंग से ही यह कार्य करवाना कवि ने अधिक श्रेष्ठ समझा है।

२. राजा दशरथ को अंध मुनि का शाप –

'साकेत' में राजा दशरथ को अंधमुनि के द्वारा शाप दिए जाने की अन्तर्कथा भी वर्णित है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर राजा दशरथ कुल गुरुओं के साथ बैठे थे और भरत की अनुपस्थिति विषयक वार्तालाप चल रहा था। इसी समय राजा दशरथ को वह घटना याद आ जाती है जबकि उन्होंने मुनि-पुत्र को धोखे से बाण मार दिया था और तब उसके अंधे पिता (अंधमुनि) ने उन्हें शाप दिया था कि तुम्हारी मृत्यु पुत्र वियोग से ही होगी। दशरथ उस शाप का वर्णन इस प्रकार करते हैं –

" मार कर धोखे में मुनि-बाल
हुआ था मुझको शाप कराल।
कि तुमको भी निज पुत्र-वियोग
बनेगा प्राण-विनाशक रोग।"[१]

साकेत की प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत प्राचीन राम कथाओं में विस्तार से प्राप्त है।

वाल्मीकि रामायण में दशरथ राम के निर्वासन के पश्चात् कौशल्या को अपनी मृत्यु के कारण के विषय में निम्नलिखित कथा सुनाते हैं– "मैं तुमसे विवाह करने के पूर्व किसी समय रात्रि में सरयू के तीर पर मृगया खेलने

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ५८-५९ (२०२१ वि०)

गया था । उस समय एक तपस्वी अपने अन्धे माता-पिता के लिए घड़े में पानी भरने आया था । पानी भरने की ध्वनि मुझे सुनाई पड़ी । मुझे हाथी का भ्रम हुआ और मैंने उसे शब्दवेधी बाण से आहत कर दिया । जब मैं उस तपस्वी का विलाप सुनकर उसके समीप पहुँचा तो उसने अपना परिचय दिया । उसने मुझे अपने आश्रम का पता बताया और मुझसे निवेदन किया कि मैं उसके शरीर से बाण निकाल लूं । मेरे बाण निकालते ही वह मर गया । तब मैं जल भरा घड़ा लेकर उसके अंधे माता-पिता के पास आया और दुर्घटना का समाचार सुनाया । उसके माता-पिता के अनुरोध करने पर मैं उन्हें उनके पुत्र के पास ले गया और उन्होंने पुत्र की उदकक्रिया को सम्पन्न किया । उसके बाद ही वह दिव्य रूप धारण कर एक विमान पर दिखाई पड़ा था तथा अपने माता-पिता को शीघ्र ही अपने पास आने का निमंत्रण देकर स्वर्ग चला गया । इसके पश्चात अन्ध मुनि ने मुझे शाप दिया और अपनी पत्नी के साथ चिता की अग्नि में प्रवेश कर गया । अंध मुनि ने शाप देते हुए कहा - हे राजन मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्र शोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी -

पुत्रव्यसनजं दुःख यदेतन् मम साम्प्रतम् ।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् काल गमिष्यसि ।।५५।।[१]

वाल्मीकि रामायण में मुनि पुत्र का नाम नहीं बताया गया है । 'आनन्द रामायण' में उसका नाम 'श्रवण' दिया गया है ।[२] 'ब्रह्मपुराण' में 'श्रवणकुमार' नाम बताया गया है ।[३]

कालिदास कृत 'रघुवंश' में 'साकेत' की यह अन्तर्कथा विस्तारपूर्वक वर्णित है । एक दिन राजा दशरथ जंगल में एक मृग का पीछा करते हुए तमसा नदी के किनारे पहुंच गए । वहां तपस्वियों के आश्रम थे । वहां उस समय कोई जल में घड़ा भर रहा था । उसकी ध्वनि से दशरथ ने हाथी का अनुमान लगाया और उसको लक्ष्यकर शब्दवेधी बाण चला दिया । तत्काल कोई चिल्ला पड़ा

---

१. वाल्मीकि रामायण , २।६४।५५(रामनारायणलाल,प्रयाग)
२. आनन्द रामायण १।१।८८ (गोपालनारायण(बम्बई) का संस्करण
३. ब्रह्मपुराण अध्याय १२३

'हाय पिता' । यह सुन कर राजा दशरथ ने उसे ढूंढ़ा । उनके बाण से आहत एक मुनि पुत्र घड़े पर झुका पड़ा था । राजा दशरथ ने उससे उसका वंश परिचय पूछा । उसने बताया कि उसके पिता वैश्य और माता शूद्रा हैं । तदनन्तर उसने दशरथ से कहा कि मुझे मेरे अंधे माता-पिता के पास ले चलो । दशरथ ने बाण से बिंधे हुए मुनि पुत्र को उठाया और उसके माता-पिता के पास ले चले । वहां राजा ने बता दिया कि मैंने भूल से आपके इकलौते पुत्र पर बाण चला दिया । यह सुनते ही दोनों विलाप करने लगे और उन्होंने राजा को आज्ञा दी कि मेरे पुत्र की छाती से बाण निकाल लो । बाण निकालते ही मुनि-पुत्र के प्राण निकल गए । तब उस बूढ़े तपस्वी ने अपने अश्रुओं से अंजली भर कर राजा दशरथ को शाप देते हुए कहा कि हे राजन् ! जाओ तुम भी हमारे ही समान बुढ़ापे में पुत्रशोक से मरोगे । शाप देकर वे मुनि शांत हो गए । तब राजा दशरथ ने कहा कि हे मुनि ! मुझे तो आज तक पुत्र के मुख का दर्शन ही नहीं हुआ है । इसलिए मैं आपके शाप को भी वरदान समझता हूं क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा ।[१]

'साकेत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' और कालिदास कृत 'रघुवंश' में प्राप्त होते हैं । आधार ग्रन्थों में यह कथा पर्याप्त विस्तारपूर्वक वर्णित है । 'साकेत' में यह कथा विस्तार से नहीं वर्णित है वरन इसका कथन मात्र हुआ है । अनावश्यक विस्तार के भय से ही कवि ने ऐसा किया प्रतीत होता है ।

४ दो वरों की कथा —

'साकेत' में राजा दशरथ कुपित कैकेयी को मनाते हुए दो वरों के देने की बात कहते हैं । वे कैकेयी को युद्ध का वह वृत्तान्त याद दिलाते हैं जब कि कैकेयी के द्वारा उन्हें युद्ध में विजय भी मिली थी और उनकी रक्षा भी हुई थी । यथा —

---

१. रघुवंश- कालिदास ६।७२-८० (पं० पंडित पुस्तकालय, काशी)

" तुम्हें पहले ही दो वरदान
प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान ?
याद है वह संवर-रण-रंग,
विजय जब मिली व्रणों के संग ?
किया था किसने मेरा त्राण ?
विकल क्यों करती हो अब प्राण ?"[१]

'साकेत' की इस अंतर्कथा के स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण' में मिलते हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार देवासुर-युद्ध में दशरथ, इन्द्र के लिए, शम्बरासुर के विरुद्ध युद्ध करते हैं तथा आहत होकर कैकेयी द्वारा रणभूमि से हटाए जाते हैं। इसके लिए कैकेयी दशरथ से दो वर प्राप्त करती है, और बाद में इन दोनों वरों के बल पर भरत के लिए राज्य तथा राम के लिए वनवास माँग लेती है। कैकेयी को उकसाते समय मंथरा यह वृत्तान्त कैकेयी को स्मरण कराती है। वह कहती है - " एक समय जब तुम्हारे पति देवासुर-संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गए थे, तब तुझे भी अपने साथ ले गए थे। दक्षिण में दण्डक वन के पास वैजयन्त नामक एक पुर था, वहाँ के राजा तिमिध्वज थे। वे सैकड़ों माया जानते थे और शम्बर के नाम से विख्यात थे और उन्हें देवता नहीं जीत सके थे। उन्होंने इन्द्र के साथ युद्ध छेड़ा। ... वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया। राक्षसों ने भी महाराज को बहुत घायल कर डाला। जब राजा मूर्च्छित हो गए तब तू रण-क्षेत्र से उनको बाहर ले आई। जब वहाँ भी उनपर प्रहार होने लगे, तब बड़े यत्न से तूने अपने पति की रक्षा की। उस समय तेरे पति ने तुझ पर प्रसन्न होकर तुझको दो वर दिए और कहा जो इच्छा हो सो माँग। तब तूने कहा था कि, अच्छा जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगी।"[२]

अन्य राम-कथा सम्बन्धी काव्यों में दो वरदानों की कथा मिलती तो अवश्य है परन्तु वह 'वाल्मीकि रामायण' से भिन्न है। 'ब्रह्म-पुराण' के

---

१. साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ६३ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण, २।९।११-१८ (प्रका० रामनारायणलाल)

अनुसार कैकेयी ने देवासुर युद्ध में रथ का अक्ष टूटा हुआ देख कर उसमें अपना हाथ रख दिया था । दशरथ ने लौटते समय देखा कि कैकेयी क्या कर रही है । इस पर प्रसन्न होकर दशरथ उसको तीन वर प्रदान करते हैं ।[१] 'अध्यात्म-रामायण' में भी लगभग ऐसा ही वर्णन मिलता है ।[२]

जैन ग्रन्थ पउमचरियं के अनुसार कैकेयी ने अपने स्वयंवर के बाद दशरथ का रथ हाँक कर अन्य राजाओं के विरुद्ध दशरथ की सहायता की थी और इस प्रकार एक वर प्राप्त किया था ।(पर्व२४)

'महाभारत' में कैकेयी के केवल एक वर का उल्लेख किया गया है ।[३] परन्तु वह इसी एक वर के बल पर भरत के लिए राज्य तथा राम के लिए बनवास माँग लेती है ।

'भावार्थ रामायण'[४] के अनुसार अंधमुनि के शाप के फलस्वरूप दशरथ के राज्य में अनावृष्टि हुई । दशरथ कैकेयी को साथ ले जाकर इन्द्र के विरुद्ध युद्ध करने गए । युद्ध में शुक्र ने अक्ष तोड़ा किन्तु कैकेयी ने अपनी भुजा से रथ सम्भाला जिससे इन्द्र की पराजय हुई ।

'रामचरित मानस' में कैकेयी को दशरथ द्वारा दो वरों के प्राप्त होने की कथा नहीं है । वहाँ तो केवल मंथरा दो वरों की याद दिलाते हुए कहती है —

> कछु मेरि सुधि अहइ कि नाहीं । स्वामिनि कहिहु कथा मोहिं पाहीं
> दुइ वरदान भूप सन थाती । माँगहु आज जुड़ावहु छाती ।।[५]

इन सब ग्रन्थों में इस कथा के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साकेत' की इस अन्तर्कथा का मूल स्रोत (वाल्मीकि-रामायण' है । 'वाल्मीकि' रामायण' में विस्तारपूर्वक यह कथा वर्णित है, परन्तु 'साकेत' में अनावश्यक विस्तार न होने पाए, इसलिए इस कथा को संक्षेप में कहा गया है । अन्य राम सम्बन्धी ग्रन्थों में इस कथा में बहुत अन्तर है ।

---

१. ब्रह्मपुराण- अध्याय १२३ (आनन्दाश्रम प्रेस,पूना)
२. अध्यात्म रामायण १।१।८५ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
३. महाभारत- ३।२६१।२१ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
४. भावार्थ रामायण १,१
५. रामचरित मानस-अयोध्याकांड, पृ० ३७१ (ना०प्र०,सभा,काशी

५. विदा-प्रसंग-

क. सभी राम-काव्यों में राम-वनवास के प्रसंग में लक्ष्मण द्वारा कैकेयी की भर्त्सना करवाई गई है। राम इस अवसर पर आज्ञाकारी पुत्र के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। 'साकेत' में लक्ष्मण कैकेई को राजा दशरथ के सामने ही भला-बुरा कहते हैं। यथा -

> अरे, मातृत्व तू अब भी जताती,
> ठसक किसको भरत की है बताती ?
> भरत को मार डालूं और तुझको,
> नरक में भी न रक्खूं ठौर तुझको ।[1]

उस अवसर पर वे कैकेयी की प्रताड़णा करते हैं पर भरत को उज्ज्वल-चरित्र और साधु मानते हैं।

'वाल्मीकि-रामायण' में यह वर्णन तो आया है कि राम के साथ-साथ लक्ष्मण भी दशरथ और कैकेयी के पास जाते हैं।[2] परन्तु दशरथ और कैकेयी के सम्मुख लक्ष्मण कुछ भी बात नहीं करते और जब राम वहां से लौटते हैं तो लक्ष्मण आंखों में अश्रु भरे, अत्यन्त क्रुद्ध होकर राम के पीछे पीछे लौटते हैं।[3] अत: लक्ष्मण इस अवसर पर तो कुछ नहीं बोलते, परन्तु कौशल्या के सामने आकर वे राजा दशरथ और कैकेयी दोनों की प्रताड़णा करते हैं। वे क्रोधित होकर यहां तक कहते हैं -

> प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि न: पिता ।
> अमित्रभूतो नि:सङ्गवध्यता बध्यतामपि ।।१२।।[4]

अर्थात् यदि कैकेयी के उभाड़ने से हमारे दुष्ट पिता शत्रु बन जायं तो अवध्य होने पर भी उनको नि:शङ्क हो मार डालना चाहिये।

---

१. साकेत, तृतीय सर्ग, पृ० ७६ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण २।१६।३२,३३(प्रका० रामनारायणलाल,प्रयाग)
३ ,, ,,२।१६।३० ,,
४ ,, २।२१।१२ ,,

'रामचरित मानस' में लक्ष्मण का राम के साथ कैकेयी और दशरथ के पास जाने का वर्णन नहीं है। राम अकेले ही सुमंत्र के बुलाने पर कैकेयी के महल में जाते हैं। अत: लक्ष्मण द्वारा कैकेयी की भर्त्सना का अवसर नहीं आता। जिस समय राम और सीता वन जाने के लिए तैयार हो जाते हैं, उस समय लक्ष्मण को जब यह बात मालूम पड़ती है तो वे राम के चरण पकड़ कर उनके साथ वन जाने का आग्रह करते हैं। इस समय भी लक्ष्मण कैकेयी को भला बुरा नहीं कहते। जिस समय सुमंत्र राम लक्ष्मण और सीता को अयोध्या के बाहर छोड़ कर वापस आने लगते हैं, और राम सुमंत्र से कहते हैं कि तुम ऐसा करना कि पिता हमारे कारण क्लेश न पावें तो लक्ष्मण क्रोधित होकर कुछ कटुवी वाणी कहते हैं। यहां तुलसीदास ने यह नहीं बताया कि लक्ष्मण ने क्या - क्या कहा-वरन यही कह कर रह गये कि -

पुनि कछु लखन कही कटुबानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी।[१]

लक्ष्मण की अनुचित वाणी से राम संकुचित हो गए और उन्होंने सुमंत्र से कहा कि तुम लक्ष्मण का संदेशा मत कहना।

अत: साकेत में लक्ष्मण जो कैकेयी की भर्त्सना करते हैं उसका स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है। वाल्मीकि ने लक्ष्मण का रोष कैकेयी और दशरथ के सामने नहीं प्रकट करवाया है, परन्तु गुप्त जी ने उनके सामने ही लक्ष्मण का क्रोध प्रकट करवा दिया है।

ख· विदा-प्रसंग के अन्तर्गत एक अन्य मार्मिक स्थल वह है जबकि राम कौशल्या से बिदा मांगने जाते हैं। 'साकेत' में जिस समय राम और लक्ष्मण कौशल्या के पास पहुंचते हैं उस समय कौशल्या देवार्चना में लीन थीं। यथा -

' सुख से सद्य: स्नान किये,
पीताम्बर परिधान किये,
पवित्रता में पगी हुईं,
देवार्चन में लगी हुईं।

---

१. मानस- अयोध्याकाण्ड, पृ० ४२६ (ना०प्र०सभा, काशी)

मूर्तिमयी ममता-माया,
कौसल्या कोमलकाया ,
थीं अतिशय आनन्दयुता
पास खड़ी थीं जनक सुता ।"[१]

राम उन्हें अपने अपने वन जाने का समाचार देते हैं -

" माँ ! मैं आज कृतार्थ हुआ,
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ ।
पावन कारक जीवन का,
मुझको वास मिला वन का ।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ,
राज्य करेंगे भरत यहाँ ।"[२]

पहले तो कौशल्या इस बात पर विश्वास ही नहीं करतीं परन्तु जब लक्ष्मण को रोते देखती हैं तो उनका हृदय शंकित हो जाता है । वे इसका कारण पूछती हैं तो लक्ष्मण ही उन्हें बतलाते हैं -

" किन्तु पिता-पण रखने को,
सबको छोड़ बिलखने को,
कर मंझली माँ के मन का,
पथ लेते हैं ये वन का ।"[३]

कौशल्या सब कुछ समझ लेती हैं । वे राम के लिए राज्य नहीं चाहतीं, भरत को ही राज्य मिल जाय । परन्तु वे केवल राम की भिक्षा माँगती हैं । वे कहतीहैं-

" मेरा राम न वन जावे,
यहीं कहीं रहने पावे ।
उनके पैर पकडूँगी मैं,
कह कर यही अड़ूँगी मैं -

---

१. साकेत,चतुर्थ सर्ग, पृ० ६३(२०२१वि०)
२. ,, ,, पृ० ६६ ,,
३. ,, ,, पृ० ६६

भरत राज्य की जड़ न हिले,
मुझे राम की भीख मिले ।"[1]

राम कौशल्या को धैर्य देते हैं और अपना कर्तव्य भी समझाते हैं । अन्त में कौशल्या राम को वन जाने की आज्ञा देते हुए कहती हैं -

" जाओ, तब बेटा ! वन ही,
पाओ नित्य धर्म धन ही ।
जो गौरव लेकर जाओ ,
लेकर वही लौट आओ ।"[2]

इस अवसर पर सुमित्रा का रोष प्रकट हुआ है ।[3] 'साकेत' की कौशल्या की भाँति ही 'वाल्मीकि रामायण' में भी कौशल्या पूजन में लीन हैं, जिस समय कि राम उनके पास पहुँचते हैं । यथा -

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ।।१४[4]

अर्थात् उस समय महारानी कौशल्या रात्रि भर नियम पूर्वक रह प्रातःकाल पुत्र की हितकामना से विष्णु भगवान का पूजन कर रही थी ।

कौशल्या को जब राम अपने वन जाने का समाचार देते हैं तो वे मूर्च्छित हो जाती हैं । राम भाँति भाँति से उन्हें प्रबोधते हैं । कौशल्या कैकेयी की बुराई करती है और घर में अपने अपमानित होते रहने की बात कहती हैं ।[5] वे पहले तो राम को वन जाने से रोकती हैं । यथा -

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्
त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ।।२५ [6]

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० १०० (२०२१ वि०)
२. ,, पृ० १०७-१०८ ,,
३. ,, पृ० १०१-१०२ ,,
४. वाल्मीकि रामायण २।२०।१४ (प्रका० रामनारायणलाल प्रयाग)
५. ,, २।२०।३६ ,,
६. ,, २।२१।२५ ,,

अर्थात्- जिस पूज्य भाव से महाराज तेरे पूज्य हैं उसी भाव से मैं भी तेरी पूज्या हूँ। मैं तुझे वन जाने की अनुमति नहीं देती और कहती हूँ कि वन मत जा।

राम कौशल्या को समझाते हैं।[1] कौशल्या भी राम के साथ ही वन जाने के लिए उद्यत हो जाती हैं। राम केसमझाने पर वे अन्त में राम को वन जाने की आज्ञा दे देती हैं।[2] वे कहती हैं -

अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम्।
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।। ४१।६[3]

अर्थात् - हे बेटा! अब जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ चला जा और तू रोगरहित शरीर से पिता की आज्ञा का पालन कर और फिर अयोध्या को लौट आ।

रामचरित मानस में राम कौशल्या के पास जाकर कहते हैं कि -
"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।"[4]
माता कौशल्या यह समाचार जान कर व्याकुल हो उठती हैं। वे वन जाने का कारण पूछती हैं और राम का रुख पाकर मंत्रिपुत्र पुत्र उन्हें सब कारण बताते हैं। सब समाचार सुन कर कौशल्या धर्म संकट में पड़ जाती हैं। वे यही कहती हैं कि तुम्हें राज्य देने के लिए कहा था और दे दिया वन। इस बात का तो मुझे क्लेश नहीं है। परन्तु दुःख इस बात का है कि तुम्हारे बिना भरत को, महाराजा को और प्रजा को अत्यधिक क्लेश होगा। हे पुत्र! यदि पिता की आज्ञा वन जाने की हो और माता की न हो तो माता को पिता से बड़ा जानकर वन को मत जाओ। हाँ, जो पिता-माता दोनों ने वन जाने की आज्ञा दी हो तो तुम्हारे लिए वन सो अयोध्या के समान है।[5]

इस प्रकार साकेत में राम का कौशल्या से बिदा माँगना और

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।२४।१-३७ (प्रका० रामना०, प्रयाग)
२. ,, २।२५।१-४० ,,
३. ,, २।२५।४१ ,,
४. मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ३६६ (नागरी प्रचा०सभा, काशी)
५. ,, दोहा पृ० ५६, १ चौपाई, पृ० ४०१

कौशल्या के विदा देने का जो प्रसंग है उस पर 'वाल्मीकि रामायण' का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

ग- विदा के समय एक और मार्मिक प्रसंग है, सीता का राम के साथ वन जाने के लिए आग्रह करना और राम का उन्हें समझाना। 'साकेत' में जिस समय राम-लक्ष्मण कौशल्या को वन जाने की बात बताते हैं उस समय सीता वहीं उपस्थित हैं, अतः वे सब कुछ जान लेती हैं। वे मन में सोचती हैं--

" स्वर्ग बनेगा अब वन में,
धर्मचारिणी हूंगी मैं,
वन विहारिणी हूंगी मैं।"[१]

राम के मना करने पर वे कहती हैं कि आपकी अर्द्धांगिनी होने के कारण मेरा भी वन में भाग है और मेरे जाए बिना आपका व्रत भी पूरा नहीं होवेगा। यथा --

" जो गौरव लेकर स्वामी!
होते हो कानन गामी,
उसमें अर्द्ध भाग मेरा,
करो न आज त्याग मेरा।
मातृ-सिद्ध, पितृ-सत्य सभी,
मुझ अर्द्धांगी बिना अभी -
है अर्द्धांग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही।"[२]

'साकेत' की सीता अपने आत्मबल के कारण वन के भय को व्यर्थ समझती हैं --

" वन में क्या भय ही भय है?
मुझको तो जय ही जय है।
यदि अपना आत्मिक बल है
जंगल में भी मंगल है।[३]

'वाल्मीकि रामायण' में सीता को जब राम अपने वनवास की बात बताते हैं तो सीता व्याकुल हो उठती हैं और साथ जाने के लिए भाँति-भाँति के तर्क करती हैं। वे भी कहती हैं कि स्त्री (अर्द्धांगिनी होने के कारण) अपने पति के भाग्य का फल भोगती है। इसलिए मुझे भी महाराज की आज्ञा वन जाने की हो चुकी है। यथा —

भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ।।४।।[1]

'वाल्मीकि रामायण' की सीता अपने को जितेन्द्रिय समझ कर कहती हैं कि उन्हें वन में कोई कष्ट न होगा। यथा —

वनवासे हि जानामि दु:खानि बहुधा किल ।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभि: ।।१२।।[2]

अर्थात्— हे वीर ! मुझे मालूम है कि वनवास में बड़े-बड़े कष्ट होते हैं, किन्तु ये दु:ख होते उन्हीं को हैं जो अजितेन्द्रिय हैं।

'साकेत' की सीता के तर्क 'वाल्मीकि रामायण' की सीता के तर्कों के समान ही प्रतीत होते हैं।

'रामचरित मानस' में भी सीता वन जाने के लिए भाँति भाँति के तर्क देती हैं। वे कहती हैं कि पति बिना सब प्रकार के भोग, रोग के समान और गहने बोझ हैं। जगत में मेरे लिए तुम्हारे बिना सुख देने वाला कहीं कुछ भी नहीं है।

भोग रोगसम भूषन भारू । जम-जातना-सरिस संसारू ।।
प्राणनाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ।

राम-सीता कोवन की भयंकरता बताते हैं परन्तु सीता उन भयंकरताओं से भी भयभीत नहीं होतीं और अन्त में राम उन्हें साथ चलने की आज्ञा दे देते हैं।

इस प्रसंग में वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस, दोनों का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'साकेत' की सीता तर्कशीला हैं और उनमें स्वयं का आत्मबल है। 'वाल्मीकि रामायण' की सीता भी स्वयं को 'जितेन्द्रिय' कहती हैं और भाँति भाँति से तर्क करती हैं। 'मानस' की सीता अपेक्षाकृत

---

१ वाल्मीकि रामायण २।२७।४ (प्रका० रामना०,प्रय
२ " " २।२९।१२ ,,

अधिक सुकुमारी हैं, परन्तु वे भी तर्कशीला हैं।

. . . .

वट के दूध से राम-लक्ष्मण का जटाएं बनाना-

गंगा-पार जाने से पहले राम ने वट का दूध मंगाया और उससे अपनी जटाएं बनाईं। साकेतकार ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है -

" लेकर वट का दूध जटा प्रभु ने रची।,
अब सुमंत्र के लिए न कुछ आशा बची।"[1]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार गुह बरगद का दूध लाकर देता है।[2] राम उस बरगद के दूध से अपनी तथा लक्ष्मण की जटाएं बनाते हैं -

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटा:।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत्॥६९॥[3]

अर्थात् राम ने उस बरगद के दूध से अपनी तथा लक्ष्मण की जटा बनाईं। महाबाहु और पुरुषसिंह रामचन्द्र और लक्ष्मण जटा रख, तपस्वी बन गए।

'रामचरित मानस' में भी वट के दूध से राम-लक्ष्मण के जटा बांधने का उल्लेख है। यथा -

" होत प्रात बट छीरु मंगावा। जटा मुकुट निज सीस बनावा।"[4]

'साकेत' में वर्णित इस प्रसंग के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'मानस' दोनों में प्राप्त होते हैं।

निषाद द्वारा राम के चरणों का धोया जाना-

क. 'साकेत' में राम की चित्रकूट यात्रा के समय, राम का आगमन सुनकर निषाद उनसे भेंट करने आता है। इस समय निषाद के प्रति राम का प्रेम प्रकट हुआ है। यथा -

" देख सखा को दिया समादर राम ने,
उठकर, बढ़कर, लिया प्रेम से सामने।"[5]

---

१. साकेत-पंचम सर्ग, पृ० १४३ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण २।५२।६८ (प्रका० रामनारायणलाल, प्रयाग)
३. वाल्मीकि रामायण, २।५२।६९
४. मानस अयोध्याकाण्ड पृ०४८४ (ना०प्र०सभा, काशी)
५. साकेत पंचम सर्ग, पृ०१३७(२०२१वि०)

'वाल्मीकि-रामायण' में भी राम लक्ष्मण सहित आगे बढ़ कर निषाद से भेंट करते हैं। यथा -

" ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् ।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ।२५।[1]

तथा -

भुजाभ्यां साधु पीनाभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ।
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ।।४२।।[2]

अर्थात् राम ने गुह को अपने हृदय से लगाकर प्रसन्न होकर कहा - हे गुह ! आपको बंधु-बांधवों सहित निरोग देख कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ ।

इसी प्रकार 'रामचरितमानस' में भी गुह राम के आगमन का समाचार सुनकर राम के पास आता है और राम स्वाभाविक स्नेह से गुह को अपने पास बैठाकर कुशल पूछते हैं। यथा -

सहज सनेह-बिबस रघुराई । पूछी कुसल निकट बैठाई ।।[3]

राम को तापसी वेश में देखकर गुह दुःख प्रकट करता है। 'साकेत' में गुह का दुःख इस प्रकार प्रकट हुआ है -

" हैं ये वल्कल ! दृष्टि कहां मेरी रही ?
कौतुक, अब तक देख न पाई वह यहीं ।"[4]

'वाल्मीकि-रामायण' में भी गुह राम को तपस्वी वेश में देख कर दुःखी होता है। यथा -

ततः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्
यथा योध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते । ३६।।[5]

अर्थात् इस समय राम को मुनिवेश धारण किए देख, गुह बहुत दुखी हुआ और राम से मिल कर बोला - हे श्रीरामचन्द्र , अयोध्या की भांति यह राज्य

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।५०।३५(प्रका० रामना०लाल ,प्रयाग)
२. .. .. २।५०।४२
३. मानस - अयोध्या कांड, ८८।२, पृ० (ना०प्र०सभा,काशी)
४. साकेत - पंचम सर्ग, पृ० १३६ (२०२१वि०)
५. [illegible] २।५०।३६ ([illegible])

आपका ही है । आज्ञा दीजिए मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

रामचरित-मानस में भी निषाद जब यह सुनता है कि राम को चौदह वर्ष का वनवास करना है तो वह अत्यधिक दु:खी होता है । यथा—

"बरष चारिदस बासु बन मुनि-ब्रतु-बेषु-अहारु ।
ग्राम बास नहिं उचित सुनि गुहहिं भयउ दुखभारु ।।८८।।"[1]

रव० 'साकेत' में केवट द्वारा राम के चरण धोने का वर्णन भी हुआ है । यथा —

" खड़ी पदों की ओर तरंगित सुरसरी,
गोद भरी मकरन्द भूमती थी तरी ।
धो ली गुह ने धूलि अहिल्या-तारिणी,
कवि की मानव-कोष-विभूति-विहारिणी ।
प्रभु-पद धोकर भक्त आप भी धो गया,
कर चरणामृत-पान अमर वह हो गया ।"[2]

'वाल्मीकि-रामायण' में केवट द्वारा राम के चरणों को धोने का वर्णन नहीं है । गुह को विदा करके राम लक्ष्मण और सीता नाव पर चढ़ जाते हैं ।[3] 'महानाटक'[4] में भी केवट द्वारा राम के चरणों के धोए जाने का उल्लेख मिलता है । इस नाटक में अहल्योद्धार का वृत्तान्त राम की चित्रकूट यात्रा के वर्णन में रखा गया है, तथा अहल्योद्धार के अनन्तर ही केवट का प्रसंग आ गया है । कुछ रचनाओं में अहल्या के उद्धार की कथा बालकांड में मिलती है, अत: केवट का वृत्तान्त भी बहुधा उसी के अन्तर्गत रखा गया है, जैसे 'अध्यात्म रामायण'[5] और आनन्द रामायण में ।[6]

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, ८८ दोहा, (ना०प्र०सभा, काशी)
२. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४४ (२०२१वि०)
३. वाल्मीकि रामायण २।५२।७२-७७(पं० रामनारायण, प्रयाग)
४. महानाटक ३।२०(इसकी रचना संभवत: १० वीं शताब्दी में हुई । दामोदर मिश्र का पाठ अधिक ठीक प्रतीत होता है) दे०ए०एस्टलैर : दि एलरेस्ट वार्सियोन इस महानाटक, जर्नल ओरियन्टल सोसायटी, १९३६) ।

'रामचरित-मानस' में केवट द्वारा राम के चरण धोने के प्रसंग को पर्याप्त रोचक बनाया गया है। 'साकेत' में वर्णित इस अन्तर्कथा का स्रोत 'रामचरित-मानस' ही प्रतीत होता है। 'मानस' के अनुसार जब गंगा पार करने के लिए राम ने नाव मंगवाई तो केवट उसे नहीं लाया। वह कहने लगा कि मैं तुम्हारे मर्म को जानता हूं। सब लोग कहते हैं कि आपके चरणों की धूलि मनुष्य बना देने वाली औषधि है। वह इसका उदाहरण देते हुए कहता है --

छुअत सिला भई नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई।
तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।।[१]

केवट राम के चरणों को धोकर ही नाव पर बैठाना चाहता है।

'साकेत' की इस अन्तर्कथा का स्रोत 'रामचरित-मानस' ही है।

ग. निषाद के प्रसंग में यह भी अन्तर्कथा मिलती है कि उतराई के पारिश्रमिक के रूप में राम उसे सीता की मणि खचित अंगूठी देते हैं, पर केवट उसे स्वीकार नहीं करता। 'साकेत' में यह वर्णन इस रूप में आया है --

" मिलन-स्मृति सी रहे यहां यह मुद्रिका,"
सीता देने लगीं स्वर्ण मणि-मुद्रिका।"[२]

किन्तु केवट उसे स्वीकार नहीं करता।

'वाल्मीकि रामायण' में केवट को मुद्रिका देने का वर्णन ही नहीं आता। क्योंकि केवट राम-सीता और लक्ष्मण को नदी के पार नहीं उतारता। वह पहले ही चला जाता है। वह राम के साथ गंगा पार नहीं जाता।

'रामचरित-मानस' में मणिजटित मुद्रिका देने की कथा आती है। 'साकेत' की इस कथा का स्रोत 'मानस' ही प्रतीत होता है। गोस्वामी तुलसीदास इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं --

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनिमुंदरी मन मुदित उतारी।।
कहेउ कृपाल लेहु उतराई। केवट चरन गहेउ अकुलाई।।[३]

---

१. मानस अयोध्या कांड, पृ० ४४० (ना०प्र०सभा, काशी)
२. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १४६
३. मानस- अयोध्या काण्ड

ख. इस अन्तर्कथा के साथ-साथ गंगापार करते हुए सीता द्वारा गंगा की स्तुति भी कराई गई है। साकेत में वे गंगा से यही याचना करती हैं कि—

'सा यह वन की अवधि यथाविधि तर सकूँ,
समुचित पूजा-भेंट लौटकर कर सकूँ।'[1]

'वाल्मीकि-रामायण' में भी सीता इसी प्रकार गंगा की स्तुति करते हुए कहती हैं —

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ॥
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥८४॥
ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये प्रमुदिता गंगे सर्वकाम समृद्धये ॥८५॥[2]

अर्थात् यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास से पूरे कर अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ लौट आवेंगे तो हे देवी! मैं सकुशल लौट कर आपकी पूजा करूँगी। हे गंगे आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं।

यहाँ इस अन्तर्कथा में 'साकेत' तथा वाल्मीकि रामायण में अत्यधिक समानता है।

'साकेत' में वर्णित निषाद की अन्तर्कथा के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' और 'रामचरित मानस' में ही मिलते हैं। इस अन्तर्कथा के कुछ स्थलों पर 'वाल्मीकि रामायण' और कुछ स्थलों पर 'मानस' का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे केवट द्वारा राम के चरण धोने के वर्णन का स्रोत रामचरित मानस में ही मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' में नहीं। इसी प्रकार मणि जटित मुद्रिका का प्रसंग भी 'रामचरित मानस' में ही मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' में केवट राम के साथ गंगा पार ही नहीं करता, अतः उतराई देने का अवसर ही नहीं आता। 'साकेत' में गंगा पार करते समय सीता गंगा की स्तुति करती हैं। इस स्तुति का स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है। वाल्मीकि-

---

१. साकेत- पंचम सर्ग, पृ० १४५
२. वाल्मीकि रामायण २।५२।८४,८५(प्रका० रामनारायण लाल,प्रयाग)

रामायण' में सीता भी इसी प्रकार गंगा की स्तुति करती हैं। केवट के प्रति राम का प्रेम साकेत में वर्णित है। 'रामचरित-मानस' तथा 'वाल्मीकि रामायण' दोनों ही इसके स्रोत प्रतीत होते हैं। अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी केवट का प्रसंग आया है पर वह साकेत में वर्णित अन्तर्कथा से पर्याप्त भिन्न है।

८. सीता के साथ ग्राम वधुओं का वार्तालाप -

'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने राम की चित्रकूट यात्रा के समान सीता के साथ ग्रामवधुओं का वार्तालाप दिखाया है। ग्रामवधुएं राम-लक्ष्मण और सीता को देखकर उनके पास आ जाती हैं और सीता से परिचय पूछती हैं -

" शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?"

सीता सरल भाव से बतलाती हैं -

" गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।"[१]

इस प्रसंग का स्रोत मुख्य रूप से राम-चरित-मानस है। मानस में ग्रामवधुएं सीता से परिचय पूछती हुई कहती हैं -

" कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुं मुसुकानी।[२]

तब सीता संकोच के वशीभूत होकर राम-लक्ष्मण का परिचय देती हैं -

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदनविधु अंचल ढांकी। पियतन चितइ भौंह कर बांकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि
भईं मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी।।[३]
(अ०काण्ड,पृ०४५५)

'वाल्मीकि-रामायण' में यह वर्णन नहीं मिलता है। 'महानाटक' में भी सीता तथा ग्रामवासियों के संवाद का वर्णन दिया हुआ है परन्तु वह पर्याप्त भिन्न है। अत: साकेत के इस प्रसंग का स्रोत रामचरितमानस प्रतीत होता है।[४]

---

१. रामचरित मानस- अयोध्याकांड (ना०प्र०सभा, काशी)
२. " " "
३. " " "

६. भरद्वाज मुनि से भेंट-

'साकेत' में यह अन्तर्कथा वर्णित है कि चित्रकूट यात्रा के समय जब राम गंगा यमुना के संगम प्रयाग पहुंचते हैं तो वे भरद्वाज मुनि से भेंट करते हैं। भरद्वाज मुनि राम से अनुरोध करते हैं कि वे वहीं रह जायें। वे कहते हैं -

" मेरी इच्छा है कि रहो गुरुसम यहीं।"[१]

परन्तु राम वहां ठहरने में अपनी विवशता बताते हुए कहते हैं -

" कृतकृत्य देव, यह दास है,
पर जनपद के पास उचित क्या वास है ?
ऐसा वन निर्दिष्ट कीजिए अब हमें,
जहां सुमन-सा जनकसुता का मन रमें।" [२]

तब भरद्वाज मुनि उन्हें चित्रकूट जाने की सलाह देते हैं और राम उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

लक्ष्मण दारु लताएं तोड़कर लाते हैं और उन्हीं को जोड़कर नौका का निर्माण कर लेते हैं। और सब उस पार चल देते हैं। यमुना स्नान करके सब वटवृक्ष के नीचे चल देते हैं और थोड़ा विश्राम करके विकट वन की ओर जाते हैं।[३]

"वाल्मीकि रामायण" में भी चित्रकूट यात्रा के समय राम जब प्रयाग पहुंचते हैं तो भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाते हैं। भरद्वाज राम से अनुरोध करते हैं कि वे वहीं रहें। यथा -

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम् ।।२२।।[४]

अर्थात् इन दोनों महानदियों के संगम पर, इस एकान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुख पूर्वक वास करें।

---

१. साकेत - पंचम सर्ग, पृ० १५०, २०२१ वि०
२. ,, ,, पृ० १५० ,,
३. ,, ,, पृ० १५१ ,,
४. वाल्मीकि रामायण - २।५४।२२ (प्रका० रामनारायणलाल, प्रयाग)

राम वहाँ रुकने के सम्बन्ध में अपनी विवशता बताते हुए कहते हैं--

आगमिष्यति वैदेही मां चापि प्रेक्षको जन: ।।

अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ।।२५।५

अर्थात् हे भगवन् ! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा । अत: मुझे,सीता को देखने के लिए लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे । अत: मुझे यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता ।

तत्पश्चात राम भरद्वाज मुनि से अपने रहने के लिए कोई एकान्त स्थान पूछते हैं ।[१] भरद्वाज मुनि राम के रहने योग्य स्थान चित्रकूट बताते हैं ।[२]

राम वहाँ से चले और भरद्वाज मुनि द्वारा बताई गई विधि से राम-लक्ष्मण ने मिल कर बांस की खपच्चियों और लकड़ियों से एक बेड़ा (नाव) बनाई और यमुना को पार किया ।[३] तत्पश्चात वे बरगद के वृक्ष के नीचे पहुंचे और आगे वन के लिए प्रस्थान किया ।

`रामचरित-मानस` में भी राम प्रयाग पहुंच कर भरद्वाज मुनि के पास जाते हैं ।`मानस` में भरद्वाज मुनि राम से वहीं रहने के लिए अनुरोध नहीं करते । राम केवल रात्रि भर ठहर कर प्रात: वहाँ से आगे चल पड़े ।`मानस` में भरद्वाज मुनि राम को चित्रकूट में रहने की सलाह भी नहीं देते और न राम ही उनसे रहने योग्य स्थान का पता पूछते हैं ।[४]

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि`साकेत` की इस कथा का स्रोत` वाल्मीकि रामायण में मिलता है ।`मानस` में इसके कई स्थल छूटे हुए हैं । जैसे भरद्वाज मुनि का राम को वहीं रहने के लिए आग्रह करना और राम का उस प्रस्ताव को अस्वीकार करना, तथा इसके लिए कारण बताना । दूसरे राम का भरद्वाज मुनि से निवास करने योग्य स्थान पूछना और भरद्वाज मुनि

---

१. वाल्मीकि रामायण -२।५४।२६(प्रका० रामनारायण लाल,प्रयाग)

२. वाल्मीकि रामायण २।५४।२८,२६,३० ,,

३. ,, २।५४।१४-१७ ,,

४. मानस अयोध्याकाण्ड, पृ० ४४६-४४६, (ना०प्र०सभा,काशी)

द्वारा चित्रकूट में ठहरने की सलाह देना ।

'साकेत' और 'वाल्मीकि रामायण' की यह अन्तर्कथा इतनी अधिक समान है कि यदि उसे यथानुवाद न भी कहा जाय तो भावानुवाद में कोई संदेह नहीं है ।

१०. वाल्मीकि मुनि से भेंट —

साकेत के अनुसार चित्रकूट पहुंचने से पूर्व राम-सीता-लक्ष्मण वाल्मीकि मुनि से मिलते हैं — "चल यों सब वाल्मीकि महामुनि से मिले ।"[१] राम उन्हें प्रणाम करते हैं और कहते हैं —

" कवे, दाशरथि राम आज कृतकृत्य है,
करता तुम्हें प्रणाम सपरिकर भृत्य है ।"[२]

इसके उत्तर में वाल्मीकि मुनि राम की प्रशंसा करते हुए कहते हैं —

" राम , तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है ।"[३]

'वाल्मीकि-रामायण' में चित्रकूट पहुंचने पर राम वाल्मीकि मुनि से मिलते हैं । राम वाल्मीकि मुनि के आश्रम में जाते हैं, महर्षि वाल्मीकि राम को देखकर प्रसन्न होते हैं और उनका स्वागत करते हैं । राम अपना , लक्ष्मण का और सीता का परिचय देते हैं ।[४]

'अध्यात्म रामायण' में वाल्मीकि इस अवसर पर रामनाम का महत्व दिखलाने के उद्देश्य से अपनी आत्मकथा सुनाते हैं ।[५]

'रामचरित-मानस' में भी राम वाल्मीकि मुनि से भेंट करते हैं ।[६]

---

१. साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १५६ (२०२१वि०)
२. साकेत ,, पृ० १५६ ,,
३. ,, ,, पृ० १५६ ,,
४. वाल्मीकि रामायण, २।५६।१६-१८ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
६. मानस- अयोध्याकाण्ड, पृ० ४६३-४६८ (ना०प्र०सभा,काशी)
५. अध्यात्म रामायण २।६।४२-८८(गीताप्रेस,गोरखपुर)

तुलसीदास ने इस भेंट का वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है।

साकेत में वर्णित राम-वाल्मीकि भेंट के प्रसंग के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' और 'रामचरित मानस' में ही प्रतीत होते हैं।

११. भरत का राज्य अस्वीकार करना –

'साकेत' में दशरथ-मरण के उपरान्त भरत अयोध्या आते हैं। दशरथ मरण और राम वनवास का दु:खद समाचार सुन कर वे व्याकुल हो उठते हैं। वे सारी परिस्थिति को समझ कर राज्य अस्वीकार करते हैं।[१] इस अवसर पर वे कैकेयी के दुष्कृत्यों को जानकर उसकी भाँति-भाँति से भर्त्सना करते हैं। यथा –

"धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भूनकर पति-देह।
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त,
और नाचे निज दुराशय-दृप्त।"[२]

भरत पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करते हैं।[३] राम को मनाने के लिए चित्रकूट जाना चाहते हैं।

'वाल्मीकि-रामायण' और 'रामचरित-मानस' दोनों ग्रन्थों में इसीप्रकार भरत अयोध्या का राज्य अस्वीकार कर देते हैं। वाल्मीकि-रामायण में भरत अयोध्या आने पर अपनी माता कैकेई द्वारा सब दु:खद समाचार सुनते हैं। माता को दोषी जानकर वे भाँति-भाँति से कैकेयी की भर्त्सना करते हैं।[४] वे अयोध्या का राज्य अस्वीकार कर देते हैं और कहते हैं –

---

१. साकेत – सप्तम सर्ग, पृ० २०२-२१३
२. ,, ,, पृ० १९७
३. ,, ,, पृ० २१४
४. वाल्मीकि रामायण २।७३,७४ (रामनारायण लाल, प्रयाग(प्रका०)

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
त्वया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ।।२५ ।।[१]

अर्थात् हे पापिन् ! याद रख, चाहे जो कुछ हो, मैं तेरी साध (राजा बनने की) कभी पूरी न करूंगा । क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपंच का सूत्रपात किया है ।

तत्पश्चात् वाल्मीकि रामायण में भरत पिता की दाह-क्रिया करते हैं ।[२]

'रामचरित-मानस' में भी इसी प्रकार भरत अयोध्या का राज्य अस्वीकार कर देते हैं । कैकेयी को दोषी जानकर वे उसकी भी कड़ी भर्त्सना करते हैं । पिता की दाह-क्रिया करके वे चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं ।[३]

'साकेत' के अन्तर्गत भरत द्वारा राज्य के अस्वीकार करने की जो कथा आई है, उसके स्रोत वाल्मीकि रामायण और 'रामचरित-मानस' दोनों में पाए जाते हैं ।

१२. भरत का चित्रकूट आगमन –

'साकेत' के अष्टम-सर्ग में भरत के चित्रकूट आगमन की कथा वर्णित है । इस अन्तर्कथा में दो-चार मुख्य स्थल हैं । पहला यह है कि भरत को ससैन्य आता देख कर लक्ष्मण शंकित हो उठते हैं । कवि ने इस स्थल पर लक्ष्मण का आक्रोश प्रकट करवाया है । वे सीता से कहते हैं –

" भाभी, भय का उपचार चाप यह मेरा,
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा ।
कोटिक्रम-सम्मुख कौन टिकेगा इसके -
आई परास्तता कर्म भोग में जिसके ।"[४]

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।७३।२५

२. ,, २।७६,७७

३. मानस अयोध्याकाण्ड, दो० १६१-१८४(ना०प्र०सभा, काशी)

४. साकेत , अष्टम सर्ग, पृ० २३७ (२०२१वि०)

इस अवसर पर राम लक्ष्मण को शान्त करते हैं और कहते हैं –

" भद्र, न भरत भी उसे छोड़ आए हों,
मातृश्री से भी मुंह न मोड़ आए हों।
लक्ष्मण लगता है यही मुझे है भाई,
पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई।"[१]

दूसरा स्थल वह है जब कि राम भरत से वहाँ आने का कारण पूछते हैं। राम कहते हैं –

" हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना।"[२]

और भरत अपना अभीप्सित बतलाते हुए कहते हैं –

" कहने को तो है बहुत दु:ख से सुख से,
पर आर्य ! कहूं तो कहूं आज किस मुख से ?
तब भी है तुमसे विनय, लौट घर जाओ।"[३]

तीसरा स्थल यह है कि राम किसी भी प्रकार अयोध्या लौटने को तत्पर नहीं होते। अत: भरत उनकी पादुकाओं की ही याचना करते हैं। यथा –

" बस, मिले पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊं,
बस उनके बल पर, अवधिपार मैं पाऊं।"[४]

'साकेत' में चित्रकूट में राजा जनक के आने का भी वर्णन है।

'वाल्मीकि रामायण' में भी भरत के ससैन्य चित्रकूट आगमन के समय लक्ष्मण शंकित हो उठते हैं और क्रोधित होकर कहते हैं –

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरत: सुत: ।।१७।।[५]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३८, २०२१ वि०
२. ,, ,, पृ० २४६ ,,
३. ,, पृ० २५७ ,,
४. ,, पृ० २६३ ,,
५. वाल्मीकि रामायण २।६६।१७ (प्रका० रामनारायण लाल,प्रयाग)

अर्थात् स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि , कैकेयी का पुत्र भरत राज्याभिषेक पाकर भी , अकण्टक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का वध करने के लिए आ रहा है ।

इस अवसर पर लक्ष्मण का ऐसा भाव देखकर राम उन्हें समझाते हैं और शान्त करते हुए कहते हैं —

मन्ये हमागतो योध्यां भरतो भ्रातृवत्सल: ।
मम प्राणात्प्रियतर: कुलधर्ममनुस्मरन् ।।९।।
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ।।१०।।
स्नेहेनाक्रान्तहृदय: शोकेनाकुलितेन्द्रिय: ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगत: ।।११।।[१]

अर्थात् मुझे तो यह जान पड़ता है कि प्रिय भाई जब ननिहाल से अयोध्या आया और हम तीनों का जटा वल्कल धारण कर वन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा इस कुल के धर्म को (कि बड़े पुत्र का राज्याभिषेक होता है) स्मरण कर हम लोगों से मिलने आया है । उसके यहां आने का अन्य कोई अभिप्राय मुझे तो नहीं प्रतीत होता है ।

' वाल्मीकि-रामायण ' में भी राम भरत से चित्रकूट आने का कारण पूछते हैं । यथा —

यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधर: ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ।।३।।[२]

अर्थात्—तुम राज्य छोड़ , काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण कर जिस लिए आए हो वह सब मुझे बतलाओ ।

भरत राम से राज्य स्वीकार करने के लिए भांति भांति से अनुरोध

---

१. १. वाल्मीकि-रामायण - २।९७।९,१०।११ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, २।१०४।३ ,,

करते हैं।[१] परन्तु राम अयोध्या का राज्य स्वीकार नहीं करते।[२] अन्त में भरत राम से पादुकाओं की ही याचना करते हैं। भरत कहते हैं -

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यत: ।।२१।।[३]

अर्थात् हे आर्य इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिये, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊं सबके योगक्षेम का निर्वाह करेंगी।

राम भरत की इस इच्छा को पूरी कर देते हैं। यथा -

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्र: पादुके ह्यवरुह्य च।
प्रायच्छत्सु महातेजा भरताय महात्मने ।।२२।।[४]

अर्थात् भरत के ये वचन सुन श्रीराम ने वे खड़ाऊं अपने पैरों में पहिन लीं, और उनको उतार कर महात्मा भरत को दे दीं। 'वाल्मीकि रामायण' में चित्रकूट में राजा जनक के आने का उल्लेख नहीं है।

'भावार्थ रामायण' के अनुसार भरत ने दशरथ की अन्त्येष्टि के बाद राम की पादुकाओं को सिंहासन पर रख कर चित्रकूट के लिए प्रस्थान किया। चित्रकूट पहुंच कर भरत तथा लक्ष्मण के युद्ध तथा राम द्वारा दोनों को अलग करने का भी वर्णन है। (भावार्थ रामायण २,१५) । भावार्थ रामायण के ही अनुसार भरत तभी वापस जाने के लिए तैयार हो जाते हैं जब वाल्मीकि आकर पूरा रामायण सुनाते हैं, जिसके अनुसार भरत का अयोध्या लौटना राम की महिमा के लिए आवश्यक है (२।१७) ।

महावीर चरित में भरत मिथिला में ही राम की पादुकाएं ग्रहण करते हैं और राम वहीं से वन के लिए प्रस्थान करते हैं। बाद में भरत की किसी वन-यात्रा का उल्लेख नहीं मिलता।

'रामचरित-मानस' में भरत के चित्रकूट आगमन की कथा वाल्मीकि रामायण के समान ही मिलती है। चतुरंगिनी सेना के साथ आते हुए भरत को देख कर

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।१०४।५-१४ (प्रका० रामनारायणलाल, प्रयाग)
२. ,, २।१०५।२६,२७ ,,
३. ,, २।११२।२१ ,,
४. ,, २।११२।२२ ,,

लक्ष्मण शंकित हो उठते हैं वे राम से कहते हैं -

विषयी जीव पाइ प्रभुताई । मूढ़ मोहबस होहिं जनाई ।।
भरत नीति रत साधु सुजाना । प्रभु-पद-प्रेमु सकल जगु जाना ।।१
तेऊ आजु राजपदु पाई । चले धरम मरजाद मेटाई ।।
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी । जानि रामु बनवास एकाकी ।।२।।
करि कुमंत्र मन साजि समाजू । आए करइ अकंटक राजू ।।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आये दल बटोरि दोउ भाई[१] ।।३

लक्ष्मण का ऐसा भाव देखकर राम उन्हें समझाते हैं -

भरतहि होइ न राजमदु, बिधि -हरि-हर प पाइ ।
कबहुँ कि कांजीसीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ।। २३२।।[२]

भरत राम से मिल कर भांति-भांति से स्वयं को दोषी बताते हुए राम से अनुरोध करते हैं कि वे अपना राज्यतिलक करवा लें। राम लक्ष्मण के बदले भरत स्वयं शत्रुघ्न के साथ वनवास पूरा करने की इच्छा प्रकट करते हैं। यथा -

देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ।।
तिलक समाजु साजि सबु आना । करिय सुफल प्रभु जौं मनु माना
सानुज पठइय मोहि बन कीजिय सबहि सनाथ ।
न तरु फेरियहिं बंधु दोउ नाथ चलउं मैं साथ ।।२६८ ।।[३]

राम भरत का आग्रह किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते । तब भरत राम से कहते हैं -

अब कृपाल जस आयसु होई । करउं सीस धरि सादर सोई ।।
सो अवलंब देव मोहिं देई । अवधि पारु पावउं जेहि सोई ।।[४]

राम भरत को बहुत समझाते हैं परन्तु भरत को बिना आधार के संतुष्ट होता न देखकर वे भरत को अपनी खड़ाऊं देते हैं -

---

१. मानस- अयोध्याकाण्ड, पृ० ५५२,५५३ (ना०प्र०सभा, काशी)
२. ,, पृ० ५५७ ,,
३. ,, पृ० ५६० ,,
४. ,, पृ० ६२५ ,,

भरत सील गुरु सचिव समाजू । सकुच सनेह बिबस रघुराजू ।
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।[१]

'रामचरित-मानस' में जनक के चित्रकूट में आगमन का विस्तृत विवरण किया गया है । 'साकेत' में इसका संकेत मात्र है और उसका मूल स्रोत 'मानस' ही है ।

इस प्रकार 'साकेत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरित मानस' दोनों में प्राप्त होते हैं ।

१२. चित्रकूट में सभा का आयोजन --

'साकेत' के अष्टम सर्ग में यह अंतर्कथा आती है कि चित्रकूट में भरत आगमन के पश्चात एक सभा बैठती है जिसमें भरत राम से अयोध्या लौटने का आग्रह करते हैं । गुप्त जी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है --

"तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे ।"[२]

इस सभा में तीनों माताएं, वसिष्ठ मुनि और जाबालि मुनि भी उपस्थित हैं । जाबालि मुनि राम को समझाते हैं --

" औ हो ! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है,
देने को उलटा राज्य द्वन्द्व लड़ता है ।
पितृ वध तक उसके लिए लोग करते हैं ।"[३]

राम उत्तर देते हुए कहते हैं --

" हे मुने, राज्य पर वही मर्त्य मरते हैं ।"[४]

वसिष्ठ मुनि राम के उत्तरों से संतुष्ट होते हैं ।[५]

---

१. मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ६३३(ना०प्र०सभा,काशी)
२. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६ (२०२१वि०)
३. ,, पृ० २५८ ,,
४. ,, पृ० २५६ ,,
५. ,, पृ० २६०-२६१ ,,

'वाल्मीकि - रामायण' में भी जाति वालों (बिरादरी वालों) के बीच भरत और राम का वार्तालाप वर्णित है। यथा —

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रज: ।

प्रत्युवाच तत: श्रीमाञ्ज्ञातिमध्येऽभिसत्कृत: ।।१।।[१]

अर्थात् जब भरत जी ने पुन: कुछ कहना चाहा , तब भरत जी से स्तुति द्वारा भली प्रकार सत्कार किए गए राम अपनी जाति के लोगों के सामने उनसे कहने लगे । इस सभा में तीनों माताएं, वशिष्ठ और जाबालि आदि मुनि उपस्थित हैं जाबालि मुनि राम से अयोध्या का राज्य स्वीकार करने लिए आग्रह करते हैं ।[२] राम जाबालि मुनि की बातों का उत्तर देते हैं ।[३] तत्पश्चात वशिष्ठ मुनि राम को समझाते हैं और राम के मत से सहमत भी होते हैं ।[४]

'रामचरित-मानस' में भी चित्रकूट की सभा का वर्णन मिलता है । भरत सभा में पुलकित होकर उठ खड़े होते हैं । ' पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े ।'[५] भरत के साथ चित्रकूट में तीनों माताएं भी आई हैं । 'मानस' में जाबालि मुनि द्वारा राम का वार्तालाप नहीं वर्णित है । अत: साकेत की इस अन्तर्कथा के स्रोत वाल्मीकि रामायण में अधिक मिलते हैं ।

१४. चित्रकूट में राजा जनक का आगमन —

'साकेत' में राजा जनक का चित्रकूट में आना भी वर्णित है । इस अन्तर्कथा का संकेत मात्र साकेत में हुआ है । यथा —

" एक घड़ी भी बीत न पाई,

बाहर से कुछ वाणी आई ।

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।१०७।१ (पृ० रामनारायण लाल प्रयाग)

२. ,, २।१०८ ,,

३. ,, २।१०६।१-३६ ,,

४. ,, २।११०,१११ ,,

५. मानस,अयोध्याकाण्ड, पृ० ५८२ (ना०प्र०सभा, काशी)

सीता कहती थीं कि — अरे रे,
आ पहुंचे पितृपद भी मेरे ।"[१]

'रामचरित-मानस' में जनक के चित्रकूट में आगमन का विस्तृत वृत्तान्त मिलता है[२]। अन्यत्र इस अन्तर्कथा का वर्णन नहीं मिलता । अत: 'साकेत' में आई इस अन्तर्कथा का स्रोत तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' ही है । कहा जाता है कि 'श्रवण रामायण' के अनुसार भी जनक चित्रकूट गए थे ।[3] परन्तु इस प्रसंग का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता ।

१५. कैकेयी का दोष निवारण —

गुप्त जी ने 'साकेत' में कैकेयी के दोष का निवारण किया है । यह गुप्त जी की कोई मौलिक कल्पना नहीं है वरन् इसके स्रोत वाल्मीकि रामायण तथा अन्य प्राचीन राम-आख्यानों में मिलते हैं । राम के सभी गायकों ने कैकेयी की दुष्टता और कुटिलता का वर्णन किया है । साकेत कार ने भी उसकी कुटिलता का वर्णन किया है । परन्तु 'साकेत' में उसके दोष निवारण का भी सफल प्रयत्न किया गया है । यह प्रयत्न मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी नारी विषयक उदारता और नारी के प्रति सहानुभूति के कारण तो किया ही है, परन्तु इसके स्रोत संस्कृत साहित्य में भी प्राप्त होते हैं । वाल्मीकि रामायण , अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण आदि में कैकेयी के दोष का निवारण भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है ।

"वाल्मीकि रामायण" में भरद्वाज मुनि के द्वारा कैकेयी को दोष का निवारण किया गया है । भरद्वाज कहते हैं कि कैकेयी को दोष नहीं देना चाहिए क्योंकि राम का निर्वासन सत्वों के हित का कारण सिद्ध होगा । यथा —

भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा ।।
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवत् ।।

---

१. साकेत- अष्टम सर्ग, पृ० २६६ (२०२१ वि०)

२. मानस- अयोध्याकांड, पृ० ५६५

३. राम-कथा- फादर कामिल बुल्के, पृ० ३६३, द्वितीय संस्करण, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।।२९
रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति ।
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ।।३०।।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ।
अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ।।३१।।[१]

अर्थात्— तब भावी को जानने वाले महर्षि भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख, भरत जी से यह युक्ति युक्त वचन कहे — हे भरत तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ । क्योंकि श्री रामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चलकर सुखप्रद होगा । देवों, दैत्य, दानव और बड़े बड़े महर्षियों की राम के वनवास से भलाई ही होगी । यह सुन कर भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर , उनकी परिक्रमा की ।

इसी प्रकार 'वाल्मीकि-रामायण' के ही अन्तर्गत वर्णन है कि चित्रकूट में जब भरत कैकेयी की भर्त्सना करते हैं तब राम स्वयं कैकेयी का पक्ष लेकर भरत को स्मरण दिलाते हैं कि दशरथ ने विवाह के अवसर पर कैकेयी के पुत्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी :-

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्य शुल्कमनुत्तमम् ।।३।।[२]

अर्थात् पूर्व काल में जब हमारे पिता दशरथ जी तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गए थे तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारी बेटी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यसिंहासन पर बैठेगा । इसके अतिरिक्त वनगमन करने से पूर्व राम लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं कि --

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् ।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ।।१७।।

---

१. वाल्मीकि रामायण २।९२।२९,३०,३१ (पृ० रामना०,प्रयाग)

सोऽभिषेकनिवृत्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः ।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ।।१८ ।।[१]

अर्थात् हे सौम्य ! यह तो तुम जानते ही हो कि मैंने माताओं से कभी भेद-दृष्टि नहीं रखी और न कैकेयी ही ने आज तक मुझमें और भरत में कुछ भी अन्तर माना । किन्तु आज उसी कैकेयी ने मेरा अभिषेक रोकने और मुझे वन भेजने के लिए वैसे उग्र और बुरे वचन कहे । सो उसका कारण दैव को छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं है यहाँ राम कैकेई को दोष नहीं देते वरन सारा दोष "दैव" पर थोप देते हैं ।

"अध्यात्म-रामायण" में मंथरा तथा कैकेयी दोनों को मोहित करने के उद्देश्य से सरस्वती को अयोध्या भेजे जाने का उल्लेख किया गया है ।[२] इसी रामायण में राम कैकेयी से कहते हैं कि (निर्वासन के लिए अनुरोध करने वाली) वाणी मुझसे प्रेरित होकर आपके मुँह से निकली थी । यथा —

मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता ।[३]

"आनन्द रामायण" में भी कैकेयी का दोष सरस्वती पर लगाया गया है ।[४]

रामायण के गौड़ीय[५] तथा पश्चिमोत्तरीय[६] पाठों में कैकेयी को निर्दोष ठहराने के लिए दशरथ की प्रतिज्ञा के अतिरिक्त ब्राह्मण-शाप का उल्लेख किया गया है । कैकेयी ने किसी ब्राह्मण की निंदा की थी और ब्राह्मण ने कैकेयी को शाप दिया था कि तुम्हारी भी निन्दा की जायगी । इस कारण "शापदोषमोहिता" कैकेयी मंथरा के जाल में फँस गई थी ।

---

१. वाल्मीकि रामायण, २।१०७।३ द्वितीय सं० ,प्रका० रामना०,प्रयाग
२. अध्यात्म रामायण, २।२।४४-४६ गीता प्रेस,गोरखपुर
३. ,, ,, २।६।६३ ,,
४. आनन्द रामायण ,८।२।५६ (गोपाल नारायण (बम्बई) का संस्करण
५. गौड़ीय रामायण, ८।३३।३७
६. पश्चिमोत्तरीय रामायण ११।३७-४१

कुमारदास कृत जानकी हरण (रचना ८०० ई० के लगभग) में कैकेयी की प्रशंसा इसीलिए की गई है कि उनके दोष के कारण राक्षसों का विनाश हुआ था –

" यस्या दोषादपि भुवनत्रयस्य रक्षोभयनाशाय हेतुर्बभूव ।"[१]

राम ब्रह्मानन्द द्वारा १७ वीं श० में तत्व संग्रह रामायण की रचना हुई है ।[२] इसमें कैकेयी के पश्चाताप और दुःख का वर्णन है । 'तत्वसंग्रह-रामायण' के अनुसार कैकेयी अयोध्यावासियों का दुःख देख कर द्रवित हो जाती हैं । वे राम के समीप जाकर उनकी आराधना करती हैं । राम उनको यह कहते हुए क्षमा प्रदान करते हैं – देवकृतो ऽपराधः । त्वं मे मातृसमा देवित्वमपि मे नास्ति दुर्मनः ।"[३]

'प्रतिमा नाटक' में कैकेई के दोष निवारण के लिए एक अन्य मार्ग अपनाया गया है । ऋषि शाप के फलस्वरूप पुत्र वियोग के कारण दशरथ का मरण अनिवार्य जानकर कैकेई ने उस शाप की रक्षा करने के लिए तथा राम को किसी और विकट विपत्ति से बचाने के लिए वशिष्ठ, वामदेव आदि से परामर्श करने के पश्चात् राम को वन भिजवाया था । यह सुनकर भरत उनसे पूछते हैं कि आपने चौदह वर्ष का निर्वासन क्यों दिलाया है । उस पर कैकेई उत्तर देती है कि भूल से 'चौदह दिन' के स्थान पर 'चौदह वर्ष' मुंह से निकला था ।

तुलसीदास ने रामचरित मानस में कैकेई का दोष सरस्वती पर लगाया है । 'मानस' में यद्यपि कैकेई के दोष का प्रक्षालन नहीं किया गया है, परन्तु चित्रकूट में उसकी ग्लानि अवश्य प्रकट हुई है । यथा –

" गरइ गलानि कुटिल कैकेई । काहि कहइ केहि दूषनु देई ।
अस मन आनि मुदित नरनारी । भयउ बहोरि रहब दिन चारी ।।[४]

---

१. जानकी हरण २।४२

२. डा० राघवन ने इसकी कथावस्तु का निरूपण एनल्स आव औरियन्टल रिसर्च (मद्रास १९५२) में प्रकाशित किया था ।

३. तत्वसंग्रह रामायण, २।११

४. मानस – अयोध्या कांड [illegible] (नागरी प्रचारिणी सभा,काशी)

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार चित्रकूट में कैकेयी मौन रहती है। वह अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप का भी वर्णन नहीं करती। परन्तु बाद में राम काव्यों में उसके पश्चात्ताप का भी वर्णन मिलता है। 'अध्यात्मरामायण'[1] 'रामलिंगामृत'[2] तथा रामचरित मानस में कैकेयी के इस अवसर पर पश्चात्ताप करने तथा क्षमा मांगने का वर्णन किया गया है। 'आनन्द रामायण'[3] में भी वह क्षमा-याचना करती है। 'धर्मखंड'[4] तथा 'तत्वसंग्रहरामायण'[5] के अनुसार कैकेयी अयोध्यावासियों का दुःख देखकर द्रवित हो जाती है। वे राम के पास जाकर उनकी आराधना करती है तथा क्षमा मांगती हुई वापस आने के लिए अनुरोध करती हैं।

'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी के दोष का प्रक्षालन किया है। यह अत्यधिक मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। गुप्त जी ने कैकेई का दोष 'सरस्वती' पर नहीं लगाया है और न ही कोई अन्य कारण दिया है। वरन मंथरा जब यह कहती है कि दशरथ भरत को घर से निकाल कर उनकी अनुपस्थिति में राम को राज्य देना चाहते हैं तो कैकेई भी शंकित हो उठती है और कहती है -

भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह।[6]

इस प्रकार कवि ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उसके हृदय में यह परिवर्तन कराया है। फिर जब भरत ननिहाल से आकर राज्य को अस्वीकार करते हैं और पिता-मरण तथा राम के वन जाने पर दुःखी होते हैं तो कैकेई के हृदय में भी पश्चात्ताप की अग्नि जलने लगती है। चित्रकूट की सभा में भरत विह्वल होकर राम से कहते हैं -

---

१. अध्यात्म रामायण, २।९।५५-६० (गीता प्रेस, गोरखपुर)

२. रामलिंगामृत - सर्ग १२ (इसकी रचना बनारस निवासी अद्वैत नामक कवि द्वारा सन् १६०८ ई० में हुई थी। इसकी हस्तलिपि लंदन में सुरक्षित है - दे० इंडिया आफिस कैटलाग, नं० ३६२०)

३. आनन्द रामायण, १।६।११२ गोपालनारायण बम्बई का संस्करण

४. धर्मखंड, अध्याय ३८

" हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा ,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़पकर तप्त तात ने त्यागा ,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा ।

× ×

मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा ,
हे आर्य , बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"[1]

राम भरत को सांत्वना देते हुए कहते हैं -

" उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ।"

भरत और राम के उद्‌गारों को सुन कर कैकेयी की ग्लानि फूट पड़ती है ।
वह कहती है -

" हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना ,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया ,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।"[2]

कैकेयी ने वात्सल्य भाव से ही प्रेरित होकर दो वर मांगे थे और अब वही वात्सल्य खंडित हो रहा है । भरत कैकेयी को माता ही नहीं मानना चाहते तो वह व्याकुल हो उठती है । कैकेयी के हृदय में अपने किये का घोर पश्चाताप होता है । वह मंथरा को नहीं वरन स्वयं को दोष देती है -

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६-२४७(२०२१ वि० साहित्य सदन,चिरगांव,झांसी)
२. ,, ,, पृ० २४८ ,, ,,

" क्या कर सकती थी, मरी मंथरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।"[१]

जिस पुत्र के लिए यह सब किया, जब वही विमुख हो गया तो कैकेयी पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगती है —

थूके मुझपर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृ पद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता , पुत्र कुपुत्र भले ही ।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता ,
है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता ।"

< <

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी -
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।'
निज जन्म जन्म में जीव सुने यह मेरा —
'धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।"[२]

इस प्रकार गुप्त जी ने कैकेयी का दोष निवारण मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया है । गुप्त जी ने कैकेयी द्वारा स्वयं अपने दोष को स्वीकार कराया है और पश्चात्ताप करवाया है । प्राचीन कथाओं में कैकेयी के दोष का प्रक्षालन अन्य व्यक्तियों के कथनों द्वारा या दैवी प्रभाव(सरस्वती) के द्वारा कराया गया है । परन्तु गुप्त जी ने एक नवीन ढंग से मनोविज्ञान का आधार लेकर यह कार्य किया है । 'साकेत' में जिसप्रकार कैकेयी खुलकर अपने दोष को स्वीकारती है और पश्चात्ताप करती है तथा राम से अयोध्या लौटने का आग्रह

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४८(२०२१ वि० साहित्य सदन,चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २४६ ,, ,, ,,

करती है वह 'साकेत' की मौलिकता है। वैसे इस कथा के सूत्र 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरित मानस' में प्राप्त होते हैं।

१६. पुष्पवाटिका तथा पूर्वानुराग —

'साकेत' के दशम-सर्ग में उर्मिला जनकपुर की पुष्पवाटिका की कथा कहती है। विवाह से पूर्व सीता तथा उर्मिला वहाँ मंदिर में दर्शन करने गईं। उसी समय उसी पुष्पवाटिका में राम तथा लक्ष्मण विश्वामित्र मुनि के लिए फूल चुनने आए। राम और सीता परस्पर एक-दूसरे को देखते हैं और दोनों के हृदय में पूर्वानुराग की सृष्टि हो जाती है। यथा —

सरयू वह फुल्ल वाटिका
बन बैठी वर वीथि-नाटिका
युग श्यामल गौर मूर्तियाँ
क्रम दो की शत पुण्य-पूर्तियाँ।
सजते जब भूप न्यून थे,
चुनते वे मुनि हेतु सून थे।

× ×

युग दर्शन-हेतु क्या बढ़े
उन पैरों पर फूल-से चढ़े
उनकी मुसकान देख ली,
अपनी स्वीकृति आप लेख ली[1]।

राम का दर्शन सीता के हृदय पर इतना प्रभाव डालता है कि सीता एक उच्छ्वास के साथ कहती हैं —

"उनकी पद-धूलि जो धरूँ,
न अहल्या-अपकीर्ति से डरूँ।"[2]

---

१. साकेत, दशम सर्ग, पृ० २६६ (२०२१ वि०)
२. ,, ,, पृ० २६७ ,,

परवर्ती रचनाओं में इस पूर्वानुराग के वर्णन में क्रमशः विकास हुआ है। कई ग्रन्थों में स्वयंवर में ही राम को देख कर सीता के अनुरक्त हो जाने का वर्णन किया गया है। 'महानाटक' के प्रथम अंक में कहा गया है कि धनुष की कठोरता तथा राम की कोमलता देखकर सीता ने अपने पिता की प्रतिज्ञा पर खेद प्रकट किया था। साथ ही इसका भी उल्लेख है कि राम ने धनुर्भङ्ग के पूर्व ही सीता की प्रेम मय मुस्कुराहट देखी थी।[१]

'कल्कि पुराण' के अनुसार राम सीता के कटाक्ष से प्रेरणा लेकर धनुष चढ़ाते हैं।[२]

'आनन्द रामायण' में कहा गया है कि स्वयंवर के समय राम को सभा के आँगन में देखकर सीता प्रेम विह्वल हो जाती हैं। वे अपनी सखी से कहती हैं कि यदि पिता जी राम को छोड़ अन्य किसी पुरुष से मेरे विवाह का आयोजन करेंगे तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। सीता देवताओं से प्रार्थना करती हैं कि वे राम के लिए धनुष को पुष्पवत बना दें।[३]

राम-सीता के पूर्वानुराग के चित्रण में कुछ कवियों ने पुष्पवाटिका में भी राम और सीता के साक्षात्कार की कल्पना की है। जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' में राम सीता को चंडिकायतन की ओर जाते देख कर छिपकर सीता और उनकी सखियों की बातचीत सुनते हैं। बाद में दोनों के एक दूसरे को देख कर आकर्षित होजाने का वर्णन है।[४]

'मैथिली-कल्याण- नाटक' में सीता तथा राम के पूर्वानुराग, दोनों के विरह वर्णन तथा अभिसारिका सीता का भी चित्रण मिलता है।[५]

'प्रसन्नराघव' के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' तथा 'गीतावली' में जनकपुर की वाटिका में राम-सीता के पारस्परिक दर्शन का

---

१. महानाटक १।१६ (रचना संभवत: १०वीं श०) (दे० ए०एस्टेलर : दि एलस्टैट वार्शियोन उस महानाटक, जर्मन ओरिएन्टल सोसायटी, १६३६)

२. कल्किपुराण, ३।३।२६

३. आनन्द रामायण १।३।११६-१२० (गोपालनारायण, बम्बई का संस्करण)

४. प्रसन्नराघव, अंक २

वर्णन किया है । 'मानस' में सीता की मनोभावना का एक उदाहरण देखिये—

देखन मिस मृग बिहंग तरु फिरइ बहोरि बहोरि ।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि ।।[१]

राम और सीता, दोनों के पारस्परिक आकर्षण का चित्रण तुलसीदास ने इस प्रकार किया है —

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति । चली राखि उर स्यामल मूरति ।
प्रभु जब जात जानकी जानी । सुख सनेह सोभा गुन खानी ।।
परम प्रेम-मय मृदुमसि कीन्ही । चारु चित-भीती लिखि लीनी ।
गई भवानी भवन बहोरी । बंदि चरन बोली कर जोरी ।।[२]

'साकेत' वर्णित उर्मिला लक्ष्मण के पारस्परिक आकर्षण और पूर्वानुराग के स्रोत 'महावीरचरित' में प्रतीत होते हैं । सीता और राम के आकर्षण तथा पूर्वानुराग का चित्रण प्रसन्नराघव, आनन्द रामायण, महानाटक तथा रामचरितमानस में भी दिखाई पड़ता है ।

सीता और राम के पूर्वानुराग का चित्रण तो अनेक राम काव्यों में मिलता है । परन्तु उर्मिला और लक्ष्मण के पूर्वानुराग का चित्रण 'साकेत' में एक मौलिकता है । इसका कारण स्पष्ट है कि गुप्त जी ने साकेत में उपेक्षित उर्मिला को प्रमुखता देना चाहा है । 'साकेत' में यह नवीन प्रसंग कहा गया है परन्तु 'महावीरचरित' में(जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है +) उर्मिला तथा लक्ष्मण के पूर्वानुराग का चित्रण हुआ है । अन्य किसी पूर्व कथा में उर्मिला और लक्ष्मण के पूर्वानुराग का वर्णन नहीं है ।

१०. विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण का जाना —

'साकेत' के दशम सर्ग में उर्मिला बालकाण्ड की घटनाओं का स्मरण करती है । इस अवसर पर विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की अन्तर्कथा भी आती है । वन में राम-लक्ष्मण ताड़का, मारीच और सुबाहु

---

१. मानस- बालकाण्ड, पृ० २२५ (ना०प्र०सभा, काशी)
२. ,, ,, पृ० २२५ ,,

आदि राक्षसों का संहार करते हैं। 'साकेत' में इस अन्तकथा का उल्लेख उर्मिला इस प्रकार करती है -

" कृति में दृढ़, कोमलाकृति,
मुनि के संग गए महाधृति ।
भय की परिकल्पना बढ़ी,
पथ में आकर ताड़का अड़ी ।
प्रभु ने, वह लोक- भक्षिणी,
अबला ही समझी अलक्षिणी ।
पर थी वह आततायिनी,
हत होती फिर क्यों न डाइनी ।

< <

बहु राक्षस विघ्न से बने,
पर दो ने सम्मुख सामने हने ।
विकराल बली सुबाहु था,
विधु के ये न सुबाहु राहु था ।
दल खेत रहा सभी वहां,
खल मारीच उड़ा गया कहां ? [१]

'वाल्मीकि-रामायण' में बालकाण्ड के अन्तर्गत विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने की कथा सविस्तार वर्णित है। विश्वामित्र राम को मांगने के लिए राजा दशरथ के पास आते हैं।[२] वे दशरथ से कहते हैं कि जब मैं फल प्राप्ति के लिए यज्ञ-दीक्षा ग्रहण करता हूं, तब दो कामरूपी राक्षस आकर उसमें विघ्न किया करते हैं। मारीच और सुबाहु नामक दो पराक्रमी राक्षस मेरे व्रत की आराधना समाप्त होने पर वेदी के ऊपर मांस और शोणित की वर्षा किया करते हैं। बहुत परिश्रम से किए हुए अपने नियम और व्रत के दूषित कर दिए जाने पर मैं हतोत्साह होकर उस स्थान से चला आता हूं। अतएव

---

१. साकेत, दशम सर्ग, पृष्ठ ३६२-३६३ (२०२१ वि०)

२. वाल्मीकि रामायण १।१८।३८ (प्रका० रामनारायण लाल ,प्रयाग)

आप अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को मुझे दीजिए । मुझसे रक्षित हो, वे अपने दिव्य तेज से मेरे यज्ञ की रक्षा करेंगे और विघ्नकारी राक्षसों को भी नष्ट करेंगे ।[१]

राजा दशरथ राम को भेजना नहीं चाहते और इसके लिए अनेक तर्क उपस्थित करते हैं । वे स्वयं अपनी सेना के साथ जाकर असुर संहार करने को तत्पर होते हैं ।[२] अन्त में वशिष्ठ मुनि के समझाने पर वे राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र जी के साथ भेजने को तत्पर हो जाते हैं ।[३]

इस प्रकार विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को लेकर चले । सरयू तट पर उन्होंने राम-लक्ष्मण को 'बला' और 'अतिबला' विद्याएं पढ़ाईं ।[४] वन में जाकर विश्वामित्र ने सर्वप्रथम राम को ताड़का के बध की आज्ञा दी । राम ने उस मायाविनी ताड़का का बध कर दिया ।[५] तत्पश्चात् मारीच और सुबाहु की कथा का वर्णन आता है । विश्वामित्र यज्ञ में लीन थे और राम-लक्ष्मण दिन-रात जागृत रह कर उनके यज्ञ की रक्षा कर रहे थे । पाँच दिन निर्विघ्न निकल गए । छठवें दिन मारीच, सुबाहु तथा उनके अन्य भयंकर राक्षस साथियों ने वेदी पर रुधिर की वर्षा की । राम ने दौड़ कर मारीच के वक्ष में मानवास्त्र फेंककर मारा । मारीच घायल हो गया और वहाँ से सौ योजन दूर समुद्र में जा गिरा । फिर राम ने आग्नेयास्त्र निकाला और सुबाहु की छाती में मारा और वह मर गया । अन्य राक्षसों को राम ने वायव्यास्त्र चला कर मार डाला ।[६]

'वाल्मीकि-रामायण' के समान ही 'अध्यात्म रामायण' में भी विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने की अन्तर्कथा वर्णित है । परन्तु

---

१. वाल्मीकि रामायण १।१६।६-१०
२. " १।२०।१-१४
३. " १।२१,२२
४. " १।२२।११-२०
५. " १।२६।६-२६

'वाल्मीकि-रामायण' की अपेक्षा इसमें यह कथा संक्षिप्त रूप में आई है ।[१] विश्वामित्र राजा दशरथ के पास जाते हैं और कहते हैं कि जब मैं पर्व काल देख कर देव और पितृगणों के लिए यजन करना आरंभ करता हूं तो सदैव मारीच,सुबाहु और उनके अन्य साथी राक्षस उसमें विघ्न डालते हैं । अतएव उन राक्षसों का वध करने के लिए आप अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को भाई लक्ष्मण सहित मुझे दे दें ।[२] पहले तो विश्वामित्र का प्रस्ताव सुन कर राजा दशरथ निश्चिंत हो जाते हैं, परन्तु फिर गुरु वशिष्ठ के समझाने पर वे राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं ।[३] गंगा के किनारे ताटका वन में विश्वामित्र जी की आज्ञा से राम ताटका राक्षसी को मार डालते हैं । शापवश पिशाचता को प्राप्त, वह ताड़का राम की कृपा से शापमुक्त होकर सुंदरी यक्षिणी हो गई और राम की परिक्रमा करके उनकी आज्ञा से स्वर्ग लोक चली गई और राम की उपासना की ।[४]

मारीच और सुबाहु की अन्तर्कथा भी इसमें वर्णित है । सिद्धाश्रम में जब सब मुनि यज्ञ कर रहे थे तो मध्याह्न के समय मारीच और सुबाहु नामक राक्षसों ने रक्त और अस्थियों की वर्षा की । राम ने दो बाण राक्षसों की ओर छोड़े एक बाण ने मारीच को आकाश में घुमाते हुए सौ योजन की दूरी पर समुद्र में गिरा दिया औ दूसरे अग्निमय बाण ने क्षणभर में सुबाहु को भस्म कर डाला ।[५]

कालिदास कृत 'रघुवंश' में भी महर्षि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण के जाने की कथा प्राप्त होती है।[६] विश्वामित्र एक दिन राजा दशरथ के पास आए और उन्होंने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम को मांगा ।

---

१. अध्यात्म रामायण १।४।५-२२ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
२. ,, १।४।५-७ ,,
३. ,, १।४।२१-२२ ,,
४. ,, १।४।२६-३२ ,,
५. ,, १।५।५-८ ,,
६. रघुवंश सर्ग ११ (पंडित पुस्तकालय,काशी)

दशरथ ने तत्काल राम और लक्ष्मण को मुनि के साथ भेज दिया । मार्ग में विश्वामित्र जी ने उन्हें बला और अतिबला नाम की दोनों विद्याएं सिखा दीं । आगे चलने पर उन्हें सुकेतु की कन्या ताड़का मिली । उसे देख कर राम-लक्ष्मण ने अपने धनुषों को पृथ्वी पर टेककर प्रत्यंचा चढ़ा ली । प्रत्यंचा की टंकार सुनते ही वह सामने आकर खड़ी हो गई । राम ने उसके वक्ष में बाण मार कर उसे सीधे यमलोक पहुंचा दिया ।[१]

मारीच को बाण से उड़ा देने और सुबाहु के संहार की कथा भी 'रघुवंश' में वर्णित है । उसके द्वारा यज्ञ की वेदी पर रक्त गिराए जाने को देखकर राम ने वायव्य अस्त्र द्वारा ताड़का के पुत्र मारीच को सूखे पत्ते के समान उड़ा दिया ।[२] सुबाहु नामक दूसरा राक्षस अपनी माया से इधर-उधर घूम रहा था, उसे राम ने अपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े करके आश्रम के बाहर फेंक दिया ।[३]

'रामचरित मानस' में भी विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने की कथा सविस्तार से वर्णित है । विश्वामित्र अयोध्या में राजा दशरथ के पास जाते हैं और अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को मांगते हैं । दशरथ मुनि की इस बात को सुन कर व्याकुल हो जाते हैं और कहते हैं —

" चौथे पन पायउं सुत चारी । विप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ।"[४]

अन्त में वसिष्ठ मुनि के समझाने पर वे राम-लक्ष्मण को बुलाते हैं और उन्हें मुनि को सौंप देते हैं । विश्वामित्र उन्हें 'बला' और 'अतिबला' विद्याएं देते हैं । मार्ग में ताड़का दिखाई पड़ती है । वह राम पर झपटती है । राम उसे एक ही बाण से मारकर बैकुंठ भेज देते हैं ।[५] विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण

---

१. रघुवंश, ११।१-२० (पण्डित पुस्तकालय,वाराणसी)

२. ,, ११।२५।२८ ,,

३. ,, ११।२६ ,,

४. मानस- बालकाण्ड, पृ० १६७ (ना०प्र०सभा,काशी)

५. ,, पृ० १६६ ,,

आश्रम में आते हैं। राम वहां मुनि से कहते हैं कि आप निडर होकर यज्ञ कीजिए। यज्ञ का नाम सुनकर मारीच अपने सहायकों को साथ लेकर आता है। राम के एक वाण से ही वह सौ योजन दूर जा गिरता है। और सुबाहु का बध राम अग्निवाण से कर देते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साकेत' में वर्णित विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने और असुर संहार करने की कथा के प्रति अनेक प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' से लेकर 'रामचरित मानस' तक यह अन्तर्कथा बराबर मिलती है। इसमें विशेष परिवर्तन भी नहीं हुआ है। 'साकेत' में इस अन्तर्कथा का स्थानान्तरण अवश्य हुआ है। 'वाल्मीकि रामायण', अध्यात्म रामायण' तथा 'रामचरित मानस' में यह अन्तर्कथा बालकाण्ड में वर्णित है। परन्तु 'साकेत' में गुप्त जी ने इस कथा को उर्मिला द्वारा कहलाया है अत: यह बहुत बाद में वर्णित है। दूसरी बात यह है कि 'साकेत' में यह कथा संक्षेप में वर्णित है परन्तु इसका कोई प्रसंग छूटा नहीं है।

१८. सीता स्वयंवर और धनुर्भंग

राजा जनक ने यह निश्चय किया था कि जो वीर राजा, शिव के धनुष को खींच कर चढ़ा देगा वह सीता को वर लेगा। 'साकेत' में उर्मिला इस कथा का वर्णन इस प्रकार करती है —

" सुपरीक्षक सिद्ध आप था,
वर का जो वह शम्भु-चाप था
स्थिर था यह तात ने किया -
'जिसने खींच इसे चढ़ा दिया।
पण-रूप, वही रणाग्रणी,
वर लेगा यह मैथिली-मणि।"[२]

---

१. मानस - बालकाण्ड, पृ० २०० (ना०प्र०सभा, काशी)
२. साकेत -नवम सर्ग, पृ० ३६४ (२०२१ वि०)

इसके लिए राजा जनक ने एक बार स्वयंवर का आयोजन किया । स्वयंवर का वर्णन उर्मिला इस प्रकार करती है –

" निज सौध-समक्ष ही भली ,
स्थित थी दीर्घ स्वयंवर स्थली
जिसमें वर हो वधू वरे ,
यदि निर्धारित धीरता धरे ।[१]

जब – वे पराक्रमी राजा उस धनुष को हिला भी न सके , तब राजा जनक दुःखी हो उठे और उन्होंने कहा कि यह वसुधा वीरों से विहीन हो गई है –

सबका बल व्यर्थ हो गया ,
तब दुःखी – सम तात ने कहा –
"बस बाहुजता विलीन है
वसुधा वीर-विहीन दीन है ।"[२]

राजा जनक के ऐसे वचनों को सुनकर लक्ष्मण क्रोधित हो उठे और उन्होंने राम से प्रार्थना की कि अब वे धनुष उठावें –

" उठ आर्य, स्वकार्य कीजिए,
धनु को रोपित-दीप्त कीजिए ।"[३]

राम ने उस धनुष को उठा भी लिया और उसे चढ़ाते ही वह टूट भी गया । यथा –

" कुछ गजशुंड-भंग सा किया,
प्रभु ने था उसको उठा लिया ।
रस का परिपाक हो गया,
चढ़ता चाप तड़ाक हो गया ।"[४]

---

१. साकेत- दशम सर्ग, पृ० ३७५ (२०२१ वि०)
२. ,, पृ० ३७६ ,,
३. ,, पृ० ३७७ ,,
४. ,, पृ० ३७८ ,,

'वाल्मीकि-रामायण' में राम स्वयंवर के अवसर पर जनकपुर नहीं जाते वरन् स्वयंवर के बहुत दिनों बाद विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर राजा जनक के यज्ञ के अवसर पर मिथिला जाते हैं। राजा जनक उनका स्वागत करते हुए कहते हैं कि मैं अपने को धन्य मानता हूँ और आपका बड़ा अनुगृहीत हूँ, क्यों कि आप राम और लक्ष्मण सहित मेरे यज्ञ में पधारे हैं।[१] विश्वामित्र जनक से शिव धनुष दिखाने की प्रार्थना करते हैं। इस पर जनक कहते हैं कि शिव ने मेरे पूर्वज देवरात को यह धनुष दिया था। सीता के भूमि से प्रकट होने के पश्चात् जनक ने प्रण किया था कि जो शिव-धनुष चढ़ा सके, उसी को सीता पत्नी स्वरूप दी जायगी। बहुत से राजाओं ने प्रयत्न किया तथा असफल होने पर उन्होंने मिथिला का अवरोध किया। तब राजा जनक ने देवताओं की भेजी हुई सेना से उनको पराजित किया।[२] अनन्तर जनक राम-लक्ष्मण और विश्वामित्र को धनुष दिखाते हैं। राम उस धनुष को चढ़ाकर तोड़ डालते हैं।[३] तत्पश्चात जनक राजा दशरथ को बुलवाते हैं और राम-सीता के अतिरिक्त लक्ष्मण-उर्मिला, भरत-माण्डवी, और शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति का विवाह भी हो जाता है।[४]

'साकेत में सीता स्वयंवर तथा राजाओं के असफल होने का सम्बन्ध राम से स्थापित किया गया है। अर्थात् सीता स्वयंवर में ही राम के धनुष तोड़ने और अन्य राजाओं के असफल की कथा वर्णित है। परन्तु 'वाल्मीकि-रामायण' में सीता-स्वयंवर के बहुतकाल बाद (सुदीर्घस्यतु कालस्य) राम ने धनुष तोड़ कर सीता से विवाह किया।[५]

'अध्यात्म-रामायण' में भी धनुर्भंग की कथा वर्णित है। इसमें भी वाल्मीकि के अनुसार सीता-स्वयंवर के बहुत दिनों बाद जनक के यज्ञ में राम-

---

१. वाल्मीकि रामायण १।६५।२१ (प्रका० रामनारायण लाल, प्रयाग)
२. ,, १। ६६ ,, ,,
३ ,, १।६७।१६,१७ ,, ,,
४ ,, १।६७-७३ ,, ,,

लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र जनकपुर जाते हैं । वहाँ पहुँच कर विश्वामित्र राजा जनक से कहते हैं कि राम तुम्हारे यहाँ शंकर का धनुष देखने आये हैं । हमने सुना है कि उस धनुष की तुम्हारे यहाँ पूजा होती है और सब राजा लोग उसे देख गए हैं ।[1] राजा जनक मंत्री को धनुष लाने की आज्ञा देते हैं और विश्वामित्र से कहते हैं कि यदि राम उस धनुष को उठाकर रोंदा चढ़ा देंगे तो निश्चय ही मैं अपनी कन्या सीता को विवाह दूंगा ।[2] मंत्री ने धनुष राम को दिखलाया । राम ने उसे देखते ही दृढ़ता से कमर कस कर उस धनुष को उठा लिया और सब राजाओं के देखते देखते उसपर रोंदा चढ़ा दिया । फिर राम ने उसे थोड़ा सा खींचा और तोड़ डाला ।[3] सीता ने राम के गले में जयमाल डाल दी ।[4]

कालिदास कृत 'रघुवंश' में भी वाल्मीकि रामायण के आधार पर सीता-स्वयंवर के बहुत समय पश्चात् राम को धनुष तोड़ने का वर्णन मिलता है । विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को जनक के यहाँ यज्ञ के अवसर पर लेकर जाते हैं । वहाँ जब धनुष यज्ञ की यज्ञ सम्बन्धी सब क्रियाएँ समाप्त हो गईं, तब ठीक अवसर समझकर विश्वामित्र ने जनक से कहा कि राम भी यह धनुष देखना चाहते हैं । राजा जनक ने राम के कोमल शरीर पर दृष्टि डाली और उन्हें इसबात का पछतावा हुआ कि धनुष तोड़ने का प्रण मैंने व्यर्थ ही लगाया । वे विश्वामित्र से बोले कि इस धनुष को उठाने में बड़े-बड़े धनुर्धारी राजा भी लज्जित होकर रह गए और अपनी भुजाओं को धिक्कारते हुए चले गए ,जिनपर धनुष की डोरी के बड़े-बड़े घट्ठे पड़े हुए थे ।[5] परन्तु जब विश्वामित्र ने

---

१. अध्यात्म रामायण - १।६।१५,१६ (गीताप्रैस,गौरखपुर)
२. ,, १।६।१९,२० ,,
३. ,, १।६।२३,२५ ,,
४. ,, १।६।३१ ,,
५. रघुवंश ११।३७-४० (पंडित पुस्तकालय,काशी)

राजा जनक को समझाया तो जनक ने उस धनुष को मंगवाया। राम ने पर्वत-जैसे विशाल धनुष पर आसानी से डोरी चढ़ा दी। फिर राम ने धनुष को जोरों से ताना कि वह वज्र के समान भयंकर शब्द करके कड़कड़ाता हुआ टूट गया।[१]

'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण' तथा 'रघुवंश' आदि प्रधान ग्रन्थों में राम सीता स्वयंवर में धनुष नहीं तोड़ते, वरन् स्वयंवर के बहुत काल पश्चात् जनक द्वारा किए गये धनुष-यज्ञ में वे लक्ष्मण और विश्वामित्र के साथ जाते हैं और वहां धनुष तोड़ते हैं। बाद की राम कथाओं में सीता-स्वयंवर तथा राजाओं के आक्रमण दोनों घटनाओं का राम से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। 'पउमचरियं' (जैन) प्राचीनतम रचना है जिसमें राम सीता-स्वयंवर में धनुष चढ़ाते हैं।[२] परवर्ती रचनाओं में राम प्राय: सीता-स्वयंवर के अवसर पर धनुष चढ़ाते हैं।

'रामचरित मानस' में 'साकेत' के सीता-स्वयंवर और राम द्वारा धनुर्भंग के स्रोत प्राप्त होते हैं। 'साकेत' के समान ही 'मानस' में सीता-स्वयंवर के अन्तर्गत ही असंख्य राजाओं के समक्ष राम धनुष तोड़ते हैं। सीता-स्वयंवर में असंख्य वीर राजा आते हैं और धनुष की प्रतिज्ञा सुनकर धनुष उठाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु वे सब असफल हो होकर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। राजा जनक सब राजाओं को विफल होते देख कर चिंतित हो जाते हैं। वे क्रोधित होकर कहते हैं कि मैंने यह जान लिया है कि पृथ्वी वीर-विहीन हो गई है। अब आशा छोड़कर सब लोग अपने अपने घर जाइए। विधाता ने जानकी का विवाह सौभाग्य में नहीं लिखा है। यथा —

> अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।
> तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू।[३]

---

१. रघुवंश ११।४१।४६ (पंडित पुस्तकालय, काशी)
२. रामकथा- कामिल बुल्के, पृ० ३५३ (हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
३. मानस-बालकाण्ड, पृ० २४३ (ना०प्र०सभा, काशी)

राजा जनक के ये वचन सुनकर लक्ष्मण क्रोधित हो उठे । उन्होंने राम से धनुष तोड़ने के लिए निवेदन किया और राम ने विश्वामित्र जी की आज्ञा पाकर देखते-देखते धनुष तोड़ डाला । यथा–

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें । काहु न लखा देख सबु ठाढ़ें ।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा । भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ।।[1]

'साकेत' में वर्णित सीता-स्वयंवर और धनुर्भंग की कथा के स्रोत 'पउम चरियं' तथा 'रामचरितमानस' में प्राप्त होते हैं । वाल्मीकि रामायण, 'अध्यात्म रामायण', 'रघुवंश', आदि में राम सीता-स्वयंवर के अवसर पर धनुष नहीं तोड़ते वरन् बहुत काल पश्चात् धनुष-यज्ञ के अवसर पर तोड़ते हैं । परन्तु 'पउम चरियं' तथा 'रामचरित मानस' में राम सीता-स्वयंवर में ही धनुष तोड़ते हैं । 'मानस' में जब अनेक राजा धनुष तोड़ने में असफल हो जाते हैं तो जनक दु:खी होकर कहते हैं –

"अब जनि कोउ माखै भटमानी ।
बीर बिहीन मही मैं जानी ।"[2]

'साकेत' में भी ठीक ऐसा ही वर्णन है । जनक दु:खी होकर कहते हैं –

" बस वाहुबल विलीन है,
वसुधा वीर विहीन है ।"[3]

अत: 'साकेत' की इस अन्तर्कथा का मूल स्रोत 'रामचरित मानस' है ।

१८. परशुराम आगमन और उनका तेजोभंग–

'साकेत' में उर्मिला परशुराम के स्वयंवर स्थल में आने और राम द्वारा उनके तेजोभंग की कथा का वर्णन करती है । राम द्वारा धनुष टूटने की ध्वनि सुनकर परशुराम क्रोधित होते हुए वहाँ उपस्थित हो गए । लक्ष्मण

---

१. रामचरित मानस-बालकाण्ड, पृ० २५२ (ना०प्र०सभा, काशी)
२. ,, पृ० २५३ ,,
३. साकेत, गुप्त जी, पृ० ३७६ २०२१ वि० साहित्य सदन, झाँसी

से उनका वाद-विवाद हुआ । राम ने उन्हें शान्त किया और परशुराम राम को अपना धनुष देकर चले गए । यथा—

" ध्वनि मंडप-मध्य आ गई,
तब लौं भार्गव-मूर्ति आ गई ।
प्रभु से भव-चाप भंग था,
प्रिय से भार्गव का प्रसंग था ।
मुनि की निज गर्व- गर्जना,
प्रिय की तत्कारण योग्य तर्जना।
प्रभु की वह सौम्य वर्जना ,
सबकी थी बस एक अर्जना ।
डरते हम धर्म-शाप से,
न डराओ, मुनि आप चाप से ।
द्विजता तक आततायिनी,
वध में है कब दोष-दायिनी ?

× ×

प्रभु को निज चाप दे गए,
मुनिता ही मुनि आप ले गये ।"[१]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार सीता स्वयंवर के अवसर पर परशुराम का आगमन नहीं होता । जिस समय राजा दशरथ बारात सहित अयोध्या लौट रहे थे , उस समय मार्ग में परशुराम का आगमन होता है । वे शिव-धनुष को टूटने से क्रोध नहीं करते वरन राम से कहते हैं कि तुमने जिस धनुष को जनकपुर में तोड़ा है उसका सारा वृत्तान्त मैंने सुना है । उस धनुष का तोड़ना विस्मयोत्पादक और ध्यान में न आने योग्य बात है । हम एक अन्य धनुष लेकर आए हैं, यह जमदग्नि जी का धनुष है । इसपर रोदा चढ़ा कर और बाण चढ़ा कर आप अपना बल मुझे दिखलाइये । इस धनुष को चढ़ाने से हम आपके बल को जान लेंगे और तब हम आपसे द्वन्द्व-युद्ध करेंगे । परशुराम की

---

१. साकेत- दशम सर्ग, पृ० ३७६-३८० (२०२१वि०)

यह बात सुनकर राजा दशरथ चिंतित होते हैं और परशुराम से विनय करते हैं कि वे राम से उनका युद्ध न करें । परन्तु राम परशुराम के हाथ से धनुष बाण ले लेते हैं और धनुष पर बाण चढ़ा कर परशुराम से कहते हैं कि यह बाण अमोघ है अतः यह बिना कुछ किए तरकस में नहीं जाता । यह वैष्णव बाण है, अतः आप ही कहें किसमें मैं करूं । या तो आपकी गति (पैरों को) को, या आपके गमनागमन की आपकी शक्ति को अथवा तपस्या द्वारा प्राप्त आपके लोकों को मैं नष्ट कर दूं । केवल मैं आपके प्राण लेना नहीं चाहता । राम द्वारा उस धनुष को हाथ में लेने से तीनों लोक स्तंभित हो गए और परशुराम के शरीर से वैष्णवतेज निकल गया । परशुराम जी ने राम की प्रशंसा करते हुए कहा कि आप इस अद्वितीय बाण को छोड़िए । बाण के छूटते ही मैं पर्वतोत्तम महेन्द्राचल पर चला जाऊंगा । राम ने बाण छोड़ दिया और परशुराम जी तुरन्त महेन्द्राचल पर चले गए ।

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार राम-परशुराम संघर्ष का[1] कारण यह है कि परशुराम एक सुयोग्य प्रतिद्वन्द्वी क्षत्रिय से युद्ध करना चाहते थे ।

'अध्यात्म-रामायण' में भी राम तथा परशुराम संघर्ष का यही कारण बताया गया है ।[2] इसके अनुसार भी परशुराम स्वयंवर-स्थल में नहीं पहुंचते वरन अयोध्या को लौटती हुई बारात में राम से मिलते हैं । दशरथ परशुराम को देखकर भयभीत हो उठे और दण्डवत प्रणाम करके बोले मुझे पुत्र के प्राणों का दान दीजिए ।' परन्तु परशुराम राम से बोले कि 'यदि तू वास्तव में क्षत्रिय है तो मेरे साथ द्वन्द्व युद्ध कर, एक पुराने जीर्ण-शीर्ण धनुष को तोड़ कर व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा कर रहा है ।' परशुराम ने राम को "वैष्णव धनुष" दिया और कहा कि यदि तू इस पर रोदा चढ़ा देगा तो मैं तेरे साथ युद्ध करूंगा । नहीं तो मैं अभी सब को मार डालूंगा, क्योंकि क्षत्रियों का अन्त करना तो मेरा काम ही है । राम ने परशुराम की ओर रोष

---

१. वाल्मीकि-रामायण- १।७५।१-२४ (प्रका० रामना०, प्रयाग)
२. अध्यात्म रामायण- १।७।१०-२४ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

से देखते हुए उनके हाथ से धनुष छीन लिया । उस पर अपने तरकश से बाण निकाल कर चढ़ाया और उसे खींचकर वे परशुराम से बोले — मेरा यह बाण अमोघ है -यह व्यर्थ नहीं जाता । इसके लिए शीघ्र ही अपना लक्ष्य दिखाओ । अपने पुण्य से जीते हुए लोक अथवा अपने चरण, इन दोनों में से, मेरी आज्ञा से शीघ्र ही किसी एक को बताओ । परशुराम ने पूर्व वृत्तान्त को याद किया और वे राम की वंदना करने लगे ।[1] अनन्तर उन्होंने राम से कहा कि मैंने पुण्य-लोक-प्राप्ति के लिए जो कुछ पुण्य कर्म किए हैं वे सब आपके इस बाण के लक्ष्य हों । राम के ऐसा ही करने पर परशुराम ने उनकी परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूजित हो उनकी आज्ञा से महेन्द्र पर्वत पर चले गए[2]

'महावीर चरित' ~~से लेकर~~ में रावण-मंत्री माल्यवान के उकसाने[3] पर परशुराम हर-चाप-भंजक राम का दमन करने के लिए मिथिला में आ पहुंचते हैं ।[4]

'महावीर चरित' से लेकर अधिकांश राम-नाटकों में परशुराम मिथिला में आगमन का वर्णन किया गया है । उदाहरण के लिए 'अनर्घराघव', 'बाल-रामायण', 'महानाटक', 'प्रसन्नराघव' आदि । इन नाटकों के प्रभाव के कारण 'रामचंद्रिका' तथा 'रामचरित-मानस' में परशुराम के तेजोभंग का वर्णन मिथिला में ही रखा गया है ।

'रामचरित मानस' के अनुसार परशुराम शिवधनुष टूटने की ध्वनि सुनकर स्वयंवर स्थल में पहुंच जाते हैं । वे धनुष को टूटा हुआ देख कर क्रोधित होकर राजा जनक से पूछते हैं कि इस धनुष को किसने तोड़ा है । सबको घबराया हुआ देख कर राम उनके सामने आते हैं । लक्ष्मण परशुराम से विवाद करते हैं । तब राम लक्ष्मण को इशारे से मना करते हैं और परशुराम से नम्र वचन कह कर उन्हें शान्त करने का प्रयास करते हैं । इसी समय परशुराम जी को रामावतार की बात याद आ गई और उन्होंने राम से कहा कि आप विष्णु का यह धनुष हाथ में लीजिये और इसे खींच दीजिये तो मेरा संदेह मिट जाय । परशुराम जब राम को धनुष देने लगे तो वह अपने आप राम के हाथ में चला गया । यह देखकर

---

१. अध्यात्म रामायण १।७।१६-४४ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

२. ,, १।७।४५-५०

३. महावीर चरित २।१२ (भवभूति कृत)

परशुराम ने राम के प्रभाव को साक्षात और उनकी वंदना करके तपस्या करने वन में चले गए।[1]

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साकेत' में वर्णित 'परशुराम के तेजोभंग' की कथा के मूल स्रोत में वर्णित परशुराम चरित्र मुख्य- तया 'रामचरित मानस', में तथा प्रसन्न राघव, अनर्घराघव, महानाटक एवं रामचन्द्रिका में भी प्राप्त है। इन सभी ग्रन्थों के अनुसार परशुराम स्वयंवर स्थल में ही पहुंच जाते हैं और वहीं लक्ष्मण से वाद-विवाद करते हैं तथा राम की परीक्षा के लिए विष्णु का धनुष उन्हें देते हैं। 'साकेत' की प्रस्तुत अन्तर्कथा भी ठीक इसी प्रकार है।

'वाल्मीकि रामायण तथा 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार तो परशुराम स्वयंवर में नहीं पहुंचते वरन बारात के लौटते समय मार्ग में राम आदि से भेंट करते हैं। 'साकेत' में इस कथा का स्थानान्तरण हुआ है। 'रामचरित मानस' में यह कथा बाल काण्ड में वर्णित है परन्तु साकेत में उर्मिला नाम स्कंध में यह कथा कहती है।

०. विराध दैत्य का वध —

'साकेत' के अनुसार वनवास के समय सीता के ऊपर विराध - दैत्य झपटा। राम ने उसे जीवित ही पृथ्वी में गाड़ दिया। यथा —

"बाधक हुआ विराध मार्ग में,
झपटा आया पर पाषण्ड,
जीता हुआ गाड़ देना ही
समुचित था उस खल का दंड।"[2]

'वाल्मीकि-रामायण' में विराध-वध की अन्तर्कथा विस्तार पूर्वक मिलती है। मुनियों से विदा होकर राम, सीता और लक्ष्मण जब आगे चले तो

---

१. मानस-बालकाण्ड, पृ० २६०-२७५ (ना०प्र०सभा, काशी)

२. साकेत - दशम सर्ग, पृ० ३७९-३८० (२०२१ वि०

मार्ग में सूखा वन मिला । वहाँ अति-विशाल और विकराल दैत्य दिखाई पड़ा । दैत्य राम-लक्ष्मण और सीता को देखकर भयंकर गर्जना के साथ दौड़ा और उसने सीता को गोद में उठा लिया । लक्ष्मण के पूछने पर विराध ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं जय का पुत्र हूँ । मेरी माता का नाम शतहृदा है । मुझे ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त है कि मैं किसी भी शस्त्र से घायल नहीं हो सकता और न ही मारा जा सकता हूँ ।

राम ने सीता को उसके पंजे से छुड़ाने के लिए धनुष पर रोदा चढ़ाकर सुनहले पंखों से युक्त पवन और गरुड़ के समान शीघ्रगामी सात बाण विराध को मारे । बाणों से बिंध कर, क्रोध में भर कर विराध ने सीता को छोड़ दिया और हाथ में त्रिशूल लेकर राम और लक्ष्मण की ओर झपटा । राम-लक्ष्मण ने उस पर तीरों की वर्षा की । वह तीरों से बिंध गया पर उसने खड़े होकर जमुहाई ली जिससे वे सब बाण उसके शरीर से झड़ कर नीचे गिर पड़े । वह पुन: त्रिशूल लेकर राम, लक्ष्मण पर झपटा । राम ने उसके त्रिशूल को दो बाणों से काट दिया और तलवार लेकर राम और लक्ष्मण उस पर झपटे । तलवार से पीड़ित होकर विराध ने क्रोध में भर कर राम और लक्ष्मण को अपने दोनों कंधों पर चढ़ा लिया और चल पड़ा । सीता यह दृश्य देखकर विलाप करने लगीं । तब राम ने विराध की दाहिनी भुजा और लक्ष्मण ने उसकी बाईं भुजा को बल लगाकर तोड़ डाला । भुजाओं के टूट जाने पर वह पृथ्वी पर गिर पड़ा । जब विराध अधमरा सा हो गया तब उसने राम से कहा कि अब तक अज्ञानवश मैंने आपको नहीं पहचाना था । परन्तु अब मैं पहचान गया हूँ । हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षस शरीर पाया है । मैं पहले तुम्बुरु नाम का गंधर्व था । मुझे कुबेर ने शाप दिया था । क्योंकि मैं रम्भा पर आसक्त हो गया था और समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका था । मेरे बहुत अनुनय विनय करने पर उन्होंने कहा था कि जब श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे तब तू फिर अपने पूर्ववत शरीर को प्राप्त कर स्वर्ग को जायगा । अब आज आपकी कृपा से वह शाप समाप्त हो गया । फिर विराध ने राम से प्रार्थना की कि मुझे पृथ्वी में गाड़ कर आप आगे चले जायें । मरे हुए राक्षसों को पृथ्वी में गाड़ने की प्राचीन प्रथा है । अनन्तर लक्ष्मण ने गड्ढा

खोदा और उसमें विराध को गाड़ दिया गया ।[१]

'अध्यात्म-रामायण' में भी विराध-वध की कथा वर्णित है । दण्डक-वन से आगे जाने पर राम-लक्ष्मण और सीता को भयंकर वन में एक वीभत्स राक्षस आता दिखाई दिया । राम उसे देख कर धनुष पर बाण चढ़ा कर खड़े हो गए । राक्षस ने राम से उनका परिचय पूछा । राम ने अपना परिचय देते हुए कहा कि तुम जैसों को शिक्षा देने के लिए ही हम वन में आए हैं । विराध यह सुन कर अट्टहास कर उठा और हाथ में शूल लेकर बोला कि सीता को छोड़कर भाग जाओ नहीं तो मैं तुम लोगों को खा जाऊँगा । ऐसा कह कर वह सीता जी को पकड़ने दौड़ा । तब राम ने अपने बाण से उसकी भुजाएँ काट डालीं । वह क्रोध से राम की ओर झपटा तो राम ने उसके दोनों पैर काट डाले । तब वह सर्प के समान अपने मुख से राम को निगल जाने के लिए बढ़ा । राम ने एक अर्ध चन्द्राकार बाण से उसका सिर काट डाला । तब वह रुधिर से लथपथ होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा । इसी समय विराध के मृत शरीर से एक सुन्दर पुरुष प्रकट हुआ । उस पुरुष ने राम से कहा —मैं विमलतेजोमय विद्याधर हूँ । मुझे पूर्वकाल में दुर्वासा ने शाप दिया था । आज आपने मुझे शापमुक्त कर दिया । तत्पश्चात् भाँति-भाँति से उसने राम की वंदना की । राम ने उसे अपने परमधाम को भेज दिया ।[२] (अध्यात्म रामायण में राम द्वारा विराध को गड्ढे में गाड़ने का उल्लेख नहीं हुआ है) ।

'रघुवंश' में विराध के वध और पृथ्वी में गाड़े जाने की कथा मिलती है । वन में एकाएक विराध राक्षस राम का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया । उस राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच से सीता जी का अपहरण कर लिया । तब राम और लक्ष्मण ने उसे तुरंत मार डाला । फिर उसे यह सोच कर पृथ्वी में गाड़ दिया कि कहीं उसके शरीर की दुर्गन्ध इस प्रदेश भर में न फैल जाय ।[३]

---

१. वाल्मीकि-रामायण, ३।२।३,४ (प्रका० रामना०लाल, प्रयाग)

२. अध्यात्म रामायण ३।१ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

३. रघुवंश – १२।२८-३० (पंडित पुस्तकालय, काशी)

'आनन्द-रामायण' में 'अध्यात्म-रामायण' के आधार पर विराध वध की कथा वर्णित है। इसमें भी विराध को दुर्वासा द्वारा शापित विद्याधर कहा गया है।[१]

'पउमचरियं' विमलसूरि द्वारा शुद्ध जैन महाराष्ट्री में रची गई रचना है। 'पउमचरियं' में भी विराध-वध की कथा वर्णित है। इसके अनुसार वह चन्द्रोदय तथा अनुराधा का पुत्र है।[२] 'रामचरित-मानस' में विराध - वध की कथा अत्यन्त संक्षेप में दी गई है। दण्डक वन से जाते समय मार्ग में विराध नामक दैत्य मिला। राम ने उसके आते ही उसे पछाड़ दिया[३]। उसने सुंदर रूप पाया और उसे दुःखी देख कर राम ने उसे निजधाम (बैकुंठ) को भेज दिया। 'मानस' में विराध के लक्ष्मण और राम द्वारा पृथ्वी में गाड़ने का वर्णन नहीं है।

" साकेत की इस अन्तर्कथा में विराध के सीता पर झपटने तथा लक्ष्मण द्वारा उसके पृथ्वी में गाड़ने का उल्लेख है। इसके मूल स्रोत वाल्मीकि - रामायण और रघुवंश में प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में विराध दैत्य को पृथ्वी में गाड़ने का वर्णन है। परन्तु 'अध्यात्म रामायण', 'आनन्द-रामायण', 'पउमचरियं' तथा 'रामचरितमानस' में विराध को पृथ्वी में गाड़ने का वर्णन नहीं है। "

५. महर्षि शरभंग के आश्रम में राम-सीता और लक्ष्मण —

'साकेत' के अनुसार राम जब दण्डक वन में आते हैं तो विराध राक्षस के वध के पश्चात् और अगस्त्य-आश्रम जाने से पूर्व वे महर्षि शरभंग के आश्रम में भी मिलने जाते हैं। 'साकेत' में इस कथा का संकेत इस प्रकार किया गया है —

---

१. आनन्द रामायण, १।७।१६ (गोपाल नारायण (बम्बई) का संस्करण)

२. पउमचरियं - ९।२२ (भावनगर१९१४।एच०याकोबी का संस्करण)

३. मानस- अरण्यकांड, पृ० ६५६ (ना०प्र०सभा, काशी)

"मिल शरभंग,सुतीक्ष्ण आदि से
आये अगस्त्याश्रम आप ।"[1]

'वाल्मीकि-रामायण' में राम-सीता और लक्ष्मण के महर्षि शरभंग के आश्रम में जाने की कथा विस्तारपूर्वक वर्णित है । विराध-वध के पश्चात् राम-सीता और लक्ष्मण शरभंग के आश्रम की ओर चले । आश्रम के निकट पहुंच कर राम ने देखा कि आश्रम में इंद्र अपने सुंदर रथ पर सुशोभित हैं । राम उस दृश्य को देखकर चकित रह गए और उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि तुम सीता के पास यहीं रहो , मैं अभी देखकर आता हूं कि वह द्युतिमान पुरुष कौन है । कह कर वे शरभंग के आश्रम की ओर बढ़े । इंद्र ने राम को आते देख शरभंग से विदा मांगी और देवताओं से गुप्त रीति से बोले -देखो श्री रामचन्द्र इधर आ रहे हैं, उनके यहां पहुंचने से पूर्व ही हमें यहां से अन्यत्र ले चलो । जिससे वे हमें देख भी न पावें । क्योंकि अभी राम को ऐसा बड़ा दुष्कर काम करना है जो दूसरों से नहीं हो सकता । जब ये थोड़े दिनों बाद राक्षसों को जीतकर कृतकार्य होंगे तब मैं इनके दर्शन करूंगा । उस कार्य को कर चुकने पर ही ये मुझे देख सकेंगे । तत्पश्चात् इन्द्र महर्षि शरभंग से विदा मांग और उनका सम्मान कर स्वर्ग चले गए । अनन्तर राम-लक्ष्मण और सीता ने महर्षि शरभंग के चरण स्पर्श किए । राम ने उनसे इन्द्र के वहां आने का कारण पूछा । शरभंग ने बताया कि इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिए आए थे । परन्तु यह जानकर कि आप यहां आए हैं आपके दर्शन किए बिना मुझे ब्रह्मलोक में जाना अभीष्ट नहीं था । अब आप से भेंट कर मैं ब्रह्मलोक चला जाऊंगा । तत्पश्चात् राम ने उनसे निवास करने योग्य स्थान पूछा । महर्षि शरभंग ने महात्मा सुतीक्ष्ण का पता बताया इसके पश्चात् महर्षि शरभंग ने अग्नि उत्पन्न की और उसी में कूद पड़े । उस अग्नि में से शरभंग भी अग्नि तुल्य कांतिमान एक कुमार का रूपधारण कर निकले और ब्रह्मलोक जा पहुंचे ।[2]

---

१. साकेत- एकादशसर्ग, पृ० ४१२,(२०२१वि०)

२. वाल्मीकि-रामायण, ३।५ (पृ० रामनारायणलाल,प्रयाग)

'अध्यात्म-रामायण' में शरभंग राम को आया देखकर उठ खड़े हुए और राम का स्वागत किया । यथा -

> अभिगम्य सुसम्पूज्य विष्टरेषूपवेशयत् ।
> आतिथ्यमकरोत्तेषां कंदमूलफलादिभि: ।।[१]

अर्थात् आगे बढ़ कर उनकी भली प्रकार पूजा कर उनको आसन पर बैठाया तथा कंदमूल फल आदि से उनका आतिथ्य सत्कार किया । (अध्यात्म-रामायण में शरभंग द्वारा राम के पैर छूने का उल्लेख नहीं है।) शरभंग को तपस्या आदि से जो फल प्राप्त हुआ था उसे रामको देकर वे सीता सहित राम को प्रणाम कर चिता पर चढ़ गए । वे मन ही मन राम और सीता का बहुत देर तक ध्यान करते रहे और चिता में जल गए । तत्पश्चात वे दिव्य देह धारण कर ब्रह्मलोक को चले गए ।[२]

द्राविड़ की 'कंब - रामायण' में भी यह कथा वर्णित है । इसके अनुसार इंद्र शरभंग को ब्रह्मलोक ले जाने के लिए उनके आश्रम में आए थे किन्तु शरभंग मोक्ष ही चाहते थे । इसीलिए उन्होंने इन्द्र के साथ जाना अस्वीकार किया । राम को आते देखकर इन्द्र ने परब्रह्म तथा विष्णु अवतार के रूप में राम की स्तुति की और अनन्तर वे स्वर्ग सिधारे । राम-लक्ष्मण और सीता का स्वागत करने के पश्चात शरभंग ने चिता जलाई और उसमें अपनी पत्नी के साथ प्रवेश कर मोक्ष प्राप्त किया ।[३] 'रामचरित-मानस' में भी शरभंग मुनि के आश्रम में राम के जाने की कथा वर्णित है । राम को अपने आश्रम में आया देखकर मुनि ने कहा कि मैं ब्रह्मा जी के स्थान को जा रहा था, इतने में सुना कि राम आवेंगे । उसी समय से मैं प्रतीक्षा कर रहा था । मुनि ने कहा कि आप तब तक ठहर जाइए जब तक मैं आप में मिल जाऊं । राम को मुनि ने अपने योग,

---

१. अध्यात्म-रामायण-३।२।३ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

२. अध्यात्म-रामायण- ३।२।१-११ ,,

३. कंब रामायण ३।२ (कंबर कृत रामायण , जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी ई० में हुई थी , विशेष विवरण दे० रामकथा- कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्,इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

यज्ञ,जप,तप और व्रत जो कुछ किए थे सब अर्पित कर दिए और भगवद्भक्ति
वर माँग लिया। अनन्तर मुनि चिता में बैठ कर राम का ध्यान कर भस्म
गए और राम की कृपा से बैकुण्ठ चले गए।[१]

'साकेत' में वर्णित शरभंग-आश्रम में राम के जाने की कथा के
वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा रामचरितमानस में प्राप्त
होते हैं। 'साकेत' में तो यह कथा सांकेतिक रूप में आई है परन्तु प्राचीन
ग्रन्थों में यह सविस्तार वर्णित है।

२२ सुतीक्ष्ण के आश्रम में राम का जाना

'साकेत' में सुतीक्ष्ण से राम की भेंट की भी कथा वर्णित है
महर्षि शरभंग के पश्चात् राम सुतीक्ष्ण से मिलते हैं, तत्पश्चात् अगस्त्य मुनि
के पास पहुँचते हैं। यथा —

" मिल शरभंग, सुतीक्ष्ण आदि से
आर्य अगस्त्याश्रम आए,[२]

'वाल्मीकि रामायण' में राम शरभंग ऋषि के आश्रम से जब
चले तो एक पहाड़ी प्रदेश में पहुँचे वहाँ पुष्पों से आच्छादित एक आश्रम दिखा
जिसमें धूलधूसरित, जटाधारी तपस्या में लीन तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण को देखा।
राम ने उन्हें अपना परिचय दिया। सुतीक्ष्ण ने राम की ओर देखा और
दोनों भुजाओं से राम को अपने हृदय से लगा लिया। और राम से कहा

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम्॥[३]

अर्थात् हे धार्मिक श्रेष्ठ! हे वीर राम! तुम भले आए। तुम्हारे यहाँ पधारने
से यह आश्रम इस समय सनाथ की भाँति दिखाई पड़ता है।

---

१. मानस- अरण्यकांड, पृ० ६५६-६५७ (ना०प्र०सभा,काशी)
२. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ४१२, (२०२१वि०)
३. वाल्मीकि रामायण ३।७-८

सुतीक्ष्ण ने बताया कि मैं आपके दर्शनों की अभिलाषा के कारण ही अपने इस शरीर को त्याग कर देवलोक को नहीं गया । यहाँ इन्द्र आए थे और उन्होंने कहा कि तुम अपने पुण्यफल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके हो । सुतीक्ष्ण ने वह फल राम को अर्पित करना चाहा । परन्तु राम ने कहा कि हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा । मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई अच्छा स्थान बता दें । सुतीक्ष्ण अपने ही आश्रम में रहने के लिए राम से आग्रह करते हैं । राम कुछ समय के लिए सुतीक्ष्ण के आश्रम में ठहर गए । दूसरे दिन प्रात: काल राम, सीता और लक्ष्मण सुतीक्ष्ण से विदा हुए ।[1]

'अध्यात्म रामायण' में भी राम के सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम में जाने की कथा वर्णित है । राम जब सुतीक्ष्ण के आश्रम में पहुँचे तो सुतीक्ष्ण ने आगे बढ़ कर राम का स्वागत किया । सुतीक्ष्ण ने भाँति-भाँति से राम की वंदना की । राम ने सुतीक्ष्ण से कहा कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासना से निर्मल हो गया है और उन्होंने दूसरे दिन अगस्त्य मुनि से मिलने के लिए प्रस्थान किया ।[2]

'रामचरित मानस' में भी सुतीक्ष्ण के आश्रम में राम के जाने की कथा वर्णित है । राम के आगमन का समाचार पाकर सुतीक्ष्ण उन्मत्त की भाँति राम के दर्शन के लिए आतुर होकर दौड़े । उन्हें दिशा, विदिशा आदि का ज्ञान न रहा । कभी वे पीछे को जाने लगते कभी रामगुण गाकर नाचने लगते थे । राम वृक्ष की ओट में खड़े होकर उसकी प्रेम-भक्ति देखने लगे । अपने प्रति सुतीक्ष्ण की अनन्य भक्ति देखकर राम उसके हृदय में प्रकट हुए । इससे मुनि बीच मार्ग में निश्चल होकर बैठ गए । राम ने मुनि को बहुत प्रकार से जगाया पर वे समाधि सुख में लीन थे अत: न जागे । तब राम ने मुनि को अपना चतुर्भुज रूप दिखाया । तब सुतीक्ष्ण व्याकुल होकर राम, लक्ष्मण और सीता को देखने

---

१. वाल्मीकि रामायण, ३।७-८

२. अध्यात्म रामायण ३।२।२५-४१ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

लगी । फिर सुतीक्ष्ण ने राम के चरण पकड़ लिए और भाँति-भाँति से राम की स्तुति करने लगी । राम ने उन्हें अटल भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का दान दिया ।[१]

साकेत में वर्णित सुतीक्ष्ण के आश्रम में राम के जाने की कथा के प्रति वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा रामचरितमानस में विस्तार पूर्वक मिलती है । 'साकेत' में इस प्रसंग का केवल संकेत मात्र ही दिया गया है जबकि आधार ग्रन्थों में यह कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है ।

अगस्त्य मुनि के आश्रम में राम का आगमन—

'साकेत' में यह अन्तर्कथा वर्णित है कि राम अगस्त्य मुनि के आश्रम में आए और उनसे राम ने दिव्यास्त्र प्राप्त किए । यथा —

" मिल शरभंग, सुतीक्ष्ण आदि से
आर्य अगस्त्याश्रम आए ,
कौशिक-सम दिव्यास्त्र उन्होंने,
उन मुनिवर से भी पाए ।"[२]

'वाल्मीकि-रामायण' में भी अगस्त्य मुनि के आश्रम में राम-लक्ष्मण और सीता के आगमन की कथा वर्णित है । राम अगस्त्यमुनि के आश्रम में पहुँच कर मुनि के चरण स्पर्श करते हैं । यथा -

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तप: ।।[३]

इसके पश्चात अगस्त्य मुनि महान धर्मचारी और प्रभावशाली राजा तथा पूजनीय अतिथि के रूप में राम का स्वागत करते हैं । यथा —

---

१. मानस- अरण्यकाण्ड, पृ० ६५८-६६२(ना०प्र०सभा,काशी)
२. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४१२ (२०२१वि०)
३. वाल्मीकि-रामायण ३।१२।२४ (प्रका० रामनारायणलाल,प्रयाग)

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथ: ।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्त: प्रियातिथि: ।।[१]

अर्थात् - आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं । अत: आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं ।

राम की भली भांति पूजा करके अगस्त्यमुनि ने राम को वह दिव्य धनुष दिया जिसे भगवान विष्णु के लिए विश्वकर्मा ने बनाया था । अगस्त्य-मुनि ने राम को ब्रह्मा द्वारा दिये हुए अमोघ और सूर्य के समान चमकते हुए बाण तथा इन्द्र के द्वारा दिए हुए तरकसों को, जिनमें बाण कभी नहीं घटते, राम को दिये । तथा एक म्यान सहित सोने की मूठ वाली तलवार दी । इस प्रकार अगस्त्य मुनि ने सर्वश्रेष्ठ आयुध राम को दिये । तत्पश्चात राम द्वारा निवास करने योग्य उत्तम स्थान का पता पूछने पर अगस्त्य मुनि ने उन्हें पंचवटी का पता बताया । राम और लक्ष्मण अगस्त्य मुनि का भली भांति पूजन कर पंचवटी के लिए चल पड़े ।[२]

'अध्यात्म-रामायण' में राम का आगमन सुनकर अगस्त्य मुनि शीघ्र ही उठकर राम के पास पहुंचे और उनका स्वागत किया । यथा -

इत्युक्त्वा स्वयमुत्थाय मुनिभि: सहितो द्रुतम् ।
अभ्यगात्परया भक्त्या गत्वा राममथाब्रवीत् ।।११।।
आगच्छ राम भद्रं ते दृष्टया तेऽद्य समागम: ।
प्रियातिथिर्मम प्राप्तोऽस्यद्य मे सफलं दिनम् ।।१२।।[३]

अर्थात् वे शीघ्र ही मुनियों के साथ उठकर स्वयं राम के पास आए और उनसे अत्यन्त भक्तिपूर्वक बोले - हे राम ! आइये, आपका कल्याण हो । आज बड़े भाग्य से आपका समागम हुआ है । आज का दिन सफल है, आज मुझे मेरे

---

१. वाल्मीकि-रामायण ३।१२।३० (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, ३।१२।१३ ,,
३. अध्यात्म रामायण, ३।३।११,१२(गीताप्रेस,गोरखपुर)

प्रिय अतिथि प्राप्त हुए हैं।

राम की विस्तृत स्तुति करने के पश्चात अगस्त्य मुनि प्रार्थना करते हैं कि मेरे हृदय में आपकी भक्ति सर्वदा बनी रहे और आपके भक्तों का संसर्ग मुझे प्राप्त हो। आज आपके दर्शनों से मेरा जन्म सफल हो गया। यथा—

तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा ।।४१।।
सदा भूयाद्धरे सङ्गस्त्वद्भक्तेषु विशेषत: ।
अद्य मे सफलं जन्म भवत्सन्दर्शनादभूत्[१] ।।४२

तत्पश्चात् अगस्त्य मुनि ने पूर्वकाल ही में राम के लिए इन्द्र का दिया हुआ धनुष, बाणों से भरे हुए कभी खाली न होने वाले दो तरकस तथा एक रत्न-जटित खड्ग राम को दिया। और निवास करने योग्य स्थान पंचवटी का पता बताया।[२]

'रामचरित-मानस' में अगस्त्यमुनि के पास पहुँच कर राम-लक्ष्मण उनके चरणों में गिरते हैं। मुनि उनकी भली-भाँति पूजा करते हैं। तुलसीदास ने अगस्त्य मुनि द्वारा राम को दिव्यास्त्र देने का वर्णन नहीं किया है। वे राम को पंचवटी का पता बताते हुए कहते हैं कि वह स्थान आपके निवास करने योग्य है।[३]

'साकेत' की इस अन्तर्कथा का स्रोत वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म रामायण प्रतीत होते हैं। क्योंकि रामचरित मानस में राम को अगस्त्य बुद्धि मुनि द्वारा दिव्यास्त्रों के दिये जाने का वर्णन नहीं मिलता है। 'वाल्मीकि-रामायण' तथा 'अध्यात्म रामायण' में अगस्त्य मुनि द्वारा राम को दिव्यास्त्र भी प्राप्त होते हैं।

---

१. अध्यात्म रामायण, ३।३।४१,४२(गीता प्रेस,गोरखपुर)
२. ,, ३।३।१०-५० ,,
३. मानस , अरण्यकांड, पृ० ६६३-६६६ (ना०प्र०सभा,काशी)

२८. शूर्पणखा-विरूपण

'साकेत' में रावण की भगिनी शूर्पणखा के राम-लक्ष्मण के पास आने तथा नाक-कान कटवा कर जाने की कथा वर्णित है । यथा –

" शूर्पणखा रावण की भगिनी,
पहुँची वहाँ विमोहित सी ।

< <

पायी जो खाने आई वह-
गई कटाकर नासा-कर्ण ।"[१]

'वाल्मीकि रामायण' में लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के विरूपीकरण की कथा विस्तार से वर्णित है । शूर्पणखा राम को अपना परिचय देते हुए कहती है कि वह रावण की बहन है तथा कुंभकर्ण, विभीषण और खर, दूषण भी उसके भाई हैं । तत्पश्चात वह राम से प्रस्ताव करती है कि वह सीता तथा लक्ष्मण का भक्षण करके राम की पत्नी बन जाय । राम उसे लक्ष्मण के पास भेज देते हैं, किन्तु लक्ष्मण आपत्ति करते हैं कि मैं राम का दास हूँ अत: उसको पुन: राम के पास वापस भेज देते हैं । राम की अस्वीकृति सुनकर शूर्पणखा सीता पर आक्रमण करना चाहती है, किन्तु राम की आज्ञा पाकर लक्ष्मण तलवार से उसके कान और नाक काट लेते हैं । यथा —

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्या : क्रुद्धो रामस्य पश्यत: ।
उद्धृत्य खंग चिच्छेद कर्णनासं महाबल: ।।२१।।[२]

तब वह विकराल कुरूप राक्षसी शूर्पणखा गर्जन करती हुई महावन में घुस गयी।[३]

'अध्यात्म-रामायण' में भी राम के पास शूर्पणखा आती है । कामातुरा शूर्पणखा राम से किसी गुफा में चलने का प्रस्ताव करती है :—

---

१. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४१२-४१३ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण (३।१८।२१ (प्रका०रामना०,प्रयाग)
३. ,, ३।१८।१८ ,,

एहि राम मया सार्धं रमस्व गिरिकानने ।
कामार्तोहन मक्रोमित्यनुं त्वां समलेक्षणाम् ।।११।।[१]

राम उसे लक्ष्मण के पास भेज देते हैं । शूर्पणखा लक्ष्मण से प्रार्थना करती है कि वे उसे अपनी भार्या बना लें । लक्ष्मण उससे कहते हैं कि मैं तो राम का दास हूँ, मुझे पति बनाने से तुम्हें भी उनकी दासी बनना पड़ेगा । अत: तुम उन्हीं के पास जाओ । शूर्पणखा पुन: राम के पास आई और क्रोध में भर कर बोली कि तुम बड़े चंचलचित्त हो और मुझे इधर-उधर घुमा रहे हो । मैं अभी तुम्हारे सामने सीता को खाए जा रही हूँ । यह कह कर वह सीता पर झपटी परन्तु उसी समय राम की आज्ञा पाकर बड़ी तत्परता से लक्ष्मण ने खड्ग लेकर उसके नाक-कान काट डाले ।[२]

'रघुवंश' के अनुसार भी शूर्पणखा सुंदर रूप धारण किए हुए राम के समीप आकर अपना परिचय देकर उनसे कहती है कि मैं तुम्हें अपना पति मानती मानती हूँ । राम उससे कहते हैं कि मैं विवाहित हूँ, तुम मेरे छोटे भाई से मिलो वह लक्ष्मण के पास जाती है । लक्ष्मण उससे कहते हैं कि तू पहले मेरे बड़े भाई से विवाह का प्रस्ताव कर चुकी है अत: तू मेरी माता के समान है । मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता । शूर्पणखा पुन: राम के पास आती है । सीता को हँसता देखकर वह क्रोधित हो उठी और अपना विकराल रूप दिखाया । लक्ष्मण तत्परता से उसे और कुटिया से तलवार लाकर शूर्पणखा के नाक-कान काट लिए । वह और भी कुरूप हो गई और आकाश में उड़ गई ।[३]

शूर्पणखा के विरूपण का उल्लेख अन्य रचनाओं में भी मिलता है । जैसे 'भागवत पुराण'[४], 'गरुड़ पुराण'[५], 'पद्मपुराण'[६] तथा 'देवी भागवत-

---

१. अध्यात्म रामायण, ३।५।११ (गीताप्रेस गोरखपुर)
२. ,, ३।५।१-२० ,,
३. रघुवंश १२।३२-४१ पंडित पुस्तकालय,काशी
४. भागवतपुराण ६।१०।६ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
५. गरुड़ पुराण, अध्याय १४३ (वेंकटेश्वरप्रेस,बम्बई)
६. पद्मपुराण-पातालखंड (वेंकटेश्वरप्रेस,बंबई) अध्याय ३६

पुराण'[१] में ।" नृसिंह पुराण' में पहले पहल राम के एक पत्र की चर्चा है । इस रचना में शूर्पणखा राम को प्रलोभन देती है । राम द्वारा ठुकराये जाने तथा लक्ष्मण के पास भेजे जाने पर वह लक्ष्मण के नाम एक पत्र मांगती है, राम उस पत्र में उसकी नासिका काटने का आदेश देते हैं ।[२]

'आनन्द रामायण'[३] के अनुसार लक्ष्मण ने शूर्पणखा के स्तन भी काट लिये थे ।

'बालरामायण' के अनुसार शूर्पणखा वनवास के पूर्व ही अयोध्या में निकट राम तथा लक्ष्मण के द्वारा ठुकराई तथा विरूपित की गई थी । वह रावण के पास जाकर कहती है कि मैंने सीता को आपके योग्य समझ कर उनका अपहरण करना चाहा जिससे राम लक्ष्मण ने मेरी यह दुर्गति कर दी है ।[४]

जैनी रामायणों में लक्ष्मण अथवा राम द्वारा शूर्पणखा के विरूपित किए जाने की कथा नहीं मिलती ।'पउमचरियं' में इस विरूपण की प्रतिध्वनि अवश्य विद्यमान है ।[५]

'रामचरित-मानस' में शूर्पणखा के विरूपण की कथा सविस्तार से दी गई है । शूर्पणखा पंचवटी में राम के पास जाकर उनकी पत्नी बनने का प्रस्ताव करती है । राम ने कहा कि मेरे छोटे भाई अविवाहित हैं । अतः शूर्पणखा लक्ष्मण के पास गई । वे पहचान गए कि यह रावण की बहन है । उन्होंने शूर्पणखा से कहा कि मैं तो राम का दास हूं । मेरे पास तेरे लिए सुभीता नहीं है । इस कार्य के लिए प्रभु ही समर्थ हैं । यथा —

" सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा । पराधीन नहिं तोर सुपासा ।
प्रभु समर्थ कोसल-पुर-राजा । जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ।"

---

१. देवीभागवत पुराण ३।२८
२. नृसिंह पुराण - अध्याय ४९
३. आनन्द रामायण - १।७।५५ (गोपालनारायण(बम्बई) संस्करण)
४. बाल रामायण - अंक ५ (राजशेखर कृत, १० वीं श० की रचना)
५. पउमचरियं- पर्व ४४ (भावनगर १९१४,एच०याकोबी का संस्करण)

लक्ष्मण का उत्तर सुनकर शूर्पणखा पुन: राम के पास आई । राम ने पुन: लक्ष्मण के पास भेजा तौ लक्ष्मण ने कहा कि तुम्हें वह वरेगा, जौ बिल्कुल निर्लज्ज हौगा । अब क्रौधित हौकर शूर्पणखा राम के पास गई और अपना भयंकर रूप प्रकट किया । राम ने सीता कौ डरा हुआ देखकर लक्ष्मण कौ इशारा किया और लक्ष्मण ने बड़ी कुशलता से शूर्पणखा के नाक और कान काट लिए ।[1] 'मानस' में साकेत की भाँति शूर्पणखा द्वारा सीता कौ खाने के प्रयत्न का वर्णन नहीं है ।

'साकेत' में वर्णित शूर्पणखा-विरूपण की कथा के स्रौत लगभग सभी प्राचीन राम-काव्यौं में प्राप्त हौते हैं । परन्तु कथा की दृष्टि से 'वाल्मीकि-रामायण', 'रघुवंश', 'अध्यात्म-रामायण' और 'रामचरित मानस' ही अधिक निकट प्रतीत हौते हैं । इनमें भी 'वाल्मीकि रामायण' 'अध्यात्म-रामायण' तथा 'रघुवंश' 'साकेत' के अधिक निकट हैं, क्यौंकि शूर्पणखा सीता कौ खाने आई थी, साकेत का यह तथ्य इन्हीं आधार ग्रन्थौं में प्राप्त हौता है ।

२५ खर तथा दूषण का वध —

शूर्पणखा के विरूपित हौ जाने पर खर तथा दूषण ने अनेक राक्षसौं के साथ राम की कुटी पर आक्रमण किया । परन्तु रामने सब राक्षसौं के साथ-साथ खर और दूषण का भी वध कर दिया । 'साकेत' में इस अन्तर्कथा की वर्णना इस प्रकार हुई है —

" इसके पीछे उस कुटीर पर
  घिरी युद्ध की घौर घटा ,
निशाचरौं का गर्जन-तर्जन ,
  शस्त्रौं की वह तड़िच्छटा ।

खर था खर, पर उसके शर थे
    प्रखर पराक्रम-विस्तारी ।
व्रण-भूषण पाकर जिय श्री
    उन विनीत में व्यक्त हुई ,
निकल गए सारे कंटक से
    कथा आप ही व्यक्त हुई ।"[१]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार जब लक्ष्मण ने शूर्पणखा को विरूपित कर दिया तो वह विलाप करती हुई जनस्थान में जहां खर नामक उसका भाई राक्षसों की मंडली में बैठा था, उसके सामने वज्र की भांति पृथ्वी पर गिरी । उसने राम, लक्ष्मण का वन में आने और लक्ष्मण द्वारा अपने नाक-कान काटने का सारा वृत्तान्त खर को कह सुनाया । खर ने राम-लक्ष्मण का वध करने के लिए शूर्पणखा के साथ चौदह राक्षसों को भेजा । राम सबों को मार डालते हैं और शूपर्णखा खर के पास लौटती है[२]। वह पुन: विलाप करती है और राम-लक्ष्मण की वीरता के सामने खर की वीरता को झूठा कहती है । अब खर अपने सेनापति दूषण को चौदह हजार राक्षसों को एकत्र करने का आदेश देकर उन सबों के साथ राम के पास जाता है । राक्षसों की सेना आते देखकर राम आदेश देते हैं कि सीता तथा लक्ष्मण पहाड़ की किसी गुफा में छिप जायें ।[३] अनन्तर राम अकेले ही राक्षसों का सामना करते हैं । दूषण तथा उसकी समस्त सेना को मार कर राम अन्त में त्रिशिरा का तथा इसके बाद खर का वध करते हैं । अब शूपर्णखा रावण के पास जाती है ।[४]

'अध्यात्म-रामायण' में भी शूर्पणखा लक्ष्मण द्वारा विरूपित होने के बाद खर के सामने रोती हुई और घोर शब्द करती हुई गिर पड़ी । उसने

---

१. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४१४ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण ३।१६,२० (प्रका० रामनारायणलाल,प्रयाग
३. वाल्मीकि रामायण, ३।२१-२४ ,,
४. ,, ३।२५-३२ ,,

राम-लक्ष्मण के वन में आने और अपने विरूपित होने की कथा कही । शूर्पणखा से सब वृत्तान्त जान कर खर बड़ा क्रोधित हुआ और उसने बड़े पराक्रमी चौदह - सहस्र राक्षस राम के पास भेजे । खर,दूषण और त्रिशिरा भी अस्त्र-शस्त्र लेकर राम के पास आए । राम ने लक्ष्मण को सीता सहित कंदरा में भेज दिया । फिर राम ने समस्त राक्षसों को खर, दूषण और त्रिशिरा सहित मार डाला । सब राक्षसों को मरा हुआ देखकर शूर्पणखा दौड़ती हुई लंका में रावण के पास पहुँची ।[1]

'आनन्द रामायण' के अनुसार राम ने चौदह हजार रूप धारण कर राक्षसों का सामना किया था ।[2]

'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में लक्ष्मण द्वारा- खर,दूषण के वध का उल्लेख मिला है ।[3]

'पउमचरियं' में भी लक्ष्मण को युद्ध का नायक माना गया है ।[4]

'रघुवंश' के अनुसार शूर्पणखा विरूपित होकर जनस्थान में जा पहुँची और खर आदि राक्षसों को यह कह कर उभाड़ा कि आज पहली बार राम ने इस तरह राक्षसों को अपमानित किया है । तब आगे आगे शूर्पणखा और पीछे राक्षस राम से लड़ने चले । राम ने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण पर सौंप दिया और राम इस प्रकार युद्ध कर रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे । उन्होंने खर को मार डाला ।[5]

'रामचरित-मानस' में भी खर-दूषण के वध की कथा वर्णित है । शूर्पणखा खर-दूषण के पास विलपती हुई गई । उसके वृत्तान्त को सुनकर राक्षस

---

१. अध्यात्म रामायण, ३।५।१६-३८ (गीताप्रेस ,गोरखपुर)
२. आनन्द रामायण, १।७।६२ गोपालनारायण (बम्बई) का संस्करण
३. ब्रह्मवैवर्त पुराण - कृष्णजन्मखण्ड, ६२।४७। आनन्दाश्रम प्रेस,पूना
४. पउमचरियं (अ० ४५८। भावनगर, १९१४ ई० याकोबी का संस्करण
५. रघुवंश - १२।४२-५० । पंडित पुस्तकालय,काशी

को रौता अनुपम वाली शूर्पणखा को आगे कर दौड़ती हुई राम के समीप पहुंची। राम ने लक्ष्मण सहित सीता को पर्वत की कंदरा में भेज दिया। राम को देखते ही वह सेना थकित सी हो गई। खर और दूषण ने कहा कि अनाम भी यह कोई राजपुत्र मनुष्यों में श्रेष्ठ है। अन्त में राक्षसों ने राम पर आक्रमण किया और राम ने ऐसे बाण छोड़े कि राक्षस भागने लगे। यह देख कर खर दूषण और त्रिशिरा ने उन राक्षसों को रोका और युद्ध प्रारम्भ किया राम ने अपने बाणों से सबको मार गिराया।[१]

'साकेत' में वर्णित खर और दूषण के वध की कथा के स्त्रोत विशेष रूप से 'वाल्मीकि रामायण', अध्यात्म रामायण', 'रघुवंश' और 'रामचरितमानस' में प्राप्त होते हैं। इन आधारग्रन्थों में यह अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तार पूर्वक वर्णित है परन्तु 'साकेत' में कवि ने इसे अत्यधिक संक्षेप में रखा है।

२८. <u>सीता-हरण</u> —

'साकेत' में रावण द्वारा सीता-हरण की कथा वर्णित है। शूर्पणखा विकम्पित होकर दूषण और खर आदि राक्षसों के मारे जाने के पश्चात् रोती हुई रावण के पास गई और कहने लगी —

" देखो, दो तापस मनुजों ने
कैसी गति की है मेरी।"

रावण शूर्पणखा की दशा देख कर क्षुब्ध हो उठा और उसने सीता हरण करने की ठानी। वह मारीच को लेकर दण्डकवन में आया।

" तब मारीच निशाचर से वह
पहले कपट मंत्र करके,
उसे साथ ले दण्डकवन में,
आया साधुवेश धरके।
हेमहिरण बन गया वहां पर
आकर मायावी मारीच

---

१ मानस- अरण्यकाण्ड, पृ० ६७२-६७८ (नागरी प्रचा०,सभा,वाराणसी

श्री सीता के सम्मुख जाकर

लगा लुभाने उनको नीच ।"

सीता की इच्छा जानकर राम-लक्ष्मण से सावधान रहने के लिए कह उस मायावी कुरंग को मारने के लिए उसके पीछे चल पड़े । कुरंग का छल समझ कर राम ने उसे एक बाण से मार डाला । छली मारीच ने "हा लक्ष्मण ! हा सीते ! " कह कर प्राण छोड़े । मारीच की कातरोक्ति को सीता ने राम की आवाज़ समझा और बहुत हठ करके लक्ष्मण को राम की सहायता के लिए भेजा । लक्ष्मण एक रेखा खींच कर और सीता से उसी के भीतर रहने के लिए कह कर चले गए । इसी समय रावण आया और सीता को हर कर ले गया --

" शून्याश्रम से इधर दशानन,

मानो श्येन कपोती को ,

हर ले चला विदेह सुता को -

भय से अबला रोती को " [१]

सीता भय से चिल्ला भी न सकीं और सारा वन अपनी लक्ष्मी खो जाने से भायँ-भायँ करने लगा ।[१]

" वाल्मीकि रामायण" में सीता हरण की कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है ।[२] विरूपित शूर्पणखा से खरवध का समाचार तथा सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर रावण मारीच के पास जाता है तथा उससे निवेदन करता है कि वह कनकमृग का रूप धारण कर सीता हरण में सहायक बने । मारीच इस प्रस्ताव को राम के पराक्रम के कारण अस्वीकार कर देता है । वह इस पराक्रम के विषय में दो आप बीती घटनाओं को बतलाता है । विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते हुए राम ने बाण मार कर उसे सौ योजन की दूरी पर समुद्र में फेंक दिया था । बाद में मारीच ने दो राक्षसों के साथ मृग का रूप धारण कर दण्डकवन में प्रवेश किया था तथा वहाँ विचरकर वह तपस्वियों का माँस खाने लगा था । राम ने बाण मार कर उसके दो साथियों का वध किया था जिससे मारीच भयभीत होकर भाग गया था और अब तपस्वी का जीवन बिता

---

१. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ४२०-४२५ (२०२१ वि०)

लगा । मारीच भयभीत होकर रावण को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देता है कि यदि वह अपने संकल्प में दृढ़ रहा तो लंका का सत्यानाश होगा । रावण उसका तत्परामर्श ठुकराकर मारीच को पुरस्कार स्वरूप अपना आधा राज्य प्रदान करने की प्रतिज्ञा करता है और अन्त में यह भी धमकी देता है कि यदि तुमने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो मैं तुम्हारा वध करूंगा । इसपर मारीच यह जानकर कि मैं किसी भी प्रकार नहीं बच सकता शत्रु के हाथ से वीरोचित मरण चुन लेता है :—

> मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यसि ।
> अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रियै यदरिणा हत: ।। १७।२

मारीच की स्वीकृति के बाद रावण उसे अपने रथ पर बैठा कर राम की कुटिया की और प्रस्थान करता है । वहां पहुंचकर मारीच कनकमृग का रूप धारण कर लेता है तथा सीता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है । राम तथा लक्ष्मण को बुलाकर सीता कनक-मृग दिखलाती हैं । उसे पाने के लिए वे अनुरोध करने लगती हैं । राम सीता को लक्ष्मण की रक्षा में छोड़कर कनक मृग का शिकार करने जाते हैं । मारीच राम को दूर ले जाता है । अन्त में राम-बाण से आहत होकर अपना राक्षसी रूप धारण कर लेता है । वह पूर्व निश्चित योजना के अनुसार राम की वाणी का अनुकरण करते हुए चिल्लाता है — हा सीते ! हा लक्ष्मण । राम मायावी राक्षस को मृत छोड़कर आशंकित होते हुए लौटते हैं । दूसरी ओर सीता मारीच की पुकार सुनकर और राम को संकट में जानकर लक्ष्मण से अनुरोध करने लगती हैं कि वे अपने भाई राम की सहायता करने जायें । लक्ष्मण पहले तो अस्वीकार करते हैं किन्तु सीता के कटु शब्द तथा आत्महत्या की धमकी सुनकर वे चले जाते हैं । अब रावण परिव्राजक के रूप में सीता के पास पहुंचजाता है और उनसे आतिथ्य सत्कार ग्रहण करने के पश्चात् अपना परिचय देता है । वह सीता के सामने लंका की महारानी बनने का प्रस्ताव रखता है । सीता का

---

१. वाल्मीकि रामायण — ३।१८-१६ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, ३।४१।१७ ,,

कटु उत्तर सुन कर वह अपना राक्षस-रूप प्रकट कर देता है और सीता को अपने रथ पर चढ़ा कर आकाशमार्ग से लंका की ओर चल देता है ।

'अध्यात्म-रामायण' में भी सीताहरण की कथा इसी रूप में मिलती है ।[१]

'रघुवंश' में सीता-हरण का वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है । शूर्पणखा के अपमान के कारण रावण ने मारीच को मृग बनाया और राम-लक्ष्मण को धोखा देते हुए सीता जी को चुराकर लंका में ले गया ।[२]

'महानाटक' के अनुसार राम तथा लक्ष्मण कनकमृग का शिकार करने के लिये साथ-साथ चले जाते हैं ।[३]

'पउमचरियं' के अनुसार खर-दूषण (पउमचरियं (पर्व ४३) के अनुसार खरदूषण एक विद्याधर-वंशी राजकुमार हैं जिसका विवाह चन्द्रनखा (शूर्पणखा) के साथ हुआ है । उनका पुत्र शम्बूक लक्ष्मण द्वारा मारा जाता है ।) अपनी पत्नी चंद्रनखा से अपने पुत्र का वध सुनकर वन में उसे देखने गया तथा घर लौटते समय इसका समाचार रावण के पास भेज दिया । रावण के विलंब करने पर उसने १४००० योद्धाओं के साथ वन की ओर प्रस्थान किया । इस सेना को आते देखकर लक्ष्मण ने राम से कहा -- मेरे रहते आपको लड़ना उचित नहीं है । आप यहाँ सीता की रक्षा करें । जिस समय मैं शत्रुओं से घिर सिंहनाद करूं, उस समय आप अवश्य ही जल्दी आना ।' लक्ष्मण राक्षसों की सेना का सामना कर रहे थे कि रावण पुष्पक पर आ पहुँचा तथा सीता को देखकर उनपर आसक्त हुआ । 'अवलोकना' नामक विद्या से उसने तुरंत सीता, राम और लक्ष्मण को जान लिया तथा सिंहनाद वाली बात भी उसने जान ली । अतः रावण ने सिंहनाद किया, जिसे सुनकर राम लक्ष्मण की सहायता करने चले गए । इसी समय रावण ने सीता को पुष्पक पर रख दिया और जटायु को भूमि पर गिरा कर लंका को

---

१. अध्यात्मरामायण, ३।७।१-५० (गीता प्रेस, गोरखपुर)

२. रघुवंश, १२।१३ (पंडित पुस्तकालय, काशी)

३. महानाटक ३।२७ (दामोदर मिश्र का संस्करण)

प्रस्थान किया । इतने में राम लक्ष्मण के पास पहुंचते हैं और लक्ष्मण द्वारा वापस भेजे जाते हैं । राम लौट कर कुटिया खाली पाकर मूर्छित हो जाते हैं ।[१]

'कूर्म पुराण' में अकेली टहलती हुई सीता का रावण द्वारा अपहरण का उल्लेख मिलता है :--

'चरन्तीं निर्जने वने ..... सीतां गृहीत्वा ।'[२]

सीता-हरण का एक रूप इस प्रकार भी है कि राम और लक्ष्मण के चले जाने के पश्चात रावण आकर सीता को विश्वास दिलाता है कि अब अयोध्या जाना है । इस पर विश्वास करके सीता अपने आप रथ पर चढ़ती हैं । 'नृसिंह पुराण' के अनुसार रावण सन्यासी के रूप में आकर सीता से कहता है -- भरत आ गए हैं और उन्होंने आपको ले जाने के लिए मुझे भेजा है । राम भी मृग को फंसाकर अयोध्या जा रहे हैं । यह सुनकर सीता विमान पर चढ़ती हैं ।[३]

भास कृत 'प्रतिमानाटक' में एक सर्वथा नवीन कथानक पाया जाता है । दशरथ के वार्षिक श्राद्ध के एक दिन पूर्व राम और सीता सोच रहे थे कि श्राद्ध कैसे योग्य रीति से मनाया जाय । इस पर रावण परिव्राजक का रूप धारण कर आता है और अपना परिचय देकर भिन्न भिन्न शास्त्रों का उल्लेख करता है जिनका उसने अध्ययन किया है । इनमें से एक है "प्राचेतसं श्राद्धकल्पम्" राम श्राद्ध के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं । तब रावण कहता है कि हिमालय में रहने वाले कांचन पार्श्व मृग से पितृ विशेष रूप से प्रसन्न हो जाते हैं । उसी क्षण मारीच इस प्रकार का मृग बनकर दिखाई देता है । लक्ष्मण उस समय आश्रम के कुलपति का स्वागत करने गए थे । अतः सीता को रावण के पास छोड़ कर राम मृग के पीछे चले जाते हैं । तब रावण अपना रूप धारण कर सीता को लंका ले जाता है ।[४]

---

१. पउमचरियं -- पर्व ४४ (भावनगर १९१४, एच० याकोबी का संस्करण)

२. कूर्मपुराण - उत्तर विभाग, अ० ३४ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

३. नृसिंह पुराण, अध्याय ४९

४. वृहद्धर्म पुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय १९

कुछ राम-काव्यों में लक्ष्मण राम की सहायता को जाते समय सीता की रक्षा के लिए कुटी के चारों ओर धनुष से रेखा खींचते हैं और देवताओं की शपथ खाकर कहते हैं कि जो कोई इसके भीतर घुसेगा उसका सिर फट जाएगा। बाद में भिक्षुवेशी रावण के अनुरोध करने पर सीता उसे भोजन देने के लिए हाथ रेखा के बाहर बढ़ाती हैं और रावण उनको खींच लेता है। इस प्रकार की कथा मधुसूदन द्वारा सम्पादित महानाटक[1], आनन्द रामायण[2], सूरसागर[3], तथा रामचन्द्रिका[4] में पाई जाती है।

'धर्मखण्ड'[5] तथा रामब्रह्मानन्द द्वारा रचित (१८ वीं श०ई०) 'तत्वसंग्रह रामायण'[6] में सीता अपने पति के कुशलक्षेम के विषय में चिंतित हैं। किन्तु रावण उनकी व्यग्रता देखकर ही उनको उत्तर देने की प्रतिज्ञा करता है।

'रामचरित-मानस' में सीता-हरण की कथा 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार ही वर्णित है। परन्तु इसमें लक्ष्मण द्वारा खींची गई रेखा का भी वर्णन मिलता है। यथा —

मरम वचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।
बन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन ससि राहू।

सीता-हरण रावण ने किया, यह कथा सभी रामकथाओं में प्राप्त होती है। परन्तु उसके अनेक रूप प्राप्त होते हैं। 'साकेत' की इस कथा के स्रोत ग्रन्थ वाल्मीकिकृत रामायण, अध्यात्मरामायण, रघुवंश और रामचरित-मानस

---

१. महानाटक, अंक ३।६५

२. आनन्द रामायण, १।७।६८

३. सूरसागर, ६ स्कंध, पद ५०२, नागरीप्रचा०सभा, काशी

४. रामचन्द्रिका १२।१८

५. धर्म खण्ड - अध्याय - ८१
(धर्मखण्ड की कई हस्तलिपियाँ मद्रास के राजकीय ओरियेन्टल पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, विशेष सूचना देखिए रामकथा — डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)

६. तत्त्वसंग्रहरामायण, ३।१५ (डा० राघवन का कथा निरूपण : एनल्स आव ओरियण्टल रिसर्च (मद्रास, १९५३) में प्रकाशित)

विशेष रूप से प्रतीत होते हैं। 'साकेत' में वर्णित लक्ष्मण द्वारा खींची गई रेखा के प्रति 'रामचरित-मानस', 'महानाटक', आनन्द रामायण' 'भावार्थ-रामायण', 'सूरसागर' तथा 'रामचन्द्रिका' में प्राप्त होते हैं।

२७. जटायु —

'साकेत' में जटायु का प्रसंग उस समय आता है जब कि रावण सीता को हर कर आकाश मार्ग से जाता है। मार्ग में जटायु उसके सिर पर आघात करता है। रावण जटायु के पंख काट कर उसे गिरा देता है —

' वृद्ध जटायु वीर ने खल के
सिर पर उड़ आघात किया,
उसका पक्ष किन्तु पापी ने
काट केतु - सा गिरा दिया।
गया जटायु इधर सुरपुर को
उधर दशानन लंका को,
क्या विलम्ब लगता है आते,
आपद को, आशंका को।' [१]

राम तथा लक्ष्मण सीता की खोज करते हुए वहां पहुंचते हैं जहां जटायु पड़ा हुआ है। वे उसका संस्कार बीच में करके आगे बढ़ जाते हैं —

' कर जटायु-संस्कार बीच में
दोनों ने निज पथ पकड़ा' [२]

'वाल्मीकि-रामायण' में विस्तारपूर्वक रावण और जटायु का युद्ध वर्णित है।[३] जटायु रावण को देखकर सीताहरण के कारण उसकी निंदा करता है तथा युद्ध के लिए चुनौती देता है। इस युद्ध में जटायु अपने नखों से रावण को आहत करता है तथा उसके दो धनुष छीन कर नष्ट करता है। वह रथ के खरों का वध करके

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४२५ (२०२१वि०)
२. साकेत, ,, पृ० ४२७ ,,
३. वाल्मीकि रामायण, ३।५०-५२ (प्रका० रामना०, प्रयाग)

रथ तोड़ देता है। रथ में बैठे हुए राक्षसों को गिरा देता है तथा सारथि को भी मार डालता है जिससे रावण सीता के साथ भूमि पर गिर जाता है —

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः॥ २०।[1]

अब रावण के पास केवल उसकी तलवार रह गई है। वह पुन: उठकर आकाश मार्ग में सीता को ले जाता है। जटायु उसकी बाईं भुजाओं को काट देता है परन्तु वे पुन: उत्पन्न हो जाती हैं। अन्त में रावण सीता को छोड़ देता है तथा जटायु के अंग काटकर भूमि पर गिरा देता है: — "पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत्।"[2] सीता जटायु के पास जाकर विलाप करती हैं किन्तु रावण उन्हें केशों से पकड़ कर आकाश के मार्ग से लंका की ओर प्रस्थान करता है।

इधर मारीच-वध के पश्चात जब राम और लक्ष्मण लौटते हैं तो कुटिया को खाली पाते हैं। बाद में सीता को खोजते हुए वे सीता के अंगों से झड़े हुए पुष्प आभूषण आदि देखते हैं। तत्पश्चात रावण-जटायु-युद्ध के चिह्न (टूटा हुआ रथ, मारे हुए खर और सारथि आदि) देख कर राक्षसों द्वारा सीता-वध अथवा हरण की आशंका करते हैं।[3] आगे बढ़ कर वे मरणासन्न जटायु से जान लेते हैं कि रावण सीता को लेकर दक्षिण की ओर चला गया है। जटायु राम-लक्ष्मण के सामने ही अपने प्राण छोड़ देता है। राम तथा लक्ष्मण विधिवत उसकी अन्त्येष्टि तथा उदकक्रिया पूर्ण करते हैं और सीता की खोज में दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हैं।[4]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार राम जब मारीच-वध के पश्चात लौटते हैं तो मार्ग में लक्ष्मण को आता देख कर सोचते हैं कि लक्ष्मण को यह पता

---

१. वाल्मीकि रामायण, ३।५१।२० (प्रका० - रामना०, प्रयाग)
२ ,, ३।५१।४२ ,,
३ ,, ३।६४ ,,
४ ,, ३।६७-६८ ,,

नहीं है कि मैंने मायामयी सीता बना दी है । अत: यह बात लक्ष्मण से छिपा कर मैं साधारण मनुष्य की भाँति शोक करूँगा । यथा :—

लक्ष्मणस्तन्न जानाति मायासीतां मया कृताम् ।
ज्ञात्वाप्येनं वंचयित्वा शोचामि प्राकृतो यथा ।। ३ ।[१]

अत: राम लक्ष्मण से उनके सीता को छोड़ कर आने का कारण पूछते हैं । लक्ष्मण बताते हैं कि सीता ने मुझसे कुछ ऐसे दुर्वचन कहे जो आप से बताने योग्य नहीं हैं । अत: मुझे आपके पास आना पड़ा । तत्पश्चात राम कुटिया को सूनी देखकर विलाप करने लगे । राम और लक्ष्मण सीता की खोज में निकले । मार्ग में पहले उन्हें रावण-जटायु युद्ध के चिह्न (टूटे रथ-छत्र, धनुष आदि) मिले , तत्पश्चात जटायु को घायल पड़ा देखा । जटायु ने रावण द्वारा सीता हरण तथा उससे युद्ध का वर्णन किया । उसने बताया कि रावण सीता को दक्षिण की ओर ले गया है । राम के सामने ही जटायु ने प्राण छोड़ दिये । राम ने उसकी दाहक्रिया की और उसे अपना परमपद और सारूप्य प्रदान किया —

इत्युक्त्वा राघव: प्राह जटायो गच्छ मत्पदम् ।
मत्सारूप्यं भजस्वाद्य सर्वलोकस्य पश्यत: ।। ४० ।।[२]

'रघुवंश' के अनुसार राम लक्ष्मण जब सीता को खोजने चले तो मार्ग में उन्होंने जटायु को देखा । उसके पंख कटे हुए थे और प्राण कण्ठ तक आ गए थे । उसने राम लक्ष्मण से कहा कि सीता जी को रावण चुरा ले गया है । उसके घावों को देखकर ही यह स्पष्ट हो गया था कि वह रावण से कितना लड़ा था । जटायु राम से बात करके मर गया और राम ने अपने पिता के सदृश उसका विधिवत् दाहसंस्कार और श्रद्धा भी किया ।[३]

---

१. अध्यात्म रामायण ३।८।३ गीता प्रेस,गोरखपुर)
२. ,, ३।८।४० ,,
३ ,, १२।५४-५६ ,,

'रामचरित-मानस' में भी लगभग वाल्मीकि-रामायण के ही समान जटायु की कथा दी गई है। राम-लक्ष्मण सीता को खोजते हुए चलते हैं तो मार्ग में घायल जटायु मिलता है। राम उसके मस्तक का स्पर्श करके उसकी सब पीड़ा हर लेते हैं। जटायु उन्हें बताता है कि रावण ने ही मेरी यह दशा कर दी है और वही सीता जी को हर ले गया है। वह दक्षिण दिशा की ओर गया है। राम उसे वैकुंठ भेजते हैं और कहते हैं कि वहाँ जाकर सीता-हरण का समाचार दशरथ को मत देना, जो मैं राम हूँ तो रावण ही कुल समेत वहाँ जाकर सब समाचार कह देगा। जटायु ने राम की कृपा से ही हरि का रूप धारण कर लिया और राम की भिन्न-भिन्न प्रकार से स्तुति करने लगा। निश्चल भक्ति का वरदान माँग कर वह हरि-धाम को चला गया। राम ने उसकी क्रिया अपने हाथ से की।[१]

राजशेखर कृत 'बाल रामायण' के अनुसार मरणासन्न जटायु ने रत्नशिखंड द्वारा सीताहरण का समाचार अपने सखा दशरथ के पास भेज दिया,[२] जिसे सुनकर दशरथ ने आत्महत्या करने का विचार प्रकट किया।[२] 'महाभारत'[३] और साकल्य मल्ल द्वारा रचित 'उदार राघव'[४] के अनुसार भी सीता हरण के पश्चात जटायु का उल्लेख किया गया है।

'पउमचरियं' के अनुसार जटायु अपने अपने अपवित्र शरीर का परित्याग करके पुण्योदय के कारण देवता बन गया।[५] 'पउमचरियं' में गीध (जटायु) की कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है।[६]

---

१. मानस --अरण्यकाण्ड, पृ० ६६२-६६५ (नागरी प्रचा०सभा, काशी)

२. बालरामायण ६।५६ आदि

३. महाभारत ३।२६३ गीता प्रेस,गोरखपुर

४. उदारराघव, सर्ग ८

५. पउमचरियं - ४४।५५। भावनगर, १९१४ ई० याकोबी का संस्करण

६. पउमचरियं सर्ग ४१ ,, ,,

जटायु की कथा यद्यपि अनेक ग्रन्थों में वर्णित है, परन्तु साकेत की इस अन्तर्कथा के स्रोत-ग्रन्थ 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म रामायण' 'रघुवंश' और रामचरित मानस ' में विशेष रूप से प्रतीत होते हैं। साकेत की इस अन्तर्कथा के यही आधार ग्रन्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि साकेत की इस अन्तर्कथा से इनकी अधिक समानता है।

२७. कबंधासुर का वध –

'साकेत' में राम द्वारा कबंधासुर के वध की कथा वर्णित है। जटायु-संस्कार के पश्चात् मार्ग में कबंधासुर ने अजगर के समान राम को पकड़ लिया और राम ने उसकी भुजाओं को काट कर उसका वध कर डाला, फिर बन्धु के सदृश्य उसकी दाह-क्रिया की। यथा –

" आगे किसी कबंधासुर ने
अजगर ज्यों उनको जकड़ा।
मारा बाहु काट वैरी को,
बन्धु-सदृश फिर दाह किया।"[१]

कबंध का प्रसंग 'वाल्मीकि रामायण' में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ वर्णित है।[२] सीता की खोज में राम और लक्ष्मण भटकते हैं तभी अत्यन्त भयंकर निष्ठुर कबंधासुर ने अपनी लंबी भुजाएं फैलाकर राम और लक्ष्मण दोनों को पकड़ लिया,

स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्बलात् ।। ३५।।[३]

राम और लक्ष्मण ने अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कंधे से काट डालीं।

---

१. 'साकेत' – एकादश सर्ग, पृ० ४२७
२. वाल्मीकि रामायण ३।६९-७३ (प्रका० रामनारायण लाल, प्रयाग)
३. ,, ३।६९।३५ ,,

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ बाहू तस्यांसदेशत: ।। ८।।[१]

राम और लक्ष्मण द्वारा भुजाएं कट जाने के बाद कबंध निस्सहाय होकर भूमि पर गिर गया । अनन्तर कबंध ने अपने विषय में दो भिन्न शापों का उल्लेख किया । प्रथम शाप की कथा इस प्रकार है —कबंध डरावना रूप धारण कर ऋषियों को सताया करता था । इसी रूप में उसने स्थूलशिरा पर आक्रमण किया था, जिससे मुनि ने यह शाप दिया कि तुम यह भयंकर रूप धारण किये रहो । उसी अनुनय करने पर स्थूलशिरा ने कहा 'जब राम तुम्हारी भुजाएं काट कर तुम्हारा शरीर जला देंगे तभी तुम अपना शुभ रूप पुन: ग्रहण करोगे ।'[२] दूसरी कथा के अनुसार वह दनु का सुंदर पुत्र था, जिसने उग्र तप करके ब्रह्मा से अपने दीर्घायु होने का वर प्राप्त किया था और इस वर के बल पर इंद्र को चुनौती दी थी । इन्द्र ने उसके हाथ-पैर काट लिए तथा सिर पर वज्र मारा जिससे उसका सिर उदर में धंस गया था । ब्रह्मा के वरदान को सत्य प्रमाणित करने के लिए इन्द्र ने उसे एक योजन की लम्बी भुजाएं देकर तथा उसके उदर में मुंह बनाकर आश्वासन दिया कि राम-लक्ष्मण द्वारा भुजाएं कट जाने पर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे ।[३] अनन्तर राम-लक्ष्मण ने उसका शरीर जला दिया और चिता में से एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने आकाश में एक विमान पर विराजमान होकर राम को सुग्रीव के पास जाने का परामर्श दिया तथा पम्पा सरोवर और ऋष्यमूक का मार्ग बताकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

'महाभारत' के रामोपाख्यान में भी राम-लक्ष्मण कबंध की भुजाएं काट डालते हैं । भुजाएं कट जाने पर कबंध भूमि पर गिर गया तथा उसके शरीर से तत्काल एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने आकाश में स्थित होकर अपना परिचय इस प्रकार दिया —मैं विश्वावसु नामक गंधर्व हूं जो ब्रह्मा अथवा किसी

---

१. वाल्मीकि रामायण ३।७०।८ (पं०रामनारायणलाल , प्रयाग)
२. ,, ३।७१।२-७ ,,
३. ,, ३।७१।७-२० ,,

ब्राह्मण के शाप से ('ब्रह्मानुशापेन', 'ब्राह्मण शापेन' पाठान्तर मिलता है) राक्षस बन गया था । अनन्तर उसने बताया कि रावण ने सीता का हरण किया है तथा राम को सुग्रीव के पास जाने का परामर्श दिया ।[1]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार भी कबंधासुर की विशाल और भयंकर भुजाओं के बीच राम और लक्ष्मण फंस गए । तब राम और लक्ष्मण ने अपने अपने खड्ग से उसकी दाहिनी और बाईं भुजाएं काट डालीं ।[2] अध्यात्मरामायण[3] तथा 'आनन्द-रामायण'[4] दोनों के अनुसार कबंध 'रूप-यौवनदर्पित' गंधर्वराज था, जिसने ब्रह्मा से अवध्यता का वर प्राप्त किया था । बाद में उसने अष्टावक्र नामक मुनि का उपहास किया, और उनसे शापित होकर राक्षस बन गया । इस कथा के अनुसार कबंध के राक्षस बनने के पश्चात् ही इन्द्र ने उसके सिर पर वज्र मारा था जिससे उसके सिर, पैर उदर में घुस गए थे । उसके शरीर के जल जाने के पश्चात् उसमें से एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ जो राम की स्तुति करने लगा । राम ने उसकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर उसे अपने परमधाम को भेज दिया । अन्त में कबंध ने राम को शबरी के यहां जाने का परामर्श दिया तथा विमान पर चढ़कर विष्णुलोक के लिए प्रस्थान किया ।[5]

'रघुवंश' में अत्यन्त संक्षेप में कबंध का वृत्तान्त मिलता है । मार्ग में राम-लक्ष्मण को कबंध मिला जो किसी ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था । रामने उसकी भुजाएं काट डालीं जिससे शापमुक्त होकर वह फिर देवता बन गया । उसने प्रसन्न होकर सुग्रीव का पता बताया ।[6]

---

१. महाभारत, रामोपाख्यान, ३।२६३।२५-४३ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
२. अध्यात्मरामायण - ३।६।१-६ ,,
३. ,, ३।६।१०-५६ ,,
४. आनन्द रामायण १।७।१५१-१६१ गोपालनारायण (बम्बई) का संस्करण)
५. अध्यात्मरामायण ३।१०।१-२ गीता प्रेस ,गोरखपुर
६. रघुवंश १२।५७ (पंडित पुस्तकालय,काशी)

'रामचरित-मानस' में भी कबंध का वृत्तान्त वर्णित है । सीता को खोजते समय मार्ग में राम-लक्ष्मण को कबंध नामक राक्षस मिला, जिसे उन्होंने मार डाला । 'मानस' के अनुसार दुर्वासा ने कबंध को शाप दिया था और राम के चरणों के दर्शन से वह शाप मुक्त हो गया । राम ने कबंध को ब्राह्मणों की सेवा का महत्व समझा कर उसे परमपद प्रदान किया ।[१]

'रामचन्द्रिका' में भी राम कबंध की भुजाएं काट देते हैं । 'रामचन्द्रिका' के अनुसार वह पहले इन्द्र के शाप के कारण गंधर्व से राक्षस बन तथा बाद में इन्द्र से उसका युद्ध हुआ था । इन्द्र ने उससे कहा था कि वह राम द्वारा शाप मुक्त हो सकेगा ।[२]

कबंध-वध की कथा लगभग सभी प्रमुख राम-काव्यों में वर्णित है । 'साकेत' की इस अन्तर्कथा के स्रोत यों तो उपर्युक्त सभी राम-काव्यों में हैं परन्तु विशेष रूप से वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, रघुवंश और 'मानस' में प्रतीत होते हैं । आधार ग्रन्थों में यह अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तार पूर्वक वर्णित है जबकि 'साकेत' में अत्यधिक संक्षेप में उसका उल्लेख हुआ है ।

शबरी का आतिथ्य —

'साकेत' में शबरी की अन्तर्कथा संक्षेप में वर्णित है । कबंधासुर का वध करके राम शबरी का आतिथ्य स्वीकार करते हैं । यथा —

" सदा भाव के भूखे प्रभु ने
शबरी का आतिथ्य लिया ।"[३]

'शबरी-प्रसंग का वाल्मीकीय आधिकारिक कथावस्तु से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता है । यह प्रसंग 'महाभारत' के 'रामोपाख्यान' में नहीं मिलता और अधिक संभव यह प्रतीत होता है कि 'आदि-रामायण' में भी शबरी का उल्लेख नहीं था । परवर्ती राम-साहित्य में शबरी की कथा का उत्तरोत्तर विकास

---

१. मानस- अरण्यकांड, पृ० ६६५-६६६
२. रामचन्द्रिका - १२।३३-३७
३. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४२७ (२०२१वि०)

हुआ है ।"[१]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार कबंध राम को मतंगाश्रम का मार्ग बताकर शबरी का परिचय देता हुआ कहता है कि मतंगाश्रम के ऋषि तो चले गये किन्तु उनकी परिचारिणी श्रमणी शबरी अब तक वहां विद्यमान है और देवोपम राम के दर्शन करने के बाद वह स्वर्गलोक के लिए प्रस्थान करेगी ।[२] राम शबरी के आश्रम में पहुंचकर तथा उनका आतिथ्य-सत्कार स्वीकार कर उसकी तपश्चर्या के विषय में प्रश्न करते हैं । इस पर शबरी उत्तर देती है कि जिस समय राम चित्रकूट पहुंचे, यहां के ऋषि, जिनकी सेवा मैं करती थी, स्वर्ग को चले गए । जाते समय ऋषियों ने कहा था, कि लक्ष्मण के साथ राम अतिथि के रूप में यहां पधारेंगे, उनके दर्शन करने के पश्चात् शबरी भी स्वर्ग जा सकती है ।' शबरी राम से यह भी निवेदन करती है कि मैंने आपके लिए पम्पा-सरोवर के निकटवर्ती वन के विविध कन्दमूल एकत्र कर रखे हैं :-

मया तु विविधं वन्यं संचितं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीर संभवम् ।। १७ ।।[३]

शबरी अपने गुरुओं का गुणगान करती हुई राम-लक्ष्मण को मतंगवन के दर्शन कराती है । अन्त में वह उन ऋषियों के पास जाने की इच्छा प्रकट करती है तथा राम की आज्ञा लेकर अग्नि में प्रवेश करती है ।[४]

'अध्यात्म-रामायण' में भी शबरी प्रसंग वर्णित है । कबंध शबरी की राम-भक्ति का उल्लेख करता है तथा राम को आश्वासन देता है कि शबरी उनको सीता के विषय में सब बातें बता देगी । शबरी भक्तिपूर्वक राम-लक्ष्मण

---

१. रामकथा, कामिल बुल्के, पृ० ४३४ (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)
२. वाल्मीकि रामायण ३।७३।२६-२७ (रामनारायणलाल,प्रयाग)
३. ,, ३।७४।१७ ,,
४. ,, ३।७४।२६-३४ ,,

का आतिथ्य सत्कार करती है तथा उनको अपने इकट्ठे किये हुए दिव्य फल अर्पित करती है। वह यह भी बतलाती है कि इस आश्रम में पहले उसके जो गुरु निवास करते थे, उनके आदेशानुसार वह राम का ध्यान करती हुई उनकी प्रतीक्षा करती रही। अन्त में वह राम से पूछती है कि मैं मूर्ख स्त्री हीन जाति जाति में उत्पन्न होते हुए भी आपके दर्शनों के योग्य क्यों हुई। राम उससे कहते हैं कि पुरुषत्व, स्त्रीत्व, जाति, नाम, आश्रम आदि का कोई महत्त्व नहीं है। भक्ति ही सर्वोपरि है। तत्पश्चात् राम शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि उन साधनों द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति का आविर्भाव होता है, जिससे इसी जन्म में मुक्ति मिलती है। अन्त में राम सीता के विषय में पूछते हैं। शबरी राम को उनकी सर्वज्ञता का स्मरण दिलाती है और कहती है कि सीता लंका में है और वह राम को सुग्रीव के पास जाने का परामर्श देती है। अन्त में वह अग्नि में प्रवेश करती है और रामकृपा से मोक्ष प्राप्त करती है।[1]

'आनन्द-रामायण'[2], 'पद्मपुराण'[3], 'रामचन्द्रिका'[4] तथा 'रामचरितमानस'[5] में शबरी की कथा 'अध्यात्म रामायण' के अनुसार ही मिलती है।

भक्तमाल की प्रियादासकृत टीका (१८ वीं श०ई०) प्राचीनतम रचना है जिसमें शबरी की कथा वर्णित है। राम ने शबरी के यहाँ जाकर उसका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण किया तथा उसके जूठे फल खाए।[6]

'साकेत' में वर्णित शबरी की कथा के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' 'अध्यात्म रामायण', 'आनन्दरामायण', पद्मपुराण' 'रामचन्द्रिका' तथा 'रामचरित मानस' में प्राप्त होते हैं। इन सभी ग्रन्थों में यह कथा पर्याप्त विस्तार पूर्वक वर्णित है परन्तु गुप्तजी ने केवल दो पंक्तियों में इस कथा का संकेत मात्र किया है।

---

१. अध्यात्म रामायण ३।१०।१-४४ (गीता प्रेस गोरखपुर)

२. आनन्दरामायण १।७।१६०-१६६

३. पद्मपुराण ६।२६६।२६५-२६८

४. रामचन्द्रिका, १२।४२-४६ (रामनारायण लाल,प्रयाग)

५. मानस ३।३४-३६(ना०प्र०सभा,काशी)

२८ हनुमान-सुग्रीव से भेंट -

'साकेत' में यह कथा वर्णित है कि सीता को खोजते हुए जब राम और लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वत के पास पहुंचते हैं तो वहां हनुमान और सुग्रीव आदि वानरों से भेंट होती है। हनुमान स्वयं कहते हैं -

आगे ऋष्यमूक पर्वत पर,
वानर हों कहिये, हम थे,
भिन्न प्रकृति वाले होकर भी
आकृति में नर के सम थे।[१]

वे यह भी बतलाते हैं कि रावण जब सीता को हरण करके लिए जा रहा था तो सीता जी ने अश्रु और मोती के हार वहां गिराए। अश्रु तो सूख गए परन्तु हार को उठाकर हमने राम को दिया।

लिए जा रहा था रावण-वक
जब शफरी-सी सीता को,
देखा हमने स्वयं तड़पते
उन पद्मिनी पुनीता को।
हिम-सम अश्रु और मोती का
हार उन्होंने हमें निहार,
उछाल दिया मानों झोंके से,
देकर निज परिचय दो बार।
अश्रुबिन्दु तो पिरो ले गईं
किरणें स्वर्णाभरण विचार,
उनका स्मारक छिन्न हार ही
हुआ वहां प्रभु का उपकार।[२]

'वाल्मीकि- रामायण' के अनुसार सुग्रीव राम-लक्ष्मण को देखकर तथा उनको बालि के गुप्तचर समझकर भयभीत हुआ और उसने पता लगाने के लिए हनुमानको

---

१. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ४२८ (२०२१वि०)
२ ,, ,, पृ० ४२६ ,,

भेज दिया । हनुमान एक भिक्षु का रूप धारण कर राम और लक्ष्मण के पास आए, और अपना परिचय देकर कहा कि सुग्रीव आपसे मित्रता करना चाहता है । राम ने सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा की । हनुमान ने लक्ष्मण से सीताहरण की कथा सुनकर सुग्रीव की सहायता का आश्वासन दिया और अपने वानर रूप में प्रकट होकर तथा राम लक्ष्मण दोनों को अपने कंधे पर चढ़ा कर दोनों को पर्वत के शिखर पर सुग्रीव के पास पहुंचा दिया :-

भिक्षु रूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थित: ।

पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुंजर: [1] ।।३४।३

इस प्रकार राम और लक्ष्मण-ऋष्यमूक पर्वत पर जा पहुंचे । [2]

तदनन्तर सुग्रीव राम को बतलाते हैं कि रुदन करती हुई आपकी भार्या मिथिलेशनन्दिनी जानकी को राक्षस हर ले गया, जिस समय कि आप और लक्ष्मण उपस्थित न थे ।

रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा ।

त्वया वियुक्ता रुदती लक्ष्मणेन च धीमता ।।३।। [3]

सुग्रीव कहता है कि मैं वेदश्रुति की भांति सीता को छुड़ा कर आपके निकट आऊंगा । वह रावण की गोद में नागिन की तरह छटपटा रही थी । उस समय मुझ समेत पांच वानरों को पर्वत पर बैठा देख उत्तरीय वस्त्र सहित कई एक उत्तम आभूषणों को ऊपर से छोड़ा । उन सब को मैंने उठा कर रख छोड़ा है -

स्फुरन्ती रावणस्याङ्के पन्नगेन्द्रवधूर्यथा ।

आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतटे स्थितम् ।।१०।।

उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ।

तान्यस्माभिर्गृहीतानि निहितानि च राघव ।। ११। [4]

सुग्रीव द्वारा सीता की के आभूषणों के दिखाए जाने पर राम व्याकुल हो उठे और आभूषणों को हृदय से लगा-लिया :-

---

१. वाल्मीकि रामायण ४।४।३४ (प्रका० रामना०,प्रयाग)

२. ,, ४।२-४ ,,

३. ,, ४।६।३ ,,

४. ,, ४।६।१०-११ ,,

हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतिक्षतौ ।
इति कृत्वा तु तद्गुह्यस्तमलंकारमुत्तमम् ।। १७ ।[१]

'अध्यात्म-रामायण' में भी सुग्रीव के भेजने पर हनुमान ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप बनाकर राम लक्ष्मण के पास आए और राम का परिचय पूछा । अपना परिचय देते हुए हनुमान ने कहा कि मैं वानरों के राजा सुग्रीव का मंत्री और वायु का पुत्र हूं, मैं हनुमान नाम से विख्यात हूं । अनन्तर हनुमान यह भी कहते हैं कि मैं आपको सुग्रीव से मित्रता करनी चाहिए, वे आपकी भार्या को चुराने वाले का वध करने में आपके सहायक होंगे । जब राम सुग्रीव के पास जाने के लिए तत्पर हो गए तो हनुमान ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और राम तथा लक्ष्मण को अपने दोनों कंधों पर उठा कर पर्वतपर सुग्रीव के पास ले गए । सुग्रीव ने राम को बताया कि एक दिन मैं पर्वत के शिखर पर मंत्रियों के साथ बैठा था तो उस समय किसी उत्तम स्त्री को एक राक्षस उठा कर लिए जा रहा था । वह राम-राम कह कर विलाप कर रही थी । उसने हमें देख कर तुरंत ही अपने आभूषण उतारे और एक कपड़े में बांध कर हमारी ओर देख कर नीचे गिरा दिये । मैंने उन आभूषणों को गुफा में छिपा कर रख दिया है । जब राम ने उन्हें देखा तो वे उन आभूषणों को हृदय से लगा कर साधारण पुरुषों के समान विलाप करने लगे ।[२]

'रामचरित - मानस' में भी सुग्रीव हनुमान को आज्ञा देता है कि तुम बटु (ब्रह्मचारी) का वेश बनाकर देखो कि ये दोनों (राम-लक्ष्मण) कौन हैं ? हनुमान जी ब्राह्मण का वेश बनाकर राम के पास गए और राम का परिचय प्राप्त कर उनके चरणों पर गिर पड़े और उनकी स्तुति की । अनन्तर हनुमान अपनी पीठ पर चढ़ा कर राम और लक्ष्मण को सुग्रीव के पास ले गए । सुग्रीव और राम ने मित्रता का संबंध स्थापित किया । सीता-हरण की बात सुन कर सुग्रीव ने बताया- कि एक दिन मंत्रियों के साथ मैं पर्वत पर बैठा था कि आकाश-

---

१. वाल्मीकि रामायण ४।६।१७ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. अध्यात्मरामायण४।१।१-४१ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

मार्ग से मैंने उन्हें जाते हुए देखा । वे 'राम-राम' पुकार रही थीं और हम-लोगों को देखकर उन्होंने कपड़ा फेंक दिया । राम ने वह वस्त्र सुग्रीव से माँग कर देखा और उसे हृदय से लगा कर बहुत शोक किया । 'मानस' में सीता द्वारा आभूषणों के गिराने का वर्णन नहीं है, वे केवल वस्त्र मात्र गिराती हैं ।[१]

'पद्मपुराण' में लिखा है कि जब राम लक्ष्मण की गोद में सिर रख कर विश्राम कर रहे थे तब उन्होंने एक 'मणिकुंडल हैमपिंगलं वानरम्' को देखा था ।[२]

'साकेत' में वर्णित राम के सुग्रीव और हनुमान से मिलन की कथा के स्रोत 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', तथा 'रामचरित -मानस' में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं । इन आधार ग्रन्थों में यह कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है, परन्तु गुप्त जी ने 'साकेत' में इसका संकेत मात्र किया है ।

३१. बालि-वध--

'साकेत' में राम द्वारा बालि-वध की अन्तर्कथा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है । सुग्रीव से मिलने के पश्चात् राम बालि का वध करते हैं । यथा--

कह सुकण्ठ[३] को बन्धु उन्होंने
　　　　क्रिया कृतार्थ अंक भर भेंट ,
बर्बर पशु कह एक बाण से
　　　　किया बालि का फिर आखेट ।[४]

---

१. मानस- किष्किन्धा काण्ड, पृ० ७१६-७२० (ना०प्र०सभा,काशी)

२. पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ११२।१३५ (वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई)

३. सुकण्ठ-सुग्रीव

४. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४२६

'वाल्मीकि-रामायण' में बालि-वध का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। ऋष्यमूक पर्वत पर राम-लक्ष्मण के स्वागत के पश्चात् सुग्रीव और राम ने अग्नि की प्रदक्षिणा करके सख्य कर लिया। राम ने बालि के विरुद्ध सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा की और सुग्रीव ने सीता द्वारा फेंके हुए आभरण दिखलाकर सीता की खोज करवाने का वचन दिया। अनन्तर सुग्रीव ने विस्तारपूर्वक बालि की शत्रुता की कथा सुनाई और राम ने उसको दण्ड देने की पुनः प्रतिज्ञा की।[1] इस पर सुग्रीव ने राम से कहा कि ध्यान पूर्वक बालि के पराक्रम का वर्णन सुनकर आगे का कार्यक्रम निश्चित कर लीजिये। तब उसने बालि की वीरता के दो उदाहरण प्रस्तुत किए।[2] राम ने भी अपनी बल परीक्षा सुग्रीव के सामने दी।[3]

'वाल्मीकि-रामायण' में बालि-सुग्रीव के दो द्वन्द्व युद्धों का वर्णन किया गया है। बालि और सुग्रीव की आकृति एक समान होने के कारण प्रथम द्वन्द्व युद्ध के समय राम दोनों भाइयों को पहचानने में असमर्थ थे जिससे पराजित सुग्रीव को ऋष्यमूक पर लौटना पड़ा। इसके बाद पहचानने के लिए सुग्रीव को गजपुष्प की माला पहना दी गई।[4] तत्पश्चात बालि और सुग्रीव का द्वितीय द्वन्द्व युद्ध हुआ। इसका वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया गया है। सुग्रीव का आह्वान सुनकर बालि अपनी पत्नी तारा का अनुरोध ठुकरा कर पुनः अपने महल से निकला। सुग्रीव से द्वन्द्व-युद्ध करते समय राम-बाण बालि की छाती में लगा और वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा।[5]

'वाल्मीकि-रामायण' में बालि राम को उनके अधार्मिक-व्यवहार

---

१. वाल्मीकि रामायण ४।५-१० (ग रामना०, प्रयाग)
२. ,, ४।११ ,,
३ ,, ४।१२।१-४ ,,
४. ,, ४।१२।१४-४२ ,,
५ ,, ४।१३-१६ ,,

(छिपकर बाण मारने) के कारण दोष देता है कि मैंने आपके साथ कोई अन्याय नहीं किया था और आपनेअदृश्य रहकर मुझे दूसरे के साथ युद्ध करते समय मारा है । इस पर राम अपनी सफाई में दो बातें कहते हैं । प्रथम तो यह कि मैंने राजा भरत का प्रतिनिधि होकर तुम्हें अनुज (सुग्रीव) की भार्या के अपहरण के कारण समुचित दण्ड दिया है, जैसी कि मैंने सुग्रीव से प्रतिज्ञा की थी । दूसरे धर्मपंडित राजर्षि तक मृगया खेलते हैं, तुम वानर मात्र हो, अत: किसी भी प्रकार से तुम्हारा वध करने का मुझे अधिकार है । बालि राम के ये तर्क स्वीकार कर उनसे क्षमा मांगता है तथा अंगद , सुग्रीव और तारा की रक्षा करने का राम से निवेदन करता है ।[१]

'अध्यात्म-रामायण' में भी 'वाल्मीकि रामायण' के समान ही बालिवध की कथा वर्णित है । अग्नि को साक्षी बनाकर राम ने सुग्रीव से मित्रता की । रामने बालि के वध की प्रतिज्ञा की और सुग्रीव को राजपद देने का वचन दिया ।' अध्यात्म-रामायण' में भी बालि और सुग्रीव के दो द्वन्द्व युद्धों का वर्णन है । राम की आज्ञा पाकर प्रथम बार जब बालि और सुग्रीव ने द्वन्द्व युद्ध प्रारंभ किया तो राम दोनों की आकृति एकसी होने के कारण पहचान न सके । अत: इस आशंका से कि कहीं सुग्रीव न मारा जाय, राम ने बाण नहीं छोड़ा । दूसरी बार राम ने सुग्रीव के गले में लक्ष्मण द्वारा एक पुष्प की माला डलवा दी । सुग्रीव ने द्वन्द्व-युद्ध के लिए बड़ा विचित्र शब्द करते हुए बालि को पुकारा । अपनी पत्नी तारा के रोकने पर भी बालि युद्ध के लिए चल पड़ा । तारा ने यह भी आशंका प्रकट की कि राम और लक्ष्मण सुग्रीव के सहायक हो गए हैं । बालि ने कहा कि यदि राम होंगे तो मैं उन्हें भक्ति पूर्वक प्रसन्न कर लूंगा । अनन्तर बालि और सुग्रीव युद्ध करने लगे । राम एक वृक्ष की आड़ में छिपे हुए थे । सुग्रीव की दृष्टि राम की ओर ही लगी हुई थी । इसी समय वृक्ष की ओट से राम ने एक बाण बालि को निशाना बना कर छोड़ दिया । उस बाण ने बालि के वक्ष:स्थल को बेध डाला ।' इस समय बालि ने'वाल्मीकि-रामायण' के समान ही राम से छिपकर उसको बाण मारने का कारण पूछा और रामने उसका समाधान

---

१ वाल्मीकि रामायण, ४।१७-१८ (रामनारायण)

किया है । अनन्तर आहत बालि ने राम को पहचान कर उनकी वंदना की । बालि ने अपने पुत्र अंगद की रक्षा का भार राम पर छोड़ा और परमधाम को सिधार गया ।[१]

'रघुवंश' में बालि-वध की अन्तर्कथा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है । सुग्रीव का राज्य तथा उसकी पत्नी को उसके भाई बालि ने छीन लिया था । सुग्रीव ने राम से मित्रता कर ली । तब राम ने बालि को मारकर उसके सिंहासन पर सुग्रीव को बैठा दिया ।[२]

'रामचरित-मानस' में भी बालि-वध की अन्तर्कथा वर्णित है । सुग्रीव की राम से मित्रता हो जाने पर सुग्रीव ने बताया कि उसके भाई बालि ने स्त्री सहित उसका सब धन आदि छीन लिया है । राम ने उसे आश्वासन दिया कि मैं एक बाण से ही बालि के प्राण ले लूँगा । 'मानस' में भी 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म-रामायण' की भाँति सुग्रीव और बालि के दो युद्धों का वर्णन है । पहले युद्ध में राम ने दोनों आकृति एक समान होने के कारण बालि को नहीं पहचाना और बाण नहीं चलाया । दूसरे द्वन्द्व युद्ध से पहले राम ने सुग्रीव के गले में एक पुष्पों की माला डाल दी । अनन्तर राम ने एक बाण बालि के हृदय में मारा । बालि पृथ्वी पर गिर पड़ा । फिर राम को पहचान कर उसने भाँति-भाँति से राम की वंदना की । सुग्रीव ने बालि का संस्कार किया । अनन्तर राम ने सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दिया । बालि को मोक्ष प्राप्त हुआ ।[३]

अधिकांश अर्वाचीन राम-कथाओं में राम द्वारा बालि के मारे जाने और उसकी मुक्ति-प्राप्ति का वर्णन किया गया है । बालि प्राय: नारायण के रूप में राम की स्तुति करने के पश्चात स्वर्ग की ओर प्रस्थान करता है, जैसे — 'पद्मपुराण'[४] 'आनन्द रामायण'[५] आदि ।

---

१. अध्यात्म रामायण ४।२ (गीताप्रेस गोरखपुर)

२ रघुवंश १२।५७,५८ (पंडित पुस्तकालय, काशी)

३. मानस किष्किन्धा काण्ड, पृ० ७२०-७२६, काशी ना०प्र०सभा, सं०श्यामसुन्दरदास

४. पद्मपुराण ४।११२।१९४-१९६ (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

५. आनन्द रामायण १।८।६३ (गोपालनारायण (बम्बई) का संस्करण)

'साकेत' में वर्णित राम द्वारा बालि-वध की कथा के स्रोत ग्रन्थ 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म-रामायण' तथा 'रामचरित मानस' प्रतीत होते हैं। इन तीनों में लगभग एक समान ही अन्तर्कथा को गुप्त जी ने 'साकेत' में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में रखा है।

३१. वानरों का प्रेषण और हनुमान को मुद्रिका देना

'साकेत' के अनुसार बालि-वध के पश्चात सुग्रीव अपने राज्य और स्त्री को पाकर राम को दिया हुआ सहायता का वचन भूल गया। तब क्रोधित होकर लक्ष्मण सुग्रीव के पास किष्किन्धा गए। सुग्रीव लज्जित होकर तारा को आगे करके राम के पास आए और राम ने उसे क्षमा कर दिया। सीता की खोज लाने के लिए हनुमान को अपनी मुद्रिका दी। सहस्रों वानर सीता की खोज में चले। हनुमान इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं —

" भूला पाकर किष्किन्धा का
राज्य और दारा सुग्रीव,

× ×

पहुँचे पुर में प्रकुपित होकर
धन्वी लक्ष्मण चारु चरित्र।
तारा को आगे करके तब
नत वानर पति शरण गया,
देख दीन अबला को सम्मुख
आवेगी किसको न दया ?
गए सहस्र सहस्र कीश तब
करने को देवी की खोज,
दी मुद्रिका मुझे प्रभुवर ने,
फेरा मुझ पर स्वकर सरोज।" [१]

---

१ साकेत- एकादश सर्ग- पृ० ४३० (२०२१वि०)

'वाल्मीकि-रामायण' में वानरों के प्रेषण की अन्तर्कथा सविस्तार वर्णित है । शरत्काल के प्रारंभ में सुग्रीव ने हनुमान के अनुरोध पर नील को सेना बुलाने का आदेश दिया ।[१] विरही राम ने सुग्रीव की निष्क्रियता की भर्त्सना करके लक्ष्मण को किष्किन्धा भेज दिया ।[२] लक्ष्मण ने किष्किन्धा में प्रवेश किया ।[३] वहां जाकर अकृतज्ञ सुग्रीव को धमकी दी । सुग्रीव ने दीनता-पूर्वक क्षमायाचना की और लक्ष्मण के साथ राम के पास जाना स्वीकार किया।[४] यहां सुग्रीव के संग तारा के आने का वर्णन नहीं है । राम ने सुग्रीव का प्रेमपूर्वक स्वागत किया । उन्होंने बड़े प्रेम के साथ और सम्मान पूर्वक सुग्रीव को अपने हृदय से लगा लिया और इसके बाद बैठने को कहा --

प्रेम्णा च बहुमानाच्च राघवः परिषस्वजे ।
परिष्वज्य च धर्मात्मा निषीदेति ततोऽब्रवीत् ।। १६ ।।[६]

सुग्रीव ने अपने साथ आए हुए वानरों को दिखाकर राम की आज्ञा मांगी ।[७] सुग्रीव से हनुमान की योग्यता जान कर राम ने अभिज्ञानस्वरूप अपनी अंगूठी हनुमान को सौंप दी और हनुमान अपने साथियों के साथ सीता की खोज में निकल पड़े ।[८]

'अध्यात्म-रामायण' में भी यह अन्तर्कथा सविस्तार वर्णित है । वर्षाकाल बीत जाने पर और शरत्काल आ जाने पर राम ने चिंतित होकर लक्ष्मण से कहा कि अभी तक सीता को खोजने के लिए सुग्रीव नहीं आया । वह कृतघ्न मुझे भूल गया प्रतीत होता है । राम के भेजने पर लक्ष्मण किष्किन्धा

---

१. वाल्मीकि रामायण ४।२६ (रामनारायणलाल,प्रयाग)
२. ,, ४।३० ,,
३. ,, ४।३३ ,,
४. ,, ४।३४ ,,
५. ,, ४।३६ ,,
६. ,, ४।३८।१६ ,,
७. ,, ४।४० ,,
८. ,, ४।४४ ,,

जाते हैं। लक्ष्मण को वहाँ आया जानकर मंत्रिवर अंगद वहाँ आते हैं और लक्ष्मण को दण्डवत प्रणाम करते हैं। अंगद द्वारा लक्ष्मण सुग्रीव को बुलाते हैं। सुग्रीव भयभीत हो जाता है और हनुमान को भेजकर सादर लक्ष्मण को लाने के लिये कहता है। अनन्तर वह अपनी पत्नी तारा के पास गया और कहने लगा कि तुम आगे जाकर अपनी मधुर वाणी से वीरवर लक्ष्मण को शान्त करो और जब वे शान्त हो जायं तब उन्हें अन्त:पुर में लाकर मुझसे मिलाओ। यथा :-

त्वं गच्छ सान्त्वयन्ती तं लक्ष्मणं मृदुभाषितैः ।
शान्तमंतः पुरं नीत्वा पश्चाद्दर्शय मेऽनघे ।। ३५ ।।[१]

तारा लक्ष्मण से, उनके क्रोध को शान्त करने के लिए क्षमा याचना करती है और मृदु वचन कहती है। तारा के कथन से लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो जाता है। अनन्तर लक्ष्मण सुग्रीव को लेकर राम के पास गए।[२] राम ने सुग्रीव को अपने पास बैठाकर सत्कार किया। सुग्रीव ने अपनी वानर सैना की शूरता बताई और राम से कहा कि आप अब उन्हें अपनी इच्छानुसार आज्ञा दीजिए। राम वानरों को सीता की खोज के लिए भेजते हैं। हनुमान को जाता देखकर राम ने कहा, तुम यह मेरी अंगूठी ले जाओ, इसपर मेरे नामाक्षर खुदे हुए हैं। इसे अपने परिचय के लिए तुम एकान्त में सीता जी को दे देना :-

गच्छन्तं मारुतिं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
अभिज्ञानार्थमेतन्मे ह्यङ्गुलीयकमुत्तमम् ।। २८ ।।[३]

'रामचरित-मानस' में भी राम लक्ष्मण को किष्किन्धा भेजते हैं कि वे सुग्रीव को बुला कर लायें। क्रोधित लक्ष्मण को आया देखकर सुग्रीव तारा को हनुमान के साथ भेजते हैं। हनुमान तारा को लेकर लक्ष्मण के पास जाते हैं, राम की स्तुति करते हैं और लक्ष्मण को सुग्रीव के घर लाकर आदर सत्कार करते हैं। लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो जाता है और वे सुग्रीव को गले लगाते हैं। अनन्तर सब राम के पास आते हैं। सुग्रीव राम की स्तुति करते

---

१. अध्यात्म रामायण ४।४।३५ (गीता प्रैस, गोरखपुर)
२. ,, ४।५।१-५६ ,,
३. ,, ४।६।२८ ,,

हैं। इतने में सब वानर आ जाते हैं और उन्हें सुग्रीव सीता की खोज में भेजते हैं। तत्पश्चात् राम ने हनुमान को बुलाकर उन्हें अपनी अंगूठी दी और सीता को समझाने के लिये कहा।[१]

'आनन्द-रामायण' के अनुसार रामने हनुमान को अंगूठी के अतिरिक्त अपना निज मंत्र भी दिया और सीता के भाल पर तिलक लगाने तथा उनके कपोलों पर पत्रावली की रचना करने का वृत्तान्त सुनाया।[२]
अभिनन्दन कृत 'रामचरित' में राम अपनी मुद्रिका के अतिरिक्त सीता का नूपुर और कानों के कुंडल भी देते हैं तथा हनुमान को अपनी वंशावली भी सिखाते हैं।[३]

'भावार्थ-रामायण' में हनुमान अभिज्ञान के रूप में सीता से कहते हैं कि जब आप वल्कल पहनने में असमर्थ थीं तब राम ने आपकी सहायता की थी।

'साकेत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत का मुख्य रूप से 'अध्यात्म-रामायण' और 'रामचरित मानस' में प्राप्त होते हैं। अन्य राम-कथाओं में यह प्रसंग आया तो अवश्य है, परन्तु थोड़ी-थोड़ी भिन्नता भिन्नता लिए हुए है। 'वाल्मीकि रामायण' में भी वानरों के प्रेषण और हनुमान को राम द्वारा अंगूठी देने का सविस्तार वर्णन है परन्तु 'साकेत' के अनुसार तारा का सुग्रीव के लिए क्षमा मांगना नहीं वर्णित है। अध्यात्मरामायण और रामचरित मानस में तारा द्वारा क्षमा मांगना वर्णित है। अत: साकेत की यह अन्तर्कथा 'वाल्मीकि-रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' और 'रामचरित मानस' के अधिक निकट है।

३१ लंका में हनुमान का प्रवेश —

साकेत के अनुसार राम से अंगूठी प्राप्त कर हनुमान लंका गए। समुद्र को गोष्पद सा मान कर हनुमान ने उसे पार किया। मार्ग में दो एक बाधाएं आईं परन्तु हनुमान को सिद्धि मिल गई और वे लंका में प्रविष्ट

---

१. मानस-किष्किन्धा काण्ड, पृ० ७३६-७४१ ना०प्र०सभा, काशी, संपा० श्यामसुन्दरदास
२. आनन्द रामायण १।८।६३-६७ (गोपालनारायण (बम्बई) का संस्करण)
३. रामचरित, सर्ग ८

हो गए । (मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएं मिलीं, इसका वर्णन साकेत में नहीं है ।) हनुमान स्वयं अपने लंका प्रवेश का वर्णन करते हुए कहते हैं —

' पार किया मकरालय मैंने
उसे एक गोष्पद-सा मान ।
देख एक दो विघ्न बीच में
हुआ मुझे उलटा विश्वास —
बाधाओं के भीतर ही तो
कार्य सिद्धि करती है वास ।'[1]

'वाल्मीकि-रामायण' में हनुमान के समुद्र-लंघन और लंका-प्रवेश का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है । मार्ग की बाधाओं में मैनाक पर्वत, सुरसा तथा सिंहिका की कथा आती है । हनुमान समुद्रलंघन करने के लिए महेन्द्राचल पर्वत पर चढ़ गए और अपने शरीर को बहुत बढ़ाया और कूदने के समय पर्वत को इतने ज़ोर से दबाया कि वह अचल पर्वत चलायमान हो गया । उन्होंने अपने पर्वताकार शरीर को फुलाकर महामेघ की तरह गर्जन किया और कूद कर उड़ चले । हनुमान जी के उड़ने का बड़ा रोमांचकारी वर्णन किया गया है ।[2]

समुद्रलंघन के समय समुद्र के बीच में स्थित मैनाक पर्वत विघ्न की तरह बीच में दिखाई दिया । हनुमान जी ने उस अत्यन्त ऊँचे मैनाक को अपनी छाती की ठोकर से वैसे ही हटा दिया जैसे पवन बादलों को हटा देती है । हनुमान ने मैनाक को नीचे बैठा दिया :-

मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चित : ।
स समुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपि: ।। १०४ ।।
उरसा पातयामास जीमूतमिव मारुत: ।
स तथा पातितस्तेन कपिना पर्वतोत्तम: ।। १०५ ।।[3]

तब स मैनाक, हनुमान जी के वेग का अनुभव करके प्रसन्न हुआ और आकाश की ओर बढ़कर हनुमान से बोला कि तुमने अत्यन्त दुष्कर कार्य

---

१. साकेत - एकादश सर्ग, पृ० ४३१ (२०२१ वि०)
२. वाल्मीकि रामायण - ५।१।१-६० (प्रका० रामना०,प्रयाग)
३. ५।१।१०४-१०५

किया है । अत: तुम थोड़ी देर मेरे शृंगपर विश्राम कर लो । मैनाक पर्वत ने भाँति-भाँति से हनुमान की प्रशंसा और वंदना की । हनुमान ने मैनाक से कहा कि मैं मार्ग में नहीं रुक सकता । क्योंकि एक तो मुझे अपने कार्य की त्वरा है, दूसरे मैंने वानरों से यह प्रतिज्ञा की है कि मैं बीच में कहीं न ठहरूंगा । तत्पश्चात् हनुमान ने मैनाक को हाथ से स्पर्श किया और हँसते हुए आकाश में उड़ चले ।[१] हनुमान के मार्ग में दूसरा विघ्न देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों ने सूर्य के समान प्रकाशवाली नागों की माता सुरसा से डलवाया । देवताओं की आज्ञा पाकर सुरसा ने राक्षसी का रूप धारण किया और समुद्र के बीच में जा खड़ी हुई । वह हनुमान से बोली कि ईश्वर ने तुमको मेरा भक्ष्य बनाया है अत: मैं तुमको खाऊंगी । हनुमान ने कहा कि मैं अपना कार्य करके जब लौटूंगा तब मैं स्वयं आकर तेरे मुंह में प्रवेश करूंगा । परन्तु सुरसा ने कहा कि बिना मेरे मुंह में प्रवेश किये मेरे आगे से कोई जीवित नहीं जा सकता । हनुमान ने सुरसा से कहा कि तू अपना मुंह उतना बड़ा फैला कि मैं अन्दर जा सकूं । सुरसा अपना मुंह फैलाती गई और हनुमान अपना आकार फैलाते गये । जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन फैलाया तब हनुमान ने अपने शरीर को एकाएक समेट कर अंगूठे के बराबर कर लिया और सुरसा के मुंह में प्रवेश कर तुरंत निकल आए । और आकाश में पहुंचकर सुरसा से बोले कि तुमको नमस्कार है । मैं तेरे मुख में प्रवेश कर चुका ।[२] इस प्रकार हनुमान जी पुन: आगे चले । हनुमान के मार्ग में तीसरा विघ्न समुद्र में रहने वाली बूढ़ी कामरूपिणी सिंहिकी नामक राक्षसी ने डाला । उसने हनुमान को अपना भोजन बनाने के लिए उनकी परछाईं को पकड़ लिया । हनुमान जी ने इसका कारण जानने के लिए जब चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो समुद्र में सिंहिका को देखकर पहचाना । हनुमान ने अपना शरीर खूब बढ़ाया । और हनुमान को सबसे बड़े बढ़ाते देख सिंहिका ने भी अपना मुख बढ़ाया और हनुमान को खाने दौड़ी । हनुमान ने अपना शरीर अत्यन्त छोटा कर लिया और उसके मुंह में

---

१. वाल्मीकि रामायण -५।१।१०६-१२६ (प्रका० रामना०, प्रयाग)
२. ,, ५।१।१४१-१६ ,,

घुस कर अपने पैने नखों से उसके मर्मस्थल चीर-फाड़ डाले । और शीघ्र ही वहां से निकल कर आगे चल पड़े ।[1] हनुमान अनेक प्रकार की बातें सोचते हुए समुद्र को फांद कर लंका में गए :-

> सतु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः ।
> जगाम वेगवांल्लंकां लंघयित्वा महोदधिम् ।। ५ ।।[2]

'अध्यात्म-रामायण' में भी हनुमान द्वारा समुद्रोलंघन और लंका प्रवेश का वर्णन लगभग 'वाल्मीकि-रामायण' के समान ही मिलता है । राम से अंगूठी प्राप्त कर हनुमान ने वायु वेग से उड़ान लगाई और वे सागर के ऊपर से जाने लगे । उस समय देवताओं ने हनुमान के बल की परीक्षा लेना चाहा । उन्होंने नागमाता सुरसा से कहा कि तुम अभी जाकर इस वानर श्रेष्ठ के मार्ग में कुछ विघ्न खड़ा करो और इसकी बल-बुद्धि का पता लगाकर तुरन्त लौट आओ । सुरसा हनुमान का मार्ग रोक कर खड़ी हो गई और हनुमान से कहा हे महामते ! शीघ्र ही मेरे मुख में प्रवेश करो, मैं भूख से अत्यन्त व्याकुल थी अतः देवताओं ने तुम्हें मेरा भक्ष्य बनाया है । हनुमान ने कहा कि मैं रामचन्द्र जी की आज्ञा से जानकी को देखने जा रहा हूं, लौट कर राम को समाचार देकर फिर मैं तेरे मुख में प्रवेश करूंगा ।' परन्तु सुरसा के न मानने पर हनुमान ने कहा कि अच्छा अपना मुख खोल मैं उसमें घुसकर तुरंत लंका को चला जाऊंगा । यह कह कर हनुमान ने अपना एक योजन लम्बा-चौड़ा कर लिया । सुरसा ने भी अपना मुंख फैला लिया । अनन्तर हनुमान एक अंगूठा के आकार का होकर उसके मुख में जाकर बाहर निकल आए और सुरसा को नमस्कार करके आगे चल पड़े[3]। 'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार आगे चलने पर मैनाक-पर्वत समुद्र में बहुत ऊंचा निकल आया और हनुमान से बोला कि मुझे मारुत ने तुम्हें विश्राम देने की आज्ञा दी है । आप मेरे अमृत-तुल्य पके फल खाइए । परन्तु हनुमान ने कहा कि कार्य के लिए जाते हुए मैं भोजन आदि कैसे कर सकता हूं और मुझे जल्दी

---

१. वाल्मीकि रामायण, ५।१।१८२-१८५ , (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, ५।२।५ ,,
३. अध्यात्म-रामायण ५।१।१-२२ गीताप्रेस,गोरखपुर

भी है । अनन्तर हनुमान केवल मैनाक को अंगुली से स्पर्श करके आगे चले गए ।[१] आगे जाने पर मार्ग में सिंहिका नामकी राक्षसी ने हनुमान की छाया को को पकड़ लिया । हनुमान ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई । जल के भीतर सिंहकी राक्षसी दिखाई पड़ी । हनुमान तुरन्त जल में कूद पड़े और सिंहकी को पदाघातों से मार डाला ।[१] अनन्तर हनुमान ने सूक्ष्म रूप धारण करके लंका में प्रवेश किया ।[२]

'रामचरित-मानस' में भी इसी प्रकार हनुमान राम से मुद्रिका प्राप्त करके समुद्रलंघन करते हैं । मार्ग में मैनाक पर्वत को हाथ से स्पर्श करके आगे बढ़ते हैं । देवताओं द्वारा विघ्न उपस्थित करने के लिए भेजी गई सुरसा के मुंह में छोटे आकार का बनकर घुस गए और पुन: आगे चल पड़े । आगे चलकर समुद्र में निवास करने वाली भयंकर राक्षसी ने हनुमान की छाया को पकड़ लिया और उन्हें खाना चाहा । हनुमान ने उसे तुरन्त पहचान लिया और उसे तुरन्त मार डाला और समुद्र पार कर गए । यहां गोस्वामी तुलसीदास ने इस राक्षसी का नाम नहीं बताया है । वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म-रामायण में इसे 'सिंहिका' राक्षसी कहा गया है ।

'साकेत' की इस अन्तर्कथा के स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण' 'अध्यात्मरामायण' और रामचरित मानस' में प्राप्त होते हैं । आधार ग्रन्थों की इस विस्तृत अन्तर्कथा को कवि अत्यन्त संक्षेप में वर्णित करता है । समुद्र-लंघन के समय, मार्ग में आए विघ्नों का वर्णन कवि अनावश्यक विस्तार के भय से नहीं करता ।

हनुमान द्वारा 'बाधाओं के भीतर ही तो कार्य सिद्धि करती है वास' कहला कर कवि मानव को बाधाओं से जूझने का मार्ग बताता है ।

---

१. अध्यात्म रामायण - ५।१।३४-३८ गीता प्रेस, गोरखपुर
२. ,, ५।१।४३ ,,

२४. सीता-रावण-संवाद –

'साकेत' के अनुसार जिस रात्रि हनुमान ने अशोक वाटिका में पहुंचकर सीता को देखा उसी रात्रि रावण सीता के पास आया और अपना वैभव बता कर उसे प्रलोभन देने लगा । हनुमान इसका वर्णन करते हुए कहते हैं –

" थी उस समय रात , मैं छिपकर
अश्रु पौंछ था देख रहा ,
आकर काल-रूप रावन ने
उन मुमूर्ष के निकट कहा –
' कहा मान अब भी है मानिनि,
बन इस लंका की रानी,
कहाँ तुच्छ वह राम ? कहाँ मैं
विश्वजयी रावण मानी ?' [१]

सीता ने रावण की कड़ी भर्त्सना की और कहा –

जीत न सका एक अबला का
मन तू विश्वजयी कैसा ?
जिन्हें तुच्छ कहता है, उनसे
भागा क्यों, तस्कर, ऐसा ?
मैं वह सीता हूँ, सुन रावण ,
जिसका खुला स्वयंवर था ,
वर लाया क्यों मुझे न पाकर
यदि यथार्थ ही तू नर था ?
वर न सका कापुरुष , जिसे तू ,
उसे व्यर्थ ही हर लाया ,
अरे, अभागे, इस ज्वाला को
क्यों तू अपने घर लाया ?.
भाषण करने में भी तुझसे
लग न जाय हा ! मुझको पाप

---

१. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४३२ (२०२१वि०)

शुद्ध करूँगी मैं इस तनु को

अग्नि ताप में अपने आप ।"[१]

सीता को अपने प्रण से अडिग देख कर रावण एक मास की अवधि और देकर वहाँ से चला गया । यथा —

"एक मास की अवधि और दे

गया पतित, वे रहीं सता ।"[२]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार भी रावण रात्रि के समय सीता के पास आकर अपने वैभव और ऐश्वर्य की बातें बता कर सीता को प्रलोभन देने की चेष्टा करता है ।[3] वह राम की तुच्छता और अपनी सम्पन्नता बताते हुए सीता से कहता है —

न रामस्तपसा देवि न बलेन न विक्रमैः ।

न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसाऽपि वा ।।३४।।[४]

अर्थात्, हे देवी ! तप, बल, पराक्रम, धन, तेज और यश में राम मेरी बराबरी नहीं कर सकता । अनन्तर वह कहता है कि - हे सुभगे ! चीर वल्कल-धारी राम को लेकर तुम क्या करोगी ? राम तो हारा हुआ है, श्री भ्रष्ट है और वन में रहा करता है । यथा —

किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ।

निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः ।।२६।।[५]

सीता रावण के ऐसे वचनों को सुनकर अत्यधिक दुःखी हुईं और भाँति-भाँति से रावण की भर्त्सना की ।[६]

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४३२-४३३ (२०२१वि०)

२. ,, पृ० ४३३ ,,

३. वाल्मीकि-रामायण, ५।२०।१६-३६ (प्रका० रामनारा०,प्रयाग)

४. ,, ५।२०।३४ ,,

५. ,, ५।२०।२६ ,,

६. ,, ५।२१ ,,

रावण ने क्रोधित होकर दो माह की अवधि और दी तथा कहा कि मैंने जो अवधि निश्चित कर दी है उसमें दो मास अभी शेष हैं, तब तक तो मुझे मेरी रक्षा करनी ही उचित है :-

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृत: ।८।।[१]

और यदि दो मास बीतने पर भी तूने मुझे अपना पति न बनाया तो मेरे रसोइये मेरे प्रात: के भोजन के लिए तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ।[२]

सीता क्रोधित होकर रावण से कहती हैं --तू तो अपने को बड़ा शूरवीर कहता है, कुबेर का भाई बनता है और सबसे अधिक बलवान अपने को समझता है । फिर रामचन्द्र को धोखा दे, तूने उनकी पत्नी को क्यों चुराया ? यथा --

शूरेण धनदभ्रात्रा बलै: समुदितेन च ।
अपोह्य रामं कस्माद्धि दारचौर्यं त्वया कृतम् ।।२२।।[३]

तत्पश्चात सीता को डरा कर रावण अशोक वाटिका से चला जाता है[४]।
'अध्यात्म-रामायण' में अशोकवाटिका में रावण के आने का एक नवीन कारण दिया गया है ।' अध्यात्म रामायण' की तत्सम्बन्धी कथा इसप्रकार है -
रावण उत्सुकतापूर्वक राम की प्रतीक्षा करता था क्योंकि उसे विष्णु के हाथ से मर कर मुक्ति की तीव्र अभिलाषा थी । उसी दिन रावण ने स्वप्न में देखा कि राम का संदेश लेकर कोई कामरूपी वानर वृक्ष की शाखा पर बैठकर सीता को देख रहा है । रावण ने सोचा कि यह स्वप्न संभवत: सच है । अत: उसने निश्चय किया कि मैं अब अशोकवन जाकर सीता को अपने वाग्बाणों से बेध कर दु:ख पहुंचा दूं जिससे वानर यह सब देखकर राम को सुनावे और मुझे शीघ्र ही मुक्ति मिल जाय ।[४क]

---

१. वाल्मीकि रामायण, ५।२२।८,प्रका० रामनारा०,प्रयाग
२. ,, ५।२२।९ ,,
३. ,, ५।२२।२२ ,,
४. ,, ५।२२।४६ ,,
४क. अध्यात्म रामायण ५।२।१५-१६ प्रका०,गीताप्रेस,गोरखपुर

अध्यात्म रामायण के अनुसार रावण सीता के पास पहुंच कर भाँति-भाँति से सीता को प्रलोभन देने की चेष्टा करता है।[१] उसने सीता से कहा कि हे भामिनि! अपने से उदासीन उस नराधम से तुझे क्या लेना है? देख मैं राक्षस श्रेष्ठ तुझको अत्यन्त प्रेम करता हूं, अतः तू मुझे ही अंगीकार कर। यदि तू मेरे आधीन रहेगी तो देव, गंधर्व, नाग, यक्ष और किन्नर आदि की स्त्रियों का शासन करेगी।[२] सीता ने क्रोधित होकर रावण से कहा कि --अरे नीच! इसमें संदेह नहीं कि रघुनाथ जी से डर कर ही तूने भिक्षु का रूप धारण किया था। और उन दोनों रघुश्रेष्ठों की अनुपस्थिति में भी कुत्ता जिस प्रकार सूनी यज्ञशाला से हवि ले जाता है उसी प्रकार तूने मुझे हर लिया है, अतः शीघ्र ही तू उसका फल पाएगा।[३] अन्त में रावण ने दो मास की और अवधि दी और चला गया।[४]

जयदेव (१२ वीं, या १३ वीं श०) कृत प्रसन्नराघव में यह माना गया है कि जब रावण सीता का वध करने पर उतारू हो गया था तब हनुमान ने रावण के हाथ में अक्षय कुमार का मस्तक रख दिया था जिसे देखकर रावण मूर्छित होकर भूमि पर गिर गया था। बाद में सचेत होकर वह हनुमान को पकड़ने के लिए सीता को छोड़कर चला गया।[५]

विमलसूरि कृत 'पउमचरिय' के अनुसार हनुमान ने सीता की गोद में राम की मुद्रिका फेंक दी थी, उसे देखकर सीता को आनन्द हुआ। सीता के प्रसन्न होने के विषय में सुनकर मन्दोदरी तुरन्त उनके पास आकर अनुरोध करती है कि वह रावण को पति-स्वरूप ग्रहण करे। सीता ने अस्वीकार किया जिससे मंदोदरी क्रुद्ध होकर उन्हें मारने के लिए उद्यत हुई। हनुमान ने प्रकट होकर मंदोदरी को रोक दिया और मंदोदरी ने जाकर रावण को यह समाचार

---

१. अध्यात्म रामायण -- ५।२।२२-३० गीता प्रेस, गोरखपुर
२. ,, ५।२।२६-३० ,,
३. ,, ५।२।३२-३३ ,,
४. ,, ५।२।४०-४२ ,,
५. प्रसन्नराघव, अंक ६।३४

किया कि हनुमान आ गए हैं ।[१]

'रामचरित-मानस' के अनुसार रावण अशोक वाटिका में आता है और सीता को प्रलोभन देने की चेष्टा करता है —

" तव अनुचरीं करउं पन मोरा । एक बार बिलोकु मम ओरा ।"[२]

सीता रावण के वचनों को सुनकर कुपित होकर कहती है —

" सठ सूनें हरि आनेहि मोही । अधम निलज्ज लाज नहिं तोही[३] ।"

रावण सीता की बातों से क्रोधित हो उठा और तलवार खींच कर मारने दौड़ा, तब मंदोदरी ने उसे समझाया । रावण एक माह का समय देकर बोला -

" मास दिवस महुं कहा न माना । तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना ।"

इतना कह कर रावण लौट गया ।[४]

साकेत में वर्णित 'सीता-रावण' संवाद के मूल स्रोत 'रामचरित-मानस' में प्रतीत होता है । 'साकेत' के अनुसार रावण एक माह का समय और देकर सीता को, जाता है । 'मानस' में भी एक माह का समय ही वह देता है । परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म-रामायण' में वह दो माह का समय देता है । एक माह और दो माह के अंतर को छोड़ कर बाकी पूरा संवाद उपर्युक्त तीनों राम कथाओं में एक समान ही है । 'अध्यात्म-रामायण' में वह दो माह का समय देता है । अध्यात्म रामायण में रावण के आने का कारण कामवासना नहीं माना गया है जब कि अन्य ग्रन्थों में उसके आने का कारण कामवासना ही माना गया है ।

---

१. पउमचरियं, पर्व ५३ (भावनगर १९१४, एच० याकोबी का संस्करण)
२. मानस- सुंदर कांड, पृ० ७६१ (ना०प्र०सभा, प्रका०)
३. ,, ,, पृ० ७६२ ,,
४. ,, ,, पृ० ७६१-७६३ ,,

४५. अशोक-वाटिका में हनुमान की सीता से भेंट

'साकेत' के अनुसार वैभवपूर्ण स्वर्णपुरी लंका में हनुमान ने प्रवेश किया और अशोक-वन में समस्त वैभवों से विरक्त, छिन्नलता के समान सीता को देखा । सीता वहाँ अत्यधिक भयभीत थीं और उनके नेत्रों से आँसू गिर रहे थे । दस्यु-देश में सीता केवल राम-मिलन की आशा से ही जीवित थीं । हनुमान ने उन्हें पहचान कर उनके सम्मुख आकर प्रणाम किया । अनन्तर राम-नामांकित मुद्रिका सीता को देकर उन्हें अपना परिचय दिया और धैर्य बंधाया । हनुमान इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं —

" उस भव-वैभव की विरक्ति-सी

वैदेही व्याकुल मन में,

भिन्न देश की छिन्न लता-सी

पहचानी अशोकवन में ।

क्षण-क्षण में भय खाती थीं वे,

कण कण आँसू पीती थीं,

आशा की मारी देवी उस

दस्यु देश में जीती थीं ।[१]

* *

जाकर तब देवी के सम्मुख

मैंने उन्हें प्रणाम किया,

प्रभु की नाम-मुद्रिका देकर

परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया ।[२]

सीता ने राम के लिए यह संदेश भेजा —

करें न मेरे पीछे स्वामी

विषम कष्ट साध्य के काम,

यही दुःखिनी सीता का सुख,

सुखी रहें उसके प्रिय-राम ।

---

१ साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४३१,४३२ (२०२१ वि०)

मेरे धन हैं घन-श्याम ही,
जानेगा यह और भी अन्ध,
इसी जन्म के लिए नहीं है
राम जानकी का सम्बन्ध ।[१]

सीता लक्ष्मण के पास भी अपने पश्चाताप का संदेश भेजती हैं । यथा —

'देवर से कहना-मैंने जो
मानी नहीं तुम्हारी बात,
उसी दोष का दण्ड मिला यह ,
क्षमा करो मुझको अब तात ।'[२]

सीता ने हनुमान को अपनी चूड़ामणि भी दी थी । यथा —

'देवी ने चूड़ामणि दी थी ,
मैंने प्रभु को दी लाकर ।'[३]

हनुमान ने सीता से यह भी कहा कि कहिये तो मैं आपको अभी ले जाऊँ । पर सीता ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और कहा —

बोलीं वे -' क्या चोरी चोरी
मैं अपने प्रभु को पाऊँ ?'

'वाल्मीकि रामायण' में भी हनुमान सीता से अशोक वाटिका में भेंट करते हैं । हनुमान ने लंका पहुँच कर पहले मुख्य राक्षसों के महल में सीता की खोज की ।[४] अनन्तर उन्होंने रावण के अन्तःपुर में सीता की असफल खोज की थी ।[५] अनन्तर उन्होंने रावण के अशोकवन में छिपी हुई सीता का पता लगाया । सदा शोकान्वित, चिंतित और उदास रहने तथा उपवास करने के कारण वे अत्यन्त कृश-गात हो गई थीं और उनकी आँखों से आँसुओं की

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४३३-४३४ (२०२१ वि०)
२. ,, पृ० ४३४ ,,
३. ,, पृ० ४३५ ,,
४. वाल्मीकि राम० पृ० ५।६ रामनारा० प्रयाग)
५. ,, ५।१०-११ ,,

धारा बह रही थी :-

> 'अश्रुपूर्णमुखीं, दीनां कृशामनशनेन च ।
> शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम्[1] ।। २३।।४

विभिन्न सुख भोगों से वंचित और बंधुबांधवों से रहित वह जानकी राम से मिलने की आशा से ही प्राण धारण किए हुए हैं --

> कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च ।
> धारयन्तीमात्मनो देहं तत्समागमलालसा ।। २४[2]

सीता को देखकर हनुमान ने उनसे भेंट करने से पूर्व राम द्वारा बताई हुई उनकी वंशावली का परिचय दिया और राम के विभिन्न कार्यों का भी परिचय दिया । सीता ने ऊपर दृष्टि डाली और हनुमान को देखा ।[3] हनुमान पेड़ की नीची शाखा पर उतर आए और सीता के निकट जाकर प्रणाम किया । हनुमान ने अपने को रामदूत कहकर राम के कुशल क्षेम का शुभ समाचार सुनाया । सीता को पहले तो हर्ष हुआ , किन्तु अनन्तर वह हनुमान को कामरूपी रावण समझ कर संदेह में पड़ गईं ।[4] तब हनुमान ने सीता को राम की मुद्रिका अर्पित की तथा आश्वासन दिया कि राम शीघ्र ही आने वाले हैं ।[5] सीता अब पूर्ण रूप से विश्वस्त होकर यह संदेश देने लगीं कि यदि राम मुझे जीवित पाना चाहते हैं तो दो मास के भीतर आ जाएं । तब हनुमान ने सीता को अपनी पीठ पर राम के पास ले जाने का प्रस्ताव किया ।[6] परन्तु इस प्रस्ताव को सीता ने स्वीकार नहीं किया । हनुमान के साथ न जाने के लिए सीता ने कई तर्क दिये । पहले तो सीता ने हनुमान की सामर्थ्य पर अविश्वास किया ।

---

१. वाल्मीकि-रामायण, ५।१५।२३ (रामना०,प्रयाग)
२. ,, ५।१६।२४ ,,
३ ,, ५।३१ ,,
४. ,, ५।३४ ,,
५. ,, ५।३६ ,,
६. ,, ३७-६२ ,,

इस पर हनुमान ने अपना शरीर बढ़ाकर अपनी शक्ति का परिचय दिया। फिर सीता ने कहा कि मुझे गिर जाने का भय है। सीता ने राक्षसों के आक्रमण का भी भय बताया। तथा सीता ने यह भी कहा कि मैं राम को छोड़कर किसी दूसरे का शरीर नहीं स्पर्श करना चाहती हूँ।[१]

तत्पश्चात् सीता से हनुमान ने एक अभिज्ञान मांगा :-

यदि नोत्सहसे यातुं मया सार्धमनिन्दिते।
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत्।। १०।।[२]

अर्थात् हे सुन्दरी। यदि मेरे साथ चलने की तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो मुझे अपनी कोई चिन्हानी ही दो, जिससे रामचन्द्र जी को प्रतीति हो। तब जानकी जी ने अपनी ओढ़नी के आँचल से खोल कर सुंदर चूड़ामणि हनुमान जी को दी और कहा कि इसे राम को दे देना :-

ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्।।६९।
प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ। (७०)[३]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार सीता ने हनुमान को काक-वृत्तान्त भी सुनाया।[४]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार हनुमान सीता को खोजते-खोजते अशोक वाटिका में पहुँचे और एक शिंशपा वृक्ष के नीचे सीता को देखा[५]। हनुमान वृक्ष पर चढ़े हुए धीमी वाणी से राम-चरित्र सुनाने लगे।[६] सीता ने उस वाणी को सुनकर कहा कि जिसने मेरे कानों को अमृत के समान प्रिय लगने वाले ये वचन कहे हैं वह प्रियभाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हों :-

---

१. वाल्मीकि रामायण, ५।३७।३ रामना०, प्रयाग
२. ,, एकादशसर्ग पृ० ४३५
३. ,, ,, ५।३८।६९,७०
४. ,, ,, ५।३८
५. अध्यात्मरामायण ५।२।१-१० गीता प्रेस, गोरखपुर
६. ,, ५।३।३-१५ ,,

येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम् ।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः ।। १८।।[१]

हनुमान सीता जी के सामने उपस्थित हो गए और अपना परिचय दिया और रामचन्द्र जी द्वारा दी हुई अंगूठी सीता को दी ।[२] हनुमान ने सीता को धैर्य बंधाया और सीता से कोई ऐसा चिह्न मांगा जिससे राम उनका विश्वास कर लें । सीता ने केशपाश में स्थित अपना चूड़ामणि निकाला और हनुमान को दिया ।[३] `वाल्मीकि -रामायण` के अनुसार सीता, हनुमान को काक-वृत्तान्त भी बताती हैं ।[४] पर `अध्यात्मरामायण` में यह वर्णन नहीं है ।

`रघुवंश` के अनुसार हनुमान ने लंका पहुंचकर खोजते-खोजते एक स्थान पर सीताजी को देखा । वे राक्षसियों से घिरी हुई संजीवनी बूटी के समान दिखाई पड़ रही थीं । उनके पास जाकर हनुमान जी ने राम की अंगूठी दी और राम का प्रिय संदेश सुनाकर सीता जी को ढाढ़स बंधाया । फिर रावण के पुत्र अक्षयकुमार को मार कर और थोड़ी देर के लिए शत्रुओं के हाथ बन्दी बनकर उन्होंने लंका में आग लगा कर उसे जला डाला । फिर पहचान के लिए सीता जी से चूड़ामणि लेकर वे राम के पास लौट आए ।[५] `वाल्मीकि - रामायण` , अध्यात्मरामायण` `तथा `साकेत` आदि राम कथाओं में सीता से मिलने के पश्चात वे अक्षयकुमार का वध करते हैं और लंका-दहन करते हैं । `परन्तु `रघुवंश` तथा `मानस` में इन दोनों कार्यों की पूर्ति करने के पश्चात् पुनः सीता के पास जाकर चूड़ामणि प्राप्त करते हैं ।

`रामचरितमानस` में हनुमान के अशोक वाटिका में आने तथा सीता से भेंट का क वर्णन लगभग `वाल्मीकि रामायण` के समान ही किया गया है ।

---

१. अध्यात्म रामायण, ५।३।१८ , प्रका० गीताप्रेस,गोरखपुर
२. ,, ५।३।१६-३६ ,,
३. ,, ५।३।४१-४२ ,,
४. ,, ५।३।४३ - ६० ,,
५. रघुवंश १२।६१-६४ (प्रका० पंडित पुस्तकालय,काशी)

हनुमान ने सीता को राम नामांकित मुद्रिका दी और अपना विश्वास जमाने के लिए अपना परिचय दिया। हनुमान ने सीता को धैर्य बंधाया।[१] अनन्तर हनुमान ने लंका दहन किया और रावण के पुत्र अक्षयकुमार का वध किया। तब वे सीता जी के पास आए और कहा कि जिस तरह राम ने मुझे चिह्न (अंगूठी) दिया था उसी प्रकार आप भी कोई दीजिए। तब सीता ने अपने मस्तक का चूड़ामणि उतार कर हनुमान को दिया। सीता ने हनुमान से यह भी कहा कि तुम इन्द्र के पुत्र जयंत की कथा (काक वृत्तान्त) भी राम को सुनाना।[२] `मानस` के हनुमान सीता से यह भी कहते हैं कि मैं तो आपको अभी रामचन्द्र जी के पास ले जाऊं, पर मुझे राम ने ऐसी आज्ञा नहीं दी है

`पउमचरिय` के अनुसार हनुमान ने सीता की गोद में राम की मुद्रिका फेंक दी थी, उसे देखकर सीता को आनन्द हुआ था।[३]

साकेत में वर्णित, अशोक वाटिका में हनुमान की सीता से भेंट, अन्तर्कथा के मूल स्रोत वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्मरामायण में प्राप्त होते हैं। `मानस` तथा `रघुवंश` में हनुमान लंका दहन करके और अक्षयकुमार का वध करके तब सीता से चूड़ामणि प्राप्त करते हैं, जबकि वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण और साकेत में लंकादहन और अक्षयकुमार के वध से पहले ही वे सीता से चूड़ामणि प्राप्त कर लेते हैं।

आधार ग्रन्थों में सीता हनुमान का काक-वृत्तान्त सुनाती हैं परन्तु साकेत में यह वर्णन नहीं है। कथा को अनावश्यक विस्तार से बचाने के लिए ही संभवतः कवि ने यह वृत्तान्त छोड़ दिया है।

---

१. मानस- सुन्दरकाण्ड, पृ० ७६५-७७० (ना०प्र०सभा, काशी)
२. ,, पृ० ७७१ - ७८१ ,,
३. पउमचरियं, पर्व ५३ (भावनगर १९१४, एच० याकोबी का संस्करण)

३६. अशोक वन विध्वंस और लंकादहन —

'साकेत' के अनुसार हनुमान ने सीता से आज्ञा लेकर अशोक वन के फल खाए और उस उपवन को उखाड़ भी डाला । रक्षकों के रोकने पर हनुमान ने उन्हें भी मारा । रावण का पुत्र अक्ष कुछ सैनिकों को लेकर आया तो हनुमान ने अक्ष को भी मार डाला । तब इन्द्रजित हनुमान को नागपाश में बाँध कर रावण के पास ले गया । रावण की आज्ञा से शत्रुओं ने हनुमान की पूँछ में आग लगाई और हनुमान ने उस आग से लंका को जला डाला । कवि लंका के जलने का एक कारण सीता की 'हूक' को भी बताता है । यथा —

' जली पाप की लंका जिससे

वह थी एक सती की हूक ,"

लंका-दहन के पश्चात हनुमान ने समुद्र में कूद कर अपने शरीर की अग्नि को बुझा लिया । [1]

'वाल्मीकि-रामायण ' के अनुसार हनुमान ने राक्षसों की बल-परीक्षा करने तथा रावण का मन जानने के उद्देश्य से अशोक वन नष्ट किया । [2] इसके बाद हनुमान ने रावण के भेजे हुए ८०००० योद्धाओं तथा रावण पुत्र अक्ष का वध किया । अन्त में इन्द्रजित हनुमान को ब्रह्मपाश से बाँध कर रावण के पास ले गया । हनुमान ने अपने को सुग्रीव द्वारा भेजा हुआ रामदूत कह कर रावण से सीता को लौटाने का अनुरोध किया जिस पर रावण ने क्रुद्ध होकर हनुमान का वध करना चाहा, किन्तु विभीषण की आपत्ति पर ध्यान देकर जलाने का आदेश दिया। अतः राक्षस हनुमान को उसने दण्डस्वरूप हनुमान की पूँछ में कपास के पुराने कपड़े लपेटने लगे । हनुमान ने अपना आकार बढ़ा लिया । राक्षसों ने तैल डाल कर हनुमान की पूँछ में आग लगा दी और उनको नगर में चारों ओर घुमाया । सीता को जब हनुमान की दुर्दशा का समाचार मिला तब उन्होंने अग्नि से प्रार्थना की कि वह हनुमान के लिए शीतल बन जाय । फलस्वरूप हनुमान अग्नि से शीतलता का अनुभव किया और उन्होंने इस चमत्कार का श्रेय सीता की दयालुता , राम के प्रभाव

---

१. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ४३४-४३५ (२०२१वि०)

२. वाल्मीकि रामायण ५।४१ (प्रका० रामना०, प्रयाग)

तथा अग्नि से अपने पिता की मित्रता को दिया । अन्त में हनुमान ने अपना शरीर पहले खूब बढ़ा कर और बाद में घटाकर अपने को बंधनों से मुक्त किया । फिर अपना आकार बढ़ाकर विभीषण के महल को छोड़ कर समस्त लंका को भस्म कर डाला और बाद में अपनी जलती हुई पूंछ को समुद्र में बुझा दिया ।[१]

'अध्यात्म रामायण' के अनुसार हनुमान को भूख लगी थी, उन्होंने सीता की आज्ञा लेकर अशोक वन के फल खाए और फिर अशोक-वन के वृक्षों को उखाड़ डाला ।[२] वनविध्वंस का समाचार सुनकर रावण ने दस लाख सेवकों को भेजा । उन्हें हनुमान ने अपने मुद्गर से पीस डाला । तब रावण ने पांच विशेष सेनापतियों को भेजा, उन्हें भी हनुमान ने अपने लौह स्तम्भ से मार डाला । रावण ने सात मंत्रिपुत्रों को भेजा, उन्हें भी हनुमान ने मार डाला । तब रावण पुत्र अक्ष आया । उसे हनुमान ने मुद्गर से मार डाला । तब इंद्रजित हनुमान को ब्रह्मपाश में बांध कर रावण के पास ले गया ।[३] रावण की आज्ञा से राक्षसों ने हनुमान की पूंछ सन के पट्टों से और तैल में भीगे चिथड़ों से लपेटी और उसमें आग लगा दी । हनुमान को बांध कर नगर में घुमाने लगे । हनुमान ने अपना शरीर छोटा कर लिया और बंधन मुक्त होकर लंकापुरी में आग लगा दी । अनन्तर हनुमान समुद्र में कूद पड़े और पूंछ की आग बुझा ली[४]। 'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार सीताजी की प्रार्थना से तथा वायु की प्रिय मित्र होने के कारण अग्नि ने हनुमान जी की पूंछ नहीं जुलाई । हनुमान जी के लिए वह अत्यन्त शीतल हो गई :-

वायोः प्रियसखित्वाच्च सीतया प्रार्थितोऽनिलः ।
न ददाह हरेः पुच्छं बभूवात्यन्तशीलः ।। ४६ ।।[५]

'आनन्द-रामायण' में अशोक - वन नष्ट करने की कथा को बढ़ा दिया है । जब हनुमान ने अशोक वन के फल खाने की आज्ञा मांगी तो सीता ने अपना

---

१. वाल्मीकि रामायण, ५।४८-५५ (रामनाo,प्रयाग)
२. अध्यात्म रामायण, ५।३।६७-७१ (गीता प्रेस , गोरखपुर)
३. ,, ५।३।७६-९८ ,,
४. ,, ५।४।३४-४५ ,,
५. ,, ५।४।४६ ,,

और लंका को [illegible]

अनार [illegible] उतार कर कहा 'यह लो' । हनुमान ने आपत्ति करते हुए उत्तर दिया — "मैं दूसरे के हाथ से तोड़े हुए फल नहीं खाता , रहने दीजिये मैं वैसे ही चला जाता हूँ ।" उन्हें चले जाते देख कर सीता ने कहा कि जो पेड़ से फल पृथ्वी पर गिर पड़े हैं उनको चुपचाप खा लो । इस पर हनुमान पूँछ से बाँध कर वृक्षों को हिलाने लगे और अशोकवन के सब फल खा गए । अन्त में उन्होंने वन के सब वृक्ष गिरा दिये ।[१] तत्पश्चात् रावण दस करोड़ राक्षसों को लेकर लड़ने निकला किन्तु हनुमान ने लोहे के खम्भे से सबको मारा और करोड़ों राक्षसों को एक साथ अपनी पूँछ से बाँध कर लीलापूर्वक रावण के सिर पर मारा जिससे रावण मूर्च्छित हो गया ।[२] तब रावण ने हनुमान की पूँछ में आग लगाने की आज्ञा दी । हनुमान ने बहुत बड़ी पूँछ कर ली । और अपनी पूँछ बढ़ाना तब बंद किया जब उनके सुनने में आया कि राक्षस सीता के कपड़े भी लाने जा रहे हैं ।[३] अपनी पूँछ में आग लगाने के व्यर्थ प्रयत्न को देखकर हनुमान ने कहा यदि रावण स्वयं अपने मुँह से फूँक दे तो अग्नि प्रदीप्त हो सकती है । किन्तु ज्यों ही रावण ने फूँकना आरम्भ किया उसके दस सिरों के बालों तथा दाढ़ी-मूँछ में आग लग गई । इसे बुझाने के लिए रावण अपने बीस हाथों से अपने मुखों पर थप्पड़ मारने लगा जिससे सभी राक्षस खिलखिला कर हँस पड़े ।[४]

'पउमचरियं' में 'लंकादहन' का अभाव है । अशोक वन में उत्पात करने के पश्चात इन्द्रजित हनुमान को बाँध कर लाया था । रावण ने उनको नगर में चारों ओर घुमाकर प्रजा को दिखलाने का आदेश दिया किन्तु हनुमान अपने बन्धनों को तोड़कर तथा लंका में बहुत से महल गिरा कर राम के पास लौटे ।[५]

---

१. आनन्द रामायण, १।९।१२३-१३६ (गोपालनारायण(बम्बई) का संस्करण)
२. ,, १।९।१०९-२११ ,, ,,
३. ,, १।९।१९२ ,, ,,
४. ,, १।९।१९५-१९९ ,, ,,
५. पउमचरियं-पर्व ५३ (भावनगर १९१४,एच०याकोबी का संस्करण)

'रामचरित-मानस' मैं सीता सै हनुमान कहते हैं कि मुझै भूख लगी है और सीता सै आज्ञा मांग कर वै अशोक-वन कै फल खानै लगै और पैड़ौं कौ उखाड़ कर फैंकनै लगै । रावण नै बहुत सै राक्षसौं कौ भेजा परन्तु हनुमान नै उनकौ मारडाला । तब रावण नै अपनै पुत्र अक्षयकुमार कौ भेजा परन्तु हनुमान ने उसै भी मार डाला । पुत्र का वध सुन कर रावण अत्यधिक क्रौधित हुआ और उसनै मैघनाद कौ भेजा कि वह जाकर हनुमान कौ बांध लायै । हनुमान नै मैघनाद सै बहुत युद्ध किया । अन्त मैं मैघनाद नै हनुमान कौ ब्रह्मास्त्र मार दिया और हनुमानकैमूर्च्छित हौनै पर उन्हैं नागपाश सै बांध कर लै गया । हनुमान वास्तव मैं राम कै हित कै लिए स्वयं बंधन मैं बंध गए ।[1] तत्पश्चात् रावण नै हनुमान की पूंछ मैं आग लगानै की आज्ञा दी । हनुमान की पूंछ मैं कपड़ा लपैट कर तैल, डालकर आग लगा दी गई और नगर मैं घुमाया जानै लगा । हनुमान नै तुरन्त अपना शरीर छौटा करकै बंधनमुक्त हौ गए और स्वर्णअटारी पर जा चढ़ै । हनुमान नै सम्पूर्ण लंका मैं आग लगा दी । कैवल विभीषण कै घर आग नहीं लगाई ।[2]

साकैत मैं वर्णित' अशौकवन -विध्वंस और लंकादहन' कै स्रौत 'वाल्मीकि रामायण', अध्यात्म रामायण' तथा'मानस' मैं विशैष रूप सै प्राप्त हौतै हैं । अन्य कथाऔं मैं'साकैत' सै भिन्नता दिखाई पड़ती है ।

गुप्त जी नै उस अग्नि कौ, जिससै लंका जली थी' सती की हूक' कहा है । यह कवि की नारी विषयक भावना है । तात्पर्य यह कि अग्नि सै भी प्रचंड सती सीता की हूक हौ सकती थी । आधार ग्रन्थौं मैं प्रस्तुत अन्तर्कथा अत्यधिक विस्तारपूर्वक वर्णित है परन्तु गुप्त जी नै अत्यन्त संक्षैप मैं इसै कहा है ।

---

१. मानस सुन्दर काण्ड, पृ० ७७१-७७४ , ना०प्र०सभा, काशी
२. ,, ,, पृ० ७७६-७८० ,,

४. विभीषण का राम की शरण जाना

'साकेत' के अनुसार लंका दहन से पूर्व राम-भक्त विभीषण रावण को भाँति-भाँति से समझाता रहा। परन्तु रावण ने उसकी बात न मानी। यथा —

' लंका में भी साधु विभीषण
था रावण का ही भाई,
लेता रहा पक्ष प्रभु का, पर,
सुनता है कब अन्यायी।'[१]

राम-रावण युद्ध से पहले भी विभीषण ने रावण को बहुत प्रकार से समझाया तथा सीता को वापस करने की सलाह दी। सती की आह से लंका के नष्ट हो जाने का भय भी उसे दिखाया :—

' परनारी, फिर सती और वह
त्यागमूर्ति सीता सी सृष्टि,
जिसे मानता हूँ मैं माता,
आप उसी पर करें कुदृष्टि।
उड़ जावेगा दग्ध देश का
सती-श्वास से ही बल-वित्त,
राम और लक्ष्मण तो होंगे
कहने भर के लिए निमित्त।'[२]

विभीषण के उपदेश को सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठा और बोला —

' निकल यहाँ से, शत्रु शरण जा,
जिसके गुण पर लुब्ध हुआ।'[३]

---

१. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ४३५ (२०२१ वि०)
२. ,, पृ० ४३७-४३८
३. ,, पृ० ४३८

अनन्तर विभीषण राम की शरण में चला गया और राम ने उसको बन्धु के समान आदर दिया —

" वैरी का भाई था, फिर भी
प्रभु ने बंधु समान किया,
उसको शरणागत विलोककर
दिल से समुचित मान दिया ।"[१]

'साकेत' में वर्णित विभीषण के इस चरित्र और कथा के स्रोत लगभग सभी राम-काव्यों में प्राप्त होते हैं । 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार भी लंका दहन से पूर्व रावण हनुमान पर क्रोधित होकर उनके वध की आज्ञा देता है । उस समय विभीषण रावण को समझाते हैं और कहते हैं कि इस दूत वानर का वध करना, केवल राजधर्म के विरुद्ध ही नहीं है किन्तु लोकाचार से निंद्य भी है ।[२] युद्ध काण्ड में भी सभा के मध्य विभीषण रावण को समझाते हैं कि वे सीता को लौटा दें ।[३] वे कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी बड़े पराक्रमी और धर्मात्मा हैं । अकारण ही उनके साथ वैर बाँधना अनिष्टकर है, अतएव पहले ही उनको सीता दे देनी चाहिये ।[४] जब से सीता जी तुम्हारी इस पुरी में आई हैं, तब से हम सबको नित्य ही अपशकुन दिखलाई पड़ रहे हैं ।[५] रावण विभीषण को राक्षसकुल का कलंक बताता है । इस घोर भर्त्सना से घबरा कर विभीषण चार राक्षसों के साथ लंका छोड़ देता है ।[६]

वानर सेना के शिविर के पास पहुंचकर विभीषण अपना परिचय देतेहुए कहता है कि मैं रावण का अनुज हूं, उसने मेरे सत्परामर्शों को ठुकरा

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४३८ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण ५।५२ (रामनारायण लाल,प्रयाग)
३. ,, ६।९।१० ,,
४. ,, ६।९।१७ ,,
५. ,, ६।१०।१४ ,,
६. वाल्मीकि रामायण ६।१६ ,,

कर मेरा अपमान किया है, अतः मैं अपना परिवार छोड़ कर राम की शरण में आ गया हूँ — त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ।[१] तब सुग्रीव विभीषण को मार डालने का परामर्श देते हैं किन्तु राम शरणागत को अवध्य बताकर उसे ग्रहण करते हैं —

बद्धांजलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ।। २७ ।।[२]

इसके पश्चात् विभीषण रावण तथा उसकी सेना की शक्ति का वर्णन करता है और युद्ध में राम की सहायता करने की प्रतिज्ञा करता है । तब राम विभीषण का राज्याभिषेक करते हैं और इसके बाद विभीषण राम को सागर की शरण लेने का परामर्श देते हैं ।[३] राम समुद्र की शरण लेते हैं तथा अंगद को रावण के पास भेज देते हैं[४]। विभीषण गुप्तचरों शुक-सारण को[५] तथा बाद में शार्दूल को[६] पहचान कर पकड़वाता है । उसके मंत्री लंका जाकर राक्षसों की सेना का समाचार ले आते हैं ।[७] वह राम को कुंभकर्ण [८] तथा प्रहस्त [९] का परिचय देता है । माया-सीता के वध के अवसर पर वह रावण की माया के रहस्य का उद्घाटन करता है तथा इन्द्रजित के यज्ञ के विध्वंस का परामर्श देता है ।[१०]

इस प्रकार युद्धकाण्ड में विभीषण को राम के मुख्य परामर्शदाता के रूप में चित्रित किया गया है ।

१.	वाल्मीकि रामायण,	६।१७।१६	प्रका० रामनारायणलाल, प्रयाग
२.	,,	६।१८।२७	,,
३.	,,	६।१६	,,
४.	,,	६।४१	,,
५.	,,	६।२५	,,
६.	,,	६।२६	,,
७.	,,	६।३७	,,
८.	,,	६।६१	,,
९.	,,	६।५८	,,
१०.	,,	६।८४	,,

युद्धकांड के अन्त में राम विभीषण का अभिषेक करने के लिए लक्ष्मण को लंका भेज देते हैं ।[1] बाद में विभीषण दूसरों के साथ अयोध्या जाकर राम के अभिषेक में सम्मिलित होता है ।[2]

'पद्मपुराण' के पातालखंड ' में माना गया है कि विभीषण ने इन्द्रजित वध के बाद ही राम की शरण ली थी ।[3]

'पउमचरिय' के अनुसार वह तीस अक्षौहिणी सेनाओं के साथ राम की शरण में आया था ।[4] 'पउमचरिय' में विभीषण पहले रावण की सहायता करता है । वह राम तथा सीता के जन्म के पूर्व दशरथ तथा जनक के वध करने का विफल प्रयास करता है ।[5] तथा सीताहरण के पश्चात् माया के बल से लंका के चारों ओर एक दुर्गम प्राकार का निर्माण करता है ।[6] वह रणभूमि में भी सीता को लौटाने का रावण से अनुरोध करता है ।[7] तथा रावणवध के पश्चात् आत्महत्या करने का प्रयास करता है किन्तु राम द्वारा रोका जाता है ।[8] अन्त में इसका उल्लेख मिलता है कि विभीषण ने अपने पुत्र सुभूषण को राज्य सौंप कर जैन दीक्षा ली थी ।[9]

'रामचरित मानस' के अनुसार विभीषण ने तपस्या द्वारा वर पाकर धर्मबुद्धि ही नहीं अपितु भगवद्भक्ति माँगली थी —

' गए विभीषण पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु
तेहि मागेउ भगवंत पद-कमल अमल अनुरागु ,।२०७।।[10]

---

१. वाल्मीकि रामायण, ६।८४ रामनारा०, प्रयाग
२. ,, ६।११२ ,,
३. पद्मपुराण पाताल खंड ११२।१२०(वेंकटेश्वरप्रेस,बंबई)
४. पउमचरियं , ५५।२२ (भावनगर,१९१४ ,एच०याकोबी संस्करण)
५. ,, पर्व २३ ,,
६. ,, पर्व ४६ ,,
७. ,, पर्व ६१ और ७३ ,,
८. ,, पर्व ७७ ,,
९. ,, पर्व ११९ ,,
१०. मानस,बालकाण्ड, दोहा २०७, ना०प्र०सभा, काशी. सं०[illegible]

सुन्दरकाण्ड के अनुसार 'मानस' में विभीषण ने रावण को सलाह दी कि वह सीता को लौटा दे, परन्तु रावण ने उसकी बात न सुनी और उपेक्षित होकर विभीषण को लंका का परित्याग कर देना पड़ा ।[१] वह राम की शरण में पहुंच गया । यथा —

" स्रवन सुजसु सुनि आयउं प्रभु भंजन - भवभीर ।
आहि -आहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर ।। ४६।।[२]

विभीषण को शरण में आया देख कर राम ने उसे हृदय से लगा लिया ।[३] राम ने उसे अखंड राज्य भी दिया —

" रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड ।
जरत विभीषनु राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड ।।५०।। [४]

'साकेत' में वर्णित विभीषण सम्बन्धी अन्तर्कथाओं के स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', 'रामचरित-मानस' तथा 'अध्यात्म-रामायण' विशेष रूप से माने जा सकते हैं । अन्य ग्रन्थों में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है ।

३८ सेतुबन्ध

'साकेत' में हनुमान के लंका से लौटने के पश्चात सागर में पुल बांधने का वर्णन मिलता है । गहरे सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उठ रही थीं, किन्तु उसको बांध लिया गया, उस पर सेतु बना दिया गया । मानों पानी पर भी प्रभु राम की अमिट-सी लीक खींच दी गई हो । यथा —

भग्न भित्तियाँ उठा उठा कर
सिंधु रोकने चला प्रवाह,
बांधा गया किन्तु उलटा वह,
सेतु रूप ही है उत्साह ।

---

१. मानस, सुन्दरकाण्ड, पृ० ७८३-७८७ प्रका०- ना०प्र०सभा, काशी
२. ,, पृ० ८०७ ,, ,,
३. ,, पृ०८०० ,, ,,
४. ,, पृ० ८०४ ,, ,,

नीलनभोमण्डल-सा जलनिधि,
पुल था छायापथ-सा ठीक,
खींच दी गई एक अमिट सी
पानी पर भी प्रभु की लीक ।[१]

सेतुबन्ध की कथा अनेक राम सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलती है । 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार रामचन्द्र जी तीन दिनों तक समुद्र के तट पर कुश बिछा कर, समुद्र से वर की प्रार्थना करने के लिए पूर्वमुख हो और हाथ जोड़ कर लेटे रहे । परन्तु जब सागर के अधिष्ठाता देवता प्रत्यक्ष न हुए तो राम क्रोधित हो उठे और सागर को सुखाने के लिए लक्ष्मण से उन्होंने धनुष-बाण माँगा । राम ने जब धनुष पर बाण चढ़ाया तो आकाश में स्थित महर्षियों ने राम को रोका । इसी समय समुद्र में से स्वयं समुद्रदेवता प्रकट हुए और राम से विनय पूर्वक बोले कि हे राम ! जब तक आपकी सेना पार नहीं जायगी कोई भी मगर आदि जलजन्तु मार्ग में कुछ भी उपद्रव न करेंगे । मैं वानरों के उतरने के लिए पुल की योजना कर दूंगा । राम ने कहा कि मेरा यह महाबाण अमोघ है, इसे कहाँ चलाऊं । इस पर सागर ने राम को द्रुमकुल्य नामक देश के विनाश करने का सुझाव दिया , क्योंकि वहाँ आभीर आदि बहुत से दस्यु निवास करते हैं । राम ने ऐसा ही किया और बाद में वह देश मरुकान्तार नाम से विख्यात हुआ[२]। अनन्तर सागर ने विश्वकर्मा के पुत्र नल को समुद्र के ऊपर पुल बनाने के लिए कहा । नल ने राम से कहा कि मैं निस्सन्देह समुद्र पर पुल बाँध सकूँगा । अत: अभी से वानर श्रेष्ठ पुल बाँधने में लगे । नल ने वानरों की सहायता से पुल का कार्य पाँच दिनों में पूरा कर डाला ।[४]

'पद्मपुराण' के अनुसार राम ने समुद्र के तट पर शिव से सहायता के लिए प्रार्थना की । प्रसन्न होकर शिव ने राम को अजगव धनुष दिया ।

---

१. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४२६ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण - ६।२१ (प्रका० रामनारायणलाल ,प्रयाग)
३. ,, ६।२१।१-४० ,,
४. ,, ६।२२।७१ ,,

राम ने उस धनुष को समुद्र में फेंक दिया और उसी पर से समस्त सेनाने सागर को पार किया ।[१] 'पद्मपुराण' के उत्तरखंड के अनुसार राम ने अपने बाणों से समुद्र को सोखलिया तथा सागर के विनय करने पर वारुणास्त्र द्वारा उसमें पुन: जल भर दिया ।[२]

महाभारत के 'रामोपाख्यान' में राम समुद्र में बाण नहीं चलाते हैं । सागर राम को स्वप्न में दिखाई देता है तथा नल द्वारा फेंके हुए पदार्थ न डूबने देने की प्रतिज्ञा करता है ।[३] 'स्कन्द-पुराण' के सेतुमाहात्म्य में भी इस प्रकार का वर्णन मिलता है[४]।

'भागवत-पुराण' में तीन दिनों तक उपवास करने के पश्चात् राम समुद्र पर कोप प्रकट करते हैं । समुद्र राम की क्रोधपूर्ण दृष्टि से भयभीत होकर प्रकट होता है ।[५]

'अद्भुत-रामायण' के अनुसार लक्ष्मण क्रोध में आकर समुद्र में कूद पड़ते हैं और उनके शरीर के ताप से समुद्र सूख जाता है और बाद में राम सीता के लिए आंसू बहाकर समुद्र पुन: भर देते हैं ।[६]

'आनन्द-रामायण' के अनुसार नल ने किसी ब्राह्मण का शालिग्राम गंगा में फेंक दिया था, ब्राह्मण ने उसे यह शाप दिया --तेरे स्पर्श से पत्थर आदि पानी पर तैरते रहेंगे ।[७]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार राम ने समुद्र को सुखाने के लिए अपना एक तेजोमय बाण धनुष पर रख कर चढ़ाया । इससे समुद्र तुरंत बाहर

---

१. पद्मपुराण-पाताल खंड, अध्याय ११२ (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)
२. ,, उत्तर खंड, अध्याय २६६ ,,
३. रामोपाख्यान (महाभारत) ३।२६७।३२ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
४. स्कंद-पुराण ६।१०।१३अध्याय २ (वेंकटेश्वरप्रेस, बम्बई)
५. भागवत पुराण ६।१०।१३ गीताप्रेस,गोरखपुर
६. अद्भुत रामायण, सर्ग १६(वेंकटेश्वर प्रेस , बम्बई
७. आनन्द रामायण १।१०।६७ (गोपालनारायण,बम्बई का संस्क०)

निकला और राम की वंदना करने लगा । 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार ही इस रामायण में भी द्रुमकुल्य विनाश की कथा वर्णित है । अनन्तर सागर ने राम से कहा कि नल विश्वकर्मा का पुत्र है वही सागर पर पुल का निर्माण करे । नल ने वानरों की सहायता से सौ योजन लम्बा पुल बनाया ।[1]

'रामचरित-मानस' के अनुसार राम सागर के तट पर तीन दिन तक बैठे रहे परन्तु समुद्र ने उनकी विनय को नहीं माना । तब राम ने क्रोधित होकर कराल बाण का संधान किया जिससे समुद्र के भीतर ज्वाला उठी । तब समुद्र स्वयं ब्राह्मण का रूप धारण करके और अभिमान छोड़ कर वहां प्रकट हुआ । उसने राम की विनय की और कहा कि नल और नील दोनों भाइयों ने लड़कपन में ऋषि का आशीर्वाद पाया था । उनके स्पर्श से भारी पहाड़ भी समुद्र में तैर जायेंगे । आप इन्हीं के द्वारा समुद्र में पुल बंधवा दीजिये ।[2]

'साकेत' में वर्णित सेतुबंध की अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म रामायण' तथा 'रामचरित मानस' में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं । आधार ग्रन्थों में यह, कथा पर्याप्त विस्तारपूर्वक वर्णित है, परन्तु साकेत में अत्यन्त संक्षेप में । राम का सागर के तट पर बैठना, सागर के प्रकट न होने पर क्रोधित होना आदि वर्णित नहीं है । अनावश्यक विस्तार के कारण ही, कवि ने इस कथा के कई प्रसंगों को छोड़ दिया है ।

३-८. लक्ष्मण का शक्ति से निश्चेष्ट होना

'साकेत' में कुपित इंद्रजित द्वारा लक्ष्मण को शक्ति लगने का वर्णन है । लक्ष्मण निश्चेष्ट हो गए और हनुमान ने उन्हें युद्धस्थल से हटाया । यथा –

" कुपित इंद्रजित ने, क्रम-क्रम से
सबको देख काल की भेंट,
छोड़ी लक्ष्मण पर लंका की
मानो सारी शक्ति समेट ।

---

१. अध्यात्म-रामायण- ६।३।६१-८७ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. मानस- सुंदरकाण्ड, पृ० ८१३, ८१५, ना०प्र०सभा, काशी । सं०[illegible]

विधि ने उसे अमोघ किया था

पर न हटे रामानुज धीर,

उसी दास ने दौड़ उठाया

हा ! उनका निश्चेष्ट शरीर ।"[१]

लक्ष्मण को शक्ति लगी देख कर राम-व्याकुल हो उठे :-

" उन्हें देख 'हा लक्ष्मण कहकर

सजल हुए प्रभु जलद - समान ।"[२]

साथ ही राम का क्रोध भी उमड़ उठा । उन्होंने प्रण किया कि मैं बाद में रोऊंगा, आज तो पहले रिपु ऋण से मुक्त होऊंगा । यथा -

" जगी उसी क्षण विधुज्वाला ,

गरज उठे होकर वे क्रुद्ध ,

" आज काल के भी विरुद्ध है

युद्ध-युद्ध बस मेरा युद्ध ।

रोऊंगा पीछे, होऊंगा

उऋण प्रथम रिपु के ऋण से ।"[३]

तत्पश्चात् राम ने घमासान युद्ध किया -

"प्रलयानल से बढ़े महाप्रभु ,

जलने लगे शत्रु तृण से ।"[४]

युद्ध के उपरान्त हनुमान आदि मूर्च्छित लक्ष्मण को हाथों पर उठाकर शिविर में ले आए :-

हम सब हाथों पर संभाल कर

उन्हें शिविर में ले आये ।"[५]

---

१. साकेत - एकादश सर्ग, पृ० ४४१-४४२ (२०२१ वि०)
२. साकेत - एकादश सर्ग, पृ० ४४२ ,,
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, पृ० ४४२-४४३ ,,

वैद्यों ने राम को आश्वासन दिया और कहा —

" संजीवनी मात्र ही स्वामी
आ जावे यदि रातों रात
तो भी बच सकते हैं लक्ष्मण ,
बन सकती है बिगड़ी बात[१] ।

'वाल्मीकि-रामायण' में लक्ष्मण को दो बार शक्ति लगती है, और दोनों बार रावण के मारने से । प्रथम बार लक्ष्मण-रावण युद्ध के अवसर पर लक्ष्मण के बाणों से घायल हो जाने पर अपने प्राण बचाने का उपाय न देख कर रावण ने ब्रह्मा की दी हुई, कभी निष्फल न जाने वाली शक्ति उठायी और लक्ष्मण को लक्ष्य करके उसे छोड़ दिया । वह लक्ष्मण की छाती में जाकर लग गई ।[२] उस समय लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर रावण ने उन्हें उठाकर ले जाने का विचार किया । परन्तु लक्ष्मण इतने भारी हो गए थे कि वह उठा न सका ।[३] इसी समय वहाँ हनुमान पहुँचे और रावण की छाती में एक घूँसा मारा । जिससे रावण निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा ।[४] अनन्तर हनुमान घायल लक्ष्मण को उठाकर राम के पास ले आए ।[५] इधर रावण पुनः सचेत होकर वानर सेना को मारने लगा । तब राम हनुमान की पीठ पर चढ़ गये[६] और रावण को ललकार कर कहा —" जिनको (लक्ष्मण को) शक्ति से मार कर तूने मुझे जो दुःख दिया है, उसको शान्त करने लिए, मैं तेरे तथा तेरे पुत्र पौत्रों के मारने की प्रतिज्ञा कर आज समर भूमि में आया हूँ[७] । अनन्तर राम - रावण का युद्ध हुआ । राम ने रावण को आहत किया और उस दिन छोड़

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ३४८ (२०२१वि०)
२. वाल्मीकि रामायण ६।५६।१०७-१०६ (प्रका० रामनारायण लाल,प्रयाग)
३. ,, ६।५६।११०-११२ ,,
४. ,, ६।५६।११४-११७ ,,
५. ,, ६।५६।११६ ,,
६. ,, ६।५६।१२६,१२७ ,,
७. ,, ६।५६।१३२ ,,

लिया । रावण युद्ध स्थल से लंका को चला गया ।[१]

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार दूसरी बार लक्ष्मण को उस समय शक्ति लगती है जबकि राम-रावण का युद्ध होता है । रावण विभीषण के ऊपर शक्ति फेंकना चाहता है, परन्तु लक्ष्मण विभीषण को बचाने के लिए स्वयं विभीषण के सामने जा खड़े होते हैं । रावण द्वारा भयंकर वेग से फेंकी हुई शक्ति लक्ष्मण के लग जाती है ।[२] राम लक्ष्मण को इस दशा में देखकर अत्यधिक उदास हो जाते हैं ।[३] राम क्रोधित होकर रावण से युद्ध करते हैं । अन्त में रावण इस युद्ध से पीड़ित होकर भाग जाता है ।[४] राम लक्ष्मण के लिए भाँति-भाँति से विलाप करते और दुःखी होते हैं ।[५] सुषेण राम को धैर्य बंधाते हैं और हनुमान को औषधि पर्वत पर जाकर चार बूटियाँ (विशल्य-करणी, सवर्णकरणी, संजीवनी तथा संधानकरणी) को लाने की आज्ञा देते हैं ।[६] हनुमान स्वउस पर्वत पर जाकर, बूटियों को न पहचानने के कारण उस पर्वत शिखर को ही उखाड़ कर ले आते हैं ।[७] अनन्तर सुषेण उन बूटियों को लक्ष्मण को सुंघा कर उन्हें स्वस्थ कर देते हैं ।

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार भी रावण के द्वारा ही लक्ष्मण को शक्ति लगती है । अपनी महती सेना को नष्ट हुई सुन कर रावण अति दुःखी हुआ और क्रोध से भर गया । वह लंका की सुरक्षा के लिए इन्द्रजित को नियुक्त कर राम से युद्ध करने चला । वहाँ विभीषण को गदा लिए खड़ा देख रावण ने उसकी ओर मय दानव की दी हुई महानशक्ति छोड़ी । लक्ष्मण

---

१. वाल्मीकि रामायण , ६।५६।१३२ - १४४ (प्रकाoरामनाo,प्रयाग)
२. ,, ६।१०१।२४,२५,३२ ,,
३. ,, ६।१०१।३७ ,,
४. ,, ६।१०१।६३ ,,

विभीषण की रक्षा करने के लिए विभीषण के सामने अचल होकर खड़े हो गए । वह शक्ति अमोघ थी, अत: वह लक्ष्मण के शरीर में घुस गई । लक्ष्मण मूर्च्छित होकर गिर गए । रावण ने लक्ष्मण को उठाकर ले जाना चाहा, परन्तु वह सफल न हुआ । जब हनुमान ने देखा कि रावण लक्ष्मण को ले जाना चाहता है तो उन्होंने अत्यधिक क्रुद्ध होकर उसकी छाती में एक वज्र-सदृश घूंसा मारा । तत्पश्चात् हनुमान लक्ष्मण को उठाकर राम के समीप आए । राम ने क्रोधित होकर रावण से युद्ध किया । राम के बाणों से वह विचलित हो गया और उसके हाथ से धनुष छूट गया । राम ने उसका धनुष काट डाला और उसे उस दिन लंका जाने दिया । राम ने लक्ष्मण के लिए बहुत शोक किया और हनुमान से औषधि लाने के लिए कहा । हनुमान तुरंत औषधि लाने चले गए ।[१]

'मानस' के अनुसार जब लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध हो रहा था तो मेघनाद के छल-बल और अनीति को देखकर लक्ष्मण को क्रोध हो आया और उन्होंने तुरंत मेघनाद का रथ तोड़ डाला और सारथी को भी मार डाला । मेघनाद ने अनुमान किया कि अब मेरे प्राण संकट में हैं और लक्ष्मण मुझे मार डालेंगे । यह सोचकर उसने वीरघातिनी शक्ति छोड़ी । वह तेजोराशि लक्ष्मण जी के वक्ष पर जाकर लगी । शक्ति के लगते ही लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए । मेघनाद निर्भय होकर उनके पास ए और उन्हें उठाने की चेष्टा करने लगे । परन्तु जगत के आधार शेष जी को वह भला कैसे उठा सकता था । तत्पश्चात हनुमान लक्ष्मण को उठा कर राम के पास ले गए । राम लक्ष्मण को देखकर अत्यधिक दु:खी हुए । जाम्बवान ने सुषेण वैद्य का पता बताया और हनुमान छोटा रूप धारण कर लंका में गए और वैद्य को घर सहित उठा लाये । सुषेण ने आकर राम के चरणों में प्रणाम किया और पर्वत तथा औषधि का नाम बता कर हनुमान से कहा कि वे औषधि ले आएं । हनुमान औषधि लेने चले गए ।[३] 'रामचरित मानस' के अनुसार मेघनाद लक्ष्मण को शक्ति मारता है ।

---

१. अध्यात्म-रामायण ६।६।१-३४ (गीता प्रेस,गोरखपुर)

२. ,, ६।६।१-३४ ,,

३. मानस लंकाकाण्ड, पृ० ८७६-८७८ ना०प्र०सभा, काशी, सं०

'रघुवंश' के अनुसार भी मेघनाद लक्ष्मण को शक्ति मारता है, रावण नहीं। यथा -

ततो बिभेद पौलस्त्य: शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदय: शुचा ।। ७७।१

अर्थात्, मेघनाद ने लक्ष्मण की छाती में शक्ति बाण मारा। जिसके आघात से लक्ष्मण गिर गये। उन्हें देखकर राम का हृदय शोक से फटने लगा।

हनुमान जी तत्काल जाकर हिमालय से संजीवनी बूटी ले आए, जिसे पिलाते ही लक्ष्मण की पीड़ा जाती रही और फिर उठकर उन्होंने अपने बाणों से असंख्य राक्षसों को मारा।[२]

'महानाटक' में हनुमान पहले रावण की शक्ति रोक लेते हैं किन्तु रावण का अनुरोध मानकर ब्रह्मा नारद को भेज देते हैं कि वह किसी भाँति हनुमान को रणभूमि से हटा दें। नारद ऐसा ही करते हैं और रावण लक्ष्मण को आहत करने में समर्थ हो जाता है।[३]

'रामचन्द्रिका' में भी हनुमान द्वारा शक्ति को रोकने की कथा मिलती है।[४]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', महानाटक, तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थों में लक्ष्मण को रावण शक्ति मारता है। परन्तु 'रामचरित मानस' तथा 'रघुवंश' के अनुसार मेघनाद लक्ष्मण को शक्ति मारता है। मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' में मेघनाद के द्वारा ही लक्ष्मण को शक्ति लगने का वर्णन किया है। अत: इस अन्तर्कथा के आधार ग्रन्थ 'मानस' तथा 'रघुवंश' प्रतीत होते हैं।

---

१. रघुवंश १२।७७ (पंडित पुस्तकालय, काशी)
२. ,, १२।७८ ,,
३. महानाटक अंक १३ (दामोदर मिश्र का संस्क०) द्रष्टव्य : दि एलटैस्ट, वर्शियन आव महानाटक, कर्न, ओरियन्टल सोसा०, १९३६ ई०
४. रामचन्द्रिका १३।१७ (प्रका० राम०प्रयाग)

हनुमान द्वारा संजीवनी-बूटी लाना

'साकेत' के अनुसार लक्ष्मण को शक्ति लगने के उपरान्त वैद्य के कहने से हनुमान संजीवनी बूटी लाने के लिए तत्पर हुए। वे आकाश में उड़ कर चले और जब वे अयोध्या के पहुंचे तो भरत और शत्रुघ्न ने उन्हें निशाचर समझा और उन्हें बाण मार कर पृथ्वी पर गिराया गया। बाण के लगते ही हनु-मान के मुख से निकले हा लक्ष्मण ! हा सीते शब्द आकाश में गूंज उठे ।[1]

भरत आदि दौड़ कर हनुमान के समीप पहुंचे और यह समझ गए कि यह राम का भक्त है और दैत्य नहीं। माण्डवी ने कहा कि जो संजीवनी बूटी है उसकी परीक्षा इन्हीं के ऊपर की जाय। भरत स्वयं संजीवनी औषधि ले आए और उससे हनुमान ने नए प्राण पा लिए।

इस संजीवनी बूटी की व्यवस्था गुप्त जी ने अयोध्या में ही कराई है। भरत उसकी प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं -

मानसरोवर से आये थे
संध्या समय एक योगी,
मृत्युंजय की ही यह निश्चय
मुझ पर कृपा हुई होगी।
वे दे गये मुझे यह औषधि
संजीवनी नाम जिसका,
क्षत-विक्षत जन को भी जीवन
देना सहज काम जिसका।
किया उसे संस्थापित मैंने
चरण-पादुकाओं के पास,
फैल रही यह सुरभि उसी की,
करती है वह विभा-विकास।[2]

---

१. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४१६-४१७ (२०२१) वि०
२. ,, पृ० ४०६-४१०

हनुमान द्वारा यह जानकर कि वे लक्ष्मण के लिए संजीवनी बूटी ही लेने जा रहे हैं, भरत उन्हें वह बूटी दे देते हैं। हनुमान ने संजीवनी बूटी को लेकर योगाभ्यास द्वारा शरीर को हलका कर आकाश मार्ग से प्रत्यावर्तन किया। संजीवनी बूटी का अयोध्या में प्राप्त होना गुप्त जी की मौलिक कल्पना है। सम्पूर्ण राम-साहित्य में कहीं भी हनुमान को संजीवनी अयोध्या में नहीं प्राप्त होती। इसके लिए वे हिमालय की यात्रा करते हैं और पर्वत विशेष पर संजीवनी प्राप्त करते हैं।

'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार हनुमान दो बार औषधियों को लेने हिमालय पर्वत पर जाते हैं।

(१) कुंभकर्ण-वध के पश्चात् इन्द्रजित के द्वितीय युद्ध का वर्णन मिलता है जिसमें वह अदृश्य होकर ब्रह्मास्त्र से राम लक्ष्मण को आहत करता है तथा बहुत से योद्धाओं का वध भी करता है। जाम्बवान के आदेशानुसार हनुमान रात्रि में हिमालय जाते हैं तथा चार औषधियों को न देखकर समस्त औषधि पर्वत ले आते हैं। तथा बाद में उसे वापस भी ले जाते हैं। औषधियों की सुगन्ध मात्र से सभी योद्धाओं को स्वास्थ्य लाभ हुआ[१]।

(२) रावण की शक्ति से लक्ष्मण को आहत देखकर राम विलाप करने लगे किन्तु सुषेण ने उनको आश्वासन दिया कि लक्ष्मण जीवित हैं। इसके अनन्तर सुषेण वैद्य के परामर्श के अनुसार विशल्याकरनी औषधि ले आने के लिए हनुमान को भेजा गया। हनुमान पहले की भाँति समस्त औषधि पर्वत ले आए और सुषेण ने औषधि पीस कर लक्ष्मण को सूंघने को दी जिससे लक्ष्मण स्वस्थ हो गये।

वाल्मीकि रामायण में हनुमान का अयोध्या में पहुंचना वर्णित नहीं है। औषधि पर्वत लाते समय भरत से उनकी भेंट नहीं होती है।

"वाल्मीकि-रामायण" के गौड़ीय पाठ में औषधि पर्वत के लाने के समय भरत से हनुमान की भेंट का प्राचीनतम वर्णन मिलता है। हिमालय

---

१. वाल्मीकि-रामायण - ६।७४ (प्रका० रामनारायणलाल, प्रयाग

२. " ६।१०२ "

की ओर जाते हुए हनुमान को देखकर भरत को कौतूहल हुआ और उन्होंने बाण मार कर हनुमान को नीचे गिराना चाहा किन्तु हनुमान ने अपना परिचय देकर अपनी यात्रा का उद्देश्य प्रकट किया है। भरत के प्रश्न के उत्तर में हनुमान ने वनवास से लेकर लक्ष्मण के आहत होने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया तथा भरत को विजयी राम के शीघ्र प्रत्यावर्तन का आश्वासन देकर किष्किन्धा की ओर प्रस्थान किया।[2]

'महानाटक' में भी पर्वत लाने के समय हनुमान की भेंट भरत से होती है। इसकी कथा इस प्रकार है। सुमित्रा ने किसी रात्रि को यह स्वप्न देखा कि एक सांप मेरी बाईं भुजा खा रहा है। उस अपशकुन की शांति के लिए तुरन्त यज्ञ का आयोजन हुआ। शांति मंडप में उपस्थित होकर भरत ने पर्वत को ले जाते हुए हनुमान को आकाश में देख कर उन्हें बाण से नीचे गिरा दिया था। 'हा राम लक्ष्मण' पुकार कर हनुमान मूर्च्छित हो गए। तब वसिष्ठ उन्हें पर्वत की औषधियों द्वारा चेतना में लाए। हनुमान ने भरत को युद्ध का वृत्तान्त सुनाया और भरत की परीक्षा लेने के लिए कहा -- "मैं थक गया हूं, आप ही यह पर्वत लंका ले चलें।" यह सुनकर भरत ने पर्वत के साथ हनुमान को बाण पर बिठा कर धनुष संधान किया। भरत का पराक्रम देखकर हनुमान को संतोष हुआ और बाण से उतर कर उन्होंने भरत के बाहुबल की प्रशंसा की। तब हनुमान ही पर्वत को उठाकर चले गए और अर्धरात्रि में ही लंका के निकट पहुंच गए[3]।

'महानाटक' के आधार पर अनेक राम कथाओं में यह माना गया है कि भरत ने बाण मार कर हनुमान को नीचे गिराया था। उदाहरण के लिए सूरसागर[4], गीतावली[5], मानस[6] आदि।

---

१. रामकथा का विकास, पृ० ५६७, कामिल बुल्के (हिन्दी परिषद, प्रयाग)
२. वाल्मीकि -रामायण (गौड़ीय पाठ) ६।८२।६०-१३८
३. महानाटक १३।२१-३१ दामोदर मिश्र का सं०
४. सूरसागर, पद ५६४ (ना०प्र० सभा काशी)
५. गीतावली ६।१०
६. मानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८८१-८८६ ना०प्र०सं०

'आनन्द-रामायण' के अनुसार भरत ने बाण मार कर हनुमान के हाथ से पर्वत गिरा दिया। हनुमान ने भरत को देख कर उन्हें राम ही समझ लिया किन्तु जब भरत पुन: बाण मारने के लिए उद्यत हुए तब उनका भ्रम दूर हुआ और उन्होंने भरत को अपने परिचय के साथ-साथ युद्ध का भी हाल कह सुनाया। अन्त में भरत ने बाण मार कर हनुमान को पर्वत लौटा दिया और हनुमान उसे लंका ले गए। बाद में पर्वत को पुन: अपने स्थान पर रख कर हनुमान ने लक्ष्मण के जीवित होने का शुभ समाचार भरत को सुनाया।[१]

'पउमचरिय' में विशल्यौषधि का मानवीकरण किया गया है। लक्ष्मण को शक्ति लगने के पश्चात् एक विद्याधर राम से कहता है कि द्रोणमेघ की कन्या विशल्या के स्नान जल से ही लक्ष्मण की चिकित्सा हो सकती है। इस पर हनुमान, भामंडल तथा अंगद अयोध्या जाकर भरत को सीता-हरण तथा युद्ध का समाचार सुनाते हैं। अनन्तर वे विशल्या के साथ लंका लौट आते हैं। विशल्या की चिकित्सा से स्वास्थ्य लाभ होने पर लक्ष्मण उसके साथ विवाह भी कर लेते हैं।[२]

'अध्यात्म - रामायण' में हनुमान के अयोध्या पहुंचने तथा भरत से भेंट का प्रसंग नहीं आया है।

'रामचरित मानस' के अनुसार हनुमान पर्वत पर पहुंच कर औषधि पहचान नहीं पाए तो उस पर्वत को उखाड़कर उसे लिए हुए आकाशमार्ग से चल पड़े। जब वे अयोध्या के ऊपर पहुंचे तो भरत ने उन्हें देखा और कोई राक्षस समझा। भरत ने उन्हें एक बाण मारा और हनुमान मूर्च्छित होकर राम का स्मरण करते हुए पृथ्वी पर गिर पड़े। हनुमान के मुंह से राम का नाम सुनकर भरत दौड़े और हनुमान को जगाने की चेष्टा करने लगे। भरत ने कहा कि यदि राम मुझपर कृपालु हों तो हे वानर तुम शूल से रहित हो जाओ। इन वचनों को सुनते ही हनुमान उठ बैठे। भरत जी के पूछने पर हनुमान ने सब समाचार उन्हें दिए। फिर भरत ने हनुमान से कहा कि तुमको जाने में देरी होगी और प्रात: हो जाने से सब कार्य बिगड़ जायगा अत: मेरे बाण पर तुम पर्वत

---

१. आनन्द रामायण, १।११।६२-७०

२. पउमचरियं पर्व ६४-६५ (भावनगर, १९१४, एच० याकोबी का संस्करण)

[illegible] जाओ तो मैं तुम्हें राम के पास भेज दूंगा। परन्तु भरत के वचन सुनकर हनुमान को अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा। उन्होंने भरत से कहा कि आपके प्रताप से मैं स्वयं ही चला जाऊंगा। तब हनुमान पर्वत सहित आकाश मार्ग से चल पड़े। लंका पहुंचने पर वैद्य ने तुरंत उपचार किया और लक्ष्मण जी प्रसन्न होकर उठ बैठे।[1]

'साकेत' में वर्णित इस अन्तर्कथा में मौलिकता का अंश अधिक है। किन्तु यदि मौलिक अंशों को छोड़ दिया जाय तो उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वाल्मीकि-रामायण' के गौड़ीय पाठ; महानाटक, आनन्दरामायण', भावार्थ-रामायण, रामचरित मानस' आदि काव्यों में साकेत के अनुसार(हनुमान का अयोध्या में पहुंचना और भरत से भेंट वर्णित है। 'वाल्मीकि रामायण' के गौड़ीय पाठ में साकेत के अनुसार हनुमान भरत को वनवास से लेकर लक्ष्मण के आहत होने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाते हैं।' महानाटक' में भी बाण से आहत होकर हनुमान पर्वत सहित अयोध्या में गिरते हैं तब वसिष्ठ उन्हें पर्वत की औषधियों से चेतना में लाते हैं। 'साकेत' में वर्णित इस कथा की कल्पना का आधार' महानाटक' कहा जा सकता है क्योंकि महानाटक के अनुसार भी हनुमान का उपचार पर्वत वाली औषधि से अयोध्या में ही हो जाता है। गुप्त जी ने इसमें और भी नवीनता ला दी है कि हनुमान पर्वत लाने ही नहीं पाते और बाण से आहत होकर नीचे अयोध्या में गिर पड़ते हैं। वहीं गुप्त जी ने एकदम मौलिक कल्पना द्वारा संजीवनी की व्यवस्था कराई है। 'रामचरित-मानस' के अनुसार भी हनुमान बाण से आहत होकर अयोध्या में गिर पड़ते हैं परन्तु संजीवनी बूटी से नहीं वरन भरत द्वारा उच्चरित कुछ शब्दों से ही वे चैतन्य हो जाते हैं। वे भरत को राम-लक्ष्मण का सब समाचार भी देते हैं। अतः साकेत की इस अन्तर्कथा के स्रोत' वाल्मीकि रामायण ' के 'गौड़ीय पाठ' महानाटक , आनन्द रामायण' भावार्थ-रामायण ,रामचरित मानस में प्राप्त होते हैं।

---

१. मानस- लंकाकाण्ड, पृ० ८८१-८८६ ना०प्र०सभा, काशी। श्यामसुन्दरदास।

'साकेत' में वर्णित हनुमान द्वारा संजीवनी लाने की कथा में गुप्त जी ने पर्याप्त मौलिकता रखी है।

पहली मौलिकता तो यह है कि 'साकेत' में ही संजीवनी औषधि की व्यवस्था की गई है।

दूसरी मौलिकता यह कही जाती है कि हनुमान विस्तारपूर्वक भरत को राम-कथा सुनाते हैं। इस पर यह आपत्ति की गई है कि हनुमान संजीवनी बूटी लेने गए थे रामकथा कहने नहीं।[1] परन्तु यह कवि की कोई कोरी मौलिकता नहीं है क्योंकि वाल्मीकि-रामायण के गौड़ीय पाठ में, 'महानाटक' में आनन्द-रामायण में, तथा 'रामचरित-मानस' में भी हनुमान भरत को इस अवसर पर राम का वृत्तान्त सुनाते हैं।

तीसरी मौलिकता यह है कि योगाभ्यास के द्वारा देह को हल्की कर हनुमान आकाश मार्ग से प्रत्यागमन करते हैं। यथा —

'खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना
सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन में
अग्नि-शिखा ऊँची भी नहीं है निराधार कहीं,
वैसा सार-वेग कब पाया सांध्य-घन में?'[2]

यहाँ गुप्त जी ने अलौकिक कृत्य को बुद्धिवादी ढंग से प्रस्तुत किया है। अन्यथा आकाश में उड़ना और क्षण पर लौट जाना, दोनों ही अतिप्राकृत कार्य होते।[3]

चौथी मौलिकता यह कही जा सकती है कि साकेत में घायल हनुमान को भरत संजीवनी औषधि से चेतन करते हैं। परन्तु यह भी कवि की अपनी

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आचार्य वाजपेयी, पृ० ४४ (लोकभा०)
२. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४४१
३. "गुप्त जी ने विश्वास और तर्क के समन्वय का मार्ग खोला था।" क्योंकि द्विवेदी युगीन कवि अलौकिक कृत्यों का वर्णन नहीं करता।"
हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, डा० रवीन्द्रसहाय, पृ० १०५

मौलिकता नहीं कही जा सकती क्योंकि महानाटक में हनुमान के द्वारा लाए हुए औषधि पर्वत की औषधि से भरत हनुमान को चैतन्य कर देते हैं।

७. मेघनाद-वध

'साकेत' के अनुसार मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित हुए लक्ष्मण संजीवनी के प्रभाव से चैतन्य हो उठते हैं और कहते हैं 'धन्य इन्द्रजित! किन्तु संभल बारी अब मेरी।' लक्ष्मण मेघनाद से बदला लेने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं। राम उन्हें चैतन्य हुआ देखकर प्रसन्न होकर हृदय से लगाते हैं।[१] परन्तु लक्ष्मण कहते हैं —

" प्रस्तुत है यह दास आर्य-चरणों का चेरा,
किन्तु कहां वह मेघनाद प्रतिपक्षी मेरा ?"[२]

राम लक्ष्मण को शान्त करने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं —

" क्षण भर तुम विश्राम करो इस अंकस्थल में।" परन्तु लक्ष्मण मेघनाद के वध के लिये तत्पर होकर कहते हैं —

" मैं तो उठ भी सका शत्रु की शक्ति ठेलकर,
किन्तु उठेगा शत्रु न मेरा शैल भेलकर।
वानरेन्द्र, ऋक्षेन्द्र, करो प्रस्तुत सब सेना,
रिपु का व्रण ऋण मुझे अभी चुकता कर देना।"[३]

लक्ष्मण ने अपने योद्धाओं के साथ लंका पर चढ़ाई कर दी। निकुंभिला में मेघनाद साधना में रत था। लक्ष्मण हनुमान अंगद आदि के संग उसकी खोज में चले। सब वहीं पहुंच गए जहां यज्ञ में मेघनाद लीन था। वहां पहुंच कर लक्ष्मण ने कहा —

" अरे इन्द्रजित, देख, द्वार पर शत्रु खड़ा है,
करता उससे विमुख कौन तू कर्म बड़ा है ?

---

१. साकेत- द्वादश सर्ग, पृ० ४७६ —(२०२१ वि० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. ,, पृ० ४८० ,,
३. ,, पृ० ४८१ ,,

जिसके सिर पर शत्रु, धर्म उसका वह जूझे ,
किन्तु पतित तू आर्य-धर्म का समझे बूझे ।"[१]

एकाएक लक्ष्मण को आया देख कर मेघनाद चौंक पड़ा और बोला —

" चौंक हतप्रभ हुआ शत्रु — कैसे तू आया ?
घर का भेदी कौन- यहाँ जो तुझको लाया ?" [२]

लक्ष्मणजी युद्ध के लिए, ललकारते हुए कहते हैं —

" अरे, काल के लिये कौन पथ खुला नहीं है ?
आता अपने आप अन्त तो सभी कहीं है
मैं हूं तेरा अतिथि युद्ध का भूखा, ला तू ,
कर ले कुछ तो धर्म, — अतिथि , देवोभव - आ तू ।"[३]

मेघनाद ने क्षुब्ध होकर कहा —

" लक्ष्मण , मेरी शक्ति अभी क्या भूल गया तू ?
मरते मरते बचा , इसी से फूल गया तू ?"[४]

लक्ष्मण उत्तर देते हुए कहते हैं —

" देखी तेरी शक्ति उसीपर तू इतराया ?
जिसको मेरी एक जड़ी ने ही कितराया,
है क्या कोई युक्ति यहाँ भी, बतला मुझको ?
जो तेरा सिर जोड़ जिला दे फिर भी तुझको ?[५]

तत्पश्चात मेघनाद और लक्ष्मण का युद्ध होता है । लक्ष्मण के बाण से मेघनाद मारा जाता है — "हुआ सूर्य-सा अस्त इन्द्रजित लंकापुर का ।"

'वाल्मीकि-रामायण' में इन्द्रजित के छः युद्धों का वर्णन मिलता है ।

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४८४ (२०२१वि० साहित्य सदन चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, पृ० ४८५ ,,
३. ,, पृ० ४८५ ,,
४. ,, पृ० ४८५ ,,
५. ,, पृ० ४८६ ,,

प्रथम युद्ध में इन्द्रजित ने राम-लक्ष्मण को नागपाश में बांधा था ।[१] द्वितीय और तृतीय युद्ध उस नागपाश के वृत्तान्त का अनुकरण मात्र प्रतीत होता है । द्वितीय युद्ध के पर्व मेघनाद पावक को होम देकर ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लेता है तथा बाद में अदृश्य बनकर वानर-सेनापतियों तथा राम-लक्ष्मण को आहत करता और विजयी के रूप में लंका लौटता है ।[२] तृतीय युद्ध का वर्णन इससे मिलता जुलता है । पावक को होम देने के पश्चात इन्द्रजित अपने रथ पर चढ़ता है तथा अदृश्य होकर राम-लक्ष्मण को आहत करता है ।[३] इन तीन युद्धों की सामान्य विशेषता यह है कि इन्द्रजित अदृश्य रहता है । युद्ध में अदृश्य रहने को इस वर प्राप्ति का उल्लेख `वाल्मीकि रामायण` के `उत्तरकाण्ड` में मिलता है । इसके अनुसार इन्द्रजित ने अग्निष्टोम, अश्वमेध आदि सात यज्ञों का फल प्राप्त कर लिया था तथा कामग,स्यन्दन, अक्षय तूणीर आदि के अतिरिक्त उसे युद्ध में अदृश्य रहने का वरदान भी मिला था ।[४] उत्तरकाण्ड के एक अन्य स्थल पर मेघनाद द्वारा द्वन्द्व में इन्द्र की पराजय का वर्णन किया गया है । मेघनाद ने इन्द्र को पराजित करके उन्हें लंका के कारागार में बंद कर दिया था ।[५] बाद में ब्रह्मा के नेतृत्व में सभी देवता इन्द्र को मुक्त कर देने के उद्देश्य से लंका चले आए । उन्होंने मेघनाद को इन्द्रजित की उपाधि देने के अतिरिक्त एक वर भी दिया । इन्द्रजित ने यह वर माँग लिया कि युद्ध के पर्व पावक को विधिवत होम देने पर मेरे लिए अग्नि में से एक अश्वयुक्त रथ उत्पन्न हो और जब तक मैं उस पर रहूँ, मैं अमर बना रहूँ ।[६]

`वाल्मीकि रामायण` में लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध और मेघनाद वध की अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तार पूर्वक दी गई है ।[७] विभीषण ने राम को सावधान

---

१. वाल्मीकि रामायण ६।४२-४६ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, ६।७३ ,,
३. ,, ६।८० ,,
४. ,, ७।२५ ,,
५. ,, ७।२९ ,,
६. ,, ७।३० ,,
७. ,, ६।८९-९१ ,,

किया कि निकुंभिला में अपना यज्ञ सम्पन्न करने के पश्चात् इन्द्रजित अजेय बन जायगा, अत: इस यज्ञ का विध्वंस आवश्यक है ।[१] लक्ष्मण ने विभीषण, हनुमान, अंगद आदि वानरों को साथ लेकर इन्द्रजित की रक्षा करने वाली सेना पर आक्रमण किया । युद्ध का कोलाहल सुनकर इन्द्रजित अपना अपूर्ण यज्ञ छोड़कर युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ ।[२] लक्ष्मण के साथ विभीषण को देख कर इन्द्रजित ने उसकी निन्दा की ।[३] लक्ष्मण ने मेघनाद को युद्ध के लिए ललकारा—

तमुवाच महातेजा: पौलस्त्यमपराजितम् ।
समाह्वये त्वां समरे सम्यग्युद्धं प्रयच्छ मे ।।६ ।।[४]

अर्थात्, उसे देख तेजस्वी लक्ष्मण उस अजेय रावणात्मज इन्द्रजित से बोले — हे राक्षस ! मैं तुझे युद्ध के लिए आमंत्रित करता हूं आ मेरे साथ सम्हल कर लड़ ।

तत्पश्चात् लक्ष्मण और इन्द्रजित ने देर तक द्वन्द्व युद्ध किया तथा एक दूसरे को आहत किया । इन्द्रजित के इस युद्ध के अन्त में लक्ष्मण ने उसके सारथि को मार डाला और इन्द्रजित पैदल ही लंका लौटा । इसके बाद इन्द्रजित एक नए रथ पर चढ़ कर अंतिम बार युद्ध करने आया । इस युद्ध में लक्ष्मण ने उसके सारथि को और विभीषण ने उसके घोड़ों को मार डाला । अन्त में लक्ष्मण ने ऐन्द्र अस्त्र से इन्द्रजित का वध किया ।[५]

परवर्ती राम कथाओं के अन्तर्गत इस अन्तर्कथा में किंचित परिवर्तन भी मिलता है । 'महानाटक' के अनुसार लक्ष्मण ने इन्द्रजित का कटा हुआ सिर रावण के हाथों में फेंक दिया था ।[६]

---

१. वाल्मीकि रामायण, ६।८४ (प्रका० रामना०,प्रयाग)
२. ,, ६।८५-८६ ,,
३. ,, ६।८६-८७ ,,
४. ,, ६।८७-६ ,,
५. ,, ६।६१।७०-७६ ,,
६. महानाटक १२।१६ (दामोदर मिश्र का संस्करण)

'आनन्द-रामायण' के अनुसार लक्ष्मण ने इन्द्रजित का दाहिना हाथ बाण से काट कर उसी के घर में फेंक दिया और इसी तरह उसका बायां हाथ भी काट कर रावण के निकट डाल दिया। अन्त में लक्ष्मण ने उसके सिर को धड़ से अलग कर धरती पर गिरा दिया और हनुमान ने उसके सिर को उठा कर राम को दिखला दिया।[1] 'आनन्द-रामायण' की कथा इस प्रकार है— मेघनाद की पत्नी सुलोचना अपने पति की कटी हुई भुजा देखकर विलाप करने लगी। तब उस भुजा ने बाण लेकर अपने रक्त से लिखा — "शेष के हाथ मर कर मैंने मुक्ति पाई है। तुम राम के पास जाकर मेरा सिर मांग लो और उसके साथ अग्नि में प्रवेश कर मेरे पास आओ।" इसके अनुसार सुलोचना अपने पति का सिर मांगने के लिए राम के पास आई। राम ने उससे कहा यदि तुम चाहती हो तो मैं तुम्हारे पति को जिला सकता हूं। अग्नि में प्रवेश करने का विचार छोड़ दो। परन्तु सुलोचना ने लक्ष्मण के हाथ से मोक्षप्रद मरण दुर्लभ समझ कर इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया। सुलोचना ने सिर पाकर तथा लंका से उसकी भुजाएं लाकर अपने पति का समस्त शरीर मिला लिया और निकुंभिका में जाकर उसके साथ अग्नि में प्रवेश किया। अनन्तर वह दिव्य देह धारण कर अपने पति के साथ बैकुण्ठ चली गई।[2]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार विभीषण ने राम को बताया कि मेघनाद निकुंभिला गुफा में अग्नि को तृप्त करके शत्रुओं के लिए अजेय होने के लिए गया है। यदि उसका यह होम निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह देवता या असुर किसी से भी नहीं जीता जा सकेगा। अत: लक्ष्मण को मेरे साथ जाने दीजिये। लक्ष्मण उसे अवश्य मार डालेंगे।"[3] परन्तु रामने स्वयं जाकर मेघनाद के वध की इच्छा प्रकट की। परन्तु विभीषण ने कहा कि यह राक्षस उसी से मारा जा सकता है जिसने बारह वर्ष तक निद्रा और आहार

---

१. आनन्द रामायण - १।११।१९०-१९८ (प्रका० गोपालनारायण (बम्बई) संस्क०
२. ,, १।११।२०५-२१७ ,,
३. ,, ६।८।६३-६७ ,,

को छोड़ दिया हो । लक्ष्मण जब से अयोध्या से निकलकर आपके साथ आए हैं तब से आपकी सेवा में लगे रहने के कारण ये निद्रा और आहार को तो जानते ही नहीं । अतः लक्ष्मण को ही मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिये । अनन्तर विभीषण के साथ लक्ष्मण तथा हनुमान , अंगद आदि वानर निकुं-भिला पहुंचे और वहां राक्षसों की बड़ी भाड़ देखी । विभीषण ने लक्ष्मण से कहा कि आप राक्षसों की इस भीड़ को नष्ट कीजिये तो इन्द्रजित दिखाई पड़ने लगेगा । तब आप उसे यज्ञ समाप्त होने से पहले ही उसे मार डालिये । लक्ष्मण ने वानर सेना सहित उन राक्षसों से युद्ध किया । तब राक्षसों को इस प्रकार दलित होते देख कर इन्द्रजित निकुंभिला और होम को छोड़ कर बाहर निकला । और तुरन्त रथ पर चढ़ कर लक्ष्मण से युद्ध करने आया । उसने विभी-षण को लक्ष्मण के साथ देखकर उसकी निंदा की । अनन्तर लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध हुआ । लक्ष्मण ने पांच बाण छोड़ कर मेघनाद के सारथि और घोड़ों सहित रथ को चूर्ण कर डाला । तत्पश्चात लक्ष्मण ने ऐन्द्र बाण निकालकर इन्द्रजित को मारा जिससे उसका सर धड़ से अलग हो गया ।[१]

'मानस' में वर्णित इन्द्रजित - वध की कथा लगभग 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के ही समान है ।मेघनाद अजय-यज्ञ (जिसके करने पर कोई उसे जीत न सके) करने के लिए पर्वत की गुफा में गया । विभीषण ने यह समाचार राम को दिया और कहा कि यदि वह यज्ञ सिद्ध हो जायगा तो मेघनाद किसी से जीता नहीं जा सकेगा । तब राम ने अंगद आदि अनेक वानरों को बुलाकर कहा कि तुम लोग लक्ष्मण के साथ जाओ और उसका यज्ञ विध्वंस कर दो । राम ने लक्ष्मण से कहा कि तुम युद्ध में मेघनाद को मार डालना । लक्ष्मण राम की आज्ञा से अंगद, नल,नील ऋषभ, और हनुमान आदि के साथ चल दिये ।बन्दरों ने मेघनाद का यज्ञ विध्वंस कर दिया । उसके बाल पकड़े और उसे लातों से मार कर वे वानर भागे । तब मेघनाद त्रिशूल लेकर दौड़ा और लक्ष्मण के समीप आया । लक्ष्मण ने उसे बाण से मारा, परन्तु वह अंतर्धान हो गया और तरह तरह के वेश धर कर लड़ने लगा । तब लक्ष्मण ने राम का स्मरण कर

---

१. अध्यात्म रामायण, ६।८।१- ४७ (गीता प्रेस,गोरखपुर)

गर्व से साथ बाण चढ़ाया और मेघनाद की छाती में मारा । मेघनाद मरते मर माया का कपट त्याग दिये । [१]

'रामचन्द्रिका' में 'महानाटक' के अनुकरण पर माना गया है कि लक्ष्मण ने एक तीक्ष्ण बाण से इन्द्रजित का सिर धड़ से अलग उड़ा दिया और वह सिर संध्या करने वाले रावण की अंजली में जा गिरा । [२]

'पउमचरियं' के अनुसार इन्द्रजित को कैदी बना लिया गया [३] और युद्ध के पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया । [४]

साकेत में वर्णित- मेघनाद-वध की अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म-रामायण' तथा 'रामचरितमानस' में प्राप्त होते हैं । अन्य रामकथाओं में भिन्नता मिलती है । आधार ग्रन्थों की विस्तृत कथा को गुप्त जी ने अत्यन्त संक्षेप में रखा है ।

४२. कुंभकर्ण-वध—

'साकेत' के अनुसार युद्ध में मेघनाद को मूर्च्छित हुआ देखकर कुंभकर्ण उसका बदला लेने के लिए आया और राम से बोला —

" अनुमोदक तो नहीं किन्तु निज
अग्रज का अनुगत हूँ मैं,
निद्रा और कलह दो में ही
राघव, सन्तत रत हूँ मैं । पृ० ४४५

रामने उसे ललकार कर कहा —

निद्रा और कलह का, कौणप,
तू बखान कर रहा सगर्व,
जाग, सुलाऊँ तुझे सदा को,
मेटूँ कलह-कामना सर्व । पृ० ४४६

---

१. वाल्मीकि मानस- लंकाकाण्ड, पृ० ६०-६०२, ना०प्र०सभा, काशी, श्यामसु०
२. रामचन्द्रिका, २८।३४ (पंडित पुस्तकालय, काशी)
३. पउमचरियं - पर्व ६१ (भावनगर १९१४, एम०या० जैकोबी

अनन्तर युद्ध हुआ और कुंभकर्ण मारा गया —

" गिरा हमारे दल पर गिरि-सा
मरते मरते भी वह घोर ।" पृ० ४४६

'वाल्मीकि रामायण' में पर्याप्त विस्तार से वानर सेना के साथ कुंभकर्ण के युद्ध, सुग्रीव द्वारा कुंभकर्ण के कर्ण और नासिका के छेदन, लक्ष्मण की अवज्ञा कर कुंभकर्ण का राम के साथ लड़ने को आगे बढ़ने का वर्णन मिलता है ।[१] 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार राम द्वारा कुंभकर्ण का वध होता है । राम ने पहले उसकी भुजाएं, तब उसके पैर और अन्त में उसका सिर अपने बाणों से काट दिया । जब उसका सिर पृथ्वी पर गिरा तो उसकी धमक से राजमार्ग पर बने हुए अनेक धर, लंका के बाहरी फाटक और परकोटे की ऊंची दीवार भी गिर पड़ी । उसका धड़ गिरने से समरभूमि में चारों ओर दौड़ते हुए एक करोड़ वानर दब गए ।[२]

'महाभारत' के 'रामोपाख्यान'[३] और स्कंद पुराण के सेतुमाहात्म्य[४] के अनुसार लक्ष्मण द्वारा कुंभकर्ण का वध होता है, राम के द्वारा नहीं ।

'महानाटक' में हनुमान कुंभकर्ण के सिर पर ऐसा प्रहार करते हैं कि वह हिमालय जाकर गिरता है । बाद में हनुमान उसका कबंध पूंछ में लपेट कर आकाश में दूर तक फेंक देते हैं ।[५] 'पउमचरियं' में कुंभकर्ण राम द्वारा कैदी बनाया जाता है तथा ह युद्ध के अन्त में मुक्त कर दिया जाता है ।[६]

'अध्यात्म-रामायण' में राम द्वारा कुंभकर्ण का वध लगभग वाल्मीकि-रामायण के समान ही वर्णित है । राम ने युद्ध में पहले उसकी बाहुएं काट

---

१. वाल्मीकि रामायण, ६।६७ (रामनारायण०, प्रयाग)
२. ,, ६७।१६६-८४ ,,
३. महाभारत, रामोपाख्यान , अध्याय २७१ (गीताप्रेस गोरखपुर)
४. स्कंद पुराण, सेतुमाहात्म्य- अध्याय ४४ (वेंकटेश्वर प्रेस , बम्बई)
५. महानाटक , अंक ११ (दामोदर मिश्र का संस्क०)
६. पउमचरियं, पर्व ६१ (भावनगर १६१४ , एच०याकोबी का संस्क०)

डाली, फिर दोनों पैर काट डाले और तत्पश्चात् उसका सिर काट डाला कुंभकर्ण का सिर लंका के द्वार पर और उसका धड़ समुद्र में गिरा ।[१]

'रघुवंश' के अनुसार भी राम द्वारा कुंभकर्ण का वध हुआ । युद्ध के समय सुग्रीव ने कुंभकर्ण की नाक काट कर उसे भी शूर्पणखा जैसा बना दिया । वह राम का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया । तब राम के बाणों से घायल होकर वह मर गया । जैसे उन बाणों ने उसे यह कह कर गहरी नींद में सुला दिया हो कि तुमको नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई ने व्यर्थ तुम्हें असमय में जगा दिया ।[२]

'मानस' के अनुसार भी राम कुंभकर्ण का वध करते हैं । पहले वे उसकी भुजाओं को काट देते हैं और फिर उसका मस्तक धड़ से अलग कर देते हैं । उसका सिर रावण के सम्मुख जाकर गिरा और उसका धड़ धरती को धंसाता हुआ दौड़ा । तब राम ने उसके धड़ के भी दो टुकड़े कर दिये । कुंभकर्ण का तेज राम के श्रीमुख में समा गया ।[३]

'साकेत' में वर्णित कुंभकर्ण वध की अन्तर्कथा के स्रोत वाल्मीकि - रामायण, अध्यात्म रामायण, रघुवंश तथा 'मानस' ही प्रतीत होते हैं । इन आधार ग्रन्थों में राम द्वारा ही कुंभकर्ण-वध होता है । जैसा कि'साकेत' में भी वर्णित है ।

'साकेत' में कुंभकर्ण वध के प्रसंग को नई भाव भूमिका दी गई है । लक्ष्मण के शक्ति लगने के उपरान्त क्रोधित होकर राम भीषण युद्ध करते हैं ।' भाई का बदला भाई ही' कह कर वे कुंभकर्ण का वध कर डालते हैं । कुंभकर्ण के वध से दु:खी होकर रावण मूर्च्छित हो जाता है । रावण को मूर्च्छित देख कर राम को लक्ष्मण की मूर्च्छा का स्मरण हो आता है ।और वे रावण की सहृदयता की प्रशंसा करते हुए गिर पड़ते हैं -

" प्रभु भी यह कह गिरे-' राम से
हतभागे रावण ही सहृदय है आज ।"[४]

राम के चरित्र की यह मानवीय भाव भूमि कवि की अपनी कल्पना है ।

----

४३. रावण-वध –

'साकेत' के अनुसार मेघनाद-वध के समाचार को सुन कर रावण रथ में ही मूर्च्छित हो गया। तब राम ने उसे युद्ध के लिए ललकारा और उसका अन्त करके मानो उसके दुःखों का ही अन्त कर दिया। यथा –

> प्रभु बोले –उठ, जाग बाण प्रस्तुत है मेरा,
> मैं सह सकता नहीं दुःख रावण, अब तेरा।[१]

इस प्रकार राम ने रावण को मुक्ति प्रदान की।

'वाल्मीकि-रामायण' में बहुत विस्तार से राम-रावण युद्ध वर्णित है। इस युद्ध में राम द्वारा रावण का वध होता है। महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष के वध के अनन्तर रावण ने स्वयं रणभूमि में प्रवेश किया। इस युद्ध में उसने लक्ष्मण को अपनी शक्ति से आहत किया किन्तु राम द्वारा पराजित होकर वह भाग गया।[२] बाद में रावण एक नए रथ पर चढ़ कर राम से युद्ध करने आया और इन्द्र ने राम के पास अपना रथ अपने सारथि मातलि को भेज दिया। तब द्वन्द्व युद्ध आरंभ हुआ। इसमें रावण मूर्च्छित हो जाता है और उसका सारथि रथ को रणभूमि से दूर ले चला।[३] चेतना प्राप्त करने पर रावण ने अपने सारथि को युद्ध में लौटने का आदेश दिया और पुनः वह राम का सामना करने आया।[४] रामने बाणों से रावण का शिरच्छेदन किया और उधर रावण के कटे हुए सिरों के स्थान पर नए सिर निकलते आए। यहाँ तक कि अन्त में राम ने रावण के एक सौ सिर काट दिए[५]। अंत में राम ने रावण के छाती को महर्षि अगस्त द्वारा प्रदत्त ब्रह्मास्त्र से विदीर्ण कर दिया जिससे रावण निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा।[६]

---

१. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४८६

२. वाल्मीकि रामायण, ६।९९-१०० (रामना०, प्रयाग)

३. ,, ६।१०२-१०५

४. ,, ६।१०८

५. ,, ६।११०

६. ,, ६।१११

'महानाटक' के अनुसार राम द्वारा रावण के वध से पूर्व रावण ने अपने दूत लौहिताक्ष के द्वारा राम से कहा था कि परशुराम से प्राप्त हरप्रसाद-परशु के बदले में सीता को लौटाने के लिए तैयार हूँ।[१] रामचन्द्रिका में भी इस प्रस्ताव का उल्लेख मिलता है।[२] 'महानाटक' के अनुसार राम ने विश्व का कल्याण दृष्टि में रखकर रावण के वक्षस्थल पर बाण नहीं चलाया। क्योंकि राम जानते थे कि रावण के हृदय में सीता का निवास था, सीता के हृदय में राम तथा राम में समस्त भुवनावली विद्यमान थी।[३] रामचरित मानस में भी इसकी चर्चा की गई है। इसमें त्रिजटा सीता को आश्वासन देती है कि सिरों के कट जाने पर रावण व्याकुल होकर तुमको भूल जायगा, तभी राम उसके हृदय में बाण मार कर उसका वध करेंगे।[४]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार रावण के नाभि प्रदेश में अमृत रखा हुआ था, विभीषण से यह जानकर राम ने आग्नेयास्त्र से उस अमृत को सुखाया था।[५] रावण के शरीर में स्थित अमृत का उल्लेख बहुत सी अन्य राम कथाओं में किया, गया है — उदाहरणार्थ 'आनन्द-रामायण'[६] 'धर्म-खण्ड'[७] 'तत्त्वसंग्रह-रामायण'[८] तथा रामचरित मानस।[९]

'पउमचरियं' में लक्ष्मण के शक्ति-भेद के पश्चात् रावण दूत भेज कर राम को अपना आधा राज्य तथा ३००० कन्याओं को प्रदान करने का प्रस्ताव करता है और इसके बदले राम भानुकर्ण, इन्द्रजित आदि कैदियों को लौटायें और सीता को त्याग दें। किन्तु राम इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं।[१०]

---

१. महानाटक १४।१-२ (दामोदर मिश्र का संस्करण)
२. रामचन्द्रिका १६।१७ (रामनारायणलाल प्रयाग)
३. महानाटक १४।२६ (दामोदर मिश्र का संस्क०)
४. मानस- लंकाकाण्ड, पृ० ६३२ (ना०प्र०सभा)
५. अध्यात्म रामायण ६।११ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
६. आनन्द रामायण - १।११।२७८
७. धर्मखण्ड, अध्याय १३०
८. तत्त्वसंग्रहरामायण, ६।२६
९. मानस-लंकाकाण्ड, पृ० ६३३ ना०प्र०सभा,(श्यामसुन्दरदास,सं०)
१०. पउमचरियं- पर्व ६५ (भावनगर १६१४।" [illegible]

'पउमचरियं' में रावण के पश्चाताप का वर्णन भी किया गया है। बहुरूपा विद्या सिद्ध करने के पश्चात् रावण सीता से मिलने आया। सीता ने उसे ठुकराया तथा यह कहकर मूर्छित हो गई कि मैं तभी तक जीवित रहूँगी जब तक राम-लक्ष्मण और भामण्डल की मृत्यु का समाचार नहीं पाती। रावण सीता का पातिव्रत्य देखकर दयार्द्र हो गया और सोचने लगा कि मैंने उसका अपहरण करके पाप किया है। फिर यह समझ कर कि बिना युद्ध किये सीता को लौटाने में मेरा अपयश होगा रावण ने संकल्प किया कि मैं राम तथा लक्ष्मण को हरा कर उन्हें सीता को सौंप दूंगा।[१]

'पद्मपुराण' (पातालखंड) के अनुसार अतिकाय तथा महाकाय गुप्तचर के रूप में राम की सेना में प्रवेश कर पकड़े गये थे, उन्होंने शुक्र की इस भविष्यवाणी का उद्घाटन किया कि लंका के द्वार पर जो लकड़ी का कीर्तिमुख है, उसके छिन्न भिन्न हो जाने से रावण की मृत्यु अवश्यंभावी है। राम ने बाण मार कर उस कीर्तिमुख को नष्ट कर दिया था।[२]

'महाभारत' के अनुसार रावण ने अन्तिम युद्ध के समय राम तथा लक्ष्मण का रूप धारण करने वाले बहुत से मायामय योद्धाओं को उत्पन्न किया था।[३] 'रामचरित मानस' में भी रावण की इस माया का उल्लेख किया गया है।[४] 'महाभारत' में यह भी माना गया है कि राम का ब्रह्मास्त्र रावण को इस प्रकार जला देता है कि राख भी शेष नहीं रहती।[५]

'अध्यात्म-रामायण' के अनुसार भी राम रावण का वध करते हैं। वध के उपरान्त रावण का जीव ज्योति का रूप धारण कर राम के शरीर में प्रवेश करता है। देवताओं के आश्चर्य करने पर नारद उनको समझाते हैं कि रावण ने द्वेष भाव से निरंतर हृदय में राम का स्मरण किया था और इस कारण उसने मुक्ति प्राप्त की है।[६] 'आनन्द रामायण'[७] में भी रावण

---

१ पउमचरिय, पर्व ६६ एच०याकोबी का संस्करण

२ पद्मपुराण, पातालखंड, अध्याय ११२।२०२

३ महाभारत, ३।२७४।८

४ मानस-लंकाकांड, गीताप्रेस गोरखपुर (ना०प्र०सभा, काशी)

५ महाभारत ३।२७४।३१ गीताप्रेस गोरखपुर

६ अध्यात्म रामायण ६।११।७८

की सायुज्य मुक्ति का उल्लेख है ।

'रामचरित मानस' के अनुसार त्रिजटा सीता को बताती है कि राम रावण के हृदय में पहले बाण नहीं मारेंगे । क्योंकि उसमें सीता का निवास है और सीता के हृदय में राम का । राम के हृदय में अनेक लोक बसते हैं । मस्तक कटते-कटते जब रावण व्याकुल हो जायगा तब सीता की ओर से उसका ध्यान छूट जायगा , तब उस अवसर पर राम उसके हृदय पर बाण मारेंगे ।[१]

युद्ध के समय सिरों के कटने पर भी जब रावण नहीं मरता, तो विभीषण ने बताया कि रावण की नाभि-कुंड में अमृत का निवास है । तब राम ने एक बाण से रावण की नभिकुंड में अमृत को सुखा दिया । फिर दूसरे बाणों ने बीसों भुजाओं और दसों मस्तकों को काट डाला । तब रामने एक बाण मार कर उसके धड़ के दो टुकड़े कर दिये । राम के बाण रावण की भुजाओं और मस्तकों को मंदोदरी के सम्मुख रखकर राम के पास गए और तरकस में प्रवेश किया । रावण का तेज राम के मुख में प्रविष्ट हो गया ।[२]

'साकेत' में रावण वध की अन्तर्कथा अत्यधिक संक्षिप्त रूप से वर्णित है । इस अन्तर्कथा के स्रोत वाल्मीकि-रामायण' ,'महानाटक' ,'अध्यात्म-रामायण, पद्मपुराण, महाभारत, आनन्द रामायण तथा मानस आदि सभी रामकथाओंमें प्राप्त होते हैं । कुछ रामकथाएं ऐसी भी हैं जिनमें लक्ष्मण रावण का वध करते हैं जैसे जैन राम कथाओं और बिरहौर रामकथा में लक्ष्मण ही रावण का वध करते हैं ।[३] गुप्त जी ने आधार ग्रन्थों की विस्तृत कथा को अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया है । साथ ही अति प्राकृत तत्वों का बहिष्कार भी किया है ।

---

१. मानस , लंकाकाण्ड, पृ० ६२३
२. मानस, लंकारकाण्ड, पृ० ६३४-०[२]६
३. राम-कथा - कामिल बुल्के , पृ० ५७६ हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय

४३ साकेतवासियों की रण-सज्जा

'साकेत' की सैन्य-सज्जा कवि की नवीन उद्भावना है। अयोध्या में हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति प्रहार से मूर्च्छित होने की बात सुन कर शत्रुघ्न शंख बजा देते हैं। अयोध्या में आशंका और भय की लहर सी उत्पन्न हो जाती है और तब सम्पूर्ण अयोध्या लंका जाने के लिए उद्यत हो जाती है[1]। यह प्रसंग प्राचीन राम-काव्य के लिए सर्वथा अपरिचित है। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार तो हनुमान भरत को दिखाई भी नहीं पड़ते और न ही उनसे भेंट करते हैं। अत: भरत को राम-लक्ष्मण पर आई आपत्ति का पता भी नहीं चलता। इसलिए 'वाल्मीकि रामायण' में भरत तथा अयोध्यावासियों द्वारा रण-सज्जा का प्रश्न ही नहीं उठता। 'वाल्मीकि - रामायण' के गौड़ीय पाठ में औषधि पर्वत लाने के अवसर पर भरत हनुमान को एक बाण मार कर गिराना चाहते हैं, परन्तु हनुमान अपना परिचय देकर अपनी यात्रा का उद्देश्य बताते हैं। फिर भरत के प्रश्न के उत्तर में हनुमान वनवास से लेकर लक्ष्मण के आहत होने तक का सम्पूर्ण वृत्तान्त भरत से कह सुनाते हैं। फिर भरत को विजयी राम के शीघ्र प्रत्यावर्तन का आश्वासन देकर हिमालय की ओर प्रस्थान करते हैं।[2] अत: भरत का रण-सज्जा जैसी कोई बात सोचने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

'रामचरित-मानस' में भरत हनुमान द्वारा इस तथ्य से अवगत होते हैं हैं परन्तु तटस्थ ही रहते हैं। यद्यपि उन्हें इसका बहुत शोक है --

अहह दैव मैं कत जग जायउं। प्रभु के एकहु काज न आयउं।[3]

परन्तु वे सर्वथा निश्चेष्ट रहते हैं। तुलसीदास हनुमान द्वारा भरत की राम-भक्ति का गुणगान करवाते हैं तथा हनुमान के लंका प्रस्थान का उल्लेख कर

---

१. साकेत द्वादश सर्ग (२०२१वि०)

२. वाल्मीकि रामायण : गौणीय पाठ ६।८२।६०-१३८

३. मानस लंका काण्ड, पृ० ८८३ (ना०प्र०सभा, काशी)

सीधे लंकास्थित राम लक्ष्मण का वर्णन करने लगते हैं। अतः 'साकेत' में वर्णित 'रण-सज्जा' के प्रसंग के स्रोत वाल्मीकि रामायण और मानस में नहीं मिलते।

तुलसीदास कृत 'गीतावली' में इसी प्रसंग में सुमित्रा शत्रुघ्न को लंका-प्रयाण का आदेश देती है और शत्रुघ्न भी अपने को धन्य मानते हैं

> तात ! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
> प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे, जनु बिधिबस सुढ़र ढरे हैं ।।[१]

किन्तु इस आदेश का पालन कहीं दृष्टिगत नहीं होता। 'साकेत' में भी लंका-प्रस्थान की निष्पत्ति नहीं होती परन्तु वहाँ तर्क सम्मत समाधान उपस्थित है। वसिष्ठ आकर सबको शांत करते हैं —

> " शांत, शांत ! सब सुनो कहाँ जाते हो तारो ,
> लंका विजितप्राय, तनिक तुम धीरज धारो ।"[२]

अतः यह स्पष्ट है कि 'साकेत' के इस प्रसंग को यदि हम पूर्ण रूप से नहीं, तो भी आंशिक रूप से 'गीतावली' पर आधारित मान सकते हैं।

इस अन्तर्कथा का स्रोत गीतावली से निसृत होने पर भी इसमें पर्याप्त मौलिकता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार —" साकेत-वासियों की रण सज्जा का वर्णन भी भावों की दृष्टि से बड़ा सशक्त और सवेग है। वह भी कवि की मौलिक प्रसूति है..... कवि को यह असह्य हो उठा कि राम पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़े, सीता को नीच कौणप चुरा ले जाय, लक्ष्मण शक्ति आहत होकर म्रियमाण हो जायें और अब उनके प्रिय भाई एवं उनकी 'प्रकृति' प्रजाजन निष्क्रिय और निश्चिंत बैठे रहें। उनके सम्मुख वह संस्कृति की मर्यादा का प्रश्न बन गया है। सीता के सम्मान पर आक्रमण देश की संस्कृति पर आक्रमण था। अतः इस स्थल पर कवि का राष्ट्रीय उत्साह मुखर हो उठा है।"[३] कवि की व्यापक राष्ट्र-भावना इस अवसर पर अत्यधिक प्रबल हो जाती है। कवि

---

१. गीतावली- लंकाकाण्ड
२. साकेत - द्वादश सर्ग (२०२१ वि०)
३. साकेत - एक अध्ययन, पृ० ६६ (द्वादश संस्करण)

ने इस अवसर पर शत्रुघ्न की सुदीर्घ और ओजमयी वक्तृता नियोजित की है। उर्मिला भी अब अन्त:पुर में नहीं रुक पाती। वह एक राष्ट्र-सेविका की भाँति सामने आती है। वह यह नहीं चाहती कि लंका का सोना भरत में लाया जाय। वह भारत-लक्ष्मी को बंधन-मुक्त करना चाहती है। इस अवसर पर उर्मिला की आवेशपूर्ण वक्तृता साहस, निर्लोभ, सेवापरायण वृत्ति तथा चारित्रिक उज्वलता को प्रकट करती है। कवि ने सीता को भारत-लक्ष्मी के रूप में प्रतिष्ठित कर अपनी राष्ट्र-भावना व्यक्त की है। उर्मिला के अतिरिक्त कैकेयी का उत्साह भी इस अवसर पर कवि ने दिखाया है। कैकेयी के दोष का प्रक्षालन करने के लिए कवि को अच्छा अवसर मिल गया है।यथा —

> कैकेयी ने कहा रोककर आँसू बल से -
> " भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी ,
> ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?
> मूर्तिमती आपत्ति यहाँ से मुँह मोड़ेगी ,
> शत्रु देश सा ठौर मिला, वह क्यों छोड़ेगी ?" [१]

इस अवसर पर सुमित्रा की आदर्श भावना भी व्यक्त हुई है। वह शत्रुघ्न से कहती है —

> " जा प्यारे, आदर्श गए तेरे जिस पथ से
> कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से।" [२]

कवि ने इस अवसर पर सभी नारी पात्रों और पुरुष पात्रों के उत्साह की व्यंजना कराई है।

४५.राम का अयोध्या लौटना और राज्याभिषेक

"साकेत" के अनुसार दिव्य दृष्टि द्वारा राम की विजय और उनके अयोध्या आने की बात जानकर भरत आदि राम के स्वागत की तैयारी में लीन

---

१. साकेत- द्वादश सर्ग, पृ० ४५८ (२०२१ वि०)
२. साकेत - द्वादश सर्ग, पृ० ४५८ ,,

हो गए । राम रावण का वध करने के उपरांत सीता को साथ लेकर अयोध्या लौटे । अयोध्या में राम और भरत का सौहार्द्र पूर्ण मिलन हुआ -

" मिले भरत से राम क्षितिज में सिंधु-गगन-सम ।"[1]

वहां सबका अपूर्व मिलन हुआ -

साधु भरत के अश्रु गिरे चरणों में जब लों,
नयनों में ही भर सती सीता न तब लों ।

< <

देवर भाभी मिले, मिले सब भाई भाई ,
बरसे भू पर फूल , जयध्वनि ऊपर छाई ।"[2]

अयोध्यावासियों के साथ राम पैदल ही पुरी में चले । कवि ने इस अवसर पर योध्यावासियों की प्रसन्नता और उल्लास का सुंदर चित्रण किया है । माताएं भी पुत्रों और पुत्रवधू सीता को पाकर गद्गद् हो उठीं । चारों ओर आनन्द ही आनन्द छा गया ।[3] अनन्तर राम का राज्याभिषेक हुआ -

"मानो मज्जित हुई पुरी जय जय के रव में,
पुरजन, परिजन लगे इधर अभिषेकोत्सव में ।
पाई प्रभु से इधर नई छवि राज भवन ने
सागर का माधुर्य पी लिया मानो घन ने ।"[4]

'वाल्मीकि-रामायण' में राम के अयोध्या लौटने और राज्याभिषेक का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है । इसके अनुसार राम के लौटने के लिए विभीषण पुष्पक विमान प्रस्तुत करता है । राम की अनुमति पाकर सुग्रीव अपने वानरों के साथ तथा विभीषण अपने अमात्यों के साथ पुष्पक पर चढ़ते हैं ।[5] अगले

---

१. साकेत- द्वादश सर्ग, पृ० ४६१ (२०२१वि०, साहित्य सदन,चिरगांव,झांसी)
२. ,, पृ० ४६२-४६३ ,,
३. ,, पृ० ४६३ ,,
४. ,, पृ० ४६५-४६६ ,,
५. वाल्मीकि रामायण, ६।१२५ (प्र०रा० रामना०रा०,प्रयाग)

सर्ग में राम सीता को संबोधित करके लंका से अयोध्या तक की समस्त यात्रा का वर्णन करते हैं। भरद्वाज आश्रम में पहुंच कर राम अयोध्या का समाचार प्राप्त कर लेते हैं तथा हनुमान को गुह और भरत के पास भेज देते हैं।[१] हनुमान से संक्षेप में रामचरित सुनकर भरत राम के आगमन के लिए अयोध्या सजाने का आदेश देते हैं। जनता भरत के साथ नंदिग्राम में राम का स्वागत करती है। भरत राम को राज्य-भार सौंप देते हैं तथा राम का अभिषेक विधिवत् सम्पन्न किया जाता है।[२]

'आनन्द-रामायण' के अनुसार राम भरत का आलिंगन करने के पश्चात् बहुत से रूप धारण कर एक ही समय सबों से मिले थे।[३]

'अध्यात्म-रामायण'[४] तथा 'आनन्द-रामायण'[५] के अनुसार रामने लक्ष्मण को युवराज पद पर अभिषिक्त किया था।

'पउमचरियं' के अनुसार लक्ष्मण तथा राम दोनों का अभिषेक किया जाता है।[६]

'रामचरित-मानस' के अनुसार राम पुष्पक विमान द्वारा लंका से अयोध्या की ओर चले। मार्ग में उन्होंने सीता जी को पृथ्वी पर के सभी मुख्य-मुख्य स्थान आदि दिखाए। राम दण्डकवन पार फिर चित्रकूट आए। तब विमान आगे बढ़ा और उन्होंने यमुना तथा गंगा के दर्शन किए। तब प्रयाग राज का दर्शन किया। त्रिवेणी पर आकर सब ने स्नान किया। तब राम ने हनुमान को बटु (ब्रह्मचारी) के रूप में भरत के पास अयोध्या भेजा और वहां के समाचार लाने के लिए कहा। तब राम भारद्वाज मुनि के आश्रम में आए। फिर विमान पर चढ़ कर गंगा को पार किया। इसी समय निषाद-

---

१. वाल्मीकि रामायण, ६।१२७ (प्रका० रामना०, प्रयाग)
२. ,, ६।१२८-१३१ ,,
३. आनन्द-रामायण १।१२।८४ (गोपालनारायण (बम्बई) संस्करण)
४. अध्यात्म-रामायण ६।१६।२६ (गीता प्रेस,गोरखपुर)
५. आनन्दरामायण १।१२।१६६ (गोपा०(बम्बई) का संस्क०)
६. पउमचरियं पर्व ८०-८५ (एच०याकोबी का संस्करण)

राज से भेंट हुई ।[१] हनुमान ने अयोध्या पहुँच कर तपस्वी के रूप में भरत को देखा, हनुमान ने राम के अयोध्या आने का समाचार उन्हें दिया और फिर हनुमान राम के पास गए और सब समाचार उन्हें दिया । भरत के साथ अयोध्यावासी राम के पास आए । राम ने पुष्पक विमान से उतर कर उसे कुबेर के पास भेज दिया । राम ने लक्ष्मण सहित जाकर वसिष्ठ और वामदेव आदि गुरुओं के चरणों को पकड़ लिया । भरत ने राम के चरणों को पकड़ लिया । राम ने शत्रुघ्न को हृदय से लगाया । राम एक क्षण में ही सबसे मिल लिए । यहाँ तुलसीदास माताओं से राम, लक्ष्मण, सीता की भेंट करवाते हैं ।[२] कैकेयी राम से मिलती हुई हृदय में बहुत सकुचाई —

" रामहिं मिलत कैकयी हृदय बहुत सकुचानी ।"[३]

लक्ष्मण कैकेयी से बार-बार मिले क्योंकि उनके चित्त का क्षोभ न मिटा था । यथा —

" कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभ न जाई ।"[४]

सीता सभी सासुओं से मिलीं और उनके चरणों पर पड़ीं ।

राम सबसे पहले कैकेयी के घर गए । कैकेयी को समझा कर तब वे अपने महल में आए :—

प्रभु जानी कैकेई लजानी । प्रथम तासु गृह गये भवानी ।

ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा । पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा[५]।

मुनि वसिष्ठ की आज्ञा से राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ आरंभ हुईं ।[६]

---

१. मानस, लंकाकांड, पृ० ६६१-६६५ (ना०प्र०सभा, काशी)
२. ,, उत्तरकांड, पृ० ६७०-६७७ ,,
३. ,, ,, पृ० ६७७ ,,
४. ,, ,, पृ० ६७७ ,,
५. ,, ,, पृ० ६८० ,,
६. ,, ,, पृ० ६८१ ,,

राम-सीता को एक दिव्य सिंहासन पर बैठा कर विधिवत राम का राज्याभिषेक हुआ ।[१]

साकेतमें वर्णित राम के अयोध्या लौटने और उनके राज्याभिषेक की कथा के मूल स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण' तथा 'रामचरित-मानस' में मिलते हैं । साकेत में वर्णित इस अन्तर्कथा में पर्याप्त मौलिकता भी विद्यमान है । पहली मौलिकता तो यह है कि गुप्त जी ने कैकेयी के दोष का प्रक्षालन खुल कर किया है । वैसे तुलसीदास ने भी कैकेयी की ग्लानि, संकोच और क्षोभ का वर्णन किया है, परन्तु गुप्त जी ने इस अवसर पर कैकेयी को काफी मुखर बना दिया है । वह अपने दोषों को स्वीकार तो करती है, साथ ही राम की प्रशंसा करते हुए कहती है -

" भागी हो तुम वत्स राम रघुवर, भव भर के,
कैकेयी के दोष लिए तुमने गुण करके ,
ढोया जीवन - भार, दु:ख ही ढोया मैंने ,
पाकर तुम्हें परन्तु भरत को पाया मैंने ।"[२]

इस अवसर पर गुप्त जी ने युग-युग से उपेक्षिता उर्मिला के साथ भी न्याय किया है । आदि कवि से लेकर सभी राम-कथाकारों ने जिस उर्मिला का स्मरण भी नहीं किया उसका वर्णन गुप्त जी ने साकेत में किया है और उसे समुचित महत्त्व दिया है । राम उर्मिला की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

" तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि , इस भू पर ।"[३]

यहाँ कवि की नारी विषयक उदात्त भावना व्यक्त हुई है ।

---

१. मानस उत्तर काण्ड, पृ० ८८२-८३३ (प्रका० ना०प्र०सभा,काशी)
२. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४६५ (२०२१ वि०)
३. ,, पृ० ४६५ (२०२१ वि०)

४५ वसिष्ठ द्वारा प्रदत्त दिव्य-दृष्टि –

'साकेत' के अनुसार वसिष्ठ मुनि अयोध्या-वासियों को दिव्य दृष्टि देकर लंका की युद्ध-भूमि के दृश्य उनकी आँखों के सम्मुख चलचित्र की भाँति प्रत्यक्ष कर देते हैं। इस प्रकार की नियोजना करके कवि ने प्रत्यक्ष वर्णना का मार्ग निकाला है। परन्तु दिव्य-दृष्टि , का विनियोग आधुनिक बुद्धिवाद की वस्तु नहीं कही जा सकती । है। प्राचीन राम कथा में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं आया है। कवि ने 'साकेत' (अयोध्या) में ही सब घटनाओं को घटित होते हुए दिखाने के लिए यह नियोजना की है। युद्ध का सारा चित्रण या तो हनुमान ने अयोध्या आकर भरत से किया, या फिर दिव्य दृष्टि द्वारा साकेतवासियों ने युद्ध का दृश्य अयोध्या में ही उपस्थित रह कर देख लिया । यह कवि की अपनी मौलिक कल्पना है।

(२) पंचवटी की अन्तर्कथा और उसके स्रोत

गुप्त जी द्वारा प्रणीत 'पंचवटी' काव्य में केवल एक ही अन्तर्कथा 'शूर्पणखा विरूपण' वर्णित है। 'साकेत' में भी यह अन्तर्कथा वर्णित है । पंचवटी में इस कथा को अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत रूप में चित्रित किया गया है। इसके मूल स्रोत वही हैं जो 'साकेत' में वर्णित इसी अन्तर्कथा के हैं।[१]

(३) प्रदक्षिणा की अन्तर्कथाएं और उनके स्रोत

'साकेत' के बहुत समय पश्चात् सर्व प्रथम प्रदक्षिणा का प्रकाशन सं० २००७ में हुआ था। इस रचना का मूल उद्देश्य राम-भक्ति है। इस ७६ पृष्ठों के काव्य में सम्पूर्ण राम-कथा (राम जन्म से राम राज्याभिषेक तक) अत्यन्त संक्षेप में कही गई है। इसकी सम्पूर्ण कथा बिना विस्तार

---

१. साकेत की अन्तर्कथाएं और उनके स्रोत' देखिए ।

और विश्राम के कही गई है । प्रत्येक अन्तर्कथा और मार्मिक स्थल एक-एक दो-दो छंदों में वर्णित हैं । प्रदक्षिणा की सभी अन्तर्कथाएं "साकेत" में उसी रूप में वर्णित हैं । प्रदक्षिणा के अधिकांश छंद "साकेत" तथा "पंचवटी" से उद्धृत हैं । "पंचवटी" के पूर्वाभास के छ: छंद ज्यों के त्यों "प्रदक्षिणा" में पृ० २४-२५ पर उद्धृत हैं । साकेत से उद्धृत स्थलों की तो गिनती ही नहीं है । सम्पूर्ण युद्ध वर्णन "साकेत से लिया गया है । "साकेत" के अष्टम और एकादश सर्ग से भी अनेक छंद उद्धृत हैं ।

"प्रदक्षिणा" की अन्तर्कथाएं

"प्रदक्षिणा" में वर्णित अन्तर्कथाएं निम्नलिखित हैं —

१. विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का जाना । (पृ० ११-१२)
२. सीता स्वयंवर और धनुर्भंग पृ० १६-१८
३. परशुराम आगमन और उनका तेजोभंग पृ० १८
४. राजा दशरथ को अंध मुनि का शाप पृ० २१
५. कैकेयी के दो वर पृ० २१
६. विदा प्रसंग पृ० २३-२४
७. निषाद द्वारा राम के चरणों का धोया जाना, पृ० २६
८. निषाद द्वारा श्रि राम के चरणों का धोया जाना पृ० २६
९. चित्रकूट में सभा का आयोजन, पृ० २६-३२
१०. भरत का चित्रकूट आगमन पृ० २६-३०
११. विराध दैत्य का वध - पृ० ३५
१२. शूर्पणखा विरूपण पृ० ३६
१३. खर तथा दूषण का वध पृ० ३७
१४. सीता हरण — पृ० ४३-४४
१५. जटायु पृ० ४८
१६. कबंधासुर-वध पृ० ४८

'प्रदक्षिणा' में वर्णित उपर्युक्त सभी अन्तर्कथाएं 'साकेत' में इसी रूप में वर्णित हैं। अत: इनके स्रोत भी वही हैं जो साकेत की इन्हीं अन्तर्कथाओं के हैं।[१]

---

१. 'साकेत' की अन्तर्कथाओं के स्रोत' देखिये।

चतुर्थ अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के महाभारतीय काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत

(क) संस्कृत कृष्ण-साहित्य का परिचय

हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य के मूल-स्रोत संस्कृत के कृष्ण साहित्य में विद्यमान हैं। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति काव्य पर मुख्यतया वैष्णव पुराणों तथा महाभारत का प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण, विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, नारद पुराण और पद्म पुराण में विष्णु के आध्यात्मिक रूप तथा महिमा का व्यापक और सर्वांग सुन्दर वर्णन किया गया है। नीचे हिन्दी कृष्ण काव्य को प्रभावित करने वाले पुराणों का, संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

श्रीमद्भागवत पुराण -- यह संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है और भक्ति शास्त्र का सर्वस्व है। वैष्णव धर्म के अवांतर कालीन लगभग समस्त धार्मिक सम्प्रदाय भागवत से ही प्रभावित हैं। वल्लभाचार्य भागवत पुराण को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि भाषा' कहते हैं। अर्थात् जिन परम तत्वों की अनुभूति व्यासदेव को समाधि दशा में हुई थी उन्हीं का विस्तृत वर्णन व्यासदेव ने भागवत पुराण में किया है। भागवत पुराण के अनुशीलन से उसके अभिमत सिद्धान्त का परिचय मिलता है। भागवत पुराण अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। इसका आध्यात्म-पक्ष है पूर्ण अद्वैत तथा व्यवहार पक्ष है विशुद्ध भक्ति। भागवत पुराण अद्वैत ज्ञान ज्ञान के साथ भक्ति का सामंजस्य उपस्थित करता है और यही उसकी विशेषता है।

श्रीमद्भागवत में भगवान विष्णु के बाईस अवतारों का वर्णन हुआ है जिसमें श्रीकृष्ण अवतार का वर्णन ही प्रमुख है। विष्णुपरक होते हुए भी इस पुराण में अन्य किसी भी देवता के प्रति अनुदार दृष्टिकोण नहीं है। अत: भागवत पुराण साम्प्रदायिकता की भावना से पूर्णतया मुक्त है।

विष्णु पुराण-

विष्णु पुराण के सम्बन्ध में मत्स्य पुराण कहता है कि वाराह भगवान् के कल्प अर्थात् जिस सृष्टि के प्रारम्भ में वाराह रूप में भगवान अवतरित हुए थे, वृत्तान्त को लक्ष्य कर पराशरनन्दन ने जिसमें सम्पूर्ण धर्मयुक्त उपदेशों को कहा है, उसे विष्णु पुराण कहते हैं :-

वाराह कल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः ।
यत्प्राह धर्मानखिलान् तदुक्तं वैष्णवं विदुः ।
त्रयो विंशति साहस्त्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः ।।[१]

वैष्णव पुराणों में श्रीमद्भागवत के पश्चात् द्वितीय कोटि में इस पुराण की गणना की जाती है । दार्शनिक महत्व की दृष्टि से यदि श्रीमद्-भागवत पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है तो विष्णु पुराण निश्चय ही द्वितीय श्रेणी का अधिकारी है । यह वैष्णव दर्शन का मूल आलम्बन है । इसके पंचम अंश में श्रीकृष्ण का अलौकिक चरित्र वैष्णव भक्तों का आलम्बन है । यह कृष्ण-चरित भागवत के दशम स्कंध के समान ही है, किन्तु उसकी अपेक्षा बहुत संक्षेप में है । साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बहुत ही सरस, रमणीय और सुन्दर है । विष्णु परक पुराण होने पर भी साम्प्रदायिकता की भावना इसमें नाम मात्र को भी नहीं है ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण

इस पुराण में चार खण्ड हैं -(१) ब्रह्म खण्ड,(२) प्रकृति खण्ड, (३) गणेश खण्ड और (४) कृष्ण जन्म खंड । जैसा कि इन खण्डों के नाम से ही पता चलता है, इन चारों में क्रमशः ब्रह्म, देवी, गणेश और श्री कृष्ण के चरित्रों का वर्णन किया गया है । श्री कृष्ण - जन्मखण्ड इस पुराण के आधे से अधिक भाग में आया है । यह विस्तार की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है । कृष्ण-चरित्र का विस्तृत और सांगोपांग रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है । इस पुराण की एक विशेषता यह भी है कि

सम्प्रदायों में , विशेष-तया गौड़ीय वैष्णव, वल्लभमत तथा राधावल्लभी मतों में जिन साधनभूत रहस्यों का आजकल प्रचार है, उनका मूल ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है । कृष्ण गोपी और कृष्ण की शक्तिभूता राधा के चरित्र का विस्तृत वर्णन इस पुराण में किया गया है ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में वृन्दावन तथा गोलोक का वर्णन भी मिलता है । राधा गोलोक में भगवान् श्रीकृष्ण की हृदयेश्वरी प्राणवल्लभा हैं । श्रीदामा के शाप से राधा इस भूतल पर अवतीर्ण होती हैं ।[१] इस पुराण के पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण के साथ राधा के विवाह का वर्णन हुआ है । अत: वे श्रीकृष्ण की स्वकीया मानी गई हैं । इस पुराण में राधा नाम की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई गई है —

> राधेत्येवं संसिद्धा राकारो दानवाचक: ।
> स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्तिता ।।[२]

भाव यह है कि निर्वाणदात्री होने के कारण ही वे राधा............ कहलाती हैं । और —

> रा च रासे च भवनाद् धा एवं धारणादहो ।
> हरेरालिंगनादाराद् तेन राधा प्रकीर्तिता ।। [३]

इसका भाव यह है कि रास में विद्यमान रहने तथा भगवान श्रीकृष्ण को आलिंगन देने के कारण ही श्रीमती राधा, इस नाम से प्रसिद्ध हैं ।

यह पुराण कृष्णपरक है, इसलिए कृष्ण-भक्त वैष्णवों में इसकी बहुत अधिक मान्यता है । विशेषत: गौड़ीय वैष्णवों में इसका बहुत अधिक महत्त्व है ।

बृहन्नारदीय पुराण :-

मत्स्य पुराण, नारद पुराण का वर्णन करते हुए कहता है — जिस पुराण की कथा में नारद ने बृहत्कल्प के प्रसंग में धर्म का उपदेश दिया है, वह

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण- ६
२. वही ४।१७।२२३
३. वही, ४।१७।२२४

नारदीय पुराण कहा जाता है । इसका प्रमाण पच्चीस सहस्त्र श्लोकों का है ।[१] नारद पुराण को मत्स्यपुराण में बृहन्नारदीय पुराण भी कहा गया है । (नारद पुराण नाम का एक उप पुराण भी है । ये दोनों ही पुराणों के पंच लक्षणों से दूर हैं , जैसा कि अंग्रेज विद्वान् एच० एच० विल्सन ने कहा है — इन दोनों ही पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि इनमें पुराणों के पंच लक्षण नहीं मिलते । ये दोनों ही साम्प्रदायिक भावना से पूर्ण हैं और अर्वाचीन प्रतीत होते हैं । इनका ध्येय विष्णु की सत्ता को प्रतिपादित करना प्रतीत होता है । इनमें अनेक ऐसी प्रार्थनाएं हैं जो विष्णु के एक न एक रूप का वर्णन करती हैं । इनमें विष्णु पूजा माहात्म्य का भी वर्णन है । अनेक ऐसी प्राचीन और अर्वाचीन कथाएं हैं जो हरिभक्ति का महत्व बतलाती हैं ।[२]

बृहन्नारदीय पुराण के दो भाग हैं । पहले भाग में मोक्ष धर्म, वर्ण व्यवस्था , नक्षत्र, कल्पनिरूपण, व्याकरण निरूपण, निरुक्ति, ज्योतिष, गृह विचार, मन्त्र सिद्ध, देवताओं के मंत्र, अनुष्ठानों की विधि तथा अठारहों पुराणों की विषयानुक्रमणिका आदि अनेक उपयोगी विषयों का भी वर्णन किया गया है । विष्णु के महत्व को प्रतिपादित करने वाला इसका दूसरा भाग है । यह पुराण विष्णु परक पुराण है । परन्तु इसमें श्रीकृष्ण-अवतार की कथा नहीं दी गई है ।

पद्म पुराण— पद्मपुराण का एक संस्करण आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली से

---

१. यत्राह नारदो धर्म्मान् बृहत्कल्पाश्रयानिह ।
पंचविंशत्सहस्त्राणि नारदीयं तदुच्यते ।। —मत्स्यपुराण, अ० ३५

२. From a cursory examination of these Puranas, it is very evident that they have no confirmity to the definition of a Puran, and that both are sectarial and modern compilations, intended to support the doctrine of Bhakti or faith in Vishnu, with this view they have collected a variety of prayers addressed to one on other form of the divinity, a number of observants and holiday connected with his adoration, and different legends come perhaps of an early, other of a more recent date, illustrative of the efficiency of devotion to Hari."

(Vishnu Puran - By H.H. Wilson) Page XXXII.

चार भागों में प्रकाशित हुआ है । इसमें पाँच खंड हैं - (१) सृष्टि खण्ड, (२) भूमि खण्ड, (३) स्वर्ग खण्ड, (४) पाताल खण्ड, (५) उत्तर खण्ड । इन पाँचों खण्डों के अतिरिक्त एक खण्ड 'क्रियायोग सार' और है । पर इस खण्ड की कल्पना बाद की मालूम होती है । यह कदाचित प्रक्षिप्त अंश है । पद्मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रतिपादन करने वाला एक वृहद् पुराण है । सम्पूर्ण पद्म-पुराण में विष्णुभक्ति की बहुत अधिक प्रधानता है, फिर भी अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावों का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है । शिव और विष्णु के एकता प्रतिपादक निम्नलिखित श्लोक उदार दृष्टिकोण के परिचायक हैं -

> शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम ।
> द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः ।।
> शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
> शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः ।।
> एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्म विष्णुमहेश्वराः ।
> त्रयाणामंतरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः ।।[१]

साहित्यिक दृष्टि से भी यह पुराण बहुत सुंदर है । अधिकांश पुराणों में तो अनुष्टुप का ही प्रयोग हुआ है परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है ।

<u>वामन पुराण</u> - भगवान विष्णु के वामन अवतार का वर्णन करना इस पुराण का मुख्य उद्देश्य है । विष्णु परक होने के कारण यह वैष्णव पुराणों की कोटि में आता है । परन्तु अन्य वैष्णव पुराणों की भाँति इसमें कृष्णावतार उनके अलौकिक कार्य और रासलीला आदि का वर्णन नहीं है । यद्यपि यह पुराण विष्णु परक है फिर भी इसके कई अध्यायों में शिव-पार्वती की कथा दी गई है । हिमवान का मैनका से पार्वती आदि तीन कन्याओं को उत्पन्न करना,[२]

---

१. पद्म पुराण १।४।७२
२ वामन पुराण, ५०

उमा-शिव का विवाह,[१] गणेश की उत्पत्ति,[२] स्वामिकार्तिकेय की उत्पत्ति आदि की कथाओं से यह पता चलता है कि यह पुराण साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना से बहुत दूर है ।

<u>वराह पुराण</u> — इस पुराण के दो पाठ भेद उपलब्ध होते हैं —(१) गौड़ीय, (२) दाक्षिणात्य । इनमें अध्यायों की संख्याओं में भी अन्तर है । मत्स्य पुराण के अनुसार इसमें २४,००० श्लोक होने चाहिए , परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी ने इस ग्रन्थ का जो संस्करण निकाला है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं । इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग अब तक नहीं मिला है ।

यह पुराणों के लक्षणों से बहुत दूर है । यह पुराण भी धार्मिक है और इसमें विष्णु से सम्बन्धित अनेक व्रतों का वर्णन है । द्वादशी व्रत का विवेचन प्रधान है । इस पुराण के दो अंश विशेष महत्व के हैं —(१) मथुरा माहात्म्य जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थों का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया गया है । यह मथुरा का भूगोल जानने के लिए बहुत उपयोगी है । (२) नचिकेतोपाख्यान —जिसमें नचिकेता का उपाख्यान बहुत विस्तार से दिया गया है । इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरक के वर्णन पर ही विशेष बल दिया गया है ।

यह पुराण काफी प्राचीन है । हेमाद्रि ने (१३ वीं शताब्दी) अपने चतुर्वर्ग चिन्तामणि में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौड़ नरेश बल्लालसेन (१३ वीं शताब्दी) ने "दानसागर" में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं ।

<u>कूर्म पुराण</u> — मत्स्य पुराण कूर्म पुराण के सम्बन्ध में कहता है —" जिस पुराण में भगवान जनार्दन (विष्णु) ने कूर्म की धारण कर रसातल में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष —इन चारों पदार्थों के महत्म्य को इन्द्र के समीप इन्द्रद्युम्न की कथा के प्रसंग में कहा है, वह लक्ष्मी कल्प से सम्बन्ध रखने वाला अठारह सहस्र श्लोकों में समाप्त कूर्म पुराण के नाम से विख्यात है ।"

---

१. वामन पुराण, ५३
२. वामन पुराण, ५४

" यत्रधर्म्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले । मा ऋषिभिः शुक्रसन्निधौ । सप्तदशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानु माहात्म्यं कथयामास कूर्म्मरूपी जनार्दनः । इन्द्र-द्युम्नप्रसंगेन धर्मिकं ।।"

—मत्स्य पुराण, अ० ५३

इस पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि इसमें चार संहिताएं थीं—(१) ब्राह्मी, (२) भागवती, (३) सौरी, वैष्णवी । परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध है और उसी का नाम कूर्म पुराण है । भागवत तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिए, परन्तु उप-लब्ध पुराण में केवल ६००० श्लोक ही है, अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश ही उपलब्ध है । विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णु भक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था, इसीलिए यह कूर्म-पुराण के नाम से अभिहित किया जाता है । इसमें शिव और दुर्गा की प्रधा-नता है । साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से यह भी मुक्त है ।

यों तो पुराणों की संख्या अठारह है, परन्तु कृष्ण परक पुराण उपर्युक्त ही हैं । इन पुराणों के अतिरिक्त, पंचम वेद 'महाभारत' में भी श्रीकृष्ण की कथा अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णित है । महाभारत का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है ।

महाभारत —

भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास जिन महान् ग्रन्थों से गौरवान्वित है उनमें रामायण के साथ-साथ महाभारत भी शीर्ष स्थान पर विराजमान है । 'वाल्मीकि' और 'व्यास' इन दोनों महाकवियों ने तत्कालीन भारतीय जीवन का ऐसा चित्रण किया कि वह एक व्यक्ति, एक काल अथवा एक व्यक्ति देश की वस्तु न रहकर सार्वभौमिक और सार्वकालिक हो गई । इन ग्रन्थों में हमारी जातीय संस्कृति और साहित्यिक परम्परा की प्राण-प्रतिष्ठा है । इन महाकाव्यों में समस्त भारत का स्वरघोष है । यही कारण है कि समी-क्षात्मक बुद्धि के प्रहारों से प्रताड़ित भारतीय हृदय इन ग्रन्थों के प्रति अविश्व-

सनीय नहीं हो पाता । वास्तव में भारत-भूमि के ज्ञानी-मनस्वी ऋषियों द्वारा युगों से संचित और सुचिंतित जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या का एकमात्र उपजीव्य ग्रन्थ 'महाभारत' है । इस महान् रचना में अनेक ज्ञान-सरणियां, ऐतिहासिक आख्यान, धर्म और नीति के कोष एकत्रित किये गए हैं । इसीलिए महाभारतोत्तर रचनाकारों ने इस ग्रन्थ को प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया है ।

महाभारत विकसनशील महाकाव्य है । वह एक सम्पूर्ण युग की रचना है । विकासशील महाकाव्य में सैकड़ों वर्षों में अनगिनत कवियों की प्रतिभा का विकास होता है । वीरता की भावना का उदात्त वर्णन, वीर चरित्रों का मुख्य रूप से चित्रण, साहसिक कार्यों का विशेष चित्रण, विस्तृत कथानक, महत उद्देश्य, कथा-व्यापार का अधिक महत्व, अनेक काव्य रूढ़ियों का समावेश, मुख्यकथा के रूप के साथ संलग्न अनेक लघु कथाएँ और अन्तर्कथाएं आदि कुछ विकसनशील महाकाव्य की विशेषताएं होती हैं, जो कि 'महाभारत' में पूर्णरूप से विद्यमान हैं । महाभारत-कार की महती काव्य-प्रतिभा भी असंदिग्ध है । भगवान वेदव्यास ने महाभारत की रचना में इतिहास और पुराणों का मंथन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया है ।[१] यह बात दूसरी है कि अनेक वर्षों में अनेक व्यक्तियों द्वारा बहुत से प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं ।

महाभारत का प्रतिपाद्य उसके जीवन दर्शन, विचारधारा और सिद्धान्त निरूपण में निहित है । महाभारत महाकाव्य, इतिहास ग्रन्थ, पुराण आदि होने के कारण भारतीय संस्कृति का विचार-प्रधान ग्रन्थ है । भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है । इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष', जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ इसी से उद्धृत किए गए हैं । इन्हीं पांचों को पंच-रत्न के नाम से पुकारा जाता है । इन्हीं गुणों के कारण महाभारत को 'पंचमवेद' कहा जाता है । आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं । इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं । इसका यह स्वरूप कम से कम

---

१. इतिहास पुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।

—महाभारत आदि०,१।६

डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्त्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है।

कौरव-वंशीय चरित्रों के अतिरिक्त 'महाभारत' में अन्य प्राचीन राजाओं, ऋषियों और देवताओं के वृत्तान्त भी बहुत हैं। साथ ही इसमें अपने समय के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों, धार्मिक विचारों का गंभीर विवेचन है। परन्तु परस्पर विरोधी धार्मिक भावों और दार्शनिक सिद्धान्तों का पृथक् पृथक् निरूपण भी हुआ है। भारतीय विचारधारा पाण्डवों को धर्म पक्ष और कौरवों को अधर्म-पक्ष मानती है। इन दोनों पक्षों के संघर्ष में कौरवों की पराजय अधर्म की पराजय है। कवि का यह आदर्श समस्त कथा में ओतप्रोत है। कवि ने पुरुषार्थ के महत्व को भी बताया है। युद्ध के प्रसंग में ही पाण्डवों के वन-निवास के समय द्रौपदी और युधिष्ठिर संवाद की प्रस्तावना में महाभारतकार पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा करता है।[१] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाभारत के इतने विराट कथानक में सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म के संघर्ष का चित्रण कर एक लोकव्यापी जीवनादर्श के रूप में सत्य, पुण्य और धर्म की प्रतिष्ठा ही 'महाभारत' का प्रतिपाद्य है।

'महाभारतकार' ने इस महान ग्रन्थ में शोषण के प्रति विरोध प्रकट किया है। दुर्योधन द्वारा पाण्डवों को पाँच ग्राम तक न देना उच्चस्तरीय, शोषण का निम्नतम रूप है। भारत की पुण्य आत्माएं इस शोषण को स्वीकार न कर सकीं और इसका परिणाम यह हुआ कि दैवी शक्तियाँ पाण्डवों के पक्ष में हो गईं। इसके अतिरिक्त महाभारत में आद्योपान्त प्रवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शन की व्याप्ति है। शांतिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर को प्रवृत्ति के आधार पर ही मानवता की सेवा का उपदेश देते हैं। यह मानवता की भावना ही आद्यन्त महाभारत का मूलस्वर है। मानवता के साथ-साथ महाभारत में आशावाद की प्राणधारा भी आद्योपांत विद्यमान है। दुर्योधन और कर्ण जैसे तेजस्वी पात्र इसी आशावाद के आधार पर युद्ध के लिए प्रेरित होते हैं। यद्यपि कौरव पक्षीय आशावाद धर्म-रहित कहा जा सकता है परन्तु

---

१. भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट् शूद्रजीविका।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम्॥ —महाभारत,वन०३३

युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पात्रों के हृदय में जो कर्त्तव्यनिष्ठा और धार्मिकता विद्यमान है उसके मूल में यही आशावाद है।

'महाभारत' में भारतीय जीवन के विकास में उद्भूत अनेक दार्शनिक मतों का उल्लेख और उनके सिद्धान्तों का व्यापक विवेचन है। महाभारत युग तक सांख्य, योग, पाशुपत, पांचरात्र आदि मत मतान्तरों का अभ्युदय हो चुका था। अतः 'महाभारत' की दार्शनिक पीठिका में इन्हीं मतों का विवेचन विद्यमान है। भगवान श्रीकृष्ण के कर्मयोग में सभी मतों का समन्वय अत्यन्त व्यापक रूप में किया गया है। 'महाभारत' में भगवान श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व-प्रतिपादन में सम्पूर्ण विचारधारा का चरम लक्ष्य प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण माया रहित अपनी माया से प्रकट होते हैं।[1] समस्त जगत की स्थिति उन्हीं में है।[2] श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता हैं।[3] उनकी उत्पत्ति अज्ञात है[4]। वे ही जगत की उत्पत्ति के कारण हैं।[5] ऐसे भगवान् कृष्ण जिस मत का प्रतिपादन करते हैं, वही ग्राह्य है। श्री कृष्ण ने सांख्य और योग का समन्वय करते हुए अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा दी है।

'महाभारत' में कौरव पाण्डवों की कथा के साथ अनेक प्रासंगिक वृत्तों, उपाख्यानों और पूर्ववर्ती कथाओं के सम्मिश्रण से 'महाभारत' के कथानक का स्वरूप निर्मित हुआ है। इन उपाख्यानों के आधार पर परवर्ती कालों में बहुत कुछ लिखा गया है। 'महाभारत' कथात्मक शैली में लिखा हुआ संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ माना जाता है। सम्पूर्ण गाथा जनमेजय के यज्ञ में वैशम्पायन सुना रहे हैं अतः कथानक में कहानी कहने की सी प्रवृत्ति का होना अनिवार्य है।

---

१. गीता, ४।६-१०

२. गीता, ६।१७-१६

३. गीता, ६।२४

४. गीता, १०।२,३

५. गीता, १०।८

(ख) गुप्त जी के महाभारतीय स्रोत

गुप्त जी के अधिकांश काव्य ग्रन्थों के मूल स्रोत, महाभारतीय हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास-विरचित 'महाभारत' के विराट आख्यान में सैकड़ों पौराणिक आख्यान कदली-दल की भाँति गुँथे हुए हैं। गुप्त जी ने वहीं आख्यानों से मूल कथा को अपनाया है, साथ ही प्रमुख पात्रों को भी ग्रहण किया है। गुप्तजी ने अपने काव्य का आरम्भ महाभारतीय काव्य 'जयद्रथ-वध' से किया और अपनी अंतिम कथात्मक रचना 'जयभारत' में महाभारत के आधार पर लिखी। इससे स्पष्ट है कि महाभारत के प्रति आरम्भ कवि की विशेष-रुचि रही। 'जयभारत' से पूर्व महाभारत के आख्यान से सम्बन्धित रचनाएँ छः हैं — जरासन्धवध, बक-संहार, वन-वैभव, सैरंध्री, नहुष, हिडिम्बा। 'जयभारत' के निवेदन में कवि ने लिखा है — "अर्द्ध शताब्दी होने आई, जब मैंने 'जयद्रथ-वध' का लिखना आरम्भ किया था। उसके पश्चात भी बहुत दिनों तक 'महाभारत' के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर मैंने अनेक रचनाएं कीं। उन्हें लेकर कौरव पाण्डवों की मूल कथा लिखने की बात भी मन में आती रही, परन्तु उस प्रयास के पूरे होने में संदेह रहने से वैसा उत्साह न होता था।" परन्तु अन्त में कवि अपने उद्देश्य में सफल हो ही गया।

'महाभारत' का कथानक अत्यधिक विशाल और घटना संकुल है। गुप्त जी ने इस विस्तृत कथानक का जयभारत में इस प्रकार काट-छांट कर चयन किया है कि प्रमुख और महत्वपूर्ण घटनाएं छूटने नहीं पाई हैं। 'जयभारत' में 'नहुष' के आख्यान से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक का समस्त कथानक सैंतालिस सर्गों में विभक्त है। गुप्त जी ने 'जयभारत' की रचना से पूर्व जो महाभारतीय आख्यान पर आधारित खण्ड-काव्य लिखे उनमें से कतिपय प्रसंगों को किंचित परिवर्तन के साथ 'जयभारत' में समाविष्ट किया है। जैसे बक-संहार, वन-वैभव, सैरंध्री, नहुष, हिडिम्बा यों तो स्वतंत्र खण्ड-काव्य हैं किन्तु कवि ने इन्हें किंचित परिवर्तन के साथ 'जयभारत' में समाविष्ट किया है। अतः इनके कथानकों के मूल स्रोतों को अलग-अलग न देख कर 'जयभारत' के अन्तर्गत ही देखा गया है। 'जयद्रथ-वध' भी एक महाभारतीय खंडकाव्य है।

[illegible] रचना जब कवि ने की थी तो, स्वतंत्र काव्य होने के कारण उसमें रसोत्पादन के लिए विशेष वर्णनों और विस्तार का समावेश किया गया था। परन्तु 'जयभारत' के अन्तर्गत 'जयद्रथ-वध' की कथा को अत्यन्त संक्षेप में रखा गया है। अतः 'जयद्रथ वध' की कथा के मूल स्रोतों को अलग देखा गया है, 'जयभारत' के अन्तर्गत नहीं।

जयभारत के अन्तर्गत जो प्रारंभिक रचनाएं हैं उनमें वर्णनात्मक (इति-वृत्तात्मक) व्यास पद्धति का आश्रय लिया गया है। परन्तु परवर्ती रचनाओं में गंभीरता, समास शैली, और वाक्यों में कसाव दिखाई पड़ता है। 'जय-भारत' में कथाप्रवाह भी बराबर एक सा नहीं है। कहीं कहीं कथा कहने का आग्रह है तो, क्षिप्रता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए कौरव-पाण्डव परिचय, लाक्षागृह, इन्द्रप्रस्थ आदि। परन्तु कहीं कहीं कवि ने कल्पना का पुट देकर नूतन उद्भावनाएं की हैं। वहां मंथर गति दिखाई देती है, जैसे एकलव्य, हिडिम्बा, द्यूत, तीर्थयात्रा, कुंती और कर्ण, द्रौपदी और सत्यभामा, युद्ध तथा स्वर्गारोहण आदि। इन्हीं अन्तर्कथाओं में कवि ने अपने भावों, आदर्शों आदि को प्रतिष्ठित किया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने महाभारत को अपना प्रेरणा स्रोत क्यों बनाया? इसके भी बहुत से कारण हैं। गुप्त जी वस्तुतः युग कवि थे। तत्कालीन युग की भावभूमि ऐसी थी कि महाभारत गुप्त जी के आकर्षण का केन्द्र बना। साहित्य के क्षेत्र में शृंगार की बहुलता के विरोध में वीर रस की मांग प्रमुख भारत की जनता में पारस्परिक विरोध, शासक-प्रजा विरोध, हिन्दू आर्य-समाजी विरोध, हिन्दुओं में जाति-विरोध, किसान-जमींदार विरोध आदि। इसके अतिरिक्त समाज के नैतिक पतन, आत्महीनता, प्राचीन गौरव के प्रति अनास्था और अज्ञानता का भाव, स्त्री वर्ग की दीन दशा, आदि जटिल समस्याओं ने गुप्त जी को प्रेरित किया कि वे 'महाभारत' जैसे महत् ग्रन्थ का आश्रय लें, क्योंकि महाभारत में इन सभी प्रकार की समस्याओं से युक्त अनेक कथाएं संग्रथित हैं।

'महाभारत' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म की जय' तथा मुख्य रस शान्त है। जयभारत में प्रतिपाद्य विषय मानव की श्रेष्ठता है। युधिष्ठिर जयभारत का धीर प्रशांत नायक है। चरित्रों के दृष्टिकोण से गुप्त जी की [illegible] [illegible] भी [illegible] है। महाभारत में जो चरित्र [illegible]

के योग्य हैं, उन्हें भी गुप्त जी ने किसी न किसी प्रकार उठाने की चेष्टा की है। नारी विषयक उदारता के कारण कवि ने नारी पात्रों के साथ भी यथोचित उदारता दिखाई है। द्रौपदी का चरित्र और भी ऊर्जस्वित तथा प्राणवान रखा है। हिडिम्बा राक्षसी होते हुए भी नारी के गौरव से पूर्ण है। धर्मराज युधिष्ठिर मानवता के उच्चादर्शों पर प्रतिष्ठित हैं। दुर्योधन भी अंतिम समय में ऐसी भावभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है कि उसमें दुर्द्धर्षता होने पर भी पाठक को आकृष्ट करने का बल आ गया है। दुष्ट दुःशासन भी मातृ-भक्ति से चमत्कृत हो उठा है। हिडिम्बा राक्षसी होते हुए भी नारी के गौरव से पूर्ण है। इस प्रकार अधिकांश पात्रों को कवि ने अपनी लेखनी से नव्यता और भव्यता प्रदान की है।

महाभारतीय आख्यान पर आधारित गुप्त जी का प्रमुख काव्य 'जयभारत' है अतः पहले उसी की (अंतर्कथाओं को देखा जायगा), तत्पश्चात् दूसरे महाभारतीय काव्य 'जयद्रथ-वध' को लिया जायगा।

(ग) 'जयभारत' की अन्तर्कथाओं के स्रोत —

(१) नहुष —

'जयभारत' में राजा नहुष के सदेह इन्द्र-पद को प्राप्त करने और पुनः स्वर्ग से च्युत होकर भूलोक पर आने की कथा 'नहुष' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित है। वृत्र-वध का प्रायश्चित्त करने के लिए इन्द्र को अपने पद का त्याग करना पड़ा। उनके स्थान पर पृथ्वीपुत्र नहुष ने स्वर्ग का भार सँभाला। स्वर्ग में नारद मुनि ने उनका भली भाँति स्वागत किया और कहा —

"कहते हैं, स्वर्ग नहीं मिलता बिना मरे,
पाया इसी देह से है तुमने इसे अरे।"[१]

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० १२ (द्वितीय संस्करण)

स्वर्ग में पहुंच कर, चारों ओर विलास के वातावरण में रह कर नहुष की विषय-वासना भी बढ़ने लगी । एक दिन राजा नहुष ने सद्य: स्नाता शची को देखा । वह सुरसरि के तीर से नहाकर निकली थी । नहुष को उसका परिचय नहीं पूछना पड़ा, क्यों कि अप्सराएं इन्द्राणी का जयजय-कार कर उठीं । इन्द्राणी को देखकर नहुष विचलित हो उठा । उसने सोचा —

"विस्मय है, किन्तु यहां भूला रहा कैसा मैं,
इन्द्राणी उसी की इन्द्र है जो, आज जैसा मैं ।
वह तो रहेगी वही, इन्द्र जो हो सो सही,
होगी हां कुमारी फिर चिर युवती वही ।
तो क्यों मुझे देख वह सहसा चली गई,
आह! मैं छला गया हूं वा वही छली गई ?
एक यही फूल है जो हो सके पुन: कली !
इतने दिनों तक क्यों मैंने सुधि भी न ली ।
इन्द्र होके भी मैं गृहभ्रष्ट-सा यहां रहा,
लाख अप्सराएं रहें, इन्द्राणी कहां अहा ।"[१]

नहुष इन्द्राणी को प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठा और उसने दूती को भेज कर इन्द्राणी से पुछवाया कि मैं उन्हें लेने कब और कहां आऊं । इन्द्राणी ने नहुष के पास उत्तर भेजा —

" तुम्हें बसाया वैजयन्त में ,
चाहते हो मेरा धर्म भी क्या तुम अन्त में ?

< <

चलती रहे अपनी, निज धर्म पहचानो तुम ।
त्यागो शची-संग रहने की पाप-वासना ,
वह है नरत्व भी न कामदेवोपासना ।"[२]

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० १४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १६ ,,

दूती ने इन्द्राणी का यह संदेश नहुष को जाकर सुना दिया। नहुष इन्द्राणी के उत्तर को सुनकर आपे में नहीं रहा। उसने एक दूत देवताओं के गुरु के पास भेजा और इन्द्राणी को लेने के लिए आने का संदेशा भिजवाय दूत ने नहुष का संदेशा देते हुए कहा —

" आपकी कृपा से देव-कार्य विघ्न-हीन है,
जाकर रसातल में दैत्य दल-दीन है।
बाहर की जितनी व्यवस्था, सब ठीक है,
घर की अवस्था, किन्तु शून्य है, अलीक है।
फिर भी शची थीं इस बीच आपके यहाँ,
और मायके - सा मोद पा रहीं थीं वे वहाँ।
आज्ञा मिले, आऊँ उन्हें लेने स्वयं प्रीति से,
आप जो बतावें उसी राजोचित रीति से।"[१]

गुरुदेव ने दूत से कहा कि प्रतिवाक्य बाद में जायगा। तत्पश्चात् गुरुदेव ने मन्त्रणा करने के लिए मुख्य देवों को बुलाया। गुरुदेव ने नहुष की इच्छा सबको बताई। देवों ने इस विषय में इन्द्राणी का मत जानना चाहा। इन्द्राणी क्रोधित हो उठीं —

" मेरा मत ?" मानधना बोली —" पूछते हो आज ?
पूछ लूँ क्या मैं भी, क्यों बनाया उसे देवराज ?
कोई न था तुममें जो भार धरे तब लौं,
स्वामी कहीं प्रायश्चित पूरा करें जब लौं ?"[२]

x x

इन्द्राणी ने कहा कि ऋषिगण ही अब अपने कंधों पर उसकी शिविका उठाकर लावें तब वह मेरा वर बनेगा —

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० १७-१८
२ ,, ,, पृ० १८-१९

" हमने किया सो आत्म-रक्षा के लिए किया,
ध्यान इसपर भी किसी ने कुछ है दिया ?
आहुतियाँ दे के इस नहुष अभाग को ,
दूध ऋषियों ने ही पिलाया कालनाग को ।
अच्छा तो उठाके वही कंधों पर शिविका,
लावें सुर नर को बनाके वर दिवि का ।"[१]

ऋषि शची की आज्ञानुसार नहुष का यान बनने के लिए तैयार हो गए । इधर नहुष भी शची को प्राप्त करने के लिए देवताओं के कंधे पर चढ़ने के लिए तैयार हो गया । ऋषि अपने कंधों पर नहुष की पालकी रख कर चल पड़े । नहुष को शची के पास पहुँचने की शीघ्रता थी अतः वह देवताओं से शीघ्रता पूर्वक चलने के लिए कह रहा था । ऋषि नहुष के भार से थक गये थे और बार-बार कंधे फेरने के लिए वे रुकते थे । आतुर होकर नहुष ने क्रोध से अपने पैर पटके । संयोगवश नहुष का पैर एक ऋषि को जा लगा । अब तो सातों ऋषियों को क्रोध आ गया । वे क्रोध के वशीभूत होकर राजा को शाप दे बैठे —

" भार वहें, बातें सुनें, लातें भी सुनें क्या हम,
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम ?
पैर था या साँप यह, डस गया संग ही,
पामर , पतित हो तू होकर भुजंग ही ।"[२]

ऋषियों द्वारा दिए गए शाप को सुनकर नहुष अपनी परिस्थिति से चौंक पड़ा और व्याकुल हो गया । परन्तु फिर नहुष सम्हल कर ऋषियों से बोला —

" कुछ नहीं, स्वप्न था सो हो गया भला ही भंग ।
कठिन कठोर सत्य, तो भी शिरोधार्य है ,

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० २० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ०२१ ,,

शान्त हो महर्षि, मुझे शाप अंगीकार्य है ।
मानता हूं भूल हुई, खेद मुझे इसका,
सौंपे वही कार्य उसे, धार्य हो जो जिसका ।
स्वर्ग से पतन, किन्तु मेदिनी की गोद में,
और जिस जौन में जो, सो उसी में मोद में ।"

< <

" आ घुसा असुर हाय ! मेरे ही हृदय में,
मानता हूं और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता ।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी ।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूं जो अभी ?
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूंगा मैं,
नर हूं, पुरुष हूं मैं, चढ़के रहूंगा मैं ।"[१]

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के उद्योग-पर्व में प्राप्त होते हैं । वृत्रासुर के अत्याचार से दुःखी होकर इन्द्र सहित देवता लोग भगवान विष्णु की शरण में गए । विष्णु की आज्ञानुसार इन्द्र ने पहले तो वृत्रासुर से संधि की और फिर अवसर पाकर उसे मार डाला । तत्पश्चात् इन्द्र ब्रह्महत्या के भय से जल में छिप गये ।[२] देवताओं तथा ऋषियों के अनुरोध से राजा नहुष इन्द्र के पद पर अभिषिक्त हुए ।[३] धर्मपरायण होते हुए भी वे काम‍भोग में आसक्त हो गए ।[४] एक दिन नहुष की दृष्टि शची पर पड़ी

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० २१-२२ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० १० (गीता प्रेस गोरखपुर)
३. ,, ,, ,, अ० ११, श्लोक -१-६ ,,
४. ,, ,, ,, अ० ११, ,, १०।।-१४ ,,

उन्होंने समस्त सभासदों से कहा कि इन्द्र की महारानी शची मेरी सेवा में क्यों नहीं उपस्थित होती ? मैं तो देवताओं का इन्द्र हूं और सम्पूर्ण लोकों का अधीश्वर हूं । अत: शची आज मेरे महल में शीघ्र पधारें ।[1] शची यह समाचार सुनकर बहुत दु:खी हुईं और देवगुरु बृहस्पति की शरण में गईं । बृहस्पति ने शची को आश्वासन दिया ।[2] नहुष यह जानकर कि इन्द्राणी बृहस्पति की शरण में गई हैं, क्रोधित हो उठा । देवता और ऋषि नहुष के समीप गए और क्रोध त्यागने की प्रार्थना की । परन्तु नहुष न माना । देवता बृहस्पति जी के पास पहुंचे और कहा कि वे शची को नहुष की पत्नी बनने दें । बृहस्पति जी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । बृहस्पति ने शची को आदेश दिया कि वे नहुष के समीप जाकर कुछ समय की अवधि मांग लें ।[3] नहुष ने इन्द्राणी को कुछ काल की अवधि दे दी । कुछ समयोपरान्त विष्णु भगवान की कृपा से इन्द्र ब्रह्महत्या के दोष से मुक्त हो गए । परन्तु स्वर्ग में आने पर नहुष को राजा देखकर वे पुन: अदृश्य हो गए । इन्द्र को पुन: अदृश्य हुआ देखकर इन्द्राणी चिंतित हो गईं और उन्होंने उपश्रुति नामक रात्रिदेवी की उपासना की ।[4] उपश्रुति देवी की सहायता से इन्द्राणी की इन्द्र से भेंट हुई । इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा कि वे नहुष को मार डालें और अपना राज्य पुन: प्राप्त कर लें ।[5] इन्द्र ने शची से कहा कि यह समय पराक्रम दिखाने का नहीं है । ऋषियों ने उसे हव्य और कव्य देकर उसकी शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है । अत: मैं यहां नीति से काम लूंगा । इन्द्र ने शची को समझाया कि तुम एकान्त में जाकर नहुष से कहो कि आप दिव्य ऋषियान पर बैठकर मेरे पास आइये । इससे मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० ११, श्लोक १७-१८।। गीताप्रेस०
२. ,, ,, ,, अ०११, श्लोक १६-२५ गोरखपुर
३. ,, ,, ,, अ० १२ ,,
४. ,, ,, ,, अ० १३ ,,
५. ,, ,, ,, अ० १४ ,,

वश में हो जाऊंगी । शची ने नहुष के पास जाकर नहुष को इस बात के लिए तैयार कर लिया ।[१] नहुष ने शची को विदा करके बड़े बड़े ऋषि-मुनियों का अपमान करके उन्हें अपनी पालकी में जोत दिया । बल और मद से गर्वित नहुष का भार ढोते-ढोते ब्रह्मर्षि परिश्रम से पीड़ित हो गए ।[२] ऋषियों ने नहुष से वाद-विवाद करना आरंभ किया । नहुष ने खिन्न होकर अगस्त्य मुनि के मस्तक पर अपने पैर से प्रहार किया । इससे रुष्ट होकर अगस्त्य मुनि ने नहुष से कहा कि अपने दुष्कर्मों के कारण तुम तेजोहीन हो गए हो । तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है । अत: स्वर्ग से भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वी पर गिरो ।[४]

यद्यपि गुप्त जी की प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत महाभारत ही है, परन्तु गुप्त जी ने इसमें पर्याप्त परिवर्तन किए हैं । उदाहरण के लिए गुप्त जी ने महाभारतीय कथा के कुछ प्रसंगों को एकदम त्याग दिया है, जैसे `महाभारत` में इन्द्र का दोषमुक्त होना और पुन: अदृश्य हो जाना वर्णित है ।[५] परन्तु `जयभारत` में यह वर्णन नहीं है । इसी प्रकार `महाभारत` के अनुसार शची रात्रिदेवी उपश्रुति देवी की उपासना करती हैं । उपश्रुति देवी की सहायता से इन्द्र और शची का मिलन हो जाता है ।[६] यह वर्णन भी `जयभारत` में नहीं है । संभवत: अनावश्यक विस्तार के भय से गुप्त जी ने इन प्रसंगों को छोड़ दिया है ।

`महाभारतीय` कथा के कुछ प्रसंगों को कवि ने सांकेतिक रूप में उपस्थित किया है । उदाहरण के लिए इन्द्र सहित देवताओं के विष्णु की शरण

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, सेनोद्योग पर्व, अ० १५, श्लोक १-२० गीताप्रेस,गोर०
२. ,, ,, ,, ,, श्लोक २१-२२ ,,
३. ,, ,, अ०१७ श्लोक ८ ,,
४. ,, ,, ,, श्लोक ६-१६ ,,
५. ,, ,, अध्याय १३,१४ ,,
६. ,, ,, ,, ,,

में जाने और इन्द्र का उनके आज्ञानुसार वृत्रासुर से संधिकरने, और फिर अवसर पाकर उसे मारने और ब्रह्महत्या के भय से जल में छिपने का वर्णन 'महाभारत' में विस्तार पूर्वक है[1] परन्तु गुप्त जी ने उसका संकेत मात्र किया है। इसका कारण यह है कि उस कथा भाग को यदि कवि विस्तार देता तो उसकी अभीष्ट कथा का महत्त्व कम उभर पाता और अनावश्यक विस्तार भी हो जाता।

गुप्त जी ने 'महाभारतीय' कथा के कुछ प्रसंगों को किंचित परिवर्तन के साथ उपस्थित किया है। इस प्रकार के तीन प्रसंग हैं। (१) 'महाभारत' के अनुसार इन्द्र शची को यह सलाह देते हैं कि वह नहुष से ऐसी पालकी पर आने के लिए कहे जिसके वाहक ऋषि हों।[2] 'जय भारत' में इन्द्र शची से यह बात नहीं कहते वरन शची स्वयं ऐसा सोचती है और ऋषियों के सामने यह प्रस्ताव रखती है। इस परिवर्तन के पीछे कथा संक्षेपण की भावना के साथ-साथ गुप्त जी की नारी भावना भी है। गुप्त जी ने 'जयभारत' में 'महाभारत' की शची से अधिक आत्मविश्वासी, स्वावलम्बी और साहसी शची को उपस्थित किया है। वह रात्रिदेवी की उपासना नहीं करती और न ही इन्द्र से अपने कर्तव्य को पूछती है। वह नहुष के दूत द्वारा लाए गए संदेश को सुनते ही नहुष के पास उत्तर भेजती है —

" तुम्हें बसाया वैजयंत में ,
चाहते हो मेरा धर्म भी क्या तुम अन्त में ?"[3]

शची नहुष के इस अनुचित प्रस्ताव को सुनकर ऋषियों पर भी क्रोधित होती है।

" कोई न था तुममें जो भार धरे तब लों ,
स्वामी करें प्रायश्चित पूरा नहीं जब लों ?

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, सेनोद्योग पर्व, अध्याय १०, गीताप्रेस ,गोरखपुर
२. ,, ,, ,, ,, १५,श्लोक ३-४ ,,
३. जय भारत,नहुष ,पृ १६ द्वितीय संस्करण

आहुतियां देके इस नहुष अभाग को ,
दूध ऋषियों ने ही पिलाया कालनाग को ।
अच्छा तो उठाके वही कंधों पर शिविका,
लावें उस नर को बनाके वर दिवि का ।"[1]

संभवत: शची के चरित्र को और अधिक आत्मविश्वासी स्वावलंबी और साहसी दिखाने के लिए ही कवि ने यह परिवर्तन किया है ।

दूसरा परिवर्तित प्रसंग यह है कि महाभारत के अनुसार नहुष का स्वर्ग से पतन, अगस्त्य मुनि की जटा में छिपे हुए भृगु ऋषि के कारण हुआ था ।[2] परन्तु गुप्त जी ने इस प्रसंग में भृगु ऋषि का नाम नहीं लिया है, और न ही अगस्त्य मुनि का ही । उन्होंने कहा है --

"शिप्त पद शाप ! एक ऋषि को जो जा लगा,
सातों ऋषियों में महा रोषानल आ जगा ।"[2]

क्रोधित होकर ऋषियों ने नहुष को शाप दे दिया । महाभारत के अनुसार नहुष ने स्वर्ग लोक में आते समय ब्रह्मा जी से यह वर मांगा था कि 'जो मेरे दृष्टिपथ में आ जाय, वह मेरे आधीन हो जाय ।' इसी वर के कारण स्वर्ग में यद्यपि ब्राह्मणों के साथ अधर्म का व्यवहार कर रहा था, परन्तु ऋषि उसे स्वर्ग से नीचे नहीं गिरा रहे थे । अगस्त्य मुनि ने वक्ताओं में श्रेष्ठ भृगु जी से कहा कि इस सम्बन्ध में आप जो मुझे आदेश देंगे मैं वही करूंगा ।[3] भृगु ने अगस्त्य मुनि से कहा नहुष दैववश मोहित हो रहा है । आज उससे ऋषियों पर किए गए अत्याचार का बदला लेना है । आज वह मूर्ख नहुष आपको रथ में जोतेगा, अत: आज ही मैं इस उच्छृंखल नहुष को अपने तेज से इन्द्रपद से भ्रष्ट कर दूंगा । दैव ने उसकी बुद्धि को नष्ट कर दिया है, अत: यह नहुष आज अपने ही विनाश के लिए आपको लात से मारेगा । आपके प्रति किए गए

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० १६,२० (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, अनुशासन पर्व, दानधर्मपर्व, अ०१००, श्लोक १६ (गीताप्रेस,गोर०)
२क. जयभारत , नहुष, पृ० २१ (द्वितीय संस्करण)
३. महाभारत, अनुशासन पर्व, दानधर्म पर्व, अ०९९,श्लोक १७ -२१

अत्याचार से अत्यंत अमर्ष में भरकर मैं धर्म का उल्लंघन करने वाले नहुष को रोषपूर्वक शाप दूंगा कि तू सर्प हो जा।'[१] नहुष ने अगस्त्य मुनि को सरस्वती-तट से तुरन्त अपना रथ ढोने के लिए बुलाया। उस समय भृगुने अगस्त्य मुनि से कहा कि आप अपनी आंखें मूंद लें, मैं आपकी जटाओं में प्रवेश करता हूं। अगस्त्य मुनि आंखें बंद करके काष्ठ की भांति स्थिर हो गए और भृगु ने उनकी जटाओं में प्रवेश किया।[२] तत्पश्चात् अगस्त्य मुनि ने नहुष के रथ को ढोया। नहुष ने उन्हें चाबुक मार कर हांकना आरम्भ किया, परन्तु अगस्त्य मुनि को क्रोध नहीं आया। तब कुपित नहुष ने महात्मा अगस्त्य के सिर पर बायें पैर से प्रहार किया। उनके मस्तक पर चोट होते ही जटा के भीतर बैठे हुए महर्षि भृगु अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने नहुष को शाप देते हुए कहा —

> यस्मात्पदाऽऽहत: क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ।।२४ ।।
> तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सदुर्मते ।[३]

अर्थात् — 'ओ दुर्मते ! तुमने इस महामुने के मस्तक में क्रोधपूर्वक लात मारी है, इसलिए तू शीघ्र ही सर्प होकर पृथ्वी पर चला जा।'

भृगु नहुष को दिखाई नहीं दे रहे थे। उनके इस प्रकार शाप देने पर नहुष सर्प होकर पृथ्वी पर गिरने लगे। यदि नहुष भृगु को देख लेते तो उनके तेज से प्रतिहत होकर वे उन्हें स्वर्ग से नीचे गिराने में समर्थ न होते।[४]

गुप्त जी ने महाभारत की इस अन्तर्कथा में यह परिवर्तन दो कारणों से किया प्रतीत होता है। प्रथम, उन्हें महाभारतीय कथा का संक्षिपण करना था। दूसरे अगस्त्य स्वयं सप्तर्षियों में से एक नहीं थे, अत: गुप्त जी ने अगस्त्य मुनि का नाम नहीं लिया है। उन्होंने केवल कहा है —' क्षिप्त पद

---

१. महाभारत, अनुशासन पर्व, दानधर्म पर्व, अ० ९९, श्लोक,२२-२६
२. ,, ,, ,, अ०१००, श्लोक १५-१७
३. ,, ,, ,, अ० १०० (गीताप्रेस,गोरखपुर)
४. ,, ,, ,, अ० १०० श्लोक १६-२६।।

हाय ! एक ऋषि को जो जा लगा ।" यहाँ एक ऋषि' भृगु हो सकते हैं । यदि कवि भृगु का नाम लेता तो उसे यह भी स्पष्ट करना पड़ता कि भृगु किस प्रकार और क्यों अगस्त्य मुनि के जटासंभार में प्रविष्ट हुए थे । अतः अनावश्यक विस्तार बचाने के लिए कवि ने कथा में यह परिवर्तन किया है ।

गुप्त जी ने कथा में तीसरी नवीनता यह रखी है कि यद्यपि महाभारत के समान ही नहुष का स्वर्ग से पतन होता है परन्तु नहुष के चरित्र से एक जागरण और गिर कर उठने का संदेश मिलता है । 'जयभारत' में कवि नहुष से कहलाता है —

" मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति आज भी मैं नहीं जानता । "

"आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी ।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी ।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं ।"[१]

गुप्त जी में एक अदम्य आशावाद है । वे पतन और असफलताओं को ह्रास का कारण नहीं मानते । स्वर्ग से गिरा हुआ पतित नहुष भी आत्मगौरव नहीं खोता और आशा के स्वरों में उक्त संदेश देता है ।

' जयभारत' में नहुष स्वर्ग से पतन से कारण निरुत्साहित नहीं होता । वह गिर कर पुनः उठना जानता है । वह भविष्य में स्वर्ग ही नहीं मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा रखता है । कवि ने नहुष के चरित्र में जो परिवर्तन किया है उसके पीछे यही संदेश है कि जो उठता है वही तो गिरता है और गिर के पुनः ऊपर उठना ही सच्चा पुरुषार्थ है ।

'महाभारत' तथा गुप्त जी के संदेश में अन्तर स्पष्ट है । 'महाभारत' में इसका वर्णन कष्ट सहिष्णुता के उपदेशार्थ हुआ था परन्तु जयभारत में इसके द्वारा मानव-स्तवन किया गया है । गुप्त जी ने आधार ग्रन्थ की इस अन्त-कथा की आत्मा को ही दूसरा रूप दे दिया है । 'महाभारत' के अनुसार योगी को इन्द्र बनाया गया और कामी का पतन दिखाया गया । 'महा-भारतकार' ऐसा दिखाकर संतुष्ट हुआ । परन्तु गुप्त जी आधुनिक विचारक थे । उन्होंने नहुष के देवत्व से उसके राक्षसत्व को अधिक महत्व दिया है । नहुष के शापित होने पर भी गुप्त जी को उसकी उन्नति और प्रगति का पूर्ण भरोसा है । जिसने अभी स्वर्ग प्राप्त किया था वह शापित होकर अपवर्ग भी प्राप्त कर सकता है ।

महाभारतकार चिर तपस्वी राजा नहुष को, स्वर्ग पहुंचते ही बिना किसी स्पष्ट कारण के पापात्मा बना देता है । यथा –

सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ।।१०।।
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत । १ ।

परन्तु गुप्त जी ने इसे अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक कारण दिये हैं । यथा –

" दिव्य भाग पाके भव्य याग तथा त्याग से ,
रंक भी राजा अब रंजित था राग से ।
ऐसा नर पाके धन्य स्वर्ग का भी भोग था ,
नर के लिए भी यह चरम सुयोग था ।
सेवन से और और बढ़ते विषय हैं ,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं ।
एक बार पीकर प्रमत्त जो हुआ जहाँ,
सुध फिर अपनी-परायी उसको कहाँ ?"[2]

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व,सेनोद्योगपर्व, अ० ११,श्लोक १०-११ गीताप्रेस,गोरख०
२. जयभारत, नहुष, पृ० १२-१३ (द्वितीय संस्करण)

'महाभारत' में इंद्राणी को प्राप्त करने के अपने प्रस्ताव को पुष्ट करने के लिए नहुष इन्द्र के दूषित कार्यों का उल्लेख करते हैं।[१] परन्तु गुप्त जी ने आदर्श की रक्षा के विचार से इस उक्ति को छोड़ दिया है और नहुष के प्रस्ताव को पुष्ट करने के लिए, नहुष के द्वारा केवल एक ही तर्क उपस्थित किया है —

" इन्द्राणी उसी की इन्द्र है जो, आज जैसा मैं।
वह तो रहेगी वही, इन्द्र जो हो सो सही।"[२]

मानव-स्तवन की दृष्टि से प्रस्तुत अन्तर्कथा में नहुष का चरित्र दर्शनीय है। आधार ग्रन्थ के अतिप्राकृत तत्व को छोड़कर कवि ने उसे सहज स्वाभाविक रूप दिया है। इसमें कवि मानव के अप्रतिहत जीवनोत्साह को दिखाता है। कामादि से अधिकृत हो जाने पर मानवीय मनोवृत्तियां दूषित हो जाती हैं। परन्तु फिर मानव उन्हीं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। कवि ने 'नहुष' का वृतांत 'जयभारत' में पूर्वाभास के रूप में रखा है, जिसमें मानव की कर्मशीलता का, उसके अदम्य पुरुषार्थ का और उसकी उत्थान चेष्टा को स्पष्ट किया है।

(२) यदु और पुरु —

'जयभारत' में वर्णित 'यदु और पुरु' की कथा इस प्रकार है — प्राचीन काल में देव और दानवों का समर होता था। देवता, अमरत्व को प्राप्त किये हुए थे और दानवों के गुरु शुक्राचार्य संजीवनी विद्या जानते थे जिससे वे मृत व्यक्ति को जीवित कर लेते थे। बृहस्पति (देवताओं के गुरु) का पुत्र कच शुक्राचार्य के पास शिष्य के रूप में संजीवनी विद्या सीखने गया। वहां शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी ने उससे प्रणय निवेदन किया, जिसको अस्वीकार करना विक्षोभ का कारण बन गया।

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० १५, श्लोक, ३-४ (गीताप्रेस)
२. जयभारत, नहुष, पृ० १४ (द्वितीय संस्करण)

अनन्तर गुप्त जी ने देवयानी और दनुजकुल की राज-कन्या शर्मिष्ठा की कलह का वर्णन किया है। कलह का कारण यह था कि एक वाटिका में बहुत सी सखियों के साथ शर्मिष्ठा और देवयानी भी जलक्रीड़ा कर रही थीं। हवा के झोंके से तट पर रखे हुए उन लोगों के वस्त्र मिल गए। बाहर निकलने पर शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी का वस्त्र पहन लिया। इस पर देवयानी क्रुद्ध हो उठी। दोनों में कलह हो गया और अन्त में देवयानी को एक सूखे कुएं में ढकेल कर शर्मिष्ठा अपनी सखियों सहित चली गई। इसी समय वहां आखेट खेलने ययाति आए उन्होंने देवयानी को वहां पड़े देखा।" उन्होंने अपना परिचय देकर देवयानी का परिचय भी लिया। तब ययाति ने उसे सूखे कुएं से बाहर निकालना चाहा देवयानी ने बाहर निकलने का उपाय बताया :-

" मैं करूं ऊंचा सुकृति, नीचा करो तुम हाथ,
खींच लो ऊपर मुझे करके कृतार्थ सनाथ।"[१]

तब ययाति ने उसे बाहर निकाल लिया। इसी समय शुक्राचार्य अपनी बेटी देवयानी को पुकारते हुए वहां आए। उनके साथ शर्मिष्ठा के पिता दानवराज भी आए। शुक्राचार्य ने देवयानी से कहा कि मुझे दानवराज की पुत्री शर्मिष्ठा से सब हाल ज्ञात हो गया है। दानवराज वृषपर्वा ने देवयानी से कहा कि तुम जो चाहो शर्मिष्ठा को दण्ड दे सकती हो -

" दंड से कायर डरो, करके कहीं कुछ दोष,
गुरुसुते, आज्ञा करो कुछ भी तुम्हारा रोष।[२]

तब क्रोधित देवयानी ने शर्मिष्ठा पर व्यंग्य करते हुए कहा -" किन्तु शर्मिष्ठा हमारी स्वामिनी विख्यात।"[३] दैत्यपति वृषपर्वा ने घूमकर अपनी पुत्री की ओर देखा और शर्मिष्ठा ने अपनी हार मान ली वह देवयानी से बोली -

---

१. जयभारत, यदु और पुरु, पृ० २५ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २६ ,,
३ ,, ,, पृ० २६ ,,

"स्वकुल कल्याणार्थ मुझको दास्य भी स्वीकार ।"[1]

इस प्रकार कलह का अन्त हो गया ।

कुछ समय पश्चात देवयानी ने ययाति से ही विवाह किया । देवयानी के साथ विवश होकर शर्मिष्ठा को सहचरी तथा अनुचरी के रूप में जाना पड़ा । ययाति ने उनका ठीक से प्रबंध किया । राजा ययाति से देवयानी को 'यदु' पुत्र की प्राप्ति हुई और शर्मिष्ठा को 'पुरु' नामक पुत्र प्राप्त हुआ । यह बात छिपी न रही, देवयानी को पता चल गया कि शर्मिष्ठा को ययाति से ही पुत्र हुआ है । वह क्रोधित हो उठी —

" अनुचरी वा तू सपत्नी ?" कह उठी वह रूठ ।"[2]

फिर देवयानी को यह भी आशंका हुई कि —

" छोड़ देगा हाय ! क्या यह राज्य का भी लोभ ?"[3]

क्रोधित होकर देवयानी अपने पिता शुक्राचार्य के घर गई । तब सब वृत्तान्त सुन कर शुक्राचार्य ने राजा ययाति को वृद्धत्व का शाप दे दिया । फिर दया करके यह कहा कि ययाति यदि चाहें तो किसी की युवावस्था के बदले अपना वृद्धत्व उसे दे सकते हैं । राजा ययाति ने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से याचना की वह उनका वृद्धत्व ले ले । परन्तु यदु ने स्पष्ट इंकार कर दिया । तब शर्मिष्ठा के पुत्र पुरु से राजा ने याचना की । पुरु ने सहर्ष पिता का वृद्धत्व लेना स्वीकार कर लिया —

" तात, जीवन है जरा में, मरण भी स्वीकार,
हो सके यदि आपकी इस आर्ति का उपचार ।"[4]

---

१. जयभारत, यदु और पुरु , पृ० २६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २७ ,,
३. ,, ,, पृ० २७ ,,

तब प्रसन्न होकर ययाति ने पुरु को ही राज्य दे दिया —

" वत्स, तुझको ही रहा इस राज्य का अधिकार,
मैं जनक हूं, त्याज्य सुत भी पा सके सुख-सार ।"[१]

अन्त में ययाति की भोगेच्छा की भ्रान्ति भी मिट गई और उन्होंने पुन: अपनी वृद्धावस्था को वापस मांग लिया । अब वे समझ गए थे कि भोगों को भोगने से भोगेच्छा और भी बढ़ती ही जाती है, उससे शांति नहीं मिलती । यथा —

भोगने से कब घटे हैं रोग रूपी राग ?
और बढ़ती है निरन्तर ईंधनों से आग । [२]

इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में पर्याप्त विस्तार के साथ मिलते हैं । महाभारत के अनुसार यह अन्तर्कथा इस प्रकार है - एक समय समस्त चराचर प्राणियों सहित त्रिलोक के ऐश्वर्य के लिए देवताओं और असुरों में परस्पर बड़ा भारी संघर्ष हुआ । इसमें विजय प्राप्त करने के लिए देवताओं ने बृहस्पति को पुरोहित के पद पर वरण किया और दैत्यों ने शुक्राचार्य को पुरोहित बनाया । शुक्राचार्य जिस संजीवनी विद्या को जानते थे उसका ज्ञान बृहस्पति को नहीं था । इससे देवताओं को बहुत दु:ख हुआ क्योंकि देवता जिन दानवों को युद्ध में मारते थे उन्हें शुक्राचार्य संजीवनी द्वारा जीवित कर देते थे , परन्तु असुर जिन देवताओं को मारते थे उन्हें बृहस्पति पुन: जीवित न कर पाते थे ।[३] अत: देवताओं ने बृहस्पति के पुत्र कच को शुक्राचार्य के पास जाकर शिष्य के रूप में संजीवनी विद्या सीखने के लिए भेजा ।[४] कच दानवराज वृषपर्वा के नगर में जाकर शुक्राचार्य से मिले और अपना परिचय देकर शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की । शुक्राचार्य ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया ।[५] कच ने शुक्राचार्य

---

१. जयभारत, यदु और पुरु, पृ० २८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २६ ,,
३. महाभारत आदिपर्व, संभव पर्व , अ० ७६, श्लोक ५-१० गीताप्रेस,गोर०
४. ,, ,, ,, ,, श्लोक ११-१७ ,,
५. ,, ,, ,, अ० ७६ श्लोक १८-२१

के आदेशानुसार ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण किया । वह गुरु शुक्राचार्य तथा गुरु की पुत्री देवयानी दोनों की सेवा में रत रहने लगा ।[१] कच को वहाँ रहते हुए पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गए तब दानवों को यह बात मालूम हुई और उन्होंने कच को मार डालने का विचार किया । एक दिन वन में कच को अकेले गौएं चराते देख कर दानवों ने उसे मार डाला और उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों और सियारों को खिला दिये । अनन्तर देवयानी के आग्रह से शुक्राचार्य ने कच को संजीवनी विद्या द्वारा पुनः जीवित कर दिया ।[२] एक दिन पुनः देवयानी ने कच को फूल लेने भेजा । वहाँ दानवों ने उसे पीस कर समुद्र के जल में घोल दिया । तब शुक्राचार्य ने संजीवनी विद्या द्वारा कच का आवाहन किया और कच पुनः वहाँ आ गया ।[३] तब असुरों ने तीसरी बार कच को मार कर आग में जलाया और उसकी जली हुई लाश के चूर्ण को मदिरा में मिला कर शुक्राचार्य को पिला दिया ।[४] देवयानी ने पुनः पिता से आग्रह किया कि वे कच को जीवित कर दें । शुक्राचार्य ने विद्या का प्रयोग करके जब कच को बुलाया तो वह गुरु के पेट में से धीरे से बोला । शुक्राचार्य ने पूछा कि तुम मेरे पेट में कैसे आ गए ? तब कच ने पूरी कथा कह सुनाई । शुक्राचार्य बहुत चिंतित हुए कि यदि वे कच को अपना पेट फाड़ कर निकालेंगे तो कच तो जीवित हो जायगा और वे स्वयं मर जायेंगे । इस बात से देवयानी भी चिंतित और दुःखी हुई । अनन्तर शुक्राचार्य ने निर्णय किया और पेट के भीतर बैठे हुए कच को संजीवनी विद्या सिखा दी और उससे कहा कि तुम मेरा पेट फाड़ कर बाहर निकल आओ और बाहर आकर इसी संजीवनी विद्या से मुझे जीवित कर दो । तब कच उनका पेट फाड़ कर बाहर निकल आए और बाहर निकल कर संजीवनी विद्या से गुरु को जीवित कर दिया ।[५] शुक्राचार्य ने ब्राह्मणों के लिए तभी से मदिरापान का निषेध

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० ७६, श्लोक २२-२६

२. ,, ,, ,, ,, २७-३४

३. ,, ,, ,, ,, ४०-४२

४. ,, ,, ,, ,, ४३

५. ,, ,, ,, ,, ४४-६२

कर दिया ।[१]

कच ने एक हजार वर्षों तक गुरु के समीप रह कर अपना व्रत पूरा कर लिया और अपने घर लौटने की अनुमति पाकर कच ने देवलोक जाने का विचार किया । तब देवयानी ने कच के सामने विवाह का प्रस्ताव रख दिया । कच ने देवयानी को भांति भांति से समझा कर इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया ।[२] तब क्रोधित होकर देवयानी ने कच को शाप दिया कि यदि आप मुझे ठुकरा देंगे तो अपनी संजीवनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी । तब कच ने भी उसे शाप दिया कि कोई भी ऋषिपुत्र (ब्राह्मण कुमार) कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा । और तुमने जो शाप दिया है वह तो ठीक है, परन्तु मैं जिसे यह विद्या पढ़ा दूंगा उसकी विद्या तो सफल होगी ही ।[३] अनन्तर कच इन्द्रलोक को चला गया ।

देवता कच से संजीवनी विद्या पढ़ कर कृतार्थ हो गए । तब इन्द्र भू लोक में आए । एक वन में उन्होंने बहुत सी कन्याओं को जलक्रीड़ा करते हुए देखा । इन्द्र ने वायु का रूप धारण कर उनके सारे कपड़े मिला दिये । जल से बाहर निकलने पर शर्मिष्ठा (असुर राज वृषपर्वा की पुत्री) ने देवयानी का वस्त्र भूल से ले लिया । इससे शर्मिष्ठा देवयानी में कलह हो गया । दोनों ने एक-दूसरे के पिता को अपने पिता से हीन बताया । अन्त में शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुए में ढकेल दिया ।[४] इसी समय नहुष के पुत्र राजा ययाति वहां आए । वे प्यासे थे और उस सूखे कुएं की ओर देखने लगे । वहां उन्होंने देवयानी को देखा । ययाति ने देवयानी से परिचय पूछा और कुएं में गिरने का कारण भी पूछा । देवयानी ने ययाति से कहा कि महाराज ! लाल नख, और अंगुलियों से युक्त यह मेरा दाहिना हाथ है । इसे आप पकड़ कर कुएं से मेरा उद्धार कीजिए । मैं जानती हूं, आप उत्तम कुल में उत्पन्न हुए नरेश हैं --

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व अ० ७६ श्लोक ६७
२. ,, ,, ,, अ० ७७, श्लोक १-२५
३. ,, ,, ,, अ० ७७ श्लोक १६-२०
४. ,, ,, ,, अ० ७८, श्लोक १-१३
५. ,, ,, ,, अ० ७८, श्लोक १४-१६

एष मे दक्षिणो राजन् पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ।।२०।।
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः । १

राजा ययाति ने उसे बाहर निकाल लिया । बाहर निकल कर दैवयानी ने ययाति से कहा कि तुमने मेरा दाहिना हाथ पकड़ा है अतः अब तुम्हीं मेरे पति होओगे । ययाति ने मना किया और कहा कि एक तो तुम ब्राह्मण कन्या हो, दूसरे मुझे शुक्राचार्य से भय भी लगता है । तब दैवयानी ने कहा कि मैं अपने पिता के द्वारा ही तुम्हारा वरण करूंगी । अनन्तर दैवयानी की अनुमति लेकर ययाति अपने नगर को चले गए ।[२]

अबदैवयानी विलाप करती हुई एक वृक्ष का सहारा लिए खड़ी रही । इसी समय शुक्राचार्य द्वारा भेजी हुई धाय दैवयानी को खोजती हुई वहाँ आई और उससे चलने के लिए कहा । दैवयानी ने शर्मिष्ठा द्वारा किये गए अपराध को बताया और पिता के पास कहलवाया कि 'अब मैं वृषपर्वा में पैर नहीं रखूँगी ।' धाय ने जाकर शुक्राचार्य को सब समाचार दिया शुक्राचार्य दैवयानी के पास आए और उसे समझाने की चेष्टा की । परन्तु दैवयानी ने कहा कि शर्मिष्ठा कहती है कि आप भाटों की तरह दैत्यों के गुण गाया करते हैं ।[3] वह स्वयं अपने को राजा की बेटी कहती है । और मुझे कुएं में ढकेल कर चली गई ।[४] यह सब सुनकर पहले तो शुक्राचार्य ने दैवयानी को समझाया परन्तु जब वह नहीं मानी तो शुक्राचार्य क्रोध में भर कर असुरराज वृषपर्वा के पास गए और उन्हें बहुत फटकारा और कहा कि यदि आप दैवयानी को प्रसन्न नहीं करोगे तो मैं देवताओं के पक्ष में चला जाऊंगा ।[५]

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अ० ७८, श्लोक २०-२१
२. ,, ,, ,, अ०७८ ,, २२-२४
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, ,, २५-४१
५. ,, ,, ,, अ० ८० ,, १- ५

तब दानवराज भयभीत हुए और देवयानी को प्रसन्न करने के लिए शुक्राचार्य के साथ देवयानी के पास गए। वृषपर्वा ने देवयानी से कहा कि वह जो कहे वही किया जायगा। तब देवयानी ने कहा मैं चाहती हूँ कि शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओं के साथ मेरी दासी होकर रहे और मेरे पिता मेरा विवाह जहाँ करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाय :-

दासीं कन्यासहस्त्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दधाच्च मे पिता ।। १६।१

अनन्तर शर्मिष्ठा ने भी वहाँ आकर अपने कुल की रक्षा के लिए देवयानी की दासी होना स्वीकार किया। उसने देवयानी से कहा कि जिस किसी उपाय से भी संभव हो, अपने विपद्ग्रस्त जाति-भाइयों को सुख पहुँचाना चाहिये। अत: तुम्हारे पिता तहाँ तुम्हें देंगे, वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ चलूंगी:-

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ।। २४।२

बहुत समय पश्चात उसी वाटिका में एक बार देवयानी अपनी एक हजार दासियों और शर्मिष्ठा के साथ विहार कर रही थी। उसी समय वहाँ पुन: राजा ययाति आए। देवयानी ने पुन: विवाह का प्रस्ताव उनके सामने रखा। ययाति ने शुक्राचार्य के भय से इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। तब देवयानी ने अपना संदेश भेजकर अपने पिता को वहीं बुलाया। शुक्राचार्य ने वहाँ जाकर दोनों का विवाह सम्पन्न कर दिया। शुक्राचार्य ने ययाति को सावधान किया कि वे शर्मिष्ठा से पत्नी का सा सम्बन्ध न रखें।[3]

कुछ समय पश्चात् देवयानी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ।[4] फिर ययाति से ही शर्मिष्ठा को भी एक पुत्र प्राप्त हुआ।[5] पहले तो शर्मिष्ठा ने

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अ० ८० श्लोक १६ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, ,, ,, २४ ,,
३. ,, ,, ,, अध्याय ८१, श्लोक १-३७ ,,
४. ,, ,, ,, ,, ८२ श्लोक ५
५. ,, ,, ,, ,, ,, २७

देवयानी से यह छिपाया कि उसका पुत्र ययाति का ही है । परन्तु जब यह रहस्य खुल गया तो देवयानी क्रोधित हो उठी । वह शुक्राचार्य के पास गई और सब हाल कह सुनाया ।[1] शुक्राचार्य ने ययाति को वृद्धत्व का शाप दे दिया ।[2] राजा ययाति तत्काल बूढ़े हो गए । फिर उनके प्रार्थना करने पर शुक्राचार्य ने कहा कि तुम्हें मैं इतनी छूट देता हूं कि तुम अपना वृद्धत्व देकर किसी से उसका यौवन ले सकते हो । तब ययाति ने कहा कि मेरा जो पुत्र अपनी युवावस्था मुझे देगा , वही मेरे राज्य को भी प्राप्त करेगा ।[3]

इस प्रकार राजा ययाति वृद्धत्व लेकर अपने नगर में आए । वहां आकर उन्होंने प्रत्येक पुत्र से अपने वृद्धत्व को लेने के लिए कहा । परन्तु किसी भी पुत्र ने स्वीकार नहीं किया । केवल पुरु ने उनका वृद्धत्व लेकर उन्हें अपना यौवन दे दिया । ययाति ने यौवन प्राप्त करके बहुत ऐश्वर्य और सुख भोगा परन्तु उनकी इच्छाएं बढ़ती ही चली गईं । तब ययाति ने तृष्णा को त्यागने का ही निश्चय किया । उन्होंने पुरु का यौवन पुरु को वापस कर दिया और अपनी वृद्धावस्था वापस ले ली । ययाति ने अपना राज्य भी पुरु को ही दे दिया ।[4]

' जयभारत ' की प्रस्तुत अन्तर्कथा का मूल स्रोत ' महाभारत ' ही है । गुप्त जी ने जिन स्थलों पर केवल संकेत अथवा सूक्ति द्वारा ही काम चलाया है उन्हीं स्थलों को 'महाभारत' में विस्तृत रूप में वर्णित किया गया है ।

' जयभारत ' में गुप्त जी ने ययाति के चरित्र द्वारा यह दिखाया है कि मनुष्य को अपनी काम-वासना पर नियंत्रण करना चाहिए । यदि मनुष्य भोगों को भोगने की इच्छा का दमन नहीं करता तो वह इच्छा बढ़ती ही चली जाती है और उसका कभी अन्त नहीं होता और न ही मनुष्य को इससे शान्ति मिलती है । ययाति अपनी भोगेच्छा की तृप्ति के लिए पुरु की युवावस्था

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० ८३ श्लोक, १- ३० गीताप्रेस,गोरखपुर
२. ,, ,, ,, ,, ३१ ,,
३. ,, ,, ,, ,, ३८-४१ ,,
४. ,, ,, ,, अध्याय ८४,८५ ,,

माँग लेता है। परन्तु अन्त में उसकी भोग विषयक भ्रान्ति नष्ट हो जाती है और वे पुरु को उसका यौवन वापस करके अपना वृद्धत्व उससे ले लेते हैं। कवि बहुपत्नीत्व को अनर्थमूलक सिद्ध करता है और ययाति के चरित्र से उपदेश देता हुआ कहता है -

" भोगने से कब घटे हैं रोग रूपी राग ?
और बढ़ती है निरन्तर ईंधनों से आग।"[१]

गुप्त जी की इस भावना का मूल स्रोत 'महाभारत' ही है। 'महाभारत' में स्वयं ययाति पुरु से कहते हैं कि 'विषयों की कामना उन विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, वरन घी की आहुति पड़ने से अग्नि की भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। विषय भोग में आसक्त किए हुए मेरे एक हजार वर्ष बीत गए, तो भी प्रतिदिन उन विषयों के लिए ही तृष्णा उत्पन्न होती है। अतः मैं इस तृष्णा को छोड़ कर परब्रह्म परमात्मा में मन लगा कर द्वन्द्व और ममता से रहित होकर वन में मृगों के साथ विचरूँगा।"[२]

'जयभारत' में पुरु के चरित्र द्वारा पितृभक्ति का भी आदर्श उपस्थित किया गया है। ययाति अपना वृद्धत्व देकर यौवन माँगने सबसे पहले यदु के समीप जाते हैं, परन्तु यदु पिता की इस याचना को अस्वीकृत कर देता है। तब ययाति पुरु के पास जाते हैं। पुरु सहर्ष पिता की इच्छा की पूर्ति करने को तत्पर होता है। यथा --

" तात जीवन है जरा में, मरण भी स्वीकार,
हो सके यदि आपकी इस आर्ति का उपचार।"[३]

पुरु के इस आदर्श का स्रोत भी 'महाभारत' ही है। महाभारत' के अनुसार पुरु पितृ भक्त है और पिता द्वारा माँगे जाने पर वह अपनी युवावस्था उन्हें दे देता है। प्रस्तुत कथा में गुप्त जी ने थोड़ा परिवर्तन भी किया

---

१. जयभारत, यदु और पुरु, पृ० २६ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, आदि पर्व, सम्भवपर्व, अ० ८५, श्लोक १२-१५,१६ (गीताप्रेस,गोर
३. जयभारत, यदु और पुरु , पृ० २८ (द्वितीय संस्करा

है। 'जयभारत' के अनुसार ययाति वृद्धत्व का शाप पाने के पश्चात् पहले अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से उसका यौवन माँगते हैं और उसके अस्वीकार करने पर वे पुरु से याचना करते हैं। परन्तु 'महाभारत' में ययाति अपने सभी पुत्रों से यह याचना करते हैं। वे क्रमशः यदु से, फिर तुर्वसु से, फिर द्रुह्यु से और फिर अनु से उनकी युवावस्था अपना वृद्धत्व देकर माँगते हैं। जब ये चारों पुत्र उन्हें अपना यौवन देना और उनका वृद्धत्व लेना अस्वीकार कर देते हैं तो ययाति उन्हें शाप दे देते हैं।[१] 'जयभारत' में न तो तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु से याचना करने का वर्णन है और न ही उन्हें शाप देने का। इसी प्रकार 'जयभारत' में पुरु जब प्रसन्नतापूर्वक अपनी युवावस्था पिता को देना स्वीकार कर लेता है तो ययाति तुरन्त उसे अपना राज्य दे देते हैं।[२] परन्तु 'महाभारत' के अनुसार जब ययाति विषय-वासना से तृप्त नहीं होते और पुनः अपना वृद्धत्व पुरु से लेते हैं तब पुरु का राज्याभिषेक करके वे वैराग्य लेकर वन में चले जाते हैं।[३] ये दोनों ही परिवर्तन कवि ने केवल कथा के संक्षेपण के लिए किए प्रतीत होते हैं। कथा-संक्षेपण के लिए ही कवि ने प्रस्तुत कथा में महाभारतीय कथा के प्रसंगों के अंशों को एकदम छोड़ दिया है। जैसे — कच-देवयानी प्रसंग,[४] देवयानी को ययाति का कुएँ से निकालना[५], तथा शुक्राचार्य और वृषपर्वा का वार्तालाप।[६]

इस खण्ड में यद्यपि मुख्यतः ययाति की इन्द्रिय-लिप्सा का वर्णन करना कवि का प्रतिपाद्य विषय रहा है, पर इस प्रसंग को कवि ने इस ढंग से रखा है कि ययाति का चरित्र निम्नधरातल पर गिरने नहीं पाया है। ययाति के चरित्र को अधिक न गिरने देने के प्रयास में कवि ने देवयानी और शर्मिष्ठा के कलह को विस्तार पूर्वक वर्णित किया है। साथ ही ययाति के

---

१. महाभारत, आदिपर्व, सम्भवपर्व, अ० ८४, श्लोक ३१-३२(गीताप्रेस,गोरखपुर)
२. जयभारत, यदु और पुरु, पृ० २८ (द्वितीय संस्करण)
३. महाभारत, आदिपर्व, सम्भवपर्व, अ०८५, (गीताप्रेस,गोरखपुर)
४. ,, ,, ,, ,, अ० ७७ श्लोक १२-२३ ,,
५. ,, ,, ,, अ० ७८, श्लोक २१-२२ ,,
६. ,, ,, ,, अ० ८०, ,,

चरित्र को संकेतों द्वारा प्रकट किया है। गुप्त जी ने उसे शापग्रस्त और अकाल वृद्ध दिखाकर उसकी भोगलिप्सा पर आवरण डाला है। यही नहीं अन्त में कवि ने उसकी हृदय शुद्धि भी कर दी है। यथा —

" और लेकर निज जरा पाई उन्होंने शान्ति।"

४. यौजन गंधा

प्रारम्भ में कवि ने दो पद्यों में ययाति से शांतनु तक के वंश का संक्षिप्त परिचय दिया है। यौजनगंधा की ओर शांतनु का आकृष्ट होना, तथा देवव्रत (भीष्म) की प्रतिज्ञा की अन्तर्कथा 'जयभारत' बृहत् प्रबन्ध में इस प्रकार दी है।

पुरु कुल में यशस्वी राजा शांतनु हुए। अपनी रानी गंगा से उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ था। गंगा के आत्म-मग्न हो जाने पर शांतनु आर्त, अधीर और उदास रहने लगे। वे उदासीन होकर यमुना के तीर पर एकाकी घूमा करते थे। एक दिन यमुना के तीर पर उन्हें यौजनगंधा दीख पड़ी। यह निषाद कन्या थी। उसका सौन्दर्य अनुपम था। शांतनु उसकी ओर आकृष्ट हुए और उससे परिचय पूछा —

" शुभे, कौन तुम ? पली प्यार से सुख से खाई-खेली हो,
अद्भुत सुरभि-भरी फूली-सी कल्प वृक्ष की बेली हो ?
भोली-भाली भी कुछ अल्हड़, निर्मल नई नवेली हो,
क्रीड़ा तरी लिए निर्जन में हरती नहीं अकेली हो।।[१]

यौजन गंधा (सत्यवती) अपना परिचय देती है। शांतनु अपना परिचय देकर उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रख देते हैं —

" चाहो तो तुम-शुचि, आपको अभी महारानी मानो।"[२]

यौजनगंधा स्वयं को 'पितुराधीन' बताती है।

---

१. जयभारत, यौजनगंधा, पृ० ३१ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३२ ,,

शांतनु घर आकर मंत्री को वृद्ध निषाद के पास भेजते हैं। मंत्री उससे राजा का संदेश कहता है। निषाद विवाह के लिए तो तत्पर हो जाता है परन्तु कहता है --

' सत्यवती रानी होगी, पर क्या होगी उसकी संतान ?'[१]

वह अपने नाती को राज्य का अधिकारी बनाने की सोचता है --

' मेरा नाती भी स्वराज्य से वंचित न हो, यही विनती '[२]

मंत्री यह संदेश आकर राजा शांतनु से कहता है। शांतनु निषाद के इस प्रस्ताव को नहीं मानना चाहता, वह सोचता है --

' राज्य करे देवव्रत मेरा, मरूं भले मैं अगति समान।'[३]

और शान्तनु अपना मनस्ताप छिपाकर दिन व्यतीत करने लगे। परन्तु यह बात देवव्रत को ज्ञात हो गई। देवव्रत कुछ लोगों को संग लेकर निषाद के घर गए। देवव्रत ने निषाद के प्रस्ताव को मानते हुए कहा --

' अपना सा भाई पाने को किसे न होगा क्या त्याज्य ?
मैं अपने भावी भ्राता के लिए छोड़ता हूं निज राज्य।'[४]

निषाद ने देवव्रत के इस प्रण को सुन कर दूसरी आशंका प्रकट की --

' प्रकट करेंगे क्या न आपके आत्मज भी अपना अधिकार ?'[५]

देवव्रत ने इस आशंका को दूर करने के लिए वहीं खड़े खड़े प्रण किया --

बाधक बने न आगे जिसमें कोई औरस अविकारी,
मैं विवाह ही नहीं करूंगा, बना रहूंगा व्रत धारी।'[६]

इस प्रकार योजनगंधा शांतनु की रानी होकर घर आई। शांतनु ने

---

१. जयभारत, योजनगंधा, पृ० ३३, (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३३ ,,
३. ,, ,, पृ० ३४ ,,
४. ,, ,, पृ० ३५ ,,
५. ,, ,, पृ० ३५ ,,
६. ,, ,, पृ० ३५ ,,

योजनगंधा को पा लिया, परन्तु उनके मन की शान्ति नष्ट हो गई -' वे रो पड़े-' पुत्र बलि देकर मैंने नव पत्नी पाई ।' उन्होंने देवव्रत को इच्छा-मरण का वर दिया ।

प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत 'संभव पर्व' में विद्यमान है ।[१] 'महाभारत' में यह अन्तर्कथा इस प्रकार वर्णित है -राजा शांतनु भरत-वंश का पालन तथा सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा भली प्रकार करते थे । समस्त राजाओं ने मिलकर राजा शांतनु को राजराजेश्वर (सम्राट) के पद पर आसीन किया था । वसु के अवतार भूत गांगेय उनके पुत्र हुए थे ।[२] एक दिन शांतनु गंगा नदी के किनारे गए तो वहां गंगा जी सुन्दर स्त्री रूप धारण कर शां के सामने आई और कुमार देवव्रत को दिखा कर बोलीं कि पूर्वकाल में आपने अपने जिस आठवें पुत्र को मेरे गर्भ से प्राप्त किया था वह यही है । मैंने इसका पालन-पोषण करके इसे बड़ा किया है अब आप अपने पुत्र को ग्रहण कीजिये ।[३] अनन्तर गंगादेवी वहीं अन्तर्धान हो गईं । शांतनु अपने उस पुत्र को लेकर राजधानी में आए ।

एक दिन वे यमुना के किनारे गए । वहां घूमते घूमते उन्होंने मल्लाहों की एक कन्या देखी जो देवांगनाओं के समान रूपवती थी । शांतनु ने उससे उसका परिचय पूछा । उस निषाद कन्या ने कहा कि मैं निषादकन्या हूं और अपने पिता निषादराज की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाती हूं ।[४] अनन्तर शांतनु ने उसके पिता से कहा कि मैं तुम्हारी कन्या चाहता हूं ।[५] निषादराज ने शांतनु से कहा कि मैं इस कन्या को एक शर्त के साथ आपकी सेवा में दूंगा । राजा ने उसकी शर्त पूछी तो निषाद ने कहा --पृथ्वीपते ! इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके बाद उसी का राजा के पद पर अभिषेक किया जाय, अन्य किसी राजकुमार का नहीं ।

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १०० (गीताप्रेस,गोरखपुर)
२. ,, ,, श्लोक २१ ,,
३. ,, ,, श्लोक ३१,३३,३४ ,,
४. ,, ,, श्लोक ४७,४८, ,,
५. ,, ,, श्लोक ५१ ,,

अस्यां जायेत य: पुत्र: स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्य: कश्चन पार्थिव ।। ५६ ।।[१]

यह शर्त सुन कर राजा वापस लौट आए । राजा को उदास देख कर देवव्रत ने उनकी उदासी का कारण उनसे पूछा । राजा ने कहा कि मैं पुनर्विवाह नहीं करना चाहता परन्तु तुम मेरे अकेले पुत्र हो और एक पुत्र का होना न होने के बराबर है । क्योंकि उसके समाप्त हो जाने से वंश की परम्परा ही समाप्त हो जाती है । यही मेरी चिन्ता का कारण है ।[२] पिता के दु:ख का कारण जान कर देवव्रत अपने मंत्री के पास गए और पिता के शोक का वास्तविक कारण जानने की चेष्टा की । तब वृद्ध मंत्री ने बताया कि महाराज एक कन्या से विवाह करना चाहते हैं । तत्पश्चात देवव्रत ने पिता के सारथि को बुला कर पूछा कि पिता का अनुराग किस स्त्री में है । सारथि ने बताया कि आपके पिता एक धीवर की कन्या के प्रति अनुरक्त हैं । महाराज ने धीवर से उस कन्या को मांगा तो उसने यह शर्त रखी कि इसके गर्भ से जो पुत्र हो वही आपके बाद राजा हो ।` परन्त आपके पिता ने इस शर्त को नहीं माना ।` यह सुनकर देववत स्वयं निषाद के पास गए और अपने पिता के लिए उसकी कन्या की याचना की । निषाद ने अपनी वही शर्त सामने रख दी ।[३] देवव्रत ने उस निषाद के सामने यह प्रतिज्ञा की कि इस सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा बनेगा :--

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्र: स नो राजा भविष्यति ।। ८७ ।।[४]

अब निषादराज ने दूसरी शर्त सामने रखी । उसने कहा कि आपने अभी जो प्रतिज्ञा की है, वह तो ठीक है, परन्तु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद उस

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १००, श्लोक ४७ ५६ गीताप्रेस,गोरखपुर
२. ,, ,, ,, श्लोक ५८-७० ,,
३. ,, ,, ,, श्लोक ७२-७६ ,,
४. ,, ,, ,, श्लोक ८७ ,,
क्र०

प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रहे । निषादराज की यह बात सुनकर देवव्रत ने दूसरी प्रतिज्ञा की कि आज से मेरा आजीवन अखंड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा । मेरे पुत्र न होने पर भी मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे :--

अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ।। ९६।।[1]

अनन्तर देवव्रत निषादकन्या को रथ पर बैठा कर राजमहल ले आए । भीष्म के द्वारा किए हुए दुष्कर कर्म की बात सुनकर राजा शान्तनु बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्म को स्वच्छन्द मृत्यु का वरदान दिया ।[2]

`जयभारत` में वर्णित `योजनगंधा` अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । इस अन्तर्कथा में मुख्य कथा ज्यों की त्यों आधारग्रन्थ के आधार पर ही रखी गई है । परन्तु गुप्त जी ने शान्तनु को अपेक्षाकृत अधिक सहृदय, गंभीर और उदात्त वृत्तियों से पूर्ण चित्रित किया है । दो-तीन स्थलों पर शान्तनु के चरित्र में परिवर्तन दिखाई पड़ता है । `महाभारत` के अनुसार योजनगंधा से मिलने के पश्चात् शान्तनु तुरंत सीधे निषादराज के पास जाते हैं और योजनगंधा से विवाह की इच्छा व्यक्त कर देते हैं । परन्तु `जयभारत` में वे अपेक्षाकृत अधिक गंभीर और संयत हैं । वे सीधे निषादराज के पास नहीं पहुंचते वरन राजमहल आकर विवाह का प्रस्ताव अपने मंत्री के द्वारा निषादराज के पास भेजते हैं ।

इसीप्रकार `महाभारत` के अनुसार अपने पिता शांतनु को दु:खित देखकर देवव्रत उनसे ही उनके दु:ख का कारण पूछते हैं । शांतनु देवव्रत को अपने दुख का कुछ कुछ आभास देते भी हैं । परन्तु गुप्त जी ने इस प्रसंग पर पिता-पुत्र का वार्तालाप नहीं रखा है, वरन् देवव्रत स्वयं ही पिता के दु:ख का कारण पता लगा लेते हैं । इस परिवर्तन से गुप्त जी ने दोनों के ही चरित्रों में अधिक मर्यादा और गंभीरता का समावेश किया है ।

`महाभारत` के अनुसार देवव्रत निषाद कन्या को लेकर पिता को सौंप देते हैं शान्तनु भीष्म के द्वारा किए हुए इस दुष्कर कर्म की बात सुनकर बहुत संतुष्ट

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १००, श्लोक ९६ (गीता प्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, ,, श्लोक १००-१०२

होते हैं और वे भीष्म को स्वच्छन्द मृत्यु का वरदान देते हैं ।[१] परन्तु जय-भारत के शांतनु पुत्र के इस बलिदान और त्याग से रो उठते हैं —

> शांति गई शान्तनु की यद्यपि योजनगंधा घर आई,
> वे रो पड़े — पुत्र-बलि देकर मैंने नवपत्नी पाई ।[२]

प्रस्तुत कथा में गुप्त जी ने बहुत संक्षेपण किया है । 'महाभारत' में वर्णित विस्तृत वंशावली को प्रारम्भ में ही कवि केवल दो पद्यों में परिचयात्मक ढंग से कह जाता है । इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण कथा को संक्षेप में उपस्थित किया गया है ।

गुप्त जी ने 'नहुष' खण्ड के पश्चात् बराबर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भरत-वंश में प्रत्येक पुत्र अपने पिता की अपेक्षा अपने चरित्र को अधिक उत्कर्षित कर सका । प्रस्तुत खण्ड में 'भीष्म' का चरित्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।

४. कौरव-पाण्डव—

'जय-भारत' के अन्तर्गत 'कौरव-पाण्डव' शीर्षक से जो अन्तर्कथा दी गई है वह पर्याप्त विस्तार से महाभारत के २४ अध्यायों में वर्णित है । 'जयभारत' के अनुसार धीवर ने जो प्रबंध किया था कि सत्यवती का पुत्र ही राजा बनेगा, वह व्यर्थ हो गया । सत्यवती के चित्रांगद और विचित्रवीर्य दो पुत्र हुए । चित्रांगद रण में मारा गया । विचित्रवीर्य) अभी बालक ही था परन्तु उसी को राजा बना कर भीष्म ने राज-कार्य चलाया । भीष्म काशी नरेश की तीन कन्याओं को स्वयंवर से हर लाए । बड़ी अम्बा थी, मंझली अम्बिका और छोटी अम्बालिका थी । विचित्रवीर्य को इनमें से अम्बिका और अम्बालिका ने वर लिया । अम्बा पहले से ही मन ही मन शाल्व नरेश को वर चुकी थी अतः भीष्म ने उसे शाल्व नरेश के पास भिजवा दिया । परन्तु शाल्व राजा ने हरी हुई अम्बा को स्वीकार नहीं किया । उसने अपने जीवन को नष्ट करने का दोष भीष्म को ही दिया । वह परशुराम के समीप गई और उसने उनसे भीष्म वध माँगा । परशुराम भीष्म के गुरु थे । दोनों ही युद्ध करना नहीं चाहते थे पर विवश होकर युद्ध किया और उसमें भीष्म ही जीते । परशुराम ने अम्बा से

कहा कि मैं शाल्व राज को विवाह के लिए विवश कर सकता हूं, परन्तु अंबा ने कहा —

" मैं वह वधू नहीं, जो ऐसे निर्मम वर को भी वरूं ,"[1]

हताश होकर अम्बा ने कठोर तप किया तब शंकर प्रकट हुए । उनसे भी अम्बा ने भीष्म-वध की इच्छा प्रकट की । शंकर ने कहा कि उसके लिए तो तुम्हें दूसरा जन्म लेना पड़ेगा । तदनन्तर अम्बा चिता में जीवित ही जल मरी । बाद में वह एक बालिका के रूप में द्रुपदराज-कुल में जन्मी । फिर वह बालक बन गई और 'महाभारत' में शिखंडी नाम से प्रसिद्ध हुई ।

इधर विचित्रवीर्य विलास में मग्न था । कुछ समय पश्चात उसकी भी मृत्यु हो गई । सत्यवती दोनों पुत्रों को खोकर दु:खी हो उठी । उसने भीष्म से कहा —

" दैवदोष से मैं दोषी हूं, दे कुछ मुझे प्रबोध तू
अपना राज्य संभाल और निज पितरों का उद्धार शोध तू ।"[2]

परन्तु भीष्म ने कहा कि —

" टूटे न मां , प्रतिज्ञा मेरी किसी लोभ या भीति से ,
सम्भव राजवंश की रक्षा है नियोग की रीति से ।"[3]

सत्यवती ने कहा —

" नहीं जानती बहुओं की रुचि हो या न हो नियोग में ,"[4]

इसी समय सत्यवती को स्मरण आया कि द्वैपायन उसी का पुत्र है जो कि विवाह के पहले हुआ था ।

---

१. जयभारत, कौरव-पाँडव, पृ० ३८ (द्वितीय संस्करण)
२. जयभारत, कौरव पाण्डव, पृ० ३६ ,,
३. ,, ,, पृ० ३६ ,,
४. ,, ,, पृ० ४० ,,

" वत्स, मत्स्यगंधा भी जल में, पूज्य पराशर-योग से ,
द्वैपायन को जनकर छूटी दुष्ट गंधमय रोग से ।"[१]

तब द्वैपायन व्यासदेव से ही अम्बिका को एक पुत्र धृतराष्ट्र और अम्बालिका को पाण्डु प्राप्त हुए । इसके अनन्तर —

" प्रेरित फिर की गई अम्बिका अन्य गर्भ धारण को ,
किन्तु करे कोई मन को क्या, विवश जिये चाहे मरे ।
स्वयं न जाकर भेजा उसने दासी को निज वेश में ,
हुआ विदुर-सा विनयी सुत वर जिससे राज निवेश में ।[२]

इस प्रकार दासी द्वारा विदुर उत्पन्न हुए ।

धृतराष्ट्र का विवाह गांधारी से हुआ, पांडु का विवाह कुंती से हुआ जिसने मुनि से मंत्र-लाभ करके कर्ण को जन्म दिया था । पांडु की दूसरी पत्नी माद्री हुई । भीष्म आदि ने पाण्डु को सबसे योग्य जानकर उन्हें ही राज्य दिया । पाण्डु की कीर्ति और यश बहुत फैला । कुंती के तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन तथा अर्जुन हुए । माद्री के नकुल और सहदेव हुए । गान्धारी ने द्वैपायन मुनि के वर से सौ पुत्र प्राप्त किए और एक कन्या दु:शला भी प्राप्त की । दु:शला बाद में जयद्रथ की रानी बनी । विदुर का विवाह योग्य कन्या से हुआ ।

कुछ समय उपरान्त अचानक पांडु की मृत्यु हो गई । माद्री अपने दोनों पुत्रों को कुंती को सौंप कर पति के साथ सती हो गई ।

' जयभारत ' में यह कथा अत्यन्त संक्षेप में चलते ढंग से कही गई है । महाभारत में यह विस्तृत रूप में वर्णित है ।[3] "महाभारत" के अनुसार सत्यवती से विवाह हो जाने के उपरान्त शांतनु ने सत्यवती को अपने

---

१. जयभारत, कौरव पाण्डव, पृ० ४०, (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ४१ ,,
३. महाभारत आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १०१ से १२४ तक

अपने पास रखा और उसके दो पुत्र हुए एक चित्रांगद और दूसरा विचित्रवीर्य। इसी समय महाराज शांतनु की मृत्यु हो गई और चित्रांगद को राजा बनाया गया। चित्रांगद बड़ा घमंडी था, उससे युद्ध करने के लिए गंधर्वराज चित्रांगद आया, युद्ध में शांतनु-पुत्र चित्रांगद मारा गया। तब विचित्रवीर्य को राजा बनाया गया।[१]

जब विचित्रवीर्य युवावस्था में पहुंचे तब भीष्म ने उनके विवाह का विचार किया। उसी समय काशी राज की तीन कन्याओं का स्वयंवर हुआ, वहां भीष्म गए। स्वयंवर में अन्य राजाओं ने भीष्म को आया देखकर उनका मज़ाक बनाया और कहा कि ये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर बुढ़ापे में f विवाह की इच्छा से आए हैं। यह सुनकर भीष्म कुपित हो उठे और काशीराज की तीनों कन्याओं को उठाकर अपने रथ पर बैठा कर और सभी राजाओं को युद्ध के लिए ललकारते हुए चल पड़े। घर आकर भीष्म ने तीनों कन्याओं का विवाह विचित्रवीर्य से करना चाहा। तब बड़ी कन्या अम्बा ने भीष्म से कहा कि मैंने पहले से ही मन ही मन राजा शाल्व को पति रूप में वरण कर लिया है। मेरे पिता की भी इच्छा थी कि मेरा विवाह राजा शाल्व के साथ हो। तब भीष्म ने अम्बा को शाल्व के यहां जाने की अनुमति दे दी शेष दोनों कन्याओं अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य से कर दिया। परन्तु कुछ समय उपरान्त ही विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई।[३]

अनन्तर सत्यवती ने भीष्म से राज्य तथा ग्रहण करने तथा विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों को पुत्र-रत्न देने का आग्रह किया।[४] परन्तु भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करके इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने कहा —

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ।।१५।।[५]

---

१. महाभारत- आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १०१
२. ,, ,, अ० १०२- श्लो० १-२२
३. ,, ,, ,, श्लोक ४४-७०
४. ,, ,, ,,१०३ ,, १-१०

अर्थात्, मैं तीनों लोकों का राज्य, देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्व की वस्तु को एकदम त्याग सकता हूं, परन्तु सत्य को किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता ।

तब सत्यवती ने अपने विवाह से पूर्व की एक घटना भीष्म को सुनाई । सत्यवती को मल्लाह ने एक मछली के पेट में से निकाला था । अत: सत्यवती के शरीर से मछली की दुर्गन्ध आती थी । एक दिन महर्षि पराशर ने उसे उस दुर्गन्ध से मुक्त करके सुगंधित कर दिया और इसके बदले सत्यवती की इच्छा बिना उसे पुत्र प्रदान किया । साथ ही मुनि ने कहा कि 'तुम इस यमुना के द्वीप में अपने इस गर्भ को त्याग कर फिर कन्या हो जाओगी ।' अत: उस समय जो सत्यवती के पुत्र हुए वे महर्षि व्यास हैं । अनन्तर भीष्म की सलाह से यह निर्णय हुआ कि वे ही महर्षि व्यास विचित्रवीर्य की पत्नियों को पुत्रों की प्राप्ति करावें ।[1] तत्पश्चात व्यास जी ने नियोग विधि के द्वारा अम्बिका को धृतराष्ट्र और अम्बालिका को पाण्डु प्राप्त हुए । तब सत्यवती ने अम्बिका से एक और पुत्र प्राप्त करने के लिए कहा । तब अम्बिका ने अपनी दासी को महर्षि व्यास के पास भेज दिया । दासी का पुत्र विदुर हुआ ।[2]

बहुत समय पश्चात् भीष्म ने गंधारराज की पुत्री गांधारी से धृतराष्ट्र का विवाह कर दिया । गंधारी बड़ी पतिव्रता थी । उसने जब यह सुना कि धृतराष्ट्र अंधे हैं तो उसने अपनी आंखों पर रेशमी कपड़े की कई तह वाली पट्टी अपनी आंख पर बांध ली क्योंकि वह अपने पति के दोष नहीं देखना चाहती थी ।[3] पाण्डु का विवाह कुंती से हुआ । यह राजा कुंतिभोज की

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १०४, श्लोक १-२२
२. ,, ,, ,, अ० १०५,
३. ,, ,, ,, अ० १०६

पुत्री थी, इसने स्वयंवर में पाण्डु के गले में जयमाल डाल दी ।[१] विवाह से पहले कुंती को दुर्वासा मुनि से मंत्र की प्राप्ति हुई । जिससे कुंती ने सूर्यदेव का आवाहन करके कर्ण के रूप में एक पुत्र को प्राप्त किया था । कुंती ने इस अनुचित कृत्य को छिपाने की चेष्टा की और कर्ण को जल में छोड़ दिया । उस बालक ने जन्म से ही कुंडल और कवच पहन रखे थे । सूर्यदेव ने कुंती को पुनः कन्यात्व प्रदान किया था । इस बालक को सूतपुत्र अधिरथ ने, जिसकी पत्नी का नाम राधा था, ले लिया और अपना पुत्र बना लिया । एक दिन रात्रि में सूर्यदेव ने कर्ण को स्वप्न दिया कि प्रातः होते ही इन्द्र ब्राह्मण के वेश में आकर तुमसे भिक्षा के रूप में तुम्हारे कुंडल और कवच मांगेंगे । तुम उन्हें मत देना । और यदि देना तो बदले में उनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का निराकरण करने वाली बरछी मांग लेना । प्रातः इन्द्र के आने पर कर्ण ने उन्हें अपने कुंडल और कवच दे दिये और उनसे वह बरछी प्राप्त की ।[२]

कुंती से पांडु के विवाह हो जाने के उपरान्त भीष्म ने पाण्डु के द्वितीय विवाह के लिए विचार किया । तब मद्रराज की बहन माद्री से राजा पाण्डु का विवाह हुआ ।[३] अनन्तर पांडु ने दिग्विजय भी की ।[४] दिग्विजय के उपरान्त पाण्डु ने वन में अपनी दोनों पत्नियों सहित निवास किया ।[५] भीष्म ने विदुर का विवाह राजा देवक के यहां की एक कन्या (जिसकी माता शूद्र और पिता ब्राह्मण थे) से कर दिया ।[६]

पाण्डु को कुंती और माद्री से पांच पुत्र हुए । कुंती को युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन हुए जो क्रमशः धर्म, वायु और इन्द्र द्वारा प्राप्त हुए ।[७]

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १११ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, अ०११० ,,
३. ,, ,, अ० ११२ श्लोक १८ ,,
४. ,, ,, ,, ,, २१-४५ ,,
५. ,, ,, ,, ११३, श्लोक १२,१३
६. ,, ,, ,, अ० ११४, श्लोक १६ ,,
७ ,, ,, अ० १२२ ,,

इसके पश्चात् धृतराष्ट्र को गांधारी से सौ पुत्र[१] और एक कन्या दु:शला प्राप्त हुई ।[२] धृतराष्ट्र को अपनी दूसरी पत्नी जो कि वैश्य जाति की थी, उससे एक पुत्र (युयुत्सु) प्राप्त हुआ ।[३] धृतराष्ट्र ने अपनी पुत्री दु:शला का विवाह राजा जयद्रथ के साथ किया ।[४]

जब कुन्ती के तीन पुत्र उत्पन्न हो गए और धृतराष्ट्र के भी सौ पुत्र हो गए तो माद्री ने भी पाण्डु के सामने पुत्र प्राप्ति की इच्छा प्रकट की । तब कुंती की सहायता से अश्विनीकुमारों ने आकर माद्री को दो जुड़वां पुत्र दिये । ये नकुल और सहदेव थे ।[५] बहुत समय पश्चात् पाण्डु की मृत्यु हो गयी और माद्री अपने दोनों पुत्रों को कुंती को सौंप कर पाण्डु के साथ सती हो गई ।[६]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयभारत में 'कौरव-पाण्डव' शीर्षक से जो अन्तर्कथा दी गई है वह ठीक उसी रूप में किन्तु पर्याप्त विस्तार सहित महाभारत में वर्णित है । जयभारत-कार ने इस अन्तर्कथा में धारा शैली से दोनों वंशों (कौरव, पाण्डव) का परिचय दिया है । 'महाभारत ' के विस्तृत प्रसंगों का संक्षेपण किया गया है, साथ ही भीष्म और अम्बा के प्रसंग को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है ।

इस अन्तर्कथा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया गया है, परन्तु पांडवों और कौरवों के जन्म-प्रसंग में अतिप्राकृत तत्व को बचाने का

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अ० ११४ , गीताप्रेस, गोरखपुर
२. ,, ,, ,, ११५ ,,
३. ,, ,, ,, ११४- श्लोक १ ,,
४. ,, ,, ,,११६, श्लोक १८ ,,
५. ,, ,, ,,१२३ ,, ,,
६. ,, ,, ,, १२४ ,, ,,

प्रयत्न अवश्य किया गया है । इस प्रसंग में गुप्त जी ने बौद्धिकता न लाकर उसे अधिक विश्वसनीय बनाया है । यथा ---

> 'कुंती के सुत तीन युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन हुए ।
> धर्म, वायु, वासव के उनमें अंश-पूर्ण सब गुण हुए ।
> माद्री के दो नकुल और सहदेव, अश्विनी-सुत यथा,
> कहने सुनने योग्य सर्वथा पांच पाण्डवों की कथा ।'[1]

इसी प्रकार गुप्त जी ने कौरवों के जन्म के अति प्राकृतिक तथ्य को स्वीकार नहीं किया है । सौ वर्षों तक घड़ों में प्रतिपालित गर्भ का उल्लेख न करके गुप्त जी ने कहा है -

> ' इसी बीच द्वैपायन मुनि के वर से आशीर्वाद से,
> सौ सुत पाए गांधारी ने वह यों बची विषाद से । '[2]

५. बन्धु-विद्वेष -

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के अनुसार कौरवों और पाण्डवों में विद्वेष की भावना की आशंका उसी समय हो गई थी, जबकि दुर्योधन का जन्म हुआ । दुर्योधन के जन्म-समय ऐसे-ऐसे अपशकुन हुए कि भीष्म और विदुर आदि वंश की रक्षा के लिए शंकित होने लगे -

> ' दुर्योधन के जन्म-समय अपशकुन हुए कुछ ऐसे,
> डरे भीष्म विदुरादि, वंश की रक्षा होगी कैसे ?'[3]

परन्तु धृतराष्ट्र अपने इस पुत्र को बहुत अधिक स्नेह करते थे । उधर भीम ,अत्यधिक बलवान थे और सौ कौरवों के लिए अकेले ही पर्याप्त थे । दोनों कौरवों तथा

---

१. जयभारत, कौरव पाण्डव, पृ० ४२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ४२ ,,
३. ,, ,, पृ० ४३ ,,

पाण्डवों में वैर की भावना ने जन्म ले लिया । आपस में खेल करते समय भीम कौरवों को कंधे पर चढ़ा कर पेड़ों पर चढ़ाते थे । कौरव वृक्ष के ऊपर बैठ कर स्वयं तो फल खाते और भीम के लिए जूठी गुठलियां फेंक देते । परन्तु क्रोधित होकर भीम पेड़ को ही हिला देते और उस पर से सब कौरव नीचे गिर पड़ते थे । इसी प्रकार तैरते समय भीम मगर की भांति डुबकी लगा कर आते और कौरवों को नीचे से ही खींच कर दूर ले जाते । कभी कौरव भीम को अखाड़े में ले जाकर उन्हें हराना चाहते पर भीम ही वहां कौरवों को एक के ऊपर एक पटकते तथा उनके गले पकड़ कर एक दूसरे के माथों को आपस में रगड़ते ।

इस प्रकार कौरवों और पांडवों में द्वेष की भावना बढ़ती ही चली गई । एक दिन दुर्योधन ने भीम को विष देने की ठानी । उसने भोजन में विष मिलाया और वन में भीम को खिला दिया । जब भीम अचेत हो गए तो दुर्योधन भीम को गंगा तट पर छोड़ कर चला आया । वहां संयोग वश किसी विषधर ने आकर भीम को डस लिया जिससे भीम के शरीर का विष समाप्त हो गया । पर उन्हें चेतना नहीं आई । इसी समय पुन: दुर्योधन वहां आया और भीम को घसीट कर गंगा में डुबो दिया । युधिष्ठिर ने दुर्योधन से पूछा कि भीम कहां हैं ? दुर्योधन ने कहा —"मैं क्या जानूं, असुर है न वह, सोता जहां तहां है ।" इससे पाण्डवों की चिन्ता बढ़ी । वे वन में भीम को खोजने लगे । कौरव घर लौट आए । पांडवों को साथ न आया देखकर कुंती ने दुर्यो- से कारण पूछा । दुर्योधन ने भीम के खोने और पाण्डवों का उसको खोजने का कारण बता दिया । कुंती दु:खी हो उठी और उसने कहा —"इतने पर भी वहां तुम छोड़ आ गए कैसे ?" तब दुर्योधन ने कहा —"सब वन में रोवें तो घर का काम चले फिर कैसे ?" कुंती यह उत्तर सुन कर क्षुब्ध हो उठी । तब विदुर ने वन में कुछ लोगों को पाण्डवों को लाने के लिए भेजा ।

अंत में पाण्डव सकुशल लौट आए । भीम ने कुंती से बताया —
"निश्चय भोजन में कुछ मुझको खिला दिया उस खल ने ,
वह वह जाने, गया मारने अथवा मुझको छलने ।
मूर्च्छित सा गंगा तट पर मैं ठंडक में जा सोया ,

और स्वप्न सा देखा मैंने, उसने मुझे हुलाया।
ऐसा जान पड़ा तब मुझको, नागों ने आ पकड़ा,
गया प्रमातामह के घर में, नाग पाश में जकड़ा।

< <

दुःख यही है, वहां और भी कुछ दिन हुआ न रहना।
विष भी जहां अमृत बन जावे, वहां अमृत रस, आहा।
उस पहुनाई में जो पाया, हुआ हुआ वही मन चाहा।"[1]

भीम ने वह मणि भी कुंती को दिखाई जिसे वे प्रसाद रूप में प्राप्त करके लाए थे।

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदि पर्व में प्राप्त होते हैं। जिस समय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का जन्म हुआ उसी समय भीमसेन का भी जन्म हुआ। दुर्योधन जन्म लेते ही गदहे के रेंकने जैसी आवाज़ में चिल्लाने लगा। उसकी ऐसी आवाज को सुनकर बदले में दूसरे गदहे भी रेंकने लगे। गीध, गीदड़ और कौए शोर करने लगे। बड़े ज़ोर की आंधी चलने लगी, चारों ओर की दिशाएं जलने सी लगीं। इन सब अपशकुनों को देखकर राजा धृतराष्ट्र भयभीत हो उठे। उन्होंने बहुत से ब्राह्मणों, भीष्म, विदुर आदि को बुलाकर पूछा कि राजकुमार युधिष्ठिर सबसे बड़े हैं अत: वे राज्य पाने के अधिकारी हो चुके हैं। परन्तु उनके बाद यह मेरा पुत्र दुर्योधन ही श्रेष्ठ है। क्या यह भी राजा बन सकेगा ? धृतराष्ट्र की यह बात समाप्त होते ही चारों ओर मांसाहारी जीव गर्जन करने लगे और गीदड़ अमंगल सूचक बोली बोलने लगे। तब ब्राह्मणों तथा विदुर जी ने इन अपशकुनों को लक्ष्य करके धृतराष्ट्र से कहा कि आपके ज्येष्ठ पुत्र के जन्म लेते ही जैसे अपशकुन हो रहे हैं उनसे यह पता चलता है कि आपका यह पुत्र सम्पूर्ण कुल का नाश कर देगा। यदि, आप इस पुत्र को त्याग दें तो सब विघ्नों की शान्ति हो

---

१. जयभारत, 'बंधु-विद्वेष', पृ० ४६, (द्वितीय संस्करण)

जाएगी । विदुर आदि के समझाने पर भी पुत्र-स्नेह के वशीभूत राजा धृत-राष्ट्र ने वैसा नहीं किया ।[१]

'जयभारत' में वर्णित कौरवों और पाण्डवों की बालक्रीड़ा तथा विद्वेष की भावना महाभारत में और भी विस्तृत रूप में वर्णित है । ~~प्रत्येक~~ पाण्डव धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ खेलते थे और उनसे बढ़ चढ़ कर सिद्ध होते थे । सभी खेलों में भीम धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का मानमर्दन करते थे । भीम कौरवों को सिर से पकड़ कर पांडवों से भिड़ा देते थे । कभी भीम उनके बाल पकड़कर बलपूर्वक उन्हें एकदूसरे से टकरा देते और उनके चीखने पर उन्हें पृथ्वी पर घसीटते थे । जलक्रीड़ा करते समय भीम धृतराष्ट्र के बालकों को पकड़ लेते और देर तक पानी गोता लगाते रहते । जब कौरव अर्धमृत से हो जाते तब भीम उन्हें छोड़ते थे । इसीप्रकार जब कौरव वृक्ष चढ़ कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैर से ठोकर मार कर उन पेड़ों को हिला देते थे । पेड़ों के हिलने से कौरव भयभीत होकर फलों सहित नीचे गिर पड़ते थे ।[२] तब दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेन अत्यन्त बलवान है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा ।[३] वह अपने भाइयों सहित यह सोचने लगा कि किसी प्रकार धोखे से भीम को कैद कर लेना चाहिये । या नगरोद्यान में भीम को गंगा नदी में फेंक कर और अर्जुन तथा युधिष्ठिर को बलपूर्वक कैद में डाल कर मैं निष्कंटक राज्य करूंगा । अतः दुर्योधन ने गंगा-तटवर्ती प्रमाणकोटि तीर्थ में डेरे आदि डलवाए और वहीं भोजनादि का प्रबंध किया । दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा कि आओ आज हम लोग गंगातट पर भांति भांति के उद्यानों और वनों में चलें और जल विहार करें । युधिष्ठिर ने दुर्योधन की बात मान ली और पांचों पांडव कौरवों के साथ जलविहार के लिए चले और वहां पहुंच कर भोजन के समय दुर्योधन ने भीमसेन के भोजन में, उसे मार डालने की इच्छा से कालकूट नामक विष डलवा दिया । भीमसेन बिना इस

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० ११४, श्लोक २६-३६ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० १२७, श्लोक १७-२२ ,,
३. ,, ,, ,, श्लोक २५ ,,

बाहुयों को अपने सारा भोजन खा गए । भोजन के पश्चात् सभी कौरव और पाण्डव जलक्रीड़ा करने लगे । अधिक परिश्रम करने के कारण भीम प्रयाण-कोटि के एक कक्षा में सो गए । विष के प्रभाव से उन्हें मूच्छा/निर्भी घेर लिया । उनके सभी अंगों में विष का प्रभाव फैल गया । तब दुर्योधन ने स्वयं लताओं के पाश में भीमसेन को बांध दिया और उन्हें गंगा के ऊंचे तट से जल में ढकेल दिय मूच्छित दशा में भीमसेन जल के भीतर डूबकर नागलोक में जा पहुंचे । वहां कितने ही नागकुमार उनके शरीर से दब गए और बहुत से नागों ने आकर उन्हें खूब डंसा । नागों द्वारा डंसे जाने से कालकूट विष का प्रभाव नष्ट हो गया ।[१] तत्पश्चात भीम की निद्रा भंग हो गई । उन्होंने अपने सारे बंधन तोड़ डाले और सर्पों को पकड़-पकड़ कर पृथ्वी पर पटकने लगे । बचे हुए सर्प भागते हुए नागराज वासुकी के पास गए और सब हाल कह सुनाया ।[२] वासुकी के साथ नागराज आर्यक ने भी आकर भीमसेन को देखा जो पृथा के पिता शूरसेन के नाना थे । आर्यक ने भीमसेन को पहचान लिया और अपने दौहित्र के दौहित्र को देखकर छाती से लगा लिया । नागराज वासुकि भी भीमसेन को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और भीमसेन को धन आदि देने की इच्छा प्रकट की । तब आर्यक ने कहा कि यह धन लेकर क्या करेगा इसे तो आपकी आज्ञा से उस कुण्ड का रस पीना चाहिए, जिससे एक हजार हाथियों का बल प्राप्त हो ता है । तब भीम ने कुण्ड का रस पीना आरम्भ किया और आठ कुण्डों का रस पी लिया । अनन्तर वे नागों की शैया पर पुनः सो गए ।[३]

इधर जब कौरवों और पाण्डवों के लौटने का समय हुआ तो भीमसेन न दिखाई पड़े । पाण्डवों ने उन्हें बहुत खोजा और अन्त में उन्हें न पाकर यही समझा कि भीम आगे-आगे पहले ही चले गए होंगे । पाण्डवों ने घर आकर कुन्ती से पूछा, परन्तु यह पता चलने पर कि भीम अभी आए ही नहीं हैं युधिष्ठिर के मन में शंका होने लगी । कुंती भी शंकित होने लगीं उन्होंने

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १२७ , श्लोक २७-५७ गीताप्रेस
२. ,, ,, अ० १२७, श्लोक ५६ ,,
३. ,, ,, ,, श्लोक ६३-७२

विदुर जी को बुलाकर कहा कि कौरवों की आँखों में भीम हर समय खटकता रहता है। कहीं उन लोगों ने उसे मार न डाला हो ? परन्तु विदुर जी ने उन्हें सान्त्वना दी और भीम को ढुंढ़वाने का प्रयत्न किया।[1] इधर नागलोक में भीमसेन आठवें दिन जगे, जब कि वह रस पच गया। उस समय उनके बल की कोई सीमा नहीं रही। तत्पश्चात् भीम ने स्नान आदि करके विषनाशक सुगंधित औषधियों के साथ नागों द्वारा दी हुई खीर खाई। तत्पश्चात् भीमसेन वहाँ से चलने को उद्यत हुए। नागों ने उन्हें गंगा के तट पर उसी प्रमाणकोटि नामक स्थान पर पहुँचा दिया। तब भीम शीघ्र ही वहाँ से अपनी माता कुंती के पास आ गए।[2] तदनन्तर भीमसेन ने दुर्योधन की सारी कुचेष्टाओं को अपने भाइयों को बताई तथा नागलोक की समस्त घटनाएं भी बताईं।[3]

'बन्धु-विद्वेष' शीर्षक से जो अन्तर्कथा जयभारत में वर्णित है उसके स्रोत 'महाभारत' में ही प्राप्त होते हैं। कुछ प्रसंगों में कवि ने कतिपय परिवर्तन अवश्य किए हैं। अतिप्राकृतिक तत्वों को अधिक बुद्धिसंगत बनाया गया है। महाभारत में भीम का नागों के पास जाना और वहाँ की सभी घटनाएं अलौकिक सत्य के रूप में चित्रित की गई हैं। परन्तु गुप्त जी ने इन घटनाओं को उन्हें सत्य या स्वप्न कहें कह कर स्वयं को अतिप्राकृतिक वर्णन करने से बचा लिया है। अतिप्राकृतिक होने के कारण महाभारतीय वस्तु के इस प्रसंग का वर्णन कवि ने स्वयं नहीं किया वरन भीम के द्वारा उसका कथन भर करवाया है।

'जयभारत' के अनुसार भीम नागलोक से मणि लाते हैं परन्तु महाभारत में नागलोक में शक्ति वर्धक रस पीते हैं और शक्तिशाली हो जाते हैं। इस कथा में गुप्त जी ने कुन्ती का वात्सल्य और दुर्योधन के अनाचार को प्रकट किया है। कुंती के द्वारा कवि ने निस्पृहता-मूलक जीवनास्था भी प्रकट की है, यथा —

"हरे और भी एक मुझे यह हुआ भरोसा तेरा,
जो करता है तू उसी में हित होता है मेरा।"[4]

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अ०१२८ श्लोक १-१६ (गीताप्रेस)
२. ,, ,, ,, श्लोक २०-२६ ,,
३. ,, ,, ,, ,, ३२,३३ ,,

इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर गुप्त जी ने आधार ग्रन्थ के विभिन्न विस्तृत प्रसंग को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है । जैसे दुर्योधन का भीम को विष देना, भीम का नागलोक पहुंच कर वापस आना आदि ।

६. द्रोणाचार्य —

' जयभारत ' में द्रोणाचार्य की अन्तर्कथा वर्णित है । एक दिन कौरव और पाण्डव जब भांति भांति की क्रीड़ाएं कर रहे थे तो एक शुष्क कूप में उनकी गेंद उछलकर गिर पड़ी । सभी राजपुत्र उस कुएं को घेर कर खड़े थे और गेंद को निकालने की युक्ति सोच रहे थे । और बालकों का वह दल गेंद को निकालने का उपाय न पाकर किंकर्तव्यविमूढ़ ' हो गया था कि उसी समय वहां वयं वृद्ध द्रोणाचार्य आ पहुंचे । द्रोणाचार्य ने बालकों से कहा —

" यह विशाल भूगोल जिन्हें भारा से सकता,
कंदुक भी उद्धार नहीं उनसे पा सकता ।"[१]

द्रोण के इस व्यंग्य से सब राजपुत्र जब लज्जित से रह गए तो धनंजय ने भृकुटि चढ़ा कर कहा —

" वृद्ध , तुम्हारा व्यंग्य वचन भी मैं क्या टालूं ?
देखो तुम, मैं अभी कूद कर गेंद निकालूं ।"[२]

अर्जुन की इस आत्मसम्मान की भावना को देखकर द्रोणाचार्य प्रभावित हुए और अर्जुन में उन्हें ,अपनी युवावस्था दिखाई पड़ी । द्रोणाचार्य ने अर्जुन को रोक कर स्वयं सरकंडों के बाणों द्वारा गेंद को निकाल दिया । राजपुत्र द्रोणाचार्य से बहुत प्रभावित हुए —

'सबसस्मित हो गए और बोले जो कहिए ,
हमें इष्ट है, आप हमीं लोगों में रहिए ।
चलिए कृपया , पूज्य पितामह जहां हमारे ,
यों कह कर ले गए उन्हें वे राजकुमारे ।"[३]

---

१. जयभारत, द्रोणाचार्य, पृ०४७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,, ,,
३ ,, ,, पृ० ४८ ,,

भीष्म ने द्रोण का आदर सत्कार किया और द्रोण ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं भार्गव का शिष्य हूं। मैं धनुर्वेद में निष्णात हूं परन्तु द्विज होने के कारण वैभव से दूर और निर्धन हूं। मेरा पुत्र अश्वत्थामा है। एक दिन जब वह बालक था, दूध पीने के लिए मचल रहा था। परन्तु दूध मुझ निर्धन के पास कहां था? मेरी पत्नी ने उसे जौ के आटे को घोल कर दे दिया अश्वत्थामा उसी को दूध समझ कर पी गया। परन्तु मुझे ग्लानि ने आ घेरा। लज्जा और ग्लानि के कारण मैंने अपने बालपन के मित्र राजा द्रुपद के पास जाने की सोची। द्रुपद बचपन में मेरे पिता के आश्रम में आकर मेरे साथ खेले थे। मेरी पत्नी ने मुझे द्रुपद के पास जाने से रोका और कहा —

"नाथ! किन्तु हो जाय कहीं कुछ बात न वैसी,
स्वयं सोचिए, भूप-भिक्षु की मैत्री कैसी?[1]

द्रोण वे द्रुपद के पास गए किन्तु अपमानित हुए। द्रोण ने द्रुपद से कहा —

कर ले कुछ दिन और दर्प तू धन का कीड़ा।"[2]

यह कह कर द्रोण मानसिक पीड़ा लिए हुए हस्तिनापुर आ गए।

भीष्म ने द्रोणाचार्य की सम्पूर्ण कथा सुन कर कहा —

"आर्य हमारे भाग्य बड़े हैं,
स्वयं आज आचार्य-चरण जो यहां पड़े हैं।
बनें आप गुरुदेव, कुमारों को शिक्षा दें,
हम क्या देंगे, आप हमें उलटी भिक्षा दें।"[3]

द्रोण भीष्म की प्रार्थना को न टाल सके और अर्जुन के प्रति तो वे पहले ही आकृष्ट हो चुके थे। द्रोण ने अपनी गुरुदक्षिणा के लिए रत्नाभरणों की

---

१. जयभारत, द्रोणाचार्य, पृ० (तृतीय संस्करण) ५०
२. ,, ,, पृ० ५० ,,
३. ,, ,, पृ० ५० ,,

इच्छा नहीं प्रकट की, वरन द्रुपद से बदला लेने की इच्छा की –

" मेरी गुरुदक्षिणा नहीं रत्नाभरणों में,
बांध द्रुपद को शिष्य डाल दें इन चरणों में ।" [१]

भीष्म ने कहा कि 'आज्ञा दो तो पूर्ण करूँ यह इच्छा पहले ।' परन्तु द्रोण ने यही कहा – नहीं, आपके अस्ट योग्य यह कार्य नहीं है ।'

द्रोणाचार्य सभी राजपुत्रों के गुरु हो गए । यों तो सभी सुयोग्य थे, परन्तु अर्जुन सबसे अधिक तेज निकले । अंधेरे में भी ग्रास अभ्यास वश मुँह में ही जाता है, यह देख कर अर्जुन ने अंधेरे में शब्द-वेध भी करने का अभ्यास कर लिया । शस्त्रों के उपरान्त अन्य अस्त्र भी गुरु ने सिखलाए । अर्जुन के शस्त्र-कौशल को देखकर सबने जयजयकार किया । परन्तु दुर्योधन और भी ईर्ष्या करने लगा । गदा युद्ध में दुर्योधन के प्रतिद्वन्द्वी भीमसेन थे । उनके प्रति दुर्योधन की ईर्ष्या और भी बढ़ गई ।

'जयभारत' में वर्णित द्रोणाचार्य की कथा के मूल स्रोत महाभारत में मिलते हैं । महाभारत में द्रोण का द्रुपद से तिरस्कृत होकर हस्तिनापुर में आना, राजकुमारों से उनकी भेंट तथा भीष्म का उन्हें अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखने की कथा सविस्तार वर्णित है । द्रोण महर्षि भरद्वाज के पुत्र थे ।[२] भरद्वाज के एक मित्र थे पृषत नाम के राजा । उनका पुत्र द्रुपद भी द्रोण के लगभग साथ ही हुआ था । द्रुपद प्रतिदिन भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाकर द्रोण के साथ खेलता और अध्ययन करता था । बहुत समय पश्चात् पृषत की मृत्यु हो जाने पर द्रुपद ही पांचाल देश का राजा हुआ ।[3] इधर भरद्वाज मुनि के स्वर्गवासी हो जाने पर द्रोण पिता के ही आश्रम में रह कर तपस्या करने लगे । वे वेदों और वेदांग के विद्वान थे ।[४] उनके पिता भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओं में

---

१. जयभारत, द्रोणाचार्य, पृ० ५१ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १२६, श्लोक ३३-३८
३. ,, ,, ,, श्लोक ३३-३८ गीताप्रेस गोरखपुर

श्रेष्ठ थे उन्होंने द्रोण को आग्नेय अस्त्र की शिक्षा दी थी ।[१] द्रोण ने शरद्वान् की पुत्री कृपी से विवाह किया और उनके अश्वत्थामानामक पुत्र हुआ । द्रोण अपने आश्रम में ही रह कर धनुर्वेद का अभ्यास करते थे । उन्होंने सुना कि परशुराम इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं तथा वे विप्रवर ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं । द्रोण परशुराम से धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने के लिए उनके पास महेन्द्र पर्वत पर गए।[२] वहाँ पहुँच कर द्रोण ने परशुराम को अपना परिचय दिया और कहा कि आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहार-विधि सहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्रदान करें । परशुराम ने द्रोण को सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेद का भी उपदेश दिया ।[३] एक दिन गोधन के धनी ऋषिकुमार दूध पी रहे थे । उन्हें देखकर द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा दूध पीने के लिए मचल उठा और रोने लगा । पुत्र के रुदन से द्रोण की आंखों के सामने अंधेरा छा गया और वे अपने पुत्र के लिए एक गाय प्राप्त करने की इच्छा से दूर दूर गए । द्रोण उस ब्राह्मण से गाय लेना चाहते थे जिसके पास बहुत अधिक गायें हों क्योंकि कम गायों वाले ब्राह्मण से गाय ले लेने पर अग्निहोत्र आदि कर्मों में लगा हुआ वह ब्राह्मण दूध के बिना कष्ट में पड़ जाता । परन्तु एक देश से दूसरे देश घूमने पर भी उन्हें ऐसी गाय न मिल सकी । जब वे लौट कर आए तो देखा कि अश्वत्थामा को अन्य बालक आटे के पानी से ललचा रहे हैं और अश्वत्थामा उसी आटे के पानी को दूध समझ कर पिए जा रहा है । यह दृश्य देखकर द्रोण ने स्वयं को धिक्कारा और अपनी पत्नी तथा पुत्र को लेकर सहायता के लिए राजा द्रुपद के यहाँ गए ।[४] द्रोण अपने बालपन के मित्र , जो अब राजा हो चुके थे , उनसे मित्र की भाँति मिले । परन्तु द्रुपद ने द्रोण का बड़ा तिरस्कार किया ।[५] द्रोण अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर द्रुपद से बदला

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १२६, श्लोक ३३-३६ (गीताप्रेस, गोरख०)

२. ,, ,, अ० १२६ ,, ४४-५३ ,,

३. ,, ,, अ० १२६ ,, ६५९-६६ ,,

४. ,, ,, ,, १३० ,, ६२-७२ ५१-६० ,,

५. ,, ,, ,, श्लोक ६२ से ७२

लेने का विचार कर हस्तिनापुर चले आए ।[१] हस्तिनापुर पहुंचकर द्रोण कृपाचार्य के घर में गुप्त रूप से निवास करने लगे । वहां अनेक उनके पुत्र अश्वत्थामा कृपाचार्य के बाद पाण्डवों को अस्त्र विद्या की शिक्षा देने लगे पर कोई उनको पहचान न पाया ।[२] इस प्रकार द्रोण छिपकर हस्तिनापुर में रहने लगे । एक दिन कौरव और पाण्डव सभी मिल कर हस्तिनापुर से बाहर निकल कर बड़ी प्रसन्नता के साथ गुल्ली-डंडा खेलने लगे । एकाएक राजकुमारों की गीटा कुएं में गिर पड़ी । सब राजकुमार उस गीटा को निकालने का प्रयत्न सोचने लगे किन्तु कोई उपाय समझ में न आया । उसी समय राजकुमारों ने थोड़ी दूर पर एक वृद्ध ब्राह्मण (द्रोण) को बैठे देखा । वे उसे घेर कर खड़े हो गए । वृद्ध ब्राह्मण द्रोण ने कहा कि तुम सबको धिक्कार है कि तुम लोग भरत वंश में जन्म लेकर भी कुएं में से गुल्ली को नहीं निकाल पाते । देखो मैं अपनी इस अंगूठी और गुल्ली दोनों को सींकों से निकाल सकता हूं । तुम लोग मेरी जीविका की व्यवस्था करो । यह कह कर द्रोण ने उसी कुएं में अपनी अंगूठी भी डाल दी । फिर द्रोण ने मंत्रों से अभिमंत्रित सींकों द्वारा गीटा और अंगूठी को कुएं से बाहर निकाल लिया ।[३] राजपुत्र द्रोण से बहुत प्रभावित हुए और भीष्म जी के पास जाकर सब हाल बताया । कुमारों की बातें सुनकर भीष्म समझ गए कि वे द्रोणाचार्य हैं । फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारों के उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्म जी स्वयं ही आकर उन्हें आदरपूर्वक घर ले गए । भीष्म के पूछने पर द्रोणाचार्य ने हस्तिनापुर आने का कारण बताया ।[४] द्रोणाचार्य ने भीष्म से कहा कि द्रुपद द्वारा जो मेरा अपमान हुआ है उसका बदला मैं अपने शिष्यों द्वारा चाहता हूं । भीष्म ने कहा कि आप अब इन राजकुमारों के गुरु हो जाइए और राजकुमारों को धनुर्वेद तथा अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दीजिए । और आपने जो मांग की है उसे

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १३०, श्लोक १३ गीताप्रेस, गोरखपुर
२. ,, ,, ,, श्लोक १४,१५ ,,
३. ,, ,, ,, श्लोक १६-३३ ,,
४. ,, ,, ,, श्लोक ३५-३६

पूर्ण हुई समझिए ।[१]

सभी राजकुमार द्रोणाचार्य के शिष्य हो गए । एक दिन द्रोणाचार्य ने उनसे कहा कि अस्त्रविद्या प्राप्त कर लेने के पश्चात् तुम लोगों को मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी । इस विषय में तुम्हारे क्या विचार है, बताओ । आचार्य की यह बात सुनकर सभी कौरव चुप रह गए, परन्तु अर्जुन ने वह सब कार्य पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर ली । तब आचार्य ने बारम्बार अर्जुन का मस्तक सूंघा और उन्हें प्रेमपूर्वक हृदय से लगा कर आवेश में रो पड़े ।[२] इस प्रकार अर्जुन उनके प्रिय शिष्य भी हो गए । अर्जुन अभ्यास रत रहने से धनुर्वेद की जिज्ञासा, शिक्षा, बाहुबल और उद्योग की दृष्टि से उन सभी शिष्यों में श्रेष्ठ एवं आचार्य द्रोण की समानता करने योग्य हो गए । अर्जुन का अस्त्र-विद्या में बहुत अनुराग था, अतः वे सबसे बढ़-चढ़ कर निकले ।[३] अर्जुन अपने गुरु की सेवा-पूजा के लिए भी बहुत प्रयत्न करते थे । अस्त्रों के अभ्यास में भी उनकी बहुत लगन थी। इसीलिए वे द्रोणाचार्य के बड़े प्रिय हो गए । एक दिन अंधेरे में अर्जुन भोजन कर रहे थे । उन्होंने देखा कि अभ्यासवश उनका हाथ मुख के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं जाता । उसे अभ्यास का ही चमत्कार मानकर अर्जुन रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगे । द्रोण ने रात्रि में सोते समय अर्जुन के धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनी । वे उठकर अर्जुन के पास आए और अर्जुन को हृदय से लगा कर कहा कि मैं ऐसा प्रयत्न करूंगा कि जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो ।[४] उस समय द्रोण के दो शिष्य गदायुद्ध में सुयोग्य निकले--भीमसेन और दुर्योधन । ये दोनों सदा एक दूसरे के प्रति मन में क्रोध (स्पर्धा) से भरे रहते थे ।[५]

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अध्याय १३०, श्लोक ७४-७६
२. ,, ,, ,, १३१, श्लोक १३,१४
३. ,, ,, ,, ,, श्लोक २०,२४,२७
४. ,, ,, ,, ,, श्लोक २०,२४,२७
५. ,, ,, ,, श्लोक ४१

'जयभारत' में 'द्रोणाचार्य' शीर्षक से दी गई द्रोणाचार्य की अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत सम्भव-पर्व में अध्याय १२६ से अध्याय १३१ तक विस्तार पूर्वक वर्णित है।

जयभारतकार ने इस कथा में महाभारत की कथा से थोड़ा परिवर्तन किया है। कुएं में अंगूठी गिरने की घटना को कवि ने छोड़ दिया है। महाभारत में भीष्म द्रोण को लेने आते हैं, पर जयभारत' में द्रोण राजकुमारों के सामने जाते हैं।[१] जयभारत' में द्रुपद की कथा भी संक्षेप में वर्णित है। शस्त्र शिक्षा का संक्षेप करके अर्जुन की वीरता और कौशल को प्रधानता दी गई है।

संवाद शैली में द्रोण का दारिद्र्य, द्रुपद के साथ वैर भाव, तथा आजीविका के लिए पर्यटन करने की कथा निरूपित हुई है। कवि ने द्रोण की सरलता और प्रतिकार भावना को इस उक्ति में व्यक्त करवाया है :-

" मेरी गुरुदक्षिणा नहीं रत्नाभरणों में,
बांध द्रुपद को शिष्य डाल दें इन चरणों में।"[२]

७. एकलव्य-

'जयभारत' में 'एकलव्य' की भी कथा वर्णित है। द्रोणाचार्य की प्रशंसा सुन-सुन कर अन्य बहुत से राजा आदि उनके शिष्य हो गए। मनमुटाव के कारण कौरवों और पाण्डवों के अलग-अलग दल हो गए थे। एक दिन वनचारी व्याध-कुमार एकलव्य द्रोणाचार्य का शिष्य बनने उनके समीप आया। उसने द्रोणाचार्य को अपना परिचय दिया —

" देव, दास ग्रामीण भी नहीं, वनचर व्याध-कुमार,
सहज असंस्कृत, नहीं जानता नागर शिष्टाचार।
तब भी बैठन एकलव्य जन रखता है निज चित्त,
लाया वही मुझे चरणों में लक्ष्य-निपात-निमित्त।"[३]

---

१. महाभारत, आदि पर्व संभव पर्व, अ० १३० (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. जयभारत, द्रोणाचार्य, पृ० ५१ (द्वितीय संस्करण)

परन्तु द्रोणाचार्य ने उसे अपना शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया और कहा —

" स्वस्ति", द्रोण ने कहा —" किन्तु है धनुर्वेद भी वेद ,
वत्स, नहीं अधिकारी इसके अराजन्य तुम, खेद ।"[१]

एकलव्य ने पुन: प्रार्थना की, और कहा —

" गुरुवर , नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वर का अंश ?
और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनु-वंश ?"[२]

द्रोणाचार्य ने एकलव्य को पुन: समझाया और लक्ष्यभ्रष्ट न होने का आशीर्वाद दिया —

" वत्स भिन्न किन्तु हम सबके हैं गुण-कर्म-स्वभाव ,
तो भी लक्ष्यभ्रष्ट न हो तुम, लो असीस, घर जाव ।"[३]

एकलव्य द्रोणाचार्य के आशीर्वाद से ही सन्तुष्ट हो कर वन को लौट गया—

" फिर भी मुझे असीस बहुत है " करके पुन: प्रणाम,
युवक धीर गति से गर्वित ही लौट गया वन धाम ।
मानी होकर भी विनीत था एकलव्य चुपचाप ,
अकृतकृत्य होकर भी मन में उसका हुआ व न ताप ।"[४]

एकलव्य ने सोचा कि यदि मुझमें सच्ची निष्ठा है तो गुरु की प्रतिमा बनाकर उसी के सम्मुख अभ्यास करके धनुर्वेद को प्राप्त कर लूंगा । अनन्तर उसने वन में ही द्रोणाचार्य की प्रतिमा बना ली और उसी से प्रेरणा लेकर धनुर्वेद को प्राप्त करने लगा ।

एक दिन प्रात: कौरव और पाण्डव मृगया के लिए उसी वन में गए । उनका एक श्वान एकलव्य की ओर चला गया और भूंकने लगा । एकलव्य

---

१. जयभारत, पृ० ५३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,,
४. ,, ,, पृ० ५४ ,,

ने उसकी भक्ति देखकर उसके मुख में बाण भर दिये। तब वह श्वान दुम दबा कर राजपुत्रों के समीप आया। उसके मुख में बाणों को देखकर राजपुत्र चकित से रह गए —

" ऐसा धन्वी कौन ?" पार्थ ने कहा खींच कर आह,
दुर्योधन के मुख से निकली वही आह बन वाह।" [१]

राजपुत्र एकलव्य के समीप गए और उसका परिचय पूछा। एकलव्य ने स्वयं को द्रोणाचार्य का शिष्य बताया।

राजपुत्र उसका परिचय प्राप्त करके लौट आए। अर्जुन को एकलव्य धनुर्विद्या का कौशल देखकर एक धक्का सा लगा। वह सोचने लगा —

" एक धनुर्धरता की मेरी पूरी हुई न साध,
शेष प्रतिद्वन्द्वी है अब भी, वह भी वन का व्याध।" [२]

अर्जुन ने एकलव्य का सब समाचार द्रोणाचार्य को दिया। द्रोणाचार्य एकलव्य की विलक्षण साधना देखने स्वयं गए। एकलव्य द्रोणाचार्य को देख कर प्रसन्न हो उठा और उसने कहा --

" आज भक्त के यहाँ कहाँ से भूल पड़े भगवान् ?
मेरा सबकुछ स्वयं आपका, मैं क्या करूँ प्रदान ?" [३]

द्रोणाचार्य ने कहा —

" मैं उपलक्ष्य मात्र, साधा है लक्ष्य तुम्हीं ने आप,
गुरु-दक्षिणा न देने का हो तब भी तुम्हें न ताप।"

द्रोणाचार्य ने एकलव्य का अँगूठा देखना चाहा। एकलव्य ने बिना विलम्ब अपना अँगूठा काट कर गुरु को गुरुदक्षिणा के रूप में दे दिया। द्रोणा-

---

१. जयभारत, पृ० ५४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ५५ ,,
३. ,, ५५ ,,

चार्य जड़ीभूत से रह गए । उनकी आँखों में अश्रु आ गए और कंठ स्नेहवश अव-रुद्ध हो गयी । उन्होंने अर्जुन को हृदय से लगाकर कहा—

" धनुर्धनी दानी भी तुम-सा नहीं दीखता अन्य ,
नाम मात्र का गुरु होकर भी मैं हूं तुमसे धन्य ।"[1]

यह सब समाचार पाकर दुर्योधन एकलव्य के पास पहुंचे और बोले —

" अर्जुन के कारण ही तुम पर हुई अनीति,
तुमको अपना बंधु मानकर करता हूं मैं प्रीति ।"[2]

परन्तु एकलव्य ने कहा —

" अनुगृहीत हूं, इस करुणा पर क्रीत न होगा कौन ?
वैसा धन्वी नहीं आज मैं, तदपि — " हुआ वह मौन ।"[3]

युधिष्ठर से नकुल ने कहा कि देखो दुर्योधन ने एकलव्य से मित्रता की है । युधिष्ठिर ने कहा कि यदि इस मित्रता में उदारता होती तो मैं धन्य कहता, परन्तु इसमें तो कोरा स्वार्थ है । दुर्योधन को हमसे आगे चल कर युद्ध करना है इसी से वह अपना बल बना रहा है । एकलव्य के प्रति प्रेम के कारण नहीं, वरन हमसे द्वेष के कारण वह एकलव्य से मित्रताकरना चाहता है ।

'जयभारत' में वर्णित यह अन्तर्कथा विस्तार पूर्वक महाभारत में मिलती है । द्रोणाचार्य का अस्त्र कौशल जानकर सहस्त्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिए वहां एकत्रित हो गए । एक दिन निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास आया , परन्तु उसे निषादपुत्र समझ कर द्रोणाचार्य ने धनुर्विद्या के लिए अपना शिष्य नहीं बनाया । कौरवों की ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया ।[4] एकलव्य ने द्रोणाचार्य के चरणों

---

१. जयभारत, पृ० ५६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ५७ ,,
३. ,, पृ० ५७ ,,
४. ,, महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अध्याय १३१, श्लोक ३०-३२ (गीताप्रेस गोरखपुर)

में मस्तक रखकर प्रणाम किया और वन में लौट कर उनकी मिट्टी की मूर्ति बनाई तथा उसी में आचार्य की परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया । एकलव्य ने बाणों के छोड़ने, लौटाने और संधान करने में बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली ।[१] एक दिन समस्त कौरव और पांडव आचार्य द्रोण की अनुमति से रथों पर बैठकर शिकार खेलने के लिए निकले । उनके साथ में एक श्वान भी था । वह श्वान घूमता हुआ एकलव्य के पास जा पहुँचा और भौंकने लगा । यह देख कर भील बालक एकलव्य ने अपने अस्त्रलाघव का परिचय देते हुए उस श्वान के मुख में एक साथ ही सात बाण मारे । श्वान उसी अवस्था में पाण्डवों के पास आया । पाण्डव बाण मारने की कुशलता को देखकर लज्जित हुए और बाण मारने वाले की प्रशंसा करने लगे ।[२] पाण्डव एकलव्य के समीप गए और उसका परिचय पूछा । एकलव्य ने कहा - कि मैं निषादराज हरिण्यधनु का पुत्र और द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ । मैंने धनुर्वेद में बहुत परिश्रम किया है ।[३]

पाण्डव एकलव्य का परिचय पाकर लौट आए और सब समाचार द्रोणाचार्य को सुनाया । अनन्तर अर्जुन ने द्रोणाचार्य से एकान्त में कहा कि जब आपने मुझ अकेले को हृदय से लगाकर बड़ी प्रसन्नता से यह बात कही थी कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा , फिर आपका यह अन्य शिष्य निषादराज का पुत्र अस्त्रविद्या में मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोक से भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ ?[४] आचार्य दो घड़ी तक कुछ सोचते रहे, फिर कुछ निश्चय करके अर्जुन को अपने साथ लेकर एकलव्य के पास गए । एकलव्य ने आचार्य द्रोण को समीप आते देख आगे बढ़ कर उनकी अगवानी की और उनके दोनों

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभव पर्व, अ० १३१, श्लोक ३३-३५

२. ,, ,, ,, श्लोक ३६-४२

३. ,, ,, ,, श्लोक ४४,४५

४. ,, ,, ,, श्लोक ४६-४६

चरण पकड़ कर अपना माथा टेक दिया । तब द्रोणाचार्य ने कहा कि वीर ! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरुदक्षिणा दो ।" यह सुन कर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ बोला कि मैं आपको क्या दूं ? आप ही मुझे बताइये और आज्ञा दीजिए । मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो गुरु के लिए अदेय हो । तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा-" तुम मुझे दाहिने हाथ का अंगूठा दे दो ।" गुरु की यह आज्ञा सुनते ही एकलव्य ने बिना कुछ सोच-विचार किए अपना दाहिना अंगूठा काट कर द्रोणाचार्य को दे दिया । द्रोणाचार्य एकलव्य को सत्यप्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने संकेत से उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से बाण पकड़ कर किस प्रकार धनुष की डोरी खींचनी चाहिए ।[1]

इस घटना से अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए । उनकी भारी चिंता दूर हो गई । द्रोणाचार्य का भी वह कथन सत्य हो गया कि अर्जुन को दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता ।[2]

एकलव्य की अन्तर्कथा महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत संभव पर्व में १३१ वें अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णित है । जयभारतकार ने 'एकलव्य' की कथा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया है । वंश भेद के कारण एकलव्य की प्रार्थना को द्रोणाचार्य ने अस्वीकार कर दिया । परन्तु एकलव्य ने गुरुभक्ति का चरम रूप उपस्थित किया । प्रस्तुत अन्तर्कथा में कवि ने मानवतावाद की स्थापना की है । व्याधपुत्र एकलव्य का चरित्रांकन करते समय कवि ने इस बात का बड़ी सतर्कता से ध्यान रखा है कि जन्मजाति का आरोप कहीं इसके चरित्रगत गुणों को आवृत न कर ले । समाज द्वारा निर्मित भेद भाव का खंडन कवि करता है । एकलव्य ने तो स्पष्ट रूप से गुरु द्रोणाचार्य से यही जिज्ञासा प्रकट की है

गुरुवर नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वरता का अंश,
और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनु वंश ।"

इस प्रकार युगधर्म के साथ कवि ने' मानवतावाद' की व्यापक दृष्टिकोण से स्थापना की है ।

प्रस्तुत अन्तर्कथा में युधिष्ठिर भी मानव मात्र को ही परमात्मा का को मानते हुए कहते हैं-

---

१. महाभारत, आदि पर्व संभवपर्व, अ० १३१, श्लोक ५०
२.

"हो शरीर-यात्रा में आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा के अंश रूप हैं आत्मा सभी समान,
एकलव्य तो मनुज मुझ-सा मुझ में सबका भाग,
मैं गुरपुर में भीम रहूँगा निज कुकर तक त्याग।"[१]

यहाँ युधिष्ठिर के चरित्र की उच्चाशयता भी व्यंजित हुई है तथा उनकी मानवता की भावना भी व्यक्त हुई है।

इस खंड में एकलव्य का चरित्रोत्कर्ष व्यक्त हुआ है। इसके प्रभाव के फलस्वरूप द्रोण, अर्जुन और दुर्योधन का चरित्रापकर्ष भी व्यंजित हुआ है।

८. परीक्षा—

'जयभारत' में गंगा के जल में अर्जुन द्वारा द्रोणाचार्य को मगर से बचाये जाने की अन्तर्कथा वर्णित है। एक समय शिष्यों के साथ द्रोणाचार्य गंगा में स्नान के लिए गए। इतने में गुरु चिल्ला उठे —" अरे मगर सा खींच रहा है मुझको तल में।" सब शिष्य गुरु की चीत्कार सुनकर जड़ीभूत रह गए और घबरा गए। परन्तु अर्जुन ने साध कर पाँच तीर चलाये जिससे मगर ने गुरु को ही नहीं छोड़ दिया, वरन मगर के प्राण भी समाप्त हो गए। तब अर्जुन को दिव्यायुध का पुरस्कार प्राप्त हुआ।

इस प्रकार जब शिष्यों की शिक्षा-दीक्षा पूरी हो गई तो उनकी परीक्षा का आयोजन किया गया। परीक्षा के लिए रंगभूमि को भाँति-भाँति से सजाया गया। धृतराष्ट्र ने दुखी होकर कहा कि आँखों के बिना हम देख नहीं सकेंगे। परन्तु गान्धारी ने कहा -- श्रवण ही बहुत हमारे।" रंगभूमि में राजा-प्रजा नर-नारी, प्रजा आदि सब एकत्र हो गए तब शिष्यों के साथ द्रोणाचार्य वहाँ आए। विप्रों ने शंख ध्वनि के साथ पूजन किया। परीक्षा हुई और धर्मराज को महारथी माना गया, अश्वत्थामा सुयोग्य गुरु पुत्र माने गए। खड्गों के कौशल में सहदेव और नकुल श्रेष्ठ सिद्ध हुए। भीम दुर्योधन गदा-चलाने में प्रमुख रहे। उनमें आपस में एक दूसरे से आगे बढ़ने की स्पर्द्धा होने लगी। खेल-खेल में ही भीम और दुर्योधन में लड़ाई भी हो गई परन्तु कृपाचार्य

---

१ जय भारत, एकलव्य, पृ० ५७-५८ (द्वितीय संस्करण)

ने बीच में पड़ कर झगड़ा शान्त किया । तभी वहां अपने बाणों का कौशल दिखाने के लिए अर्जुन आए । अर्जुन ने भांति भांति से अपने बाणों का कौशल दिखलाया । आग्नेय अस्त्रों की आग देख कर सब लोग अवाक् रह गए । अर्जुन ने वरुणास्त्र और वायव्य अस्त्र का भी कौशल दिखाया । अब अर्जुन दुर्योधन के आंख के कांटे ही बन गए । लोगों ने अर्जुन की प्रशंसा की और कहा--

" धन्य धनंजय, मिला तुम्हें जो तुमने चाहा,
कितना गौरव-भरा हस्तलाघव है आहा ।"[1]

इसी समय एक ओर से अचानक शोर उठा कि –

" अर्जुन ने तो किया, कर्ण भी कर सकता है,
द्वन्द्व हेतु भी नहीं किसी से डर सकता है ।"[2]

अर्जुन ने क्रोधित होकर कहा –

" सूत सुत, आगे आ जा ,
औरों को क्या, मुझे शस्त्र-कौशल दिखला जा ।
मुझे द्वन्द्व के लिए पुकारित करने वाला,
डरने वाला न हो किन्तु है मरने वाला ।"[3]

कर्ण ने भी अर्जुन के ललकारने पर सिंह के समान गरज कर कहा –

" निर्णायक है यहां एक यमराज हमारा ।"[4]

कुंती दोनों ओर अपने ही पुत्रों के जीवन को संकट में देखकर मूर्च्छित हो गईं । परन्तु विदुर ने उन्हें सम्भाला इसी समय कृपाचार्य ने कर्ण से कहा कि तुम परिचय दो कि तुम कौन हो ? कर्ण ने कहा कि मेरे पिता सारथी हैं परन्तु मैं तो महारथी हूं । कृपाचार्य ने कहा कि यहां तो राजपुत्रों की ही परीक्षा हो रही है, तुम सूत पुत्र होकर कैसे इसमें भाग ले सकते हो –

---

१. जयभारत, परीक्षा, पृ० ६२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ६३ ,,
३. ,, पृ० ६३ ,,
४. ,, पृ० ६३ ,,

" सूतपुत्र ने किसी भाँति पाई हो दीक्षा,
किन्तु यहाँ तो राजपुत्र दे रहे परीक्षा ।"[१]

इस पर दुर्योधन ने कहा कि " देता हूँ अंग राज्य अभी कर्ण को ।" भीम ने उसका विरोध किया और कहा –

" पर देने के पूर्व भीम से पूछ न लोगे ?
स्वयं तुम्हारा राज्य कहाँ, जो तुम दे दोगे ?"[२]

यह कह कर भीम ने गदा उठाई ही थी कि इतने में अधिरथ कर्ण से आकर लिपट गया और उसने कर्ण को शान्त किया । तब भीमसेन ने ही कर्ण से कहा –

" यही ठीक है, धनुष छोड़कर कोड़ा फाँको,
राजा तो बन चुके, चलो अब घोड़ा हाँको ।"[३]

इस प्रकार कोलाहल के बीच वह उत्सव समाप्त हो गया ।

कौरवों पाण्डवों की शस्त्र परीक्षा तथा मगर से अर्जुन द्वारा गुरु द्रोणाचार्य को बचाए जाने की अन्तर्कथा महाभारत में विस्तार सहित वर्णित है ।

किसी समय आचार्य द्रोण अपने शिष्यों के साथ गंगा में स्नान करने गए । वहाँ जल में एक ग्राह ने द्रोणाचार्य की पिंडली पकड़ ली । वे आप को छुड़ाने में समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाए हुए अपने सभी शिष्यों से बोले कि इस ग्राह को मार कर मुझे बचाओ । उनके इस आदेश के साथ ही अर्जुन ने अमोघ तीखे बाणों द्वारा पानी में डूबे हुए उस ग्राह पर प्रहार किया । अन्य राजकुमार चकित होकर अपने-अपने स्थानों पर ही खड़े रह गए । इससे

---

१. जयभारत, परीक्षा, पृ० ६४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ६४ ,,
३. ,, ,, पृ० ६४ ,,

द्रोणाचार्य बहुत प्रसन्न हुए । अर्जुन के बाणों से ग्राह के टुकड़े-टुकड़े हो गए थे । वह द्रोण की पिंडली छोड़ कर मर गया था । तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन को ब्रह्मशिर नामक अस्त्र दिया और उसका प्रयोग भी बताया । द्रोण ने अर्जुन से पुनः यह कहा कि संसार में दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर नहीं होगा

जब द्रोणाचार्य ने देखा कि पाण्डव तथा कौरव अस्त्र विद्या की शिक्षा समाप्त कर चुके तो उन्होंने विदुर तथ धृतराष्ट्र आदि से परामर्श करके अपने शिष्यों की अस्त्र-संचालन की कला का प्रदर्शन करवाने का प्रबंध करवाया ।[2] रंग-भूमि में राजभवन से सब लोग धृतराष्ट्र गांधारी, तथा समस्त जनता एकत्रित हो गई । वहां द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ आए । फिर सभी राज-कुमार शस्त्र-प्रदर्शन के लिए तैयार होकर आए । अनन्तर वहां राजपुत्रों ने अपने कौशल का प्रदर्शन आरंभ किया ।[3] भीम और दुर्योधन अपने अपने हाथों में गदा लेकर रंगभूमि में आए । दोनों ने अपना-अपना चमत्कार दिखला रहे थे । उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपात पूर्ण स्नेह के कारण मानो दो दलों में बंट गई थी । कुछ लोग दुर्योधन की प्रशंसा करते और कुछ भीमसेन की । द्रोणा-चार्य को शंका हुई कि कहीं भीमसेन और दुर्योधन को लेकर रंगभूमि में सब ओर क्रोध न फैल जाय अतः उन्होंने अश्वत्थामा के द्वारा उन दोनों का युद्ध रुकवा दिया ।[4] तत्पश्चात् अर्जुन अपना शस्त्र कौशल दिखाने के लिए रंगभूमि में उतरे । चारों ओर से अर्जुन की प्रशंसा का कोलाहल होने लगा । अर्जुन ने पहले शस्त्र संचालन की फुर्ती दिखलानी आरंभ की । उन्होंने पहले आग्नेयास्त्र से अग्नि उत्पन्न की । फिर वरुणास्त्र से जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया । फिर वायव्यास्त्र से आंधी चला दी और पर्जन्यास्त्र से बादल पैदा कर दिए । उन्होंने भौमास्त्र से पृथ्वी और पर्वतास्त्र से पर्वतों को उत्पन्न कर दिया, फिर अन्त-र्धानास्त्र के द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गए । वे क्षण भर में बहुत लम्बे हो जाते

---

१. महाभारत आदि पर्व, संभव पर्व, अ० १३२, श्लोक ११-२२
२. ,, ,, ,, १३३ श्लोक १-१४
३. ,, ,, ,, १३३ श्लोक २४-२६
४. ,, ,, ,,१३४ ,, १८-२१

और आकाश में ही बहुत छोटे बन जाते । एक क्षण में रथ के धुरे पर खड़े होते तो दूसरे क्षण रथ के बीच में दिखाई देते थे । फिर पलक मारते ही पृथ्वी पर उतरकर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे ।[१]

इसी समय बड़े शोर के साथ रंगभूमि में कर्ण ने प्रवेश किया ।[२] उसने रंगभूमि में प्रवेश कर अर्जुन से कहा कि है कुंती नंदन ! तुमने इन दर्शकों के सामने जो कार्य किया है मैं उससे भी अद्भुत कार्य करके दिखाऊंगा । अत: तुम अपने पराक्रम पर गर्व न करो । उस समय दुर्योधन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुन के मन में क्रोध और लज्जा का संचार हो गया ।[३] तब कर्ण ने द्रोणाचार्य से आज्ञा लेकर वह सब कौशल कर दिखाया जो जो अर्जुन ने दिखाया था । इससे दुर्योधन प्रसन्न हो उठे और आगे बढ़ कर कर्ण को हृदय से लगा लिया । साथ ही कहा कि मैं तथा कौरवों का यह राज्य सब तुम्हारे हैं । तुम इनका यथेष्ठ उपभोग करो ।[४] अर्जुन, स्वयं को तिरस्कृत सा समझ कर कर्ण को ललकारा और कहा कि हे कर्ण बिना बुलाए आने वालों और बिना बुलाये बोलने वालों को जो लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जाने पर तुम उन्हीं लोकों में जाओगे । कर्ण ने भी अर्जुन को ललकार कर कहा कि साहस हो तो बाणों से बातचीत करो । मैं आज तुम्हारे गुरु के सामने ही बाणों द्वारा तुम्हारा सिर धड़ से अलग किए देता हूं ।[४] अनन्तर द्वन्द्व युद्ध के लिए प्रस्तुत हुए । रंगभूमि के पुरुषों और स्त्रियों में भी कर्ण और अर्जुन को लेकर दो दल हो गए । कुंती दोनों ओर से संकट देखकर मूर्च्छित हो गई । तब विदुर जी ने उन्हें सचेत किया ।[५] कर्ण और अर्जुन दोनों को युद्ध के लिए

---

१. महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अ० १३४, श्लोक १८-२१
२. ,, ,, अ० १३५, श्लोक १
३. ,, ,, अ० १३५, श्लोक ८-११
४. ,, ,, अ० १३५, श्लोक १८-२०
५. ,, ,, अ० १३५ , ,, २१- २८

लिए तत्पर देखकर कृपाचार्य ने कर्ण से कहा कि ये कुन्ती नंदन कुरुवंशी, पाण्डु के सबसे छोटे पुत्र अर्जुन हैं जो कि तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे । अब तुम भी अपने माता-पिता तथा कुल का परिचय दो और उन नरेश के नाम बतलाओ जिनके वंश में तुम हो । इस जान लेने के बाद यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे कि नहीं, क्योंकि राजकुमार नीच-कुल और हीन आचार वालों लोगों के साथ युद्ध नहीं करते ।' यह बात सुनकर कर्ण का मुख लज्जा से नीचे झुक गया । तब दुर्योधन ने कहा कि यदि अर्जुन राजा से भिन्न पुरुष के साथ रणभूमि में लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्ण को इसी समय अंगदेश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूं और दुर्योधन ने धृतराष्ट्र और भीष्म की आज्ञा लेकर ब्राह्मणों द्वारा अभिषेक का सामान मंगवाया । उसी समय ब्राह्मणों ने कर्ण का राज्याभिषेक कर दिया । कर्ण ने अपने अभिषेक से प्रसन्न होकर दुर्योधन से कहा कि आपने जो मुझे यह राज्य प्रदान किया है तो इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट करूं ? यह सुन कर दुर्योधन ने कहा कि मैं आपसे ऐसी मित्रता चाहता हूं, जिसका कभी अंत न हो । तब कर्ण ने 'तथास्तु' कह कर उसके साथ मैत्री कर ली ।[१] इसी समय अधिरथ कर्ण को पुकारता हुआ वहां आया । अधिरथ को देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गए कि कर्ण सूत पुत्र है । भीम ने कर्ण से कहा कि हे सूतपुत्र तू तो अर्जुन के हाथ से मरने योग्य भी नहीं है । तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथ में ले लेनी चाहिए । क्योंकि यही तेरे कुल के अनुरूप है । तू अंगदेश का राज्य भोगने योग्य भी नहीं है ।[२] इस पर दुर्योधन ने भीमसेन से वाद-विवाद किया और भीम को युद्ध के लिए ललकारा । चारों ओर हाहाकार सा मच गया । उसी समय सूर्य भी अस्त हो गए । तब दुर्योधन कर्ण के हाथ की उंगली पकड़ कर मशाल की रोशनी करके उसे रंग भूमि से बाहर ले आया । तब समस्त पाण्डव भी द्रोण, कृपाचार्य और

---

१. महाभारत आदि पर्व, संभव पर्व, अ० १३५, श्लोक ३०-४१
२. ,, ,, अ० १३५ श्लोक ६-७

भीष्म जी के साथ अपने अपने निवास स्थान को चल दिए । उस समय दर्शकों में से कोई अर्जुन की, कोई कर्ण की और कोई दुर्योधन की प्रशंसा करते हुए चले जा रहे थे ।[१]

'जयभारत' में वर्णित 'परीक्षा' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदि पर्व के अन्तर्गत सम्भव पर्व में अध्याय १३२ से अध्याय १३५ तक उपलब्ध होते हैं । 'जयभारत' के अन्तर्गत 'परीक्षा' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा में महाभारत की घटनाओं का यथावत चित्रण किया गया है । सब राजकुमारों ने पृथक-पृथक रूप से शस्त्र कौशल दिखाया । मुख्य रूप से अर्जुन और कर्ण का प्रसंग वर्णित किया गया है । कर्ण को अंगराज बनाया गया । इस अवसर पर गुप्त जी ने सांकेतिक रूप में कर्ण के जन्म, परशुराम से शिक्षा, तथा भाग्यहीनता का वर्णन चार पंक्तियों में किया गया है । 'महाभारत' में कर्ण को विधि पूर्वक अंग-राज्य प्रदान किया गया है परन्तु , 'जयभारत' में बीच में ही भीम के बोलने और अधिरथ के आ जाने से यह प्रसंग रुक जाता है । 'जयभारत' में गुप्त जी ने युधिष्ठिर के चारित्रिक उत्कर्ष को दिखाने के लिए नकुल और युधिष्ठिर की वार्ता भी नियोजित की है । 'महाभारत' में यह प्रसंग नहीं है ।

८. याज्ञसेनी -

'जय भारत' के अन्तर्गत 'याज्ञसेनी' शीर्षक से जो अन्तर्कथा दी गई है उसमें द्रोण का राजपुत्रों को गुरुदक्षिणा के रूप में द्रुपद को बंदी बनाकर लाने का आदेश, अर्जुन द्वारा द्रुपद को पकड़ना और द्रोणाचार्य के सम्मुख उन्हें ला पहुँचाने की कथा वर्णित है । द्रोणाचार्य ने कर्ण और अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए कहा कि मेरे सम्मुख गुरुदक्षिणा के रूप में द्रुपद को लाकर उपस्थित करो । कौरव और पाण्डव दोनों ही युद्ध के लिए तैयार होकर चले ।

---

१ महाभारत, आदि पर्व, संभव पर्व, अध्याय,१३५, श्लोक १०-२२

कौरव तो द्रुपद को बंदी न बना सके परन्तु अर्जुन ने गुरु-चरणों में द्रुपद को लाकर उपस्थित कर दिया । द्रोणाचार्य को द्रुपद पर दया आ गई । परन्तु उन्होंने द्रुपद द्वारा किये हुए अपने अपमान को सोचकर द्रुपद से कहा

> " मैत्री होती है समान से," द्रुपद तुम्हारी ही यह उक्ति,
> इससे अर्द्ध राज्य लेकर ही देता हूँ मैं तुमको मुक्ति ।"
> बचपन का साथी न सही, मैं एक अतिथि तो आया था,
> तुम दानी भी हो न सके, मैं याचक बन कर आया था ।"[1]

द्रुपद के मन में ईर्ष्या जाग्रत हो गई, परन्तु अपने मनोभावों को छिपाकर उन्होंने कहा -

> " विजयी आप, विजित मैं, मेरी आज आपसे क्या समता ?
> फिर भी शिरोधार्य है मुझको क्षेमंकरी क्षमा-क्षमता ।"[2]

अब द्रुपद के मन में द्रोणाचार्य तथा पाण्डवों से बदला लेने की भावना जागृत हुई । वे सोचने लगे -

> " धिक मेरे क्षत्रिय होने को, यदि मैं यह अपमान सहूँ,
> इसका कुछ प्रतिकार न करके, जीते जी चुप बैठ रहूँ ।
>
> × ×
>
> मैं भी ब्राह्मण का बल लेकर काढूं कांटे से कांटा ,
> धन अब भी साधन है मेरा, जिसने जन से जन बांटा ।

द्रुपद मन में ऐसा निर्णय करके तपस्वियों के पास वन में चले -

> " यज्ञहीन यह सोच वैश्य की वणिकवृत्ति रखकर मन में ,
> अर्थ-सिद्धि के लिए नगर से गया तापसों के वन में ।
> बनना पड़ा शुद्ध सेवक भी उसको उपयाचक मुनि का,
> एक पतन के साथ दूसरा औरों का क्या, धुर धुनि का ।"[2]

---

१. जयभारत, याज्ञसेनी, पृ० ६६, (द्वितीय संस्करण)

२. ,, ,, पृ० ६६ ,,

३. पृ० ६७

तपस्वी द्रुपद से संतुष्ट हुए परन्तु द्रुपद से पूरी बात सुनकर वे बोले -

' पहले किसने दर्प दिखाया, सोचो हे भावुक भोले ।
तुमने जो कुछ किया उसी का दिया द्रोण ने विनिमय तात ।
करके अब फिर घात आप ही उपजाते हो तुम प्रतिघात ।
वैर करो तो वैरी होंगे प्रिय नमनो क्यों करके प्रेम ?
अपना क्षेम तभी संभव है, जब हो औरों का भी क्षेम ।'[१]

अनन्तर यज्ञ मुनि की सहायता से राजा द्रुपद को यज्ञ के द्वारा धृष्ट-द्युम्न नामक पुत्र और कृष्णा नामक पुत्री प्राप्त हुई । अब द्रुपद को यह विश्वास हो गया कि मेरा यह पुत्र मेरे शत्रुओं से बदला ले लेगा ।

द्रोणाचार्य ने द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न को अर्जुन के समान धन्वी बनाया, मानो आधे राज्य का बदला चुका दिया ।

' जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों को अस्त्र विद्या में निपुण हुआ देखकर कुछ सोचकर और सब शिष्यों को बुलाकर कहा कि पांचालराज द्रुपद को युद्ध में कैद करके मेरे पास ले आओ । यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी । सभी राज-कुमार युद्ध के लिए उद्यत होकर रथों में बैठकर गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए आचार्य द्रोण के साथ वहाँ से चले । कौरवों के दल ने पहले पराक्रम दिखाने के लिए द्रुपद राज्य पर आक्रमण कर दिया ।[२] कौरवों तथा अन्य राजकुमारों को अपने बल का बड़ा घमंड था । इसलिए अर्जुन ने द्रोणाचार्य से कहा कि इनके पराक्रम दिखाने के पश्चात् हम लोग आक्रमण करेंगे । हमारा विश्वास है कि कौरव आदि युद्ध में पंचालराज को बंदी नहीं बना सकते । अत: अर्जुन अपने भाइयों सहित नगर से बाहर ही ठहर गए ।[३] राजा द्रुपद और कौरवों

---

१. जयभारत, यज्ञसेनी, पृ० ६७ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, आदि पर्व, संभवपर्व, अ० १३७, श्लोक १-७ गीताप्रेस, गोरखपुर
३. ,, ,, अ० १३७ ,, १२-१४ ,,

का युद्ध हुआ । इस युद्ध में कौरवों की मात हुई ।[१] जब पाण्डवों को यह सूचना मिली तो अर्जुन युद्ध के लिए चल पड़े । उन्होंने युधिष्ठिर को युद्ध करने से रोक दिया । अर्जुन ने नकुल और सहदेव को अपने रथ के पहियों का रक्षक बनाया तथा भीमसेन हाथ में गदा लेकर आगे चले । अर्जुन ने द्रुपद से घोर युद्ध किया ।[२] अन्त में द्रुपद के रथ पर चढ़ कर निर्भीक अर्जुन ने द्रुपद को पकड़ लिया ।[३] तब पाण्डवों ने यज्ञसेन द्रुपद को मंत्रियों सहित संग्रामभूमि में बंदी बना कर द्रोणाचार्य को उपहार के रूप में दे दिया । द्रुपद का अभिमान चूर-चूर हो चुका था । तब द्रोणाचार्य ने पहले वैर का स्मरण कर राजा द्रुपद से कहा कि मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राज्य को रौंद डाला है । अब भी तुम पुरानी मित्रता चाहते हो क्या ? परन्तु भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है । हम क्षमाशील ब्राह्मण हैं । तुम मेरे बचपन के साथी हो । मैं पुन: तुमसे मैत्री के लिए प्रार्थना करता हूं । मैं तुम्हें वर देता हूं , तुम इस राज्य का आधा भाग मुझसे ले लो । द्रोण ने पुन: कहा कि तुमने कहा था जो राजा नहीं है, वह राजा का मित्र नहीं हो सकता, इसीलिए मैंने तुम्हारा राज्य लेने का प्रयत्न किया है । अब गंगा के दक्षिणी प्रदेश के राजा तुम और उत्तर के भू-भाग का राजा मैं हूं । हे पांचाल ! यदि अब भी उचित समझो तो मुझे मित्र मानो ।[४] द्रोणाचार्य की बातें सुनकर द्रुपद ने कहा कि ब्रह्मन् ! आप जैसे पराक्रमी महात्माओं में ऐसी उदारता का होना आश्चर्य की बात नहीं है । मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूं और आपके साथ सदा बनी रहने वाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूं । द्रुपद के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य ने उन्हें छोड़ दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया ।[५]

---

१. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० १३७, श्लोक १५-२३
२. ,, ,, ,, अ० १३७, श्लोक २४-५६
३. ,, ,, ,, अ० १३७ ,, ५७,५८
४. ,, ,, ,, अ० १३७, ६३-७० श्लोक
५. ,, ,, ,, अ० १३७ श्लोक ७१-७२

द्रुपद को अपने क्षात्रबल द्वारा द्रोणाचार्य की पराजय होती नहीं दिखाई दी । वे अपने को ब्राह्मणबल से हीन जानकर , द्रोणाचार्य को पराजित करने के लिए शक्तिशाली पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से पृथ्वी पर विचरने लगे । इधर द्रोणाचार्य ने अहिच्छत्र नामक राज्य को अपने अधिकार में कर लिया ।[१] द्रुपद द्रोण को क्षात्रबल द्वारा पराजित नहीं कर सकते थे । वे गंगा और यमुना के तटों पर घूमते हुए ब्राह्मणों की एक पवित्र बस्ती में जा पहुंचे । वहां उन्होंने कठोर व्रत का पालन करने वाले दो ब्रह्मर्षियों को देखा , जिनके नाम थे याज और उपयाज । द्रुपद दोनों की सेवा में लग गए । कुछ दिन उपरान्त उन्होंने उपयाज से कहा कि जिस कर्म से मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो द्रोणाचार्य को मार सके, उस कर्म के पूरे होने पर मैं आपको एक अर्बुद (दस करोड़) गाएं दूंगा । उपयाज ने कहा कि मैं ऐसा कार्य नहीं करूंगा, तुम मेरे बड़े भाई याज के पास जाओ वे तुम्हारी सहायता कर सकते हैं । तब द्रुपद याज के आश्रम में गए ।[२] द्रुपद ने याज से कहा कि मैं आपको अस्सी हज़ार गाएं भेंट करूंगा । आप मेरा यज्ञ करा दीजिए । मैं द्रोण के वैर से संतप्त हो रहा हूं । आप वेद-वेदाओं में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण द्रोणाचार्य से बहुत बढ़े-चढ़े हैं । मैं आपकी शरण लेकर एक ऐसा पुत्र प्राप्त करना चाहता हूं, जो युद्ध में दुर्जय और द्रोणाचार्य का विनाशक हो । अत: आप मेरे इस मनोरथ को पूर्ण करने वाला यज्ञ कराइए । याज जी ने द्रुपद की प्रार्थना स्वीकार कर ली ।[३] याज ने इस कार्य में सहायता देने के लिए उपयाज को भी प्रेरित किया तथा याज ने द्रोण के विनाश के लिए वैसा पुत्र उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा कर ली । उपयाज ने राजा द्रुपद को अभीष्ट पुत्र पुत्र रूपी फल की सिद्धि के लिए आवश्यक यज्ञकर्म का उपदेश दिया ।[४] हवन के अन्त में याज ने संस्कार युक्त हविष्य की आहुति ज्यों ही अग्नि में डाली, त्यों ही उस अग्नि से देवता के समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ ।[५] उसी समय आकाश वाणी हुई कि यह राजकुमार पांचालों के

---

१. महाभारत, आदिपर्व, सम्भवपर्व, अ० १३७, श्लोक ७५-७६
२. ,, चैत्ररथ पर्व, अ० १६६, श्लोक ४-२१
३. ,, ,, अ० १६६, श्लोक २२, ३०
४. महाभारत आदि पर्व, चैत्ररथ पर्व, अ० १३७, श्लोक ३२-३३

भय को दूर करके उनके यश की वृद्धि करने वाला है । द्रोणाचार्य के वध के लिए ही इसका जन्म हुआ है ।'[१] तत्पश्चात् यज्ञ की वेदी में से एक कन्या के प्रकट होने पर भी आकाशवाणी हुई --' इस कन्या का नाम कृष्णा है । यह समस्त युवतियों में श्रेष्ठ एवं सुन्दरी है और क्षत्रियों का संहार करने के लिए प्रकट हुई है[२]। फिर सम्पूर्ण द्विजों ने उस कुमार का नाम धृष्टद्युम्न रखा ।[३]

द्रोणाचार्य यह सोच कर कि भविष्य के विधान को टालना असंभव है द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न को ले आए और उसे अस्त्रविद्या की शिक्षा दी । द्रोणाचार्य ने अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए यह उदारतापूर्ण कार्य किया ।[४]

जयभारत में 'याज्ञसेनी' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदिपर्व के चैत्ररथपर्व में १३७ वें अध्याय में उपलब्ध होते हैं । इस अन्तर्कथा में गुप्त जी ने द्रुपद की प्रतिशोधात्मक भावना का प्रकाशन किया है । इस खंड में कवि ने धृष्टद्युम्न का परिचय दिया है , जिसने युद्ध में द्रोण का वध करके अपने पिता के वैर की शुद्धि की । इसी की बहन द्रौपदी महाभारत के युद्ध की प्रेरणा शक्ति बनी है ।

१०. लाक्षागृह --

' जय भारत ' के अनुसार धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहते थे । प्रजा भी युधिष्ठिर को ही सिंहासन पर बैठने के लिए आतुर हो उठी थी । यथा --

धन्य युधिष्ठिर, धन्य धर्म नर देह धरे ।'
चर्चा करने लगे प्रजा जन प्रेम - भरे ।

---

१. महाभारत, आदि पर्व, चैत्ररथपर्व, अ० १३७ ,श्लोक ४२-४३
२. ,, ,, अ० १३७ ,, ४४
३. ,, ,, अ० १३७ ,, ४८-५३
४. ,, ,, अ० १३७ ,, ५५,५६

सिंहासन पर उन्हें देख हम मर पावें,
अंध वृद्ध धृतराष्ट्र क्यों न अब वन जावें ।"[१]

प्रजा का यह मन्तव्य देख कर कौरव पाण्डवों से और भी ईर्ष्या करने लगे । दुर्योधन ने शकुनि और कर्ण से मंत्रणा की और पाण्डवों से प्रतिकूल एक नया षड्यंत्र करने की सोची । विदुर यह सब जान गए । पुत्रों के प्रेम के वशीभूत धृतराष्ट्र को भी दुःख हुआ, परन्तु कहीं पक्षपात न प्रकट हो जाय इसलिए वे संकुचित रहे । धृतराष्ट्र को भी कणिक आदि का षड्यंत्र रुचा । उन्होंने युधिष्ठिर को बुला कर समझाया —

" स्वजनों का सामीप्य सघन हो सहे नहीं,
नित्य नया सा रहे, पुराना पड़े नहीं ।
सहें भले ही बन्धु-विरह की व्यथा सभी,
रहें किन्तु कुछ दूर परस्पर कभी कभी ।
दुर्योधन के बीच और तुम्हारे बीच नया,
आकर्षण ही मुझे इष्ट है पूर्णतया ।
रहो वत्स, तुम तनिक वारणावत जाकर,
आओ पांचों पलट पुनर्नवता पाकर ।"[२]

युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की आज्ञा को शिरोधार्य किया जब कुंती के साथ पांचों पांडव चले पड़े तो इससे विदुर बहुत दुःखी हुए और जो बातें उन्हें गुप्त रूप से मालूम पड़ गई थीं वे उन्होंने पाण्डवों को बता दीं । सांकेतिक भाषा में उन्होंने कहा —

" कब न पकड़ ले आग प्रकट जो स्नेह यहां,
बना तुम्हारे लिए लाख का गेह वहां ।
किन्तु अन्त में अवश अधी पछताते हैं,
लाख यत्न भी एक छिद्र रख जाते हैं ।

---

१. जयभारत, लाक्षागृह, पृ० ६६ (द्वितीय संस्करण)
२ ,, ,, पृ० ७० ,,

उसी छिद्र से निकल निश बच जाते हैं,
धीरे-धीरे ही जूझ-जूझ जय पाते हैं।
पद-पद पर है विपद सचेत रहो सदा,
बाधा भी है अगद रूपिणी यदा-कदा।-[१]

युधिष्ठिर विदुर जी का अभिप्राय समझ गए।--

वारणावत में पुरोचन ने बहुत प्रबन्ध किया था। वहाँ लाक्षागृह का निर्माण किया गया था। वह उस लाक्षागृह में आग लगाकर पाँचों पांडवों को वहीं मार डालना चाहता था। परन्तु उसका यह षड़्यंत्र सफल नहीं हो सका। विदुर द्वारा भेजे हुए सेवक ने लाक्षागृह में एक सुरंग बना दी थी जिससे लाक्षागृह के जलने पर पाण्डव कुंती सहित उसी सुरंग से निकल कर चले गए और पुरोचन ही बाहर न निकल पाया, वहीं जलकर मर गया। कौरवों ने समझा कि पाँचों पांडव उसी में जल मरे हैं अत: वे बहुत प्रसन्न थे पर ऊपरी दिखावा करने के लिए दु:खी थे। विदुर ने पाण्डवों के बच जाने का भेद भीष्म को बता दिया, परन्तु धृतराष्ट्र को नहीं बताया, वरन् उनके सामने शोक ही प्रकट किया। दुर्योधन ने सोचा कि मार्ग से काँटा ही निकल गया परन्तु दिखावटी शोक भी प्रकट किया दुर्योधन ने सोचा कि मार्ग से काँटा ही निकल गया परन्तु दिखावटी शोक भी प्रकट किया।

इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं। धृतराष्ट्र ने पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर को धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द्र आदि सद्गुणों के कारण युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया।[२] इसके बाद पांडवों ने दूसरे राष्ट्रों को जीतकर अपने राष्ट्र की अभिवृद्धि की।[३] पाण्डवों को महान् तेजस्वी और बल में बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो गए और चिन्ता में पड़ गए। उन्होंने राजनीति और अर्थशास्त्र के पंडित

---

१. जयभारत, लाक्षागृह, पृ० ७९

२. महाभारत, आदि पर्व, सम्भव पर्व, अ० १३८, श्लोक १ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

३. ,, ,, अ० १३८ ,, २६ ,,

मंत्रप्रवर कणिक को बुलाकर पूछा कि पाण्डवों की दिनोंदिन उन्नति और ख्याति हो रही है। इसलिए मुझे उनसे ईर्ष्या होने लगी है। अब तुम मुझे ठीक से समझा कर बताओ कि मुझे उनके साथ संधि करनी चाहिए या विग्रह ?[1] कणिक ने भाँति भाँति से समझाया कि जो शत्रु हो उसका दमन अवश्य ही कर देना चाहिए।[2] फिर धृतराष्ट्र के यह पूछने पर कि शत्रु का नाश कैसे किया जा सकता है, कणिक ने गीदड़ का प्राचीन वृत्तान्त बताते हुए कहा कि डरपोक को भय दिखाकर फोड़ लेना चाहिए, जो अपने से शूरवीर हो उसे हाथ जोड़ कर वश में कर लेना चाहिए। लोभी को धन देकर तथा बराबर और कमजोर को पराक्रम से वश में करना चाहिए।[3] कणिक ने ~~कहा~~ धृतराष्ट्र को शत्रु का दमन करने के और भी बहुत से उपाय बताये।[4] कणिक ने कहा कि आप पाण्डुपुत्रों से अपनी रक्षा कीजिए। आपके भतीजे पाण्डव अत्यधिक बलवान हैं। अत: ऐसी नीति काम में लाइए कि आगे चल कर पछताना न पड़े।[5]

इधर दुर्योधन पाण्डवों की वीरता तथा प्रशंसा सुन कर ईर्ष्या से संतप्त रहता था।[6] वह एक दिन धृतराष्ट्र के पास आया और कहा कि मैंने पुरवासियों के मुख से बड़ी अशुभ बातें सुनी हैं। वे आपका और भीष्म जी का निरादर करके युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं।[7] यदि पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर राज्य प्राप्त कर लेते तो निश्चय ही उनके बाद उनका पुत्र ही उस राज्य का अधिकारी होगा और उसके बाद पुन: उसी की पुत्र परम्परा में दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते चले जाएंगे। ऐसी दशा में हम लोग अपने पुत्रों सहित राज-

---

१.	महाभारत,	आदिपर्व,	अध्याय १३६,	श्लोक १- ३	(गीताप्रेस, गोरखपुर)
२.	,,	,,	१३६,	,, ६-२२	,,
३.	,,	,,	,,	,, २४-५१	
४.	,,	,,	,,	,, ५३- ८६	,,
५.	,,	,,	,,	,, ९१-९३	,,
६.	,,	जतुगृहपर्व	अध्याय १४०,	,श्लोक २०-२६	,,
७.	,,	,,	,,	,, ३०-३२	,,

परम्परा से वंचित होने के कारण सब लोगों की अवहेलना के पात्र बन जायेंगे ।[१] अपने पुत्र की यह बात सुनकर तथा कणिक की सलाह का स्मरण करके धृतराष्ट्र चिंतित हो उठे । दुर्योधन , कर्ण, शकुनि तथा दु:शासन ने एक स्थान पर बैठ कर मंत्रणा की और फिर दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से कहा — हमें पाण्डवों से भय न हो इसलिए आप किसी उत्तम उपाय से उन्हें यहां से हटा कर वारणावत - नगर में भेज दीजिये । धृतराष्ट्र दुर्योधन की बात सुन कर चिन्ता में पड़ गए ।[२] उन्होंने दुर्योधन को भांति भांति से समझाया कि पाण्डवों को उनके पिता के राज्य से कैसे हटाया जा सकता है, और विशेषकर उस समय, जब कि उनके सहायक अधिक है ।[३] परन्तु फिर दुर्योधन के बहुत समझाने पर धृतराष्ट्र पाण्डवों को वारणावत भेजने के लिए तत्पर हो गए । कौरवों ने वारणावत की बड़ी प्रशंसा की जिससे कि पाण्डव वहां जाने के लिए उत्सुक हो गए ।[४] जब धृतराष्ट्र को यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वारणावत जाने के लिए उत्सुक हैं तो उन्होंने पाण्डवों से कहा कि तुम लोगों ने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लिए और आचार्य द्रोण तथा कृप से अस्त्र-शस्त्रों की विशेषरूप से शिक्षा भी प्राप्त कर ली है । हमने सुना है कि वारणावत नगर संसार में सबसे अधिक सुन्दर है । यदि तुम लोग वारणावत नगर में उत्सव देखने जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवक वर्ग के साथ वहां जाकर देवताओं की भांति विहार करो । युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की उस इच्छा का रहस्य समझ गए किन्तु स्वयं को असहाय जानकर उन्होंने धृतराष्ट्र की बात मान ली[५]। पाण्डव वारणावत जाएंगे यह बात जानकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने पुरोचन को गुप्त रूप से यह आदेश दिया कि वह वारणावत जाकर लाक्षागृह का निर्माण करवाए । जब पाण्डव वहां

---

१. महाभारत, आदिपर्व , जतुगृह पर्व, अ० १४०, श्लोक ३५,३६
२. ,, ,, ,, ,, श्लोक १-४
३. ,, ,, ,, ,, श्लोक ६-११,१६-१६
४. ,, ,, अध्याय १४२ श्लोक,१-५
५. ,, ,, ,, ,, ६।-११

रहने लगें तो रात्रि में उसमें आग लगवा दे । पुरोचन ने शीघ्र ही वारणावत पहुंच-कर दुर्योधन के कथनानुसार सब कार्य पूरा कर लिया ।[१] इधर कुंती सहित पाण्डव भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर तथा अन्य सब से विदा होकर वारणावत को चल पड़े ।[२] जाते समय मार्ग में विदुर जी ने सांकेतिक भाषा से युधिष्ठिर को दुर्योधन के षड्यंत्र का हाल बता दिया । साथ ही सुरंग द्वारा भाग जाने की बात भी बता दी । युधिष्ठिर ने विदुर जी से कहा कि मैंने आपकी सब बातें समझ ली हैं ।[३]

पाण्डवों के वारणावत पहुंचने पर पुरोचन ने उन्हें सत्कार पूर्वक ठह-राया और लाक्षागृह में निवास की व्यवस्था की ।[४] लाक्षागृह में जाने पर युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा कि यह भवन तो आग भड़काने वाली वस्तुओं से बना जान पड़ता है । युधिष्ठिर ने विदुर जी द्वारा बतलाई हुई दुर्योधन के षड्यंत्र को भी भीमसेन से बता दिया । युधिष्ठिर ने भीमसेन से एक सुरंग बनाने के लिए भी विचार किया, जिससे कि उसमें छिप जाने पर आग का प्रभाव न पड़ सके ।[५] एक दिन विदुर द्वारा भेजा हुआ एक सुरंग खोदने वाला व्यक्ति युधिष्ठिर के पास आया । उसने बताया कि इसी कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात को पुरोचन आप के इस घर के दरवाजे पर आग लगा देगा । अब आप मुझे आज्ञा दें कि मैं क्या करूं ? युधिष्ठिर ने उसे पहचान कर कहा कि तुम हमें आग से बचा लो । सुरंग खोदने वाले ने खाईं की सफाई के बहाने एक बहुत बड़ी गुप्त सुरंग तैयार कर दी । पाण्डवों को वहां रहते हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया । तब [६] पुरोचन उन्हें विश्वस्त जान कर बड़ा प्रसन्न हुआ । युधिष्ठिर ने अपने भाइयों और माता कुंती से कहा कि अब हमारे भाग निकलने का उपयुक्त अवसर आ गया है । इस आयुधा-

---

१. महाभारत, आदिपर्व, जतुगृह पर्व, अ० १४३, श्लोक १-१६
२. ,, ,, ,, अ० १४४ ,, १-३
३. ,, ,, ,, ,, ,, १६-२७
४. ,, ,, ,, अ०१४५ ,, १-१२
५. ,, ,, ,, ,, ,, १३-३०
६. ,, ,, ,, अ० १४६ ,, १-१६२

गार में आग लगा कर पुरोचन को जला करके उसके भीतर छः प्राणियों को रख कर हम इस भांति निकल भागें कि कोई हमें देख न सके। एक दिन रात्रि में कुंती ने बहुत से ब्राह्मण और ब्राह्मणियों को भोजन कराया। और तो सब रात्रि में लौट गए परन्तु एक भीलनी अपने पांच पुत्रों के साथ भोजन की इच्छा से आई थी, वह भीलनी मदिरा पीकर मतवाली हो चुकी थी और उसके पुत्र भी मदिरा के नशे में बेहोश थे। अतः वह अपने पुत्रों सहित वहीं सो गई। उसी रात्रि भीमसेन ने पहले वहां आग लगाई जहां पुरोचन सो रहा था, फिर लाक्षागृह के प्रमुख द्वार पर आग लगाई। इसके पश्चात् सम्पूर्ण महल में आग लगा दी। तब पांचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ सुरंग में घुस गए।[१] वारणावत के पुरवासी लाक्षागृह को जलता देख कर भांति भांति से विलाप करने लगे और पुरोचन को दोषी समझने लगे।[२]

'जयभारत' में 'लाक्षागृह' शीर्षक से वर्णित अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' आदि पर्व के अन्तर्गत अध्याय १३८ से अध्याय १४७ तक पर्याप्त विस्तार से प्राप्त होते हैं। यह अन्तर्कथा 'जयभारत' में बहुत संक्षेप में वर्णित है। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के हित के लिए युधिष्ठिर को वारणावत जाने का आदेश दिया। गुप्तजी ने इस तथ्य को स्वीकार करके विदुर की सदाशयता का चित्रण किया है।

११. हिडिम्बा —

'जयभारत' में 'हिडिम्बा' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा में लाक्षागृह के जलने के पश्चात् पांडवों के वन में जाने और वहां हिडिम्बा से भेंट तथा उससे भीमसेन के विवाह की कथा वर्णित है। विदुर की सहायता से लाक्षागृह के दाह के पश्चात माता कुंती सहित पांचों पांडव गंगा पार करके वन में प्रविष्ट हुए। बीहड़ वन में कुंती भीमसेन के कंधे पर चढ़ कर जा सकीं थीं। अन्य भाइयोंको भी भीमसेन सहारा दिये हुए थे। कुंती पुत्रों की विपत्ति से दुःखी थी और पाण्डव

---

१. महाभारत, आदिपर्व, जतुगृहपर्व, अ० १४७, श्लोक १-१२
२. ,, ,, ,, ,, श्लोक १४-१६

माता को दु:खी देख कर चिंतित थे। युधिष्ठिर सोच रहे थे —

" हाय ! हम जैसे पांच पांच पुत्र रहते ,
जननी हमारी सहे ऐसे दु:ख दहते ।
तो वृथा सहेगी कौन वेदना प्रसव की ?
होगी क्यों क्षत्रिणी नहीं भाग्यहीन भव की ?" [१]

युधिष्ठिर इसी प्रकार विचार कर रहे थे कि सबको मार्ग में प्यास लग गई। युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा कि जाओ पहले कहीं पानी की खोज करो। भीम जो आज्ञा कह कर जल खोजने चले गए। कुछ दूर जाने पर उन्हें एक झरना मिल गया और वे पात्र के अभाव में दुकूल में जल भर कर ले आए।

रात्रि के समय माता कुंती और चारों भाई सो रहे थे। भीम प्रहरी के रूप में जागृत थे इसी समय नूपुरों की ध्वनि के साथ सामने उन्हें एक सुंदरी दिखाई पड़ी। वह हिडिम्ब राक्षस की बहन हिडिम्बा थी जो कि मनोहर रूप धारण करके भीम को मोहित करने आई थी। भीम ओठों पर तर्जनी रख कर धीरे से आगे बढ़े और उससे पूछा —"देवि, कौन है तू यहां ?" हिडिम्बा 'देवि' सम्बोधन से प्रसन्न होकर बोली —

" धन्यवाद देवि-पद दान किया तुमने ,
वस्तुत: मैं राक्षसी हूं, मान दिया तुमने ।
स्वीकृत इसीलिए मैं करती हूं इसको ,
अन्यथा मैं अपने समक्ष गिनूं किसको ?" [२]

भीम ने उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहा —

" राक्षसी इसीलिए क्या तू जो है निशाचरी ?
यद्यपि दिवा-सी यह दीप्ति तुझमें भरी ।
फूटा जिसे देख यहां पत्थर में सोता है ,
ऐसा रस रूप यदि राक्षसी का होता है,
तो थी राक्षसों के प्रति मेरी भ्रान्त धारणा,
सन्धी, तुझे योग्य नहीं यह वन-चारणा ।" [३]

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ७४, (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ७६ ,,
३. ,, ,, ,, ,,

हिडिम्बा अपनी प्रशंसा से गद्गद् हो उठी —

' मेरा बड़ा भाग्य यह , जो मैं मन भा गई,
वन घर मेरा, तुम्हें देखा और आ गई ।
अपने अतिथि का मुझी पर न भार है,
कह दो, अपेक्षित तुम्हें क्या उपहार है ? [१]

और हिडिम्बा ने भीमसेन के समक्ष प्रणय का प्रस्ताव रख दिया —

' देवी ही सही मैं, तब मेरे देव तुम हो,
कामलता हूँ मैं, तुम्ही मेरे कल्प-द्रुम हो ।' [२]

परन्तु भीमसेन ने उससे अनभिज्ञ होकर कहा —

' तो तू अपने को भले शूर्पणखा मान ले ,
लक्ष्मण सा धीर मैं नहीं हूँ यह जान ले ।'

< <

तब भी प्रशंसनीय सत्य-निष्ठा तेरी है,
शूर्पणखा,' राक्षसी मैं , थी कह सकी कहाँ ?
किन्तु इस रूप-रचना का हेतु क्या यहाँ ?' [३]

भीमसेन के इस प्रकार पूछने पर हिडिम्बा कह उठी

' नरवर मेरा अहा ! भारी भला भोला है ।' [४]

तत्पश्चात वह वहाँ आने का अपना अभिप्राय बताते हुए कहती है —

' अस्तु और वेला नहीं, संकट समीप है ,
सोदर हिडिम्ब मेरा रक्ष:-कुल-दीप है ।
उसने मनुष्य गंध पाके मुझे भेजा है ,
पाके तुम्हें देख कैसा हो उठा कलेजा है ।

---

१ . जयभारत, हिडिम्ब, पृ० ७६ (द्वितीय संस्करण)
२ . ,, ,, ,, ,,
३ . ,, ,, पृ० ७७ ,,
४ ,, ,, पृ० [illegible] ,,

मारने को आई थी बचाऊंगी तुम्हें अभी ।
होने से बिलम्ब किन्तु डरती हूं, जो न हो ।"[१]

भीम हिडिम्बा का कथन सुन कर कह उठे —
" प्रेम करने या कृपा करने तू आई है ?
जा बुला ला, देखूं, कौन तेरा वह भाई है ?"[२]

परन्तु हिडिम्बा ने कहा कि उसे देखने की इच्छा तुम त्याग दो । उससे तो मैं भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाऊंगी । तुम अभी उठ कर मेरे साथ भाग चलो । भीम ने माता और भाइयों को छोड़ कर जाने से इंकार कर दिया । इसी समय यमदूत के समान हिडिम्ब वहां आ गया । उसके आने से चारों पाण्डव भी जग गए । भीमसेन ने हिडिम्ब को ललकारा और हिडिम्ब आग होकर गर्जा । परन्तु बीच में हिडिम्बा ने विरोध किया और कहा —
" सावधान ! मैं वर चुकी हूं इसे मन में ।"[३]

हिडिम्ब ने अपनी बहन को धिक्कारा —
" धिक धिक, राक्षसी हो, मर्त्य पर ही मरी ।"[४]

भीम पर हिडिम्ब झपटा तो हिडिम्बा ने कहा कि पहले मुझे मार डाल । परन्तु हिडिम्ब ने उसे बीच से हटा कर कहा कि पीछे तुझे मारूंगा और अपने कुल को कलंक से उबारूंगा । हिडिम्ब अपनी बहन को बीच से हटा कर भीम से भिड़ गया । दोनों का युद्ध होने लगा । चारों भाई भीम को बढ़ावा देने लगे । अर्जुन ने भेद-भाव को त्याग कर दोनों की प्रशंसा की । शत्रु की प्रशंसा भीम को अखरी । उन्होंने हिडिम्ब को पटक कर उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ दी ।

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ७८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, ७९ ,,
४. ,, ,, ७९ ,,

मरते समय हिडिम्ब ने कहा — " योग्य ही बहन, तूने पर अपना चुना ।"[१]
हिडिम्बा भाई को मरते देख कर चीख उठी —

" हाय भैया ! किसने तुम्हारी रीढ़ तोड़ दी ?"[२]

हिडिम्बा की सहानुभूति हिडिम्ब के प्रति देखकर भीम ने कहा —

" भगिनी भी संग जायगी क्या भाई के ?"[३]

परन्तु उसी समय माता कुन्ती ने भीम को पकड़ लिया ।

भीम की वीरता से प्रसन्न होकर हिडिम्बा ने कुंती से कहा —

" अम्ब , अम्ब , आर्यं, आर्यं आज्ञा मिले जावे भीम ,
दुर्योधन की भी यही दुर्गति बनावे भीम ।
मेरा पुरस्कार यहाँ, न्याय का निदेश हो,
राज्य धर्मराज्य का हो, निष्कंटक देश हो ।"[४]

युधिष्ठिर ने हिडिम्बा से कहा कि हम अभी अपने को छिपाए हुए हैं तो भी तू यह भेद जान गई । अब अपना भेद खो देने से हम तुझे कैसे रोकें ? तू स्त्री है, अत: तुझे मार डाल भी नहीं सकते । हिडिम्बा ने आश्वासन दिया कि वह पांडवों का भेद लिये पर प्रकट नहीं होने देगी । अनन्तर सब ने हिडिम्ब का संस्कार कर दिया ।

इसी समय रात्रि समाप्त हो गई और प्रभात होते ही सब फिर आगे चल पड़े । हिडिम्बा को साथ आते देख कर कुंती ने कहा —

" पुण्यजने तू यों कष्ट करती है क्यों वृथा ?"[५]

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ८० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ८१ ,,
३. ,, ,, पृ० ८१ ,,
४. ,, ,, ,,
५. ,, पृ० ८२ ,,

हिडिम्बा भीम के प्रति अपना प्रेम भाव प्रकट करते हुए कहती है —

" कुछ भी सही मैं किन्तु मेरे भी हृदय है ,
औरों का नहीं तो मुझे अपना ही भय है ।
न्याय से उन्हीं प- न भार मेरा सारा है,
रक्षक जिन्होंने एकमात्र मेरा मारा है ।"[१]

भीम के प्रति हिडिम्बा का प्रेम देख कर कुंती कह उठीं —" किन्तु हम मानव हैं और तुम —" , " राक्षसी"[२] कह कर हिडिम्बा ने ही उनका वाक्य पूर्ण किया । फिर वह बोली —

" यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यत्व ,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता ।

x x

होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूं,
जन्म से मैं जो भी रहूं, जाति से तुम्हारी हूं ।

x x

भार नहीं हूंगी मैं तुम्हारे भीम के लिए ,
विचरूंगी व्योम में भी उनको लिये दिये ।
निश्चित समय जहां आया लौट आऊंगी,
केवल उन्हें ही तुम्हें सौंप नहीं जाऊंगी ,
और एक जन को भी जिसको जनूंगी मैं ,
और फिर मरके भी अमर बनूंगी मैं ।
पुत्रों के तुम्हारे वह बन्धु, काम आवेगा,
और आगे मेरी भावनाओं को बढ़ावेगा ।"[३]

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ८२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,,

कुन्ती ने शंका प्रकट की -

मान लो, परन्तु भीम प्रत्याख्यान कर दें ?
भंग यह सारा स्वप्न और ध्यान कर दें ?"[१]

हिडिम्बा ने इसके उत्तर में कहा --

" तब भी मैं पतित न हूंगी किसी पाप से ,
उजल उठूंगी शुचिस्नेह के प्रताप से ।"[२]

अन्त में कुंती ने भीम का हाथ हिडिम्बा को पकड़ा दिया । फिर कुछ समय भीम हिडिम्बा के साथ विचरण करते रहे । कुछ समयोपरान्त उनका पुत्र 'घटोत्कच' उत्पन्न हुआ ।

यह कथा महाभारत के आदिपर्व में विस्तार पूर्वक वर्णित है । लाक्षागृह के जलने के पश्चात् विदुर जी के द्वारा भेजे हुए नाविक ने पाण्डवों तथा उनकी माता कुंती को गंगा के पार उतार दिया ।[३] वे लोग एक घने वन में पहुंचे और भीमसेन माता कुंती तथा चारों भाइयों को अपने ऊपर चढ़ाकर बड़ी शीघ्रता से आगे चलने लगे ।[४] संध्या होते-होते वे वन के ऐसे भयंकर प्रदेश में जा पहुंचे, जहां फल-मूल और जल की बहुत कमी थी । पाण्डव उस समय थकान और प्यास के कारण व्याकुल हो रहे थे । उन सबने उसी विशाल जंगल में डेरा डाल दिया । तब कुंती ने प्यास से व्याकुल होकर पाण्डवों से जल लाने के लिए कहा ।[५] भीम जल लेने के लिए चले । कुछ दूर जलचर सारस पक्षी शोर कर रहे थे । भीमसेन वहीं गए और माता कुंती तथा भाइयों के लिए चादर में जल ले आए । चारों भाई और कुंती पृथ्वी पर सोए हुए थे ।[६] भीम भाइयों और माता को पृथ्वी पर सोते

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ८४ द्वितीय संस्करण
२. ,, ,, पृ० ८४ ,,
३. महाभारत आदि पर्व, जतुगृह पर्व, अ० १४८ गीता प्रेस गोरखपुर
४. ,, ,, अ० १४६ ,,
५. ,, ,, अ० १५० श्लोक ८,११,१३ ,,
. ,, श्लोक १७-१६

हुए देखकर बहुत दु:खी हुए और स्वयं उनकी रक्षा के लिए जागते रहे।[1]

जहां पांडव और कुंती सो रहे थे। उस वन से थोड़ी दूर पर हिडिम्ब नाम का एक राक्षस रहता था। वह बड़ा ही भयंकर था। भूख से व्याकुल होकर वह कच्चा मांस खाना चाहता था। उसने एकाएक पांडवों को देखा। मनुष्य की गन्ध पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी बहन हिडिम्बा से कहा कि जाओ तुम पता लगा कर आओ कि ये कौन इस वन में आकर सो रहे हैं? तुम इन सब मनुष्यों कोयथेच्छ मार कर मेरे पास लाओ। फिर हम दोनों इन मनुष्यों के मांस को खाएंगे।[2] हिडिम्बा शीघ्र ही पाण्डवों के पास गई। उसने भीम को जागते हुए देखा और देखते ही वह भीम पर मोहित हो गई। उसने भीम के सौन्दर्य और हृष्टपुष्ट शरीर को देख कर सोचा कि ये मेरे लिए उपयुक्त पति हो सकते हैं। हिडिम्बा इच्छानुसार रूप धारण करने वाली थी। वह सुन्दरी स्त्री का सा रूप धारण कर भीमसेन के पास गई। उसने भीम को बताया कि उसके भाई हिडिम्ब ने उसे दुष्टभाव से यहां भेजा है परन्तु अब वह भीम पर मोहित हो गई है। हिडिम्बा ने भीम से कहा कि आपका तेज देव-कुमारों के समान है। मैं आपको देख कर अब दूसरे को अपना पति नहीं बनाना चाहती। आप मेरे साथ चलिए। मैं आपकी तथा आपके भाइयों और माता की अपने भाई से रक्षा करूंगी।[3] भीम ने हिडिम्बा से कहा कि मेरे बड़े भाई युधिष्ठिर ने अभी विवाह नहीं किया है अत: उनसे पहले मैं अपना विवाह करके परिवेत्ता नहीं बनना चाहता। अपने भाइयों और माता को संकट में छोड़ कर मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकता। तुम यदि चाहो तो अपने भाई को ही यहां भेज दो। मेरे पराक्रम के सामने राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व और यक्ष भी नहीं ठहर सकते हैं।[4]

---

१. महाभारत, आदिपर्व जतुगृह पर्व, अ० १५०, श्लोक २१-४५

२. ,, ,, हिडिम्ब पर्व, अ० १५१, श्लोक १-१३

३. ,, ,, ,, ,, १- २६

हिडिम्बा को बहुत देर तक लौटते न देख कर हिडिम्ब राक्षस स्वयं भीम के पास आ गया । भाई को आता देख कर हिडिम्बा ने भीम से कहा कि यह दुष्ट राक्षस आ रहा है, इससे बचने का यही उपाय है कि आप अपने चारों भाइयों तथा माता सहित मेरी पीठ पर बैठ जाइए । मैं आप लोगों को आकाश मार्ग से ले चलूंगी । परन्तु भीम ने कहा कि तुम देखती रहो अभी मैं उस राक्षस को मारे डालता हूं । इसी समय हिडिम्ब आ गया और अपनी बहन को सुन्दर मानवी रूप धारण किए हुए देख कर वह समझ गया कि यह किसी पुरुष का वरण करना चाहती है । वह अपनी बहन पर क्रोधित हो उठा । वह हिडिम्बा और पांडवों पर झपटा । भीम ने उसे ललकार कर कहा कि अपनी बहन और मेरे सोते हुए भाइयों पर झपटने से क्या होगा । तू आ और मुझसे भिड़ ।[१] तत्पश्चात भीमसेन और हिडिम्ब का युद्ध आरम्भ हुआ । उन दोनों की भारी गर्जना से चारों पाण्डव , माता सहित जग गए और अलौकिक रूप से सम्पन्न हिडिम्बा को देखा ।[२] कुंती ने हिडिम्बा से उसका परिचय तथा वहां आने का कारण पूछा । हिडिम्बा ने अपना परिचय देते हुए वहां आने का वास्तविक कारण बताया । फिर यह भी बताया कि भीमसेन को वह पति रूप में वरण कर चुकी है । भीमसेन कुछ दूरी पर उसके भाई हिडिम्ब से युद्ध कर रहे हैं। युद्ध की बात सुनते ही चारों पाण्डव उछल कर खड़े हो गए । नकुल और सहदेव माता की रक्षा के लिए रुके और अर्जुन ने जाकर भीम को और उत्साहित किया और कहा कि अब मैं तुम्हारी सहायता के लिए उपस्थित हो गया हूं । इस राक्षस को अवश्य मार गिराऊंगा । भीमसेन ने कहा कि मैं स्वयं ही इसे मार डालूंगा । तत्पश्चात् भीम ने हिडिम्ब को ऊपर उठा लिया और सौ बार घुमा कर पृथ्वी पर पटक दिया । फिर भीम ने उसे दोनों भुजाओं से बांध कर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़ दी । फिर पांचों पांडव और कुन्ती वहां से चल दिये ।

---

१. महाभारत आदि पर्व, हिडिम्ब, अ० १५२, श्लोक १- २३

२. ,, ,, ,, ,, श्लोक ३८ - ४५

हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ चल पड़ी ।[१] मार्ग में पुन: उसने भीम से प्रणय का प्रस्ताव किया । भीम ने उससे कहा कि राक्षस मोहिनी माया का आश्रय लेकर बहुत दिनों तक वैर का स्मरण रखते हैं । अत: तू भी अपने भाई के ही मार्ग पर चली जा । परन्तु युधिष्ठिर ने भीम को रोका । तब हिडिम्बा ने कुन्ती तथा युधिष्ठिर से प्रार्थना की । उसने कुन्ती से कहा कि आप मुझे अपने इस पुत्र भीम से, जो मेरे मनोनीत पति हैं मिलने का अवसर दीजिये । मैं इन्हें लेकर अपने अभीष्ट स्थान पर जाऊँगी और पुन: निश्चित समय पर इन्हें आपके समीप ले आऊँगी ।[२] युधिष्ठिर ने हिडिम्बा की बात सुन कर उससे कहा कि तुम दिनभर तो भीमसेन के साथ विहार करो परन्तु रात को सदैव ही तुम्हें भीमसेन को हमारे पास पहुँचा देना होगा ।[3] कुन्ती ने भी भीम से कहा कि हिडिम्बा तुम्हें पति रूप में वरण कर चुकी है । मेरी आज्ञा है कि तुम उसे धर्म के लिए एक पुत्र प्रदान करो । वह हमारे लिए कल्याणकारी होगा । और इस विषय में मैं कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहती । भीम ने वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की । तब हिडिम्बा भीमसेन को साथ लेकर वहाँ से आकाश में उड़ गई ।[४] कुछ समयोपरांत हिडिम्बा ने भीमसेन से एक महान बलवान पुत्र उत्पन्न किया । उसका रूप बहुत भयंकर था और वह बहुत शक्तिशाली भी था । उस बालक ने जन्म लेते ही माता और पिता के चरणों में प्रणाम किया । उसका नाम माता-पिता ने घटोत्कच रखा । वह घटोत्कच पांडवों का बहुत प्रिय था । तब हिडिम्बा ने पाण्डवों से कहा कि भीमसेन के साथ रहने का मेरा समय अब समाप्त हो गया है । वह पुन: मिलने की प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थान को चली गई ।[५]

---

१. महाभारत, आदिपर्व, हिडिम्बपर्व, अ० १५३
२. ,, ,, ,, अ० १५४, श्लोक १-१०
३. ,, ,, ,, ,, ,, १८
४. ,, ,, ,, ,, ,, १६-२१
५. ,, ,, ,, ,, ,, ३१-४०

'जयभारत' में 'हिडिम्बा' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आदिपर्व के अध्याय १४८ से अध्याय १५४ तक मिलते हैं। 'महाभारत' में हिडिम्बा की अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तार से दी गई है, परन्तु 'जयभारत' में कवि ने उसे संक्षिप्त, रूप प्रदान किया है। यह एक स्वतंत्र खण्डकाव्य है जिसका मुख्यांश 'जय-भारत' में रखा गया है।

'जयभारत' में 'हिडिम्बा' शीर्षक में वर्णित हिडिम्बा की अन्तर्कथा में कवि ने पर्याप्त परिवर्तन और संक्षेपण किया है। इस अन्तर्कथा में कवि ने 'महाभारत' के कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया है, जैसे, हिडिम्ब द्वारा हिडिम्बा को मानव खोज का आदेश,[१] हिडिम्बा के उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति,[२] युद्ध के पूर्व हिडिम्बा के विषय में राक्षस एवं भीम की वार्ता,[३] युद्ध के समय हिडिम्बा की कुन्ती से वार्ता[४] तथा भीम द्वारा हिडिम्बा के वध की इच्छा और युधिष्ठिर की वर्जना।[५]

उपर्युक्त अंशों को छोड़ने के बाद कवि ने शेष कथा को यत्किंचित परि-वर्तन के साथ ग्रहण किया है। 'महाभारत' में हिडिम्बा और भीम की वार्ता अधिक स्पष्ट है परन्तु 'जयभारत' में कवि ने उसे शिष्ट रूप दिया है। आधुनिक काल का कवि 'महाभारत' के उस खुले वर्णन को उसी रूप में नहीं ग्रहण कर सका। उसने मर्यादा का ध्यान रखा है।

प्रस्तुत अन्तर्कथा में कवि ने युग-धर्म की प्रतिष्ठा की है। 'महाभारत' के अनुसार भीम और हिडिम्बा का विवाह एक साधारण सी घटना है। परन्तु भीम का हिडिम्बा के प्रति आकर्षण तथा उससे परिणय सामाजिक मर्यादा की

---

१. महाभारत, आदिपर्व, हिडिम्ब पर्व, अ० १५१, श्लोक ८-१४
२. ,, ,, अ० १५१ ,, २५-३०
३. ,, ,, अ० १५२, श्लोक २२-२७
४. ,, ,, अ० १५३ ,, २-१०
५. ,, ,, अ० १५४ ,, १,२

दृष्टि से अनैतिक कहा जायगा। 'महाभारत' की हिडिम्बा से पाठक को कोई सहानुभूति नहीं होती वरन उसके राक्षसी होने के कारण पाठक का मन विकर्षण से भर जाता है। गुप्त जी ने 'जयभारत' में उसे एक नवीन परिवेश में उपस्थित किया है। वह राक्षसी होने पर भी सुंदरी है, उदात्त-गुण-सम्पन्ना है और बुद्धि तथा विवेक से पूर्ण है। अपने सम्पर्क में आने वालों को वह सहज ही आकर्षित कर लेती है। उसे देखते ही भीम उसे 'देवी' सम्बोधन से पुकारते हैं, परन्तु वह स्पष्ट करती है वह 'देवी' नहीं 'दानवी' है। हिडिम्बा को दानवी जानकर भीम के मन में उसके प्रति अवज्ञा-भाव उत्पन्न हुआ और वे हिडिम्बा के प्रति व्यंग्य करने लगे। परन्तु हिडिम्बा ने अपनी संतुलित भाषा में भीम को ऐसे उत्तर दिए कि जिनसे भीम निरुत्तर हो गए। यह गुप्त जी की कल्पनाशक्ति द्वारा ही सम्भव था। 'जयभारत' में भीम और हिडिम्बा का लम्बा वार्तालाप अत्यधिक मनोरंजक है। यह वार्तालाप आधुनिक युग की बौद्धिक चेतना के अनुकूल है, सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुकूल है तथा धार्मिक भावनाओं के भी अनुकूल है। इसी कारण 'जयभारत' की हिडिम्बा का चरित्र आज के पाठक को सर्वथा निर्दोष दिखाई पड़ता है। गुप्त जी ने 'महाभारत' की हिडिम्बा को मानवी रूप दिया है। अपने भाई का भीम द्वारा वध देखकर वह प्रतिशोध की बात नहीं करती, वरन प्रेम और अहिंसा को महत्त्व देते हुए कहती है —

" वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं प्रेम है,
और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है।"[१]

हिडिम्बा के द्वारा कवि ने मानव-आदर्श की भी प्रतिष्ठा करवाई है वह कहती है कि मानव तभी मानव है जब कि वह दानव का भी उद्धार कर ले। हिडिम्बा तर्क और युक्ति द्वारा अपनी पवित्रता भी सिद्ध करती है। वह कुंती से कहती है —

" यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृतकार्यता ?

x x

---

१ जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ८२ (द्वितीय संस्करण)

होकर मैं राक्षसी भी अन्त मैं तो नारी हूं,
जन्म से मैं जो भी रहूं जाति से तुम्हारी हूं ।"[१]

कुन्ती हिडिम्बा से प्रभावित होती है और उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करती है । कवि द्वारा इस परिवर्तन को किए जाने का ध्येय स्पष्ट है । यदि हिडिम्बा में उक्त गुण न होते तो आधुनिक पाठक को भीम और हिडिम्बा का विवाह विधेय न लगता । इससे भीम की वासनात्मक प्रवृत्ति का भी परिमार्जन हो जाता है और भीम-हिडिम्बा का विवाह भी सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत ही आ जाता है ।

१२. बक-संहार —

'जयभारत' में बक संहार की कथा इस प्रकार वर्णित है । वन में रहते समय पाण्डव एक दिन एकचक्रा नगर में आ गए और एक विप्र परिवार में अतिथि होकर रहने लगे । उस नगरी में एक नरभक्षी दैत्य बक रहता था जिसके पास प्रति दिन नगर के प्रत्येक परिवार से बारी-बारी एक व्यक्ति भेजा जाता था जिसे खाकर बक अपनी क्षुधा शान्त करता था । एक दिन विप्र के परिवार की बारी पड़ी । मृत्यु के भय से भयभीत हो कर विप्र की पत्नी और बेटी विलाप करने लगीं । तब विप्र ने उन्हें शान्त किया और कहा कि मैंने जीवन का सब सुख पा लिया है, अतः मेरा ही उस दैत्य के पास जाना उचित है । परन्तु ब्राह्मणी इससे सहमत नहीं हुई । उसने कहा कि यह कैसे हो सकता है कि मैं तो जीवित रहूं और तुम जाकर मरो । मेरा ही मरना अधिक उपयुक्त है—

"मैं सुत-सुता भी जन चुकी,
कुल वर्धिनी हूं बन चुकी,
मेरे बिना अब हानि क्या संसार की ?
इस हेतु जाने दो मुझे,
वह पुण्य पाने दो मुझे,
जिससे सुरक्षा हो सके परिवार की ।"[२]

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ८३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, बक संहार, पृ० ९१ ,,

माता की बात सुन कर उनकी पुत्री ने कहा कि कन्या तो दान की ही वस्तु होती है। आज नहीं तो कल आप लोगों को कन्यादान करना ही पड़ेगा। तो मेरा ही त्याग करके आप लोग आपत्ति से मुक्त हो जाइए। तब द्विज ने पत्नी और पुत्री दोनों को समझाया। पत्नी से कहा कि अभी मेरा ही बक के पास जाना उचित है और तुम्हें तो चाहिए कि पुत्र का पालन करो फिर युवक होकर वह तुम्हारा पालन करेगा। इसी समय विप्र का पुत्र अपनी तोतली वाणी में कह उठा —

" मालूं असुल को मैं अभी, वह है कहां ?"[१]

इस प्रकार विप्रपरिवार पर शोक की घटा सी छाई हुई थी। ब्राह्मणी ज़ोर-ज़ोर से विलाप करने लगी। जब कुंती ने उसका विलाप सुना तो वह तुरंत वहां उपस्थित हो गई। कुंती ने विप्र परिवार के दुःख का कारण का पता लगाया और —

" रुक तनिक फिर बोली पृथा —
"अनुशोचना अब है वृथा।
कुछ हो, सभी निश्चिंत तुम वक से रहो ।
जब मैं तुम्हारे एक सुत,
तब पांच हैं मेरे अयुत,
दूंगी तुम्हें मैं एक उनमें से अहो।"[२]

कुंती ने विप्र की रक्षा के लिए अपना एक पुत्र देने का आश्वासन तो दे दिया परन्तु उसका हृदय भीतर ही भीतर व्याकुल होने लगा। परन्तु कुंती कुन्ती ने अपने को संयत कर लिया।

पुत्रों के आने पर कुंती ने सब हाल कह सुनाया। सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनने पर युधिष्ठिर ने कहा —

---

१. जयभारत, बक संहार, पृ० ६५ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ६८ ,,

" माँ, यह क्या किया ?
पर हेतु मरने के लिए,
निज सुत, बिना अकथक किए,
किस भाँति भेजेगा तुम्हारा यह हिया ?"[१]

कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा —

" पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा ।
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किए ,
करती विसर्जित गर्व कर हम कर्कशा ।"[२]

तब सहदेव ने बक के पास जाने की इच्छा प्रकट की । परन्तु माद्री द्वारा सौंपे हुए पुत्रों को कुंती खोना नहीं चाहती थी । तब अर्जुन ने कहा —

" माँ तुम मुझे भेजो, अहा ।
सब जानते हैं पार्थ मेरा नाम है ।"[३]

परन्तु भीम ने पार्थ को रोका और कहा —

" ठहरो तनिक तुम, भीम का यह काम है ।"[४]

भीम ने कहा कि आज वह पापी दैत्य अवश्य मारा जायगा । उस रात्रि को भीम द्वारा वह दैत्य मार डाला गया ।

'बक-संहार' की कथा के मूल स्रोत महाभारत के आदिपर्व[५] में मिलते हैं । महाभारत में यह अन्तर्कथा बहुत विस्तार पूर्वक वर्णित है । पांडव कुंती सहित एकचक्रा नगरीमें रहने में जाकर एक ब्राह्मण के घर में अतिथि के रूप में रहने लगे । पाण्डव वहाँ भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे । एक दिन युधिष्ठिर आदि

---

१. जयभारत, बक संहार, पृ० १०१ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १०१ ,,
३. ,, ,, पृ० १०२ ,,
४. ,, ,, पृ० १०२ ,,
५. महाभारत, आदिपर्व, बकवध पर्व, अ० १५६-१६२ गीताप्रेस,गोरखपुर

चार भाई तो भिक्षा के लिए गए परन्तु भीमसेन किसी कार्य विशेष से कुन्ती के पास घर पर ही रह गए। उस दिन ब्राह्मण के घर में सहसा बड़े जोर का आर्तनाद होने लगा। कुंती ने आर्तनाद सुनकर भीमसेन से कहा कि ब्राह्मण परिवार पर न मालूम कौन सी विपत्ति आ गई है? भीमसेन ने कहा कि तुम जाकर पता लगाओ तो मैं उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करूंगा। कुंती ब्राह्मण के अन्त:पुर में गईं। वहां ब्राह्मण का दुखित परिवार बैठा था और ब्राह्मण अपनी पत्नी से कह रहा था कि मैं यह स्थान छोड़ कर जाना चाहता था परन्तु तुमने ही चलना न चाहा। अब देखो कैसा संकट आ गया है। मैं बक के पास तुम्हें नहीं जाने दूंगा। अपने पुत्र को, जो कि निरा बालक है, कैसे जाने दे सकता हूं। अपनी कन्या को भी मैं नहीं भेज सकता। और यदि मैं स्वयं जाता हूं तो मेरे बच्चे मेरे अभाव में जीवित नहीं रहेंगे। मेरे जीवन को धिक्कार है।[१] पति की बात सुन कर ब्राह्मणपत्नी स्वयं मरने के लिए उद्यत हुई और उसने पति से आग्रह किया कि वह जीवित रह जाय।[२] ब्राह्मण कन्या माता की बातें सुन कर स्वयं बक के पास जाने की इच्छा प्रकट की। उसने कहा कि संतान की इच्छा इसीलिए की जाती है कि वह माता-पिता को संकट से उबारती है। अत: इस संकट के समय मेरे द्वारा आप लोग संकट से मुक्त हो जाइये। माता-पिता तथा बहन की बातें सुनकर विप्र का बालक तोतली बोली में सब को चुप कराने लगा और एक तिनका उठा कर बोला मैं इसी से उस नरभक्षी राक्षस को मार डालूंगा। बालक की भोली बातें सुनकर दु:ख से विह्वल ब्राह्मण परिवार भी प्रसन्न हो उठा।[३] इसी समय कुंती उनके निकट गईं और ब्राह्मण से उनके दु:ख का कारण पूछा। ब्राह्मण ने बताया कि इस नगर के पास एक गुफा में एक भयंकर नरभक्षी राक्षस रहता है। उसका नाम बक है। प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आने पर उसे भोजन देता है। जिसपरिवार की बारी आती है वह अपना एक मनुष्य बीस खारी अगहनी के चावल का भात और दो भैंसों सहित भेजता है जिसे वह बक खा जाता है।

---

१. महाभारत, आदिपर्व, बकवध पर्व, अ० १५६, गीता प्रेस गोरखपुर

२. ,, ,, अ० १५७ ,,

३. ,, ,, अ० १५८ ,,

परन्तु यदि कोई उससे छूटने का प्रयत्न करता है तो वह राक्षस उन्हें पुत्र और पत्नी सहित मार कर खा जाता है । यहां का जो राजा है वह इस संकट का कोई उपाय नहीं करता है । अब आज हमारी बारी आई है । मुझे उस राक्षस को कर के रूप में नियत भोजन और एक पुरुष की बलि देनी पड़ेगी । अब मैं अपने परिवार सहित ही उसके पास जाऊंगा जिससे वह दैत्य हम सबको एक साथ ही खा जाय ।[१] कुंती ने विप्र को धैर्य बंधाया और आश्वासन दिया कि मेरे पांच पुत्रों में से एक पुत्र उस पापी राक्षस की बलि सामग्री लेकर चला जायगा । पहले तो विप्र ने यह प्रस्ताव नहीं स्वीकार किया परन्तु कुन्ती के समझाने पर उसने मान लिया । तब कुन्ती ने भीम को यह कार्य सौंपा । भीम ने उसे स्वीकार कर लिया ।[२] युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित जब लौट कर आए और उन्हें जब सब समाचार प्राप्त हुए तो उन्होंने माता कुंती से कहा कि आपने यह असह्य और दुष्कर साहस क्यों किया ? साधु पुरुष अपने पुत्र के परित्याग को अच्छा नहीं बताते । दूसरे के बेटे के लिए आप अपने पुत्र को क्यों त्याग देना चाहती है ? कुंती ने कहा कि ब्राह्मण परिवार ने हमें आश्रय देकर बड़ा उपकार किया था । उसके उपकार का ऋण चुकाने का मैंने यही अवसर देखा । फिर भीमसेन के पराक्रम पर मुझे पूर्ण विश्वास है । वह अवश्य उस दैत्य की हत्या कर डालेगा ।[३] कुंती के समझाने पर युधिष्ठिर ने भी कहा कि अवश्य ही भीम उस दुष्ट दैत्य को मार डालेंगे । भीमसेन बक दैत्य की गुफा के पास गए और उसके लिए लाए हुए अन्न को खाते हुए बक का नाम ले-ले कर उसे पुकारने लगे । भीमसेन को अन्न खाता देखकर राक्षस का क्रोध बहुत बढ़ गया और वह भीमसेन के ऊपर झपटा परन्तु भीम चुपचाप अन्न खाते रहे । तब तक दैत्य और भी कुपित होकर एक वृक्ष उखाड़ कर भीमसेन पर झपटा । इसी बीच भीम ने सारा भोजन समाप्त करके आचमन कर लिया और प्रसन्न चित्त बक दैत्य से युद्ध करने लगे । और अन्त में भीम ने उसे मार डाला ।[४]

---

१. महाभारत, आदिपर्व, बकवध पर्व, अ० १५६ , गीता प्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, अ० १६० ,,
३. ,, ,, अ० १६१ ,,
४ ,, ,, अ० १६२ ,,

'जयभारत' में 'वकसंहार' शीर्षक से जो कथा वर्णित है उसके स्रोत 'महाभारत' के आदिपर्व के अन्तर्गत अध्याय १५६ से अध्याय १६२ तक विद्यमान हैं । जयभारत कार ने इस अन्तर्कथा में आतिथेयी की रक्षा का उज्ज्वल रूप में चित्रण किया है । कुन्ती का चरित्र इसमें बहुत ही निखरा है, उसका त्याग, करुणा और वात्सल्य एक साथ ही प्रमुखता पा गया है ।' महाभारत' की इस अन्तर्कथा में गुप्त जी ने अपने आदर्श एवं विचारों के कारण कुछ परिवर्तन किए हैं । 'महाभारत' में ब्राह्मण परिवार के सभी सदस्य अपने अपने कर्तव्य पालन के लिए तत्पर होते हैं ।[१] परन्तु जयभारत में इस विस्तृत विवेचन को स्थान नहीं दिया गया है । ' महाभारत' में ब्राह्मणी अपने मरने का प्रस्ताव रखती है और पति के द्वितीय वरण का समर्थन करती है, परन्तु' जयभारत' में पति के द्वितीय वरण की स्पष्टोक्ति नहीं है । 'महाभारत' में कुंती और ब्राह्मण की वार्ता के पूर्व ही भीम अपना निश्चय कर लेते है,[२] परन्तु' जयभारत' में भीम को बाद में सब पता चलता है ।' महाभारत' में कुंती भीम की अतिमानवीय शक्ति से परिचित है अत: वह ब्राह्मण को उसकी रक्षा का पूर्ण आश्वासन दे देती है,[४] परन्तु'जय-भारत' में कुंती के हृदय में वात्सल्य का द्वन्द्व होता है । भीम को लेकर कुंती के हृदय में वात्सल्य एवं कर्तव्य का संघर्ष होता है । जयभारतकार ने कुंती को अधिक मानवी रूप प्रदान किया है । भीम का वक के लिए चुनाव करने में कुंती की उदाराशयता, त्यागशीलता, सात्त्विक मनोवृत्ति तथा करुणापूर्ण वात्सल्य परिलक्षित होता है । इस खण्ड में कवि का मुख्य ध्येय त्याग, सेवा और करुणा के मानवीय उच्चादर्शों को अभिव्यक्त करना कवि का मुख्य ध्येय है ।

---

१. महाभारत, आदि पर्व, वकवध पर्व, अ० १५७, श्लोक ५-२४
२. ,, ,, ,, अ० १५८ श्लोक ६-८
३. ,, ,, ,, अ० १६०, श्लोक १४ तथा
४. ,, ,, ,, अ० १६१ श्लोक २०,२१

१४. (ग)

<u>लक्ष्य-वेध—</u>

जयभारत के अनुसार एकचक्रा नगरी में रहते हुए कुछ समय व्यतीत हो गया तो कुंती ने अपने पुत्रों से कहा कि अब कहीं और चलना चाहिए । उन सबने निर्णय किया कि पांचालराज द्रुपद की कन्या कृष्णा का स्वयंवर है, अतः वहीं चलना चाहिए । पांचों पांडव माता कुंती सहित वहीं के लिए चल पड़े । मार्ग में उन्हें महर्षि धौम्य मिले, जिन्होंने अन्य कथाओं के साथ वसिष्ठ-पुत्र शक्ति और नृप कल्माषपाद की कथा सुनाई । अनन्तर पांडव पांचालपुरी में पहुंच गए और एक घटकार ने उन्हें अपने घर ठहराया ।

स्वयंवर के समय स्वयंवर की राज-सभा खूब सजी हुई थी । कृष्णा के भाई धृष्टद्युम्न ने गंभीर वाणी में घोषणा की —

" नीचे प्रतिबिम्ब निरख जल में
भेदे जो लक्ष्य नभःस्थल में,
वर वही द्रौपदी पावेगा,
शर सूक्ष्म छिद्र से जावेगा ।"[१]

बहुत से राजाओं ने लक्ष्य-वेध करना चाहा, परन्तु वे न कर सके और लज्जित होकर बैठ गए तभी कर्ण लक्ष्यवेध के लिए उठे, परन्तु वे लक्ष्य साध भी न पाए थे कि स्वयं कृष्णा ने ही बाधा उपस्थित कर दी —

" मैं वरूं भले भिक्षुक वर को,
वर नहीं सकूंगी इस नर को ।
मैं राज सुता, यह सूत तनय,
क्या नीति करेगी आप अनय ?"[२]

यह सुन कर कर्ण ने धनुष रख दिया और कहा —
सचमुच तू मेरे योग्य नहीं ।
तू मन से भी अबला नारी ।

---

१. जयभारत, लक्ष्यवेध, पृ० ११३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,

जा भिक्षुक वटु पर ही वारी ।"[१]

इसी समय द्विज वेश में अर्जुन लक्ष्यवेध के लिए आए । उसने एक क्षण में ही लक्ष्य-वेध कर दिया । कृष्णा ने उतार अर्जुन के गले में जयमाला डाल दी । उसी समय अर्जुन ने धीरे से कृष्णा को बता दिया कि वह द्विज नहीं अर्जुन है ।

इसी समय बड़ा कोलाहल होने लगा । क्षत्रिय राजाओं ने एक द्विज द्वारा लक्ष्य-वेध होते देख कर कहा —

" द्विज भी यदि करे शस्त्र धारण,
तो वह भी सहे मरण-मारण ।"[२]

यह सुनकर अर्जुन के नेत्र चमक उठे और भीम भी अपनी भुजाओं को ठोंक कर तमक उठे और बोले —

" सन्नद्ध सदा हम भय-भेदी,
ब्राह्मण क्यों नहीं धनुर्वेदी ।
भृगुराम, द्रोण हैं, हम भी हैं,
रखते शमदम विक्रम भी हैं ।

x x

आक्रान्ता नहीं प्रकृति से हम,
सबके शुभेच्छु भी-श्रुति से हम ।
पर यदि कोई आक्रमण करे,
तो हमें दोष क्या, लड़े-मरे ।"[३]

श्रीकृष्ण के साथ कुछ अन्य राजा भी बीच में पड़े और युद्ध को रोक दिया । अनन्तर कृष्णा को लेकर अर्जुन चल पड़े । पाँचों पांडव कृष्णा सहित जब घर पहुँचे तो युधिष्ठिर ने कुंती को पुकार कर कहा —

---

१. जयभारत, लक्ष्यवेध, पृ० ११५, द्वितीय संस्करण
२. जयभारत, ,, पृ० ११६ ,,
३. ,, ,, पृ० ११६-१७ ,,

" माँ देखो, क्या कुछ लाए हम ।"

कुंती ने बिना देखे ही कहा —

" सब मिल भुको, जो तुम आए ,

पाँचों मिल भोगो, जो लाये ।"[१]

भीम कह उठे --अरे माँ यह क्या कह दिया तुमने । इसी समय कुंती ने द्रौपदी को देखा । अर्जुन ने कहा कि माँ यह कृष्णा है । और अर्जुन तथा कृष्णा ने झुक कर माँ के चरणों की धूलि ली । कुंती गद्‌गद् होकर कह उठीं —

" आगई राजलक्ष्मी मेरी ।"[२]

इसी समय श्रीकृष्ण वहाँ आ गए । कुंती ने श्रीकृष्ण के सामने अपनी समस्या रखी —

" माँ , देखो हमने क्या पाया,

कहता अजातशत्रु था आया ।"

निकला सहसा मेरे मुख से, -

" जो पाया मिल भोगो सुख से ।"

"हाँ" कहा भीम ने उसको सुन,

तब आया वधू सहित अर्जुन ।"

शंकित है मन: प्राण मेरा ,

क्योंकर हो परित्राण मेरा ।"[३]

कृष्णा कुंती की बातें सुनकर व्याकुल हो गई और गिरते-गिरते बच सी गई । तब युधिष्ठिर ने समस्या का समाधान करते हुए कहा —

" वर पार्थ वधू है पांचाली ।

दो वरज्येष्ठ का पद पावें

दो देवरत्व पर बलि जावें ।

भोगें यों पाँचों सुख इसका,

तावें सदैव शुभ मुख इसका ।"[४]

---

१. जयभारत, लक्ष्यभेद, पृ० ११८ द्वितीय संस्क०

२. ,, ,, पृ० ११६ ,,

३. ,, ,, पृ०१२० ,,

४. ,, ,, पृ० १२० ,,

परन्तु अर्जुन इससे सहमत नहीं हुए । तब श्रीकृष्ण ने कहा कि हम इस विषय में व्यास जी से ही पूछेंगे । फिर कृष्ण ने द्रौपदी को भी समझाया –

" कृष्णे , मेरे मुनि के होते ,
क्यों प्राण-कठिन , तेरे रोते ।
फिर कोई न कोई अविचारी,
तू मन से भी अकला नारी ।"[१]

कृष्णा व्याकुल होकर श्रीकृष्ण से कह उठी –

" क्या करना होगा तात , मुझे ?
बतला दो सीधी बात मुझे ।
यह खिसक रहा भूतल मेरा ,
आदेश तुम्हारा बल मेरा ।"[२]

कृष्ण ने कहा कि आदेश तो व्यास मुनि ही देंगे । परन्तु –

" हो चाहे पंच - पुरुष-भार्या,
तू आर्याओं की भी आर्या ।"[३]

इस अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । कुंती ने अपने पुत्रों से सलाह करके पांचाल देश जाने की तैयारी की । जिस ब्राह्मण के घर पाण्डव रहते थे उससे कुंती तथा पाण्डवों ने विदा ली ।[४] मार्ग में उन्होंने देखा कि बहुत से ब्राह्मण एक साथ जा रहे हैं । ब्राह्मणों ने उन्हें बताया कि वे पांचाल नरेश की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में जा रहे हैं । ब्राह्मणों ने पांडवों से कहा कि आप लोग भी स्वयंवर में चलें, वहां द्रौपदी आपलोगों में से भी किसी को अपना वर चुन सकती है । युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों से कहा कि हम

---

१. जयभारत, लक्ष्यवेध , पृ० १२१ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, ,, पृ० १२१ ,,
३. ,, ,, पृ० १२१ ,,
४. महाभारत, आदिपर्व, चैत्ररथ पर्व, अ० १६७(गीताप्रेस, गोरखपुर)

सब भी आप लोगों के साथ द्रुपद कन्या का स्वयंवर देखने जायेंगे ।[1] जब पाण्डव पांचाल देश में पहुँचे तो एक कुम्हार के घर में अपने रहने की व्यवस्था की । यहाँ भी वे ब्राह्मण वृत्ति का आश्रय ले, वे भिक्षा माँग लाते और उसी से निर्वाह करते थे, जिससे उन्हें कोई पहचान न सके ।[2] राजा द्रुपद के मन में यह इच्छा थी कि वे अपनी पुत्री का विवाह अर्जुन से करें । अर्जुन की खोज निकालने के लिए द्रुपद ने ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका न सके । द्रुपद ने एक कृत्रिम आकाश यंत्र भी बनवाया जो तीव्र वेग से आकाश में घूमता था । उसी यंत्र के छिद्र के ऊपर उन्होंने उसी के आकार का लक्ष्य तैयार करवाकर रखवा दिया । तत्पश्चात द्रुपद ने यह घोषणा की जो कोई इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर इन प्रस्तुत बाणों द्वारा ही यंत्र के छिद्र के भीतर से इसे पार कर लक्ष्यवेध करेगा वही मेरी पुत्री को प्राप्त कर सकेगा ।[3] राजा द्रुपद की घोषणा को सुनकर बहुत से राजा वहाँ एकत्रित होने लगे । स्वयंवर स्थली भी बहुत अधिक सजाई गई । वहाँ बहुत से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखने आए । दुर्यो-धन आदि कुरुवंशी भी कर्ण के साथ आए । पाण्डव पांचालराज की समृद्धि का अवलोकन करते हुए ब्राह्मणों के साथ उन्हीं की पंक्ति में बैठ गए । द्रौपदी जय-माला लिए हुए वहाँ आई । तब धृष्टद्युम्न अपनी बहन द्रौपदी को लेकर मंडप के बीच में खड़ा हुआ और मेघगर्जन की सी वाणी में घोषणा करने लगा कि इस धनुष और इन पाँच बाणों के द्वारा जो आकाश के यंत्र के छेद के भीतर से लक्ष्यवेध कर देगा, मेरी बहन कृष्णा उसी की धर्मपत्नी होगी ।[4] तत्प-श्चात धृष्टद्युम्न ने वहाँ आए हुए राजाओं का परिचय द्रौपदी को दिया और कहा कि जो आज लक्ष्यवेध कर दे उसी का तुम वरण करना ।[5] तत्पश्चात

---

१. महाभारत, आदिपर्व, स्वयंवर पर्व, अ० १८३ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

२. ,, ,, ,, अ० १८३ ,,

३. ,, ,, श्लोक ८-११ ,,

४. ,, ,, ,, ,, श्लोक १२-३६ ,,

५. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

तत्पश्चात् वीर नवयुवक राजा लोग अभिमान के साथ लक्ष्य-भेद के लिए उठने लगे। सबका ध्यान और दृष्टि द्रौपदी की ओर थी। इधर श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठे हुए पाण्डवों को पहचान लिया और बलराम जी को दिखाया। इधर एक के बाद एक राजा द्रौपदी के लिए अपना पराक्रम प्रकट करने लगे। परन्तु वे सब असफल होने लगे। उन सब राजाओं की यह अवस्था देखकर धनुर्धारियों में श्रेष्ठ कर्ण उस धनुष के पास गया और तुरन्त ही उसे उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी तथा शीघ्र ही उस धनुष पर वे पाँचों बाण जोड़ दिए।[१] परन्तु कर्ण को देखकर द्रौपदी ने उच्च स्वर से कहा — कि मैं सूत जाति के पुरुष का वरण नहीं करूँगी। यह सुनकर कर्ण ने अमर्षयुक्त हँसी के साथ सूर्य भगवान की ओर देखकर धनुष को पृथ्वी पर डाल दिया।[२] तत्पश्चात् शिशुपाल, जरासंध, तथा शल्य के उपरान्त दुर्योधन धनुष उठाने आया परन्तु धनुष द्वारा उसकी अंगुलियों के बीच झटके से ऐसी चोट लगी कि वह चित्त लेट गया और लज्जित होकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गया। जब कोई राजा लक्ष्यभेद न कर सका तो अर्जुन ने उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर उस पर बाण संधान करने की अभिलाषा की। श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए कि द्रौपदी अर्जुन की पत्नी हो जायगी।[३] अर्जुन को उठते देख ब्राह्मणों में हलचली मच गई। कोई विस्मित हुआ, कोई प्रसन्न हुआ और कोई क्रोधित भी हुआ। ब्राह्मण [illegible] भाँति भाँति की चर्चा कर रहे थे तब अर्जुन धनुष के पास जाकर पर्वत के समान खड़े हो गए, फिर उन्होंने धनुष के चारों ओर घूम कर उसकी परिक्रमा की। शंकर भगवान को मस्तक झुका कर अर्जुन ने मन ही मन श्रीकृष्ण का स्मरण किया और उस धनुष को उठा लिया। इसके बाद अर्जुन ने पलक मारते ही प्रत्यंचा ली और

---

१. महाभारत आदिपर्व, स्वयंवरपर्व, अ० १८६ (श्लोक २१)
कर्ण के द्वारा प्रत्यंचा और बाण चढ़ाने की बात दाक्षिणात्य पाठ में कहीं नहीं है। भण्डारकर की प्रति में भी मुख्य पाठ में यह वर्णन नहीं है। नीलकण्ठी पाठ में भी इससे पूर्व श्लोक १५ में तथा उधर अ०१८७, श्लोक ४ एवं १६ में भी ऐसा ही उल्लेख है कि कर्ण धनुष पर प्रत्यंचा और बाण नहीं चढ़ा सका था।

२ महाभारत, आदिपर्व, स्वयंवर पर्व, अ० १८६, गीताप्रेस, गोरखपुर

३ .. .. पर्व .. अ० १८६ श्लोक २६-२६

और पाँचों बाणों को अपने हाथ में ले लिया । अर्जुन ने उन बाणों को चला कर लक्ष्यवेध किया । चारों ओर हर्ष की ध्वनि हुई और आकाश से देवताओं ने पुष्पवृष्टि की । ब्राह्मण प्रसन्न हो गए परन्तु जो राजा लक्ष्यवेध में असमर्थ थे वे हाहाकार करने लगे । अर्जुन को देखकर राजा द्रुपद के हर्ष की सीमा न रही । उन्होंने अपनी सेना के साथ अर्जुन की सहायता करने का निश्चय किया जब कोलाहल बढ़ने लगा तो युधिष्ठिर नकुल और सहदेव को साथ लेकर डेरे पर चले गए । इधर लक्ष्य-वेध के पश्चात् अर्जुन पर दृष्टि डाल कर द्रौपदी उनके पास आई और अर्जुन का वरण कर लिया ।[१]

ब्राह्मण द्वारा द्रौपदी का वरण होते देख कर समस्त राजा द्रुपद पर आक्रमण करने लगे । द्रुपद की सहायता के लिए भीम और अर्जुन तत्पर हुए उनके पराक्रम को देखकर कृष्ण ने बलराम से कहा कि ये अवश्य ही भीम और अर्जुन हैं । इन्हें कोई भी जीत नहीं सकता ।[२] युद्ध में अर्जुन और भीमसेन द्वारा कर्ण तथा शल्य की पराजय हुई और द्रौपदी सहित भीम और अर्जुन डेरे की ओर चले । वहाँ कुंती उनसबकी प्रतीक्षा कर रही थीं ।[३] घर पहुंचकर भीम और अर्जुन ने माँ को पुकार कर कहा कि "हम लोग भिक्षा लाए हैं । " कुंती ने घर के भीतर से ही बिना देखे उत्तर दे दिया ," तुम सब भाई मिल कर उसे पाओ ।" परन्तु फिर कुंती द्रौपदी को देख कर बहुत चिंतित हो गई और कहने लगीं कि मेरे मुख से बड़ी अनुचित बात निकल गई । उन्होंने युधिष्ठिर के सामने अपनी समस्या रखी और कहा कि बताओ अब किस प्रकार मेरी बात झूठी न हो और क्या किया जाय, जिससे पांचालकुमारी को भी पाप न लगे[४]। युधिष्ठिर ने कुछ विचार करके यह निर्णय दिया कि अर्जुन से ही कृष्णा का विवाह होना चाहिए । परन्तु अर्जुन इस प्रस्ताव से सहमत न हुए । तब युधिष्ठिर ने निर्णय किया कि "द्रौपदी हम सब लोगों की पत्नी होगी ।"[५] तभी श्रीकृष्ण

---

१. महाभारत, आदिपर्व, स्वयंवर पर्व, अ०१८७, गीताप्रेस,गोरखपुर
२. ,, ,, पर्व १८८ श्लोक १-२२ ,,
३. ,, ,, पर्व १८९ श्लोक ,,
४. ,, ,, पर्व अ० १९०, श्लोक १५

१३. वशिष्ठ-पुत्र शक्ति और कल्माषपाद की कथा

'जयभारत' के 'जय-घोष' शीर्षक के अन्तर्गत अर्जुन द्वारा [illegible] प्रबोध के प्रसंग में यह अन्तर्कथा भी वर्णित है। जब कुन्ती सहित पाँचों पाण्डव पाँचाल देश के लिए चले तो मार्ग में उन्हें चित्ररथ गन्धर्व ने रोका। तब अर्जुन ने वशिष्ठ पुत्र की कथा सुनाते हुए कहा कि एक समय वन में मृगया के लिए राजा कल्माषपाद गए। मार्ग में उन्होंने वशिष्ठ-सुत शक्ति को बैठे हुए देखा। उससे मार्ग रुका हुआ था। नृप ने पैर पटक कर कहा कि द्विज मार्ग छोड़। द्विज ने कहा कि मैं तो ब्राह्मण हूँ, यदि मैं हट कर तुम्हें मार्ग दूँगा तो मेरा गौरव और तुम्हारी कुलीनता नष्ट होगी। दोनों के वाद-विवाद होने से द्विज ने क्रोधित होकर नृप को राक्षस हो जाने का शाप दे दिया। नृप ने राक्षस होकर शक्ति को भी मार डाला। पुत्र की मृत्यु सुन कर वशिष्ठ मुनि व्याकुल हो उठे। वे अत्यधिक क्षमाशील थे अतः उनके हृदय में प्रतिशोध की भावना भी जागृत न हुई। उनके सामने विधवा पुत्र-वधू थी जो गर्भिणी थी, अतः मर भी न सकी। परन्तु उस राक्षस ने उस वधू पर भी आक्रमण करना चाहा। वधू व्याकुल हो उठी और उसने कातर होकर वशिष्ठ मुनि से कहा —

"हा तात! मुझे प्रिय प्राण नहीं,
पर अब निज कुल का त्राण नहीं।
निष्क्रिय तुम हाय! शमित रहते,
सहते हो और स्वयं कहते।
तुम करो एक हुंकार यहाँ,
तो इस राक्षस की हार कहाँ?
क्या कहूँ और, अनुरोध धरो,
क्षमा शोक छोड़ कुछ क्रोध करो।"[1]

परन्तु क्षमाशील मुनि ने क्रोध करना उचित नहीं समझा। उसी समय वहाँ राक्षस आ गया। उसे लखकर मुनि ने कहा —

“ कि[illegible] र गा[illegible] [illegible],
देखा जाय [illegible] में न परिणाम [illegible] ।”[1]

परन्तु शकुनि ने कहा —

“ युक्ति कभी टलती नहीं,
द्रौपदी को लेकर उनमें ही भेद डाल दो ।
सुन्द उपसुंद सम, पाँचों वे लड़ मरें,
ऐसी एक लट से भवाब्धि जैसे वे तरें ?”[2]

दुर्योधन ने शंका प्रकट की —

“ किन्तु उन भाइयों में भेद कौन डालेगा ? कौन
संग लिए पांडव का द्रौपदी को सलेगा ?
जब वह पांच पति मानचुकी एक बार ,
तब इस लाभ को क्या छोड़ेगी किसी प्रकार ?[3]

दु:शासन ने — “ पांच वर एक वधू, कैसी कुलाचारिता”[4] कह कर पाण्डवों के द्रौपदी से विवाह की निंदा की । परन्तु [illegible] ने [illegible] [illegible] देते हुए कहा —

“ पाण्डवों के मन में जो ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूँ, धर्म हानि नहीं होती है ।”

× ×

द्रौपदी से तुलना क्या साधारण नारी की,
जननी है यज्ञवेदी जिस सुकुमारी की ।”[5]

दुर्योधन, कर्ण, दु:शासन आदि के मत से धृतराष्ट्र भी प्रभावित हो गए । उन्हीं की कुमंत्रणा धृतराष्ट्र को भी रुचने लगी । परन्तु उन्होंने भीष्म और

---

१. जयभारत, इन्द्रप्रस्थ, पृ० १२३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १२४ ,,
३. ,, ,, पृ० १२४ ,,
४. ,, ,, पृ० १२४ ,,
५. ,, ,, पृ० १२५,१२६ ,,

न्याय निरतों को कभी निर्बल न जानिए,
पार्थ को नहीं तो कृष्ण को तो पहचानिए ।"[१]

विदुर आदि के समझाने से धृतराष्ट्र बोल उठे –

" बात ठीक है विदुर की,
व्यक्त करूँ कैसे भावना मैं इस उर की ?
आधा राज्य लेके पाँच पाण्डव सुखी रहें,
आधा रहे सौ के लिए, मेरे मान्य जो कहें ।"[२]

धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा कि वे जाकर पाण्डवों को वापस ले आएँ । विदुर जी ही गए और पाण्डवों को वापस ले आए तत्पश्चात् पाण्डवों के लिए इन्द्र-प्रस्थ राजधानी निर्मित हुई ।

इस अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । लक्ष्यवेध के पश्चात् सभी राजाओं को गुप्तचरों द्वारा यह समाचार प्राप्त हो गया कि द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ है । पाण्डवों के विवाह से दुर्योधन आदि चिंतित हो गए ।[३] दुर्योधन और धृतराष्ट्र ने इस सम्बन्ध में परामर्श किया । धृतराष्ट्र ने कहा कि मैं तो वही करना चाहता हूँ जो तुम्हें और कर्ण को अच्छा लगे । परन्तु मैं विदुर आदि पर अपने मन का भाव प्रकट नहीं होने देना चाहता । दुर्योधन ने बहुत से उपाय धृतराष्ट्र को बताए जिनके द्वारा पाण्डवों को नष्ट किया जा सकता था , जैसे, पाण्डवों में आपस में फूट डालने, द्रुपद को लोभ में डाल कर युधिष्ठिर आदि से विमुख करने, अथवा द्रौपदी को बहका कर पाण्डवों से अलग करने, या फिर गुप्त रूप से भीमसेन का वध ही कर डालने आदि उपाय बताये ।[४] तत्पश्चात् दुर्योधन से कर्ण ने कहा कि तुम्हारे बताए हुए उपाय ठीक नहीं है । अब वे पाण्डव संकट में नहीं डाले

---

१. जयभारत, इन्द्रप्रस्थ, पृ० १२७-१२८ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, पृ० १२६ ,,
३. महाभारत, आदि पर्व, विदुरागमन राज्यलम्भ पर्व, अ० १९९, श्लोक -१-६
४. ,, ,, ,, अ० २०० ,,

जा सकती । भाग्य ने उन्हें शक्तिशाली बना दिया है और उनमें अपने बाप दादों के राज्य को प्राप्त करने की अभिलाषा जाग उठी है । उनमें आपस में फूट डालना सम्भव नहीं है । जो एक ही पत्नी में अनुरक्त हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता । कृष्णा को भी उनकी ओर से फूट डाल कर अलग करना असम्भव है । राजा द्रुपद भी लोभी नहीं हैं और धन के लोभ में वे पाण्डवों का त्याग नहीं करेंगे । अतः इस समय एक ही उपाय है कि पाण्डव जब तक अपनी जड़ नहीं जमा लेते, तभी तक उन पर प्रहार करना चाहिए । जब तक हमारा पक्ष सबल है और पांचाल नरेश का बल हमसे कम है, तभी तक उन पर आक्रमण कर दिया जाय । कृष्ण यदुवंशियों की सेना लेकर पांडवों को राज्य दिलाने के लिए भी आ सकते हैं , अतः उससे पहले ही हमें पाण्डवों पर आक्रमण कर देना चाहिए । कर्ण की ये बातें सुनकर धृत-राष्ट्र प्रसन्न हुए और कर्ण की बड़ी सराहना की । साथ ही यह भी कहा कि भीष्म , द्रोण विदुर आदि के साथ बैठ कर पुनः विचार कर लेना चाहिए ।[१]

भीष्म आदि से राय लेने पर भीष्म ने दुर्योधन से पाण्डवों को आधा राज्य देने की सलाह दी । उन्होंने कहा कि मुझे पाण्डवों के साथ विरोध या युद्ध किसी भी प्रकार पसंद नहीं है । मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु--इसमें संशय नहीं है ।" भीष्म ने धृतराष्ट्र से कहा कि मेरे और तुम्हारे लिए जैसे पाण्डवों की रक्षा आवश्यक है, वैसे ही दुर्योधन तथा अन्य समस्त कौरवों को भी उनकी रक्षा करनी चाहिए । ऐसी दशा में मैं पाण्डवों के साथ लड़ाई झगड़ा पसन्द नहीं करता । परन्तु उन वीरों के साथ संधि करके उन्हें आधा राज्य दे दिया जाय । यह राज्य पाण्डवों के पूर्वजों का भी है । भीष्म ने दुर्योधन से भी कहा कहा कि जैसे तुम इस राज्य को प्राप्त कर अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते हो उसी प्रकार पाण्डव भी समझते हैं । तुमने जबकि पहले इस राज्य को प्राप्त कर लिया है, परन्तु मेरा विचार

---

१. महाभारत, आदिपर्व, विदुरागमनराज्यलम्भ पर्व, अ० २०१

यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्य को प्राप्त कर चुके थे । अब तुम प्रेम पूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो । इसी में सब लोगों का हित है ।[१] भीष्म के पश्चात् द्रोणाचार्य ने भी भीष्म के मत का अनुमोदन करते हुए कहा कि पाण्डवों को आधा राज्य दे देना चाहिए , यही परम्परा से चला आने वाला धर्म है । द्रोणाचार्य ने कहा कि राजा द्रुपद के पास शीघ्र ही कोई व्यक्ति भेजा जाय, जो वधू (द्रौपदी) के लिए बहुत से आभूषण, धन और रत्न आदि लेकर जाय और पाण्डवों से यहां आने के लिए अनुनय विनय करे । जब द्रुपद की ओर से पांडवों को यहां आने की अनुमति मिल जाय तब सेना के साथ विकर्ण और दु:शासन जाकर उन्हें यहां ले आएं । यहां आने पर उन्हें उनका पैतृक राज्य दिया जाय ।[२] कर्ण भीष्म और द्रोणाचार्य के विचार से सहमत न हुए और धृतराष्ट्र से कहा कि भीष्म जी और द्रोणाचार्य को सदा धन और सम्मान प्राप्त होता रहता है । इनकी सलाह भी प्रत्येक कार्य में ली जाती है । फिर भी यदि ये हमारे भले की सलाह न दें तो इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है । आप तो समझदार हैं । अत: अपने मंत्रियों की साधुता और असाधुता को समझ लीजिए । किसने दूषित हृदय से, इसे भी जान लीजिए ।[३] कर्ण की बातें सुनकर द्रोणाचार्य ने उन्हें फटकारा और कहा कि तू क्यों ऐसी बात कहता है, यह हम जानते हैं । पाण्डवों के लिए तेरे हृदय में जो द्वेष संचित है, उसी से प्रेरित होकर तू मेरी बातों में दोष बताता है । मैं कुरुकुल की वृद्धि करने वाली बात कह रहा हूं और यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो कौरवों का शीघ्र ही नाश हो जायगा ।[४] भीष्म जी तथा द्रोणाचार्य की राय का विदुर जी ने भी समर्थन किया । विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि कि आपके हृदय में भीष्म और द्रोणाचार्य की सलाह ठहर नहीं रही है । वे

१- महाभारत, आदि पर्व , विदुरागमनराज्यलम्भ पर्व, अ० २०२, श्लोक १-८

२- ,, ,, ,, अ० २०३ ,, १-११

३- ,, ,, ,, ,, १३-१५

४- ,, ,, ,, ,, २६-२८

दोनों इस लोक में नरश्रेष्ठ और बुद्धिमान हैं, अत: आपके लिए कोई भी त्रुटिपूर्ण बात नहीं कहेंगे। इन्होंने जो सम्मति दी है, उसी को मैं आप के लिए परम कल्याणकारक मानता हूँ।[१] भीष्म, द्रोण और विदुर आदि के समझाने पर धृतराष्ट्र ने विदुर को द्रुपद के यहाँ भेजा। विदुर ने द्रुपद से पाण्डवों को हस्तिनापुर भेजने के लिए कहा।[२] द्रुपद ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया और पाण्डवों को कुन्ती तथा कृष्णा के साथ बहुत सा धन आदि देकर ससम्मान विदा किया।[३]

धृतराष्ट्र ने जब पाण्डवों का आगमन सुना तो उनकी अगवानी के के लिए कौरवों को भेजा। इन सबके साथ पाण्डव हस्तिनापुर में आए।[४] पाण्डवों का आगमन सुनकर प्रजा तथा भीष्म आदि बहुत प्रसन्न हुए परन्तु गान्धारी तथा कौरवों को क्षोभ हुआ। कुछ समय उपरान्त धृतराष्ट्र ने भीष्म जी तथा पाण्डवों को बुलाया और उनसे कहा कि इस राज्य को मेरे भाई पाण्डु ने ही इतना बढ़ाया था। मेरे पुत्र दर्प और अहंकार से भरे हुए हैं। वे मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे। उनका तुमलोगों से फिर कोई झगड़ा न हो अत: आधा राज्य लेकर तुम खाण्डवप्रस्थ में चलकर रहो। राजा धृतराष्ट्र की बात मान कर पाण्डवों ने उन्हें प्रणाम किया और आधा राज्य पाकर वे श्रीकृष्ण सहित खाण्डवप्रस्थ चले गए[५]। श्रीकृष्ण ने इन्द्र का चिंतन किया। इन्द्र ने श्रीकृष्ण के मन की बात जान ली और विश्वकर्मा को आज्ञा आज्ञा दी कि खाण्डवप्रस्थ नगर का निर्माण करें, और वह नगर इन्द्रप्रस्थ के नाम से प्रसिद्ध होगा। तत्पश्चात पाण्डवों ने वेदव्यास जी को आगे करके नगर बसाने के लिए पृथ्वी का नाप करवाया। विश्वकर्मा ने इन्द्रप्रस्थ नगर को बहुत ही सुन्दर ढंग से निर्मित किया।[६] श्रीकृष्ण और बलराम पाण्डवों

---

१. महाभारत, आदिपर्व, विदुरागमन, राज्यलम्भ पर्व, अ० २०४, श्लोक १-६

को इन्द्रप्रस्थ में बसा कर द्वारकापुरी चले गए ।[१]

'जयभारत' के 'इन्द्रप्रस्थ' शीर्षक में महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत 'विदुरागमन राज्यलम्भ पर्व' के १९९,२०१, २०५, २०६ अध्यायों के विस्तृत वृत्त को संक्षेप में कहा गया है । अतः इस अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के आदि पर्व में ही प्राप्त होते हैं । इस अन्तर्कथा में कवि द्रौपदी के पंचपतित्व की सामाजिक स्वीकृति के लिए आतुर है । कवि द्रौपदी-विवाह की विरोधी उक्तियों पर भी विचार करता है ।

सर्वप्रथम कवि ने द्रौपदी के सम्बन्ध में विरोधी दल की उक्तियाँ रखी हैं । पाण्डवों की एकता द्रौपदी में ही घुली-मिली है, यह कर्ण का मत है । वही उन्हें आपस में प्रेम-भाव से रखने के लिए प्रेरित कर सकी है । दुःशासन इस पंच पत्नीत्व को अनार्यता मानता है । अन्त में कवि विकर्ण से यह कहला देता है कि इसमें माता की आज्ञा, व्यास की व्यवस्था, महेश का वरदान , श्रीकृष्ण का समर्थन , आदि धर्म तत्व भी सन्निहित हैं । साथ ही वह कहता है —

" पाण्डवों के मन में जो ग्लानि नहीं होती है,
तो मैं मानता हूँ धर्म-हानि नहीं होती है ।"[२]

विकर्ण के अनुसार द्रौपदी की तुलना साधारण नारी से नहीं की जा सकती , वह याज्ञसेनी है , अतः वह पवित्र है । दूसरे युधिष्ठिर ने भ्रातृ-सम-भाव का निर्वाह ही किया है —

" दान है युधिष्ठिर को जो कुछ भी देते थे,
उसमें समान भाग भाइयों को देते थे ।"[३]

और नीति भी तो यह है — "

" जो हो, पुरुषों में प्रेम-मैत्र सब ठीक है,
स्त्री तो सब उनकी समान [illegible] है ।"[४]

इस प्रकार विभिन्न तर्कों द्वारा कवि ने द्रौपदी के पंचपत्नीत्व को धर्म-संगत बतलाया है ।

१- महाभारत, आदिपर्व, विदुरागमनराज्यलम्भ पर्व, अ० २०६, श्लोक ५२

१५ **वनवास**

'जयभारत' में 'वनवास' शीर्षक से जो कन्दाकथा दी गई है उसमें अर्जुन के वनवास का वर्णन है। इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज युधिष्ठिर के राजा होने पर सुख समृद्धि बहुत बढ़ गई। उस समय पाँचों पाण्डवों ने नारद मुनि के सामने यह नियम बनाया कि जब किसी पाण्डव के साथ द्रौपदी रहे तो वहाँ अवधि-भर कोई भी दूसरा भाई न आवे। यदि कोई भाई वहाँ चला जाय तो उसे बारह वर्षों का वनवास सहना पड़ेगा। एक दिन एक विप्र अर्जुन के समीप सहायता के लिए आया और अर्जुन अपना शस्त्र लेने गए। उनके धनुष और बाण वहीं रखे थे जहाँ युधिष्ठिर और द्रौपदी साथ थे। अर्जुन शीघ्रता में गए और युधिष्ठिर "हाँ" कहने भी न पाए कि अर्जुन अपने धनुषबाण लेकर लौट भी आए। अपना कार्य करके जब अर्जुन लौटे तो उन्हें अपनी भूल विदित हुई। इस भूल के दण्ड स्वरूप अर्जुन ने बारह वर्ष के लिए अपने वनवास की बात युधिष्ठिर से कही। युधिष्ठिर ने कहा कि तुम मेरे निकट सदैव क्षम्य हो अत: वन जाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अर्जुन ने कहा कि मैं स्वयं अपने को क्षमा नहीं कर सकता। और यदि हमीं नियमों का पालन नहीं करेंगे तो जनता हमारा दृष्टान्त देकर स्वयं भी नियमों का पालन नहीं करेगी। अत: अर्जुन वन को चल दिए। वन में उन्हें भाँति भाँति के अनुभव हुए। प्रकृति के अनेक रूपों को उन्होंने देखा। कुछ काल उपरान्त नागकन्या उलूपी से उनकी भेंट हुई। मणिपुर में राजपुत्री चित्रांगदा से विवाह किया। तत्पश्चात् द्वारिका जाकर श्रीकृष्ण से भेंट की। सुभद्रा को देखकर अर्जुन उस पर मोहित हो गए। श्रीकृष्ण की सम्मति से अर्जुन ने सुभद्रा का हरण कर लिया। सुभद्रा-हरण के समाचार से बड़ा विद्रोह हुआ परन्तु श्रीकृष्ण ने " अर्जुन सा वर कहाँ सुभद्रा के लिए"[१] कह कर सबको शांत कर दिया। श्रीकृष्ण से आज्ञा लेकर अर्जुन अपनी नववधू सुभद्रा को लेकर इन्द्रप्रस्थ आ गए। वहाँ आने पर "कृष्णा के दो बोल उन्हें सुनने पड़े।"[२] परन्तु जब सुभद्रा ने कृष्णा के चरण स्पर्श किए

तो कृष्णा गद्गद् हो उठीं और दोनों का प्रेमपूर्वक मिलन हुआ । यथा —

" नृप-सुता-सी सजी मयूर दुकूल में,
प्रणत संकुचित देख पुन: पद मूल में ।
परम नागरी द्रुपद-सुता ने प्रीति से,
उसे अंक में भरा, कहा-" इस रीति से ।" [१]

इस अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के आदि पर्व में प्राप्त होते हैं । इन्द्रप्रस्थ में जब युधिष्ठिर आदि पाण्डव सुखपूर्वक रहने लगे तब एक दिन नारद मुनि वहां आए । उन्होंने पाण्डवों से एकान्त में कहा कि पांचाली तुम पांचों की एक ही धर्मपत्नी है । पांचाली को लेकर पांचों में झगड़ा या वैमनस्य न हो इसलिए नारद मुनि ने उन्हें सुंद और उपसुंद असुरों की कथा का दृष्टान्त दिया और कहा कि तुम लोग कोई नियम बनाओ जिससे तुम लोगों में वैर और विरोध न हो ।[२] तब पाण्डवों ने नारद मुनि के सामने ही यह नियम बनाया कि हममें से प्रत्येक के घर द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करे । द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए हममें से एक भाई को यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्यपूर्व वन में निवास करे । पाण्डवों द्वारा इस नियम के स्वीकार कर लिये जाने पर नारद मुनि वहां से चले गए ।[३] पाण्डव लोग नियम के अनुसार रहते हुए अन्य राजाओं को अपने अधीन करते हुए रहने लगे । दीर्घकाल के पश्चात् एक दिन कुछ चोरों ने किसी ब्राह्मण की गायें चुरा लीं । ब्राह्मण ने इन्द्रप्रस्थ में आकर अपनी गायों की रक्षा के लिये पाण्डवों को पुकारा । अर्जुन ने उसकी पुकार सुनी और उससे कहा कि " डरो मत" । पाण्डवों के अस्त्र शस्त्र जहां रखे गए थे । वहीं युधिष्ठिर कृष्णा के साथ एकान्त में बैठे थे । अत: अर्जुन न तो घर के भीतर प्रविष्ट कर सकते थे और न उनसे साथ चोरों का पीछा ही कर सकते थे । इधर आर्त ब्राह्मण की बातें उन्हें बार-बार व्यग्र ने

---

१ - जयभारत, मनजात, पृ० १३८ (द्वितीय संस्करण)
२ - महाभारत, आदिपर्व, विदुरागमन राज्यलम्भपर्व, अ० २०७ श्लोक ६-२१

जाने को प्रेरित कर रही थीं । अर्जुन ने उचित-अनुचित का विचार करके यही निश्चय किया कि अपने शरीर को नष्ट करके भी गौ-ब्राह्मण-रक्षा रूप धर्म का पालन ही श्रेष्ठ है । ऐसा निश्चय करके अर्जुन ने युधिष्ठिर से पूछ कर घर के भीतर प्रवेश करके धनुष ले लिया और चोरों द्वारा चुराई गई गायें वापस लेकर ब्राह्मण को दे दीं । इसके पश्चात् अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा कि मैंने आपको द्रौपदी के साथ देखकर नियम भंग किया है अत: अब मैं प्रायश्चित करने के लिए वनवास करूँगा । युधिष्ठिर ने अर्जुन को रोकने की चेष्टा की और कहा कि यदि बड़ा भाई घर में पत्नी के साथ बैठा हो, तो छोटे भाई का वहाँ जाना दोष की बात नहीं है, परन्तु छोटा भाई घर में हो तो बड़े भाई का वहाँ जाना उसके धर्म का नाश करने वाला है । अत: । तुम दोषी नहीं हो । परन्तु अर्जुन ने युधिष्ठिर की बात नहीं मानी और युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर बारह वर्षों के लिए वन को चल दिए ।[१]

अर्जुन के वन जाते समय बहुत से भगवद्भक्त ब्राह्मण-साथ-साथ चल पड़े । वे लोग गंगाद्वार पहुँचे और वहाँ ब्राह्मणों ने अनेक स्थानों पर अग्नि-होत्र के लिए अग्नि प्रकट की । इसी समय अर्जुन स्नान करने के लिए गंगा में उतरे । वे स्नान कर निकलना चाहते ही थे कि नागराज की पुत्री उलूपी ने उनके प्रति आसक्त होकर उन्हें पानी के नीचे खींच लिया । नागराज कौरव्य के सुन्दर भवन में पहुँच कर अर्जुन देखा कि वहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है । अर्जुन ने निर्भीकतापूर्वक उसी अग्नि में अपना अग्निहोत्र कार्य सम्पन्न किया । इससे अग्निदेव प्रसन्न हुए । तत्पश्चात अर्जुन ने उलूपी से उसका परिचय पूछा । उलूपी ने कहा कि ऐरावत नाग के कुल में कौरव्यनामक नाग उत्पन्न हुए हैं, मैं उन्हीं की पुत्री नागिन हूँ । मैं आपको जल में देखते ही मोहित हो गई । मैंने आपको ही अपना हृदय अर्पित किया है अत: मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिए । अर्जुन ने इस कार्य में धर्म की हानि बतलाई । परन्तु उलूपी के भाँति भाँति से समझाने पर अर्जुन ने धर्म को ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया । तब प्रात: काल वे उलूपीनिवास जल के ऊपर आए और उलूपी

अपने घर को लौट गई । जाते समय उलूपी ने अर्जुन को यह वर दिया कि 'आप जल में सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वश में रहेंगे ।' बाद में अर्जुन को उलूपी से बल-पराक्रम से सम्पन्न इरावान् नामक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हुआ ।[१]

अर्जुन ने यह सम्पूर्ण घटना ब्राह्मणों को बताई और फिर अर्जुन हिमालय के पास चल गए । वहाँ से वे नीचे उतर कर गङ्गा से स्थानों को पार करते हुए मणिपुर पहुँचे । वहाँ सम्पूर्ण तथा आदि को देखते हुए वे मणिपुर नरेश के पास गए । इनका नाम चित्रवाहन था । इनकी चित्रांगदा नाम की एक सुन्दर कन्या थी । उसे देखते ही अर्जुन उस पर आसक्त हो गए और चित्रवाहन से कहा कि 'मुझ महामनस्वी क्षत्रिय को आप अपनी कन्या प्रदान कर दीजिये ।' चित्रवाहन ने कहा कि मेरी यह कन्या ही वंश को चलाने वाली है अतः यह पुत्र के समान है । तुम्हारे द्वारा जो पुत्र इसके द्वारा उत्पन्न होगा , वह यहीं रह कर कुलपरम्परा का प्रवर्तक होगा । अतः मेरी कन्या से विवाह करने के लिए आपको यह शर्त माननी पड़ेगी । अर्जुन वैसा ही करने की प्रतिज्ञा करके उस कन्या का पाणिग्रहण किया और तीन वर्षों तक उसके साथ उसी नगर में निवास किया । फिर उसके एक पुत्र हो जाने के बाद अर्जुन ने उससे विदा ली और वे पुनः वहाँ से चल पड़े ।[२]

बहुत समय पश्चात अर्जुन घूमते हुए प्रभासतीर्थ पहुँचे । श्रीकृष्ण ने उनके आने का समाचार प्राप्त किया तो वे जाकर उनसे मिले । श्रीकृष्ण के पूछने पर अर्जुन ने अपने वनवास का कारण बताया । कृष्ण के साथ वे द्वारका गए । वहाँ भोज, वृष्णि और अंधक वंश के लोगों द्वारा अर्जुन का बहुत स्वागत हुआ । वहाँ अर्जुन ने कई रात्रियों तक कृष्ण के साथ निवास

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अर्जुनवनवास पर्व, अध्याय २१३
२. ,, ,, ,, ,, २१४

किया ।[1] कुछ दिनों के बीतने पर रैवतक पर्वत पर बड़ा उत्सव हुआ । उस अत्यन्त अद्भुत कौतूहलपूर्ण उत्सव में श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ घूम रहे थे । इसी समय वहाँ वसुदेव की सुन्दरी पुत्री शृंगार से सुसज्जित और सखियों से घिरी हुई उधर आ निकली । वहाँ टहलते हुए कृष्ण और अर्जुन ने उसे देखा । उसे देखते ही अर्जुन उस पर मोहित हो गए । श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मनोभाव को समझ लिया । श्रीकृष्ण ने अर्जुन से हँसते हुए कहा- यह क्या, वनवासी का मन भी इस तरह काम से उन्मथित हो रहा है ? तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि यह मेरी और सारण की सगी बहन है और इसका नाम सुभद्रा है । यह मेरे पिता की बड़ी लाड़ली कन्या है । यदि तुम इससे विवाह करना चाहो तो मैं स्वयं पिता जी से कहूँ । अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह करने की इच्छा प्रकट की । श्रीकृष्ण ने कहा कि स्वयंवर में तो न जाने किसे सुभद्रा वर ले, तुम इसे बलपूर्वक हरण करके ले जाओ । क्षत्रियों के लिए तो बलपूर्वक कन्या का हरण भी विवाह का उत्तम हेतु कहा गया है । तत्पश्चात् अर्जुन और श्रीकृष्ण ने कर्तव्य का निश्चय करके कुछ शीघ्रगामी पुरुषों को इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर की आज्ञा लेने भेजा । युधिष्ठिर ने यह सुनते ही अपनी ओर से आज्ञा दे दी ।[2] तत्पश्चात् सुभद्रा एक समय गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओं की पूजा करके ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर द्वारका की ओर लौट रही थी । उसी समय अर्जुन ने दौड़कर सुभद्रा को बलपूर्वक रथ पर बिठा लिया और अपने नगर की ओर चल दिये । सुभद्रा का हरण देख कर द्वारका में खलबली मच गई । और कृष्णवंशी-वीर अर्जुन से युद्ध की तैयारी करने लगे । श्रीकृष्ण को चुप बैठे देखकर बलराम भी क्रोधित हो उठे ।[3] तब श्रीकृष्ण ने सबको समझाया और अर्जुन के साथ सुभद्रा के विवाह को बहुत श्रेष्ठ और उत्तम बताया । श्रीकृष्ण ने उन लोगों से कहा कि कि अर्जुन से युद्ध करके कोई नहीं जीत सकता । अतः आपलोग

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अर्जुनवनवास,पर्व, अ० २१७

२. ,, ,, हरणाहरण पर्व, अ० २१८

३. ,, ,, अ० २१९

१६. राजसूय

'जयभारत' में पाण्डवों द्वारा किए गए राजसूय की कथा इस प्रकार वर्णित है - शिल्पी मय नामक दैत्य ने इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर आदि के लिए एक सभा-भवन तैयार किया था, जो कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ था और मनुष्यों में धर्मराज युधिष्ठिर सबसे श्रेष्ठ है। नारद मुनि ने युधिष्ठिर को एक राजसूय करने की सम्मति दी। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के पास जाकर इस विषय में उनकी सम्मति माँगी। श्रीकृष्ण ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और कहा -

" पार्थिव महत्त्व का यह मख मुख्य प्रतीक।"[१]

इस पर युधिष्ठिर ने शंका प्रकट की -

" पर बल पूर्वक निज महत्त्व क्या मनवाना है ठीक?"[२]

परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें विभिन्न तर्कों द्वारा यज्ञ करने के लिए तैयार कर लिया। श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम जरासन्ध को जीतने का प्रस्ताव रखा -

" सबके पहले मगधराज वह जरासन्ध ही जेय,
उसी एक को जीत बनेंगे हम सो के अजेय।
सो भूपों की बलि देने का है उसका संकल्प,
वह संख्या पूरी होने में शेष आज भी अल्प।

x x x

सो का घातक एक मरे तो वह क्या थोड़ा श्रेय?
मारे में ही प्राप्त समझिए, है हममें जो प्रेय।"[३]

भीमसेन ने इस कार्य में अपना उत्साह दिखाया। जरासन्ध ने भी

---

१. जयभारत, राजसूय, पृ० १३६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० १३६ ,,
३. ,, पृ० १४० ,,

भीम से ही मल्लयुद्ध किया, और भीम ने जरासंध को निष्प्राण कर दिया । फिर तो चारों ओर युधिष्ठिर ने विजय प्राप्त कर ली । उन्हें विभिन्न लोगों से अनेक प्रकार के उपहार भी प्राप्त हुए । युधिष्ठिर ने शत्रु राजाओं को जीतकर उन्हें मित्रों के समान सम्मान भी किया । राजसूय में धर्मराज युधिष्ठिर सबको विनीत लगे । द्रोण और भीष्म की देख रेख में सब कार्य सम्पन्न हुए । कृष्ण ने भोजन आदि की व्यवस्था बड़ी सुचारुता से की । दुर्योधन को यह कार्य सौंपा गया कि जो उपहार आएं उन्हें वे संभाल कर रखें । दुर्योधन के हृदय में पाण्डवों का वैभव और उपहार की उत्कृष्ट सामग्रियां देख कर ईर्ष्या जागृत हो गई ।

यज्ञ की समाप्ति पर कृष्ण ने कहा " पूज्य जनों के पग धोने का है मेरा अधिकार ।"[1] युधिष्ठिर कृष्ण की विनम्रता देखकर गद्‌गद् हो गए । भीष्म ने यज्ञ के अर्घ्य का भागी कृष्ण को बनाया –

" हरि, तुम्हारा पादपद्म यह धन्य ,
कौन अर्घ्यभागी इस मख का तुम्हें छोड़ कर अन्य ।"[2]

परन्तु इसमें शिशुपाल ने अपना अपमान समझा और कृष्ण तथा भीष्म दोनों से कहा –

" राजाओं के रहते पूजा जाय गोप का लाल ,
नष्ट भीष्म की भ्रष्ट बुद्धि के साक्षी हों भूपाल ।"[3]

कृष्ण अपना निरादर तो चाहे सह भी लेते परन्तु भीष्म का निरादर वे न सह सके । उन्होंने शिशुपाल की प्रताड़ना की । शिशुपाल के पक्ष के राजा तथा दुर्योधन , सभी सन्न रह गए । तत्पश्चात् यज्ञ सम्पन्न हो गया और सब अतिथि सम्मानित होकर अपने अपने घर गए , जिन राजाओं को पाण्डवों से द्वेष भी था , उन्हें भी युधिष्ठिर का स्नेह ही मिला ।

---

१. जयभारत, राजसूय, पृ० १४२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, १४३ ,,
३. ,, ,, ,,

युधिष्ठिर ने व्यासदेव से कहा कि यज्ञ तो सकुशल समाप्त हो गया, परन्तु अब कोई उत्पात न खड़ा हो जाय । व्यास मुनि ने कहा कि काल के आधार तो पता चलते ही हैं । परन्तु तुम अपने कर्तव्यों को करते हुए राज्य भोगो । द्रौपदी और सुभद्रा के पुत्र भी हो चुके हैं । तुम अब विश्वास पूर्वक राज्य करो । इतना कह कर व्यासदेव चले गए । तब युधिष्ठिर ने दुर्योधन से वहाँ कुछ दिनों ठहरने का आग्रह किया । दुर्योधन स्वयं भी रुकना चाहता था । परन्तु दुर्भाग्यवश वहाँ के भोग उसके लिए विषमय बन गए । दुर्योधन जब कक्ष में घुसे तो उन्हें द्वार खुला हुआ प्रतीत हुआ, पर वह वास्तव में स्फटिक शिला थी । उससे दुर्योधन का सर टकरा गया । आगे जाने पर दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का आभास हुआ । यह दृश्य देख कर दास-दासी भी अपनी हँसी न रोक सके । इस पर दुर्योधन क्रोध और लज्जा से लाल हो उठा ।

इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के सभापर्व में मिलते हैं । श्रीकृष्ण ने शिल्पियों में श्रेष्ठ दैत्य राज मय को युधिष्ठिर के लिए एक अद्भुत सभाभवन बनाने की आज्ञा दी ।[१] मय दैत्य ने एक अनुपम सभा तैयार की जो तीनों लोकों में विख्यात , दिव्यमणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ।[२] युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के बाजे तथा भाँति-भाँति के दिव्य सुगंधित पदार्थों द्वारा उस भवन में देवताओं की स्थापना एवं पूजा की । इसके बाद वे उस भवन में प्रविष्ट हुए ।[३] युधिष्ठिर की उस सभा में नारद मुनि आए और उन्होंने प्रश्न के रूप में युधिष्ठिर को शिक्षा दी ।[४] नारद मुनि ने युधिष्ठिर को राजसूय करने की सम्मति दी । युधिष्ठिर नारद मुनि के चले जाने पर राजसूय करने के सम्बन्ध में विचार करने लगे ।[५] उन्होंने अपने मंत्रियों और भाइयों को बुलाकर

---

१. महाभारत सभापर्व, सभाक्रियापर्व, अ० १, श्लोक १०,११
२. ,, ,, अ० ३ ,, २०-२६
३. ,, ,, अ० ४ ,, ६
४. ,, ,, अ० ५
५. ,, ,, अ० १२, श्लोक २५-३५

उनसे राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में विचार करने लगे। और सभी ने उन्हें राजसूय यज्ञ करने की सम्मति दी।[1] तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को बुलवा कर उनसे भी इस विषय में राय ली।[2] श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को राजसूय के लिये अपनी सम्मति दी। और कहा कि जब तक महाबली जरासन्ध जीवित है तब तक आपका राजसूय यज्ञ पूरा नहीं हो सकता, अत: उसका वध आवश्यक है। उसके वध के उपरान्त समस्त भूपालों की सेनाओं पर विजय प्राप्त हो जायगी।[3] युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की सम्मति से प्रसन्न हुए। भीमसेन ने कहा कि श्रीकृष्ण में नीति है, मुझमें बल है और अर्जुन में विजय की शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासन्ध के वध का कार्य पूरा कर लेंगे।[4] श्रीकृष्ण ने बताया कि जरासन्ध आजकल प्रधान पुरुष बनकर राजाओं को बन्दी बना लेता है। क्षत्रियों के सौ कुल हैं। उसने उन सौ राजकुलों के राजाओं में से कुछ को छोड़ कर सब को वश में कर लिया है। उनकी बलि देगा। अत: जरासन्ध को मार कर उन राजाओं को जो मुक्त कर देगा वह निश्चय ही सम्राट होगा।[5] युधिष्ठिर जरासन्ध को जीतने के विषय में उत्साह हीन होने लगे तो अर्जुन ने उत्साहपूर्ण उद्गार प्रकट किए।[6] तत्पश्चात् श्रीकृष्ण और जरासन्ध में युद्ध विषयक वार्तालाप हुआ। और जरासन्ध ने युद्ध करने का निश्चय कर लिया।[7] तब श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं, अर्जुन और भीम तुमसे युद्ध करने को तैयार हैं। तुम हममें से किससे युद्ध करना चाहोगे? इस पर जरासन्ध ने भीमसेन के साथ युद्ध करना चाहा। तत्पश्चात भीम और जरासंध का युद्ध हुआ।[8] अन्त में भीम के द्वारा जरासन्ध का वध हो गया।

---

१. महाभारत, सभापर्व, राजसूयारम्भ पर्व, अ० १३, श्लोक १६ - ३२
२. ,, ,, ,, अ० १३ श्लोक ४१-५१
३. ,, ,, ,, अ० १४
४. ,, ,, ,, अ० १५ श्लोक १,१३
५. ,, ,, ,, ,, श्लोक १८-२५
६. ,, ,, ,, अ०१६ ,,
७. ,, ,, जरासन्धवधपर्व अ० २२
८. ,, ,, ,, अ० २३

जरासन्ध के राज्य पर जरासन्ध के पुत्र सहदेव को अभिषिक्त कर दिया गया। समस्त कैदी राजाओं को भी मुक्त कर दिया गया। तत्पश्चात श्रीकृष्ण द्वारका चले गए।[१] इसके बाद अर्जुन आदि चारों भाई दिग्विजय के लिए चल पड़े[२]। अर्जुन के द्वारा अनेक देशों और राजाओं की पराजय हुई।[३] अर्जुन ने अनेक पर्वतीय प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त की।[४] किम्पुरुष, हाटक, तथा उत्तर कुरु पर विजय प्राप्त करके अर्जुन इन्द्रप्रस्थ लौट आए।[५] भीम पूर्व दिशा की ओर गए और विभिन्न देशों पर विजय प्राप्त की।[६] भीम अनेक राजाओं को जीत कर बहुत सी धन-सम्पत्ति के साथ इन्द्रप्रस्थ लौट आए।[७] सहदेव ने दक्षिण दिशा की ओर विजय प्राप्त की।[८] नकुल के द्वारा पश्चिम दिशा की विजय की गई।[९] इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर अपने धर्म के अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई शासन करने लगे। उनके जितने हितैषी और सुहृद थे वे सभी यह कहने लगे कि यह आपके यज्ञ करने का उपयुक्त समय आया है, अत: अब आप उसका आरम्भ कर दीजिए। इसी समय वहाँ श्रीकृष्ण आ पहुँचे। युधिष्ठिर ने उनसे कहा कि आपकी दया से सम्पूर्ण पृथ्वी अब मेरे आधीन हो गई है। अब मैं आप तथा छोटे भाइयों के साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। श्रीकृष्ण ने उन्हें यज्ञ करने की सम्मति दे दी। तब युधिष्ठिर आदि भाइयों ने राजसूय यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र करनी आरम्भ की। बहुत से ब्राह्मणों ने आकर युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा दी। तब भाइयों सहित युधिष्ठिर यज्ञ मंडप में गए। युधिष्ठिर ने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि को बुलाने के लिए नकुल को

---

१. महाभारत, सभापर्व, जरासन्ध पर्व, अ० २४, श्लोक १-४७, गीताप्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, दिग्विजयपर्व अ० २६ ,, ,,
३. ,, ,, ,, अ २६ ,,
४. ,, ,, ,, अ० २७ ,,
५. ,, ,, ,, अ० २८ ,,
६. ,, ,, ,, अ० २९ ,,
७. ,, ,, ,, अ० ३० ,,
८. ,, ,, ,, ,, ,,

हस्तिनापुर भेजा ।[१] युधिष्ठिर के यज्ञ में सब देशों के राजा, कौरव तथा यादव लोग आए[२]। युधिष्ठिर ने सबका स्वागत किया और कौरवों को विभिन्न कार्यों में लगाया । भोजन की व्यवस्था का कार्य दु:शासन को सौंपा । राजाओं की सेवा और सत्कार के लिए संजय को नियुक्त किया । उत्तम स्वर्ण और रत्नों को परखने के लिए कृपाचार्य को नियुक्त किया । विदुर जी को धन व्यय करने का कार्य सौंपा गया । दुर्योधन उर देने वाले राजाओं से सब प्रकार की भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखने का कार्य कर रहे थे । थे । श्रीकृष्ण सब ब्राह्मणों के चरण धोने के कार्य में लगे थे ।[३] अभिषे-चनीय कर्म के दिन यज्ञ सभा में भीष्म जी ने दुर्योधन से कहा कि अब तुम यहां पधारे हुए राजाओं का यथायोग्य सत्कार करो । तुम इन सबके लिए बारी-बारी से अर्घ्य दो और जो इनमें सबसे श्रेष्ठ और शक्तिशाली हो उसको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो । तब युधिष्ठिर ने पूछा कि इन समागत नरेशों में किस एक को सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं ? भीष्म ने श्रीकृष्ण को ही भूमण्डल में सबसे अधिक पूजनीय माना । भीष्म की आज्ञा मिल जाने पर सहदेव ने श्रीकृष्ण को ही सर्वप्रथम अर्घ्य निवेदित किया । श्रीकृष्ण ने उसे स्वीकार भी किया । श्रीकृष्ण का सम्मान शिशुपाल नहीं सह सका । वह भीष्म और युधिष्ठिर को उलाहना देकर श्रीकृष्ण पर आक्षेप करने लगा ।[४] शिशुपाल ने कहा कि यहां इतने भूमिपतियों को रहते हुए वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओं की भांति राजोचित पूजा का अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ।[५] शिशुपाल को अत्यधिक क्रोधित देखकर युधिष्ठिर ने उसे समझाया । और भीष्म जी ने उसके आक्षेपों का विस्तारपूर्वक उत्तर दिया ।[६] शिशुपाल तथा

---

१. महाभारत, सभापर्व, राजसूय पर्व, अ० ३३
२. ,, ,, अ० ३४
३. ,, ,, अ० ३५
४. ,, ,, अर्घाभिहरणपर्व, अ० ३६, श्लोक २२-३२
५. ,, ,, ,, अ० ३७ ,, १-३१
६. ,, ,, ,, अ० ३८

उसके साथी राजाओं को क्रुद्ध देखकर सहदेव ने राजाओं को चुनौती दी । तब क्षुब्ध हुए नरेश क्रुद्ध होकर युद्ध के लिए उद्यत हुए ।[१] तब युधिष्ठिर चिंतित हुए और भीष्म जी ने उन्हें सान्त्वना दी ।[२] शिशुपाल की बातों पर भीमसेन क्रोधित हो गए परन्तु भीष्म जी ने उन्हें शान्त किया ।[४] शिशुपाल ने भीष्म की निन्दा की और भीष्म ने समस्त राजाओं को चुनौती दी कि वे श्रीकृष्ण से युद्ध करें ।[५] शिशुपाल कृष्ण से युद्ध करने के लिए झपटा और युद्ध में कृष्ण द्वारा उसका बध हो गया ।[६] अनन्तर राजसूय यज्ञ की समाप्ति हो गई और सभी राजाओं ने अपने अपने निवासस्थान को प्रस्थान किया । श्रीकृष्ण भी द्वारिका पुरीको चल पड़े ।[७] दुर्योधन और शकुनि वहीं रुक गए । दुर्योधन शकुनि के साथ इस सभा भवन का निरीक्षण करने लगा । एक दिन दुर्योधन सभा भवन में घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थल पर जा पहुँचा और वहाँ जल की आशंका से उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया । इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जाने से वह उदास हो गया । वह दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा और भ्रम वश स्थल में ही गिर पड़ा । इससे वह मन ही मन दुखी और लज्जित हुआ । तत्पश्चात स्फटिक मणि के समान स्वच्छ जल से भरी बावली को स्थल समझ कर वह वस्त्र पहने हुए ही जल में गिर पड़ा । दुर्योधन को जल में गिरा हुआ देखकर भीमसेन हँसने लगे और उनके सेवकों ने भी दुर्योधन की हँसी उड़ाई अर्जुन और नकुल सहदेव भी उस समय जोर जोर से हँसने लगे । दुर्योधन स्वभाव से ही अमर्षशील था, अत: वह उनका उपहास न सह सका । वह बिना उनकी ओर देखे भ्रम वश स्थल को ही जल समझ कर कपड़े उठाकर चलने लगा । इसके बाद ने एक स्फटिकमणि का बना हुआ दरवाजा देखा जो वास्तव में बंद था ,

---

१. महाभारत, सभापर्व, शिशुपालवधपर्व, अ० ३९
२. ,, ,, ,, अ० ४०
३. ,, ,, ,, अ० ४१
४. ,, ,, ,, अ० ४२
५. ,, ,, ,, अ० ४३
६. ,, ,, ,, अ० ४४
७. ,, ,, ,, अ० ४५

परन्तु खुला हुआ दिखाई पड़ता था । उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर सा आगया । ठीक उसी तरह का एक दूसरा दर-वाजा मिला, जिसमें स्फटिक मणि के बड़े-बड़े किवाड़ लगे थे । यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधन ने उसे बंद समझ कर उस पर दोनों हाथों से धक्का देना चाहा । किन्तु धक्के से वह स्वयं द्वार के बाहर निकल कर गिर पड़ा । आगे जाने पर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला, परन्तु कहीं पिछले दरवाजों की भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भय से वह उस दरवाजे के इधर से ही लौट आया । इस प्रकार पाण्डवों की अद्भुत समृद्धि पर दृष्टि डाल कर तथा अपना अपमान देखकर वह अप्रसन्न मन से हस्तिनापुर लौट आया । उसके मन में पापपूर्ण विचार उदय होने लगे ।[1]

श्रीमद्भागवत पुराण में भी दशम स्कन्ध के अन्तर्गत यह कथा अध्याय ७२ से अध्याय ७५ तक वर्णित है । पाण्डव राजसूय यज्ञ का आयोजन करते हैं । श्रीकृष्ण इसके लिए युधिष्ठिर को उत्साहित करते हैं । युधिष्ठिर ने प्रसन्न होकर अपने भाइयों को दिग्विजय करने का आदेश दिया । श्रीकृष्ण ने उनमें अपनी शक्ति का संचार करके उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया । भीमसेन आदि चारों भाइयों ने सब ओर के नरपतियों को जीत लिया । परन्तु जब युधिष्ठिर ने सुना कि अब तक जरासंध पर विजय नहीं प्राप्त की गई है तो वे चिन्ता में पड़ गए । उस समय श्रीकृष्ण ने उन्हें और एक उपाय बताया, जिसके अनुसार भीमसेन, अर्जुन और कृष्ण ब्राह्मण वेश धारण कर जरासंध की राजधानी गिरिव्रज गए । वहाँ श्रीकृष्ण ने भीमसेन में अपनी शक्ति का संचार किया । भीमसेन और जरासंध में मल्लयुद्ध हुआ । अन्त में श्रीकृष्ण द्वारा बताए गए उपाय से भीमसेन ने जरासंध को चीर कर मार डाला ।[2]

---

१. महाभारत, सभापर्व, द्यूतपर्व, अ० ४७, श्लोक १-२६

२. श्रीमद्भागवतपुराण, दशम स्कन्ध, अ० ७२ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

जरासंध ने बीस हजार आठ सौ राजाओं को जीत कर पहाड़ों की घाटी में एक किले के भीतर कैद कर रखा था। भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें मुक्त कर दिया। उन राजाओं ने श्रीकृष्ण की स्तुति की। श्रीकृष्ण ने बन्दी राजाओं का सम्मान किया और जरासंध के पुत्र सहदेव से भी उनका सम्मान करवाया। तत्पश्चात श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ आए।[१]

अश्वमेध यज्ञ के आरम्भ होने से पहले सभासद इस विषय पर विचार करने लगे कि सदस्यों में सबसे पहले किसकी पूजा होनी चाहिए। सहदेव ने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की पूजा करने का सुझाव दिया। सभी लोगों ने इस विषय में अपनी सम्मति दी। तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की पूजा की। शिशुपाल-जो कि सभा में उपस्थित था, वह श्रीकृष्ण के सम्मान को देखकर क्रोधित हो उठा। वह श्रीकृष्ण को अत्यन्त कठोर बातें कहने लगा। अन्त में श्रीकृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपाल का सिर काट लिया।[२] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की समाप्ति बड़ी सफलता से हो गई। युधिष्ठिर के अन्तःपुर की सौन्दर्य सम्पत्ति और राजसूय यज्ञ द्वारा प्राप्त महत्त्व को देख कर दुर्योधन का मन डाह से जलने लगा। दुर्योधन का मन द्रौपदी में आसक्त था और यह उसकी जलन का मुख्य कारण था।[३]

उसी सभा में मय दानव ने अपनी माया फैला रखी थी। दुर्योधन उससे मोहित होकर स्थल को जल समझकर अपने वस्त्र समेट लिए और जल को स्थल समझकर वह उसमें गिर पड़ा। उसको गिरते देखकर भीमसेन, राजरानियाँ तथा दूसरे नरपति हंसने लगे। इससे दुर्योधन लज्जित हो गया, उसका रोम रोम क्रोध से जलने लगा। वह तुरन्त हस्तिनापुर चला गया।[४]

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अ० ७३
२. ,, ,, अ० ७४
३. ,, ,, अ० ७५ श्लोक १-३३
४. ,, ,, अ० ७५ श्लोक ३५-३८

'जयभारत' में 'राजसूय' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के सभापर्व में अध्याय २ से अध्याय ४७ तक मिलते हैं। महाभारत में यह अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तार से वर्णित है, परन्तु जयभारतकार ने उसको संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है। श्रीमद्भागवत पुराण में भी यह कथा प्राप्त होती है। परन्तु उसमें श्रीकृष्ण का माहात्म्य बतलाते हुए सम्पूर्ण कथा वर्णित है कथा का रूप थोड़ा बदला हुआ है। अतः महाभारत ही गुप्त जी की कथा का स्रोत प्रतीत होता है।

गुप्त जी ने 'महाभारत' के इस विस्तृत आख्यान को 'जयभारत' में संक्षिप्त रूप में रखा है। युधिष्ठिर के लिए राजसूय यज्ञ करना आवश्यक था क्योंकि इस चक्रवर्ती राज्य का होना देश के लिए उपयोगी था। अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव ने दिग्विजय की और जरासंध को मार कर अनेक राजाओं को अपने पक्ष में कर लिया। कवि ने अर्घ्यदान के प्रसंग में परिवर्तन कर दिया है। 'महाभारत' में सभा भवन देखते समय दुर्योधन का उपहास पर्याप्त विस्तार से वर्णित है, परन्तु गुप्त जी ने उसका उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया है। कवि ने युधिष्ठिर को गंभीर और विनीत चित्रित किया है। यथा —

'राजसूय में धर्मराज यों सबको लगे विनीत,
हारे से वे बरत रहे थे जगती भर की जीत।'[1]

१७. द्यूत

दुर्योधन के हृदय में पाण्डवों के प्रति जो ईर्ष्या थी वह इन्द्रप्रस्थ में जाकर और भी बढ़ गई। घर आकर उसे किसी भी प्रकार शान्ति न मिली। दुर्योधन ने एक गोष्ठी की और युधिष्ठिर के साथ छल करने के लिए चौपड़ के खेल का आयोजन किया। शकुनि ने युधिष्ठिर को चौपड़ के लिए ललकारा।

---

१. जयभारत, राजसूय, पृ० १४१ (द्वितीय संस्करण)

युधिष्ठिर ने खेलना स्वीकार कर लिया । युधिष्ठिर स्वभाव से सरल थे परन्तु शकुनि 'कूट कर्मी' था । शकुनि ने छल किया और युधिष्ठिर हारने लगे —

> " राजपाट फिर अनुज और फिर अपने को भी हार गए ,
> जान न पाए, कृष्णा को भी कब वे पण पर वार गए ।"[1]

युधिष्ठिर हारने से दुःखी तब हुए तब अर्जुन ने कहा — " छले गए हैं आर्य " । युधिष्ठिर के सब कुछ हार जाने पर भी दुर्योधन को संतोष नहीं हुआ । दुःशासन अन्दर कृष्णा को उसके केश खींचता हुआ पकड़ लाया । द्रौपदी मछली के समान तड़प रही थी । उसने विलाप करते हुए कहा —

> " मुझे एक वस्त्रावस्था में खींच लाया यह घेर ,
> अन्धराज्य में क्या कोई भी नहीं देखता यह अन्धेर ?
> पाप सभा में ये गुरुजन भी बैठे हैं निश्चल नत भाल ,
> नेत्र मूंद मानें कपोत ज्यों नहीं कहीं भी व्याल-बिड़ाल ।"[2]

कर्ण ने द्रौपदी से कहा — " पण-पराजिता दासी होकर इतना दर्प "[3] द्रौपदी ने कर्ण को फटकारते हुए कहा —

> " बल से जीत न सके जिन्हें खल, छलने चले उन्हें छल से ?
> किन्तु कहाँ तक काम चलेगा ऐसे कलुषित कौशल से ?"[4]

दुर्योधन के भाई विकर्ण ने सहसा सभा में उठकर कहा —

> " निश्चय यह आर्या अपराध थी, द्यूतधृत होकर ही आई ।"[5]

परन्तु कर्ण ने विकर्ण को झिड़क कर बैठा दिया । और दुःशासन को आज्ञा दी कि —

---

१. जयभारत, द्यूत, पृ० १४६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १४६ ,,
३. ,, पृ० १४७ ,,
४. ,, ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,, ,,

" दुःशासन, यह एक वसन भी तुम क्यों हरना चाहते हो ?"[1]
तब दुःशासन ने उसके केशों को छोड़कर उसका आँचल पकड़ लिया। यह देख कर भीम व्याकुल हो उठे और उन्होंने प्रतिज्ञा की —

" दुःशासन का हृदय चीर कर उसका रक्त न पी जाऊँ,
तो साक्षी दिक्पाल, रहो तुम, मैं न वीर की गति पाऊँ।
दुर्योधन की जांघ न तोड़ूं, तो मैं अपना सिर फोड़ूं,
यदि मैं कभी प्रतिज्ञा छोड़ूं तो पितरों से मुँह मोड़ूं।"[2]

भीम ने सहदेव से कहा कि तुम अग्नि ले आओ तो मैं अभी इनके हाथ जला दूं। परन्तु अर्जुन ने भीम को शान्त कर दिया।

इधर द्रौपदी ने अपने चीर का हरण होते हुए देखकर नारायण की शरण ली। सहसा दुःशासन को वहाँ अन्धकार सा दिखाई दिया और द्रौपदी का पट चीर और चीर के अम्बर के समान दिखाई पड़ने लगा। उसके पैर कांप गए और वह भयभीत होकर गिरते गिरते बैठ गया। इसी समय गांधारी वहाँ आईं। उन्होंने धृतराष्ट्र की प्रताड़ना की और कहा —

" हाय ! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई रक्षित क्या,
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या ?"[3]

धृतराष्ट्र ने गांधारी का समर्थन किया और कहा —

" पुत्र मोह उससे भी दुस्तर मज्जित करता है मुझको,
सबल तुम्हारा मातृ हृदय यह लज्जित करता है मुझको,
बहू द्रौपदी कहाँ बुलाओ, आ, मेरे कुल की लाली।
पिता पितृकों का मैं, फिर भी निर्भय हो जा पांचाली।
सुनने पड़े सभा में मुझको कातर वचन हाय ! तेरे,
क्यों न दृष्टि के साथ श्रवण भी नष्ट किये विधि ने मेरे।"[4]

---

१. जय भारत, द्यूत, पृ० १५७ (द्वितीय संस्करण)
२. " " १५८ "
३. " " १५९ "
४. " " १५९ "

धृतराष्ट्र ने द्रौपदी से कहा कि वह जो जो चाहे उसे निस्संकोच माँग ले । द्रौपदी ने कहा कि आपकी अनुकम्पा ही बहुत है फिर भी यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मेरे पतियों को पराधीनता से मुक्त कर दीजिए । परन्तु धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को पाण्डवों का सब कुछ लौटा दिया । पाण्डवों को धृतराष्ट्र ने इन्द्रप्रस्थ लौटा दिया ।

धृतराष्ट्र के इस व्यवहार से दुर्योधन मन ही मन जल गया । उसने धृतराष्ट्र से कहा कि आपने ममता के वश में आकर अनर्थ कर दिया । अब वे फंसे हुए शत्रु छूट जाने पर क्या हमें छोड़ देंगे । आपके उपकार को वे भूल कर हमें अवश्य नाश देंगे । इस प्रकार धृतराष्ट्र को भय दिखाकर दुर्योधन ने एक पण और करने की स्वीकृति ले ली । इस बार दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा कि —

"जो हारे सो राज्य छोड़ कर बारह वर्ष करे वनवास ,
एक वर्ष अज्ञातवास में धरा जाय तो फिर वह त्रास ।"[1]

युधिष्ठिर ने यह बात स्वीकार करके पण खेला और पुनः हार गए । द्रुपद ने जब यह समाचार सुना तो वे व्याकुल से द्रोणाचार्य और विदुर के पास गए और उन्हें यह समाचार दिया । वे दोनों दरबार से आए । युधिष्ठिर ने कहा कि आपकी कृपा हम लोगों पर वन में भी रहेगी ।

तत्पश्चात वे द्रौपदी सहित वन के लिए चल पड़े । कुंती को विदुर के पास ही छोड़ दिया गया । उनके पीछे व्याकुल सी प्रजा भी चलने लगी । युधिष्ठिर के समझाने पर वे लौटे परन्तु फिर भी कुछ जन साथ ही चले ।

'जयभारत' में वर्णित यह अन्तर्कथा पर्याप्त विस्तारपूर्वक महाभारत में मिलती है । इन्द्रप्रस्थ से राजसूय यज्ञ के पश्चात लौटने पर दुर्योधन अत्यधिक दुःखित था । उसने अपने मामा शकुनि से कहा कि मैं आज अत्यधिक दुःखी हूँ और ईर्ष्या की अग्नि में जल रहा हूँ । शत्रुओं के पास समस्त भू-मण्डल का राज्य , अत्यधिक सम्पदा और उनके द्वारा किया गया वैसा राजसूय यज्ञ देखकर मेरे जैसा कौन पुरुष चिंतित न होगा । मैं अकेला उस राजलक्ष्मी को

---

१. जयभारत, गु., पृ० १५१ (द्वितीय संस्करण)

छीन लेने में असमर्थ हूँ और मेरे पास ऐसा कोई सहायक भी नहीं है । अत: मैं अब मृत्यु का चिंतन करना चाहता हूँ ।[1] तब शकुनि ने दुर्योधन को सान्त्वना दी और कहा कि पाण्डवों से ईर्ष्या करने से क्या लाभ ? उनका भाग्य महान है । परन्तु तुम्हें स्वयं को असहाय नहीं समझना चाहिए । द्रोणाचार्य अश्वत्थामा, कर्ण और तुम्हारे समस्त भाई तुम्हारे साथ हैं । परन्तु पाण्डवों को तुम युद्ध में नहीं जीत सकते । उनको जीतने का एक दूसरा उपाय है । तब दुर्योधन के पूछने पर शकुनि ने कहा कि युधिष्ठिर को जुए का खेल बहुत प्रिय है, किन्तु वे उसे खेलना नहीं जानते । यदि युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं रहेंगे और मैं जुआ खेलने में बहुत निपुण हूँ । तीनों लोकों में मेरे समान जुआ खेलने वाला अन्य कोई नहीं है । मैं युधिष्ठिर की समस्त लक्ष्मी को तुम्हारे लिए प्राप्त कर लूँगा । अब आप धृतराष्ट्र से इस कार्य के लिए कहिए ।[2] धृतराष्ट्र से दुर्योधन ने अपनी चिंता का कारण बताया और द्यूत के लिए अनुरोध किया ।[3] धृतराष्ट्र ने पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर विदुर जी को बुलाया । द्यूत का समाचार सुनकर विदुरजी शीघ्रतापूर्वक धृतराष्ट्र के पास आए और धृतराष्ट्र से कहा कि मैं आपके द्यूत के निश्चय को उचित नहीं समझता । परन्तु धृतराष्ट्र ने विदुर जी को समझा दिया कि उससे कौरवों और पाण्डवों में भेदभाव अथवा कलह न होगा ।[4] विदुर जी से बात करने के उपरान्त धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाने की चेष्टा की और द्यूत का विचार त्याग देने के लिए कहा, परन्तु दुर्योधन ने उनकी बात न मानी और अपने क्रोध का विस्तार से वर्णन किया ।[5] परन्तु फिर भी धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा कि तुम पाण्डवों से द्वेष मत करो और अपने ही

१.- महाभारत, सभापर्व, द्यूत पर्व अ० ४७, श्लोक ३० -४०

२.- ,, ,, अ० ४८ ,, १-२३

३.- ,, ,, अ० ४९ ,, १२-४२

४.- ,, ,, ,, ,, ५०-५६

५. ,, ,, ,, ५०,५१,५२,५३ ।

वैभव से सन्तुष्ट रहो ।[१] दुर्योधन ने पिता की एक न सुनी और पुन: उन्हें द्यूत के लिए उकसाया ।[२] दुर्योधन का मत जानकर धृतराष्ट्र ने जुए का आदेश दे दिया और विदुर जी को द्यूत का निमंत्रण देने के लिए युधिष्ठिर के पास भेजा ।[३] राजा धृतराष्ट्र के बलपूर्वक भेजने पर विदुर जी इन्द्रप्रस्थ जाकर युधिष्ठिर से मिले । विदुर जी ने कहा कि मैं तुम्हें धृतराष्ट्र की ओर से जुआ खेलने के लिए निमंत्रण देने आया हूं । यदि तुम उचित समझो तो चलो । युधिष्ठिर के पूछने पर विदुर जी ने बताया कि वहां जुआ खेलने के लिए शकुनि है जो जुए का बहुत बड़ा खिलाड़ी है । वह अपनी इच्छानुसार पासे फेंकने में सिद्धहस्त है । उसके अतिरिक्त राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र, और जय भी रहेंगे । युधिष्ठिर ने कहा कि यद्यपि वहां बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी एकत्रित हों भी मैं राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जुए में अवश्य चलना चाहता हूं । मेरे मन में जुआ खेलने की इच्छा नहीं है । यदि मुझे राजा धृतराष्ट्र न बुलाते तो मैं कभी न जाता परन्तु बुलाने पर मैं पीछे नहीं रहूंगा यह मेरा सदा का नियम है । तत्पश्चात् युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियों के साथ चल पड़े और हस्तिनापुर के पास पहुंच गए । वहां उन सब ने डेरा डाल दिया तदनन्तर विदुर जी ने शोकाकुल वाणी में युधिष्ठिर को वहां का सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीड़ा के पीछे क्या रहस्य है ? तत्पश्चात् धृतराष्ट्र के द्वारा बुलाए जाने पर भाइयों सहित युधिष्ठिर, आकर धृतराष्ट्र से मिले । फिर युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधनादि सबसे मिले । दूसरे दिन युधिष्ठिर आदि पाण्डव जुआ खेलने की सभा में गए ।[४] वहां जाकर युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा जुआ खेलना कोई अच्छा कार्य नहीं और तुम जुआ खेल कर अनुचित मार्ग से हमें जीतने की चेष्टा मत करो और क्षत्रियों के लिए तो युद्ध ही उत्तम है, जुआ खेलना नहीं । शकुनि ने विभिन्न तर्कों के द्वारा जुआ खेलना उचित बताया और कहा कि आपको

---

१. महाभारत, सभापर्व, द्यूतपर्व, अ० ५४
२. ,, अ० ५५
३. ,, अ० ५६
४. ,, अ० ५८

इससे भय लगता हो तो आप मत खेलिए । तब युधिष्ठिर ने कहा कि मैं बुलाने पर पीछे नहीं हटता । दैव बलवान है और मैं दैव के वश में हूं । तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने पूछा कि मुझे किसके साथ जुआ खेलना होगा ? तब दुर्योधन ने कहा कि धन आदि तो मैं दूंगा पर मेरी ओर से खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि । इस पर युधिष्ठिर ने कहा कि दूसरे के लिए दूसरे का जुआ खेलना तो अनुचित प्रतीत होता है ।[१] तत्पश्चात् जुआ आरम्भ हुआ और जुए में शकुनि के छल से प्रत्येक दांव पर युधिष्ठिर की हार होने लगी ।[२] शकुनि द्वारा सर्वस्व अपहरण करने वाली द्यूत क्रीड़ा को देखकर विदुर जी ने धृतराष्ट्र को चेतावनी दी ।[३] विदुर जी ने जुए का घोर विरोध किया ।[४] जुए का विरोध सुनकर दुर्योधन ने विदुर जी को फटकारा और विदुर जी ने उसे चेतावनी दी ।[५] युधिष्ठिर धन, राज्य भाइयों तथा द्रौपदी सहित स्वयं अपने को भी जुए में हार गए ।[६] यह देखकर पुन: विदुर जी ने दुर्योधन को फटकारा ।[७] परन्तु दुर्योधन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने प्रतिकामी से कहा कि तुम जाकर द्रौपदी को यहां ले आओ । प्रतिकामी ने जाकर द्रौपदी को युधिष्ठिर की हार की सूचना दी । द्रौपदी ने उससे कहा कि तुम जाकर युधिष्ठिर से पूछो कि वे पहले अपने को हारे थे या मुझे । प्रतिकामी ने सभा में आकर यह बात युधिष्ठिर से कही । युधिष्ठिर ने कोई उत्तर नहीं दिया । तब दुर्योधन ने उसे पुन: द्रौपदी को ले आने की आज्ञा दी । इस बार, द्रौपदी ने कहा कि तुम पहले जाकर सभा में बैठे हुए कुलवंशियों से पूछो कि मुझे इस समय क्या करना चाहिए ? प्रतिकामी ने सभा में जाकर द्रौपदी का संदेश कह दिया, जिसे सुनकर सभी नीचा मुंह किए बैठे रहे । तब दुर्योधन ने दु:शासन से कहा कि यह प्रतिकामी अत्यधिक मूर्ख है तुम स्वयं द्रौपदी को यहां पकड़ कर ले आओ । दु:शासन द्रौपदी के

---

१. महाभारत, सभा, द्यूत पर्व, अ० ५६
२. ,, अ० ६०,६१
३. ,, अ० ६२
४. ,, अ० ६३

केशों को खींचता हुआ सभा में ले आया । वहां आकर द्रौपदी ने कुरुवंशियों को सम्बोधित करके अपनी रक्षा के लिए करुण विलाप किया । पाण्डव द्रौपदी की यह दशा देखकर अत्यधिक क्रोधित और लज्जित हो रहे थे । दुर्योधनादि कौरव प्रसन्न हो रहे थे ।[1]

भीमसेन द्रौपदी की दुर्दशा को देखकर क्रोधित हो उठे और उन्होंने कहा कि युधिष्ठिर राज्य, सम्पदा, धन आदि सब दांव पर लगा सकते है क्योंकि वे राजा थे, परन्तु द्रौपदी को दांव पर लगाना अत्यधिक अनुचित हुआ । भीम ने युधिष्ठिर से कहा —

अस्या: कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते ।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय । ६।२

अर्थात् द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूं । आपकी दोनों बाहें जला डालूंगा । सहदेव आग ले आओ ।

भीमसेन को अर्जुन ने उचित-अनुचित का भेद समझा कर शांत किया । विकर्ण ने द्रौपदी का पक्ष लिया और कहा कि मैं द्रौपदी को जुए में जीती हुई नहीं मानता ।[3] कर्ण ने विकर्ण की बात सुनकर उसे फटकारा ।[4] कर्ण ने दु:शासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी के वस्त्र का हरण कर लो । दु:शासन ने द्रौपदी का वस्त्र खींचना आरम्भ कर दिया । द्रौपदी ने नारायणस्वरूप श्रीकृष्ण का चिंतन किया और अपने उद्धार के लिए प्रार्थना की । श्रीकृष्ण द्रौपदी की आर्त पुकार सुनकर दौड़ पड़े और अव्यक्त रूप से द्रौपदी के वस्त्रों में प्रवेश कर गए । उन्होंने द्रौपदी के वस्त्रों से ढेर से वस्त्र उत्पन्न कर दिए । यह अद्भुत दृश्य देखकर वहां कोलाहल मच गया । उस समय भीमसेन ने वहां प्रतिज्ञा की कि मैं युद्ध में बलपूर्वक इस पापी दु:शासन की छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊंगा । यदि न पीऊं तो मुझे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठ गति न मिले । दु:शासन द्रौपदी के वस्त्र का हरण न कर सका और थक कर बैठ गया ।[5]

---

१. महाभारत, सभा द्यूतपर्व, अ० ६७
२. ,, ,, अ० ६८, श्लोक ६
३. ,, ,, अ० ६८ श्लोक ७-२४
४. ,, ,, अ० ६८, श्लोक २७
५. ,, ,, ,, श्लोक -७-५५

गांधारी और विदुर ने अत्यन्त दु:खी होकर धृतराष्ट्र से द्रौपदी की रक्षा के लिए निवेदन किया । तब धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को फटकारा और द्रौपदी से वर मांगने के लिए कहा ।[१] द्रौपदी ने कहा मैं यही मांगती हूं कि सम्पूर्ण धर्म का आचरण करने वाले राजा युधिष्ठिर दास भाव से मुक्त हो जायं :-

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।

सर्वधर्मानुग: श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिर: ।। ८८।।[२]

धृतराष्ट्र ने जब दूसरा वर मांगने के लिए द्रौपदी से कहा । द्रौपदी ने कहा कि दूसरा वर मैं यह मांगती हूं कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष बाण सहित दास भाव से रहित एवं स्वतंत्र हो जायं । धृतराष्ट्र ने द्रौपदी से तीसरा वर भी मांगने के लिए कहा । परन्तु द्रौपदी ने कहा कि मुझमें अब तीसरा वर मांगने का उत्साह नहीं है ।[३]

परन्तु धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उनका सारा धन आदि देकर, समझा बुझा कर इन्द्रप्रस्थ लौट जाने का आदेश दिया । युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदी सहित वापस चल दिए ।[४] यह देख कर दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र के पास गया और अर्जुन की वीरता का वर्णन करते कहा कि मैं अर्जुन से बहुत डरता हूं । हर समय अर्जुन का भय मुझे घेरे रहता है । धृतराष्ट्र ने दुर्योधन से कहा कि अर्जुन के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए । परन्तु दुर्योधन ने कहा कि वनवास की शर्त रखकर हम पाण्डवों के साथ एक बार फिर जुआ खेलें । इस प्रकार हम उन्हें अपने वश में कर सकेंगे । जूए में जो हारेगा वह बारह वर्षों तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करेगा । धृतराष्ट्र ने कहा कि यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा हो तो उन्हें बुला लो । द्रोणाचार्य, भीष्म विदुर आदि ने जब यह समाचार सुना तो पुन: इसका विरोध किया ।[५]

---

१. महाभारत सभा,द्यूतपर्व, अ० ६८, श्लोक २४-२६
२. ,, ,, अ० ६८ ,, २८
३. ,, ,, अ० ७१ ,, ३१-३४
४. ,, ,, अ० ७२ ,, —
५. ,, अनुद्यू.पर्व, अ० ७४

गान्धारी ने भी धृतराष्ट्र को चेतावनी दी परन्तु धृतराष्ट्र ने कहा कि इस कुल का अन्त भले ही हो जाय परन्तु मैं दुर्योधन को रोक नहीं सकता ।[१] सबके मना करने पर भी युधिष्ठिर को जुआ खेलना पड़ा और वे अन्त में हार गए ।[२] पाण्डव मृग चर्म पहन कर वनवास के लिए तत्पर हो गए । युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र आदि से विदा ली । विदुर ने कुंती को अपने घर रखने का प्रस्ताव किया और पाण्डवों को धर्मपूर्वक रहने का उपदेश दिया[३]। द्रौपदी ने कुंती से विदा ली, कुंती ने पाण्डवों को आशीर्वाद दिया । समस्त शोकातुर प्रजा भी पाण्डवों के साथ वन जाने के लिए उद्यत हो गई ।[४]

' जयभारत' में 'द्यूत' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के सभापर्व के अध्याय ४७ से अध्याय ८० तक मिलते हैं । गुप्त जी ने महाभारत की इस विस्तृत कथा को संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है । प्रस्तुत अन्तर्कथा में कवि ने कई परिवर्तन किए हैं और अति प्राकृत शक्ति के उपयोग को हटा कर औचित्य की सीमा मर्यादा में विवेक का प्रयोग किया है ।' महाभारतकार' ने कौरवों के इस दुष्कृत्य को रोकने के लिए पहले तो द्रौपदी के करुण क्रन्दन का वर्णन किया है, तदुपरान्त भगवान की अतिप्राकृत शक्ति के द्वारा द्रौपदी का वस्त्र असीम बना दिया है । द्रौपदी के अन्तहीन वस्त्र को खींचते खींचते परिश्रान्त और लज्जित होकर दु:शासन बैठ जाता है ।

> यदातु वाससां राशि: सभामध्ये समाचित: ।
> तदा दु:शासन: श्रान्तो व्रीडित: समुपाविशत् ।।[५]

इसके पश्चात् 'महाभारत' में धृतराष्ट्र की आत्मग्लानि और दुर्योधन के प्रति

---

१. महाभारत, सभापर्व, अनुद्यूत पर्व, अ० ७५
२. ,, ,, अ० ७६
३. ,, ,, अ०७८
४. ,, ,, अ० ७९,८०
५. ,, ,, द्यूतपर्व अ० ६८, श्लोक ५५

आक्रोश सभा का वर्णन है। किन्तु 'जयभारत' में द्रौपदी असहाय दशा में भगवान का स्मरण करती हुई, दु:शासन को धिक्कारती हुई उसके अन्तर में पाप भीति भी उत्पन्न करती है। उसने भगवान का स्मरण करते हुए मानवता को चुनौती दी है। द्रौपदी के वचन सुनकर आततायी दु:शासन पाप-फल के भय से सिहर उठता है और उसे अपने चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगता है। उसे द्रौपदी के वस्त्र के छोर का पता नहीं रहता और वह भयभीत होकर कंपित होने लगता है। वह स्तंभित होकर यहीं गिरता हुआ सा बैठ जाता है,

"सहसा दु:शासन ने देखा अन्धकार-सा चारों ओर,
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट, जिसका कोई ओर न छोर।
आकर अकस्मात अति भय-सा उसके भीतर बैठ गया,
कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया।"[1]

यहाँ न तो कवि ने व्यास का समाधान रखा है और न द्रौपदी का चीर-हरण होने दिया। कवि ने कौशल से काम लिया है। अतिप्राकृत तत्व को भी हटा दिया और दु:शासन में आतंक का f प्रवेश दिखाकर नारी रक्षा की भावना को भी रखा।

तदुपरान्त गुप्त जी ने सभा को सावधान कराने के लिए गांधारी का प्रवेश कराया है। नारी के अपमान के क्षणों में एक बूढ़ा कातर वाणी में उसके पक्ष में बोलना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उपयुक्त है। गांधारी ने सभा में आकर सर्वप्रथम अपने अंध पति धृतराष्ट्र को प्रबोधा और फिर पुत्रों की अनैतिकता पर कुपित हुई, फिर भाई की अनैतिकता के कारण पितृकुल को धिक्कारा। गांधारी अपनी अन्तर्व्यथा को व्यक्त करने के लिए लोकलज्जा की दुहाई देते हुए कातर भाव से पुकार उठती है —

"हाय! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई रक्षित क्या,
आज बहू का तो यह मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या?"[2]

---

१. जयभारत, मूल, पृ० १६८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, १६६ ,,

गान्धारी के इन नीतिवाली वचनों से नि:सन्देह किसी भी पाठक को नवत करने की क्षमता है। ऐसे मर्मभेदी वचनों द्वारा कोई भी पापी अपने पाप कर्म से विरत हो सकता है। महाभारतकार ने 'महाभारत' में यह कार्य धृतराष्ट्र से करवाया है। धृतराष्ट्र ने पहले पर दुर्योधन की भर्त्सना की है, परन्तु धृतराष्ट्र की इस भर्त्सना में इतना बल है नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने द्रौपदी के चरित्र का उत्कर्ष प्रकट किया है और गान्धारी को उसी की सहचारिता में उपस्थित किया है। द्रौपदी तेजस्वी, आत्माभिमानी तथा शील से सम्पन्न है। उसकी वक्तृता ओजस्वी है। इस प्रसंग में कवि ने दुर्योधन के असत् पक्ष को चरम महत्व की स्थिति पर अधिष्ठित दिखाया है। साथ ही युधिष्ठिर की मानवता धर्म-निष्ठा और नैतिकता की चरम अभिव्यक्ति की है।

गुप्त जी ने मूल कथा के कई प्रसंगों को अनावश्यक विस्तार के भय से छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र की वार्ता का उल्लेख भी गुप्त जी ने नहीं किया है। जबकि 'महाभारत' में यह वर्णन पर्याप्त विस्तार से है। महाभारत में धृतराष्ट्र विदुर को इन्द्रप्रस्थ जाने का आदेश देते हैं, परन्तु 'जयभारत' में ऐसा वर्णन नहीं है। 'महाभारत'[१] में दुर्योधन युधिष्ठिर के वैभव को देखकर अत्यधिक चिंतित होता है परन्तु गुप्त जी ने दुर्योधन की चिन्ता का वर्णन संक्षेप में किया है। 'महाभारत में युधिष्ठिर को भेंट में मिली हुई वस्तुओं को विस्तार से वर्णन है[२] परन्तु गुप्त जी ने उपहार की वस्तुओं की गणना को छोड़ दिया है।

---

१. महाभारत सभापर्व, द्यूत पर्व, अ० ४६ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० ५० ,,

१८. वनगमन

दुर्योधन ने पाण्डवों को जुए में हरा कर सम्पूर्ण राज्य प्राप्त कर लिया । द्रोणाचार्य विनय-वश उसे छोड़कर पाण्डवों के साथ न जा सके । भीष्म भी उससे प्रसन्न न रह सके । पाण्डव धौम्य पुरोहित के साथ वन चले गए । श्रीकृष्ण को जब यह समाचार मिला तो वे दौड़े हुए आए और पाण्डवों से सब समाचार जानकर बहुत दुःखी हुए । द्रौपदी ने श्रीकृष्ण के सामने विलाप किया । कृष्ण ने द्रौपदी से कहा —

"पर मैं उनको कर न सकूँगा कभी सहन,
यों अपमानित किया जिन्होंने तुम्हें बहन ।"[1]

युधिष्ठिर द्रौपदी के रोष और भाइयों के क्रोध को देखकर बोले —

अनुचित मुझपर द्रुपदसुता का रोष नहीं,
करदें मेरा त्याग अनुज, तो दोष नहीं ।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने सभी सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा ?
अब भी समझा नहीं इसे मेरे मन ने,
मांगा सीधे क्यों न राज्य दुर्योधन ने ?

*　　　　*

करनी होगी तदपि प्रथम लज्जा हमको,
देंगे यों ही नहीं निमंत्रण हम यम को ।[2]

अर्जुन ने भी युधिष्ठिर के मत से सहमत होकर कहा —

"उन्हें हमारी हानि अन्त में भरनी है,
पर अब निश्चय हमें प्रतीक्षा करनी है ।"[3]

---

१. जयभारत, वन-गमन, पृ० १५५ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १५५-१५६ ,,
३. ,, ,, पृ० १५६ ,,

धृष्टद्युम्न भी [illegible] सम्मत थे। तत्पश्चात् कृष्ण तथा अन्य अतिथियों के साथ अपने शिशु को लेकर सुभद्रा भी चली। इसके बाद द्रौपदी और सुभद्रा का प्रेमपूर्ण वार्तालाप हुआ और द्रौपदी ने अपने पुत्रों को भी सुभद्रा को ही सौंप दिया।

पाण्डवों के वन-गमन की कथा महाभारत में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णित है। पाण्डवों को वन जाते देखकर सम्पूर्ण प्रजा व्याकुल हो उठी।[1] धृतराष्ट्र और विदुर के सामने नारद मुनि ने आकर कहा कि आज से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन के अपराध से भीम और अर्जुन के पराक्रम द्वारा कौरवकुल का नाश हो जायगा।[2] भावी आशंका से दुर्योधन और कर्ण एवं शकुनि ने द्रोण को अपना आश्रय माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणों में समर्पित कर दिया। उस समय द्रोण ने दुर्योधन आदि से कहा कि पाण्डव देवताओं के पुत्र हैं, अतः ब्राह्मण लोग उन्हें अवध्य बताते हैं। मैं यथाशक्ति तुम लोगों का साथ दूंगा। मैं भक्तिपूर्वक अपनी शरण में आए हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों का परित्याग नहीं कर सकता।[3] इस प्रकार द्रोण पाण्डवों के साथ न जाकर कौरवों के ही साथ रह गए। धृतराष्ट्र भी पाण्डवों के जाने से चिंतित हो उठे।[4]

पाण्डवों ने जब वन के लिए गमन किया तो पुरवासियों ने उन्हें घेर लिया और उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पीछे पीछे चलने लगे। कुछ दूर जाने के पश्चात् युधिष्ठिर ने उन्हें लौटा दिया और तब पाण्डव रथों पर बैठ कर गंगा जी के किनारे प्रमाणकोटि नामक महान वट के समीप आए। बहुत से ब्राह्मण वहाँ तक पाण्डवों के साथ आए हुए थे।[5] युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को लौटाना चाहा क्योंकि वे उनके लिए अन्न का प्रबन्ध करने में असमर्थ थे।

---

१. महाभारत, सभापर्व, अनुद्यूत पर्व, अ० ८० श्लोक २४-२६
२. ,, ,, अ० ८० श्लोक ३४
३. ,, ,, अ० ८० ,, ३७-३६
४. ,, ,, अ० ८१
५. ,, वनपर्व, अरण्यपर्व, अ० १

धौम्य मुनि ने इस समस्या का हल बताया और युधिष्ठिर ने अन्न के लिए सूर्य भगवान् की उपासना की । युधिष्ठिर की उपासना करने से सूर्य भगवान् द्वारा अक्षयपात्र की प्राप्ति हुई ।[1]

इसके पश्चात् पाण्डव धौम्य जी के साथ काम्यकवन में चले गए । वहां विदुर जी पाण्डवों से मिलने आए और पाण्डवों को कुछ उपदेश दिए । विदुर के चले जाने से धृतराष्ट्र को बड़ा पश्चात्ताप हुआ । उन्होंने संजय को भेजकर विदुरजी को बुलवाया और उनसे क्षमा याचना की ।[2]

जब भोज, वृष्णि और अंधक वंश के वीरों ने सुना कि पाण्डव अत्यन्त दुखी और राजधानी से वन को चले गए हैं, तब वे श्रीकृष्ण के साथ पाण्डवों से मिलने आए ।[3] श्रीकृष्ण को आया देखकर सर्वप्रथम अर्जुन ने उनकी स्तुति की ।[4] श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने से पृथक बताया और उन्हें भांति भांति से आश्वासन दिया ।[5] इसीसमय द्रौपदी कृष्ण के समीप आई । द्रौपदी ने श्रीकृष्ण की स्तुति की और अपना दुःख निवेदन किया । द्रौपदी ने कहा कि वीर पांडवों की पत्नी होते हुए भी भरी सभा में मेरा अपमान हुआ । निर्बल पति भी अपनी पत्नी की रक्षा करता है और इन वीर पतियों ने मेरा अपमान होते अपनी आंखों से देखा । मेरे पांच पतियों से पांच पुत्र हैं । इन पुत्रों के लिए भी मेरी रक्षा आवश्यक थी । इस प्रकार द्रौपदी ने अपने दुःख और पांडवों की वीरता का वर्णन कृष्ण से किया और अपनी रक्षा का भार श्रीकृष्ण पर छोड़ा ।[6] द्रौपदी के आर्तनाद को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम जिनपर क्रुद्ध हो उनकी स्त्रियां भी अपने पतियों को पांडवों के अस्त्रों से मरा हुआ देखेंगी और विलाप करेंगी । श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को आश्वासन दिया कि तुम अवश्य ही राजरानी बनोगी । धृष्टद्युम्न ने भी द्रौपदी को आश्वासन दिया कि शत्रुओं को अवश्य मार डाला जायगा ।[7]

---

१. वनपर्व, महाभारत, आरण्यपर्व, अ० ५
२. महाभारत वनपर्व, .. अ० ६
३. .. .. अर्जुनाभिगमनपर्व, अ० १२ श्लोक १-४
४. .. .. ११-४३
५. .. .. श्लोक ४५-४७
६. .. .. ४८-१२७
७. .. .. १२८-१३५

श्रीकृष्ण जब द्वारका लौटने लगे तो सुभद्रा और उसके पुत्र अभिमन्यु को भी अपने साथ ले गए ।[१] श्रीकृष्ण के चले जाने पर धृष्टद्युम्न ने भी द्रौपदी के पुत्रों को साथ लिया और अपनी राजधानी को प्रस्थान किया ।[२] चेदिराज धृष्टद्युम्न भी अपनी बहन करेणुमती को, जो नकुल की पत्नी थी, साथ ले पाण्डवों से मिलजुल कर अपनी राजधानी शुक्तिमतीपुरी को चले गए ।[३]

'जयभारत' के 'वन-गमन' शीर्षक में वर्णित कथा के स्रोत 'महाभारत' के सभापर्व के ८०,८१ अध्याय तथा वन पर्व के अध्याय १ से अध्याय २२ तक मिलते हैं ।

'महाभारत' में यह कथा लगभग ५२ अध्यायों में वर्णित है परन्तु गुप्त जी ने इसके मुख्य मुख्य प्रसंगों को अत्यन्त संक्षेप में नियोजित किया है । 'वन-गमन' प्रसंग में गुप्त जी ने कृष्ण और पाण्डवों की वार्ता को संक्षिप्त रूप दिया है । 'महाभारत' में वन गमन के समय की पाण्डवों की चेष्टाओं का वर्णन विस्तार से आया है,[४] परन्तु गुप्त जी ने इनका वर्णन नहीं किया है । विदुर और कुंती का वार्तालाप भी गुप्त जी ने छोड़ दिया है । 'महाभारत' में श्रीकृष्ण पाण्डवों को शाल्ववध की कथा सुनाते हैं,[५] परन्तु 'जयभारत' में इसका कोई उल्लेख नहीं है । पाण्डवों के राजधानी छोड़ देने के पश्चात् 'महाभारत' में धृतराष्ट्र की चिंता और पश्चाताप का वर्णन मिलता है ।[६] परन्तु 'जयभारत' में इस प्रकार का वर्णन नहीं है । 'महाभारत' में श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्यु को लेकर द्वारका चले जाते हैं और द्रौपदी के पुत्रों को धृष्टद्युम्न अपने साथ ले जाते हैं । परन्तु गुप्त जी ने सुभद्रा या द्रौपदी के

---

१. महाभारत, वनपर्व, अर्जुनाभिगमन, पर्व, अ० २२, श्लोक ४७
२. ,, ,, ,, श्लोक ४९
३. ,, ,, ,, श्लोक ५०
४. ,, सभापर्व, अनुद्यूत पर्व, अ० ८०, श्लोक ३-२३
५. ,, वनपर्व, अर्जुनाभिगमन पर्व, अ०२०,२१,२२
६. ,, सभापर्व, अनुद्यूत पर्व, अ० ८१

पुत्रों के साथ जाने का वर्णन किया है ।

प्रस्तुत खण्डकाव्य में गुप्त जी ने मुख्य रूप से युधिष्ठिर के उस उदात्त रूप का वर्णन किया है जब कि दुःख को वे आनन्दपूर्वक वैसे ही स्वीकार करते हैं जैसे कि देवताओं को बचाने के लिए शंकर भगवान ने कालकूट विष का पान किया था । युधिष्ठिर मानवता के आदर्श की रक्षा के लिए निःस्वार्थ, निष्कपट, निर्भीक और निस्पृह भाव के साथ जीवन को लेते हैं । दुर्योधन के कुचक्रों और दुराचारों से पराजित होकर वन जाते समय उन्हें राज्य सिंहासन छूटने का तनिक भी दुःख नहीं है । वे कहते हैं —

" सिंहासन यदि गया कुशासन मिला मुझे ,
औरों का यह नहीं, स्वशासन मिला मुझे ।[१]
उन्हें व्यथा केवल इस बात की है कि " मुझसे मेरे व्यथित हुए ।"[२]

इस प्रसंग में युधिष्ठिर का कथन है —

" अनुचित मुझपर द्रुपद सुता का रोष नहीं,
करें मेरा त्याग अनुज, तो दोष नहीं ।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने सभी सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा ।"[३]

इस प्रसंग में विषम पारिवारिक वातावरण के चित्रण के द्वारा युधिष्ठिर के महामानवत्व को उभार दिया गया है ।

१६ अस्त्र-लाभ —

वनवास के समय युधिष्ठिर ने अर्जुन आदि भाइयों से कहा कि हमें पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना चाहिए । उन्होंने अर्जुन से कहा —

" अर्जुन, इसके लिए करो तुम तपःप्रयास ,
मुझको यह निर्देश दे गए वेदव्यास ।"[४]

---

१. जयभारत, वन-गमन, पृ० १५५
२. ,, ,, पृ० १५५
३. ,, ,, पृ० १५५
४ ,, अस्त्रलाभ, पृ० १५८

अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा मान कर हिमालय की ओर प्रस्थान कर दिया । वहाँ पहुँचकर अर्जुन ने तप आरम्भ कर दिया । एक विप्र वहाँ अर्जुन के समीप आया और उसने कहा कि एक ओर तो तुम तप कर रहे और दूसरी ओर इन अस्त्रों को भी धारण किए हो । परन्तु अर्जुन ने अपने अस्त्रों का त्याग नहीं किया और उन विप्र ने प्रसन्न होकर अर्जुन को आशीर्वाद दिया —

" प्राप्त करो तुम तात, शीघ्र ही शिवप्रसाद ।"[1]

विप्र चले गए और अर्जुन घोर तपस्या में लीन हो गए । इतने में एक भयंकर शूकर आया । अर्जुन ने उसे बाण मारे, परन्तु इसी समय एक किरात ने भी दो बाण उस शूकर को मार दिये । अर्जुन ने शूकर को अपने बाणों से मरा समझा और किरात ने अपने बाणों से उसे मरा समझा । अतः किरात और अर्जुन में युद्ध छिड़ गया । एकाएक अर्जुन ने देखा कि उन्होंने जो पुष्पहार शंकर की मूर्ति को चढ़ाया था वही किरात के गले में है । यह देख कर अर्जुन के हृदय में बिजली कौंध गई और वे समझ गए कि किरात भेष में स्वयं शंकर भगवान ही हैं । अर्जुन ने शंकर भगवान के पैर पकड़ लिए । शंकर भगवान ने अर्जुन को पाशुपत दिया तथा और भी कुछ माँगने को कहा । शंकर भगवान ने अर्जुन से कहा कि तुम कुछ समय सशरीर इन्द्र के अतिथि रहो —

" बनो इन्द्र के अतिथि स्वर्ग में तुम सशरीर ।"[2]

अर्जुन ने उन्हें पुनः प्रणाम किया और वहाँ निवास करने लगे ।

एक रात उर्वशी अर्जुन को मोहित करने के लिए उनके पास पहुँची । अर्जुन उसको देखकर चौंक उठे । उर्वशी ने अर्जुन से कहा कि तुम मुझे कुछ उदास दिखाई पड़ रहे हो । अर्जुन ने कहा कि द्रौपदी से दूर होने के कारण मैं उदास हूँ । उर्वशी ने अर्जुन को विलास के लिए निमंत्रित किया । परन्तु अर्जुन ने कहा कि तुम मेरी माता के समान हो । यह सुनते ही उर्वशी अर्जुन पर क्रोधित हो

---

१. महाभारत, मत्स्यलाभ, पृ० (द्वितीय संस्करण)

२. ,, ,, पृ० १६१ ,,

उसी और अर्जुन को शाप देते हुए बोली —

" तब तुमको यह नहीं सोहता नारद-वेष ,

क्लीव रूप में रहो, और क्या कहूँ निःशेष ।"[१]

'जयभारत' में वर्णित यह कथानक भी प्रायः अधिक विस्तार के साथ 'महाभारत' में प्राप्त होती है । युधिष्ठिर ने अर्जुन को आदेश दिया कि वे जाकर और तपस्या करें और इन्द्र को प्रसन्न करके उनसे समस्त दिव्यास्त्रों को प्राप्त करें ।[२] अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा मान कर अपना गाण्डीव धनुष और दो अक्षय तूणीर साथ ले कवच तलत्राण (पादुका) तथा अंगुलियों की रक्षा के लिए गोह के चर्म का अंगुलित्र धारण किया और वहाँ से प्रस्थित हुए ।[३] जब अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ एक तपस्वी महात्मा ने अर्जुन से कहा कि तुम कौन हो जो इस स्थान पर शस्त्रों के साथ आए हो । यह तो तपस्या में रत शान्त ब्राह्मणों का स्थान है । तुम अपने शस्त्रों को त्याग दो । परन्तु वह महात्मा अर्जुन को उनके शस्त्रों से रहित नहीं कर सके । तब उन महात्मा ने प्रसन्न होकर कहा कि मैं साक्षात इन्द्र हूँ, तुम मुझसे कोई वर माँगो ।[४] अर्जुन ने कहा कि मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ । इन्द्र ने अर्जुन से कहा कि जब तुम्हें शंकर भगवान का दर्शन हो जायगा, तब मैं तुम्हें समस्त दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा ।[५] अर्जुन उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत की ओर चले और हिमालय के पृष्ठभाग में एक पर्वत के पास बैठकर कठोर तपस्या में संलग्न हो गए । अर्जुन को कठोर तपस्या करते देख कर वहाँ के महर्षि महादेव जी के पास गए और कहा कि आप अर्जुन को तपस्या से सद्भाव पूर्वक निवृत्त कीजिए, उनकी इच्छा पूरी कीजिए । महादेव जी ने कहा कि अर्जुन के मन में जो संकल्प है, मैं उसे भली भाँति जानता हूँ । उन्हें स्वर्ग की

---

१. जयभारत, [illegible], पृ० १६४ (द्वितीय संस्करण)

२. महाभारत, वनपर्व, अर्जुनाभिगमन, पर्व, अ० ३७, श्लोक १-१७

३. ,, ,, पर्व ,, ,, १९-२०

४. ,, ,, ,, ,, ,, ३७-४६

५. ,, ,, ,, ,, ,, ५१,५७

कोई चमत्कार नहीं है। वे ऐश्वर्य तथा आयु भी नहीं चाहते। वे जो कुछ पाना
चाहते हैं, वह सब मैं आप ही पूर्ण करूँगा।[१] तत्पश्चात् महादेव जी ने किरात
वेश धारण किया और वे एक धनुष तथा सर्पों के समान विषाक्त बाण लेकर
अर्जुन के पास आए। उमा तथा अन्य स्त्रियों को भी महादेव जी साथ लिए
थे। अर्जुन के समीप पहुँच कर महादेव जी ने देखा कि एक मूक नामक दानव
सूअर का रूप धारण कर अर्जुन को मार डालना चाहता है। अर्जुन ने उस सूअर
को अपनी ओर आते देखकर बाण से मारना ही चाहा कि इतने में किरात
ने अर्जुन को रोका और कहा कि इस सूअर को मैं पहले ही अपना लक्ष्य बना
चुका हूँ अत: तुम इसे मत मारो। किरात के मना करने पर भी अर्जुन ने सूअर
के ऊपर प्रहार कर ही दिया। इसी समय किरात ने भी एक तेज बाण सूअर
को मारा। बाणों के लगने से वह राक्षस अपने भयानक रूप को प्रकट करके
मर गया। तब किरात और अर्जुन में विवाद हो गया। अर्जुन ने किरात से
कहा कि यह तो मेरा लक्ष्य था, आपने इस पर बाण क्यों मारा? यह
मृगया का धर्म नहीं है, अत: मैं आपको आज मार डालूँगा। अर्जुन की बातें
सुन कर किरात ने कहा कि तुम अपने बल के घमंड में आकर अपना दोष दूसरे
के सिर नहीं मढ़ सकते। अब तुम मेरे हाथ से जीवित नहीं बच सकते। तब
अर्जुन और किरात का भाँति-भाँति से युद्ध हुआ। अर्जुन किरात को हरा न
सके और आश्चर्य में आ गए कि यह कौन है जिसने मेरे बाणों को पकड़ लिया
और मेरे प्रहारों का जिसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब अर्जुन शिव की शरण
में गए और मिट्टी की वेदी बनाकर उसी पर पार्थिव शिव की स्थापना करके
पुष्पमाला के द्वारा उनका पूजन किया। अर्जुन ने जो माला पार्थिव शिव पर
चढ़ाई थी वह किरात के मस्तक पर पड़ी दिखाई दी। यह देखकर अर्जुन किरात-
वेष-धारी शंकर को पहचान गए और उनके चरणों में गिर गए। शंकर ने भी
प्रसन्न होकर कहा कि मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। तुम पहले के नर नामक
ऋषि हो। तुम युद्ध में अपने शत्रुओं पर, वे चाहे सम्पूर्ण देवता ही क्यों न

---

१. महाभारत, वनपर्व, अर्जुनाभिगमन पर्व, अ० ३८

हो, विजय पाओगे । मैं तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दूंगा, जिसकी गति को कोई नहीं रोक सकता । तुम क्षणभर में मेरे इस शस्त्र को धारण करने में समर्थ हो जाओगे ।[1] तत्पश्चात् शिव ने पाशुपतास्त्र का उपदेश अर्जुन को किया और अर्जुन ने प्रसन्नतापूर्वक उसे ग्रहण कर लिया ।[2] इसके उपरान्त शिव ने अर्जुन को स्वर्गलोक जाने का आदेश किया और स्वयं शंकर वहाँ से अदृश्य हो गए ।[3] तत्पश्चात् अर्जुन के पास समस्त दिग्पाल, वरुण, कुबेर, यमराज, आदि आए और अर्जुन को दिव्यास्त्र प्रदान किए । उसी समय वहाँ इन्द्र भी इन्द्राणी के साथ आए । इन्द्र ने अर्जुन से कहा कि तुम्हें देवताओं का बहुत भारी कार्य करना है । तुम तैयार हो जाओ , तुम्हें स्वर्ग लोक में चलना है ।[4] कुछ समय पश्चात् अर्जुन ने इन्द्र के रथ का चिंतन किया और वह रथ उनके लेने आ गया । उस रथ पर बैठ कर अर्जुन स्वर्गपुरी पहुँच गए और वहाँ उन्होंने अप्सराओं के दर्शन किए वहाँ अर्जुन ने इन्द्र के दर्शन किए[5] और इन्द्र ने उनका स्वागत किया । वहाँ अर्जुन ने अस्त्रों की शिक्षा और संगीत की शिक्षा प्राप्त की ।[6] एक दिन इन्द्र को भ्रम हो गया कि अर्जुन उर्वशी अप्सरा पर आसक्त हैं । उन्होंने चित्रसेन से कहा कि वे उर्वशी को अर्जुन के पास भेज दें । चित्रसेन ने उर्वशी को सब बातें समझा दीं ।[7] उर्वशी अर्जुन के पास गई । अर्जुन ने उसे देखकर उसके चरणों में प्रणाम किया और उसका गुरुजनोचित सत्कार किया । अर्जुन ने उर्वशी से कहा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं ? उर्वशी ने अर्जुन से कहा कि तुम मुझ पर आसक्त हो, ऐसा चित्रसेन ने मुझसे कहा था । अब मैं तुम्हारे पास विलास के लिए आई हूँ । अर्जुन उर्वशी

---

१. महाभारत, वनपर्व, कैरातपर्व, अ० ३९
२. ,, ,, अ० ४० , श्लोक २०,२१
३. ,, ,, ,, ,, २६,२८
४. ,, ,, ,, ४१
५. ,, ,, इन्द्रलोकाभिगमन पर्व, अ० ४२
६. ,, ,, ,, अ०४३
७. ,, ,, ,, अ० ४५

की यह बात सुनकर लज्जा से गड़ गए और कहा कि तुम मेरी माता के समान हो और पुरुवंश की जननी होने के कारण मेरे लिए गुरुजन पर हो । उर्वशी अर्जुन की बातें सुनकर कुपित हो उठी और उसने अर्जुन को शाप दिया कि तुम तुमने मेरा निरादर किया है अत: तुम्हें स्त्रियों के बीच सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा । तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ों के समान होगा ।[१]

'जयभारत' के 'अस्त्र-लाभ' शीर्षक में वर्णित अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के वनपर्व के अध्याय ३७ से लेकर अध्याय ४६ तक प्राप्त होते हैं । गुप्त जी ने 'महाभारत' की इस विस्तृत कथा को 'जयभारत' में संक्षिप्त रूप दिया है ।

यह कथा 'महाभारत' की कथा के आधार पर अपरिवर्तित रूप से चित्रित हुई है, परन्तु गुप्त जी ने 'महाभारत' के अनेक स्थलों को इसमें छोड़ दिया है, जैसे – अर्जुन के पास दिग्पालों का आगमन, अर्जुन का हिमालय से विदा लेना,[३] अर्जुन का स्वर्गलोक में अस्त्र संगीत की शिक्षा प्राप्त करना[४] तथा चित्रसेन और उर्वशी का वार्तालाप ।[५] इस अन्तर्कथा में अर्जुन की नैतिकता की अभिव्यक्ति हुई है । उर्वशी को अर्जुन ने जननी - तुल्य माना और उर्वशी ने कुपित होकर उसे क्लीव होने का शाप दे दिया । अर्जुन ने इस शाप को पाप-कर्म की अपेक्षा अच्छा समझा ।

---

१. महाभारत, वनपर्व, इन्द्रलोकाभिगमन, पर्व, अ० ४६, श्लोक १-५०
२. ,, ,, कैरात पर्व अ० ४१
३. ,, ,, इन्द्रलोकाभिगमन पर्व, अ० ४२
४. ,, ,, ,, अ० ४४
५. ,, ,, ,, अ० ४५

२० तीर्थयात्रा—

जब अर्जुन दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिए चले गये तब उनकी अनुपस्थिति [illegible] पाण्डवों और द्रौपदी को खलने लगी। काम्यकवन में भीम आवेश से भरने लगे और द्रौपदी भी अपने अपमान का स्मरण कर व्यथित होने लगी। युधिष्ठिर ने उन्हें राम और जानकी के वनवास का उदाहरण दिया और समझाया। युधिष्ठिर ने समझाते हुए कहा कि पहले दुःख पाकर फिर सुख मिलता है —

" दुःख पहले और पीछे सुख भला है,
पुण्य दर्शन प्रसव-पीड़ा में पला है।"[१]

भीम, युधिष्ठिर और द्रौपदी का वार्तालाप चल ही रहा था कि वहाँ सहसा लोमश मुनि का आगमन हुआ। वे दो बार सभी तीर्थों को कर चुके थे। उन्होंने आकर सूचना दी कि पार्थ शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त कर चुके हैं। वे अब देवायुधों में निपुण हो रहे हैं और गन्धर्वों के गुण सीख रहे हैं। तत्पश्चात लोमश मुनि ने पाण्डवों से तीर्थयात्रा करने के लिए कहा। युधिष्ठिर आदि इस प्रस्ताव से प्रसन्न हो गए और तीन दिन बाद शुभ योग में तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़े। वे पहले गोमती, फिर सरयू में नहाए। फिर वह प्रयाग आए। फिर काशी होते हुए गया गए जहाँ सागर और गंगा का मिलन दिखाई देता था। गंगा के जल और सागर के जल को मिलते देख युधिष्ठिर कह उठे —

" हाय जल से भी मनुज-कुल आज पिछड़ा,
जल मिला जल से, मनुज से मनुज बिछड़ा।"[२]

नए-नए प्राकृतिक दृश्यों को देखते हुए वे गंधमादन पर्वत पर पहुँचे। गन्धमादन पर्वत की प्रकृति को देखकर वे प्रभावित हुए। युधिष्ठिर ने कहा कि यहाँ अपने पराए का भेद पता नहीं चलता, केवल द्रौपदी के अपमान की

---

१. जयभारत, तीर्थयात्रा, पृ० १६७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १७० ,,

तक मुक्ती नहीं है । फिर युधिष्ठिर ने भीम से कहा कि इस विकट वन में द्रौपदी कैसे चल सकेगी । भीम कुछ उत्तर देते, कि उनके पास घटोत्कच, जो [illegible] गये थे, बोल उठे —

" तात , अम्मा के लिए चिन्ता नहीं है,
इसीलिये उनका बड़ा बेटा यहीं है ।"[1]

घटोत्कच को देख सब प्रसन्न हुए । द्रौपदी तथा युधिष्ठिर ने उसे द्रौपदी के अपमान और जुए की घटना सुनाई । घटोत्कच सब सुनकर क्रोधित हो उठा और कौरवों को अकेले ही मार डालने के लिए तत्पर हो गया । युधिष्ठिर ने उसके शौर्य की सराहना की और कहा कि हम जो कह चुके हैं, अब उसका पालन करना है और समय आने पर ही युद्ध करेंगे । इस समय हम तीर्थ-यात्रा कर रहे हैं, तुम इस समय अपनी माता द्रौपदी का ही भार संभालो । घटोत्कच द्रौपदी को अपने कंधे पर बैठा कर पाण्डवों के साथ चल पड़ा । घटोत्कच के कारण राक्षस पाण्डवों के साथ चल पड़े और आगे आगे मार्ग बनाते जाते थे और आहार के लिए फल-फूल आदि का भी प्रबन्ध करते थे ।

एक दिन प्रचंड आंधी चलने लगी और पानी बरसने लगा । राक्षसों ने पाण्डवों की रक्षा के लिए अपना कोट सा बनाया और उनकी रक्षा की । द्रौपदी उस भयंकर रात्रि में मूर्छित सी हो गई परन्तु फिर उन्हें भी चेतना आ गई । थोड़ी देर में प्रभात निकल आया और प्रकृति शान्त होकर मुस्कराने लगी । द्रौपदी ने घटोत्कच की प्रशंसा करते हुए कहा —

" तू न होता आज, क्या होता न जाने ।"[2]

तत्पश्चात् सब बदरिकाश्रम पहुँचे । एक दिन भीम वन में विचरण कर रहे थे कि एक अजगर ने उन्हें घेर लिया । युधिष्ठिर ने अजगर से कहा कि तुम या तो भीम को छोड़ दो या फिर अपनी मृत्यु को स्वीकार करो । युधिष्ठिर को देखकर वह अजगर बोला —

---

१. आ॰ रा॰ ब॰ [illegible], पृ० १७२ (द्वितीय संस्करण)
२. „ „ पृ० १७७ „

" वत्स तुमको देख मेरा शाप छूटा ,
मैं नहुष पूर्वज तुम्हारा, पाप छूटा ।"[१]

बाद में पाण्डव गंगा के किनारे गए वहाँ द्रौपदी ने एक सहस्रदल-कमल देखा । द्रौपदी ने उस कमल को तोड़ लिया और युधिष्ठिर को लाकर दिया । द्रौपदी ने कहा कि ऐसे कमल यदि मैं जड़ सहित पा जाती तो अपने यहाँ लगाती । भीम तुरंत वैसे कमलों को लाने के लिए चल पड़े । मार्ग में उन्हें एक वृद्ध वानर दिखाई पड़ा । वह मार्ग रोके हुए था । भीम ने उसे मार्ग से हटने के लिए कहा । वृद्ध वानर ने कहा कि मैं स्वयं नहीं हट पाता, तू ही मुझे हटा दे । भीम ने बहुत प्रयत्न किया पर उसे तिलभर भी न हिला पाए । भीम समझ गए कि ये हनुमान जी हैं । भीम ने हनुमान के चरण पकड़ लिए और क्षमा याचना की । हनुमान ने प्रसन्न होकर कहा —

" युधिष्ठिर की सर्वोपरि धर्मनिष्ठा,
पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा ।
युद्ध में तो सम्मिलित अब मैं न हूँगा,
पर धनंजय के रथध्वज पर रहूँगा ।"[२]

तत्पश्चात हनुमान ने भीम को कमल लेने के लिए यक्षों द्वारा रक्षित धनद-सर का मार्ग बताया । भीम उस मार्ग से जाकर सरोवर के किनारे पहुँच गए । भीम ने सरोवर के जल में डुबकी लगाई । इसी समय यक्षों के दल ने सहसा भीम को देखा और टोका । भीम और यक्षों के दल में छोटी सी लड़ाई हो गई । भीम ही वहाँ विजयी हुए । जब भीम लौट कर पाण्डवों के समीप आए तभी अचानक सुरलोक से अर्जुन भी लौट आए ।

'जयभारत' की यह अन्तर्कथा 'महाभारत' के वनपर्व के तीर्थयात्रा पर्व में विस्तार पूर्वक वर्णित है । अर्जुन के काम्यक वन से चले जाने पर सभी पाण्डव

---

१. जयभारत, तीर्थयात्रा, पृ० १७८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १८० ,,

तथा कुंती उनके लिए दुःख में मग्न रहने लगी ।[१] एक दिन महर्षि लोमश पांडवों के समीप आए और अर्जुन के पाशुपत आदि दिव्यास्त्रों की प्राप्ति की सूचना सविस्तार से दी ।[२] महर्षि लोमश ने कहा कि अर्जुन ने यह संदेश भिजवाया है कि आप सब तीर्थयात्रा करें । आप सब मेरे साथ तीर्थयात्रा कर सकते हैं । युधिष्ठिर तीर्थयात्रा का प्रस्ताव सुन कर प्रसन्न हुए और तीर्थयात्रा के लिए तत्पर हो गए । युधिष्ठिर ने तीर्थयात्रा पर चलने से पहले नगर से ब्राह्मणों आदि को, जो उनके साथ आए थे, वापस हस्तिनापुर भेज दिया ।[३] तत्पश्चात् ऋषियों आदि को नमस्कार करके पांडव तीर्थयात्रा के लिए विदा हुए[४]। पाण्डव घूमते हुए नैमिषारण्य तीर्थ में आए । वहाँ गोमती में स्नान किया । फिर अनेक तीर्थों में घूमते हुए बाहुदा नदी में स्नान किया । तत्पश्चात् वे प्रयाग आए और वहाँ, गंगा-जमुना के संगम में स्नान किया । वहाँ से पाण्डव गया गए । गया में गय राजा के महान् यज्ञों की महिमा सुनी ।[५] तदनन्तर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने कौशिकी नदी के तटवर्ती सभी तीर्थों और मन्दिरों की यात्रा की । उन्होंने गंगासागर संगम तीर्थ में समुद्र तट पर पहुँच कर पाँच सौ नदियों के जल में स्नान किया । तत्पश्चात उन्होंने वैतरणी नदी में स्नान किया और फिर महेन्द्राचल पर जाकर रात्रि बिताई ।[६] विभिन्न तीर्थों में होते हुए पांडव प्रभासक्षेत्र में पहुँचे । वहाँ युधिष्ठिर तपस्या में रत हुए और यादव उनसे मिलने आए ।[७] प्रभासतीर्थ में बलराम जी ने पाण्डवों के प्रति सहानुभूति प्रकट की ।[८] सात्यकी ने शौर्यपूर्ण उद्गार प्रकट किए । और

---

१. महाभारत, वनपर्व, तीर्थयात्रा पर्व, अ० ८० (गीता प्रेस, गोरखपुर)

२. ,, ,, ,, अ० ९१ ,,

३. ,, ,, ,, अ० ९२ ,,

४. ,, ,, ,, अ० ९४ ,,

५. ,, ,, ,, अ० ९५ ,,

६. ,, ,, ,, अ० ११४ ,,

७. ,, ,, ,, अ० ११८ ,,

८. ,, ,, ,, अ० ११९ ,,

पाण्डवों ने पयोष्णी नदी के तट पर निवास किया ।[१] तत्पश्चात् पाण्डवों ने उत्तराखण्ड की यात्रा की और लोमश जी ने उसकी दुर्गमता का वर्णन किया ।[२] वहाँ से पाण्डव कुलिन्दराज सुबाहु के राज्य में होते हुए गन्धमादन और हिमालय पर्वत की ओर चले ।[३] जब पाण्डव गंधमादन पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ बड़े जोर की आँधी चली और वर्षा होने लगी । पाण्डवों ने किसी प्रकार अपनी रक्षा की और कुछ समय बाद प्रकृति का वातावरण शान्त हो गया ।[४] तत्पश्चात द्रौपदी सहित पाण्डव एक कोस भी आगे न चल पाए थे कि द्रौपदी मूर्छित होकर गिर पड़ीं । पाण्डवों के उपचार से द्रौपदी पुनः चैतन्य हो गईं । तब भीम ने अपने राक्षसपुत्र घटोत्कच का स्मरण किया । घटोत्कच पिता की सेवा में उपस्थित हो गया ।[५] घटोत्कच ने द्रौपदी को तथा अन्य घटोत्कच के साथी राक्षसों ने सभी पाण्डवों और ब्राह्मणों को अपने ऊपर बिठा लिया और आकाशमार्ग से बदरिकाश्रम तीर्थ की ओर चल पड़े ।[६]

एक दिन तेज हवा चली और हवा में उड़ कर एक मनोहर सुगंध वाला सहस्त्रदल कमल द्रौपदी के पास आकर गिरा । द्रौपदी ने वह कमल उठाया और युधिष्ठिर को देने चली । द्रौपदी ने भीम से कहा कि तुम इस प्रकार के बहुत से पुष्प ला दो मैं इन्हें काम्यक वन में अपने आश्रम में ले चलना चाहती हूँ । भीम ने द्रौपदी के लिए पुष्प लाने के लिए उसी ओर बढ़े जहाँ से वह पुष्प आया था ।[७] हनुमान उसी कदलीवन में रहते थे । वहाँ भीम को आया देखकर वे स्वर्ग जाने वाले मार्ग पर, मार्ग को रोक कर लेट गए । भीम ने मार्ग में हनुमान को लेटे देखा और वे उनके पास गए। हनुमान ने कहा कि तुम कौन हो ? तुम्हें कहाँ जाना है ? यहाँ से आगे

---

१. महाभारत, वनपर्व, तीर्थयात्रापर्व, अ० १२० (गीता प्रेस गोरखपुर)

२.	,,	,,	,,	अ० १३९	,,
३.	,,	,,	,,	अ० १४०	,,
४.	,,	,,	,,	अ० १४३	,,
५.	,,	,,	,,	अ० १४४	,,
६.	,,	,,	,,	अ० १४५	,,
७.	,,	,,	,,	अ० १४६	,,

अगम्य पर्वत है । आगे तुम जा नहीं सकते ।[१] इस पर भीमसैन ने अपना परिचय दिया । परन्तु वानर ने मार्ग देने से इंकार कर दिया । भीम क्रोधित हो उठे तो हनुमान ने मन ही मन हँसकर कहा कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, मुझमें शक्ति नहीं है । इसलिए मुझपर दया करके तुम मेरी पूंछ को हटा दो और निकल जाओ । भीम ने अपरवामी से उनकी पूंछ को पकड़ा परन्तु उसे वे हिला न सके । तब भीम ने वानर के चरण पकड़ कर उनका परिचय पूछा । और हनुमान ने अपना परिचय भीम को दिया ।[२] हनुमान ने भीम को सरोवर का मार्ग बताया । उसी मार्ग पर भीम चले और सौगन्धिक वन में पहुंच गए ।[३] कैलाश पर्वत के निकट कुबैर-भवन के समीप भीम ने एक रमणीय सरोवर देखा । बहुत से राक्षस उसकी रक्षा के लिए नियुक्त थे । भीम को वहां आया देख कर वे राक्षस भीम से उनका परिचय पूछने लगे ।[४] भीम ने अपना परिचय दिया और वहां आने का कारण बताया । राक्षसों ने भीम से कहा कि इस सरोवर में कोई विहार नहीं कर सकता । देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबैर की अनुमति लेकर ही यहां का जल पीते हैं और विहार करते हैं । तुम कुबैर की अवहेलना करके कमल नहीं ले सकते । तत्पश्चात् भीम और राक्षसों का युद्ध छिड़ गया । भीम विजयी हुए और उन्होंने द्रौपदी के लिए सौगन्धिक कमलों का संग्रह किया ।[५] जिस समय भीम और राक्षसों का युद्ध हो रहा था, उस समय पृथ्वी हिलने लगी और आकाश में भीषण गर्जना होने लगी । यह सब देखकर युधिष्ठिर आदि भीम के लिए चिन्ता करने लगे और सब सौगन्धिक वन में भीम के पास पहुंचे ।[६] तत्पश्चात् वहीं सब पाण्डव ठहर गए । एक दिन युधिष्ठिर ने कहा कि कुबैर के भवन में हम कैसे

---

१. महाभारत, वनपर्व, तीर्थयात्रा पर्व , अ० १४६ श्लोक ६५,६७,७५
२. ,, ,, ,, अ० १४७ ,, ६१,६२
३. ,, ,, ,, अ० १५२
४. ,, ,, ,, अ० १५३
५. ,, ,, ,, अ० १५४
६. ,, ,, ,, अ० १५५

प्रवेश करें, इस का उपाय सोचो । इसी समय आकाशवाणी हुई कि कुबेर के भवन में जाना असम्भव है । तुम लोग नर-नारायणाश्रम में लौट जाओ । यह आकाश-वाणी सुनकर सब पाण्डव आदि लौट आए ।[१] कुछ समयोपरांत अर्जुन गंधमादन पर्वत पर आकर अपने भाइयों से मिले ।[२]

'जयभारत' के 'तीर्थयात्रा' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित कथा के स्रोत 'महाभारत' के वनपर्व के 'तीर्थयात्रा पर्व' में प्राप्त होते हैं । 'तीर्थयात्रा पर्व' के ७७ अध्यायों में यह कथा विस्तार पूर्वक वर्णित है । परन्तु जयभारत कार ने इसे संक्षिप्त रूप प्रदान किया है । गुप्त जी ने महाभारतीय कथा के बहुत से स्थलों को छोड़ दिया है, जैसे – विभिन्न तीर्थ स्थानों का माहात्म्य वर्णन,[३] विभिन्न तीर्थों से सम्बन्धित अनेक राजाओं और ऋषियों की कथाएं आदि । इन त्यक्त प्रसंगों के अतिरिक्त गुप्त जी ने कथा में कुछ परिवर्तन भी किया है । 'महाभारत' के अनुसार आंधी, पानी आने के पश्चात् भीमसेन के स्मरण करने पर घटोत्कच आता है,[४] परन्तु जयभारत में उसके पहले ही घटोत्कच स्वयं ही आ जाता है । 'महाभारत' के अनुसार घटोत्कच तथा उसके साथी राक्षसों ने द्रौपदी और समस्त पाण्डवों तथा ब्राह्मणों को अपने ऊपर बैठा लिया और आकाशमार्ग से बदरिकाश्रम ले चले ।[५] परन्तु 'जयभारत' में केवल घटोत्कच द्रौपदी को ही अपने कंधे पर बैठा कर चल पड़ता है । 'महाभारत' में पाण्डवों का सौगन्धिकवन में भीम के पास जाने का वर्णन है,[६] परन्तु जयभारत में यह वर्णन नहीं है ।

यों तो प्रस्तुत अन्तर्कथा घटना प्रधान है, परन्तु कवि ने यहां भी

---

१. महाभारत, वनपर्व, निवातकवचयुद्धपर्व अ० १६५

२. तीर्थयात्रापर्व (महाभारत) अ० ८२-९०

३. महाभारत, तीर्थयात्रा पर्व, अ० ९६,११३,११५-१४२

४. महाभारत, वनपर्व, तीर्थयात्रापर्व, अ० १४४

५. ,, ,, ,, अ० १४५

६. ,, ,, ,, अ० १५५

युधिष्ठिर की उदात्तता व्यक्त की है । पाण्डव कौरवों से बदला लेते हैं, इस विषय पर वार्ता होती है । भीम का कहना है कि पाण्डवों को शठ प्रति शाठ्य की नीति बरतनी चाहिए । द्रौपदी भी प्रतिकार की भावना से क्षुब्ध है । परन्तु इस सम्बन्ध में युधिष्ठिर का वक्तव्य नैतिक भावना से ओत-प्रोत है । इससे उनके चरित्र की उदात्तता व्यक्त होती है :-

" सुजनता सर्वत्र, अपनी रीति होगी ।
सज्जनों के साथ समधिक प्रीति होगी ।
मैं कहां निष्क्रिय भी, कुटिल उद्युक्त से मैं,
सत्य से संबद्ध, कहां मुक्त से मैं ।"[1]

इस प्रसंग में भीम और हनुमान की भेंट विलक्षण ढंग से होती है । हनुमान भीम को प्रबोधते हुए कहते हैं कि पाण्डवों का संकट क्षणिक है क्योंकि युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा सफलता प्राप्त करेगी । यथा -

" है युधिष्ठिर की युगोपरि धर्मनिष्ठा ।
पायगा राजत्व भी उनसे प्रतिष्ठा ।"[2]

२१. द्रौपदी और सत्यभामा

'जयभारत' की इस अन्तर्कथा में मुख्यरूप से द्रौपदी और सत्यभामा का वार्तालाप वर्णित है । कवि ने पहले द्वैतवन में वर्षा ऋतु और फिर शरद् के आगमन का चित्रण किया है । तत्पश्चात् अर्जुन और द्रौपदी का वार्तालाप नियोजित किया है । अर्जुन द्रौपदी को स्वर्ग के सब अनुभव सुनाते हैं । उर्वशी के शाप और अस्त्रलाभ की बातें बताते हैं । इसी समय श्रीकृष्ण के रथ के आने की ध्वनि सुनाई पड़ती है । कृष्ण के साथ सत्यभामा भी द्रौपदी से मिलने के लिए आई थीं । द्रौपदी ने संकुचित होकर सत्यभामा का स्वागत किया । सत्यभामा द्रौपदी को सुभद्रा, अभिमन्यु तथा द्रौपदी के बच्चों की कुशलता के समाचार देती है :-

---

१. जयभारत, तीर्थयात्रा, पृ० १६८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १८० ,,

" कहा सुभद्रा ने प्रणाम है, प्रिय अभिमन्यु भला है,
अच्छे सभी तुम्हारे बच्चे, कुशल ठीक भला है।
अपने से पहले पाँचों का नन्द ध्यान रखती हैं,
और एक ही रस में मानो वे षट्रस चखती हैं।"[१]

तत्पश्चात सत्यभामा ने अपने आने का कारण बताया —

" आई हूँ मैं भी तुमसे कुछ आज माँगने को हाँ,
शुभे, हो उठा है मेरा मन मुझसे ही विद्रोही।"[२]

द्रौपदी ने कहा —

" सखि माधव सा धन पाकर भी इष्ट और क्या तुमको ?
खिन्न तुम्हारा मन क्यों, उनसे मिष्ट और क्या तुमको ?"[३]

सत्यभामा ने अपनी समस्या सामने रखते हुए कहा कि मैं अपने एक पति श्रीकृष्ण को ही संतुष्ट नहीं रख पाती हूँ, तुम अपने पाँच-पाँच पतियों को कैसे संतुष्ट रखती हो ? ऐसी कौन सी जादु-विद्या है जिससे पति को वश में किया जाता है ? तुम मुझे भी वह विद्या, या जो भी उचित मन्त्र हों, मुझे सिखा दो। द्रौपदी ने जादु-विद्या का विरोध किया और कहा कि 'जादु-विद्या पर तुम यों अपने को न बिकाना।' द्रौपदी ने सत्यभामा को भाँति-भाँति से स्त्री के कर्तव्य की शिक्षा दी। द्रौपदी ने कहा कि स्त्री के लिए पति की सेवा करना प्रथम धर्म है। पति के लिए उसे हर प्रकार का त्याग करना चाहिए :-

" नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है,
अंशु शेष बन रखकर वह उनसे प्रभु-पद पा जाती है।
पर देने में विनय न होकर जहाँ गर्व होता है,
तप-त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है।"[४]

---

१. जयभारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १८८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,, पृ० १८९ ,,
३. ,, ,, ,, पृ० १८९ ,,
४. ,, ,, ,, पृ० १९१ ,,

'जयभारत' की इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के वनपर्व में प्राप्त होते हैं। अर्जुन दिव्यास्त्रों को प्राप्त करके पांडवों और द्रौपदी के पास लौट आए। उन्होंने विस्तार पूर्वक अपने सब समाचार पांडवों को सुनाए।[1] कुछ समय उपरान्त पाण्डवों के पास श्रीकृष्ण सत्यभामा को साथ लेकर आए।[2] श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को उनके पुत्रों की कुशलता का समाचार दिया। श्रीकृष्ण ने कहा कि उन बालकों को तुम सदाचार की जैसी शिक्षा दे सकती हो, आर्या कुंती भी उन्हें वैसा सदाचार सिखा सकती हैं, वैसी शिक्षा देने की योग्यता सुभद्रा में भी है। वे सब धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्तकर रहे हैं।[3] कुछ समय पश्चात द्रौपदी और सत्यभामा का वार्तालाप आरम्भ हुआ। सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा कि तुम किस प्रकार से पाण्डवों के हृदय पर अधिकार रखती हो? क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे आधीन रहते हैं? मुझे इसका रहस्य बताओ। मुझे आज कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषधि, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति, जप, होम या दवा बताओ, जो यश और सौभाग्य की वृद्धि करने वाला हो तथा जिससे श्याम-सुन्दर कृष्ण सदा मेरे आधीन रहें।[4] द्रौपदी ने सत्यभामा का प्रश्न सुनकर कहा कि ये सब उपाय तो दुराचारिणी स्त्रियों के हैं। अतः इन उपायों को काम में न लाना चाहिए।[5] मैं जिस प्रकार पाण्डवों के साथ व्यवहार करती हूँ वह तुम्हें सुनाती हूँ। द्रौपदी ने कहा कि मैं अहंकार, काम-क्रोध को छोड़कर सब कार्य करती हूँ। अपनी इच्छाओं का दमन करके पतियों की इच्छा पूरी करती हूँ। सभ्यता से व्यवहार करती हूँ। अपने पतियों का पहले सब कार्य करके तब अपना कार्य करती हूँ। इस प्रकार पर्याप्त विस्तार से

---

१. महाभारत, वनपर्व, निवातकवचयुद्ध पर्व, अ० १६५-१७३

२. ,, ,, मार्कण्डेयसमस्या पर्व, अ० १८३, श्लोक ७

३. ,, ,, ,, ,, श्लोक २३-३१

४. ,, ,, द्रौपदीसत्यभामा संवाद पर्व, अ० २३३, श्लोक ३-८

५. ,, ,, ,, ,, ,, श्लोक १०-१७

द्रौपदी ने सत्यभामा को समझाया ।[१] इसके पश्चात् द्रौपदी ने पति को अनुकूल करने का उपाय भी सत्यभामा को बताया — वह पति की अनन्य भाव से सेवा है ।[२] तत्पश्चात् सत्यभामा ने द्रौपदी को आश्वासन दिया और फिर श्रीकृष्ण के साथ द्वारका चली गई ।[३]

जयभारत की प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के वनपर्व के अन्तर्गत द्रौपदी सत्यभामा संवाद-पर्व में प्राप्त होते हैं । कवि ने इस कथा में भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों की उत्कृष्टता व्यंजित की है । भारतीय नारी के प्रति जो उनकी मान्यता रही है उसका विकास 'जयभारत' में और भी स्पष्ट रूप में दिखाई देता है । 'साकेत' और 'यशोधरा' के ही समान यहाँ भी नारी का महत्व प्रदर्शित हुआ है —

> " नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है,
> अमृत शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है ।
> पद देने में भी विनय न होकर जहाँ गर्व होता है,
> तपस्त्याग का पर्व हमारा वहीं खर्व होता है ।[४]

द्रौपदी यह संदेश सत्यभामा को देती है । कवि द्रौपदी के द्वारा नारी को गार्हस्थिक कार्यों की अत्यन्त आवश्यकता बताता है —

> " बाहर चूर-चूर होकर नर थका घर आता है,
> नारी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है ।"[५]

इस प्रसंग में कवि ने वर्षाऋतु का उल्लसित वर्णन किया है । वर्षा-वर्णन की रचना ग्राम्य वातावरण में की गई है । इसकी पदावली भी प्रसंगानुकूल मधुर हो गई है —

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीसत्यभामा संवाद पर्व, अ० २३३, श्लोक १८-५६
२. ,, ,, ,, ,, अ० २३४
३. ,, ,, ,, ,, अ० २३५
४. जयभारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १६१ (द्वितीय संस्करण)
५. ,, ,, ,, पृ० १६० ,,

" मग्न हुआ सारा बाजार अपनी सारी सुध-बुध भूला ,
धार पवन आसार-जौतियां भांकि लैकर झूला ।
मोद मंगलाचार हो उठे, कंधी, चतुर्दिक दूना,
पी-पीकर नन्हीं वालियां, रस मैं कौन डूबा ?"[1]

वर्षा के पश्चात् शरद् ऋतु का आगमन कवि सहेज ही भाव-भीन ढंग से करता है-
जल बरसा कर चित्राम्बर ने फिर मोती बरसाये ,
भरी उभार की नलिनांजलियां, गये हंस फिर आये ।
पथ का पंक सूर्य ने सोखा, अमृतचन्द्र ने सींचा ,
कनक कलम लेकर सुकाल का चित्र प्रकृति ने खींचा ।

शरदागमन के अवसर पर कवि ने पुष्प चयन करती हुई द्रौपदी के साथ अर्जुन का सुमधुर प्रेमालाप भी कराया है, यथा -
अर्जुन :" पहले सिंहासन आने दो, तब अनुशासन करना ।"
द्रौपदी :" मैं तो सदा तुम्हारी रानी, तुम इससे न मुकरना ।"[2]

२२ वनवैभव

जिस समय पाण्डव वनवास कर रहे थे, उस समय एक दिन शकुनि ने दुर्योधन से कहा कि तुम्हारे भाई वनवास कर रहे हैं, चलो जरा उनको देखकर हमलोग प्रसन्न हो लें । दुर्योधन ने कहा कि चलो वन में मृगया भी हो जायगी । कर्ण ने कहा कि" एक ढेले में दो पक्षी" , हम पांडवों की दुर्दशा भी देख लेंगे और मृगया भी खेल लेंगे । ऐसा निर्णय करके दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से घोष-यात्रा और मृगया खेलने की अनुमति मांगी । धृतराष्ट्र ने कहा कि वहां पांडव भी रहते हैं, तुम्हें देखकर उनका कहीं क्रोध न जागृत हो जाय । उनकी शक्ति भी तुमको ज्ञात है । परन्तु शकुनि आदि ने धृतराष्ट्र की बात न मानी और

---

१. जयभारत, द्रौपदी और सत्यभामा, पृ० १८४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,, पृ० १८८ ,,

पाण्डवों के जले पर नमक छिड़कने के लिए कुरुकुल का समुदाय चल पड़ा । वन में कौरवों को आया देखकर वन के पशु भाग-भाग कर पाण्डवों के पास जाने लगे । कुछ वनचारियों ने भी पाण्डवों को कौरवों के आने की सूचना दी । कौरवों के आने के समाचार से द्रौपदी को अपना अपमान याद आ गया, वह सव्याज बोली —

" भाइयों की सुध लेने आज
पधारे हैं कौरव कुल-राज !
मिलूंगी पर मैं कैसे हाल,
खिंचा है चीर, खुले हैं बाल ।"[1]

भीम ने भी क्रोधित होकर कहा —

"उचित आतिथ्य करूंगा मैं,
हीनता सभी हरूंगा मैं ।
भीम हूं, कहां डरूंगा मैं,
आज सब विघ्न तरूंगा मैं,
हंसी थे, मैं मुंह तोड़ूंगा,
न जीता उनको छोड़ूंगा ।"[2]

युधिष्ठिर ने सबको शान्त किया और कहा कि अभी हम उनसे युद्ध नहीं करेंगे । पहले अपना अज्ञातवास पूरा करेंगे और तब जाकर उनसे अपना राज्य मांगेंगे ! यदि वे नहीं देंगे तब हम उनसे युद्ध करेंगे ।

इधर कौरव दल विपिन में विहार करने लगा । उसी वन में एक मनोरम तालाब था जिसमें कमल खिले थे । एक रात चांदनी छिटकी थी और वासंती हवा बह रही थी । चित्ररथ अप्सराओं को साथ लेकर और बहुत से गन्धर्वों के साथ उस तालाब में विहार करने आया । अचानक उसी समय दुर्योधन आदि कौरव भी वहां आ गए । दुर्योधन को गन्धर्वों ने टोका और

---

१. जयभारत, वनवैभव, पृ० १६७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० १६८ ,,

दुर्योधन आदि ने क्रोधित होकर अपनी तलवारें खींच लीं । गंधर्वों पर आघात होने लगा तो यह बात चित्ररथ तक पहुंची । चित्ररथ क्रोधित होकर दुर्योधन के सम्मुख पहुंचा और कड़क कर बोला —

" कौन है तू, ओ उद्धत धृष्ट,
यहाँ जो आया मरणाकृष्ट ?"[१]

दुर्योधन ने चित्ररथ से कहा कि मैं इस पृथ्वी का राजा दुर्योधन हूँ । चित्ररथ दुर्योधन को देख कर बोला —

" अरे, तू ही दुर्योधन है,
दुष्ट-दाम्भिक जो दुर्जन है,
अनुज जिसका दु:शासन है,
जिसका प्रकट पामर पन है,
भाइयों को भिक्षुक करके
बना नृप उनका धन हरके ?"[२]

चित्ररथ ने दुर्योधन से कहा कि तू अब भी यहां से लौट जा तो मैं तुझे क्षमा कर दूंगा, नहीं तो अभी तुझे नष्ट-भ्रष्ट कर दूंगा । दुर्योधन ने चित्ररथ की बात न मानी और चित्ररथ की ओर अपना बाण चला दिया । कर्णादि ने भी प्रहार किए । चित्ररथ संभल गया और उसने भी वार करने आरंभ किए । कर्ण ही पहले हार कर भागा । चित्ररथ ने सम्मोहन तीर को भी चलाया जिससे समस्त कौरवदल सम्मोहित सा हो गया । तब गन्धर्वों ने कौरवों को पकड़-पकड़ कर अपने विमानों से बांध दिया । कौरव-स्त्रियां यह दृश्य देखकर रुदन करने लगीं । चारों ओर कोलाहल मच गया । कौरवमंत्री सहायता प्राप्त करने के लिए लज्जित से पाण्डवों के पास चले । उधर युधिष्ठिर शान्त भाव से सुन्दर कथाएं सुनाते हुए यज्ञ-वेदी के समीप भाइयों और द्रौपदी के साथ बैठे थे इसी समय कौरवों के सचिव दुहाई देते हुए पाण्डवों के पैरों पर गिर पड़े —

---

१. जयभारत, वन वैभव, पृ० २०२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २०३ ,,

" दुहाई धर्मराज के द्वार ।
कहँ वैरी, है परमोदार,
बचाओ अपना कुरु परिवार ।

× ×

विजित हैं बन्धु आपके सर्व,
उन्हें हैं बाँध चुके गंधर्व ।
शकुनि, कर्णादिक का भी गर्व,
हो गया रण में सच्चा खर्व ।"[१]

भीम यह सुनते ही प्रसन्न हो उठे, और बोले —

" बलो, हम सबके काटे क्रूर
हुए ऊपर के ऊपर दूर ।
लड़ें उनके पीछे हम क्यों ?
करें प्रतिकूल परिश्रम क्यों ?
कहो उनसे, अब धैर्य धरें,
विमानों में विचरें, न डरें ।
जायें, सुरपुर में भ्रमण करें,
स्वर्ग का भी साम्राज्य हरें ।
स्वर्ग यदि न भी मिलेगा हाल,
नरक कोई न सकेगा टाल ।"[२]

भीम के ऐसे भाव युधिष्ठिर को अच्छे न लगे, उन्होंने भीम को रोका और कहा—

" भीम, शरणागत का अपमान ?
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान ?"[३]

युधिष्ठिर ने कहा कि कौरवों ने हमसे जो दुर्व्यवहार किया है उसका प्रतिशोध हम स्वयं उनसे लेंगे। कौरव अन्यायी हैं फिर भी हमारे भाई हैं ।

---

१. जयभारत, वनविभव, पृ० २०६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २०७ ,,
३. ,, ,, पृ० २०७ ,,

अतः इस समय हमें उनकी रक्षा करनी चाहिए । युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों से कहा कि तुम सब जाकर कौरवों को गन्धर्वों से छुड़ा लाओ । अर्जुन ने कहा कि इस कार्य के लिए सबको चलने की आवश्यकता नहीं है, मैं अकेला ही इस कार्य के लिए पर्याप्त हूं । तत्पश्चात् अर्जुन गाण्डीव धनुष लेकर चित्ररथ के पास गए । चित्ररथ ने अर्जुन का आदर किया और प्रसन्न होकर कहा —

" मित्र, भले आए इस काल,
देख लो, निज रिपुओं का हाल ।
तुम्हारे कांटे ये विकराल,
लिए हैं मैंने सभी निकाल ।
मिले थे सुरपुर में हम लोग,
आज फिर आया शुभ संयोग ।"[1]

अर्जुन ने चित्ररथ से प्रेमपूर्वक कहा कि आपने जिन्हें घेर लिया है, वे मेरे भाई हैं । मैं इनकी रक्षा करना चाहता हूं । चित्ररथ ने कहा—" ज्ञात तो है इनके उत्पात "? अर्जुन ने कहा कि वे तो विश्वभर में विख्यात हैं परन्तु युधिष्ठिर ने कहा है कि उसका विचार हमीं करेंगे । अर्जुन ने चित्ररथ से कहा कि यदि आप से मैं युद्ध में हार जाऊं तब आप कौरवों को सता सकते हैं ।

तत्पश्चात् चित्ररथ और अर्जुन का युद्ध आरंभ हुआ । परन्तु यह युद्ध वैर के कारण नहीं । चित्ररथ जो-जो वार करते थे पार्थ उसका प्रतिकार करते जाते । अन्त में गंधर्वों की ही हार हुई । तब अर्जुन ने चित्ररथ से कहा —

" क्षमा करना मुझको हे मीत ।
हार ही जाते मेरी जीत,
कार्य था किन्तु न विधि-विपरीत ।
भाव अब भी हैं मेरे भव्य,
कठिन ही होता है कर्तव्य ।"[2]

---

१. जयभारत, वनवैभव, पृ० २१० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० २१२ ,,

चित्ररथ ने अर्जुन से सस्नेह कहा —

" हुई रत्ताञ्जल आपकी देह ।

× ×

बिजलियाँ चमकीं, बरसा मेह -
तृप्त हो, तू मैं है गुण गेह !
आत्मज तुमने पाया है,
शत्रु का शत्रु हराया है ।"[१]

अनन्तर अर्जुन भयभीत कौरवों को अपने साथ लेकर युधिष्ठिर के समीप आए । युधिष्ठिर के सामने दुर्योधन का सिर झुक गया । युधिष्ठिर ने इसे अंक में भर कर कहा — " तुम मृत पाली है कुल-पाल ।" परन्तु दुर्योधन मौन ही रह गया , इस बात का कोई उत्तर उसने नहीं दिया ।

'जयभारत' की इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में मिलते हैं । शकुनि और कर्ण ने दुर्योधन की प्रशंसा करते हुए उसे वन में पाण्डवों के पास चलने के लिए उकसाया । उन्होंने कहा कि इस समय तुम राजा के पद पर प्रतिष्ठित हो और पाण्डव राज्य से भ्रष्ट हो गए हैं । तुम श्रीसम्पन्न हो और वे श्री हीन हो गए हैं । तुम इसी दशा में चल कर पाण्डवों को देखो । तुम्हारी रानियाँ सुंदर वस्त्रों को पहन चलें और वल्कल वस्त्र धारण किए हुए द्रौपदी उन्हें देखकर संतप्त हो । इस प्रकार दुर्योधन को भाँति-भाँति से शकुनि और कर्ण ने समझाया ।[२] दुर्योधन शकुनि और कर्ण के इस विचार से पहले तो बहुत प्रसन्न हुआ परन्तु फिर उसने कहा कि पाण्डवों के पास जाने के लिए मेरे पिता धृतराष्ट्र आज्ञा नहीं देंगे । यद्यपि मुझे पाण्डवों को दीन दशा में देख कर अत्यधिक प्रसन्नता होती, परन्तु कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा है । दुर्योधन ने कर्ण से कहा कि तुम, शकुनि और दुःशासन मिल कर कोई ऐसा

---

१. जयभारत, वनवैभव, पृ० २१२ (द्वितीय संस्करण)

२. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रापर्व, अ० २३७ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

उपाय सोचो जिससे हमलोग द्वैत वन जा सकें । दूसरे दिन कर्ण ने कहा कि
मुझे एक उपाय समझ में आया है । गायों के रहने के स्थान इस समय द्वैतवन
में ही हैं और वहां आपकी पधारने की सदा प्रतीक्षा की जाती है । अतः
घोष-यात्रा के बहाने हम वहाँ निःसन्देह जा सकेंगे । इस कार्य के लिए
धृतराष्ट्र भी वहाँ जाने की आज्ञा दे देंगे । इस योजना से तीनों प्रसन्न हो
गए और धृतराष्ट्र के पास आज्ञा लेने गए[1]।दुर्योधन आदि ने समङ्ग नामक
ग्वाले को पहले से ही समझा-बुझा कर तैयार कर लिया था । उस ग्वाले ने
धृतराष्ट्र से जाकर कहा कि आपकी गौएं आजकल समीप ही आई हुई हैं ।
इसके बाद कर्ण और शकुनि ने धृतराष्ट्र से कहा कि इस समय हमारी गायों
के स्थान रमणीय प्रदेशों में हैं । इस समय हमारी गायों और बछड़ों की
गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नाम का ब्यौरा लिखने के
लिए भी अत्यन्त उपयोगी है । राजन् ! इस समय आपके पुत्र दुर्योधन के लिए
हिंसक पशुओं के शिकार करने का भी उपयुक्त अवसर है । अतः आप इन्हें
द्वैतवन जाने की आज्ञा दीजिए ।[2] धृतराष्ट्र ने कहा कि हिंसक पशुओं का
शिकार करना अच्छा है और गायों की देखरेख भी ठीक है, परन्तु ग्वाले की
बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए । फिर उसी द्वैतवन में पाण्डव भी
निवास करते हैं, अतः मैं तुमलोगों को वहाँ जाने की आज्ञा नहीं दे सकता ।
तुमलोग वहाँ जाकर अभिमान में चूर होकर उनका अपराध अवश्य करोगे और
वे तुम्हें भस्म कर डालेंगे , क्योंकि उनमें तपःशक्ति विद्यमान है । अर्जुन इन्द्रलोक
में रह चुके हैं और वहाँ से दिव्यास्त्रों की शिक्षा लेकर वन में लौटे हैं ।
पहले जब अर्जुन को दिव्यास्त्र नहीं प्राप्त थे, तभी उन्होंने सारी पृथ्वी को
जीत लिया था । अब तो महारथी अर्जुन दिव्यास्त्रों के विद्वान हैं , ऐसी
दशा में वे तुम्हें मार डालेंगे डालें तो कौन बड़ी बात है ?[3] धृतराष्ट्र की

१.- महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रा पर्व, अ० २३८ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
२.- ,, ,, ,, अ० २३९ श्लोक १-५,,
३. ,, ,, ,, ,, श्लोक ६-१४

अनिच्छा जानकर शकुनि ने उन्हें पुन: समझाया । शकुनि ने कहा कि
युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं । उन्होंने सभा में बारह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा
की है । अत: वे हमारा अनिष्ट नहीं करेंगे । हमारी विशेष इच्छा केवल
हिंसक पशुओं का शिकार खेलने की है । हमलोग वर्ण स्मरण के लिए केवल
गौओं की गणना करना चाहते हैं । पाण्डवों से मिलने की हमारी इच्छा
बिल्कुल नहीं है । हमारी ओर से कोई नीचतापूर्ण व्यवहार नहीं होगा ।
शकुनि के समझाने पर धृतराष्ट्र ने इच्छा न होते हुए भी दुर्योधन को मंत्रियों
सहित वहाँ जाने की आज्ञा दे दी । धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर दुर्योधन विशाल
सेना और कर्ण, दु:शासन आदि के साथ द्वैतवन के लिए चल पड़ा ।[१] दुर्यो-
धन आदि द्वैतवन के रमणीक सरोवर के पास पहुँचे । दुर्योधन का सेनानायक
द्वैतवन सरोवर के अत्यन्त निकट तक पहुँच गया था, उस वन के भीतर प्रवेश
करते ही उसको गन्धर्वों ने रोक दिया । वहाँ गंधर्वराज चित्रसेन पहले से ही
अपने सेवकगणों के साथ कुबेरभवन से आए हुए थे । वे उन दिनों अप्सराओं
तथा देवकुमारों के साथ विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते थे । उन्होंने अपनी
क्रीड़ा के लिए उस सरोवर को चारों ओर से घेर लिया था । सरोवर को
गन्धर्वों से घिरा देखकर दुर्योधन का सेवक दुर्योधन के पास लौट गया और सब
समाचार सुनाया । दुर्योधन ने अपने सेवकों को गन्धर्वों को मार भगाने के
लिए भेजा । परन्तु गंधर्वों ने उन्हें डाँट कर वापस भगा दिया ।[२] दुर्योधन
के सेवकों ने सब समाचार दुर्योधन को सुनाया । गन्धर्वों की बात सुनकर
दुर्योधन ने अमर्ष से समस्त सैनिकों से कहा कि उन गन्धर्वों को मार डालो ।
आज्ञा पाकर समस्त सैनिक और महाबली कौरव गन्धर्वों को रौंदते हुए द्वैतवन
में घुस गए । गंधर्वों ने यह समाचार राजा चित्रसेन से कहा । चित्रसेन ने अपनी
सेना को आज्ञा दी कि वे शत्रुओं को मार डालें । आज्ञा पाकर गंधर्व सेनाने

---

१. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रा पर्व, अ० २३६ श्लोक १८-२६

२. ,, ,, ,, अ० २४० श्लोक २०-२१

कौरव सेना पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया । समस्त कौरव सेना भागने लगी, पर कर्ण मोर्चा लेते रहे । यह देखकर अत्यधिक गंधर्व आ गए । तब दुर्योधन शकुनि, दु:शासन आदि सभी ने भीषण युद्ध आरंभ कर दिया । चित्रसेन भी आ गए और उन्होंने मायामय अस्त्र का आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया । चित्रसेन की उस माया से समस्त कौरवों पर मोह छा गया । चित्रसेन के युद्ध से कर्ण अन्त में घबरा कर भाग गया ।[1] कर्ण को भागते देख कर दुर्योधन की सारी सेना भागने लगी । दुर्योधन युद्ध में डटा रहा और अन्त में जीते जी चित्रसेन द्वारा बन्दी बना लिया गया । दुर्योधन के बंदी हो जाने पर गंधर्वों ने दु:शासन को भी पकड़ लिया । गंधर्वों ने दुर्योधन के अन्य भाइयों तथा राजपरिवार की स्त्रियों को भी अपने अधिकार में कर लिया कौरवों की हार देखकर कौरव सेना के मंत्री पाण्डवों के पास अपनी रक्षा की याचना के लिए गए भीम ने सब समाचार सुनकर कहा कि जो कार्य हमें करना चाहिए था वह गंधर्वों ने ही पूरा कर दिया । ये कौरव करना तो कुछ और ही चाहते थे, परन्तु उनका षड्यंत्र पूरा न हो पाया । भीम को इस प्रकार की बातें करते देखकर युधिष्ठिर ने उन्हें टोका ।[2] युधिष्ठिर ने भीम से कहा कि ये लोग भय से पीड़ित होकर शरण लेने की इच्छा से हमारे पास आए हैं । कौरव हमारे भाई हैं । हमें बाहर वालों के द्वारा उनका तिरस्कार नहीं सहना चाहिए । गंधर्वराज चित्रसेन जानता था कि हम यहाँ रह रहे हैं, तब भी उसने हमारे भाइयों का तिरस्कार किया । यह हमारे लिए अपमान की बात है । अत: तुम लोग शीघ्र जाकर दुर्योधन को छुड़ा लाओ ।[3] अनन्तर अर्जुन ने कौरवों की रक्षा की प्रतिज्ञा की । तब सभी पाण्डव गंधर्वों से युद्ध करने के लिए चल पड़े । अर्जुन ने गंधर्वों को समझाया और कहा कि तुम लोग दुर्योधन तथा स्त्रियों को छोड़ दो अन्यथा युद्ध करना पड़ेगा । गंधर्वों ने अर्जुन की बात न मानी और

---

१. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रा पर्व, अ० २४१

२. ,, ,, ,, अ० २४२

३. ,, ,, ,, अ० २४३ श्लोक १-११, १४-२२

युद्ध प्रारम्भ हो गया ।[१] पाण्डवों और गंधर्वों में घमासान युद्ध होने लगा । अर्जुन ने अपने बाणों के कौशल से गंधर्वों को त्रस्त कर दिया । अर्जुन ने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल और आग्नेय तथा सौम्य नामक दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया । गंधर्वों को त्रस्त हुआ देखकर गंधर्वराज चित्रसेन ने गदा लेकर अर्जुन पर आक्रमण किया । अर्जुन ने अपने सात बाणों द्वारा चित्रसेन की गदा के सात टुकड़े कर दिए । चित्रसेन ने जिन जिन दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया, उन सबको अर्जुन ने अपने दिव्यास्त्रों से शान्त कर दिया । यह देखकर चित्रसेन अपनी माया से अदृश्य होकर युद्ध करने लगे । चित्रसेन को अदृश्य होकर युद्ध करते देखकर अर्जुन ने कुपित होकर शब्दवेध का सहारा ले चित्रसेन की अन्तर्धान रूप माया को भी नष्ट कर दिया । चित्रसेन अर्जुन के प्रिय सखा थे अत: अर्जुन के कौशल को देखकर चित्रसेन ने स्वयं को अर्जुन के सामने प्रकट कर दिया और कहा कि इस युद्ध में तुम मुझे अपना सखा ही समझो । चित्रसेन और अर्जुन के युद्ध बन्द कर देने पर शेष पाण्डवों ने भी युद्ध बंद कर दिया ।[२]

तत्पश्चात अर्जुन ने चित्रसेन से हंसते हुए पूछा कि तुमने स्त्रियों सहित दुर्योधन आदि कौरवों को क्यों बंदी बनाया था ? चित्रसेन ने कहा कि इन्द्र को स्वर्ग में ही दुर्योधन और कर्ण का यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आपलोगों को वन में रहकर अनाथ की भांति क्लेश उठाते और विषम परिस्थिति में पड़कर अस्थिर भाव से रहते हुए जानकर भी उस अवस्था में आपको देखने और दुखी करने का निश्चय कर चुके हैं । उन लोगों की यह इच्छा जानकर इन्द्र ने मुझे आदेश दिया कि अर्जुन तुम्हारे प्रिय, सखा तथा शिष्य हैं अत: तुम जाओ और दुर्योधन आदि कौरवों को बांधकर यहां ले आओ । तुम्हें भाइयों सहित अर्जुन की रक्षा करनी चाहिए ।[३] अनन्तर अर्जुन के कहने पर सबलोग युधिष्ठिर के पास गए । वहां जाकर गंधर्वराज चित्रसेन ने दुर्योधन की सारी कुचेष्टा कह सुनाई । युधिष्ठिर ने समस्त कौरवों को बंधन से मुक्त कर दिया और गंधर्वों की प्रशंसा की । तत्पश्चात चित्रसेन गंधर्वों और अप्सराओं के साथ वहां से विदा

---

१ - महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रा पर्व, अध्याय २४४

हुए । युधिष्ठिर ने दुर्योधन से कहा कि तुम फिर कभी ऐसा दु:साहस मत करना । अब तुम अपने सब भाइयों के साथ घर जाओ । दुर्योधन ने युधिष्ठिर को प्रणाम किया और सब कौरवों के साथ अपने नगर की ओर चल दिए ।[१]

'जयभारत' के अन्तर्गत 'वनवैभव' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के 'वनपर्व' के अन्तर्गत 'घोषयात्रा' पर्व में मिलते हैं । 'वन-वैभव' गुप्त जी का एक पृथक् खंडकाव्य है, जिसे ज्यों का त्यों 'जयभारत' में उद्धृत किया गया है । 'जयभारत' की यह अन्तर्कथा यद्यपि 'महाभारत से ही ली गई है, परन्तु इसमें कवि की मौलिकता भी स्पष्ट है । 'महाभारत' में दुर्योधन, कर्ण आदि वन जाने के लिए यह मार्ग निकालते हैं कि वहाँ ग्वालों के बीच जाकर गायों की गणना आदि करनी है । वे एक ग्वाले को भी तैयार करते हैं जो धृतराष्ट्र से जाकर कहता है कि उस वन में आपकी सब गायें एकत्रित हैं ।[२] परन्तु 'जय-भारत' में वे केवल आखेट का बहाना बनाते हैं । 'महाभारत' के अनुसार दुर्योधन आदि जब वन में जाते हैं तो वे गायों का निरीक्षण करते हैं[३] परन्तु 'जयभारत' में यह प्रसंग भी नहीं है । 'महाभारत' में गंधर्वराज चित्रसेन तथा उनके साथी गंधर्वों से युद्ध करने और दुर्योधन आदि को छुड़ाने के लिए युधिष्ठिर को छोड़कर शेष चारों पाण्डव जाते हैं[४] परन्तु 'जयभारत' के अनुसार केवल अर्जुन ही जाते हैं । चित्रसेन को युद्ध में हराने के पश्चात् 'महाभारत' में अर्जुन चित्रसेन से दुर्योधन आदि को बाँधने का कारण पूछते हैं और चित्रसेन उनको उत्तर देते हुए बताते हैं कि इन्द्र ने दुर्योधन का पाण्डवों को सताने और उनकी दुर्दशापर हँसने का अभिप्राय जान लिया था और इसीलिए मुझे आदेश दिया था कि मैं दुर्योधन को उचित दण्ड दूँ और आप सब पाण्डवों की रक्षा करूँ ।[५] यह

---

१. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रापर्व, अ० २४६, श्लोक १२-२४
२. ,, ,, ,, अ० २३६, श्लोक १-५
३. ,, ,, ,, अ० २४०, श्लोक १-८
४. ,, ,, ,, अ० २४४
५. ,, ,, ,, अ० २४५ श्लोक २

प्रसंग 'जयभारत' में नहीं रखा गया है। इस प्रकार प्रस्तुत अन्तर्कथा में गुप्त जी ने कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया है और कुछ में परिवर्तन किया है तथा कुछ का संक्षेपण किया है। परन्तु इसका मूल स्रोत 'महाभारत' ही है। पाण्डवों को नीचा दिखाने के लिए कौरवों ने वन यात्रा की, परन्तु उल्टे उन्हीं को नीचा देखना पड़ गया। इस प्रसंग में कवि ने युधिष्ठिर का चारित्रिक उत्कर्ष दिखाया है। अर्जुन के वीरत्व का भी प्रदर्शन हुआ है। कौरवों के पराभव द्वारा कवि ने यह चरितार्थ किया है कि असत् कार्य का सत् परिणाम नहीं हो सकता।

२३. दुर्योधन का दुःख

'जयभारत' के अन्तर्गत 'दुर्योधन का दुःख' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा में गंधर्वों से पराजित होने और अर्जुन द्वारा रक्षा होने के कारण दुर्योधन के दुःख की कथा वर्णित है। दुर्योधन जब युधिष्ठिर से विदा होकर अपने कौरव मंडल के साथ लौटा तो उसकी ग्लानि और दुःख की सीमा नहीं थी। उसने अपने दुःख को दुःशासन के सामने इस प्रकार व्यक्त किया -

" हँसा गया मैं, हँसने गया था,
अदृष्ट ने आ मुझको रुलाया।
कैसे सहूँ मैं यह घोर लज्जा,
हा! मृत्यु अच्छी इसकी अपेक्षा।

× ×

लो तात दुःशासन, राज्य मेरा,
जो हो भले हो, मरके बचूँ मैं।"[१]

दुर्योधन की बातें सुनकर दुःशासन का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। दुःशासन को समझाया और दुर्योधन को आदर देते हुए कहा कि मैं तो आपका किंकर हूँ मैं राज्य कैसे ले सकता हूँ। इसी समय शकुनि और कर्ण वहाँ आ गए। उनके सामने भी दुर्योधन ने अपनी ग्लानि प्रकट की। शकुनि ने दुर्योधन से कहा -

---

१. जयभारत, दुर्योधन का दुःख, पृ० २१४ (द्वितीय संस्करण)

" अरे, हुआ सो यह हो गया है,
जीत तुम्हें दुर्भार हो रहा क्यों ?
जीते रहो तो फिर जीत होगी,
मरा प्रतीकार कहाँ करेगा ?

x x

बाधा जहाँ, साहस भी वहीं है,
अशक्य के अर्थ अवश्य लज्जा ।"[१]

दुर्योधन ने शकुनि से कहा कि मैं व्यर्थ मरने नहीं जा रहा हूँ, वरन् नया जन्म लेने जा रहा हूँ । कर्ण ने दुर्योधन को सान्त्वना दी और कहा —

" धिक्कार, मेरे रहते हुए भी
दीखे तुम्हें जीवन में अँधेरा ।
रहो, तभी राज्य भोग भोगूँ,
आगे तुम्हें दिग्विजयी बनाऊँ ।"[२]

दुर्योधन ने कर्ण से कहा — " मुझे तुम्हारे बल का भरोसा " ।[3]

कर्ण ने जो कहा था वह कर दिखाया । उसने दिग्विजय की और जैसा पाण्डवों ने यज्ञ किया था वैसा ही कौरवों ने भी कर दिखाया । कौरवों ने उसमें पाण्डवों को भी बुलवाया । युधिष्ठिर ने अपना सँदेश कहलाया —

" सत्कर्म हों सिद्ध सभी तुम्हारे,
अरण्यचारी हम हैं अभी तो ।"[४]

परन्तु भीम ने क्रोधित होकर कहलवाया —

---

१. जय भारत, दुर्योधन का दुःख, पृ० २१७ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, पृ० २१८ ,,

गया था, अपनी पराजय का समाचार बताया ।[१] दुर्योधन ने अत्यधिक दुःखी होकर दुःशासन से कहा कि तुम राजा बन जाओ । यथा —

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ।।२३ ।[२]

अर्थात् मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ । तुम मेरे दिये हुए इस राज्य को ग्रहण करो और राजा बनो । कर्ण और शकुनि की सहायता से सुरक्षित एवं धन-धान्य से समृद्ध इस पृथ्वी का शासन करो ।

दुर्योधन की बातें सुन कर दुःशासन का गला भर आया था । उसने दुर्योधन के पैर पकड़ कर कहा कि आप ही हमारे कुल में सौ वर्षों तक राजा बने रहें ।[३] दुर्योधन और दुःशासन को दुःखी देखकर कर्ण ने दुर्योधन को समझाया परन्तु फिर भी दुर्योधन ने आमरण अनशन का निश्चय कर लिया ।[४] शकुनि ने आकर दुर्योधन से कहा कि मैंने जिस लक्ष्मी को तुम्हारे लिए पाण्डवों से जुआ खेल कर प्राप्त किया उसे तुम क्यों इस प्रकार त्याग रहे हो । पाण्डवों ने यदि तुम्हारे साथ सद्व्यवहार किया तो इसमें दुःखी होने से अच्छा तुम उनका राज्य उन्हें वापस कर दो । पाण्डवों के साथ सद्व्यवहार करो उन्हें राज-सिंहासन पर बैठा दो । इससे तुम्हें सुख मिलेगा ।[५] कर्ण और शकुनि के समझाने पर भी दुर्योधन अपने निश्चय पर दृढ़ रहा और विधिवत अनशन के लिए बैठ गया ।[६] दुर्योधन के इस निश्चय को जानकर पातालवासी भयंकर दैत्य और दानव चिंतित हुए कि इस प्रकार दुर्योधन का प्राणान्त हो जाने से हमारा पक्ष ही नष्ट हो जायगा । उन्होंने मंत्रों के द्वारा यज्ञ कुण्ड से एक अद्भुत कृत्या को उत्पन्न किया और उसे आदेश दिया कि तू प्रायोपवेशन करते हुए राजा

---

१. 'महाभारत' वनपर्व, घोषयात्रा पर्व अ० २४८ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, ,, अ० २४९ श्लोक २३ ,,
३. ,, ,, ,, अ०२४९ ,, २८-३४ ,,
४. ,, ,, ,, अ० २५०
५. ,, ,, ,, अ० २५१ ,, ६-११ ,,
६. ,, ,, ,, ,, ,, १६-२० ,,

तुम दुर्योधन से जाकर कहना कि सम्राट धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष बीतने पर वहाँ पधारेंगे और रण-यज्ञ में अस्त्र-शस्त्रों द्वारा प्रज्ज्वलित की हुई रोषाग्नि में वे तुम्हारी आहुति देंगे। जब रोष की आग में जलते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों पर पाण्डव अपने क्रोध रूपी घी की आहुति डालने को उद्यत होंगे, उस समय मैं वहाँ पदार्पण करूँगा।[1] तत्पश्चात् दूत ने जाकर यह समाचार दुर्योधन को दिये। कुछ समय पश्चात यज्ञ भी समाप्त हो गया।[2] यज्ञ की समाप्ति के पश्चात कर्ण ने दुर्योधन से कहा – नृपश्रेष्ठ मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो – जब तक अर्जुन मेरे हाथ से मारा नहीं जाता, तब तक मैं दूसरों से पैर नहीं धुलवाऊँगा, कीलाल से उत्पन्न पदार्थ नहीं खाऊँगा और आसुरव्रत (क्रूरता आदि) नहीं धारण करूँगा। किसी के भी कुछ माँगने पर 'नहीं है' ऐसी बात नहीं कहूँगा :-

> तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणु मे राजकुंजर ।
> पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ।। १६ ।।
> कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
> नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ।।१७।।[3]

जब पाण्डवों के बारह वर्ष वनवास के बीत गए और तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ, तब पाण्डवों के हितैषी इन्द्र कर्ण से कवच-कुण्डल माँगने को उद्यत हुए। इन्द्र का ऐसा मनोभाव जानकर भगवान सूर्य कर्ण के पास गए और रात्रि में कर्ण को स्वप्न में अपने दर्शन दिये। सूर्य ने कर्ण को समझाया कि इन्द्र पाण्डवों के हित की दृष्टि से तुमसे दोनों कुण्डल माँगने आयेंगे। वे तुम्हारी दानशीलता को जानते हैं। परन्तु तुम उन्हें अपने दोनों कुण्डल मत दे देना। तुम कुंडल और कवच के साथ ही उत्पन्न हुए हो। अतः कुण्डलों के दे देने पर रण में शत्रुओं के लिए तुम अवध्य न रह जाओगे। तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी और तुम मृत्यु के अधीन हो जाओगे। कुण्डल और कवच से युक्त होने पर रण में शत्रुओं

---

१. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रा पर्व, अ० २५६, श्लोक ८-१७
२. ,, ,, ,, अ० २५६ ,, १८-२७
३. ,, ,, ,, अ० २५७ ,, १६-१७

के लिए तुम अवध्य रहोगे ।[१] कर्ण ने सूर्यदेव से कहा कि मैं अपने प्रण पर दृढ़ रहूंगा । इन्द्र को कुण्डल मांगने पर मैं उन्हें मना नहीं कर सकता । इन्द्र को भिक्षा देकर मैं कीर्ति प्राप्त करूंगा । आप मुझे मेरे व्रत से विचलित न करें ।[२] सूर्य ने कर्ण को पुनः समझाया और इन्द्र को कुण्डल देने से मना किया ।[३] परन्तु कर्ण जब नहीं ही माना तो सूर्य ने कहा कि तुम इन्द्र से याचित होकर ही उन्हें कुण्डल और कवच देना । सूर्य ने कर्ण से कहा कि तुम इन्द्र से कहना कि मैं आपको अपने शरीर का उत्तम कवच और दोनों कुण्डल दे दूंगा परन्तु आप भी मुझे अपनी अमोघ शक्ति प्रदान कीजिए, जो शत्रुओं का संहार करने वाली है । कर्ण ने सूर्य का यह परामर्श स्वीकार कर लिया ।[४] अनन्तर इन्द्र ब्राह्मण वेश धारण करके कर्ण के पास आए और कर्ण से कवच और कुण्डल मांगे । कर्ण ने उनसे अमोघ शक्ति मांगी । अन्त में इन्द्र ने कर्ण को अमोघ शक्ति दी और कर्ण ने उन्हें कवच और कुण्डल दे दिये ।[५] इन्द्र ने कहा कि जो अमोघ शक्ति मैं तुम्हें दे रहा हूं वह शक्ति तुम्हारे हाथ में जाकर किसी एक तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापी तथा गर्जना करने वाले शत्रु को मारकर पुनः मेरे ही पास आ जायगी ।[६]

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के 'वन-पर्व' के अन्तर्गत 'घोषयात्रापर्व' तथा 'कुण्डलाहरण' पर्व में विस्तार पूर्वक मिलते हैं । गुप्त जी ने 'महाभारत' की इस अन्तर्कथा में पर्याप्त नवीनता रखी है । कहीं कथा का संक्षेपण किया गया है और कहीं-कहीं किन्हीं स्थलों को छोड़ भी दिया गया है । 'महाभारत' के अनुसार दुर्योधन दुःखी होकर आमरण अनशन करना चाहता है,[७] परन्तु 'जय भारत' में दुर्योधन के आमरण अनशन का प्रसंग नहीं

---

१. महाभारत, वनपर्व, कुण्डलाहरण पर्व, अ० ३००, श्लोक ५-१९
२. ,, ,, ,, अ० ३०० श्लोक २४-३९
३. ,, ,, ,, अ० ३०१
४. ,, ,, ,, अ० ३०२
५. ,, ,, ,, अ० ३१०, श्लोक १-२३
६. ,, ,, ,, अ० ३१०, श्लोक २५
७. ,, ,, घोषयात्रापर्व अ० २४९ श्लोक २०

आया है। 'महाभारत' में शकुनि दुर्योधन को समझाते हुए कहता है कि मैंने जो सम्पत्ति तुम्हारे लिए पाण्डवों से जुए के माध्यम से प्राप्त की उसे तुम क्यों त्याग रहे हो? और पाण्डवों ने यदि तुम्हारे साथ दुर्व्यवहार किया है तो तुम्हें भी चाहिए कि तुम उनका पैतृक राज्य उन्हें वापस कर दो।[1] 'जयभारत' में शकुनि इस प्रकार के उपदेश नहीं देता है। 'महाभारत' में दुर्योधन को दैत्य और दानवों ने कृत्या द्वारा रसातल में बुलवाकर और अनशन करने से रोका।[2] यह प्रसंग भी 'जयभारत' में इस रूप में नहीं आया है। 'महाभारत' में कर्ण के विचारों को जानकर भीष्म ने कर्ण की निन्दा की तथा दुर्योधन को पाण्डवों से मित्रता करने का परामर्श दिया, कर्ण ने दम्भपूर्ण वचन कहे।[3] यह प्रसंग भी गुप्त जी ने छोड़ दिया है। इन्द्र द्वारा कर्ण के कुण्डल और कवच माँगने का प्रसंग 'महाभारत' के ग्यारह अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णित है।[4] परन्तु 'जयभारत' में इस कथा को दस पंक्तियों में ही कहा गया है।

इस प्रसंग में कवि ने दुर्योधन की आत्मग्लानि को व्यक्त किया है। विकृत पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष को दिखाने की रुचि की पूर्ति यहाँ दिखाई देती है। दुर्योधन की आत्मग्लानि को कवि ने व्यक्त करवाया है और उसके मानवीय गुणों को निरूपित किया है।

---

१. महाभारत, वनपर्व, घोषयात्रापर्व, अ० २५१, श्लोक ६-९।।
२. ,, ,, ,, अ० २५१, श्लोक २१-३०
३. ,, ,, ,, अ० २५३
४. ,, ,, कुण्डलाहरणपर्व अ० ३००-३१०

२४ वन-मृगी —

'जयभारत' के अनुसार, जिस समय पाण्डव द्वैतवन में निवास कर रहे थे, एक रात्रि को एक वनमृगी ने युधिष्ठिर को स्वप्न में दर्शन दिये । उसके पीछे उसका शावक भी था । उस वनमृगी ने रोकर युधिष्ठिर से कहा कि आप लोगों के यहाँ निवास करने से यहाँ के सब मृग आपलोगों की मृगया के द्वारा समाप्त होते जा रहे हैं । इस प्रकार तो हम लोगों का वंश-नाश ही हो जायगा ।

यथा —

" हे देव, देखते वंश-नाश ये मृग हैं,
आखेट आपके हुए हमारे मृग हैं ।
जो बीज मात्र कुछ रहे, उन्हें रहने दें,
हम भी प्राणी हैं आप मुझे कहने दें ।

२.

मैं आज देव के चरण-शरण आई हूँ,
पितृहीन दीन शिशु शेष भेंट लाई हूँ ।
इसकी बलि से निज तृप्ति आप कर लीजे,
इसके से कुछ जो अन्य, उन्हें वर दीजे ।" [1]

स्वप्न में युधिष्ठिर को ऐसा प्रतीत हुआ मानो अनाथ मृग-शावक उनके चरणों पर ही गिर पड़ा हो । युधिष्ठिर तत्काल चौंक कर जाग गए । उन्होंने उठ कर चारों पाण्डवों से स्वप्न की बात बताई और कहा कि अब हम काम्यक वन चलें, जिससे यहाँ के मृग निर्भय होकर पल सकें । यदि हम मृगों को पलने और बढ़ने नहीं देंगे तो इनका वंश ही समाप्त हो जायगा । तत्पश्चात पाण्डव काम्यक वन के लिए चल पड़े ।

'जयभारत' की इस अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के 'वनपर्व' के अन्तर्गत 'मृगस्वप्नोद्भव पर्व' में मिलते हैं । एक रात में जब युधिष्ठिर सो

---

१. 'जयभारत', वनमृगी, पृ० २२०-२३१ (द्वितीय सं० २०२१ वि०, [illegible])

रात्रि को स्वप्न में द्वैतवन के सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं ने उन्हें दर्शन दिया। उन जीवों के कण्ठ आँसुओं से रुँधे हुए थे। वे थर-थर काँपते हुए, हाथ जोड़ कर खड़े हुए थे। युधिष्ठिर ने उनसे पूछा कि आप लोग कौन हैं ? और क्या कहना चाहते हैं ? युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर मरने से बचे हुए हिंसक पशुओं ने उनसे कहा कि हम द्वैतवन के पशु हैं। आप लोगों के मारने से हमारी इतनी ही संख्या शेष रह गई है। हमारा सर्वथा संहार न हो जाय, इसलिये आप अपना निवास स्थान बदल दीजिए। आपके सभी भाई शूरवीर एवं अस्त्रविद्या में पंडित हैं। इन्होंने हम वनवासी हिंसक पशुओं के कुलों को थोड़ी ही संख्या में जीवित छोड़ा है। आपकी कृपा से हमारे वंश की वृद्धि हो, यही हम निवेदन करते हैं। पशुओं की यह दशा देखकर युधिष्ठिर दुःख से व्याकुल हो गए। उन्होंने पशुओं से कहा कि तुम लोग जैसा कहते हो मैं वैसा ही करूँगा।

रात्रि बीतने पर जब युधिष्ठिर उठे तो उन्होंने अपना स्वप्न अपने भाइयों को सुनाया। युधिष्ठिर ने कहा कि वे पशु ठीक कहते हैं। हम लोगों को वनवासी हिंस्र जीवों पर भी दया करनी चाहिए। यहाँ रहते हमें १ वर्ष और आठ महीने हो चुके हैं। अब हमें काम्यक वन में चलना चाहिए। और वनवास के शेष दिन वहीं व्यतीत करने चाहिए। तत्पश्चात् उन पाण्डवों ने वहाँ रहने वाले ब्राह्मणों के साथ शीघ्र ही उस वन से प्रस्थान कर दिया। पाण्डवों ने वहाँ से चल कर काम्यक वन में प्रवेश किया।[1]

महाभारत के ‘वनपर्व’ के अन्तर्गत ‘मृगस्वप्नोद्भव पर्व’ है, जिसमें केवल एक ही अध्याय है। इसी अध्याय में ‘जयभारत’ में वर्णित ‘वनमृगी’ अन्तर्कथा के मूल स्रोत विद्यमान हैं।

जयभारतकार ने इस अन्तर्कथा में थोड़ा परिवर्तन किया है। ‘महाभारत’ के अनुसार युधिष्ठिर को रात्रि में वन के मृग तथा हिंसक पशुओं ने स्वप्न में दर्शन दिया। यथा —

---

१. महाभारत, वनपर्व, मृगस्वप्नोद्भव पर्व, अ० २५८ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

तत स्वप्ने कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ।।२।।[१]

अर्थात् रात्रि में जब युधिष्ठिर सो रहे थे, द्वैतवन के मृग तथा हिंसक पशुओं ने उन्हें दर्शन दिया । उन सबके कण्ठ आँसुओं से रुँधे हुए थे ।' जयभारत' में पशुओं के स्थान पर केवल एक मृगी अपने शावक को लेकर ही युधिष्ठिर को स्वप्न में दर्शन देती है ।'जयभारत' में युधिष्ठिर वनमृगी को देखते हैं तो उसकी कातर दृष्टि में द्रौपदी की झलक दिखाई पड़ जाती है । यथा —

'कृष्णा-सी कातर करुणा दृष्टि थी उनमें,
अति उपालंभ की भाव-सृष्टि थी उनमें ।'[२]

यह मृगी सुस्वप्न में युधिष्ठिर को अपनी दुःख कथा से अवगत कराती है । युधिष्ठिर ने मांसाहार का त्याग किया, क्योंकि वे अपनों को भोजन लक्ष्य नहीं बनाना चाहते थे । इस प्रसंग में कवि आमिष भोजन के विपक्ष में मानवीय करुणा को उपस्थित करता है । कवि ने इस 'महाभारतीय' आख्यान द्वारा आहार-विहार में संयम रखने की आवश्यकता पर बल दिया है ।

२५ जयद्रथ —

'जयभारत' में 'जयद्रथ' शीर्षक के अन्तर्गत जयद्रथ द्वारा द्रौपदी-हरण की कथा वर्णित है । काम्यक वन में निवास करते समय एक दिन द्रौपदी को आश्रम में अकेली छोड़ कर पाँचों पाण्डव कहीं गए हुए थे । द्रौपदी कदम्ब की शाखा पकड़े खड़ी थी और पाण्डवों के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी । उस समय एकाएक जयद्रथ वहाँ आया । द्रौपदी को देख कर वह पुकार उठा —
" प्रियसि कृष्णे !" द्रौपदी चौंक उठी, परन्तु शीघ्र ही उसने पहचान लिया कि यह दुःशला के पति जयद्रथ हैं । द्रौपदी ने जयद्रथ का स्वागत करते हुए

---

१. जयभारत, वनमृगी, पृ० २२० (द्वितीय सं० २०२१वि० साहित्य सद० चिर०, झाँसी
२. ,, जयद्रथ पृ० २२४ ,, ,,

कहा—

" भाभी ! तुम तो ननदेऊ हो, यहाँ अचानक कैसे ?
आओ, किसे पता था, मेरे भाग्य आज हैं ऐसे ।"[१]

द्रौपदी ने जयद्रथ को आदर सहित बैठाया और अपनी ननद दुःशला के समाचार पूछे । जयद्रथ ने द्रौपदी की दीन दशा को देखकर पहले तो शोक और सहानुभूति प्रकट की । फिर पाण्डवों की निंदा की और अपने साथ द्रौपदी के चलने का प्रस्ताव किया । यथा —

" सखि, सचमुच रोना आता है यह गति देख तुम्हारी !

<　　　　<

पराय बनाकर जिन क्रूरों ने यह दिन तुम्हें दिखाया,
क्या उनकी करनी का तुमने लेखा उन्हें दिखाया ?
विस्मय, उन्हें अभागों को तुम अब भी यों भजती हो,
कापुरुषों को लक्ष्मी-सी क्यों त्वरित नहीं तजती हो ?
यही कुटी क्या योग्य तुम्हारे, सुनो, न भृकुटी तानो,
सिंधुराज का मणि-सिंहासन अब भी अपना जानो ।"[२]

द्रौपदी ने कहा कि तब दुःशला कहाँ जायेगी ? वह कुछ नहीं कहेगी ? जयद्रथ ने कहा कि वह सदा तुम्हारी दासी बनी रहेगी । इस पर द्रौपदी ने जयद्रथ को फटकारते हुए कहा —

" आर्यों को दासी कहते हो, जाति तुम्हारी जानी,
मेरे प्रभु रखते हैं अब भी मुझे बना कर रानी ।
अपने को- मुझको भी हारे, धर्म नहीं वे हारे,
पंचतत्वमय इस तनु के हैं प्राणों से भी प्यारे ।
सावधान , मैं सुन न सकूँगी बात और अब आधी,
अपनी चिंता करो, न हो तुम औरों के अपराधी । "[३]

---

१. जयभारत, जयद्रथ, पृ० २२४ (द्वितीय सं०२०२१ वि० सा०स०, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० २२४ ,, ,,
३. ,, पृ० २२५ ,, ,,

'जयद्रथ' वासना के वशीभूत हो चुका था उसने बलपूर्वक द्रौपदी को उठाकर अपने रथ में डाल लिया । द्रौपदी चीख उठी —

" आओ, आओ ! बचाओ कोई, घातक ने मी घेरी,
जो कोई भी पुरुष पास हो, उसे लाज है मेरी ।"[१]

द्रौपदी की इस पुकार से पाँचों पाण्डव शिवि से चले आए । जयद्रथ ने जब देखा कि मृत्यु सर पर आ गई है तो उसने द्रौपदी को रथ से उतार दिया और स्वयं रथ में बैठ कर भागने लगा । परन्तु अर्जुन ने अपने बाणों से उसके रथ के घोड़ों को मार गिराया । तत्पश्चात् भीम के पदाघात से वह मुँह के बल गिर गया और दया की भिक्षा माँगने लगा । यथा —

" दया करो, मत मारो मुझको, मैं हूँ दास तुम्हारा,
अभी युवा हूँ, सूख न जावे यों ही जीवन-धारा ।"[२]

युधिष्ठिर ने जयद्रथ को दु:शला के कारण क्षमा कर दिया और कहा कि जाओ हम किसी को दास नहीं बनाते हैं ।

अपनी दुर्गति से जयद्रथ को बहुत ग्लानि हुई । उसने जाकर भयंकर तप किया जिससे शंकर भगवान प्रसन्न होकर प्रकट हुए और जयद्रथ को यह वर दिया कि अर्जुन को छोड़कर तू शेष पाण्डवों पर एक बार विजय प्राप्त करेगा।

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के वनपर्व के अन्तर्गत 'द्रौपदीहरण पर्व' में प्राप्त होते हैं ।'महाभारत' के अनुसार काम्यक-वन में रहते समय एक दिन पाँचों पाण्डव पुरोहित धौम्य तथा महर्षि तृण-बिन्दु की आज्ञा से द्रौपदी को अकेली ही आश्रम में छोड़कर ब्राह्मणों की रक्षा के लिए हिंसक पशुओं को मारने के लिए चले गए । उसी समय सिंधुदेश का राजा जयद्रथ विवाह की इच्छा से शाल्वदेश की ओर जा रहा था । वह अनेक राजाओं के साथ राजोचित ठाठ-बाट से सुसज्जित था । काम्यकवन में पहुँचने पर उसने पाण्डवों के आश्रम के दरवाजे पर द्रौपदी को खड़े देखा । द्रौपदी को देख कर वह सोचने लगा कि यह कोई अप्सरा है, या देवकन्या है

---

१. जयभारत, जयद्रथ, पृ० २२५ (द्वितीय सं०,२०२१,सा०स०,झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २२५ ,,

चलने लगे ।[१] इसी समय पाण्डव आश्रम पर लौटे वहाँ द्रौपदी की दासी धात्रेयिका ने सारा समाचार उनसे कहा । उससे जयद्रथ द्वारा द्रौपदी-हरण का समाचार जानकर पाँचों पाण्डव जयद्रथ का पीछा करने तत्परता से चल पड़े ।[२] जयद्रथ की सेना के निकट पहुँचकर पाण्डवों ने उसका संहार करना आरंभ कर दिया । अपनी सेना के वीरों के मारे जाने पर जयद्रथ भय से घबरा उठा और द्रौपदी को वहीं छोड़कर वह अपने रथ पर बैठकर भागने लगा । द्रौपदी को धौम्य मुनि के साथ आते देखकर युधिष्ठिर ने उसे सहदेव द्वारा रथ पर चढ़वा लिया । भीम ने युधिष्ठिर से कहा कि सिन्धुराज आज चाहे पाताल में भी घुस जाय अथवा इन्द्र भी उसके सारथि या सहायक होकर आ जायँ, तो भी आज वह मेरे हाथ से जीवित नहीं बच सकता । परन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि सिन्धुराज यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है परन्तु बहिन दुःशला और माता गान्धारी को स्मरणकर उसका वध नहीं करना चाहिए । द्रौपदी ने इस पर कहा कि मेरी इच्छा है कि उस अधम को अवश्य मार डालना चाहिए । तब अर्जुन और भीमसेन जयद्रथ को पकड़ने चले । जयद्रथ यद्यपि एक कोस आगे निकल गया था, परन्तु अपने दिव्यास्त्रों द्वारा अर्जुन ने वहीं से उसके रथ को, सपिहल कर घोड़ों को मार डाला । जयद्रथ अर्जुन के दिव्यास्त्रों द्वारा अपने रथ के घोड़ों को मरा देखकर भयभीत होकर वन की ओर भागा । अर्जुन ने उसे ललकारा । भीम उसे मारडालने दौड़े ।[३] अर्जुन ने भीम को रोका और कहा कि दुःशला के वैधव्य का ध्यान रख कर जयद्रथ को न मारो । तब क्रोधित भीम ने जयद्रथ के लम्बे लम्बे बालों को अर्द्धचन्द्राकार बाण से मूड़ दिया और उसके सिर पर पाँच चोटियाँ बना दीं । भीम ने जयद्रथ से कहा कि कि यदि तू सर्वत्र अपने को युधिष्ठिर का दास बताया करे, तो तुझे मैं प्राण-दान दे दूँ । जयद्रथ ने यह बात भी स्वीकार कर ली तब उसे रथ पर चढ़ा कर आगे-आगे भीम और पीछे पीछे अर्जुन चले और उसे अपने आश्रम पर ले आए ।

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीहरण पर्व, अ० २६८, श्लोक २३-२८ (गीताप्रेस)
२. ,, ,, अ० २६९ ,,
३. ,, ,, अ० २७१ ,,

भीम ने युधिष्ठिर से कहा कि आप द्रौपदी को सुनवा दीजिए कि जयद्रथ पाण्डवों का दास हो चुका है। द्रौपदी ने संतुष्ट होकर भीमसेन से कहा कि आपने इसका सिर मूंड़ कर पांच चोटियां रख दी हैं तथा यह महाराज युधिष्ठिर का दास हो गया है, अतः अब इसे छोड़ दीजिये। द्रौपदी के आग्रह करने पर जयद्रथ बंधन से मुक्त कर दिया गया। युधिष्ठिर ने उससे कहा कि अब तू दास नहीं रहा, परन्तु अब ऐसा घृणित कार्य कभी न करना।[1]

जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ और वहां से चल दिया। वह अपने घर न जाकर गंगाद्वार (हरिद्वार) को चल दिया। वहां जाकर उसने शंकर भगवान को प्रसन्न करने के लिए बड़ी तपस्या की। शंकर भगवान प्रसन्न हो गए और उसे वर दिया। जयद्रथ ने शंकर भगवान से कहा कि मैं यह वर चाहता हूं कि युद्ध में मैं रथ सहित पांचों पाण्डवों को जीत लूं। शंकर भगवान् ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्ध में अर्जुन को छोड़कर अन्य चार पाण्डवों को आगे बढ़ने से रोक सकते हो।[2]

'जयभारत' में 'जयद्रथ' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के 'वन पर्व' के द्रौपदीहरण पर्व अन्तर्कथा के व 'जयद्रथविमोक्षण पर्व' के अन्तर्गत मिलते हैं। 'महाभारत' में यह अन्तर्कथा अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णित है। गुप्त जी ने प्रस्तुत अन्तर्कथा को महाभारत से ही लिया है परन्तु इसमें कुछ परिवर्तन किये हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों को कवि ने छोड़ भी दिया है। कुछ प्रसंगों का संक्षेपण भी किया गया है। 'महाभारत' में जयद्रथ दूर से द्रौपदी को देखकर पहचानता नहीं है और अपरिचिता के रूप में उसका सौन्दर्य चित्रण करता है,[3] परन्तु 'जयभारत' में वह सीधे 'प्रियसि कृष्णा' कह-कर बात आरम्भ करता है। 'महाभारत' के अनुसार जयद्रथ पहले कोटिकास्य को द्रौपदी के पास परिचय प्राप्त करने भेजता है,[4] जयभारत में वह स्वयं जाता

---

१. महाभारत, वनपर्व, जयद्रथविमोक्षण पर्व, अ० २७२, श्लोक १-२१ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० २७२ ,, २५-२६ ,,
३. ,, द्रौपदीहरण पर्व, अ० २६४ ,, १० ,,
४. ,, ,, अ० २६४ ,, १२-१७ ,,

है । 'महाभारत' के अनुसार जयद्रथ विवाह की इच्छा से शाल्वदेश की ओर जा रहा था,[१] परन्तु 'जयभारत' में जयद्रथ के वन में से होकर जाने का कोई कारण नहीं दिया गया है । 'महाभारत' में कोटिकास्य और द्रौपदी का वार्तालाप वर्णित है,[२] परन्तु 'जयभारत' में यह प्रसंग नहीं लिया गया है । 'महाभारत' में जिस समय जयद्रथ बलपूर्वक द्रौपदी का हरण करना चाहता है तब द्रौपदी सब ओर से निराश होकर धौम्य मुनि को पुकारती है और धौम्य मुनि जयद्रथ को फटकारते हुए उसकी सेना के साथ-साथ चल पड़ते हैं ।[३] यह प्रसंग भी 'जयभारत' में नहीं आया है । 'महाभारत' के अनुसार द्रौपदी-हरण के पश्चात् पाँचों पाण्डव अपने आश्रम पर लौटते हैं । वहाँ द्रौपदी की दासी धात्रेयिका द्वारा द्रौपदीहरण का वृत्तान्त जानकर वे जयद्रथ का पीछा करते हैं ।[४] इस प्रसंग को भी कवि ने छोड़ दिया है । 'महाभारत' में द्रौपदी-हरण के समय जयद्रथ जब अपने पीछे पाँचों पाण्डवों को आते देखता है तो द्रौपदी से उनका परिचय पूछता है । द्रौपदी अपने पाँचों पतियों का परिचय देते हुए उनके पराक्रम का वर्णन करती है ।[५] यह प्रसंग भी गुप्त जी ने छोड़ दिया है । 'महाभारत' के अनुसार अन्त में भीम जयद्रथ को पकड़ कर क्रोधित होकर उसके लम्बे-लम्बे बालों को अपने अर्द्धचन्द्राकार बाण से मूंड़ देते हैं और उसके सिर पर पाँच चोटियाँ बना देते हैं ।[६] 'जयभारत' में जयद्रथ के सिर मूंड़ देने और पाँच चोटियाँ बनाने का वर्णन नहीं है । युधिष्ठिर उसे दु:शला का पति सोचकर छोड़ देते हैं । यहाँ कवि युधिष्ठिर की करुणा को सक्रिय दिखाता है । कवि ने कौरवों के बढ़ते हुए अनाचार को दिखा कर पाण्डवों के पक्ष को और सुदृढ़ बनाया है । कथा संक्षेपण के लिए ही गुप्त जी ने आधार ग्रन्थ के अनेक प्रसंगों को इस अन्तर्कथा में छोड़ दिया है ।

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीहरण पर्व, अ० २६४ श्लोक ६-७ (गीताप्रेस)
२. ,, ,, अ०२६५,२६६
३. ,, ,, अ० २६८ श्लोक २३-२८ ,,
४. ,, ,, अ० २६६ ,,
५. ,, ,, अ० २७० ,,
६. ,, ,, अ० २७२ श्लोक ६ ,,

अतिथि और आतिथ्य

जयभारत के अनुसार दुर्योधन से संतुष्ट होकर दुर्वासा मुनि अपने शिष्यों के साथ पाण्डवों के पास अतिथि के रूप में आए । द्रौपदी चिंतित हो उठीं कि असमय में इनका कैसे सत्कार किया जाए । द्रौपदी का जो पात्र भोजन देता था वह द्रौपदी के भोजन कर लेने पर रिक्त हो जाता था । इस समय सबको भोजन करा कर द्रौपदी भी भोजन कर चुकी थी । अत: वह दुर्वासा और उनके शिष्यों के आतिथ्य के लिए चिन्तित हो उठी । द्रौपदी सोच रही थीं —

" दूं मैं अपना आमिष रांध,
सरे कहीं उससे यह काज ,
कैसे रहे हमारी लाज ?
नहीं शाप का उतना त्रास,
यह गार्हस्थ्य धर्म का ह्रास ।

x x

नहीं आज घर में कण शेष,
फिर बाधा का यह विशेष ।
रिक्त हो चुका मेरा पात्र,
प्रस्तुत शेष मात्र यह गात्र ।
अब क्या होगा मेरे राम ।
बरसा दो कुछ हे घनश्याम ।"[1]

दुर्वासा के शिष्य अपने गुरु की भांति क्रूर नहीं थे, वे असमय पाण्डवों के पास आकर आतिथ्य कराने में लज्जित हो रहे थे । प्रमुख शिष्य ने सबसे कहा कि चलो तब तक हमलोग स्नान कर लें । दुर्वासा सहित सब शिष्य

---

१. जयभारत, अतिथि और आतिथ्य, पृ० २२६ (द्वितीय सं०, २०२१ वि०, [illegible]

सरिता के किनारे गए ।

द्रौपदी को चिंतित देख कर युधिष्ठिर ने चारों भाइयों से कहा कि जाओ और जो कुछ प्राप्त, हो सके वह ले आओ । दुर्वासा मुनि क्रोधी अवश्य हैं पर वे मूर्ख तो नहीं हैं, हमारी स्थिति से वे भली भांति परिचित हैं । हम उन्हें अपनी श्रद्धा से ही तृप्त कर देंगे ।

इधर दुर्वासा के शिष्य आपस में वार्तालाप कर रहे थे कि युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के आतिथ्य धर्म को भ्रष्ट करके हम बहुत बड़ा पाप करेंगे । भविष्य में लोग आतिथ्य सत्कार करना छोड़ देंगे । यथा –

" देख हमारा दुर्व्यवहार,
अवश गृही पर अत्याचार,
कौन करेगा किसी प्रकार
आगत का स्वागत सत्कार[१]

< <

धिक दुर्योधन, धिक हम लोग,
धिक यह अधमाधम योग ।
इस खोटी करनी से अब
मरें भले हम जल में डूब ।"[१]

जल से जब स्नान करके दुर्वासा और उनके शिष्य बाहर निकले तो वे भोजन से भी तृप्त हो चुके थे । उन्होंने कहा –" हुआ स्नान में ही आहार ।" दुर्वासा ने कहा कि पांडवों से कह आओ हम सब तो स्वयं ही तृप्त हो गए हैं, श्रीकृष्ण ने ही हमें प्रसाद दे दिया है ।

"जयभारत" में वर्णित इस अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । एक समय दुर्वासा दुर्योधन के पास गए और दुर्योधन ने उन्हें आतिथ्य

---

१. जयभारत, अतिथि और आतिथेय, पृ० २३०,२३१ (द्वितीय संस्क०)

सत्कार द्वारा प्रसन्न कर लिया । दुर्वासा ने दुर्योधन से वर मांगने के लिए कहा। दुर्योधन ने वर मांगने के लिए कर्ण और दु:शासन आदि से पहले की सलाह कर ली थी । उसी निश्चय के अनुसार दुर्योधन ने दुर्वासा से कहा कि हमारे कुल में महाराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं । इस समय वे अपने भाइयों के साथ वन में निवास करते हैं । जिस प्रकार आप मेरे शिष्य हुए उसी प्रकार अपने शिष्यों सहित आप उनके भी शिष्य होइए । आप उस समय उनके पास जाइए जब द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाण्डवों को भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करने के पश्चात विश्राम कर रही हो । दुर्वासा ने दुर्योधन की यह बात मान ली ।[१]

तत्पश्चात् एक दिन महर्षि दुर्वासा इस बात का पता लगाकर कि पाण्डव लोग भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हैं और द्रौपदी भी भोजन से निवृत्त हो आराम कर रही है, दस हजार शिष्यों से घिरे हुए उस वन में आए । युधिष्ठिर ने भाइयों सहित, उनका पूजन किया और आतिथ्य सत्कार के लिए निमंत्रित किया । युधिष्ठिर ने कहा कि अपना नित्य नियम पूरा करके शीघ्र पधारिये । यह सुनकर दुर्वासा अपने शिष्यों सहित स्नान करने चले गए । इस समय द्रौपदी को अन्न के लिए बहुत चिन्ता हुई ।[२] असमय में कोई प्रबन्ध न देख कर वह श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगी । द्रौपदी ने भाँति-भाँति से प्रार्थना करते हुए कहा कि कौरव-सभा में दु:शासन से जैसे तुमने मेरी रक्षा की थी , वैसे ही इस संकट से भी मुझे छुड़ाओ ।[३]

द्रौपदी के स्मरण करने पर श्रीकृष्ण को यह मालूम हो गया कि द्रौपदी पर कोई संकट आ गया है , अत: वे तुरन्त द्रौपदी के पास उपस्थित हो गए । द्रौपदी ने अपना संकट उन्हें कह सुनाया । सब सुन कर कृष्ण ने द्रौपदी से कहा कि मुझे बड़ी भूख लगी है मेरे लिए तुरन्त भोजन चाहिए ।

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीहरण पर्व, अ० २६२ गीताप्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, अ० २६३ श्लोक १-६।। ,,
३ ,, ,, अ० २६३ ,, १६ ,,

द्रौपदी ने लज्जित होकर कहा कि सूर्य भगवान की दी हुई बटलोई मुझे तभी तक भोजन देती है जब तक मैं भोजन न कर लूं। आज तो मैं भी भोजन कर चुकी हूं, अतः उसमें अन्न नहीं रह गया है। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी से कहा कि कृष्णा तू मुझे वह पात्र (बटलोई) लाकर दिखा। द्रौपदी ने वह पात्र श्रीकृष्ण को लेकर दिया। पात्र में थोड़ा सा साग लगा हुआ था। उस साग को श्रीकृष्ण ने खा लिया और द्रौपदी से कहा - इस साग से सम्पूर्ण विश्व के आत्मा यज्ञ भोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों। इतना कह कर श्रीकृष्ण ने सहदेव से कहा कि तुम शीघ्र मुनियों को भोजन के लिए बुला लाओ। सहदेव मुनियों को बुलाने गए। उधर वे मुनि लोग उस समय जल में उतर कर अघमर्षण मन्त्र का जप कर रहे थे। सहसा उन्हें तृप्ति का अनुभव हुआ और बार-बार अन्नरस से युक्त डकारें आने लगीं। जल से बाहर निकल कर वे सब शिष्य दुर्वासा की ओर देख कर बोले कि हम लोग राजा युधिष्ठिर को रसोई बनवाने की आज्ञा देकर स्नान करने आए थे, परन्तु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठ तक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है। अब हम कैसे भोजन करेंगे। हमने जो भोजन तैयार करवाया है, उसका क्या होगा? दुर्वासा ने कहा कि हमने व्यर्थ रसोई बनवाकर राजर्षि युधिष्ठिर का बड़ा अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टि से देखकर हमें भस्म न कर दें। अतः शिष्यो! पाण्डवों से बिना पूछे ही तुरन्त भाग चलो। दुर्वासा मुनि की आज्ञा पाकर सभी शिष्य पाण्डवों से भयभीत होकर दसों दिशाओं में भाग गए।[१] सहदेव जब श्रीकृष्ण की आज्ञा से दुर्वासा मुनि और उनके शिष्यों को बुलाने गए तो वहां देवनदी में न तो दुर्वासा मुनि और न ही उनके शिष्य मिले। वहां रहने वाले तपस्वियों ने दुर्वासा और उनके शिष्यों के भाग जाने का समाचार बताया। सहदेव ने यह समाचार युधिष्ठिर को दिया। पाण्डव उनके लौटने की प्रतीक्षा करने लगे। वे भयभीत हुए कि कहीं दुर्वासा आधीरात को आकर हमें न छलें। तब श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को प्रत्यक्ष

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीहरण पर्व, अ० २६३, श्लोक १७-१६ (गीताप्रेस)

दर्शन देकर कहा कि क्रोधी महर्षि दुर्वासा द्वारा आप लोगों पर संकट आता जान कर द्रौपदी ने मेरा स्मरण किया था, इसलिए मैं तुरंत यहां आ पहुंचा । अब आप लोगों को दुर्वासा से तनिक भी भय नहीं है । वे आपके तेज से डर कर पहले ही भाग गए हैं । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारका चले गए ।[1]

'जयभारत' में 'अतिथि और आतिथ्य' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के वनपर्व के अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्व के अध्याय २६२ और २६३ में प्राप्त होते हैं । गुप्त जी ने इस अन्तर्कथा का स्थानान्तरण किया है । यह कथा 'जयद्रथ' की अन्तर्कथा से पहले 'महाभारत' में वर्णित है, परन्तु 'जयभारत' में गुप्त जी ने इसे 'जयद्रथ' की कथा के पश्चात् रखा है । गुप्त जी ने 'महाभारत' के 'वनपर्व' के दो सौ बासठवें अध्याय को, जिसमें दुर्योधन द्वारा दुर्वासा मुनि के आतिथ्य सत्कार की कथा है, केवल एक पंक्ति में चित्रित किया है । 'महाभारत' के अनुसार दुर्योधन दुर्वासा को सायास पाण्डवों के पास भेजता है,[2] यह वर्णन 'जयभारत' में नहीं है । 'महाभारत' में दुर्वासा के आतिथ्य में असमर्थ द्रौपदी चिंतित होकर श्रीकृष्ण का स्मरण करती है । श्रीकृष्ण आकर द्रौपदी की बटलोई में लगा हुआ ज़रा सा साग खाकर दुर्वासा और उनके शिष्यों को तृप्त करते हैं ।[3] यह प्रसंग 'जयभारत' में नहीं है । 'महाभारत के अनुसार पाण्डवों से भयभीत होकर दुर्वासा तथा उनके शिष्य वहां से भाग जाते हैं ।[4] 'जयभारत' में मुनि के दो-चार शिष्य अपने गुरु के कृत्य पर रोष करते हैं और स्नान में ही तृप्त होकर युधिष्ठिर के पास तृप्ति की सूचना भेजते हैं ।[5] गुप्त जी ने श्रीकृष्ण द्वारा मुनियों की तृप्ति के महाभा-

---

१. महाभारत, वनपर्व, द्रौपदीहरणपर्व, अ० २६३, श्लोक ३७-४४ (गीताप्रेस, गोर०)

२. ,, ,, अ० २६२ श्लोक २८-२२ ।। ,,

३. ,, ,, अ० २६३ ,, २२-३० ,,

४. ,, ,, अ० २६३ ,, ३२-३६ ,,

५. जयभारत, अतिथि और आतिथ्य ~~अ०-२६३~~ पृ० २३१, (द्वितीय संस्क०)

रतीय अलौकिक तत्त्व को बुद्धि सम्मत रूप देने का प्रयास नहीं किया है । उन्होंने मुनियों के लुप्त होने के कारणों पर कोई प्रकाश भी नहीं डाला । वरन् इसके कारण को कवि ने युग-भावना से प्रेरित होकर पाठकों के अनुमान पर ही छोड़ दिया है । कवि ने शिष्यों के क्षोभ द्वारा अनुचित कार्यों का विरोध किया है ।

२७ यक्ष

पाण्डवों के वनवास-काल में एक दिन एक ब्राह्मण की अरणि और मथानी को एक हिरन अपने सींगों में उलझा कर भागा । व्याकुल ब्राह्मण ने अपनी सहायता के लिए पांडवों को पुकारा । पाँचों पाण्डव धनुर्बाण लेकर उसको खोजने चले, परन्तु वह माया-मृग के समान कहीं गायब हो गया । पाण्डव गहन वन में भटकते रहे और अन्त में निराश होकर एक वट के वृक्ष के नीचे बैठ गए । वे पसीने से लथपथ , थके हुए और अत्यधिक प्यासे थे । नकुल ने वृक्ष पर चढ़ कर दूर-दूर तक देखा, और एक स्थान पर जल प्राप्त होने की संभावना जानकर वे वहाँ जल लेने गए । नकुल जब जल लेकर नहीं लौटे तो क्रम से सहदेव, अर्जुन और भीम भी गए । चारों के न लौटने पर चिंतित होकर अन्त में युधिष्ठिर उस तालाब के किनारे आए । वहाँ उन्होंने अपने चारों भाइयों को मृत:प्राय देखा । वे उनके ऊपर पानी के छींटे डालने के लिए जल लेने को तत्पर हुए, परन्तु उसी समय आवाज़ आई कि जल पीछे लेना। पहले मुझको उत्तर दो, नहीं तो तुम्हारी भी वैसी ही गति हो जायगी । युधिष्ठिर ने कहा कि "भाई, कह तू कौन कहाँ है ।"[१] उन्हें उत्तर मिला — "समझो यक्ष अलक्ष यहाँ है ।"[२] युधिष्ठिर ने कहा कि मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा, आप शीघ्र ही प्रश्न पूछिए । यक्ष ने युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने

---

१. जयभारत, यक्ष, पृ० २३३ (द्वितीय सं० २०२१ वि० साहित्य सदन)
२. ,, पृ० २३३ ,, ,,

अपनी बुद्धि के अनुसार उन प्रश्नों के उत्तर दिए। युधिष्ठिर के उत्तर से यक्ष प्रसन्न हो गया और उसने कहा -

" साधु, तुम्हारे शुभ विवेक को।
चारों में तुम चुन लो एक को।
उस जन को मैं अभी जिला दूं,
स्फुरित हृदय से हृदय मिला दूं।"[१]

युधिष्ठिर यक्ष की बात सुनकर पल भर रुके और फिर कहा कि नकुल को आप जीवित कर दें। यक्ष ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम और अर्जुन से वीर भाइयों को छोड़ कर तुमने नकुल को जीवित करने के लिए क्यों कहा ? तुम पुन: विचार कर लो। युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा -

" तात, विचार लिया है मैंने,
अनुचित नहीं किया है मैंने।

× ×

मेरी दो माताएं विश्रुत,
जीवित हूं मैं कुंती का सुत।
जिए नकुल यह माद्री-नन्दन,
मेरे तप्त पिता का चन्दन।"[२]

यक्ष युधिष्ठिर के इस उत्तर से प्रसन्न हो उठा। उसने कहा कि आपके चारों भाई अभी जीवित हो उठेंगे। तत्पश्चात् यक्ष ने अपना परिचय दिया, और कहा कि मैं तुम्हारा पिता धर्मराज हूं और मैंने ही मृग का रूप धारण करके उस ब्राह्मण की अरणि और मथानी का हरण किया था।

'जयभारत' की प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं। पाण्डव आदि काम्यक वन से पुन: द्वैतवन चले आए और वहां सुखपूर्वक रहने लगे।

---

१. जयभारत, यक्ष, पृ० २३५-२३६ (द्वितीय सं० २०२१वि०साहित्य स०,भा०,झाँसी)

एक दिन एक तपस्वी का अरणी सहित मन्थन काष्ठ एक वृक्ष में टंगा था, वहीं एक मृग आकर उस वृक्ष से अपना शरीर रगड़ने लगा । उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृग के सींग में अटक गए । उन काष्ठों को लेकर वह मृग चौकड़ी भरता हुआ आश्रम से ओझल हो गया । यह देखकर वह ब्राह्मण अग्निहोत्र की रक्षा के लिए पाण्डवों के पास आया और उनसे उस मृग को पकड़ने के लिए कहा । पाँचों पाण्डव धनुष आदि लेकर तीव्रगति से उस मृग का पीछा करने चले । परन्तु उस मृग को वे पकड़ न पाए । पाण्डव अत्यधिक थक गए थे और भूख-प्यास से व्याकुल होकर वे एक शीतल छाँह वाले बरगद के वृक्ष के नीचे बैठ गए ।[१] युधिष्ठिर ने नकुल से कहा कि वृक्ष पर चढ़ कर सब ओर दृष्टिपात करो और देखो कहीं जल है ? नकुल ने वृक्ष पर चढ़ कर चारों ओर देखा और कहा कि जल के पास होने वाले वृक्ष दिखाई पड़ रहे हैं और सारसों की आवाज़ भी सुनाई पड़ रही है, निस्सन्देह जलाशय होगा । युधिष्ठिर ने नकुल से कहा कि तुम शीघ्र ही जाओ और तरकस में भर कर पानी ले आओ । नकुल तुरन्त जलाशय के पास गए और पानी पीने के लिए जैसे ही चले कि आकाश से एक आवाज़ सुनाई पड़ी कि तुम इस सरोवर का पानी पीने का साहस न करो इसपर पहले मेरा अधिकार हो चुका है । पहले मेरे प्रश्नों का तुम उत्तर दो फिर पानी पीओ और ले भी जाओ । नकुल ने उस आकाशवाणी की अवहेलना की और उस जल को पी लिया । जल पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ।[२] नकुल को लौटने में जब विलम्ब हुआ तो युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा । सहदेव की भी वहाँ वही गति हुई जो नकुल की हुई थी ।[३] तब देर होते देख युधिष्ठिर ने अर्जुन को सरोवर के पास जल और भाइयों को लाने भेजा । अर्जुन सरोवर के तट पर गए और अन्त में वहाँ उनकी भी वही दशा हुई जो नकुल और सहदेव की हुई थी ।[४]

---

१. महाभारत, वनपर्व, आरणेय पर्व, अ० ३११(गीताप्रेस, गोरखपुर)

तब युधिष्ठिर ने भीमसेन को भेजा । भीम भी वही दशा को प्राप्त हुए जो नकुल और सहदेवआदि की हुई थी ।[१] चारों भाइयों के न लौटने पर युधिष्ठिर स्वयं उस सरोवर पर आए ।[२] युधिष्ठिर ने वहां पहुंच कर देखा कि उनके चारों भाई सरोवर के तट पर मूर्च्छित पड़े हैं । चारों भाइयों को मृतप्राय देख कर युधिष्ठिर व्याकुल हो गए और भांति-भांति से विलाप करने लगे ।[३] कुछ समय पश्चात् उन्होंने अपने मन को स्थिर किया और पानी में उतरे । पानी में प्रवेश करते ही उन्हें भी आकाशवाणी सुनाई दी । यक्ष ने कहा कि मैंने ही तुम्हारे भाइयों को यमलोक भेजा है अतः मेरे पूछने पर यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोक के पांचवें अतिथि हो जाओगे । मेरे प्रश्नों का उत्तर देने पर ही तुम जल पी सकते हो । युधिष्ठिर ने आकाशवाणी सुनकर कहा कि तुम कौन हो ? तुम्हारे विषय में मुझे कौतूहल हो रहा है । तुम अपना परिचय मुझे दो । यक्ष ने कहा कि मैं यक्ष हूं और मेरे ही द्वारा तुम्हारे ये भाई मारे गए हैं । तभी युधिष्ठिर ने देखा कि एक विकट नेत्रों वाला विशालकाय यक्ष वृक्ष के ऊपर बैठा है । उस यक्ष ने युधिष्ठिर से कहा कि तुम पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो तब इस सरोवर के जल को पीना, अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी । युधिष्ठिर ने कहा कि मैं तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर अपनी बुद्धि के अनुसार दूंगा, तुम प्रश्न करो ।[४] तत्पश्चात् यक्ष ने अनेक प्रश्न किए और युधिष्ठिर उन प्रश्नों के उत्तर देते चले गए ।[५] यक्ष प्रसन्न हो गया और उसने कहा कि अब तुम अपने भाइयों में से, जिस एक को चाहो, वह जीवित होसकता है । युधिष्ठिर ने कहा कि नकुल जीवित हो जाय । तब यक्ष ने कहा कि वीर भीम और अर्जुन

---

१. महाभारत, वनपर्व, आरणेय पर्व, अ० ३१२, श्लोक ३३-४०(गीताप्रेस,गोरखपुर)

२. ,, ,, अ० ३१२ ,, ४१-४५ ,,

३. ,, ,, अ० ३१३ ,, १-२१ ,,

४. ,, ,, ,, ,, २८-४४ ,,

५. ,, ,, ,, ,, ४५-१२१ ,,

को छोड़कर अपनी सौतेले भाई नकुल को तुम क्यों जिलाना चाहते हो ?

> प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
> स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ।। १२७ ।।[1]

युधिष्ठिर ने नकुल को जीवित करवाने की इच्छा का कारण बताया और कहा कि मेरे पिता की कुंती और माद्री नाम की दो पत्नियां थीं । वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें ऐसी मेरी इच्छा है । यक्ष युधिष्ठिर के इस विचार से प्रसन्न हो गए और कहा कि तुमने अर्थ और काम से भी अधिक दया और समता का आदर किया है, इसलिए तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायें ।[2] यक्ष के यह कहते ही चारों पाण्डव जीवित हो गए और उठ खड़े होकर यक्ष से पूछा कि आप कौन हैं, मुझे सच-सच बताइए । तब यक्ष ने कहा कि मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूं । तुम्हें देखने की इच्छा से ही मैं यहां आया हूं । मैं तुम्हारा व्यवहार जानने की इच्छा से यहां आया हूं । अब तुम कोई वर मांग लो । युधिष्ठिर ने कहा कि पहला वर तो यही मांगता हूं कि जिस ब्राह्मण के अरणी सहित मन्थन काष्ठ को लेकर मृग भाग गया है, उसके अग्निहोत्र का लोप न हो । यक्ष ने कहा कि मैं ही मृग बन कर तुम्हारी परीक्षा के लिए आया था । अब तुम दूसरा वर मांगो । युधिष्ठिर ने दूसरा वर यह मांगा कि वनवास के इस तेरहवें वर्ष में उन्हें कोई पहचान न सके । धर्म ने उन्हें यह वर भी दे दिया, और कहा कि वनवास के तेरहवें वर्ष में तुम विराट नगर में गुप्त रूप से रहोगे । फिर धर्मराज के कहने पर युधिष्ठिर ने तीसरा वर मांगा कि मैं लोभ, मोह और क्रोध को जीत सकूं तथा दान, तप और सत्य में सदा मेरा मन लगा रहे ।" यह वर भी देकर धर्मराज अन्तर्धान हो गए । पाण्डव अपने आश्रम में लौट आए ।

"जयभारत" में "यक्ष" शीर्षक से जो अन्तर्कथा दी गई है उसके स्रोत "महाभारत के" वनपर्व" के अन्तर्गत आरणेय पर्व में प्राप्त होते हैं । "महाभारत

---

१. महाभारत, वनपर्व, आरणेयपर्व, अ० ३१३, श्लोक१२७-४४ गीताप्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, अ० ३१३ ,, श्लोक १३० -१३३

युधिष्ठिर की बातें सुनकर सबने उन्हें समझाया —

" अपने को भी पीड़ित पुकार —
क्या टाल सके हो तुम उदार !
तुम दया वीर, तुम दान वीर,
तुम धर्मवीर, निर्द्वन्द्व धीर ।
बहुतों को है इतिवृत्त - बोध,
ऐसे भी हैं जो करें शोध ।
तुम हो परन्तु वे पुरुष भव्य,
रचते हैं जो इतिहास नव्य ।

× ×

होगे तुम भी विजयी विनीत,
अवशेष एक तप, एक शीत ।
तुमसे, जिनके प्रिय पद्मनाभ ,
पायें हमने भी सुकृत-लाभ ।"[१]

तत्पश्चात् द्विज आदि युधिष्ठिर को आशीर्वाद देकर चले गए । अब युधिष्ठिर ने विचार किया कि दूर न जाकर राजा विराट के यहाँ ही रहें । युधिष्ठिर ने कहा कि मैं अपना नाम कंक रखकर राजा का पण्डित बन जाऊँगा । भीम ने कहा कि मैं अपना नाम बल्लव रखकर सूपकार बन जाऊँगा । अर्जुन ने कहा कि मैं बृहन्नला नामक नर्तक बनकर उर्वशी का शाप भी पूरा कर लूँगा । नकुल और सहदेव ने कहा कि हम लोग अश्वपाल और गोपाल बनकर राजा विराट के यहाँ रहेंगे । द्रौपदी ने कहा कि मैं रानी की दासी बनकर एक वर्ष काट लूँगी । युधिष्ठिर इस योजना से प्रसन्न हुए और उन्होंने द्रौपदी से कहा —

" कृष्णे, सह लो यह शेष ताप,
सकाम हो तुम, अकाम न आप ।

---

१. जयभारत, अज्ञातवास, पृ० २५०, (द्वितीय संस्क०, साहित्यसदन, [illegible]

निर्दय हो चाहे सदय दैव,
रखेंगे स्वधर्म हम सब सदैव ।" [१]

ऐसा निश्चय करके वे सब वहाँ से चल दिए ।

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं । महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों से कहा कि आज ग्यारह वर्ष बीत गए, अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है । अब इसमें बड़े कष्ट से कठिनाइयों का सामना करते हुए अत्यन्त गुप्त रूप से रहना होगा । उन्होंने अर्जुन से कहा कि तुम कोई ऐसा स्थान चुनो जहाँ हम गुप्त रूप से रह सकें । अर्जुन ने पांचाल तथा अन्य बहुत से राष्ट्रों के नाम बताए । युधिष्ठिर ने कहा कि मत्स्यदेश के राजा विराट के यहाँ रहना अधिक उचित होगा तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने कहा कि मैं पासा खेलने की विधा जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है । अत: मैं कंक नामक ब्राह्मण बनकर राजा विराट की राजसभा का एक सदस्य हो जाऊँगा । इस रूप में मैं मत्स्यराज को प्रसन्न रखूँगा और कोई मुझे पहचान भी न सकेगा । यदि राजा मुझसे मेरा परिचय पूछेंगे तो मैं कहूँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्रिय सखा था ।[२] भीम ने कहा कि मैं बल्लव नाम से विराट के यहाँ उपस्थित होऊँगा । मैं पाकविज्ञान में कुशल हूँ अत: राजा के रसोइयों से भी अच्छा भोजन पका कर राजा को प्रसन्न कर दूँगा । इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों से भी राजा विराट को प्रसन्न रखूँगा । राजा के पूछने पर मैं बताऊँगा कि मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ आरालिक (गज शिक्षक) गोविकर्ता (वृषभों को पछाड़ने वाला), सूपकर्ता (भाँति-भाँति के व्यंजन बनाने वाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ।[३] युधिष्ठिर के पूछने पर अर्जुन ने कहा कि मैं राजा विराट की सभा में यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ । यद्यपि मेरी भुजाओं में धनुष की डोरी की रगड़ से चिह्न बन गए हैं, परन्तु मैं कंगन आदि आभूषणों से उन्हें छिपा लूँगा । मैं नृत्य के अनुरूप शृंगार करके बृहन्नला

---

१. जयभारत, अज्ञातवास, पृ० २४२(द्वितीय संस्क०, २०२१ वि०, साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी उ०प्र०)
२. महाभारत, विराट पर्व, पाण्डव प्रवेश पर्व, अ० १, गीताप्रेस गोरखपुर
३. ,, ,, ,, अ० २ श्लोक १-१० ,,

नाम से अपने को घोषित करूँगा । मैं विराट नगर की स्त्रियों को गान और नृत्य की शिक्षा दूँगा । और यदि राजा ने मेरा परिचय पूछा तो मैं अपने को महारानी द्रौपदी की परिचारिका कहूँगा ।[१] युधिष्ठिर के पूछने पर नकुल ने कहा कि मैं राजा विराट के यहाँ अश्व बंध (घोड़ों को वश में करनेवाला) नौकर रहूँगा । मैं राजसभा में ग्रंथिक नाम से अपना परिचय दूँगा । विराट नगर के लोग यदि मुझसे पूछेंगे तो मैं कहूँगा कि राजा युधिष्ठिर ने मुझे अपने घोड़ों का रक्षक बनाकर रखा था ।[२] तत्पश्चात युधिष्ठिर के पूछने पर सहदेव ने कहा कि मैं राजा विराट के यहाँ गोशाला-अध्यक्ष नौकर रहूँगा । मैं वहाँ तन्तिपाल नाम से प्रसिद्ध होऊँगा ।[३] द्रौपदी ने कहा कि मैं विराट की राजपत्नी सुदेष्णा के पास जाऊँगी । मैं सैरन्ध्री कह कर अपना परिचय दूँगी । मैं केश आदि का शृंगार करने में निपुण हूँ, मुझे महारानी सुदेष्णा अपने पास रख लेंगी । यदि राजा मुझसे पूछेंगे तो मैं कह दूँगी कि मैं महाराजा युधिष्ठिर के महल में महारानी द्रौपदी की परिचारिका थी ।[४]

तत्पश्चात युधिष्ठिर ने आज्ञा दी कि धौम्य मुनि रसोइयों आदि को लेकर राजा द्रुपद के घर जाकर रहें और इन्द्रसेन आदि सेवकगण रथों को लेकर शीघ्र ही द्वारका चले जायें । वहाँ सब लोग यही कहें कि हमें पाण्डवों का कुछ भी पता नहीं है । पाण्डव तो द्वैतवन में ही हमें छोड़ कर कहीं चले गए हैं ।[५] तत्पश्चात् धौम्य मुनि ने पाण्डवों को राजा विराट के यहाँ रहने का ढंग बताया । तदनन्तर सब अपने अपने अभीष्ट स्थानों को चल पड़े ।[६]

१.	महाभारत, विराट पर्व,	पाण्डवप्रवेश पर्व,	अध्याय १२,	श्लोक १३-३१	गीताप्रेस
२.	,,	,,	अ० ३	,, ३-६	,,
३.	,,	,,	,,	,, ७-६	,,
४.	,,	,,	,,	,, १८-२१	,,
५.	,,	,,	,,४	,, २-५	
६.	,,	,,	अ० ४	,, ७-५८	,,

'जयभारत' के 'अज्ञातवास' शीर्षक के अन्तर्गत जो कथांश वर्णित है उसके स्रोत महाभारत के वनपर्व के अध्याय ३१५ तथा विराटपर्व के प्रथम चार अध्यायों में प्राप्त होते हैं। गुप्त जी ने इस महाभारतीय कथा को अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप दिया है और उसमें कुछ परिवर्तन भी किए हैं। 'जयभारत' में युधिष्ठिर जिस प्रकार धौम्य आदि मुनियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं यह उनकी मौलिकता है।[1] 'महाभारत' में इस प्रकार का वर्णन नहीं है। 'महाभारत' में धौम्य मुनि युधिष्ठिर को समझाते हुए, अज्ञातवास के प्रसंग में इन्द्र, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं के अज्ञातवास के उदाहरण देते हैं।[2] 'जयभारत' में यह प्रसंग नहीं आया है कि गुप्त जी ने पाण्डवों के भावी कठिनाइयों का वर्णन बहुत संक्षेप में रखा है। 'महाभारत' में इस वर्णन को बहुत विस्तार प्राप्त हुआ है।[3] 'महाभारत' में धौम्य मुनि पाण्डवों को राजा विराट के यहाँ रहने के लिए बहुत से उपदेश देते हैं,[4] यह प्रसंग भी 'जयभारत' में वर्णित नहीं है। 'महाभारत' में युधिष्ठिर धौम्य मुनि को पांचाल नरेश के यहाँ और इन्द्रसेन आदि को द्वारका जाने की सलाह देते हैं।[5] परन्तु गुप्त जी ने यह प्रसंग भी छोड़ दिया है। धौम्य ने इसी समय में युधिष्ठिर के चरित्र की प्रशंसा करते हुए टिप्पणी की —

ध्रुव जाने जिनकी बात शत्रु,
तुमसे तुम आप अजातशत्रु ।
तुम धर्म भीरु हो दृढ़ प्रतिज्ञ ,
जिज्ञासु - रूप में तत्त्व विज्ञ

---

१. जयभारत, अज्ञातवास, पृ० २३८-२३९ (द्वितीय संस्क०साकेतसदन,चिरगाँव,झाँसी
२. महाभारत, वनपर्व, आरणेय पर्व, अ० ३१५, श्लोक १२-२१ (गीताप्रेस,गोरख०
३. ,, विराटपर्व, पाण्डवप्रवेश पर्व, अ० २,३
४. ,, ,, अ० ४ श्लोक ७-५१ ,,
५. ,, ,, अ० ४ ,, २-५ ,,

तुम हो परन्तु वे पुरुष भव्य
रचते हैं जो इतिहास नव्य ।"[१]

सैरन्ध्री

'जयभारत' के अन्तर्गत 'सैरन्ध्री' शीर्षक से जो कथा दी गई है वह 'महाभारत' में 'कीचक-वध' के नाम से दी गई है। 'जयभारत' के अनुसार जिस समय पाण्डव लोग राजा विराट के यहाँ रहते थे, एक दिन द्रौपदी को देख राजा विराट का साला कीचक उन पर मोहित हो गया। कीचक राजा विराट का सेनापति भी था। यद्यपि द्रौपदी दासी के रूप में रहती थी, परन्तु उसका सौन्दर्य छिप न सका और कीचक उस पर आसक्त हो गया। कीचक मूढ़ मदान्ध और अति अन्यायी था। उससे स्वयं राजा विराट भी शंकित रहते थे। उसका आतंक भी सब पर छाया रहता था। कीचक ने उस दिन द्रौपदी पर आसक्त होकर उससे कहा —

" सैरन्ध्री, किस भाग्यशील की भार्या है तू ?
है तो दासी, किन्तु गुणों से आर्या है तू।
मारा है स्मर ने शर मुझे, कहो इस चुपचाप से,
अब कब तक तड़पूँगा भला विरहजन्य संताप से ?"[२]

सैरन्ध्री ने कीचक के ऐसे वचन सुनकर उसकी भर्त्सना की और उसे समझाते हुए कहा —

" सावधान हे वीर, न ऐसे वचन कहो तुम,
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम।
मेरा भी है धर्म उसे क्या खो सकती हूँ ?
अबला भी चंचला कहाँ मैं हो सकती हूँ ?
मैं दीना हीना हूँ सही, किन्तु लोभ-लीना नहीं,
करके कुकर्म संसार में मुझको है जीना नहीं।"[३]

---

१. जयभारत, वनवास, पृ० २४०(द्वितीय संस्करण)
२. ,, सैरन्ध्री, पृ० २४४ ,,

सैरन्ध्री के समझाने से कीचक न माना और उसने जाते जाते सैरन्ध्री से कहा—

" मैं तेरा हो चुका, तू न होगी क्या मेरी ?
पथ-प्रतीक्षा किया करूँगा कब तक तेरी ?
आज रात में दीपशिखा-सी तू आ जाना,
दृष्टि दान कर प्राण-दान का पुण्य कमाना ।"[१]

कीचक के प्रस्ताव से सैरन्ध्री रुदन कर उठी । उधर कीचक ने रानी सुदेष्णा से जाकर कहा —

" सैरन्ध्री-सी सखी कहाँ से तुमने पाई ?
बहन , कहो यह कौन कहाँ से कैसे आई ?
देवी-सी दासी रूप में दीख रही यह भामिनी ,
बन गई तुम्हारी सेविका मेरे मन की स्वामिनी ।"[२]

भाई की कुत्सित भावना को जानकर सुदेष्णा ने उसे समझाया और कहा कि तुम्हें सैरन्ध्री का अपमान विनोद में भी न करना चाहिए । सुदेष्णा ने कीचक को सैरन्ध्री के विषय में बतलाया कि वह दृढ़-चरित्र नारी है, उसे देख कर मन में भीति सी होती है । तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है कि तुम उसे छेड़ो । इस कार्य में पाप ही नहीं भय भी है । सैरन्ध्री पांचाली की दासी है और उसके साथ दुर्व्यवहार करने पर कभी न कभी पाण्डव प्रकट होकर प्रतिशोध लेने लगेंगे और हमारे राज्य को एक कलंक का अभिशाप भी सहना पड़ जायगा । सैरन्धी की शिक्षा का कीचक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । अन्त में वह सुदेष्णा से यही कह कर चला गया —

" बहन किसे यह सीख सिखाती हो तुम, मुझको ?
किसे धर्म का मर्म सिखाती हो तुम, मुझको ?
व्यर्थ, सर्वथा व्यर्थ, सुनूँ-देखूँ क्या अब मैं,
हारी सुध-बुध उधर गँवा बैठा हूँ अब मैं ।
उस मृग नयनी की प्राप्ति ही, है सुकीर्ति मेरी, सुनो ।
चाहो मेरा कल्याण तो, कोई चाल तुम्हीं चुनो ।"[३]

---

१. जयभारत, सैरन्ध्री, पृ० २४६(द्वितीय सं० साहित्य सदन, चिरगाँव,झाँसी)
२. ,, पृ० २४७ ,, ,,
३ ,, पृ० २५१ ,,

सुदेष्णा स्तब्ध-सी होकर खड़ी रह गई। कीचक से वह असन्तुष्ट थी परन्तु उसे यह भी भय था कि कीचक कोई भयानक कार्य न कर बैठे। अतः वह सैरन्ध्री के हृदय को भाँपने के लिए उसके पास गई। सैरन्ध्री चित्र अंकित कर रही थी। वह चित्र भीम और गज के युद्ध का था। सुदेष्णा ने कहा कि इस चित्र में स्वयं अपने को चित्रित क्यों नहीं किया, तेरा जो प्रेम भाव वल्लव (भीम) पर है वह मैं जानती हूँ। सैरन्ध्री ने रानी से कहा कि आप मुझ पर शंका कर सकती हैं, परन्तु मैं मर्यादा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती हूँ। फिर वल्लव सदृश वीर और बलिष्ठ से किसे सहानुभूति न होगी ?

तत्पश्चात् सुदेष्णा ने बात बदलकर सैरन्ध्री द्वारा बनाया चित्र उसी के द्वारा कीचक के पास ले जाने की आज्ञा दी। यह आज्ञा सुनते ही सैरन्ध्री की त्यौरी चढ़ गई। उसने कहा कि आप मुझसे इसी लिए यह भूमिका बना रही थीं। सैरन्ध्री ने रानी से प्रार्थना की कि वे उसे कीचक के पास न भेजें। रानी ने सैरन्ध्री से कहा —

" भाई पर तो दोष लगाती है तू ऐसी,
पर मेरा आदेश भंग करती है कैसी ?

× ×

करता है वह प्यार तुझे तो यह तो तेरा
गौरव ही है, यही अटल निश्चय है मेरा

× ×

पर तू लाख गालियाँ दे जो मुझको,
मैं भाभी ही कहा करूँगी अब से तुझको।
लो, दे जा अब यह चित्र तू जाकर अपनी चाल से।"
रो गई मूढ़-सी द्रौपदी, इस विचित्र वाग्जाल से।[1]

---

१. जयभारत, सैरन्ध्री, पृ० २४० (द्वितीय सं० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)

अन्त में सैरन्ध्री को सुदेष्णा का आदेश मानना पड़ा और वह विवश होकर भगवान पर भरोसा रख कर कीचक को चित्र देने गई। सैरन्ध्री को अनायास अपने यहाँ आया देखकर कीचक प्रसन्न हो उठा। उसने सैरन्ध्री का स्वागत करना चाहा और चित्र की प्रशंसा करके उसने सैरंध्री को पुरस्कार भी देना चाहा। कीचक सैरन्ध्री की प्रशंसा करने लगा और प्रणय की याचना भी करने लगा। सैरन्ध्री ने उसे रोका और समझाते हुए कहा —

" अपने इस अनुचित कर्म के लिए करो अनुताप तुम,
मत लो मस्तक पर वज्र-सम सती-धर्म का शाप तुम।"[१]

सैरन्ध्री के समझाने का कीचक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सहसा उसने सैरन्ध्री का हाथ पकड़ लिया। सैरन्ध्री ने उसे फटकारते हुए, हाथ छुड़ाने के लिए एक झटका दिया, जिससे वह मुँह के बल पृथ्वी पर गिर पड़ा। सैरन्ध्री विलाप करती हुई विराट की न्याय सभा में कीचक को उचित दण्ड दिलवाने चली। पीछे-पीछे सैरन्ध्री को मारने तथा अपने अपमान का बदला लेने के उद्देश्य से कीचक भी चला। भरी सभा में कीचक ने सैरन्ध्री को लात मारी और छिन्नलता के समान सैरन्ध्री पृथ्वी पर गिर पड़ी और कीचक भी न सम्भल पाने से पुन: दुगुने वेग से गिर पड़ा। धर्मराज युधिष्ठिर विराट की उस सभा में कंक के रूप में बैठे थे। यह दृश्य देखकर मानो उन पर वज्र सा गिर पड़ा, परन्तु वे संभले रहे। उनके मुँह से केवल " हरे, हरे, " ही निकला। कीचक वहाँ से उठ कर चला गया और सैरन्ध्री ने मत्स्यराज को सम्बोधित करके सारे उपस्थित समाज की भर्त्सना की। सैरन्ध्री ने व्याज से पाण्डवों को भी उद्दीप्त करने का प्रयत्न किया। सैरन्ध्री के निर्भय वचनों को सुनकर सारी सभा स्तब्ध रह गई। कंक (युधिष्ठिर) ने सैरन्ध्री की ओर देखकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—

" हे सैरन्ध्री, व्यग्र न हो तुम, धीरज धारो,
नरपति के प्रति वचन न यों निष्ठुर उच्चारो।
न्याय मिलेगा तुम्हें लौट अन्त:पुर जाओ,
नृप है अनुनय, दोष उनको न लगाओ।

---

१. जयभारत, सैरन्ध्री, पृ० २६४ (द्वितीय सं०, साहित्य सदन, चिरगांव, [illegible]

शर-शंकित पाण्डवों की किसे भ्रान्त नहीं संसार में,
पर चलना है किसका कहो, यह विधि के व्यापार में।"[१]

सैरन्ध्री धर्मराज का मर्म समझ गई और तत्काल अन्तःपुर को चली गई।

रात्रि होने पर सैरन्ध्री भीम के कक्ष में गई। भीम आँखें मूँद किए हुए जाग रहे थे। वे कीचक की नीचता सुन चुके थे। सैरन्ध्री ने भीम से अपना कष्ट कहा। भीम ने सैरन्ध्री को सान्त्वना दी और कीचक के वध का प्रण किया। दोनों ने कीचक के वध का उपाय निश्चित किया और सैरन्ध्री फिर वहाँ से लौट गई।

अब सैरन्ध्री कीचक से इस प्रकार व्यवहार करने लगी मानो कोई घटना ही न घटी हो। कीचक के प्रेम प्रदर्शन पर सैरन्ध्री ने रोष न प्रकट किया वरन् कहा -

" बोली वह - " हे वीर, मनुज का मन चंचल है,
किन्तु सत्य है स्वल्प, अधिक कौशल का छल है।
प्रत्यय रखती नहीं इसी से मेरी मति भी,
भूल गए हैं मुझे अचानक मेरे पति भी।
अब तुम्हीं कहो, विश्वास मैं रक्खूं किसकी बात पर ?
अन्धेरे में एकाकिनी रोती हूं बस रात भर।" [२]

कीचक ने सैरन्ध्री की छलना को नहीं समझा और उसकी बातों में आकर कहा कि मैं आज रात में तुम्हारे पास आ जाऊंगा। सैरन्ध्री ने उसकी बात स्वीकार कर ली। रात्रि में कीचक यथास्थान पहुँचा। वहाँ सैरन्ध्री के बदले भीम लेटे थे। अब वह भीम के चपेटे में आ गया था। भीम ने उसे अपने आलिंगन में बाँध कर पीस डाला। कीचक के आँख कान आदि से रुधिर प्रवाहित होने

---

१. जयभारत, सैरन्ध्री, पृ० २७१ (द्वितीय सं०, साहित्य सदन, चिरगाँव)
२. ,, ,, पृ० २७५ ,, ,,

.......लगा और मारा गया ।

'जयभारत' की इस अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के विराट पर्व के अन्तर्गत कीचक वध पर्व में प्राप्त होते हैं । राजा विराट के यहाँ पाण्डवों और द्रौपदी को रहते हुए जब एक वर्ष में कुछ ही समय शेष रह गया तो एक दिन विराट के सेनापति कीचक ने द्रुपदकुमारी को देखा और उस पर आसक्त हो गया । कीचक अपनी बहन रानी सुदेष्णा के पास गया और सैरन्ध्री के प्रति अपने मन की स्थिति को बताया, तथा फिर आज्ञा लेकर वह सैरन्ध्री के पास गया और सैरन्ध्री से प्रणय निवेदन के पूर्व उसकी सुन्दरता की प्रशंसा की ।[१] कीचक को सैरन्ध्री ने बहुत फटकारा और भाँति भाँति- से समझाया[२]। परन्तु सैरन्ध्री के समझाने पर भी कीचक न समझा और बारम्बार प्रणय याचना करता रहा ।[३] सैरन्धी ने उससे कहा कि तू इस प्रकार के मोह के फंदे में न पड़ । पाँच भयंकर गंधर्व नित्य मेरी रक्षा करते हैं । वे पाँचों गंधर्व ही मेरे पति हैं । मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे । मैं यहाँ अपने स्वरूप को छिपाकर रहती हूँ । यदि तू मुझपर अत्याचार करेगा तो मेरे गन्धर्व पतियों से तेरी रक्षा देवता आदि भी न कर पायेंगे । तुझे कोई शरण देने वाला न मिलेगा ।[४]

सैरन्ध्री द्वारा इस प्रकार ठुकराए जाने पर कीचक अपनी बहन रानी सुदेष्णा के पास गया और कहा कि जिस भी उपाय से सैरन्ध्री मेरे पास आए और मुझे अंगीकार कर ले, वह उपाय करो, जिससे कि मुझे प्राणों का त्याग न करना पड़े ।[५] कीचक की बात सुनकर सुदेष्णा के मन में उसके प्रति दया उत्पन्न हो गई । उसने कहा सैरन्ध्री को मैंने शरण दी है और वह बहुत

---

१. महाभारत, विराट पर्व, कीचक वध पर्व अ० १४, श्लोक ६ से ३३ तक

२. ,, ,, ,, ,, श्लोक ३४ से ३७

३. ,, ,, ,, ,, ,, ३८-४६

४. ,, ,, ,, ,, ४७-५२

५. ,, ,, ,, ,, १५ श्लोक १-२

सदाचारिणी भी है अत: मैं तुम्हारी मनोगत बात उससे नहीं कह सकती। सुनती हूँ कि पाँच गंधर्व इसकी रक्षा करते हैं। यह बात सैरंध्री ने मुझे पहले ही बता दी थी। महाराज विराट भी इस पर मोहित हो गए थे, तब मैंने इसके गंधर्व पतियों की बात बता कर उन्हें शान्त किया था। तुम सैरन्ध्री में मन न लगाओ अन्यथा उसके गन्धर्व पति तुम्हारा और तुम्हारे कुल का नाश कर देंगे। सुदेष्णा के समझाने पर भी कीचक न माना।[१] तब सुदेष्णा ने कीचक से कहा कि तुम किसी पर्व के दिन अपने घर मदिरा आदि तैयार कराओ। फिर मैं सैरन्ध्री को वहाँ से सुरा लाने के बहाने भेजूँगी। तब तुम अवसर देखकर उसे समझाना।[२] तत्पश्चात प्रसन्न होकर कीचक ने अपने घर मदिरा और भोजन आदि तैयार करवाया और सुदेष्णा को भोजन के लिए आमंत्रित किया। उसने सुदेष्णा से कहा कि तुम अब किसी काम के बहाने सैरंध्री को जल्द ही मेरे घर भेजो। सुदेष्णा ने सैरंध्री से कहा कि मुझे बड़ी प्यास लगी है तुम कीचक के घर से पीने योग्य वस्तु रस ले आओ।[3] सैरंध्री ने कीचक के घर जाना अस्वीकार किया और कहा कि वह मुझपर कुदृष्टि रखता है अत: मेरा वहाँ जाना उचित नहीं है, आप किसी अन्य दासी को वहाँ भेज दीजिए।[४] परन्तु सुदेष्णा ने कहा कि मैं तुम्हें यहाँ से भेज रही हूँ, अत: वह तुम्हें कष्ट नहीं देगा। तत्पश्चात सुदेष्णा ने सैरन्ध्री को एक सुवर्णमय पात्र दिया और सैरन्ध्री विवश होकर शंकित हृदय से सूर्य भगवान का स्मरण करती हुई कीचक के घर गई। सूर्य भगवान ने द्रुपदकुमारी की परिस्थिति समझकर उसकी रक्षा के लिए अदृश्य रूप से एक राक्षस नियुक्त कर दिया।[५]

---

१ महाभारत, विराट पर्व, कीचक वध पर्व, अ० १५, श्लोक संख्या नहीं दी है

२. ,, ,, अ० १५ श्लोक ४-६

३. ,, ,, अ० १५, ,, ७-१०

४. ,, ,, ,, ,, १५-२०

५. ,, ,, ,,१६ ,, १-१०

जब सैरन्ध्री कीचक के घर पहुँची तो कीचक प्रसन्न हो उठा और उसे भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर अपने जाल में फँसाने की चेष्टा करने लगा। सैरन्ध्री ने उसे अपने वश में करने का प्रयत्न किया। परन्तु कीचक ने उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया। द्रौपदी क्रोधित हो उठी और अपना हाथ छुड़ाते हुए उसे ज़ोर से धक्का दिया, जिससे वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। द्रौपदी भागती हुई राजा विराट की उस सभा में पहुँची जहाँ कंक के रूप में युधिष्ठिर भी बैठे थे। कीचक भी बदले की भावना से पीछे पीछे भागता हुआ आया और सैरन्ध्री के केश पकड़ लिए और उसे राजा के देखते हुए उसे एक लात मारी[१]। इतने में ही भगवान सूर्य ने जिस राक्षस को द्रौपदी की रक्षा के लिए नियुक्त किया था, उसने कीचक को पकड़ कर आँधी के समान वेग से दूर फेंक दिया।[२] इधर सैरन्ध्री के मुख से रक्त प्रवाहित होने लगा। उस समय राज सभा में भीम और युधिष्ठिर भी बैठे थे। वे दोनों द्रौपदी के अपमान को देखकर विचलित हो उठे। भीम उठ कर बदला लेने की इच्छा करने लगे, परन्तु युधिष्ठिर ने रहस्य प्रकट हो जाने के भय से भीमसेन का अंगूठा दबा कर उन्हें रोका और युधिष्ठिर ने सांकेतिक भाषा में भीम को समझाया।[३] सैरन्ध्री ने देखा कि उसके पति उसकी दुर्दशा देखकर भी चुप बैठे हैं तो वह मत्स्यराज को सम्बोधित करके विलाप करने लगी कि मेरे वीर पति पता नहीं कहाँ हैं, मेरे अपमान को देखकर भी मेरी रक्षा नहीं करते। सैरन्ध्री ने न्याय न करने के कारण मत्स्यराज को भी बहुत फटकारा।[४] मत्स्यराज ने कीचक और सैरन्ध्री के झगड़े का कारण पूछा। सारा रहस्य जान कर सभासदों ने कीचक की निन्दा की और सैरन्ध्री की प्रशंसा की।[५] युधिष्ठिर ने भी द्रौपदी को समझाते हुए

---

१. महाभारत, विराटपर्व, कीचकवध पर्व, अ० १६, श्लोक १-१०
२. ,, ,, ,, ,, ११
३. ,, ,, ,, १३ से १६
४. ,, ,, ,, २२- ३३
५. ,, ,, ,, ३४-३८

कहा कि तू अभी रानी के महल में चली जा । अभी तुम्हारे गंधर्व पति क्रोध करने का अवसर नहीं देख रहे हैं, इसलिए तुम्हारे पास दौड़ कर नहीं आ रहे हैं ।[1] सैरन्ध्री को फिर भी वहीं खड़ा देख कर युधिष्ठिर ने सैरन्ध्री से पुन: चले जाने का आग्रह किया । सैरन्ध्री राजसभा से अंत:पुर में चली गई । वहाँ सुदेष्णा ने सैरन्ध्री के कष्ट का कारण पूछा । सैरंध्री ने कीचक के अत्याचार का वर्णन किया । सुदेष्णा ने सैरन्ध्री के प्रति सहानुभूति प्रकट की और कहा कि यदि तुम्हारी सम्मति हो तो मैं कीचक को मरवा डालूं । सैरंध्री ने कहा कि उसको तो मेरे गंधर्व पति स्वयं मार डालेंगे, पता नहीं वे विलम्ब क्यों लगा रहे हैं ।[2]

अपने अपमान से व्यथित होकर सैरन्ध्री कीचक के वध का उपाय सोचने लगी और अन्त में रात्रि होने पर वह भीमसेन के निवास स्थान पर गई ।[3] वहाँ जाकर द्रौपदी ने भीमसेन के प्रति अपने दु:ख के उद्‌गार प्रकट किए । उसने कीचक द्वारा किए गए अपमान को बताया और अपने पतियों की भर्त्सना की, जिनके रहते हुए भी उसे अपमान सहना पड़ा ।[4] द्रौपदी ने अपने पतियों के दु:ख से दु:खी होकर भीमसेन के सामने भाँति-भाँति से विलाप किया ।[5] भीमसेन ने द्रौपदी को समझाया और कहा कि जब कीचक ने तुम्हें लात मारी थी, मैं उसी समय मत्स्यदेशवासियों का संहार कर डालना चाहता था परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ने उपर्युक्त अवसर पर न जाकर मुझे संकेत से रोक दिया था अत: मैं चुप रह गया था ।[6] तत्पश्चात् भीमसेन ने द्रौपदी से कहा कि मैं आज ही कीचक को उसके भाई बन्धुओं सहित मार डालता हूँ । तुम कीचक से

---

१. महाभारत, विराटपर्व, कीचकवध पर्व, अ०१६, श्लोक ४०-४२
२. " " " " ४३-५१
३. " " अ० १७ "
४. " " अ० १८
५. " " अ० १९
६. " " अ० २१ श्लोक ४-५२

मिलो और उसे नृत्यशाला में आने के लिए कह दो। तुम उससे इस प्रकार कहना कि वह अवश्य ही मेरे पास पहुँच जाय।[2] इस प्रकार यह मंत्रणा करके द्रौपदी वहाँ से चली गई। दूसरे दिन प्रातः कीचक द्रौपदी के पास पास आया और भाँति भाँति के प्रलोभन देकर वह द्रौपदी को फुसलाने लगा द्रौपदी ने उचित अवसर देखकर कीचक से कहा कि मैं एक शर्त पर तुम्हारा अकेले में मिलने का प्रस्ताव स्वीकार करती हूँ। तुम आज गुप्त रूप से मत्स्यराज की नृत्यशाला में आना। वहाँ रात्रि में एकांत रहता है और मेरे गंधर्व पति भी उस स्थान को नहीं जानते हैं। कीचक ने प्रसन्न होकर शपथ खाई और सैरन्ध्री के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।[2] तब द्रौपदी ने भीम से जाकर कहा कि कीचक रात्रि के समय उस सूनी नृत्यशाला में आयेगा। तुम उसे वहीं मार डालना। भीमसेन ने प्रसन्न होकर कीचक के वध की प्रतिज्ञा की।[3] इधर कीचक भी प्रसन्न होकर रात्रि के समय सूनी नृत्यशाला में आया। भीमसेन वहाँ पहले से ही आकर लेटे हुए थे। कीचक जैसे ही भीमसेन के पास पहुँचा, भीमसेन ने उछलकर कीचक को पकड़ लिया। दोनों में युद्ध हुआ और अन्त में कीचक का वध हो गया द्रौपदी ने सभाभवन के रक्षकों के पास जाकर कहा कि मेरे गंधर्व पतियों ने कीचक को मार डाला है और वह नृत्यशाला में पड़ा है।[4] कीचक के भाइयों को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने कीचक के वध का कारण सैरन्ध्री को ही समझा। अतः उन्होंने सैरन्ध्री को भी कीचक के शव के साथ बाँध लिया और श्मशान भूमि में ले गए। परन्तु भीमसेन ने सबको मार कर सैरन्ध्री को छुड़ा लिया।[5]

'जयभारत' के 'सैरन्ध्री शीर्षक के अन्तर्गत जो कथा वर्णित है उसके स्रोत महाभारत के 'विराट' पर्व के' कीचक वध' पर्व में प्राप्त होती है,यह

---

१. महाभारत, विराट पर्व कीचकवध, अ०२२,श्लोक १,२,५
२. ,, ,, अ० २२ ,, ७-२१
३. ,, ,, अ० २२ ,, २४-३३
४. ,, ,, अ० २२ ,, ३६-६०
५. ,, ,, अ० २३

एक पृथक् खण्डकाव्य है, जिसे समग्र रूप में 'जयभारत' में उद्धृत किया गया है।

गुप्त जी ने यद्यपि इस कथा को 'महाभारत' के अनुसार ही रचा है परन्तु स्थान-स्थान पर कुछ परिवर्तन अवश्य किए हैं। 'महाभारत' के अनुसार कीचक द्रौपदी को देखकर मोहित हुआ और पहले सुदेष्णा के पास गया और उससे आज्ञा लेकर सैरन्ध्री से बात करने गया।[१] यह वर्णन 'जयभारत' में नहीं है। महाभारत के अनुसार सैरंध्री कहती है कि वह पाँच गंधर्वों की पत्नी है।[२] यह वर्णन भी 'जयभारत' में नहीं है। महाभारत के अनुसार सुदेष्णा ने कीचक से कहा कि तुम किसी पर्व के दिन अपने घर मदिरा आदि तैयार कराओ मैं सैरंध्री को वहाँ से सुरा लाने के लिए भेजूंगी।[३] 'जयभारत' में यह वर्णन नहीं है। 'महाभारत' के अनुसार सैरन्ध्री को सुदेष्णा कीचक के घर सुरा लाने के लिए भेजती है।[४] सैरन्ध्री जब सुदेष्णा की आज्ञा से मदिरा लाने के लिए कीचक के चली, तो सूर्य भगवान का स्मरण किया। सूर्य भगवान ने उसकी रक्षा के लिए अदृश्य रूप से एक राक्षस नियुक्त कर दिया।[५] सूर्यदेव द्वारा नियुक्त राक्षस ने कीचक को पकड़ कर आँधी के वेग से दूर फेंक दिया।[६] 'जयभारत' में इस प्रकार का वर्णन नहीं है। 'जयभारत' के अनुसार सुदेष्णा सैरन्ध्री से एक चित्र बनवाती हैं और उस चित्र को सैरन्ध्री के ही द्वारा कीचक के पास भेजती है। 'महाभारत' के अनुसार राजसभा में कीचक द्वारा सैरन्ध्री के अपमान को जानकर सुदेष्णा सैरन्ध्री के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है और कीचक का वध करवाने का प्रस्ताव भी रखती है।[७] परन्तु ऐसा वर्णन 'जयभारत' में नहीं है। 'महाभारत' के अनुसार भीमसेन कीचक का वध करने के लिए

---

१. महाभारत विराटपर्व, कीचकवधपर्व, अ० १४, श्लोक ६-११ गीताप्रेस, गोरखपुर
२. ,, ,, अ० १४ ,, ४७-४८ ,,
३. ,, ,, अ० १५ ,, ५,६ ,,
४. ,, ,, अ० १५ ,, १० ,,
५. ,, ,, अ० १५ ,, १६,२० ,,
६. ,, ,, अ०१६ ,, ११ ,,
७. ,, ,, अ० १६ ,, ५० ,,

सैरन्ध्री द्वारा कीचक को नृत्यशाला में बुलाते हैं।[१] परन्तु 'जयभारत' में कीचक को सैरन्ध्री अपने शयनस्थान में ही बुलाती है। इस प्रकार कुछ परिवर्तनों के साथ गुप्त जी ने 'महाभारत' की इस कथा को उपस्थित किया है। इस कथा में द्रौपदी के चरित्र का सशक्त आख्यान हुआ है। कीचक ने अपनी बहन सुदेष्णा की सहायता से द्रौपदी को अपनी प्रेयसी बनाने की चेष्टा की, परन्तु वह असफल हुआ और भीम के द्वारा मारा गया। द्रौपदी पुनः अत्याचारों का लक्ष्य बनी परन्तु अन्त में उसका सतीत्व ही विजयी हुआ। कवि ने इस खण्ड में दुराचार का पराभव दिखाया है। साथ ही द्रौपदी की अत्यन्त तेजस्विता को उद्दीप्त किया है। भीम द्वारा कीचक का वध दिखा कर कवि यही संदेश देता है कि जो अनरीति करता है उसका अन्त इसी प्रकार होता है —

"हो चाहे जैसा वह प्रबल, यह अति निश्चित नीति है।
मारा जाता है शीघ्र ही, करता जो अनरीति है।"[२]

वृहन्नला

'जयभारत' में 'वृहन्नला' शीर्षक से वर्णित कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के विराट पर्व के अन्तर्गत गोहरण पर्व में प्राप्त होते हैं। 'जयभारत' के अनुसार जब अज्ञातवास का समय पूरा होने को आया तो पाण्डवों को सुख का अनुभव होने लगा। इसी समय दुर्योधन के गुप्तचरों ने दुर्योधन को पाण्डवों के लुप्त हो जाने तथा कीचक के मारे जाने का संदेश दिया। कीचक के मारे जाने का समाचार सुनकर दुर्योधन आदि बहुत प्रसन्न हुए। उपयुक्त अवसर जानकर सुशर्मा ने राजा विराट की बहुत सी गायों का अपहरण किया। मत्स्यराज पर विपत्ति आई देखकर युधिष्ठिर भीम, सहदेव और नकुल भी उनकी सहायता के लिए युद्ध करने गए। परन्तु नर्तक होने के कारण अर्जुन नहीं गए। अर्जुन भी युद्ध में जाना चाहते थे और सोच रहे थे कि अब तो अज्ञातवास की अवधि भी पूर्ण

---

१. महाभारत, विराट पर्व, कीचकवधपर्व, अ० २२, श्लोक २-५

दी गई है। अत: पहचानने में भी कोई डर नहीं है। अर्जुन इसी सोचविचार में है कि विराट की पुत्री तथा अर्जुन की प्रिय शिष्या उत्तरा अर्जुन से आकर बोली कि आज हमारे राज्य पर संकट आया हुआ है, पिता युद्ध करने गए हैं परन्तु मेरे भाई उत्तर युद्ध में नहीं जा पाए क्योंकि उनके पास कोई सारथी नहीं है। सैरन्ध्री कहती है कि बृहन्नला भी इस गुण में निपुण है और तुमने अर्जुन का शौर्य भी बढ़ाया था। अत: तुम अब मेरे भाई की सहायता करो। उत्तरा के द्वारा यह याचना सुनकर अर्जुन मन ही मन प्रसन्न हो उठे। परन्तु अपने हर्ष को प्रकट न करके वे बोले -

" भला नाचने गाने वाले क्या जाने ऐसी बातें ?
विषम ताल पर यहाँ थिरकती प्राणों के पण की घातें।
पर जब और उपाय नहीं है यह सब भी पालूँगा मैं,
बेटी, यह अनुरोध तुम्हारा हरकर क्या टालूँगी मैं ?"[1]

बृहन्नला के आश्वासन से प्रसन्न होकर उत्तर दौड़ती हुई उत्तर के पास गई और सब समाचार कह सुनाया। तब राजकुमार उत्तर युद्ध करने के लिए तत्पर हो गया। बृहन्नला ने सैरंध्री की ओर कृतज्ञता से देखा, क्योंकि उसी के सुझाव के कारण अर्जुन को युद्ध में जाने का अवसर मिल रहा था। अर्जुन को विपरीत ढंग से कवच आदि धारण करते देख कर उत्तरा उसकी भूल पर हँस पड़ी। उत्तरा ने बृहन्नला से कहा -

" बृहन्नले, संगर में जाकर तू मुझको न भूल जाना,
दुष्ट दस्युओं को परास्तकर उनके वसन छीन लाना।
उनसे वर्ण वर्ण की गुड़ियाँ मैं सानंद बनाऊँगी,
और खेलती हुई उन्हीं से मैं तेरा गुण गाऊँगी।"[2]

तत्पश्चात् उत्तर और बृहन्नला रथ पर बैठकर समर भूमि की ओर चले। राजधानी से निकल कर वे उसी शमी वृक्ष के समीप पहुँचे जिस पर पाण्डवों ने अपने शस्त्र छिपा रखे थे। इसी समय सामने कौरवों की बड़ी सेना दिखाई पड़ी।

---

१. जय भारत, बृहन्नला, पृ० २८०, पृ० २८० (द्वितीय सं० स०सं०, शिरगाँव, झाँसी)
२ ,, ,, ,,

कौरवों की महती सेना को देखकर उत्तर का मुँह उतर गया । क्षणभर में ही उसका सारा साहस लुप्त हो गया । उसने यशोलिप्सा को त्यागकर बृहन्नला से कहा —

" देखो, देखो बृहन्नले, यह सेना है कैसी भारी !
इसे देखकर धैर्य छूटता, अंग काँपते हैं, थहरी,
मैं क्या, इसे स्वयं सुरगण भी रण में नहीं हरा सकते,
मैं किस भाँति लडूँगा इससे, मोड़ो रथ को शीघ्र अभी,
मैं लोग तो कहें, व्यर्थ क्या प्राण गँवाना योग्य कभी ?
बिन्दु और सागर की समता हो सकती है भला कहीं ?
मुरुतम गिरि से गज-शावक को टक्कर लेना योग्य नहीं ।"[1]

राजकुमार उत्तर का कायरतापूर्ण विचार सुनकर अर्जुन ने उसे बहुत प्रकार से समझाया और धैर्य बंधाया —

" जैसा निश्चय कर आए हो, तुम वैसा ही काम करो,
धैर्य धरो , मत डरो, कीर्ति लो भारी, लड़ो , निज नाम करो ।"[2]

परन्तु उत्तर बृहन्नला के समझाने से भी न माना और रथ से उतर कर भागा । तब अर्जुन कुछ क्रोधित होकर उसे पकड़ने दौड़े । यह दृश्य देखकर विपक्षी भी हँसने लगे । अर्जुन ने उत्तर को पकड़ लिया और पुनः समझाकर कहा कि तुम डरो मत, मैं युद्ध करूँगा और तुम केवल मेरे सारथी बने रहना । तत्पश्चात् अर्जुन ने उसे अपना सच्चा परिचय देकर चकित कर दिया । फिर अर्जुन शमी वृक्ष के नीचे आए और उत्तर द्वारा शमी वृक्ष पर से उन्होंने अपने आयुध उतरवाए । अर्जुन शीघ्रतापूर्वक अपना वेश बदलने लगे । शत्रुपक्ष के लोग अर्जुन को पहचान कर इस युद्ध में निराश से होने लगे ।

" जयभारत" में वर्णित इस कथा के मूल स्रोत "महाभारत" के "विराट-पर्व " के अन्तर्गत अध्याय ३६,३८, और ४० में उपलब्ध होते हैं । "विराट पर्व"

---

१. जयभारत, बृहन्नला, पृ० २८१-२८२ (द्वितीय संस्करण सं० २०१० विरगाँव, झाँसी)
२. ,, ,, पृ० २८२ ,,

के अन्तर्गत गोहरणपर्व[1] में दुर्योधन के पास उसके गुप्तचरों का आना और उनका पाण्डवों के विषय में कुछ पता न लगने तथा कीचक वध का वृत्तान्त बताने तथा कौरवों का आपस में परामर्श करने एवं अन्त में सुशर्मा के प्रस्ताव के अनुसार त्रिगर्तों और कौरवों का मत्स्यदेश पर धावा बोलने का वर्णन पर्याप्त विस्तार से वर्णित है।[1] 'जयभारत' में यह वर्णन अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षेप में हुआ है। सुशर्मा ने राजा विराट की गायों का अपहरण करने के लिए पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार विराट नगर पर चढ़ाई कर दी। दूसरे दिन दूसरी ओर से सब कौरवों ने मिल कर धावा किया और गायों के सहस्त्रों झुंडों पर अधिकार जमा लिया।[2] राजा विराट के गोरक्षकों ने विराट को आकर यह समाचार दिया। विराट तुरन्त अपनी सेना तैयार की और युद्ध के लिए चल पड़े। इसी समय कंक (युधिष्ठिर) ने राजा विराट से कहा कि मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षि से चार मार्गों वाले धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की है, अत: मैं भी कवच धारण करके युद्ध में चलूंगा। और यह वल्लभ नामक रसोइया भी बलवान एवं शूरवीर दिखाई देता है इसे भी साथ ले लीजिए। इसके अतिरिक्त गायों की गणना करने वाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वों की शिक्षा का प्रबंध करने वाले ग्रन्थिक को भी रथों पर बिठा लीजिए। कंक (युधिष्ठिर) के परामर्श के अनुसार मत्स्यराज ने इन चारों को भी साथ ले लिया।[3] तत्पश्चात मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओं का परस्पर युद्ध आरंभ हुआ।[4] युद्ध में सुशर्मा ने विराट को पकड़ लिया। सुशर्मा को राजा विराट को पकड़े देख कर पाण्डवों ने उन्हें छुड़ाया। तत् पश्चात् भीम ने क्रोधित होकर सुशर्मा को पकड़ लिया। सुशर्मा को परास्त करके सब गायों को लौटा कर वापस चले। भीम ने सुशर्मा

---

१. महाभारत, विराट पर्व, गोहरण पर्व, अ० २५-३०

२. महाभारत, विराट पर्व, गोहरणपर्व? अ० ३०, श्लोक २६।२७

३. ,, ,, अ० ३१

४. ,, ,, अ० ३३

को रस्सियों से बांधकर रथ पर चढ़ा लिया और युधिष्ठिर के पास ले चले। युधिष्ठिर ने उसे छोड़ दिया।[१] इस युद्ध में विजय प्राप्त होने पर राजा विराट ने पाण्डवों की प्रशंसा की और उनका सम्मान किया।[२] जिस समय त्रिगर्तों से युद्ध करने के लिए विराट गए हुए थे उसी समय दुर्योधन ने अपने मंत्रियों के साथ विराट देश पर चढ़ाई कर दी। कौरवों ने भी मत्स्यदेश में आकर गोधन का अपहरण किया और जाने लगे। इस समय राजभवन में राजा विराट का पुत्र भूमिंजल (उत्तर) ही था। गोरक्षक ने आकर राजकुमार उत्तर को कौरवों के आक्रमण और गायों के अपहरण का समाचार दिया। उसने राजपुत्र से कहा कि अब आपको ही चल कर कौरवों से युद्ध करना चाहिए।[३] उत्तर ने कहा कि मेरे पास कोई अच्छा सारथी नहीं है अन्यथा मैं युद्ध अवश्य करता। तुम अच्छे सारथी की खोज करो जिससे मैं युद्ध कर सकूं। अर्जुन की सम्मति से द्रौपदी ने उत्तर को सुझाव दिया कि वह बृहन्नला को अपना सारथी बना ले।[४] राजकुमार उत्तर की बहन उत्तरा ने जो कि बृहन्नला की प्रिय शिष्या भी थी, बृहन्नला से याचना की कि वह उसके भाई राजकुमार उत्तर की सारथी बन जाय। उत्तरा ने बृहन्नला से कहा कि उत्तर सारथी खोजने का प्रयत्न कर ही रहे थे कि सैरन्ध्री ने यह बताया कि तुम अश्वविद्या में कुशल हो। तुम पहले अर्जुन का प्रिय सारथी भी रह चुकी हो। अर्जुन उत्तर का सारथी बनने को तत्पर हो गए। वे युद्ध के लिए तत्पर होने लगे तो सब कुछ जानते हुए भी उत्तरा के सामने अनभिज्ञसूचक कार्य करने लगे। कवच को ऊपर उठाकर शरीर में डालने लगे। यह देखकर राजकुमारी उत्तरा और बहुत सी राजकुमारियां हंसने लगीं।[५] फिर अर्जुन के तैयार हो जाने पर उत्तरा तथा

---

१. महाभारत, विराट पर्व, गोहरण पर्व, अ० ३३
२. ,, ,, अ० ३४
३. ,, ,, अ० ३५
४. ,, ,, अ० ३६
५. ,, ,, अ० ३७

उसकी सखियों ने कहा -" बृहन्नला, तुम युद्ध में आए हुए भीष्म द्रोण आदि प्रमुख कौरवों को जीत कर हमारी गुड़िया के लिए उनके महीन, कोमल और भाँति-भाँति के सुन्दर वस्त्र ले आना ।" यथा -

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ।। २८ ।।
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ।। २६।।[१]

तत्पश्चात् अर्जुन अपने साथ राजकुमार उत्तर को लेकर उसी ओर चले जिधर कौरव गायों को लेकर गए थे । थोड़ी दूर जाने पर शमीवृक्ष मिला, और वहीं से कौरवों की बड़ी सेना भी दिखाई पड़ी । कौरवों की वृहद् सेना को देखकर उत्तर का साहस छूट गया और उसने बृहन्नला से कहा कि मैं कौरवों से युद्ध नहीं कर सकता, मुझे वापस ले चलो ।[2] उत्तर को हतोत्साह देख कर अर्जुन ने उसे उत्साहित करने की चेष्टा की ।[3] परन्तु उत्तर न माना और रथ से उतर कर भागा । बृहन्नला ने भी दौड़कर उसको पकड़ लिया । बृहन्नला की चोटी और लाल रंग की साड़ी देख कर कौरव सेना के सैनिक ठहाका लगा कर हँसने लगे । कौरव सेना के लोग दूर से ही बृहन्नला को देखकर भाँति-भाँति की शंकाएं करने लगे । वे कहने लगे कि इसका स्वरूप तो अर्जुन से मिलता जुलता है परन्तु वेश विचित्र है । चालढाल से भी यह अर्जुन ही लगता है । कौरव लोग इस प्रकार की शंकाएं कर रहे थे और अर्जुन उत्तर को युद्ध के लिए तैयार कर रहे थे । जब उत्तर किसी भी भाँति युद्ध के लिए तैयार न हुआ तब अर्जुन ने कहा कि तुम मेरे सारथी बन जाओ और मैं युद्ध करूंगा । तब उत्तर को रथ पर बैठा कर वे अपना गाण्डीव धनुष लेने शमी वृक्ष के पास चले ।[४] वहाँ पहुँचकर अर्जुन ने उत्तर को आदेश दिया कि वह जल्द ही शमी वृक्ष पर से उनके अस्त्र उतार दे ।[५]

---

१. महाभारत विराट पर्व, गोहरण पर्व, अ० ३७ श्लोक २८,२६
२. " " अ० ३८ श्लोक १-१८
३. " " अ० ३८, श्लोक १६-२५
४. " " अ० ३८, श्लोक २६-५१
५. " " अ० ४०

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के 'विराटपर्व' के अन्तर्गत 'गोहरणपर्व' में अध्याय २५ से अध्याय ४० तक प्राप्त होते हैं। महाभारत में यह कथा अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णित है।

गुप्त जी ने इसमहाभारतीय कथा को अत्यन्त संक्षेप में चित्रित किया है। 'महाभारत' में त्रिगर्तों के भयंकर युद्ध का चित्रण है।[१] विराट के पकड़े जाने और भीम द्वारा उनको छुड़ाने का वर्णन है।[२] परन्तु जयभारत में इन प्रसंगों को छोड़ दिया गया है। विराट राजधानी में आकर पाण्डवों का सत्कार करते हैं,[३] यह प्रसंग भी गुप्त जी ने छोड़ दिया है। 'महाभारत' में द्रौपदी अर्जुन की सम्मति से बृहन्नला को सारथी बनाने की बात कहती है,[४] परन्तु 'जयभारत' में उत्तरा सीधे बृहन्नला से बात करती है। गुप्त जी ने इस प्रसंग में क्रमश: उत्तरा और बृहन्नला तथा बृहन्नला और उत्तरा के संवादों को प्रमुखता दी है। 'महाभारत' में युद्ध के उपरान्त कौरव, अर्जुन को पहचान पाते हैं।[५] परन्तु जयभारत में वस्त्र परिवर्तन से ही उन्हें अर्जुन का परिचय मिल जाता है। इस अन्तर्कथा में एक आध स्थलों पर गुप्त जी ने ठीक 'महाभारत' के समान ही चित्रण किया है। उदाहरण के लिए, अर्जुन जब उत्तर के सारथी बन कर युद्ध के लिए जाने लगते हैं तब उत्तरा बृहन्नला से कहती है कि तुम युद्ध में आए हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरवों को जीतकर हमारी गुड़िया के लिए उनके महीन कोमल और भाँति-भाँति के सुंदर वस्त्र ले आना।

" बृहन्नल अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्ताभ्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ।। २८ ।।
पांचालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ।। २९।। [६]

---

१. महाभारत, विराट पर्व, गोहरणपर्व, अ० ३२
२. ,, ,, अ० ३३ श्लोक ४२-४४
३. ,, ,, अ० ३४ ,, ६
४. ,, ,, अ० ३६ ,, १३,१७,१९
५. ,, ,, अ० ३९ ,, ८
६. ,, ,, अ० ३७ ,, २८,२९

"जयभारत" में भी ठीक इसी प्रकार उत्तरा बृहन्नला से शत्रुओं को जीत कर उनके वस्त्र लाने के लिए कहती है, जिससे कि वह अपनी गुड़ियों को सजायेगी। यथा—

"बृहन्नले, संगर में जाकर तू मुझको न भूल जाना,
दुष्ट दस्युओं को परास्त कर उनके वसन छीन लाना।
उनसे वर्ण-वर्ण की गुड़ियों में सानंद सजाऊंगी,
और खेलती हुई उन्हीं से मैं तेरा गुण गाऊंगी।"[१]

प्रस्तुत अन्तर्कथा में उत्तर को समझाते हुए अर्जुन शूर-धर्म के पालन पर बल देते हैं, यथा —

"क्षात्रिय होकर रण से डरते, तुम्हें लाख धिक्कार अरे।"[२]

अर्जुन ने उत्तर को अपना सारथि बनाया और स्वयं रणांगण में युद्ध करने के लिए शस्त्रों से सुसज्जित हुए। कवि ने युद्ध वर्णन का अध्याहार में रखकर यह सूक्ति कही है —

"होता है परिणाम कहीं भी बुरे काम का भला नहीं।"[३]

इसी प्रसंग में कवि यह नीति-ज्ञान भी रखता है :—

"कहते नहीं सज्जन पहले करके ही दिखलाते हैं,
कार्य सिद्ध करने से पहले बातें नहीं बनाते हैं।"[४]

३१ उद्योग

"जयभारत" में "उद्योग" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई कथा में राजा विराट के द्वारा पाण्डवों को पहचान लेने, उनका स्वागत करने, उत्तरा और अभिमन्यु का विवाह तथा कौरवों के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजने का वर्णन है। जब विराट को पाण्डवों का वास्तविक परिचय मिला तो उन्होंने युधिष्ठिर से कहा —

---

१. जयभारत, बृहन्नला, पृ० २८० (द्वितीय संस्क०, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)
२. ,, पृ० २८२ ,,
३. ,, पृ० २८३
४. ,, पृ० २८१

" मैं भूल-चूक अपनी पहले मनाऊँ,
वा दूँ तुम्हें सुकृति, निष्कृति की बधाई ?
छूटे नहीं तुम स्वयं भय से भले,
सौदार्य पूर्वक मुझे तुमने छुड़ाया ।"[1]

युधिष्ठिर ने भी राजा विराट के प्रति कृतज्ञता प्रकट की । अनन्तर राजा विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा को पाण्डवों की पुत्र-वधू बनाने का प्रस्ताव रखा । युधिष्ठिर ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया -

" है उत्तरा प्रथम की दुहिता हमारी,
हो आपका सुत नया अभिमन्यु प्यारा ।"[2]

तत्पश्चात् उत्तरा और अभिमन्यु के विवाह का आयोजन हुआ जिसमें कृष्ण सहित पांचालराज आए, सुभद्रा तथा अभिमन्यु आए । सबका प्रेमपूर्ण मिलन हुआ । विवाह कार्य समाप्त होते ही युधिष्ठिर ने आगे के कार्यक्रम के लिए एक सभा की । युधिष्ठिर ने कहा कि हमारी अभी तक जो दुर्गति हो चुकी है, अब उसके आगे का आपलोग कार्यक्रम निश्चित करें । बलराम ने कहा कि पाण्डवों ने इतना घोर कष्ट उठाया है परन्तु वह दुर्योधन भय दिखाने से नहीं मानेगा, हाँ विनय से शायद दब जाय । बलराम की बात सुन कर सात्यकी उत्तेजित हो उठे और उन्होंने कहा -

" तो उत्तमर्ण अधमर्ण बने स्वयं क्या ?"[3]

सात्यकी ने कहा कि पाण्डव तो सदैव से ही विनयी रहे हैं, अब भी यदि ये विनयी बने रहेंगे तो कौरव इन्हें कायर समझेंगे । वनवास वाला प्रण भी इन्होंने पूरा कर लिया है, यदि अब भी वे इनका राज्य इन्हें न देंगे तो हम सब भी युद्ध करेंगे । सात्यकी की बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि और बातें समझ ली जायेंगी, अब पांचालराज जिसको उपयुक्त समझें उसे अविलम्ब हस्तिनापुर

---

१. जयभारत, उद्योग, पृ० २८४ (द्वितीय संस्क० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
२. " पृ० २८५ "
३. " पृ० २८६ "

भेज दें। द्रुपद ने अपने पुरोहित को दूत के रूप में हस्तिनापुर भेज दिया।"

धृतराष्ट्र ने दूत से पाण्डवों का कुशल पूछा। दूत ने कहा कि वे आपसे सन्धि करना चाहते हैं और युधिष्ठिर शान्ति के भी समर्थक हैं। उन्होंने इस प्रश्न के साथ ही मुझे भेजा है —

"क्या तात, गोद वह क्या अब भी नहीं है ?
क्या स्थान शेष अब भी उसमें हमारा ?"[1]

यह कहते कहते दूत का भी गला भर आया।

धृतराष्ट्र ने दूत से कहा कि मैं युधिष्ठिर को अपना प्रतिवाक्य अपने आप भेज दूंगा। पुरोहित निराश सा लौट आया। उसके बाद ही धृतराष्ट्र ने संजय को पाण्डवों के पास भेजा। पाण्डवों ने उत्सुकता पूर्वक उसे बैठाया और युधिष्ठिर ने कहा कि तुम अब भी धृतराष्ट्र द्वारा भेजा गया संदेश मुझे सुनाओ। संजय ने कहा कि वे तुम सब से डरते हैं अतः विनय भी कैसे करें ? यद्यपि वे सामर्थ्यवान् हैं, परन्तु निरुपाय भी हैं। वे पुत्रप्रेम से विवश हैं, परन्तु शान्ति के ही प्रार्थी हैं। उनका यही संदेश है —

"हो या न हो कठिन संधि", कहा उन्होंने -
"सद्वंश-विग्रह न हो, वह ध्वंसकारी।"[2]

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया —

"तो वंश-विग्रह क्यों अब चाहते हैं ?"[3]

युधिष्ठिर ने कहा कि यदि हमें अपना प्राप्य शांतिपूर्वक मिल जायगा तो हम संघर्ष में क्यों पड़ेंगे ?

संजय ने युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा कि आप ही ऐसे हैं जो इतना कठिन धर्म निभा सके हैं। परन्तु युद्ध करके क्या आप द्रोण और भीष्म का वध कर सकेंगे ? युधिष्ठिर ने कहा कि क्या वे लोग अनीति को सह लेंगे ? क्या हम दीन होकर भिक्षुक ही बन जायें ? संजय ने कहा कि युद्ध

---

1. जयभारत, उद्योग, पृ० २८७ (द्वितीय सं०, साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)
2. ,, पृ० २८८ ,,
3. ,, पृ० २८९ ,,

से तो यह अच्छा ही होगा । संजय की यह बात सुनकर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की ओर देखा । श्रीकृष्ण ने संजय से कहा पाण्डव क्षत्रिय होकर, कुल-धर्म का निर्वाह न करके भिखारी कैसे हो सकते हैं ? संजय ने श्रीराम का उदाहरण दिया । इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि रामचन्द्र ने क्षत्रिय होकर भी वनवास स्वीकार किया था, तो भरत जैसे भाई के लिए । यहाँ कौरवों में कौन भरत के समान है ? अत: यदि कौरव अब भी न मानेंगे तो युद्ध होगा और उसका अन्त भयानक होगा —

" यों भी न कौरव न पाण्डव ही रहेंगे,
क्या एक छिद्र सा रह जायेगा ?"[1]

संजय ने कहा कि मुझे भी कुछ ऐसा ही दिखाई पड़ता है । युधिष्ठिर ने संजय से कहा कि तुम हमारा यही संदेश सबसे कह देना —
'सद्धर्म की विजय ही जय है हमारी ' ।[2]

संजयकेचले जाने पर श्रीकृष्ण ने कहा कि हम तो अभिमन्यु के विवाह में आए थे, वह पूर्ण हो गया अत: अब हम सब भी अपने अपने घरों को चलें ।

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के विराट-पर्व के अंतिम अध्याय तथा 'उद्योगपर्व' के प्रथम ६ अध्यायों तथा अध्याय २० से अध्याय २६ तक प्राप्त होते हैं ।' महाभारत' के अनुसार त्रिगर्तों और कौरवों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अर्जुन ने राजा विराट के पूछने पर भीमसेन , नकुल, सहदेव और अपना परिचय दिया । राजकुमार उत्तर ने अर्जुन के पराक्रम का वर्णन किया, जिसके कारण कौरवों परविजय प्राप्त हुई थी । उत्तर ने द्रौपदी का भी परिचय दिया । पाण्डवों का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् विराट ने अपने पुत्र उत्तर से कहा कि अब पाण्डवों को प्रसन्न करना चाहिए । मैं अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करना चाहता हूँ । उत्तर इस प्रस्ताव से सहमत हो गया । तत्पश्चात् विराट ने पाण्डवों से कहा कि जाने-अनजाने हमसे आपके प्रति जो कोई अपराध हुआ हो तो आप हमें क्षमा करें ।

---

१. जयभारत, उद्योग, पृ० २६१ (द्वितीय सं० साहित्य स०, चिरगांव)
२. ,, ,, पृ० २६२ ,,

फिर उन्होंने कहा कि सव्यसाची, धनंजय मेरी कन्या उत्तरा को पत्नी रूप में स्वीकार करें ।[१] परन्तु अर्जुन ने उत्तरा को अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण किया । उन्होंने कहा कि मेरा पुत्र अभिमन्यु है, वही उत्तरा का सुयोग्य पति हो सकता है ।[२] तत्पश्चात् युधिष्ठिर तथा राजा विराट ने विवाह के लिए अपने अपने सभी सम्बन्धियों को निमंत्रण भेजा । राजा द्रुपद भी अपनी अक्षौहिणी सेना के साथ आए । बलराम श्रीकृष्ण आदि सुभद्रा और अभिमन्यु के साथ वहाँ आए । तत्पश्चात अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह सम्पन्न हो गया ।[३]

विवाह के पश्चात उस रात्रि सबने विश्राम किया और दूसरे दिन प्रात: सब विराट की सभा में उपस्थित हुए । अपने पिता वसुदेव के साथ बलराम और श्रीकृष्ण ने भी आसन ग्रहण किए । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने भाषण देना आरम्भ किया । उन्होंने पहले कौरवों द्वारा पाण्डवों के साथ किए गए धोखे और कपटपूर्ण व्यवहार को बताया । उन्होंने कहा कि पाण्डवों ने सदा सत्य का पालन करते हुए बारह वर्षों के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास को पूरा किया है । अपने राज्य को पुन: प्राप्त करने के लिए ही इन्होंने सब प्रकार के कष्ट सहते हुए अपने प्रण को पूरा किया है । यदि अब न्याय पूर्वक कौरव इनका आधा राज्य नहीं लौटायेंगे तो पाण्डव अवश्य उन सबको मार डालेंगे । परन्तु युद्ध के बारे में अभी कैसे निश्चित किया जाय, क्योंकि दुर्योधन के मत का हमें ठीक-ठीक पता भी नहीं है, कि वह क्या करना चाहता है । अत: मेरा विचार है कि यहाँ से कोई योग्य दूत दुर्योधन के पास भेजा जाय जो उनके जोश तथा रोष को शान्त करने में समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिर को आधा राज्य देने के लिए विवश कर दे ।[४] श्रीकृष्ण के पश्चात् बलराम जी ने अपना भाषण देते हुए अपना मत-प्रकट किया । उन्होंने युद्ध

---

१. महाभारत, विराटपर्व, वैवाहिक पर्व, अ० ७१, श्लोक १-३४
२. ,, ,, अ० ७२ ,, १-६
३. ,, ,, अ० ७२ ,, १०-४०
४. ,, उद्योगपर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० १

के प्रस्ताव को अस्वीकार किया और दुर्योधन से मेल-मिलाप द्वारा सन्धि करने का उपाय बताया। परन्तु बलराम जी के विचार से सात्यकि कुपित हो उठे[1]। सात्यकि ने कहा कि कौरवों ने सदैव पाण्डवों से छल किया। छल के बल पर उन्होंने पाण्डवों का राज्य हड़प लिया। परन्तु अब वनवास के बंधन से मुक्त होकर ये पाण्डव अपने राज्य के अधिकारी हो गए हैं। यदि कौरव सीधे से इनका राज्य वापस न करेंगे तो पाण्डव अवश्य ही बल पूर्वक उसे प्राप्त कर लेंगे। और मैं स्वयं कौरवों को युद्ध में मार कर युधिष्ठिर के चरणों में गिरा दूंगा।[2] सात्यकि की बात सुनकर द्रुपदनेउनका समर्थन किया। राजा द्रुपद ने कहा कि दुर्योधन मधुर व्यवहार से राज्य नहीं देगा। अब हमें अपने मित्रों के पास यह संदेश भेजना चाहिए कि वे हमारे लिए सैन्य-संग्रह का प्रयत्न करें। दुर्योधन भी युद्ध की तैयारी के लिए सबके यहाँ संदेश भेजेगा। पहले जिसका संदेश और निमंत्रण पहुंचेगा उसी की सहायता राजा लोग करेंगे। अतः इस कार्य में शीघ्रता होनी चाहिए। तत्पश्चात् राजा द्रुपद ने विराट से कहा कि मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्र के पास भेजिए और इनके द्वारा उचित संदेश भेजिए।[3]

श्रीकृष्ण ने भी इस बात का समर्थन किया और कहा कि मेरे लिए और पाण्डव एक समान हैं। हम तो यहाँ विवाह में आए थे, अब हम वापस जा रहे हैं। फिर पाण्डवों का संदेश आने पर हम उसके अनुकूल कार्य करेंगे। तत्पश्चात् राजा विराट ने श्रीकृष्ण का सत्कार करके उन्हें विदा किया और अपने पुरोहित को कौरवों के पास भेजा।[4] पुरोहित ने कौरव-सभा में जाकर कहा कि कौरवों द्वारा किए गए अत्याचारों को विस्मृत करके पाण्डव अब भी कौरवों से प्रेम-व्यवहार रखना चाहते हैं। वे बिना युद्ध के अपना राज्य पाना चाहते हैं। यदि दुर्योधन को अपनी शक्ति का घमंड है तो उन्हें यह जानना चाहिए कि पाण्डव संख्या में कम होते हुए भी उनसे अधिक शक्तिशाली हैं।

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, अ० २ (सेनोद्योगपर्व)
२. ,, (सेनोद्योगपर्व अ० ३
३. ,, ,, अ० ४
४. ,, ,, अ० ५

अत: आप लोग अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पाण्डवों का आधा राज्य दे दें ।[१] भीष्म ने द्रुपद के पुरोहित की बात का समर्थन किया और अर्जुन की वीरता की प्रशंसा की । कर्ण ने भीष्म की बातों का खण्डन किया । तत्पश्चात् धृतराष्ट्र ने भीष्म की बातों का समर्थन किया तथा दूत को सम्मानित करके विदा किया । उन्होंने कहा कि मैं संजय को पाण्डवों के पास भेजूंगा । आप शीघ्र ही पाण्डवों के पास जायं ।[२]

तत्पश्चात् धृतराष्ट्र ने संजय को पाण्डवों के प्रभाव और प्रताप के विषय में बताया और उसे पाण्डवों के पास भेजा ।[३] संजय युधिष्ठिर से मिले । युधिष्ठिर ने संजय से दुर्योधन का मत जानना चाहा ।[४] संजय ने युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का संदेश सुनाया । संजय ने कहा कि धृतराष्ट्र शान्ति का आदर करते हैं । मैं भी युद्ध में किसी का कल्याण नहीं समझता ।[५] संजय की बातें सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि मैं स्वयं युद्ध करना नहीं चाहता । यदि कौरव हमारा राज्य इन्द्रप्रस्थ लौटा दें तो अवश्य शान्ति रह सकती है , अन्यथा पाण्डवों की क्रोधाग्नि में उन्हें भस्म होना पड़ेगा ।[६] संजय ने युधिष्ठिर को युद्ध में दोष की सम्भावना बतला कर उन्हें युद्ध से विमुख करने का प्रयत्न किया ।[७] संजय से युधिष्ठिर ने कहा कि मैं जो बात कह रहा हूं, वह धर्म के अनुकूल है ।

जयभारत में 'उद्योग' शीर्षक से वर्णित अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' में प्राप्त होते हैं । 'महाभारत' में 'विराटपर्व' के ~~प्रथम छ:~~ वैवाहिक पर्व, तथा उद्योगपर्व में 'सैनोद्योगपर्व' के प्रथम छ: अध्यायों तथा 'संजययान पर्व' के अध्याय २० से २६ तक इस कथा के स्रोत प्राप्त होते हैं । कवि ने महाभारतीय

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, संजययान पर्व, अध्याय २०
२. ,, ,, ,, २१
३. ,, ,, ,, २२
४. ,, ,, ,, २३
५. ,, ,, ,, २५
६. ,, ,, ,, २६
७. ,, ,, ,, २७

कथा का संक्षेपण भी किया है और कुछ प्रसंगों का स्थानान्तर भी किया है।

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा यद्यपि पूर्णतया 'महाभारत' पर ही आधारित है, परन्तु कथा संगठन की स्वाभाविकता के लिए कवि ने कथा प्रसंगों में स्थानान्तरण किया है। 'महाभारत' में उत्तरा अभिमन्यु का विवाह विस्तृत रूप से वैवाहिक पर्व के अन्तर्गत वर्णित है और राजा द्रुपद द्वारा पुरोहित को भेजने का प्रसंग 'उद्योगपर्व' के अन्तर्गत आता है। परन्तु 'जयभारत' में इन दोनों प्रसंगों का उल्लेख एक ही अन्तर्कथा के रूप में आया है। महाभारत में संजय का पाण्डवों के पास आगमन बाद में वर्णित है जबकि 'जयभारत' में इस प्रसंग को प्रारंभ में ही रखा गया है। संजय के दूतत्व के स्थानान्तरण का कारण है विग्रह के पूर्व सामान्यजनों के शान्ति प्रयासों का संकेत सांकेतिक वर्णन।

'महाभारत' में राजा विराट पहले उत्तरा को अर्जुन की पत्नी बनाना चाहते हैं।[1] परन्तु अर्जुन द्वारा इस प्रस्ताव के अस्वीकार होने पर विराट उत्तरा को उनकी पुत्रवधू बनाने के लिए तैयार हो जाते हैं।[2] 'जयभारत' में राजा विराट उत्तरा को सीधे अर्जुन की पुत्रवधू बनाने की कामना व्यक्त करते हैं।

उत्तरा और अभिमन्यु के विवाह-सम्बन्ध के स्थिर हो जाने पर 'जय-भारत' में द्रौपदी और सुदेष्णा के स्नेह मिलन में पारिवारिक वातावरण झलक उठा है।[3] यह कवि की अपनी विशेषता है।

'महाभारत' के अनुसार उत्तरा-अभिमन्यु के विवाह के उपरान्त युधिष्ठिर एक सभा करते हैं जिसमें श्रीकृष्ण सबसे पहले भाषण करते हैं।[4] 'जयभारत' में इस अवसर पर पहले युधिष्ठिर ही बोलते हैं।[5] युधिष्ठिर के चारित्रिक महत्व को स्पष्ट करने के लिए यह परिवर्तन कवि ने किया है। 'जयभारत' में संजय पाण्डवों के पास जाकर शांति का संदेश देते हैं और युधिष्ठिर से कहते हैं कि

---

१. महाभारत, विराट पर्व, वैवाहिक पर्व, अ० ७१ श्लोक ३५
२. ,, ,, ,, ७२
३. जयभारत, उद्योग, पृ० २८५ (साहित्य स०चिरगांव, झांसी)
४. महाभारत, उद्योगपर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० १, श्लोक १०-२४।।
५. जयभारत, उद्योग, पृ० २८६ (द्वितीय संस्करण, सा०स०चिरगांव)

युद्ध करने की अपेक्षा वनवास तथा भिखारी हो जाना उचित है । इसके लिए संजय श्रीराम का उदाहरण देते हैं जिन्होंने भरत के लिए राज्य छोड़ दिया और वनवास को ग्रहण किया । संजय की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि कौरवों में कौन भरत के समान है ? वहाँ तो द्रौपदी को अपमानित करने वाले ही हैं । यथा —

> " श्रीराम ने पितृ-शुल्क स्वयं चुकाया,
> ये खेल के वचन भी अपने न भूले ।
> तो भी कहो, भरत कौन वहाँ सुनूँ मैं ?
> हाँ, केश-कर्षक अवश्य प्रजावती के ।"[1]

इस प्रकार का वर्णन 'महाभारत' में नहीं है, यह भी कवि की अपनी मौलिक कल्पना है ।

'महाभारत ' में संजय और धृतराष्ट्र की वार्ता विस्तृत रूप में दी गई है ।[2] 'जयभारत' में इसे संक्षिप्त रूप दिया गया है ।

कवि ने यह खंड संवाद - शैली में रचा है और इसके द्वारा पाण्डवों के पक्ष का औचित्य प्रकट किया है साथ ही कौरवों की अनीति का विवरण भी प्रस्तुत किया है । युधिष्ठिर अनय का प्रतिकार करने के लिए तैयार होते हैं और कौरवों के पास यह संदेश भेजा है —

> " सद्धर्म की विजय ही जय है हमारी ।"

३२. विदुर-वार्ता

'महाभारत' में 'उद्योग पर्व' के 'प्रजागर पर्व' की कथा 'जयभारत' के 'विदुर वार्ता ' शीर्षक के अन्तर्गत दी गई है । 'जयभारत' में महाभारत की इस वार्ता को अत्यन्त संक्षिप्त रूप दिया गया है । 'जयभारत' के अनुसार

---

१. जयभारत,उद्योग , पृ० २६१ (द्वितीय सं० साहित्य सदन, चिरगांव,झांसी)
२. महाभारत, उद्योग पर्व, संजययान पर्व, अ० २२ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

धृतराष्ट्र ने विदुर जी को बुलाया और कहा कि इस समय आधी रात्रि बीत गई है पर मुझे निद्रा नहीं आ रही है। विदुर जी ने कहा कि चिंतित मनुष्य को निद्रा नहीं आती। परन्तु तुम्हें क्या चिंता है? धृतराष्ट्र ने कहा कि मुझे कुल के कलह की चिंता ने घेर लिया है। विदुर जी ने कहा कि अब तो ऐसा प्रतीत होता है मानो महानिद्रा (मृत्यु) ही आने वाली है। धृतराष्ट्र दुःखी होकर बोले कि मुझे तो चारों ओर प्रलय का जल सा ही दिखाई दे रहा है। विदुर जी ने धृतराष्ट्र को समझा कर कहा कि तुम्हें तो पुत्र-प्रेम का घुन लग गया है। वह घुन अब सभी को खालेगा। इस कष्ट से छुटकारा पाने के लिए विदुर ने धृतराष्ट्र को समझा कर कहा कि तुम्हें तो पुत्र-प्रेम का घुन लग गया है। वह घुन अब सभी को खालेगा। इस कष्ट से छुटकारा पाने के लिए विदुर ने धृतराष्ट्र को एक ही उपाय बताया —

" बुला के दे दो जो विषय जिसका प्राप्य जितना।
भले ही दुष्टों की सम्मति न हो शिष्ट-विधि से।
बनो सच्चे राजा अत-युकृत से, न्याय-निधि से।
करेंगे क्या सोचो, शठ शकुनि कर्णादिक वहाँ,
खड़े हैं धर्मात्मा नर सहित नारायण जहाँ।
बुलाने आए हैं अहित तुमको मित्र बनके,
न बैठो हे स्वामी, चुप तुम यहाँ चित्र बनके।"[१]

विदुर की बात सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा कि पुत्र का मोह मुझसे नहीं छोड़ा जाता है —

" कहूँ मैं क्या भाई विदुर, तुम हो ठीक कहते,
यहाँ मेरे ऐसे कुविधि वृथा दुःख सहते।
नहीं छोड़ा जाता समझकर भी मोह मुझसे,
किए बैठा मेरा अबश मन ही द्रोह मुझसे।

---

१. जयभारत, विदुर-वार्ता, पृ० २६५ (द्वितीय सं० साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

पितृहितैषी भी क्या कुछ कह सका दूँ तनय को ?
बढ़ा दूँ क्या मैं ही उस अविनयी के अनय को ?
रहे राजा होना, निज सुत-पिता ही रह सकूँ,
मनाओ हे भाई, सिर पर पड़े सो सह सकूँ ।"[१]

विदुर जी ने पुत्र स्नेह से वशीभूत धृतराष्ट्र को पुन: समझाते हुए कहा कि दूसरे का धन उसे लौटा देने से ही तुम्हें शांति मिल सकती है और सुख की नींद आ सकती है । जो दूसरों का धन हर लेता है वह मानो अपने ही दुर्दिनों को बुलाता है ।

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा 'महाभारत' में 'उद्योगपर्व' के 'प्रजागर पर्व' में मिलती है । 'महाभारत' में यह विदुर-वार्ता पर्याप्त विस्तार पूर्वक वर्णित है । 'महाभारत' के अनुसार संजय पाण्डवों के पास से लौट कर आए तो उन्होंने धृतराष्ट्र को बुरा-भला कहा और दूसरे दिन सब बातें बताने के लिए कहकर चले गए । धृतराष्ट्र संजय के इस व्यवहार से अत्यधिक चिंतित हो गए । उन्होंने अर्ध-रात्रि में ही विदुर जी को अपने पास बुलाया और उन्हें अपनी चिन्ता का कारण बताया । धृतराष्ट्र ने कहा कि इसी चिंता के कारण मुझे निद्रा भी नहीं आ रही है । मुझे पाण्डवों के संदेश को जानने की इच्छा है, परन्तु संजय कल सब बातें बताएगा । इसी से मुझे चिन्ता हो रही है । अब आप ही मेरे चित्त को शान्त करने के लिए जैसा उचित समझें उपदेश दें ।[२] विदुर जी ने धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा कि जो युधिष्ठिर तीनों लोकों के स्वामी हो सकते थे, उन्हें आपने वन भेज दिया । आप धर्मात्मा हैं तो भी उन्हें उनका आधा राज्य देने की आपकी सम्मति नहीं हुई । आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दु:शासन जैसे अयोग्य व्यक्तियों पर राज्य का भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं ?[३] इसी प्रकार विदुर जी ने बड़े विस्तार-

---

१. जयभारत, विदुर-वार्ता, पृ० २६५-२६६ (द्वितीय सं० साहित्य सदन, चिरगांव
२. महाभारत, उद्योगपर्व, प्रजागर पर्व, अ० ३३, श्लोक १-१२
३. ,, ,, ,, अ० ३३ श्लोक १३-१६

पूर्वक धृतराष्ट्र को उपदेश दिया ।[१] तत्पश्चात् विदुर जी ने धृतराष्ट्र के प्रति नीतियुक्त बातें कहीं ।[२] विदुर जी ने बड़े विस्तार पूर्वक केशिनी के लिए सुधन्वा के साथ विरोचन के विवाद का वर्णन करते हुए धृतराष्ट्र को धर्मोपदेश दिया ।[३] तत्पश्चात् दत्तात्रेय और साध्य देवताओं के संवाद का उल्लेख करके महाकुलीन लोगों के लक्षण बताते हुए विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया[४]। विदुर जी ने कहा कि इस समय आप ही कौरवों के आधारस्तम्भ हैं अतः आप पाण्डवों से सन्धि कर लें। समस्त पाण्डव सत्य पर डटे हुए हैं। अतः आप दुर्योधन को रोकिये ।[५] इसके पश्चात विदुर जी ने धृतराष्ट्र के प्रति हितोपदेश दिया ।[६] और कहा कि पाण्डव शालवृक्ष के समान हैं तथा आपके सहित पुत्रलता के समान समस्त आपके पुत्र हैं। लता कभी बिना वृक्ष के सहारे के नहीं बढ़ सकती ।[७] विदुर जी ने धृतराष्ट्र को नीतियुक्त उपदेश भी दिया,[८] और कहा कि आपने उन महान धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवों को छोड़कर यह महान ऐश्वर्य का भार दुर्योधन के ऊपर रख दिया है। अतः शीघ्र ही आप दुर्योधन को इस राज्य से भ्रष्ट होते देखियेगा ।[९] तत्पश्चात विदुर ने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के धर्म का संक्षिप्त वर्णन किया ।[१०] विदुर जी ने कहा कि मैंने आपको चारों वर्णों का धर्म इसलिए बताया कि आपके कारण युधिष्ठिर क्षत्रियधर्म से गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्म में नियुक्त कीजिए। विदुर जी के

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, प्रजागर पर्व, अ० ३३, श्लोक १७-१२३
२. ,, ,, ,, अ० ३४
३. ,, ,, अ० ३५
४. ,, ,, अ० ३६
५. ,, ,, अ० ३६ श्लोक ७३,७४
६. ,, ,, अ० ३७
७. ,, ,, अ० ३७ श्लोक ६३
८. ,, ,, अ० ३८, ३९
९. ,, ,, अ० ३८ श्लोक ४६, ४७
[illegible]

उपदेश को सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा कि तुमने जो कुछ कहा है, वैसा ही मेरा भी विचार है। यद्यपि मैं भी पाण्डवों के लिए ऐसा ही सोचता हूं, परन्तु दुर्योधन से मिलते ही मेरी बुद्धि पलट जाती है। अतः मैं सोचता हूं कि प्रारब्ध का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मैं तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूं, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।[१]

'जयभारत' में 'विदुरवार्ता' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत में उद्योग पर्व के अन्तर्गत 'प्रजागर पर्व' में प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण प्रजागर पर्व में आठ अध्याय हैं, ये ही 'विदुर नीति' कहलाते हैं। 'महाभारत' में विदुर द्वारा धृतराष्ट्र को विस्तार पूर्वक दिए गए उपदेशों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में गुप्त जी ने 'जयभारत' में 'विदुर-वार्ता' शीर्षक से उपस्थित किया है। कवि ने 'महाभारत' के कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया है। विदुर जी धृतराष्ट्र को समझाते हुए केशनी के लिए सुधन्वा के साथ विरोचन के विवाद का वर्णन करते हैं।[२] इसका उल्लेख 'जयभारत' में नहीं है। विदुर जी दत्तात्रेय और साध्य देवताओं के संवाद का उल्लेख करके महाकुलीन लोगों का लक्षण बताते हुए धृतराष्ट्र को समझाते हैं।[३] यह वर्णन भी 'जयभारत' में नहीं है। इसी प्रकार 'महाभारत' में विदुर जी धृतराष्ट्र को विस्तार पूर्वक हितोपदेश,[४] नीति विषयक उपदेश,[५] तथा धर्म की महत्ता का प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के धर्म का संक्षिप्त वर्णन[६] करते हैं। ये वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त और सांकेतिक रूप में जयभारत में वर्णित है।

विदुर द्वारा धृतराष्ट्र के मनस्ताप को निवारित करने का प्रयास इस खण्ड में संवाद शैली द्वारा प्रकट किया गया है। धृतराष्ट्र कुल-कलह से

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, प्रजागरपर्व, अ० ४० श्लोक २९-३२
२. ,, ,, अ० ३५ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
३. ,, ,, अ० ३६ ,,
४. ,, ,, अ० ३७ ,,
५. ,, ,, अ० ३८ ,,
६. ,, ,, अ० ४० ,,

और युद्ध की आशंका से घबरा उठे हैं। विदुर उन्हें सत्याचरण के लिए प्रेरित करते हैं — 'बुला के दे दो जो विषय जिसका प्राप्य जितना'।[1] धृतराष्ट्र की विवशता के माध्यम से दुर्योधन का औद्धत्य भी प्रकट हुआ है। यथा —

> " पितृ-द्वेषी भी क्या कुछ कह सुना दूँ तनय को ?
> बढ़ा दूँ क्या मैं ही उस अविनयी के अनय को ?"[2]

३३. रण-निमन्त्रण

'जयभारत' के अनुसार पाण्डवों के अज्ञातवास पूरा कर लेने पर भी कौरवों ने पाण्डवों को उनका राज्य बिना युद्ध के न देना चाहा। अतः दोनों पक्षों से समस्त राजाओं के पास युद्ध में सहायता करने के लिए निमन्त्रण भेजे जाने लगे। श्रीकृष्ण को निमंत्रित करने के लिए संयोग वश दुर्योधन और अर्जुन साथ साथ द्वारका पहुँचे। मध्याह्न का समय था और श्रीकृष्ण भोजनोपरान्त शयन कर रहे थे। दुर्योधन शीघ्रता पूर्वक उनके पास जाकर उनके सिरहाने रखे एक अच्छे उच्च आसन पर बैठ गए। कुछ ही क्षणों पश्चात् अर्जुन पहुँचे और श्रीकृष्ण के चरणों की ओर चुपचाप बैठ गए। दोनों अतिथियों के मन में अनेक प्रकार के भाव उठने लगे परन्तु वे कुछ भी बोले नहीं। कुछ देर में कृष्ण जगे और सामने अर्जुन को देख कर बोले —

> " भारत, कुशल तो है ? कहो यों आज भूल पड़े कहाँ ?
> जो कार्य मेरे योग्य हो, प्रस्तुत सदा मैं हूँ यहाँ।"[3]

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा —

> " यह जन जनार्दन, स्वार्थ वश ही आज आया है यहाँ,
> निज पक्ष में रण का निमंत्रण मात्र लाया है यहाँ।"[4]

---

१. जयभारत, विदुर वार्ता, पृ० २६५, (द्वितीय सं० , साहित्य सदन, चिरगांव)
२. ,, ,, पृ० २६६ ,,
३. ,, रणनिमंत्रण, पृ० २९९ ,,
४. ,, ,, पृ० ३००

इसी समय दुर्योधन कह उठे --

" आया प्रथम गोविन्द , मैं हूं आपके शुभ-धाम में
पहले मुझे ही प्राप्य है साहाय्य इस संग्राम में ।[१]

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा कि यद्यपि तुम यहां पहले आए, परन्तु मैंने पहले अर्जुन को ही देखा था । परन्तु मैं युद्ध में दोनों ओर से सहयोग दूंगा । एक ओर मेरी नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर मैं बिना शस्त्रों के रहूंगा । इन दोनों में से पार्थ पहले चुन लें । श्रीकृष्ण की बात सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया । दुर्योधन ने विशाल नारायणी सेना को ही स्वीकार किया । दुर्योधन ने इससे संतोष ही प्रकट किया । श्रीकृष्ण ने हंस कर अर्जुन से पूछा कि तुमने मुझे क्यों स्वीकार किया ? इस पर अर्जुन ने कहा --

" सेना रहे, मुझको जगत भी तुम बिना स्वीकृत नहीं,
श्रीकृष्ण रहते हैं जहां सब सिद्धियां रहती वहीं ?"[२]

'जयभारत' की प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्तोत्र महाभारत के 'उद्योग पर्व' के सातवें अध्याय में प्राप्त होते हैं । पुरोहित को दूत के रूप में हस्तिनापुर भेज कर पाण्डव लोग यत्र-तत्र राजाओं के यहां अपने दूतों को भेजने लगे । सब स्थानों पर दूत भेजने के पश्चात् अर्जुन स्वयं द्वारकापुरी गए । इसी समय दुर्योधन ने अपने गुप्तचरों द्वारा पाण्डवों की सारी चेष्टाओं का पता लगा लिया था । जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगर से द्वारका जा रहे हैं, तब वह शीघ्रता पूर्वक द्वारका पुरी को चल पड़ा । अर्जुन और दुर्योधन दोनों ने एक साथ द्वारका पहुंच कर देखा कि श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं । दुर्योधन ने श्रीकृष्ण की शयन-शाला में पहले प्रवेश किया और उनके सिरहाने रखे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया । तत्पश्चात अर्जुन वहां गए और हाथ जोड़ कर श्रीकृष्ण के चरणों की ओर खड़े रहे । जागने पर श्रीकृष्ण ने पहले अर्जुन को ही देखा ।

---

१. जयभारत, रण-निमंत्रण, पृ० ३०१ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, उद्योगपर्व, सैन्योद्योगपर्व, अ० ७ श्लोक १-१०

उन्होंने अर्जुन और दुर्योधन दोनों का सत्कार करके उनसे आने का कारण पूछा ।[१] दुर्योधन ने कहा कि मैं ही आपके पास पहले आया हूं, आप मुझे युद्ध में सहायता दें । श्रीकृष्ण ने कहा कि इसमें संदेह नहीं कि आप यहां पहले आए हैं, परन्तु मैंने पहले अर्जुन को ही देखा है । श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं दोनों की सहायता करूंगा । अवस्था में छोटे होने के कारण पहले अर्जुन अपनी अभीष्ट वस्तु मांगने के अधिकारी हैं । एक ओर मेरी समस्त नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर मैं अकेला निरस्त्र रहूंगा और युद्ध भी नहीं करूंगा । अब अर्जुन इनमें से जो चाहें मांग लें ।[२] अर्जुन ने श्रीकृष्ण को ही अपना सहायक चुना । तब दुर्योधन ने कृष्ण की समस्त सेना मांग ली । दुर्योधन ने समझा कि कृष्ण को उसने ठग लिया है अत: वह मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ । तत्पश्चात दुर्योधन बलराम के पास गया और अपने आने का कारण बताया ।[३] बलराम ने कहा कि मैं न तो अर्जुन की सहायता करूंगा और न दुर्योधन की ही । दुर्योधन ने बलराम से विदा ली और चले गए । इधर दुर्योधन के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि पार्थ ! मैं तो युद्ध करूंगा नहीं, फिर तुमने क्या सोच-समझ कर मुझे चुना है ? अर्जुन ने कहा कि मैंने यश की इच्छा से आपको चुना है । मेरे मन में बहुत दिनों से यह अभिलाषा थी कि मैं आपको अपना सारथी बनाऊं - अपने जीवन रथ की बागडोर आप के हाथों में सौंप दूं । अब आप मेरी इस इच्छा को पूरी करें । श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मनोरथ को पूर्ण करने का आश्वासन दिया ।[४]

जयभारत में वर्णित "रण-निमन्त्रण की कथा महाभारत के उद्योगपर्व के अन्तर्गत सैन्योद्योग पर्व " के सातवें अध्याय में प्राप्त होती है । गुप्त जी ने इस अन्तर्कथा में आधारग्रन्थ से बहुत कम परिवर्तन किया है ।

१- महाभारत, उद्योग पर्व, सैन्योद्योग पर्व, अ० ७, श्लोक १-१०
२- ,, ,, अ० ७ ,, १२-२०
३- महाभारत, उद्योग पर्व, सैन्योद्योग पर्व, अ० ७ ,, २३-२५
४- ,, ,, ,, ,, २६,३४-३८

गुप्त जी ने इस प्रसंग का स्थानान्तरण किया है । 'महाभारत' में दुर्योधन के शल्य द्वारा सत्कार तथा विदुर-वार्ता से पहले ही यह प्रसंग वर्णित है । परन्तु गुप्त जी ने इसे 'विदुर वार्ता' के पश्चात् रखा है । इस प्रसंग में थोड़े परिवर्तन भी कवि ने किए हैं । 'महाभारत' के अनुसार अर्जुन पुरोहित को हस्तिनापुर भेजने के पश्चात् ही द्वारका, श्रीकृष्ण से सहायता मांगने के लिए चल पड़े ।[1] परन्तु 'जयभारत' के अनुसार जब कौरवों ने बिना युद्ध के पाण्डवों को राज्य देना अस्वीकार कर दिया तब अर्जुन श्रीकृष्ण के पास गए ।

'महाभारत' के अनुसार दुर्योधन को जब गुप्तचरों द्वारा अर्जुन का कृष्ण के पास जाना पता चला तो वह भी शीघ्रता पूर्वक द्वारका चल पड़ा ।[2] 'जयभारत' के अनुसार केवल संयोग वश ही अर्जुन और दुर्योधन एक साथ द्वारका पहुंच गए ।

इस प्रसंग में वर्णन-पद्धति को नाटकीय स्थिति और संवादों के के द्वारा कवि ने अपेक्षाकृत अधिक चमत्कृत बनाया है ।

३४. अनाहूत

'जयभारत' में 'अनाहूत' शीर्षक के अन्तर्गत रुक्मी के पाण्डवों के पास सहायता देने आने की अन्तर्कथा वर्णित है । रुक्मी स्वयं पाण्डवों के पास आए और अर्जुन से बोले कि तुम्हारी सेना कौरवों की अपेक्षा बहुत छोटी है, परन्तु तुम कुछ शंका मत करो, मैं आ गया हूं । अब मैं अकेला ही सब शत्रुओं को हरा कर तुमको जिता दूंगा । रुक्मी की मिथ्या गर्वपूर्ण बातें सुनकर अर्जुन ने कहा कि मुझे और भला युद्ध में शंका ? श्रीकृष्ण ही अकेले मेरे जय-मूल हैं । यदि मैं तुम्हारे बल से जीता तो मुझे जीतने से क्या मिला ? अर्जुन के उत्तर से रुक्मी मर्माहत होकर बोला कि मैं व्यर्थ ही यहां आया, मुझे

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, सैनोद्योगपर्व, अ० ७, श्लोक १-४

२. ,, ,, अ० ७ ,, ५-५

पक्षों की कौरवों का पक्ष ठीक करना चाहिए था । और श्रीकृष्ण को तो मैं जानता हूँ, ये मेरी बहन को भी भगा ले गए थे [illegible] यदि मैं कौरवों से मिल कर इनसे अपना पुराना बैर भी निकाल लेता । श्रीकृष्ण रुक्मी की बातें सुनकर चैन [illegible] दिए । युधिष्ठिर ने रुक्मी से कहा कि अर्जुन ने जो कुछ भी कहा था दुर्भाव से नहीं कहा है । यदि श्रीकृष्ण जी तुम्हारे लिए पराए हैं तो भला तुम्हारे लिए अपना कौन होगा ? रुक्मिणी की पुकार यदि ये न सुनते तो वह आज अनाथ होती । श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से ही तुम हमारे अभिन्न साथी हो । रुक्मी को इस भाँति मनाया गया किन्तु फिर भी वह रुका नहीं और तुरन्त लौटकर दुर्योधन के पास गया । पर दुर्योधन ने भी उसकी सहायता स्वीकार नहीं की । दुर्योधन ने रुक्मी से कहा —

" जो हैं तुम्हारे अपने, उन्होंने
त्यागा तुम्हें, मैं किस भाँति रखूँ ?"[१]

रुक्मी कौरवों से भी दुत्कारा जाकर सोचा कि ठीक है, मैं क्यों किसी झमेले में पड़ूँ ? मेरे लिए यही भला है कि मैं घर लौट जाऊँ और तटस्थ होकर सब देखूँ ।

प्रस्तुत अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के उद्योगपर्व में प्राप्त होते हैं । रुक्मी जो कि रुक्मिणी के हरण को देखकर श्रीकृष्ण पर क्रोधित हो गया था और जिसने श्रीकृष्ण को मारने की प्रतिज्ञा की थी, और अन्त में श्रीकृष्ण से पराजित होकर लज्जा के कारण पुनः कुण्डिनपुर को नहीं लौटा था वह बड़े गर्व के साथ पाण्डवों के पास आया । युधिष्ठिर ने आगे बढ़ कर उसका स्वागत किया । तत्पश्चात् रुक्मी ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन यदि तुम डरे हुए हो तो मैं युद्ध में अब तुम्हारी सहायता करने आ गया हूँ । इस संसार में मेरे समान पराक्रमी कोई अन्य नहीं है । तुम मुझे द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा भीष्म आदि को मारने का कार्य सौंप दो । मैं किसी को जीवित नहीं छोड़ूँगा । मैं अकेला ही तुम्हारे समस्त शत्रुओं का मार कर तुम्हें इस पृथ्वी का राज्य अर्पित कर दूँगा । रुक्मी के मिथ्या गर्व की बातें सुनकर अर्जुन ने कहा कि मैं कौरव कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, महाराज पाण्डु का पुत्र हूँ । आचार्य द्रोण का शिष्य हूँ । इसके अतिरिक्त साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं । मैं स्वयं गाण्डीव

---

१ [illegible] पृ० ३०४ (द्वितीय संस्करण)

धनुष धारण करता हूँ। ऐसी स्थिति में मैं अपने को डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ। अर्जुन ने अपने पूर्वकृत कार्यों का भी बखान किया और कहा कि मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायता की भी आवश्यकता नहीं है। आप अपनी इच्छानुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइए या यहीं रहिए।[1] अर्जुन का उत्तर सुनकर रुक्मी अपनी विशाल सेना को लौटाकर दुर्योधन के पास गया। दुर्योधन के पास पहुँचकर भी रुक्मी ने उसी प्रकार की बातें कीं। तब दुर्योधन ने भी उसकी सहायता लेने से मना कर दिया।[2] तत्पश्चात रुक्मी उस युद्ध से तटस्थ हो गए।[2]

'महाभारत' में उद्योगपर्व में सैन्यनिर्याण पर्व के १५८ वें अध्याय में इस अन्तर्कथा के स्रोत प्राप्त होते हैं।

गुप्त जी ने इस अन्तर्कथा को भी स्थानान्तरित किया है। महाभारत में पाण्डवों की सेवा के तैयार हो जाने के बाद यह कथा वर्णित है[3]। परन्तु 'जयभारत में बहुत पहले शल्य (मद्रराज) की कथा से भी पहले इस कथा को रखा गया है।

'महाभारत' में इस कथा के प्रारम्भ में रुक्मी का पर्याप्त विस्तार से परिचय किया गया है।[4] परन्तु 'जयभारत' में यह परिचय नहीं किया गया है।

'महाभारत के अनुसार रुक्मी ने दुर्योधन से भी उसीप्रकार की बातें कीं जैसी अर्जुन से कीं थीं। तब स्वयं अपने को शूरवीर मानने वाले दुर्योधन ने उसकी सहायता लेने से इंकार कर दिया।[5] 'जयभारत' में दुर्योधन रुक्मी से सहायता नहीं लेता और कहता है कि जो तुम्हारे अपने हैं, उन्होंने तुमसे सहायता नहीं और तुम्हें त्याग दिया, तो मैं तुम्हें किस भाँति रखूँ? इस कथा के द्वारा पाण्डवों के आत्म-विश्वास और अर्जुन की निर्भीकता को प्रकट किया गया है।

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, सैन्यनिर्याण पर्व, अ० १५८, श्लोक १०-३२
२. ,, ,, अ० १५८ ,, ३६,३८
३. ,, ,, अ० १५८
४. ,, ,, अ० १५८ श्लोक १-६
५. ,, ,, अ० १५८, श्लोक ३७

३५. मद्रराज

"जयभारत" में मद्रराज की महाभारतीय कथा लगभग उसी रूप में वर्णित की गई है। जयभारत में यह कथा दुर्योधन और कर्ण के वार्तालाप से आरम्भ होती है। दुर्योधन ने कर्ण से कहा कि हमलोग पाण्डवों के समान ही शक्तिशाली हैं और युद्ध की तैयारी उनसे अच्छी हमारी है, फिर भी गुरु-जन यह समझते हैं कि हमारी ही हार होगी। कर्ण ने कहा कि मैं विग्रह का भार लेने के लिए तैयार हूं। दुर्योधन ने कर्ण से कहा कि तुम्हें तो केवल अर्जुन को जीतना है। मैं स्वयं भीमसेन से युद्ध करूंगा। और उनके पक्ष में युद्ध करने वाला कोई विशेष है नहीं। श्रीकृष्ण तो निहत्थे रहेंगे। अर्जुन उन्हीं से सन्तुष्ट रहें, हमारी ओर तो श्रीकृष्ण की समस्त नारायणी सेना है। दुर्योधन ने पुन: कहा कि मैंने कृष्ण से पूछा कि आप युद्ध में निहत्थे रहकर क्या करेंगे तो वे बोले - " गोचारक के लिए अल्प क्या रथ-तुरंगों की रास।" कर्ण ने कहा कि निश्चय ही सारथी अर्जुन के पास अच्छे हैं। मद्रराज शल्य, नकुल का मामा है अत: वह भी पाण्डवों का ही पक्ष लेगा।

दुर्योधन ने कपट द्वारा मद्रराज को अपने पक्ष में करने का निश्चय किया। मद्रराज जब पाण्डवों के पास अपनी सेना सहित जा रहे थे तो मार्ग में दुर्योधन ने पड़ावों आदि का प्रबन्ध कर दिया। मद्रराज उस प्रबन्ध को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझा कि यह प्रबन्ध पाण्डवों ने किया है। अत: वे कह उठे -

" किया जिन्होंने मेरा यों स्वागत-सत्कार,
में अपना सर्वस्व समर में दूंगा उनपर वार।
धन्य युधिष्ठिर, तुमने मेरा रक्खा इतना ध्यान।"[१]

इसी समय एक परिचारिका ने आकर कहा -

" यहां 'युधिष्ठिर' कहां ? 'सुयोधन' कहिए कृपानिधान।"[२]

मद्रराज यह सुनकर चौंक उठे। इसी समय दुर्योधन उनके सम्मुख आया और कहने

---

१. जयभारत, मद्रराज, पृ० ३०७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३०७ ,,

लगा कि मैंने जो यह थोड़ा सा प्रबन्ध किया था, उससे प्रसन्न होकर आपने मुझे जो आश्वासन दिया है उससे मैं अनुगृहीत हूँ। मद्रराज दुर्योधन के आदर का भेद जान कर सन्न रह गए, परन्तु जो आश्वासन वे अनजाने में दे चुके थे उसे लौटा भी नहीं सकते थे। मद्रराज शल्य ने दुर्योधन से कहा कि तुमने पहले मुझ पर विजय पा ली है। परन्तु अपनी इस हार की बात मुझे पाण्डवों से कह आने दो। युधिष्ठिर मुझे वचन बदलने के लिए भी नहीं कहेंगे।

मद्रराज शल्य पाण्डवों के पास पहुँचे और दुर्योधन के छल और अपनी हार का वृत्तान्त बताया। युधिष्ठिर ने कहा कि दुर्योधन तो सदैव से ही ऐसे छल कपट करता आया है। आपकी मनोव्यथा हम सब पर स्पष्ट है। अब आप जो धोखे से वचन हार गए हैं उसका पालन कीजिए। मद्रराज ने कहा कि नकुल और सहदेव आज भले ही मान जावें, परन्तु मेरा मन मुझको ही धिक्कार रहा है। यदि आज मेरी बहन और नकुल, सहदेव की माता माद्री जीवित होती तो मुझसे क्या कहती ? इस प्रकार मद्रराज बार बार अपने छले जाने पर पश्चाताप करने लगे। नकुल और सहदेव ने अपने मामा शल्य को समझाया और धैर्य बंधाया। मद्रराज उनसे बोले -

" वत्स वत्स ! तुम दोनों मुझसे कहते भी क्या और ?
उस कपटी के सिर न बंधेगा कभी विजय का मौर।

x x

किया गया हूँ मुख्य कर्ण के कारण मैं अभिभूत
पर अभिशप्त सफल होगा क्या मुझे बनाकर सूत ?" १

युधिष्ठिर ने कहा कि यही आश्वासन मुझे चाहिए कि कर्ण के सारथी बनने पर आप उसको युद्ध में सफल न करें। अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा कि क्या आप कर्ण से भय खाते हैं ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि यह बात नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कर्ण और हम वास्तव में अविभिन्न थे। किसी कारणवश रूठ कर वह हमसे अलग हो गया है।

---

१. जयभारत, मद्रराज, पृ० २०६ (द्वितीय संस्क०)

'जयभारत' के आधार ग्रन्थ 'महाभारत' में भी यह कथा लगभग इसी रूप में प्राप्त होती है । 'महाभारत' के अनुसार पाण्डवों का निमंत्रण पाकर मद्रराज शल्य अपनी विराट सेना के साथ पाण्डवों के पास चले । जब यह समाचार दुर्योधन को मिला तो स्वयं आगे बढ़ कर उसने मार्ग में ही राजा शल्य का सेवा-सत्कार आरंभ कर दिया । मार्ग में बड़े बड़े सभा-भवन, विहार-स्थल तथा आराम के अन्य बहुत से प्रबंध कर दिए । शल्य मार्ग में इस सेवा से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझा कि यह युधिष्ठिर द्वारा किया गया प्रबंध है । उन्होंने सेवकों से पूछा कि युधिष्ठिर के किन आदमियों ने ये सभाभवन बनाए हैं । मैं उन सबको पुरस्कार देना चाहता हूं । युधिष्ठिर को भी मेरे इस व्यवहार का अनुमोदन करना चाहिए । शल्य की यह बात सुनकर सेवकों ने दुर्योधन से सारी बातें बताईं । जब हर्ष में भरे हुए राजा शल्य इस स्वागत के कारण अपने प्राण तक देने को तैयार हो गए तो गुप्त रूप से वहीं छिपा हुआ दुर्योधन शल्य के सम्मुख आया । दुर्योधन ने ही यह सारा प्रबन्ध किया है, यह जानकर मद्रराज ने प्रसन्न होकर उससे कहा कि तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे मांग लो । दुर्योधन ने मद्रराज से कहा कि मैं चाहता हूं कि आप मेरी सम्पूर्ण सेना के अधिनायक हो जायं । मद्रराज ने दुर्योधन की बात मान ली ।[1] तब मद्रराज ने कहा कि तुम अपने नगर को जाओ, मैं अब युधिष्ठिर से मिलने जाऊंगा । दुर्योधन ने कहा कि आपने जो हमें वरदान दिया है उसे अवश्य याद रखिएगा । मद्रराज ने दुर्योधन को आश्वासन दिया और दुर्योधन के इस कपट की बात सुनाने युधिष्ठिर के पास चले । पाण्डवों के पास जाकर उन्होंने उनका कुशल क्षेम पूछा ।[2] तत्पश्चात् मद्रराज ने दुर्योधन से मिलने, उसके द्वारा सेवा सुश्रुषा, तथा उसे वरदान देने की बात बताई । सब बातें सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि आपने जो दुर्योधन को सहायता का वचन दे दिया, वह अच्छा किया । परन्तु मैं भी आपके द्वारा एक कार्य कराना चाहता हूं । जिस समय कर्ण और अर्जुन के द्वैरथयुद्ध का अवसर आएगा, उस समय आपको कर्ण

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, सेनोद्योगपर्व, अ० ८, श्लोक ६-१६

२. ,, ,, ,, अ० ८, श्लोक २०-३८

के सारथी का कार्य करना पड़ेगा । उस युद्ध में आपको अर्जुन की रक्षा करनी पड़ेगी । आपका कार्य केवल यह होगा कि आप कर्ण का उत्साह भंग करते रहें । मद्रराज ने युधिष्ठिर का प्रस्ताव प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया ।[१]

जयभारत की प्रस्तुत कथा के मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं ।[२] गुप्त जी ने प्रस्तुत क्रम परिवर्तन के साथ इसे जयभारत में उपस्थित किया है ।

'मद्रराज' की कथा का भी गुप्त जी ने रूपान्तरण किया है । महाभारत' में यह कथा श्रीकृष्ण के रण-निमंत्रण के बाद आती है ।[3] परन्तु 'जयभारत' में यह रुक्मी की कथा' अनाहूत' के बाद वर्णित है ।

'जयभारत' में 'मद्रराज' की कथा के आरंभ में दुर्योधन और कर्ण का वार्तालाप रखा गया है ।' महाभारत' में यह वर्णन नहीं है ।

'महाभारत ' की अपेक्षा ' जयभारत' में मद्रराज के पश्चात्ताप को अधिक स्पष्टता और प्रमुखता प्राप्त हुई है ।

'महाभारत' में युधिष्ठिर स्पष्ट रूप से मद्रराज से कहते हैं कि वे युद्ध में कर्ण के सारथी के रूप में जब रहें तो कर्ण को अनुत्साहित करते रहें, जिससे अर्जुन विजयी हो जायं । परन्तु 'जयभारत' में इसका संकेत मात्र दिया गया है । प्रस्तुत अन्तर्कथा में युधिष्ठिर का चरित्रोत्कर्ष व्यंजित हुआ है । युधिष्ठिर के लिए युद्ध-सत संकल्प के समान है । वे धर्म की विजय के लिए ही सन्नद्ध हैं । कर्ण के प्रति युधिष्ठिर के हृदय में असीम ममत्व है । इस कथा में कवि ने नाटकीय व्यंग्य (Dramatic Irony) की योजना करके युधिष्ठिर के मानवतादर्श को उत्कर्षित करने का प्रयत्न किया है ।

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, सैनोद्योग पर्व, अ० ८, श्लोक ३६-४८

२. ,, ,, अध्याय ८

३. ,, ,, ,,

केशों की कथा

'जयभारत' के अनुसार जब कौरवों और पाण्डवों दोनों ओर युद्ध की तैयारी हो गई तो युधिष्ठिर ने एक सभा की और उसमें श्रीकृष्ण से युद्ध के अनिष्टकारी प्रभावों का वर्णन किया । युधिष्ठिर ने कहा कि वे बिना कुछ दिये ही संधि करना चाहते हैं, यह कैसे संभव हो सकता है । परन्तु युद्ध में जो दोनों पक्षों का ध्वंस होगा उसकी कल्पना भी बहुत कष्टदायक है । विधवाओं के करुण क्रंदन और शवों पर चील गिद्ध और सियार आदि का झपटना, अभी से दिखाई पड़ने लगा है । अत: यदि वे केवल पाँच ही गाँव हमें दे देते हैं तो हम उसी से संतोष कर लेते । श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के प्रस्ताव को सुनकर कहा कि मैं पुन: इसी उद्देश्य से उन्हें समझाने जाना चाहता हूं । यदि अब भी वे नहीं मानेंगे तो भी सब लोग हमारी निर्दोषता तो जान ही लेंगे ।

उसी समय बिजली की चमक के समान वहां द्रौपदी आ गई । उसे युधिष्ठिर आदि के त्याग और पाँच ही गाँव लेकर संधि करने के प्रस्ताव पर क्रोध आ रहा था । वह श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके बोली –

" यह भाइयों पर भाइयों का त्याग आहा ! धन्य है,
इसपर भला वह क्या कहेगा, जो अभागा अन्य है ।
फिर भी अहो दानव-दलन, कुछ धृष्टता मैं कर रही,
मुझ पर तुम्हारी जो कृपा कारण यहां केवल वही

x x

तब तो अधीर अनाथ-सी निरुपाय मैं हूं रो रही,
आशा किए थी अन्त में जो, आज वह भी खो रही ।
सुनकर न सुनने योग्य ही इस सन्धि के प्रस्तावको,
यह चित्त मेरा हो रहा है प्राप्त जैसे भाव को,
कैसे उसे वर्णन करूं मैं दग्ध हृदया परवशा ?
हरि, जान सकते हो तुम्हीं जन के मथित मन की दशा ।[1]

---

[1] जयभारत, केशों की कथा, पृ० ३१४,३१५ (द्वितीय संस्करण)

राज्य बिना दिए ही सन्धि का मार्ग खोज रहे हैं। हमने सत्य के पथ पर दृढ़ रह कर तेरह वर्षों का वनवासपूर्ण किया, परन्तु अब भी वे हमें हमारा पैतृक राज्य नहीं देना चाहते। मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे परन्तु दुर्योधन ने पाँच गाँवों को भी देने की बात स्वीकार नहीं की।[१] युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा कि अब भी हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपस में संधि करके शान्तभाव से रहकर उस सम्पत्ति का समान रूप से उपभोग करें। दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवों को मार डालें और सारा राज्य प्राप्त कर लें। परन्तु यह उपाय अच्छा नहीं है। जो अत्यन्त नीच और अपने शत्रु हों उनका भी वध करना मैं अच्छा नहीं समझता। फिर भाइयों, गुरुजनों आदि का वध करना तो बहुत बड़ा पाप है। युद्ध करना अत्यन्त बुरा कार्य है।[२] शत्रुओं को हराने पर भी उनके लिए मन में पश्चाताप बना रहता है। परन्तु राज्य को त्याग देने से भी अशान्ति मिलती है। अतः हमलोगन राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुल विनाश की इच्छा करते हैं। यदि नम्रता से शान्ति हो जाय तो वह सबसे अच्छा है।[३] युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि मैं दोनों पक्षों के हित के लिए कौरवों की सभा में जाऊँगा और बिना युद्ध के, आपकी हित हानि हुए यदि संधि करवा सका, तो करवाऊँगा।[४]

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रोत्साहनभी दिया।[५] तत्पश्चात भीमसेन ने भी श्रीकृष्ण के समक्ष शान्ति का प्रस्ताव रखा।[६] परन्तु श्रीकृष्ण ने भीमसेन को युद्ध के लिए उत्तेजित किया।[७] भीमसेन के आश्वस्त होकर

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्‌यान पर्व, अ० ७२, श्लोक १-१७
२. ,, ,, अ०७२, श्लोक ४२-४५
३. ,, ,, अ०७२, श्लोक ५७, ६७, ६८
४. ,, ,, अ०७२, ७६, ८०
५. ,, ,, अ० ७३
६. ,, ,, अ० ७४
७. ,, ,, अ० ७५
८. ,, ,, अ० ७६

श्रीकृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकार किया।[१] अर्जुन ने भी अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण से कहा कि आपको जो इच्छा हो, वही हमारे लिए गौरव तथा समादर की वस्तु है।[२] नकुल ने भी श्रीकृष्ण के ऊपर सारा निर्णय छोड़ दिया।[३] सहदेव और सात्यकी ने युद्ध के लिए सम्मति दी। समस्त योद्धाओं ने भी इनका समर्थन किया।[४] इसी समय द्रौपदी ने युधिष्ठिर तथा भीम के शान्ति के प्रस्ताव से खिन्न होकर कृष्ण से कहा कि युधिष्ठिर ने संजय के द्वारा पाँच गाँवों की ही माँग की थी, परन्तु युधिष्ठिर का यह नम्रतापूर्ण वचन भी कौरवों ने नहीं स्वीकार किया। अब आपके वहाँ जाने पर यदि दुर्योधन बिना राज्य दिए ही सन्धि करना चाहे तो आप इसे किसी भी प्रकार स्वीकार न कीजिएगा।[५] द्रौपदी ने कृष्ण से कहा कि मैं संसार में इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होने पर भी पाण्डवों के देखते देखते और आपके जीते जी केश पकड़ कर सभा में लायी गई और मेरा बारंबार अपमान किया गया। उस समय मैंने आपका ही चिंतन किया। आपने ही मेरी रक्षा की ~~था~~ जब मेरे पतियों ने अपना वनवास पूरा कर लिया है तब भी यदि वे ~~अवि~~ दुर्योधन को नहीं मारते तो अर्जुन के धनुष-धारण और भीमसेन के बल को धिक्कार है। यदि मैं आपकी अनुग्रह-भाजन हूँ, यदि मुझपर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों पर पूर्ण रूप से क्रोध कीजिए।[६] तत्पश्चात् द्रौपदी अपने खुले केशों को बाएँ हाथ में पकड़ कर कृष्ण के पास गई और बोली कि शत्रुओं के साथ संधि की इच्छा से आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सब में दुःशासन द्वारा खींचे गए इन केशों को याद रखें। यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों के साथ संधि की कामना

---

१ महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० ७६
२ ,, ,, अ० ७८
३ ,, ,, अ० ८०
४ ,, ,, अ० ८१
५ ,, ,, अ० ८२ श्लोक १-१०
६ ,, ,, अ० ८२, श्लोक २०-४२

करने लगे हैं तो मेरे वृद्ध पिता भी कौरवों के साथ युद्ध करेंगे । इसके पश्चात् द्रौपदी फूट-फूट कर रोने लगी ।[१] श्रीकृष्ण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा कि मैं पाँचों पाण्डवों के साथ वही करूँगा जो तुम्हें अभीष्ट है । यदि धृतराष्ट्र के पुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जायेंगे तथा कुत्तों और सियारों के भोजन बनेंगे । हिमालय पर्वत अपनी जगह से टल जाय, पृथ्वी सैकड़ों टुकड़े हो जाय, तथा नक्षत्रों सहित आकाश टूट पड़े, परन्तु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती । तुम अपने आँसुओं को रोको । मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा और पाण्डव राज-लक्ष्मी से सम्पन्न होंगे ।[२]

'जयभारत' के 'केशों की कथा' शीर्षक के अन्तर्गत 'महाभारत' के 'उद्योगपर्व' के भगवद्‌यान पर्व के प्रथम ग्यारह अध्यायों का संक्षेपण किया गया है । मुख्य रूप से अध्याय ७२ और अध्याय ८२ के आधार पर अन्तर्कथा वर्णित है ।

'महाभारत' के अनुसार युद्ध की तैयारी हो जाने पर पाँचों पाण्डवों, श्रीकृष्ण और सात्यकी ने अपने अपने विचार व्यक्त किए । परन्तु 'जयभारत' में केवल युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के विचारों और वार्तालाप का वर्णन किया है । द्रौपदी और श्रीकृष्ण के कथन को 'जयभारत' में लगभग 'महाभारत' के ही अनुसार रखा गया है ।

महाभारत की द्रौपदी विवशता के स्वर में कृष्ण से याचना करती है, परन्तु 'जयभारत' में द्रौपदी का स्वर तीखा हो गया है । इस करुण आख्यान में युधिष्ठिर और द्रौपदी के चरित्र का तुलनात्मक विवरण रखा गया है । युधिष्ठिर पाँच गाँव लेकर भी संधि करना चाहते हैं । धर्म के द्वारा बाध्य होकर ही उन्हें युद्ध के लिए तत्पर होना पड़ रहा है । युधिष्ठिर धर्म-निष्ठ हैं । वे मानवतावाद से प्रेरित हैं । परन्तु द्रौपदी प्रतिकार भावना से विचलित है । श्रीकृष्ण दोनों के मत सुनते हैं । युधिष्ठिर के कथन में उन्हें ज्ञान, धर्म और आदर्श दिखाई देता है, परन्तु द्रौपदी के कथन में आत्मनिष्ठा की दृढ़ता

---

१ - महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्‌यान पर्व, अ० ८२ श्लोक ३३-४३

२ ,, ,, ,, ,, अ० ८२ ,, ४४-४६

है। कवि युधिष्ठिर के चरित्रोत्कर्ष को व्यंजित करता है। युधिष्ठिर स्वर्ग के सुमन, अजातशत्रु और महामानव हैं जो पृथ्वी पर समय से पूर्व ही पैदा हो गए हैं। युधिष्ठिर धर्म-धृति हैं। भौतिक सुखों में उनकी आसक्ति नहीं है। द्रौपदी भावनामयी नारी है। वह मानवती है। कर्म प्रेरक शक्ति के रूप में द्रौपदी पाण्डवों को कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। वह व्यावहारिक बुद्धि के प्रतीक के रूप में भी दिखाई देती है।

३७. शान्ति-संदेश-

'जयभारत' के अनुसार श्रीकृष्ण शान्ति का संदेश लेकर पाण्डवों के दूत के रूप में सात्यकी के साथ हस्तिनापुरी पहुँचे। कौरव-सभा में चारों ओर गंभीर वातावरण था, कृष्ण वहाँ वक्ता थे और सब लोग श्रोता। श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र को लक्ष्य करके कहा कि अपने स्वागत के लिए मैं आभारी हूँ। अब यदि दोनों पक्षों में समझौता हो सके तो मेरा श्रम सफल हो जाय। भीष्म ने कहा कि यहाँ हमारी गति तो कुण्ठित सी हो रही है। दुर्योधन को सीधा पाठ पढ़ाया जाता है पर वह उसे उलट कर ही सीखता है। श्रीकृष्ण ने कहा कि अब भी सब ठीक हो सकता है यदि आप लोग चाहें तो अब भी शान्ति हो सकती है। श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा -

" हो सकती है शान्ति, आप चाहें तो अब भी,
रुक सकती है क्रान्ति, आप चाहें तो अब भी।
भ्रान्त सुतों को शान्त कीजिए आप यहाँ पर,
शान्त करूँ विक्रान्त पाण्डवों को मैं जाकर।"[१]

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने कौरवों द्वारा पाण्डवों पर किए गए अत्याचारों का वर्णन तथा पाण्डवों की सहनशीलता का वर्णन किया। श्री कृष्ण ने शांति-स्थापना के लिए कहा -

---

१. जयभारत, शान्ति संदेश, पृ० २२२ (द्वितीय संस्क०)

" आया हूँ मैं दोष न फिर कोई दे पावे ,
रुकना हो तो यह अनर्थ अब भी रुक जावे ।
न हो व्यर्थ विध्वंस, गुणा-सा सबका छूटे ,
संधि शांति हो जाय, सहज सम्बन्ध न टूटे ।
भाई भाई मिलकर यहाँ प्रेमामृत से पुष्ट हों,
अपने अपने अधिकार में आकर सब सन्तुष्ट हों ।"[१]

श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से पुन: कहा--
" पुत्र-तुल्य फिर उन्हें आप यदि अपना लेंगे ,
तो नर क्या, सम्मान आपको सुर भी देंगे ।
तब उनके बल से आपको दुर्लभ कौन पदार्थ है ?
कहिए तो उस परमार्थ के आगे क्या यह स्वार्थ है ?[२]

श्रीकृष्ण की बात समाप्त भी न होने पाई थी कि दुर्योधन क्रोध के आवेश में कह उठा --

" यदि वे ऐसे कृती, भयातुर होते हैं क्यों
होकर भी दिवमान्य धरा पर रोते हैं क्यों ?
पाता इस सन्धिमहत्व में लघु-बल का प्राधान्य मैं,
बहु जन हैं मेरे पक्ष में, बहुमत से भी मान्य मैं ।"[३]

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को उत्तर दिया --
" बहुजन के बल की बात ज्ञात है मुझे तुम्हारी,
सचमुच ऐसी बड़ी सफलता की बलिहारी ।
मेरी ही सब चमू इधर, मैं उधर अकेला,
उनके मातुल शल्य तुम्हारे हैं इस बेला ।
बहुमत का तुमको गर्व है तो उसकी भी जाँच हो,
मैं हूँ पार्थों की ओर से , कहाँ साँच को आँच हो ।"[४]

---

१. जयभारत, शांति संदेश, पृ० ३२४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३२५ ,,
३. ,, पृ०३२५ ,,
४. ,, पृ० ३२६ ,,

दुर्योधन ने संधि के प्रस्ताव को नहीं माना और रण को ही कलह का निर्णायक माना ।

श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि युद्ध में सब जूझें और मरें, इससे अच्छा है कि आप अर्जुन का एक प्रतिद्वन्द्वी चुन कर स्वयं निर्णय कर लीजिए । कृष्ण की यह बात सुनकर "मैं प्रस्तुत हूं ।" कह कर कर्ण तमक कर खड़ा हो गया । धृतराष्ट्र ने कर्ण को रोका और कहा कि चुनना मुझको है, तुमको नहीं । दुर्योधन ने कृष्ण के इस प्रस्ताव को भी नहीं माना ।

श्रीकृष्ण ने पाण्डवों द्वारा भेजे हुए संदेश को धृतराष्ट्र को सुनाया । उन्होंने कहा कि पाण्डवों ने कहलाया है —

" तात, आपके सुकृत सहायक हुए हमारे,
पूर्ण किए आदेश आपके हमने सारे ।
झेले बारह वर्ष दुःख दारुणतम वन में,
एक वर्ष फिर छिपे छिपे हम रहे भुवन में ।
उचितों को पद तो मिले यदि न पुरस्कृत कीजिए ,
अपने विशाल वात्सल्य में भाग हमारा दीजिए ।"[1]

× ×

किया गया बर्ताव निरंतर हमसे जैसा,
देखा अथवा सुना किसी ने है क्या वैसा ।

× ×

अब भीरु, कापुरुष और जो इच्छा हो, कहलीजिए,
पर कृपया लड़ने के लिए हमको विवश न कीजिए ।"[2]

धृतराष्ट्र और द्रोण आदि कह उठे कि यही मार्ग उचित है । श्रीकृष्ण ने कहा पाण्डवों को यदि आप प्यार से बुलाकर पांच गांव भी दे देंगे तो वे आभार

---

१. जयभारत, शान्ति-संदेश, पृ० ३२६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३२६-३३० (द्वितीय संस्करण)

मानेंगे । कृष्णा के यह कहने पर सभा में सन्नाटा छा गया । दुर्योधन ने व्यंग्य पूर्वक कहा —

" सात स्वरों के तीन ग्राम तो सभी कहीं हैं,
एक स्वर में पांच ग्राम ये सुने यहीं हैं ।
वे मेरे तनु के तत्व हैं, प्राण-संग ही जायगे,
रण-बिना सुई की नोक भर भूमि न पाण्डव पायेंगे ।"

< <

" लोग मुझे कुछ कहें, भीरु कायर न कहेंगे ,
हम सौ अथवा वही पांच अब यहां रहेंगे ।"[1]

इतना कह कर शठता के साथ वह सभा छोड़ कर चला गया ।

दुर्योधन के दुर्व्यवहार से दुःखी होकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा कि तुम गांधारी को बुलाओ, वही आकर दुर्योधन को समझाए । गान्धारी सभा में आई और —

बोली इसी प्रकार वहां आकर गांधारी,
" मैं भी हे गोविन्द अन्तत: अबला नारी ।
पाण्डुसुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी ,
एक एक पर बीस बीस की चाह हुई थी ।
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही,
क्या कर सकती हूं मैं भला, भर सकती हूं आह ही ।"[2]

इसी समय धृतराष्ट्र और गान्धारी ने कृष्णा से कहा कि आप हमारे घर आए और हम नेत्रहीन आपके दर्शन भी नहीं कर सके । श्रीकृष्णा ने एक क्षण के लिए दोनों के नेत्रों में ज्योति डाल दी और दोनों ने श्रीकृष्णा के दर्शन कर लिए । इसी समय दुर्योधन पुनः सभा में आया । उसे गुरुजनों ने समझाया परन्तु सब व्यर्थ गया । वह श्रीकृष्णा से बोला —

---

१. जयभारत, शान्ति संदेश, पृ० ३३२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३३३ ,,

..........अब शेष क्या रहा दूत का काम कुछ ?
हरि, आओ मेरे साथ तुम, लो भोजन-विश्राम कुछ ।"[१]

दुर्योधन के इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा —

" न मैं विपद में हूं न प्रेम का भाव तुम्हारा,
फिर कैसे स्वीकार करूं प्रस्ताव तुम्हारा ?
साधु विदुर के यहां रह रहा हूं मैं सुख से ,
सबसे बढ़कर वहां मेल है मन से मुख से ।"[२]

दुर्योधन कृष्ण से बोला कि मैं यदि तुम्हें यहीं पकड़ कर बांध लूं तो तुम क्या कर लोगे ? दुर्योधन यह बात सुनकर सात्यकी ने खड्ग खींच लिया परन्तु कृष्ण ने उन्हें रोका और दुर्योधन की ओर न जाने कैसे देखा कि वह कंपित सा हो गया —

" परिकर-समेत वह कांप कर वहीं लड़खड़ाता रहा"[३] उसे उसी दशा में छोड़कर कृष्ण विदुर के घर चले गए ।

दूसरे दिन कृष्ण कुन्ती के समीप गए । कुंती ने पाण्डवों के पास संदेश भेजा कि मानी को अपना सिर नहीं झुकाना चाहिए वरन युद्ध करना चाहिए —

" जीती हूं मैं तात, यही तुम उनसे कहना ।
आया वह अवसर आप यह, प्रस्तुत हो इसके लिए,
क्षत्राणी पीड़ा प्रसव की सहती है जिसके लिए ।"

x x

जीवन का यह प्रश्न मरण से भी न रुकेगा,
मानी का सिर कटे, कभी भय से न झुकेगा ।

---

१. जयभारत, शांति संदेश, पृ० ३३४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३३४ ,,
३. ,, पृ० ३३४ ,,

तुमने इतने दु:ख धर्म के पीछे झेले ,
उसका ही जो शेष, उसे भी वह झल ले ले ।"१

श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को समझाया कि जिसके जैसे कर्म होंगे, वह वैसी ही गति पाएगा । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने कर्ण से एकांत में बात की । श्रीकृष्ण ने कर्ण को बताया कि वह कुन्ती की कुमारावस्था का पुत्र है, अत: पाँचों पाण्डवों का बड़ा भाई है । कर्ण यह बात सुनकर सन्न रह गया । उसने हाथों से अपना मुख ढक लिया । कर्ण ने कुछ संभल कर कहा —

" जिसे नियति से नहीं स्वयं जननी ने त्यागा,
उससे बढ़कर और कौन है कहीं अभागा ?
ऐसे को भी संसार में अपनाने वाले मिले,
धरती ने झेल लिया उन्हें जो न नरक से भी झिले ।"

" हरे-हरे ! क्या आज आपने मुझे सुनाया ?
सब पाकर भी हाथ कहाँ कुछ मेरे आया ?
गौरव देकर मुझे दैव ने छीन लिया है,
तुमने आज कुलीन बनाकर दीन किया है ।
निश्चय मेरी गति तो वहीं मैं सब भाँति जहाँ चला ,
पर सहोदरों से जूझना, यह अभाग्य कैसा भला ?"२

कर्ण द्रौपदी के अपमान करने पर पश्चात्ताप करने लगा —

" मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज-वधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित्त मृत्यु के हाथ बिकाना ।
हे दैव, दैव को भी यहाँ मैं हो गया असाध्य-सा ,
अपनों ही राज्य-विरुद्ध अब लड़ने को हूँ वाध्य-सा । ३

---

१. जयभारत शांति संदेश, पृ० ३३५ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ०३३७-३३८ ,
३. ,, पृ० ३३८ ,

कर्ण ने कृष्ण से याचना की कि यह भेद की बात युधिष्ठिर न जानने पावें । यदि युधिष्ठिर यह भेद जान लेगा तो वह मेरे पैरों पर गिर कर यही कहेगा —

" मैं अनुज, तुम्हारा राज्य है, लो या दो चाहो जिसे ।"

परन्तु मैं यह कैसे कर पाऊंगा । अब मैं इतना आगे बढ़ चुका हूं कि पीछे हटने की कोई गति नहीं है ।

श्रीकृष्ण ने कहा कि तुमने युधिष्ठिर को ठीक पहचाना है । मैंने युधिष्ठिर को कहते सुना है —

" .... ' बुद्धि कुछ सकराती है,

देख कर्ण-पद मातृपदस्मृति हो आती है ।

हम पाँचों उसके सामने छोटे लगते हैं मुझे ,

पर खरे नहीं उसके वचन खोटे लगते हैं मुझे ।'[१]

कर्ण कृष्ण के समक्ष अपने को विवश पाते हैं ।

' जयभारत' की प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत के उद्योगपर्व में प्राप्त होते हैं । 'महाभारत' के अनुसार श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर गए और विदुर जी के पास ठहरे । दूसरे दिन दुर्योधन एवं शकुनि द्वारा बुलाए जाने पर श्रीकृष्ण रथ में बैठकर चले और कौरव-सभा में प्रवेश किया । वहां सबने श्रीकृष्ण का स्वागत किया तत्पश्चात कृष्ण ने आसन ग्रहण किया ।[२] जब सभा में सब राजा मौन होकर बैठ गए तब श्रीकृष्ण ने बोलना आरम्भ किया । कृष्ण ने गम्भीर वाणी द्वारा, धृतराष्ट्र की ओर देख कर कहा कि मैं आपसे यह प्रार्थना करने आया हूं कि क्षत्रियवीरों का संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित हो जाय । यदि कौरव कोई अनुचित आचरण करते हैं तो आप ही उन्हें रोक कर उचित मार्ग पर चला सकते हैं । दुर्योधन

---

१. जयभारत, शान्ति-सन्देश, पृ० ३३६ (द्वितीय संस्करण)

२. महाभारत,उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० ९४

आदि आपके पुत्र धर्म और अर्थ को पीछे करके क्रूर मनुष्यों के समान आचरण करते हैं। यदि आप चाहें तो इस भयानक विपत्ति का अब भी निवारण हो हो सकता है। दोनों पक्षों में संधि कराना आपके और मेरे आधीन है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रखिये और मैं पाण्डवों को नियंत्रण में रखूंगा।[1] इस प्रकार शान्ति और संधि का प्रस्ताव रखने के पश्चात श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि पाण्डवों ने आपके पास संदेश भिजवाया है कि आपकी आज्ञा से हमने बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा कर लिया है। पाण्डवों ने कहलाया है कि आप ही हमारे ज्येष्ठ पिता हैं। अत: आप हमारे विषय में की हुई अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहेंगे। अर्थात् वनवास से लौटने पर हमारा राज्य हमें लौटा देंगे। हम उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे और हमने वन-वास पूरा कर लिया। अब आप भी हमारे साथ की हुई प्रतिज्ञा पर डटे रहें। अब हमें हमारा राज्य प्राप्त होना चाहिए।[2]

श्रीकृष्ण के भाषण के पश्चात् परशुराम, कण्व मुनि तथा नारद मुनि ने भी दुर्योधन को समझाने के लिए प्राचीन कथाएं बताईं।[3] परन्तु दुर्योधन ने संधि के प्रस्ताव को अस्वीकार किया। तब धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण से दुखित होकर कहा कि दुर्योधन जो कुछ कर रहा है वह मुझे प्रिय नहीं है। शास्त्र का उल्लंघन करने वाले मेरे इस मूर्ख पुत्र को आप ही समझा बुझा कर राह पर लाने का प्रयत्न कीजिए।[4] तब श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाना आरम्भ किया। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को भांति भांति से उसकी त्रुटियां बताते हुए संधि करने के लिए समझाया।[5] तत्पश्चात भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्र ने भी दुर्योधन को समझाया।[6] परन्तु दुर्योधन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, भगवद्यान पर्व, अ० ६५, श्लोक १-१३
२. ,, ,, अ० ६५, श्लोक ४०-४३
३. ,, ,, अ० ६६-१२३
४. ,, ,, अ० १२४ श्लोक १-६।
५. ,, ,, अ० १२४ श्लोक ८।।
६. ,, ,, अ०१२५.१२६

दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप तो मुझी को दोषी बता कर मेरी निन्दा कर रहे हैं। मैं देखता हूं कि आप, विदुर जी, पिता जी, आचार्य भीष्म सभी मुझी पर दोषारोपण कर रहे हैं।[1] परन्तु मुझे अपना एक भी दोष अथवा अपराध नहीं दिखाई देता। मैं तो युद्ध को क्षत्रियों का धर्म मानता हूं। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्ण को तो देवता भी युद्ध में नहीं जीत सकते फिर पाण्डवों की तो बात ही क्या है? हमारा तो धर्म है ही कि संग्राम में हमें बाण-शय्या पर सोने का अवसर प्राप्त हो। अच्छे कुल वाला कौन ऐसा क्षत्रिय होगा जो इस प्रकार भय के कारण शत्रु के समक्ष मस्तक झुकाएगा? मेरे पिता जी ने पूर्वकाल में जो राज्य भाग मेरे अधीन किया है, उसे कोई मेरे जीते जी फिर कदापि नहीं पा सकता। पहले जब पाण्डवों को राज्य का अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था, परन्तु उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अत: अज्ञानवश उन्हें कुछ दे दिया गया था। उसे अब पाण्डव पुन: नहीं पा सकते। इस समय, मेरे जीवित रहते पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता जितना कि एक बारीक सूई की नोक से छिद सकता है।[2]

दुर्योधन के मुख से ऐसी बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने उसे फटकारा। दुर्योधन कुपित होकर सभा से बाहर चला गया। उसके पीछे उसके सभी भाई आदि भी चले गए।[3] यह देखकर श्रीकृष्ण ने सभा में उपस्थित धृतराष्ट्र तथा अन्य कुरु कुल के बड़े बूढ़ों से कहा कि आप सबका यह महा अन्याय है कि आपने लोगों ने इस मूर्ख दुर्योधन को राजा के पद पर बैठा दिया और अब इसका बलपूर्वक नियंत्रण भी नहीं कर रहे हैं। श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि आप दुर्योधन को कैद करके पाण्डवों से संधि कर लें। ऐसा न हो कि आपके कारण

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १२७, श्लोक १-६

२. ,, ,, अ० १२७, श्लोक १४-२५

३. ,, ,, अ० १२८ , श्लोक १-२८

समस्त क्षत्रियों का विनाश हो जाय ।[१] श्रीकृष्ण का यह कथन सुन कर धृतराष्ट्र ने विदुरजी से शीघ्रतापूर्वक गांधारी को बुलाने के लिए कहा । गांधारी सभा में आई और उन्होंने दुर्योधन को सभा में बुलाया । दुर्योधन के आने पर गांधारी ने उसे भांति-भांति से समझाया और पाण्डवों से सन्धि करने के लिए कहा ।[२] परन्तु दुर्योधन माता के उपदेशों का अनादर करके पुन: क्रोधित होकर सभा से चला गया । बाहर जाकर उसने, कर्ण, शकुनि तथा दु:शासन के साथ कुमंत्रणा की और यह निश्चय किया कि श्री श्रीकृष्ण को बंदी बना लिया जाय ।[३] सात्यकी ने किसी भांति इन लोगों की मंत्रणा को समझ लिया । उन्होंने सभा में जाकर कौरवों का अभिप्राय धृतराष्ट्र और विदुर को बताया । विदुर जी ने धृतराष्ट्र को उनके पुत्रों की कुमंत्रणा के लिए धिक्कारा । तब श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं चाहूं तो अभी कौरवों तथा उनके अनुगामियों को अभी कैद करके पाण्डवों को सौंप दूं । परन्तु मैं क्रोध से कोई कार्य नहीं करना चाहता । यह दुर्योधन जैसा चाहता है, वैसा ही हो । मैं आपके सभी पुत्रों को इसके लिए आज्ञा देता हूं ।[४] यह सुन कर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाने के लिए पुन: विदुर द्वारा बुलवाया । दुर्योधन के पुन: सभा में आने पर धृतराष्ट्र ने उसे समझाया ।[५] विदुर जी ने भी दुर्योधन को समझाया । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से कहा कि तू मोहवश[६] मुझे अकेला मान रहा है और मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता हो तो यह तेरा अज्ञान है । यह कह कर श्रीकृष्ण ने सभा में अपना विश्वरूप प्रकट कर दिया ।[७] श्रीकृष्ण

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १२८, श्लोक ३४,५०
२. ,, ,, अ० १२९ श्लोक १६-५४
३. ,, ,, अ० १३०, श्लोक १-८
४. ,, ,, अ० १३०, श्लोक १०-२६।।
५. ,, ,, अ० १३०, श्लोक ३५-३६
६. ,, ,, अ० १३०, श्लोक ४१-५३
७. ,, ,, अ० १३१, श्लोक ९-१२

के उस भयंकर रूप को देख कर समस्त राजा भयभीत हो गए । उस समय धृतराष्ट्र ने कृष्ण से कहा कि मैं आपके दर्शन करने के लिए आपसे नेत्र मांगता हूं । आप के अतिरिक्त मैं और किसी को नहीं देखना चाहता । श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायं । श्रीकृष्ण के ऐसा कहते ही धृतराष्ट्र को दो नेत्र प्राप्त हो गए । यह देख कर सभा में उपस्थित सभी राजा आश्चर्य चकित हो गए । तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने अपना सब दिव्य, अद्भुत और विचित्र ऐश्वर्य समेट लिया और सत्यकी तथा कृतवर्मा के साथ सभा भवन से चल दिए ।[१]

वहां से चलकर श्रीकृष्ण कुंती के पास आए और कौरव सभा में जो कुछ हुआ था, वह सब कह सुनाया ।[२] फिर श्रीकृष्ण के पूछने पर कुंती ने पाण्डवों से कहने के लिए संदेश दिया । कुंती ने पाण्डवों के लिए कहलाया कि पाण्डवों का पैतृक राज्य भाग शत्रुओं के हाथ में पड़ कर लुप्त हो गया है । पाण्डवों को साम, दान, भेद अथवा दण्ड-नीति से पुन: उसका उद्धार करना चाहिए । अत: पाण्डवों को राजधर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए । कायर बन कर अपने पूर्वजों का नाम नहीं डुबोना चाहिए और पुण्य से वंचित होकर पापमयी गति को नहीं प्राप्त होना चाहिए ।[3] तत्पश्चात् कुंती ने विदुलो-पाख्यान सुनाया।[४] अन्त में कुंती ने श्रीकृष्ण से कहा कि अर्जुन के जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि मेरा यह पुत्र श्रीकृष्ण के साथ रहकर इस भू-मण्डल को जीत लेगा । मैं सोचती हूँ मेरे पुत्र अवश्य विजयी होंगे । तुम अर्जुन और भीम से जाकर कहना कि क्षत्राणी जिसके लिए पुत्र को जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । श्रेष्ठ मनुष्य किसी से वैर ठन जाने पर उत्साहहीन नहीं होते ।[५] इस प्रकार कुन्ती द्वारा पाण्डवों के लिए संदेश लेकर श्रीकृष्ण नगर से निकले और कर्ण के साथ कुछ देर बातचीत की । श्रीकृष्ण ने

---

१. महाभारत, उद्योगपर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १३१, श्लोक १३-२४
२. ,, ,, अ० १३२, श्लोक १
३. ,, ,, अ० १३२, श्लोक ३२,३४
४. ,, ,, अ० १३३-१३६
५. ,, ,, अ० १३७, श्लोक१-४,१०

कर्ण को बताया कि वह कुंती का पुत्र है और पाँचों पाण्डवों से ज्येष्ठ है। श्रीकृष्ण ने कर्ण को पाण्डवों के पक्ष में आ जाने के लिए भी समझाया।[१] कर्ण ने कृष्ण की बात सुनकर कहा कि अवश्य ही मैं पाण्डु का ही पुत्र हूँ परन्तु कुंतीदेवी ने मुझे इस प्रकार त्याग दिया था कि मैं जीवित नहीं रह सकता था। अधिरथ नामक सूत ने मेरा लालन-पालन किया। मैं उन्हें अपना पिता मानता हूँ। अधिरथ ने मेरे विवाह सूत जाति की कन्याओं से कराए हैं और मैंने दुर्योधन का सहारा पाकर धृतराष्ट्र कुल रहते हुए तेरह वर्षों तक अकाट्य राज्य का उपभोग किया है। अब दुर्योधन ने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवों के साथ विग्रह करने का साहस किया है। मुझे ही उसने अर्जुन का सामना करने के लिए चुना है। अत: इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभ से ही दुर्योधन के साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता। इसमें संदेह नहीं कि आप ने मेरे हित के लिए ही सब बातें कहीं हैं, परन्तु मैं अब विवश हूँ। कर्ण ने श्रीकृष्ण से कहा कि मेरे कुन्ती-पुत्र होने की बात आप युधिष्ठिर से न कहियेगा। अन्यथा वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे। मैं यह चाहता हूँ कि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही राजा बनें।[२] श्रीकृष्ण ने कर्ण से कहा कि पाण्डवों की विजय निश्चय ही होगी।[३]

'जयभारत' में कौरव सभामें दुर्योधन श्रीकृष्ण से अपने घर चलने और आतिथ्य करवाने के लिए कहता है। परन्तु श्रीकृष्ण उसके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं और इसका कारण यह बताते हैं —

" न मैं विपद में हूँ न प्रेम का भाव तुम्हारा,
फिर कैसे स्वीकार करूँ प्रस्ताव तुम्हारा ?
साधु विदुर के यहाँ रह रहा हूँ मैं सुख से।
सबसे बढ़ कर वहाँ मेल है मन से मुख से।"[४]

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अध्याय, १४०
२. ,, ,, , अध्याय १४१, श्लोक १५-२
३. ,, ,, अध्याय १४२
४. जयभारत, शांति-संदेश, पृ० २३४ (द्वितीय संस्करण)

`महाभारत` में भी श्रीकृष्ण सभा में कौरव के सत्कार और आतिथ्य के विषय में ऐसा ही उत्तर देते हैं। वे कहते हैं —

> सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
> न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ।। २५ ।।[1]

अर्थात् किसी के घर का अन्न या तो प्रेम के कारण भोजन किया जाता है या आपत्ति में पड़ने पर। नरेश्वर ! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्ति में हम नहीं पड़े हैं।

`जयभारत` में शान्ति-सन्देश शीर्षक के अन्तर्गत जो अन्तर्कथा वर्णित है उसके मूल स्रोत महाभारत के उद्योगपर्व के अध्याय ९४ से अध्याय १४२ तक प्राप्त होते हैं। महाभारत की इस कथा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में गुप्त जी ने `जयभारत` में वर्णित किया है।

`महाभारत` में कौरव-सभा के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के भाषण के पश्चात् परशुराम ने भाषण किया और दम्भोद्भव की कथा द्वारा नर-नारायण स्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्ण का महत्व बताया।[2] यह वर्णन `जयभारत` में नहीं है। `महाभारत` में परशुराम के पश्चात् कण्व मुनि ने भी दुर्योधन को संधि के लिए समझाते हुए मातलि का उपाख्यान बताया। कण्व मुनि के उपदेश की अवहेलना भी दुर्योधन करता है।[3] यह प्रसंग भी `जयभारत` में नहीं वर्णित है। `महाभारत` में कौरव सभा के अन्तर्गत नारद जी ने भी दुर्योधन को समझाया और उदाहरण के लिए धर्मराज द्वारा विश्वामित्र जी की परीक्षा तथा गालव के विश्वामित्र से गुरु दक्षिणा मांगने के लिए हठ का वर्णन किया।[4] `जयभारत` में यह प्रसंग भी नहीं लिया गया है।

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० ९१ , श्लोक २५
२. ,, ,, अ० ९६
३. ,, ,, अ० ९७-१०४
४. ,, ,, अ० १०६-१२३

'महाभारत' में धृतराष्ट्र के कहने पर श्रीकृष्ण दुर्योधन को समझाते हैं।[१] परन्तु 'जयभारत' में जब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से बात करते रहते हैं तब बीच में दुर्योधन बोल उठता है। 'महाभारत' में भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्र भी दुर्योधन को समझाते हैं।[२] परन्तु 'जयभारत' में ऐसा वर्णन नहीं है। जयभारत में एक ही वाक्य में लिखा है कि 'गया व्यर्थ ही उसे गुरुजनों का समझाना।[३]

'महाभारत' में दुर्योधन श्रीकृष्ण कृष्ण को छिप कर बांधने का षड्यंत्र करता है।[४] परन्तु 'जयभारत' में वह साफ-साफ कृष्ण से कहता है --

" क्या कर लो तुम यदि पकड़ कर तुम्हें बांध लूं मैं यहीं।"[५]

दुर्योधन की ऐसी इच्छा देखकर 'महाभारत' में श्रीकृष्ण सभा के भीतर अपना विराट रूप दिखाते हैं जिसे देख कर सभा में उपस्थित सभी व्यक्ति था दुर्योधन भयभीत हो जाते हैं।[६] परन्तु 'जयभारत' में श्रीकृष्ण अपना विराट रूप नहीं दिखाते वरन दुर्योधन की ओर इस प्रकार से देखते है जिससे वह भयभीत और कंपित हो जाता है।[७]

'महाभारत' और 'जयभारत' दोनों में ही कुंती श्रीकृष्ण के द्वारा पाण्डवों के पास संदेश भेजती है। परन्तु 'महाभारत' में इस अवसर पर वह विदुलोपाख्यान सुनाती है।[८] 'जयभारत' में ऐसा नहीं है।

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १२४
२. ,, ,, अ० १२५
३. जयभारत, शान्ति संदेश, पृ० ३३४
४. महाभारत , उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १३०
५. जयभारत, शान्ति संदेश, पृ० ३३४
६. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १३१
७. जयभारत, शान्तिसंदेश, पृ० ३३४
८. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १३३

गुप्त जी ने मूल कथा के अन्तर्गत असंगत या असंभव प्रतीत होने वाले प्रसंगों और घटनाओं को युगोचित बनाने तथा अधिक बुद्धिसंगत बनाने के लिए स्थान स्थान पर सम्बद्ध पात्रों के द्वारा आत्मग्लानि और पश्चाताप को मार्मिक ढंग से व्यक्त करवाया है। 'महाभारत' में ऐसे पात्र शोक और पश्चाताप तो करते हैं परन्तु आत्मग्लानि की पीड़ा का अनुभव नहीं करते। इस कारण पाठक की मनस्तुष्टि करने में वे सफल नहीं होते। प्रस्तुत अन्तर्कथा के अन्तर्गत द्रौपदी के अपमान में अपना हाथ होने के कारण कर्ण को मनस्ताप हुआ और वह अपने ऊपर खीझ कर आत्मग्लानि से व्यथित होकर कहता है—

" मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज वधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित मृत्यु के हाथ बिकाना।"[१]

कृष्ण के द्वारा कर्ण के जन्म का वृत्तान्त समझाने पर कर्ण के ऊपर मार्मिक प्रभाव पड़ा। कवि ने इस अवसर पर उसके आत्मक्षोभ की व्यंजना की है। कर्ण यह नहीं चाहता कि यह रहस्य युधिष्ठिर पर प्रकट हो, क्योंकि

जाय न यों ही धर्म-राज्य वह आया-आया,
किसने कहाँ अजातशत्रु का क्षत-पद पाया?"[२]

गुप्त जी ने दुर्योधन की अनीति से दुःखी धृतराष्ट्र और गांधारी के द्वारा भी पश्चाताप तथा आत्मवेदना को प्रकट करवाया है। दुर्योधन की हठधर्मिता से खिन्न होकर धृतराष्ट्र और गांधारी अपने भाग्य को बारम्बार कोसते हैं। गांधारी तो दुर्योधन जैसा दुष्ट पुत्र पैदा करके अपनी पुत्रैषणा को धिक्कारती हुई कृष्ण से कहती है —

" मैं भी गोविन्द अन्ततः अबला नारी।
पाण्डु सुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी,

---

१. जयभारत, शान्ति-संदेश, पृ०३३८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३३६

एक एक पर बीस बीस की चाह हुई थी ।
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही ।
क्या कर सकती हूं मैं भला , भर सकती हूं आह ही ।"[१]

३८. कुंती और कर्ण

प्रस्तुत अन्तर्कथा में कुंती और कर्ण का वार्तालाप वर्णित है जिसमें कुंती कर्ण को बताती है कि वह उसका पुत्र है और पाण्डवों का ज्येष्ठ भ्राता है । कुन्ती युद्ध को अवश्यम्भावी जानकर व्याकुल हो उठी और कर्ण को उसके जन्म का रहस्य बतला कर पाण्डवों के पक्ष में हो जाने की याचना करने उसके पास गई । कर्ण ने स्नान करके ज्यों जल से निकले तो सामने कुंती को देखा । कुंती को देखकर वह चौंक उठा और उसने सोचा कुंती की याचना तो इन्द्र की याचना से भी कठिन होगी । कर्ण ने कुंती से कहा कि आपको राधा का पुत्र नमस्कार करता है । कुंती ने कहा कि तू कुंती का पुत्र है । कर्ण ने कहा कि वह सब मुझे श्रीकृष्ण द्वारा मालूम हुआ है । परन्तु उससे क्या ? मेरी संदिग्ध जातता तो अब विख्यात हो चुकी है ।

कुंती ने भांति भांति से कर्ण को समझाया और युद्ध में कौरवों का पक्ष न लेने के लिए कहा । परन्तु कर्ण ने अपनी विवशता प्रकट की और कहा कि वह दुर्योधन को वचन दे चुका है । तब कुंती ने कहा कि क्या तू उसे सुसम्मति देकर विग्रह को नहीं रोक सकता ? कर्ण ने कहा कि दुर्योधन का मन मैं मोड़ नहीं सकता । कर्ण ने कुंती के सामने यह प्रतिज्ञा की कि वह युद्ध में केवल अर्जुन से ही युद्ध करेगा । अत: अर्जुन और कर्ण में से एक मारा जायगा और एक जीवित रहेगा । अन्त में कर्ण ने कुंती से यही कहा--

" दो मुझको पदधूलि , तुम्हें मैं दे न सका माँ, मनचाहा ।" [२]

कुंती का आकुल वात्सल्य बह उठा --

---

१. जयभारत, कुंती और कर्ण, पृ० ३४४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३४४ ,,

" जैसे तू जाने, राधा पर प्रीति प्रकट करना मेरी,
मैं दु:खिनी देवकी-सी हूं, वही यशोदा मां तेरी ।"[१]

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' में उपलब्ध होते हैं । 'महाभारत' के अनुसार युद्ध के भावी दुष्परिणाम से व्यथित होकर कुंती बहुत सोच-विचार के पश्चात् कर्ण के समीप जाती है । कुंती गंगा के तट पर जाती है । कर्ण वहां स्नान करके वेदपाठ कर रहा था । वेदपाठ समाप्त करके कर्ण जब पीछे घूमा तो कुंती को देखकर उसने प्रणाम किया[२]। कुंती ने कर्ण को अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डव पक्ष में मिल जाने का अनुरोध किया ।[३] इसी समय सूर्यमण्डल से सूर्यदेवता की वाणी हुई कि हे कर्ण तुझे माता का कहना मानना चाहिए, इससे ही तेरा भला होगा ।[४] माता के समझाने और सूर्यदेवता की वाणी के द्वारा भी कर्ण की बुद्धि विचलित न हुई । कर्ण ने कुंती से कहा कि तुमने माता होते हुए भी मेरे साथ जो अत्याचार किया है वह बहुत कष्टदायक है । तुमने मुझे जल में फेंक दिया था जोकि मेरे यश और कीर्ति का नाशक बन गया । यद्यपि मैं क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुआ था फिर भी तुम्हारे कारण क्षत्रियोचित संस्कारों से वंचित रह गया । जब मेरे लिए कुछ करने का अवसर था, उस समय तो तुमने मेरे ऊपर दया नहीं दिखाई, और आज जब मेरे संस्कारों का समय बीत गया है तो तुम मुझे क्षात्रधर्म की ओर प्रेरित करने चली हो । पहले तुमने कभी माता के समान मेरे हित की चिन्ता नहीं की, आज अपने हित की इच्छा से मुझे मेरे कर्तव्यों का उपदेश दे रही हो । दूसरे, यदि आज मैं पाण्डवों के पक्ष में हो जाऊं तो लोग यही समझेंगे कि मैं अर्जुन से भयभीत होकर अपने कर्तव्यों से च्युत हो रहा हूं । फिर

---

१. जयभारत, कुंती और कर्ण, पृ० ३४४ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, उद्योग पर्व भगवद्यान पर्व, अ० १४४
३. ,, ,, अ० १४५
४. ,, ,, अ० १४६, श्लोक १,२

धृतराष्ट्र के पुत्रों ने मुझे सुखपूर्वक रखा है, मेरा सम्मान किया है और मुझे मनोवांछित वस्तुएं दी हैं, अतः मैं उनके उपकार को कैसे निष्फल कर सकता हूं।[१] परन्तु तुम्हारे चार पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव को मैं युद्ध में नहीं मारूंगा। केवल अर्जुन के साथ ही मेरा युद्ध होगा। या तो अर्जुन को युद्ध में मार कर मुझे संग्राम का फल प्राप्त हो जायगा, या मैं ही अर्जुन के हाथों मारा जाकर यश का भागी बनूंगा। फिर भी किसी भी दशा में तुम्हारे पांच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गए तो कर्ण सहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुन सहित तुम्हारे पांच पुत्र रहेंगे। कर्ण की यह बात सुनकर कुंती ने कहा कि तुमने चार भाइयों को अभयदान दिया है। युद्ध में उन्हें छोड़ देने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना। कर्ण ने 'तथास्तु' कह कर कुंती की बात मान ली।[२]

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के उद्योगपर्व के 'भगवद्यानपर्व' में प्राप्त होते हैं।

गुप्त जी ने प्रस्तुत अन्तर्कथा में आधार-ग्रन्थ से कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। फिर भी 'महाभारत' की अपेक्षा 'जयभारत' के कर्ण और कुन्ती तर्कशील हैं। 'महाभारत' के कर्ण का चरित्र अधिक कठोर प्रतीत होता है।

'महाभारत' के अनुसार कुंती द्वारा कर्ण को समझाए जाने पर सूर्य देवता आकाशवाणी करते हुए कर्ण से कहते हैं कि वह अपनी माता कुंती की बात मान ले।[३] 'जयभारत' में सूर्य द्वारा कर्ण को कोई आदेश नहीं दिया गया है।

प्रस्तुत अन्तर्कथा को कवि ने आधार ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक बुद्धि संगत बनाया है और युगोचित सामंजस्य लाने के लिए कुंती के पश्चात्ताप को महर्षि व्यास से कहीं अधिक दिखाया है। अपने पुत्र कर्ण के प्रति अपराधिनी कुंती की आत्मग्लानि तो सचमुच उसे पश्चात्ताप की वह्नि से संतप्त करके भस्म सा किए डाल रही है। कुंती का रुदन-स्वर अश्रु से सिक्त होकर इतना अधिक करुण हो उठा है कि पाठक की समवेदना उस पर क्षमा की वर्षा सी करने लगती है।

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यान पर्व, अ० १४६, श्लोक ५-११
२. ,, ,, अ० १४६, श्लोक २०-२७

कुंती स्वयं अपने को `नागिन` कह कर कर्ण के प्रति अपने दुर्व्यवहार को स्वीकारती है । यथा —

" देवी नहीं, न आर्या ही हूं , मैं नागिन-सी जननी हूं ,
सबसे ऊंचा पद पाकर भी स्वयं स्वगौरव हननी हूं ।"
मां से मां न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र, वह गाली है,
किन्तु दोष दूं कैसे तुझको जो स्वकर्म गुणशाली है ।"[१]

`महाभारत` में कुंती की व्यथा और ग्लानि इतनी प्रमुखता नहीं पा सकी है । यह गुप्त जी की लेखनी की ही विशेषता है कि `साकेत` की कैकेयी की भांति `महाभारत` की कुंती की आत्मग्लानि को व्यक्त करा कर उसके साथ सचमुच न्याय किया है । कवि ने कुंती के साथ साथ कर्ण के अदम्य पर पौरुष, एकनिष्ठ स्वामिभक्ति, उदारता और विवेक-बुद्धि आदि की अभिव्यक्ति की है ।

३६. अर्जुन का मोह

`जयभारत` के अनुसार जब कौरव और पाण्डव दोनों ओर की सेनाएं सुसज्जित होकर आ गईं तो अर्जुन ने कौरवों की सेना की ओर दृष्टि डाली और उन्हें भीष्म पितामह गुरु द्रोणाचार्य तथा अन्य स्वजन दिखाई दिए । इनके ही साथ युद्ध करना है, यह सोच कर अर्जुन की उमंग बैठने लगी । श्रीकृष्ण से कह उठे कि इन्हें मैं कैसे मारूं ?

" स्वजन-सम्बन्धी ये ऐसे
रण्य शर-लक्ष्य बनें कैसे ?
भतीजों सहित बड़े भाई,
कुमति ही क्यों न इन्हें लाई ।
ससुर-साले हैं, मामा हैं,
सुपरिचित सब सुखनामा हैं ।

१. जयभारत, कुन्ती और कर्ण, पृ० ३४१ (द्वितीय संस्करण)

मिला भी इन्हें मार कर राज्य,
हरे, तो वह है हमको त्याज्य ।"

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि अनुपयुक्त समय पर अर्जुन को मोह घेर रहा है, तो उन्होंने अर्जुन को समझाना आरम्भ किया । यथा—

" विषम वेला में तुझको ओह !
कहाँ से आया यह व्यामोह ?
न इसमें स्वर्ग न कीर्ति न मान,
नहीं अर्यांचित यह अज्ञान ।

< <

करेगा यदि तू यहाँ प्रमाद ,
पायगा तो अधर्म- अपवाद ।

< <

हुआ यदि विजयी रण-पण पाल ,
भूमि भोगेगा तू चिरकाल ।
मरा तो स्वर्ग-विहार अखण्ड,
वीर उठ, और उठा कोदण्ड ।"[२]

अर्जुन अपने कर्तव्य का निश्चय नहीं कर पा रहे थे । उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा —

" कुलक्षय से कुल-धर्म विनष्ट,
और कुल वधुएं होंगी भ्रष्ट ।
हरे मैं कैसे आज तर्क ,
उन्हें मारूं या आप मरूं ?
कहूं क्या, तुम्हीं कहो हे देव !
भक्त पर निठुर न हो हे देव !
त्याग स्वजनों का जनोपयोग

---

१ - जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३६१ (द्वितीय संस्करण)

भला है भव में भिक्षा-भोग ।
न होगा मुझसे तो यह युद्ध ।"[१]

श्रीकृष्ण ने पुन: अर्जुन को समझाते हुए कहा -
धनंजय, मत हो तू यों दीन,
हीनता हिंसा से भी हीन ।

x x

न होने दे निज बुद्धि अशुद्ध ,
समझ शस्त्रोपचार यह युद्ध ।"[२]

अर्जुन ने फिर भी अपनी असमर्थता दिखाते हुए कहा -
" समझ में आती है यह बात,
किन्तु हा ! फिर भी ऐसा घात ।
राज्य भोगूं कैसे रक्ताक्त ?
बनूं मैं कैसे ऐसा शाक्त ?
सरल पथ मुझे दिखाओ, तुम,
शिष्य हूं शरण शिखाओ तुम ।"[३]

श्रीकृष्ण ने अब अर्जुन को कर्म का उपदेश देना आरंभ किया । यथा-
" विगुण-सा भी स्वधर्म धरणीय,
तुझे तो महत् कर्म करणीय ।
कर्म का ही तुझको अधिकार,
न कर तू फल का सोच-विचार ।"
कर्म से कौन हो सका मुक्त ,
प्रकृति कर देती तुझे नियुक्त ।

x x

---

१. जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३६१ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३६२ ,,
३. ,, पृ० ३६३ ,,

युक्ति है यही एक अभिराम ,
कर्म कर तू होकर निष्काम ।"[१]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीव की अमरता तथा जन्म और मरण का भेद बताते हुए कहा —

" यहाँ आता सो जाता है,
गया सो फिर भी आता है ।
परस्पर जन्म-मरण-परिणाम,
सोच का कष्ट, इसमें क्या काम ?
मारने वाला जो जाने,
और जो इसे मरा माने
उभय वे हैं अनजान अतीव ।
न मरता है न मारता जीव ।
सर्वथा मरने को है देह,
अमर हैं आत्मा निस्सन्देह ।
नित्य हैं प्राण , अनित्य शरीर ,
युद्ध कर निर्भय होकर वीर ।"[२]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तुम पहले स्वयं को स्थिर कर लो । श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा —

" आपको स्थिर कर तू पहले,
एक-सा हर्ष शोक सह ले ।
तुष्ट जो अपने में रहते
उन्हीं को स्थितप्रज्ञ कहते ।
त्याग कर मन के सारे काम,
वही होते हैं आत्माराम ।

---

१. जय भारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३६३ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, पृ०३६४ ,,

किसी से जिन्हें नहीं है मोह ,
नहीं है जिन्हें किसी से द्रोह ,
रहें जो राग-रोष-भय-हीन,
वही हैं स्थित प्रज्ञ स्वाधीन ।"[१]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट (विश्वविश्व) रूप दिखाना चाहा । उन्होंने अर्जुन से अपनी ओर देखने के लिए कहा । अर्जुन ने ज्यों ही श्रीकृष्ण की ओर दृष्टि डाली तो एक अद्भुत सृष्टि ही दीख पड़ी । अर्जुन उस दृश्य को देखकर विस्मित और भयभीत हो गए । उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा-

" विभो, यह रूप विलक्षण वाम,
जानता नहीं, धरूं क्या नाम ।"[२]

तब कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा -

" काल मैं सबका भक्षक हूं,
यहां भी तेरा रक्षक हूं ।
व्यर्थ की चिंता मत कर तू ,
भोग निज राज्य विजय वर तू ।"[३]

श्रीकृष्ण के इस प्रकार समझाने पर अर्जुन ने उनसे कहा कि आप अपने इस रूप का संवरण कर लीजिए और मुझपर अनुकूल रहिए ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा -

" भक्त जो मेरा प्यारा है,
नहीं तू मुझसे न्यारा है ।
तभी तो है तूने हेरा,
पार्थ, यह विश्वरूप मेरा ।

---

१. जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३६५ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३६७ ,,
३. ,, ,, पृ० ३६७ ,,

छोड़ कर तू सब धर्म विवेक
शरण में आ जा मेरे एक ।
स्वस्थ हो, मैं तेरा हूंगा,
मुक्ति सब पापों से दूंगा ।"[१]

अब अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हो गए और उनके मन से व्यर्थ का मोह लुप्त हो गया । यथा -

" प्रभो क्या इष्ट और जन को,
न भूलूं इस आश्वासन को ।
और क्या समझूं - बूझूंगा,
स्वस्थ मन से ही जूझूंगा ।"[२]

अर्जुन का मोह भंग होते देखकर श्रीकृष्ण भी हंसपड़े -

" भक्त का हुआ मोह जो भंग
हंसे रस सौम्य रूप श्रीरंग ।"[३]

इसी क्षण युधिष्ठिर कौरव सेना की ओर गए । युधिष्ठिर को कौरवों की ओर बढ़ते देख कर दोनों पक्षों के व्यक्ति चौंके । युधिष्ठिर भीष्म के पास गए और उनके चरणों में झुके । युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा -

आज्ञा हो तात,
करें अब हम सब यह संघात ।
युद्ध का अविनय ही आधार
क्षमाप्रार्थी मैं बारंबार ।"[४]

भीष्म ने युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हुए कहा -

---

१. जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३६८ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ३६८ ,,
३. ,, ,, पृ० ३६९ ,,

जयी हो वत्स, बनूं मैं जेय ।
प्रथम ही हीन भावना जीत,
उठे तुम ऊँचे , बढ़ो विनीत ।"[१]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने जाकर गुरु द्रोणाचार्य से भी आशीर्वाद प्राप्त किया । द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से कहा —

" विवश मैं, जन हा ! धन का दास,
जयी हो तुम, रक्खो विश्वास ।"[२]

युधिष्ठिर कृपाचार्य के पास गए । कृपाचार्य ने भी आशीर्वाद देते हुए कहा —

" मुझे बांधे है इनकी डोर ,
स्वस्ति है किन्तु तुम्हारी ओर ।"[३]

शल्य ने भी युधिष्ठिर को आशीर्वाद दिया और कहा —

" लिया मैंने निज भाग्य सहेज,
हरूंगा किन्तु कर्ण का तेज ।"[४]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर लौट कर अपने दल में आ गए और इस प्रकार बोले —

" सुनो सब जय है हरि के साथ,
जिस ओर हरि सदा हमारे साथ ।
जिसे आना हो अब भी आव,
धर्म की ओर इधर हो जाव ।"[५]

---

१. जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० २६६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० २७० ,,
३. ,, पृ० २७० ,,
४. ,, पृ० २७० ,,
५. ,, पृ० २७० ,,

युधिष्ठिर की यह पुकार सुनकर सब शान्त रहे, केवल युयुत्सु कौरव पक्ष से निकल कर युधिष्ठिर के पास आ गया। युधिष्ठिर ने प्रसन्न होकर युयुत्सु से कहा —

" बन्धु, तुम एक बहुत हमको,
शेष शत तो अर्पित यम को।
दीखती है निश्चित यह बात,
तुम्हीं से तर्पित होंगे तात।"[1]

इसके पश्चात युद्ध का आरम्भ हो गया।

'महाभारत' के अनुसार युद्ध के लिए तत्पर अर्जुन ने जैसे ही कौरव सेना की ओर देखा तो उन्हें भीष्म, गुरु तथा सभी सम्बन्धी दिखाई पड़े। युद्ध के ~~भीष्म~~ लिए उपस्थित समस्त बंधु-बान्धवों को देखकर अर्जुन करुणा से युक्त होकर श्रीकृष्ण से बोले कि युद्ध के लिए तत्पर अपने सम्बन्धियों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है। युद्ध में स्वजनों को मार कर विजय पाने से क्या लाभ होगा ?[2] अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा —

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३२।।[3]

अर्थात् हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है ?

असमय में अर्जुन के मोह को देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित किया और नित्यानित्य वस्तु के विवेचन पूर्वक सांख्यायोग, कर्मयोग,

---

१. जयभारत, अर्जुन का मोह, पृ० ३७१ (द्वितीय संस्क०)
२. महाभारत, भीष्मपर्व, श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २५
३. ,, ,, अ० २५ श्लोक ३२

एवं स्थितप्रज्ञ की स्थिति और महिमा का प्रतिपादन किया।[१] श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा कि तुम्हें असमय में यह मोह क्यों हुआ ? न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला है। हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर तू युद्ध के लिए खड़ा हो जा।[२] श्रीकृष्ण ने बड़े विस्तार पूर्वक अर्जुन से ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनों के अनुसार कर्तव्य कर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया।[३] सगुण भगवान के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग की महिमा का वर्णन किया।[४] भगवान् की व्यापकता तथा अन्य देवताओं की उपासना का महत्व बताया।[५] अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में सात प्रश्न किए। श्रीकृष्ण ने उनका उत्तर दिया।[६] अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का और योगशक्ति का पुन: वर्णन किया।[७] अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपने विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने जब अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया तो अर्जुन भयभीत हो गए।[८] अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि मैं पुन: आपके चतुर्भुज रूप को देखना चाहता हूं। श्रीकृष्ण ने अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया और अर्जुन को धीरज बंधाया।[९] तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का वर्णन किया, भगवत्प्राप्ति के उपाय का वर्णन किया।[१०] इसके पश्चात् भगवान ने ज्ञान सहित

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २६,
२. ,, ,, अ० २६, श्लोक २,३
३. ,, ,, अ० २७
४. ,, ,, अ० २८
५. ,, ,, अ० ३१
६. ,, ,, अ० ३२
७. ,, ,, अ० ३४
८. ,, ,, अ० ३५
९. ,, ,, अ० ३५ श्लो० ४९,५१
१०. ,, ,, अ० ३६

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति पुरुष का वर्णन किया,[१] ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत की उत्पत्ति का वर्णन किया,[२] संसार वृक्ष का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का, जीवात्मा का, प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम के तत्व का वर्णन किया ।[३] श्रीकृष्ण ने फल सहित दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन तथा शास्त्र विपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्र के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रेरणा का वर्णन किया ।[४] उन्होंने श्रद्धा का और शास्त्र विपरीत घोर तप करने वालों का वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक-पृथक भेद तथा ऊँ, तत्, सत् के प्रयोग की व्याख्या की ।[५] अन्त में श्रीकृष्ण ने त्याग का, सांख्यसिद्धान्त का, फल सहित वर्ण-धर्म का, उपासना सहित ज्ञाननिष्ठा का, भक्त सहित निष्काम कर्मयोग का एवं गीता के माहात्म्य का वर्णन किया ।[६]

इसी समय युधिष्ठिर ने अपने कवच खोल कर अपने आयुधों को नीचे डाल दिया और रथ से उतर कर वे पैदल ही हाथ जोड़ कर भीष्म पितामह की ओर चल दिए । अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव ने उनसे पूछा कि आप शत्रुओं की ओर क्यों जा रहे हैं ? परन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें कोई उत्तर न दिया और चुपचाप चलते ही चले गए ।[७] श्रीकृष्ण ने कहा कि मुझे युधिष्ठिर का अभिप्राय स्पष्ट हो गया है, ये समस्त गुरुजनों से आज्ञा लेकर शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे । भाइयों सहित युधिष्ठिर को कौरव पक्ष की ओर आते देखकर दुर्योधन के सैनिक अनेक प्रकार की कल्पनाएं करने लगे । वे सोचने लगे कि सम्भवत:

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ३७
२. ,, ,, अ० ३८
३. ,, ,, अ० ३९
४. ,, ,, अ० ४०
५. ,, ,, अ० ४१
६. ,, ,, अ० ४२
७. ,, ,, अ० ४३, श्लोक ११-२०

युधिष्ठिर भयभीत होकर भीष्म जी के पास शरण मांगने आ रहा है।[१]

युधिष्ठिर, भीष्म जी के पास पहुंचे और उन्होंने कहा कि मुझे आपके साथ युद्ध करना है। इसके लिए आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें। भीष्म ने कहा कि यदि तुम मुझसे आज्ञा न लेने आते तो मैं तुम्हें पराजित होने का शाप दे देता। परन्तु अब मैं प्रसन्न हूं। तुम विजय प्राप्त करो। तुम वर मांगो। मुझसे क्या चाहते हो? मैं अर्थ द्वारा कौरवों से बंध गया हूं। युधिष्ठिर ने कहा कि आप तो किसी से पराजित होने वाले नहीं हैं, फिर मैं आपको युद्ध में कैसे जीतूंगा? भीष्म ने कहा कि मुझे युद्ध करते हुए कोई नहीं जीत सकता और अभी मेरा अन्त काल भी नहीं आया है। अतः अपने इस प्रश्न के उत्तर के लिए फिर कभी आना।[२]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर द्रोणाचार्य के समीप गए। युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से भी युद्ध के लिए आज्ञा मांगी। द्रोणाचार्य ने भीष्म जी की भांति युधिष्ठिर को विजयी होने का आशीर्वाद दिया और वर मांगने के लिए कहा। युधिष्ठिर ने उनसे पूछा कि आप के बध का क्या उपाय है? द्रोणाचार्य ने कहा कि जब मैं हथियार डाल कर अचेत-सा होकर आमरण अनशन के लिए बैठ जाऊं, उस अवस्था में ही कोई श्रेष्ठ योद्धा मुझे युद्ध में मार सकता है। यदि मैं किसी विश्वसनीय व्यक्ति से युद्ध भूमि में कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूं तो हथियार नीचे डाल दूंगा।[३]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर कृपाचार्य के पास गए और युद्ध के लिए अनुमति मांगी। कृपाचार्य ने भी भीष्म और द्रोण की भांति युधिष्ठिर को आशीर्वाद दिया।[४]

कृपाचार्य से आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात् युधिष्ठिर मद्रराज शल्य के पास गए और युद्ध के लिए अनुमति मांगी। मद्रराज ने भी युधिष्ठिर को

---

१. महाभारत, भीष्म पर्व, श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ४३, श्लोक २१-२७

२. ,, ,, अ० ४३, श्लोक ३५-४८

३. ,, भीष्मवध पर्व, अ० ४३, श्लोक ५१-६६

४. ,, ,, अ० ४३ श्लोक ६७-७४

विजय का आशीर्वाद दिया और कहा कि मैं तुम्हें क्या दूं जिससे तुम्हारा मनोरथ पूरा हो जाय। युद्ध विषयक उद्योग को छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो ? कौरवों के द्वारा मैं अर्थ से बंधा हुआ हूं। युधिष्ठिर ने शल्य से कहा कि जब युद्ध के लिए उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिए आवश्यक है। सूतपुत्र कर्ण का अर्जुन के साथ जब युद्ध हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिए। शल्य ने कहा कि तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा।[1]

गुरुजनों से आशीर्वाद और युद्ध की आज्ञा लेकर युधिष्ठिर लौट आए और सेना के बीच में खड़े होकर पुकारा कि जो कोई वीर सहायता के लिए हमारे पक्ष में आना स्वीकार करे उसे मैं भी स्वीकार करूंगा। उस समय धृतराष्ट्र के पुत्र युयुत्सु ने कहा कि यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आप-लोगों के लिए युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों से युद्ध करूंगा। युधिष्ठिर ने युयुत्सु की सेवा स्वीकार की और कहा कि राजा धृतराष्ट्र की वंशपरम्परा तथा पिण्डोदक क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखाई देती है। तत्पश्चात् युयुत्सु अपनी सेना का त्याग करके पाण्डवों के पक्ष में आ गया।[2]

'जयभारत' में 'अर्जुन का मोह' शीर्षक में वर्णित अन्तकथा के स्रोत 'महाभारत' के 'भीष्म पर्व' में 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अठारह अध्यायों तथा भीष्मवधपर्व के प्रथम अध्याय में प्राप्त होते हैं। 'महाभारत' में श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह को दूर करने के लिए अत्यधिक विस्तार पूर्वक गीता का उपदेश देते हैं, गुप्त जी ने इसे अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया है।

'अर्जुन का मोह' में गीता के विचार पक्ष का अवलोक यथावत हुआ है परन्तु गीता के अन्तर्गत जिस रूप में पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन

---

१. महाभारत, भीष्म पर्व, भीष्मवधपर्व, अ० ४३, श्लोक ७६-८७

२. ,, ,, अ० ४३ श्लोक ६४-६८

हुआ है वैसा 'जयभारत' के कवि ने नहीं किया है । 'जयभारत' का कवि उस गंभीरता और व्यापकता का स्पर्श नहीं कर पाया है परन्तु उसने युगानुरूप गीता के सिद्धान्तों का पर्यालोचन किया है । गुप्त जी ने गीता के कर्मयोग का सार इस प्रसंग में स्पष्ट रूप से प्रकट किया है ।

इस कथा के उत्तरार्ध में 'महाभारत' अनुसार ही युधिष्ठिर कौरव सेना में जाकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा शल्य से युद्ध करने की आज्ञा मांगते हैं और उनसे विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं । इस प्रसंग में कवि ने कुछ परिवर्तन भी किए हैं । युधिष्ठिर जब भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य से युद्ध के लिए आज्ञा लेने जाते हैं तो वे सब यही कहते हैं कि यदि तुम हमसे आज्ञा न लेते तो हम तुम्हें पराजित होने का शाप दे देते ।[१] 'जयभारत' में भी युधिष्ठिर गुरुजनों से आज्ञा मांगने जाते हैं, परन्तु वे लोग शाप देने की बात नहीं कहते हैं ।

'महाभारत' के अनुसार जब युधिष्ठिर गुरुजनों से युद्ध के लिए आज्ञा ले लेते हैं तब श्रीकृष्ण कर्ण के पास जाते हैं और कर्ण से कहते हैं कि मैंने सुना है कि तुम भीष्म से द्वेष होने के कारण युद्ध नहीं करोगे । ऐसी दशा में, जब तक भीष्म मारे नहीं जाते, तब तक तुम हम लोगों का पक्ष ग्रहण कर लो । भीष्म के मारे जाने पर पुनः तुम कौरव पक्ष में चले जाना । श्रीकृष्ण की यह बात कर्ण ने न मानी । उसने कहा कि मैं दुर्योधन के लिए अपने प्राणों को निछावर किए हुए हूं, अतः उसका अप्रिय मैं नहीं कर सकता ।[२] 'जयभारत' में यह प्रसंग भी नहीं वर्णित है ।

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, भीष्मवधपर्व, अ० ४३ श्लोक ३८,५३,७०,७६
२. ,, ,, अ० ४३ श्लोक ८६-९२

४०. युद्ध

'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत जो अन्तर्कथा वर्णित है उसके मूल स्रोत महाभारत में प्राप्त होते हैं। 'जयभारत' में 'महाभारत' के युद्ध की कतिपय प्रमुख घटनाओं को संक्षेप में वर्णित किया गया है।

१. भीष्मवध- 'युद्ध' के अन्तर्गत प्रथम घटना भीष्म वध की है। श्रीकृष्ण ने प्रण किया था कि वे इस युद्ध में शस्त्र नहीं ग्रहण करेंगे। परन्तु भीष्म का वध करने के लिए उन्हें सुदर्शन चक्र धारण करना पड़ा। परन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें रोका और कहा -

" तो भी तात, तुमने कहा है -इस युद्ध में
आयुध न लूंगा मैं, निभाना इसे चाहिए,
चाहे मन मार क्यों खानी पड़े हार ही।"[1]

युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह का वध करने का उपाय भी बताया -

" करते पितामह प्रहार नहीं नारी पै
और वे शिखण्डी को समझते हैं नारी ही,
चाहे कितना ही पुरुषार्थी वह क्यों न हो।"[2]

और अन्त में यही हुआ -

" कौरव न रोक सके बढ़ते शिखंडी को,
पार्थ के विशिख उसे बीच में लिए रहे।
उसके विरोध-हीन बाणों के प्रहार से
बिंध कर सारा तन शान्त पितामह का,
गिरता हुआ भी रहा ऊपर ही वे।
विद्ध वैरि-बाण-पंक्ति शय्या बनी उनकी।" [3]

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ३७५ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, पृ० ३७५ ,,
३. ,, पृ० ३७६ ,,

पितामह का सिर लटका हुआ था, अर्जुन ने उनके कहने पर तीन बाण छोड़ कर उनके सिर को सहारा दिया। भीष्म ने कहा कि सूर्य जब उत्तरायण होंगे, तभी मैं अपने प्राण को छोड़ूंगा। तत्पश्चात उन्होंने दुर्योधन को बुलाकर समझाया—

" बेटा, अब तू पाण्डवों से संधि करले ," [1]

परन्तु दुर्योधन ने उनकी बात न मानी। दुर्योधन ने कहा—

" किन्तु मेल हो सका न जिनसे प्रथम ही,
वे तो अब हत्यारे हमारे पितामह के।
अब उनसे क्या संधि ? अन्त तक जूझूंगा," [2]

अन्त में कर्ण ने भी आकर भीष्म को प्रणाम किया और कहा —

" आपका चिरापराधी कर्ण क्षमा-प्रार्थी है।" [3]

भीष्म ने उसे समझाते हुए कहा—

" राम और भरत सदा ही नहीं मिलते।
जान लिया मैंने, अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।" [4]

कर्ण ने उत्तर में कहा — 'भरसक ऐसा ही करूंगा।'

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के 'भीष्म पर्व' के अन्तर्गत 'भीष्मवधपर्व' में विद्यमान हैं। 'महाभारत' में यह अन्तर्कथा अस्सी अध्यायों में फैली है। गुप्त जी ने इसे अत्यन्त संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है। 'महाभारत' में कौरवों और पाण्डवों के दस दिनों के युद्ध का वर्णन है। [5] 'महाभारत' के अनुसार भी श्रीकृष्ण भीम को मारने के

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ३७७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ३७७ ,,
३. ,, पृ० ३७८ ,,
४. ,, पृ० ३७८ ,,
५. महाभारत, भीष्मपर्व, उपभीष्मवधपर्व, अ० ४३-१२०

लिए उद्यत होते हैं, परन्तु अर्जुन उन्हें रोकते हैं।[1] शिखंडी को भीष्म वध करने के लिए अर्जुन उत्साहित करते हैं।[2] अर्जुन ने युद्ध में शिखंडी को उत्साहित किया और शिखंडी ने भीष्म को अपने बाणों से छेद डाला। अर्जुन बराबर युद्ध में शिखंडी की रक्षा करते रहे। अन्त में भीष्म मूर्च्छित हो गए।[3] अर्जुन ने भीष्म को रथ से गिरा दिया। वे शर-शैया पर लेटे हुए हैं। उन्होंने कहा कि सूर्य जब उत्तरायण में चला जायगा तब मैं प्राण छोड़ूंगा।[4] भीष्म के सिर के नीचे बाण नहीं लगे थे, अतः उनका सिर लटक रहा था। उन्होंने अर्जुन के द्वारा अपने सिर के लिए बाणों का तकिया प्राप्त किया।[5]

'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत भीष्म-वध की जो कथा है उसको 'महाभारत' के ही आधार पर कवि ने उपस्थित किया है। परिवर्तन इसमें नहीं किया गया है, परन्तु कथा का संक्षेपण अवश्य हुआ है।

२. <u>अभिमन्यु वध</u>— 'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत दूसरी प्रमुख घटना अभिमन्यु वध की है। दुर्योधन के पुत्रों आदि ने युद्ध में एक नया अयन बनाया और अर्जुन को चुनौती देकर संशप्तक सेना के साथ युद्ध करने के लिए दूर ले गए। इधर द्रोण ने चक्रव्यूह की रचना की और अकेले अभिमन्यु को घेर लिया। अभिमन्यु उस व्यूह में केवल घुसना ही जानता था। केवल अर्जुन ही घुसना और निकलना जानते थे। चक्रव्यूह के द्वार पर जयद्रथ नियुक्त था। चक्रव्यूह में अभिमन्यु के साथ कोई दूसरा योद्धा घुस भी नहीं सका। फिर भी अभिमन्यु ने बड़ी वीरता दिखाई। शल्य को अचेत कर दिया। शल्य के भाई को मारडाला। अकेले अभिमन्यु को कई-कई योद्धा घेर कर मारने लगे। केवल सामने से ही नहीं, वरन पीछे से और दाएं-बाएं से भी अभिमन्यु पर प्रहार

---

१. महाभारत, भीष्मपर्व, भीष्मवधपर्व, अ० १०६
२. ,, ,, अ० १०८
३. ,, ,, अ० ११७
४. ,, ,, अ० ११६
५. ,, भीष्मपर्व, ,, अ० १२०

होने लगी । अकेला अभिमन्यु कौरव सेना के अनेक वीरों के छक्के छुड़ाता रहा परन्तु अन्त में वह मारा गया । उसने अन्त समय में कौरवों से यही कहा-

" कायर बनाके तुम्हें मरके भी जीता मैं ।"[१]

जयद्रथ ने अभिमन्यु के शव को ठोकर मारी, मानो अपनी वीरता दिखा रहा हो ।

अभिमन्यु-वध से पाण्डवों में शोक छा गया । अर्जुन ने प्रतिज्ञा की-

" न मारूं जयद्रथ को
मैं सूर्यास्त पूर्वकल, तो जल मरूं स्वयं ।"[२]

'अभिमन्यु-वध' की यह कथा महाभारत के द्रोणपर्व के 'अभिमन्युवध पर्व' में विस्तार पूर्वक वर्णित है । व्यूहभेदने के लिए अभिमन्यु प्रतिज्ञा करता है[३]। व्यूहभेदन करके अभिमन्यु अकेला ही वीरतापूर्वक युद्ध करता है । अभिमन्यु के पीछे पाण्डवों ने जाना चाहा परन्तु जयद्रथ ने वर के प्रभाव से उन्हें रोक दिया । अत: व्यूह के अन्दर अभिमन्यु अकेला ही गया । वह शल्य को मूर्च्छित कर देता है ।[५] अभिमन्यु के द्वारा शल्य के भाई का वध होता है ।[६] अभिमन्यु वीरता पूर्वक युद्ध करता है परन्तु अन्त में कौरव छ: महारथियों के सहयोग से अभिमन्यु का वध करवा देते हैं ।[७] युधिष्ठिर अर्जुन को अभिमन्यु-वध का वृत्तान्त सुनाते हैं और कहते हैं कि द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा - इन छ: महारथियों ने अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया, उसे रथहीन कर दिया और तब दु:शासन के पुत्र ने अभिमन्यु को गदा से मार डाला ।[८]

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ३८१ (द्वितीय संस्क०)
२. ,, पृ० ३८१ ,,
३. महाभारत द्रोण पर्व, अभिमन्युवधपर्व, अ० ३५
४. ,, ,, अ० ४२
५. ,, ,, अ० ३५
६. ,, ,, अ० ३७
७. ,, ,, अ० ३८
८. ,, ,, अ० ४८

अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि वह कल सूर्यास्त से पहले जयद्रथ को मार डालेंगे अन्यथा जल मरेंगे ।[१]

३. जयद्रथ-वध-- 'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित कथा में तीसरी घटना जयद्रथ-वध है । अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दूसरे दिन घोर युद्ध आरम्भ किया । सात्यकि से युधिष्ठिर ने कहा कि बहुत देर से अर्जुन का कोई समाचार नहीं आया, लगता है वे अपने लक्ष्य के लिए दूर तक बढ़ गए हैं । अर्जुन ने शंखनाद भी नहीं किया है, अत: तुम जाकर अर्जुन के सहायक बनो । सात्यकि ने कहा कि आपको छोड़ कर जाना मेरे लिए कहाँ तक उचित होगा ? कृष्ण और अर्जुन मुझे आपकी रक्षा के लिए ही छोड़ गए हैं । परन्तु सात्यकि के मना करने पर भी युधिष्ठिर ने उसे अर्जुन के पास भेज दिया ।

अन्त में अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी हुई और दिन रहते जयद्रथ का बध उन्होंने कर दिया -

" आधी धार्तराष्ट्र-चमू उस दिन युद्ध में
मर कर भी न बचा पाई जयद्रथ को ।
पूरी हुई पार्थ की प्रतिज्ञा दिन रहते ,
कठिन तपस्या फली पाशुपत पाने की,
कृष्ण की कृपा से कृतकृत्य हुए वे कृती ।"[२]

'जयद्रथ-वध' की कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' के 'द्रोण पर्व' के अन्तर्गत 'जयद्रथवध पर्व' में विस्तार पूर्वक प्राप्त होते हैं । अर्जुन की प्रतिज्ञा को सुनकर[३] श्रीकृष्ण ने अर्जुन की विजय के लिए रात्रि में शिव का पूजन करवाया । अर्जुन स्वप्न में भगवान कृष्ण के साथ शिवजी के समीप गए और उनकी स्तुति की[४]। अर्जुन को स्वप्न में पुन: पाशुपतास्त्र की प्राप्ति हुई ।[५]

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, प्रतिज्ञापर्व, अ० ७३, श्लोक २०-४७

२. जयभारत, युद्ध, पृ० ३८२ (द्वितीय संस्करण)

३. महाभारत, द्रोणपर्व, जयद्रथवध पर्व, अध्याय ७९

४. ,, ,, ,, ,, ८०

५. ,, ,, ,, ,, ८१

अर्जुन ने दूसरे दिन प्रातः काल अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जयद्रथ का वध करने के लिए भीषण युद्ध आरम्भ किया । अर्जुन जयद्रथ वध की ओर बढ़ते जा रहे थे ।[१] यह देखकर दुर्योधन युद्ध के लिए आ गया ।[२] दुर्योधन और अर्जुन के युद्ध में दुर्योधन की पराजय हुई ।[३] अर्जुन वीरतापूर्वक युद्ध करते रहे । उन्होंने पुनः जयद्रथ पर आक्रमण किया ।[४] अर्जुन ने अद्भुत पराक्रम दिखाया और सिन्धुराज जयद्रथ का वध कर दिया ।[५]

४. द्रोण-वध---'युद्ध' शीर्ष कथा में चौथी घटना द्रोण-वध की है । द्रोणाचार्य ने युद्ध में भयंकर रूप धारण किया । द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद तथा उनके पौत्रों तथा राजा विराट का वध कर दिया । धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य को मारने की प्रतिज्ञा की । परन्तु शस्त्र धारण किए हुए द्रोण भी अजेय थे । यह वर सा उन्हें विधाता से प्राप्त था । परन्तु द्रोण-वध के बिना पाण्डवों की विजय नहीं हो सकती थी । अब प्रश्न यह था कि शस्त्र छोड़ने के लिए उन्हें कौन विवश करे । द्रोण शस्त्र तभी छोड़ते जब उन्हें कोई हृदय दहला देने वाली बात सुनाई पड़ती । कौन अब कोई ऐसा हृदय-विदारक बात कहे ? युधिष्ठिर ने सोचा कि मैं ही सबका संरक्षक हूं, अब मैं ही यह कार्य करूंगा, चाहे मेरी दुर्गति हो जाय । इसी समय भीम ने इन्द्र-वर्मा के हाथी अश्वत्थामा को मार डाला और चिल्ला उठे 'अश्वत्थामा हत हो गया ।' यह सुनकर द्रोण की दशा बहुत गिर गई । परन्तु वे बोले कि यह बात युधिष्ठिर कहें । यह सुनकर युधिष्ठिर ने भी इसकी साख भर दी — "हां आचार्य देव, अश्वत्थामा हत हो गया , वह नर-कुंजर गया है मृत्यु-मुख में ।"[६] इस प्रकार युधिष्ठिर ने छलपूर्ण सत्य कह कर द्रोणाचार्य

---

१. महाभारत ,द्रोण पर्व, जयद्रथवध पर्व, अ० १००
२. ,, ,, अ० १०१
३. ,, ,, अ० १०३
४. ,, ,, अ० १४५
५. ,, ,, अ० १४६
६. जयभारत, युद्ध, पृ० ३८८ (द्वितीय संस्करण)

के अस्त्र फिकवा दिये और द्रोणाचार्य समाधिस्थ से हो गए । इसी समय द्रोणाचार्य पर धृष्टद्युम्न टूट पड़ा । बाएं हाथ से द्रोण के केश पकड़ कर दाहिने हाथ से उनका सिर काट डाला । पार्थ चिल्लाते ही रह गए " मारो, मत, मारो मत, उनको पकड़ लो ।"

द्रोण-वध के पश्चात् अर्जुन ने युधिष्ठिर की निंदा करते हुए कहा—

" हाय आर्य, यह क्या किया है आज आपने ?
आपके निकट भी क्या राज्य बड़ा सत्य से ?"[१]

युधिष्ठिर यह सुन कर मौन रहे पर भीम ने अर्जुन को समझाते हुए कहा —

" सावधान अर्जुन ! क्या कहते हो — किससे ?
सत्य रक्षा से भी आत्म-रक्षा बड़ी होती है,
एक छोड़ सौ सौ सत्य-धर्म पलें जिससे ।
अग्रज के 'आत्म' में हमीं-तुम हैं, वे नहीं,
कहते इन्हें ही राज्यकामी तुम ? धिक है ।"[२]

युधिष्ठिर ने अपने पाप को स्वीकारा और कहा—

" पाप जो हुआ है, उसे मानना ही चाहिए,

x x

मैंने जो किया है, वह जानकर ही किया —
राज्य-हेतु अथवा नरक-हेतु, क्या, कहूं ?
दुःखित हूं, किन्तु मैं निराश नहीं फिर भी ।"[३]

अर्जुन युधिष्ठिर के उत्तर से दुःखी होकर रो उठे और इसके लिए क्षमा प्रार्थना भी की ।

द्रोण-वध की कथा 'महाभारत' में विस्तारपूर्वक वर्णित है । द्रोणाचार्य ने रणभूमि में पांचालों का नृशंसतापूर्वक संहार आरम्भ कर दिया था । एक क्षण के लिए पाण्डवों को अपने विजय की आशा छोड़नी पड़ी ।[४] श्रीकृष्ण

---

१ - जयभारत, युद्ध, पृ० ३८६

ने पाण्डवों को द्रोणाचार्य के बाणों से पीड़ित देखकर अर्जुन से कहा कि जब तक द्रोण के हाथ में धनुष रहेगा, तब तक युद्ध में इन्हें इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते । जब वे संग्राम में हथियार छोड़ देंगे तभी उनका वध हो सकता है । श्रीकृष्ण ने कहा कि अश्वत्थामा के मारे जाने पर वे युद्ध नहीं कर सकते । कोई मनुष्य द्रोण से जाकर कहे कि अश्वत्थामा मारा गया तो वे अवश्य अपने हथियार डाल देंगे । अर्जुन को श्रीकृष्ण का यह विचार उचित नहीं प्रतीत हुआ । परन्तु युधिष्ठिर बड़ी कठिनाई से यह बात कहने के लिए तत्पर हो गए । तब भीमसेन ने अपनी ही ओर का अश्वत्थामा नाम का हाथी मार डाला और द्रोणाचार्य के पास जाकर बोले "अश्वत्थामा मारा गया ।" यह बात सुनकर द्रोणाचार्य मन ही मन व्याकुल हुए परन्तु उन्हें अपने पुत्र अश्वत्थामा के मरण पर एकाएक विश्वास नहीं हुआ । अत: वे बड़े वेग से धृष्टद्युम्न को मार डालने के लिए उद्यत हुए ।[१]

इसी समय बहुत से महर्षि अग्निदेव को आगे करके वहाँ आए और द्रोणाचार्य से कहा कि तुम हथियारों को छोड़ दो । अब तुम्हारी मृत्यु का समय आ गया है अत: अब यह क्रूरतापूर्ण कर्म न करो ।

ऋषियों का यह कथन सुनकर और भीमसेन की बात सोचकर द्रोणाचार्य का मन उदास हो गया । उन्होंने अपने पुत्र अश्वत्थामा के मरने का समाचार युधिष्ठिर से पूछा । क्योंकि उन्हें विश्वास था कि युधिष्ठिर राज्य के लिए झूठ न बोलेंगे ।[३] युधिष्ठिर ने भीम और श्रीकृष्ण के समझाने पर द्रोणाचार्य को सुनाकर "अश्वत्थामा मारा गया" जोर से कहा, साथ ही धीरे से कहा "हाथी का वध हुआ है ।" युधिष्ठिर के मुंह से यह सुनकर द्रोणाचार्य

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, द्रोणवध पर्व, अ० १६०, श्लोक६-२१
२. ,, ,, अ० १६० ,, ३२-४०
३. ,, ,, अ० १६० ,, ४१-४३

की चेतना क्रमशः लुप्त सी होने लगी और वे पूर्ववत् युद्ध न कर सके ।[१] अच्छा अवसर देखकर धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य पर धावा बोल दिया ।[२] दोनों पक्षों के श्रेष्ठ महारथियों का परस्पर युद्ध हुआ । द्रोणाचार्य ने शस्त्र त्याग दिए । धृष्टद्युम्न ने उनके मस्तक का उच्छेदन कर दिया ।[३]

५. घटोत्कच-वध – 'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत घटोत्कच वध परवर्ती प्रमुख घटना है । कर्ण के सारथी बने शल्य । रणस्थल में घटोत्कच ने कर्ण के छक्के से छुड़ा दिए । घटोत्कच पर्वत के समान विशाल और भी जाता था, विपक्षियों को तृण के समान उड़ा देता था । घटोत्कच ने पैदल ही युद्ध किया और उसके सामने से शत्रुओं के अश्व और गज भागने लगे । शल्य ने उसके सामने बड़ी कठिनाई से अपना रथ रोका । घटोत्कच ने कर्ण को ललकारते हुए कहा –

" लेके यही शस्त्र आया लड़ने तू मुझसे ?
मारूँ तुझे काका, मैं अकर्ण कर छोड़ूँगा ।"[४]

घटोत्कच की इस प्रकार की ललकार से कर्ण अपमान से जल उठा । वह इन्द्र की शक्ति द्वारा जिससे अर्जुन को मारने के लिए रखा था, उसी शक्ति द्वारा घटोत्कच को मार डाला ।

'घटोत्कच-वध' की यह कथा 'महाभारत' के 'द्रोणपर्व' के घटोत्कच-वध पर्व में पर्याप्त विस्तार पूर्वक प्राप्त होती है । युद्ध में कर्ण द्वारा धृष्टद्युम्न एवं पांचालों की पराजय हुई, इससे युधिष्ठिर घबराए । श्रीकृष्ण और अर्जुन ने घटोत्कच को प्रोत्साहन देकर कर्ण के साथ युद्ध के लिए भेजा ।[५] घटोत्कच

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, द्रोणवधपर्व, अ० १९०, श्लोक ५४-५९
२. ,, ,, अ० १९१
३. ,, ,, अ० १९३
४. जयभारत, युद्ध, पृ० ३९१ (द्वितीय संस्करण)
५. महाभारत, द्रोणपर्व, घटोत्कच वध पर्व, अ० १७३

कर कर्ण से घोर युद्ध हुआ ।[1] घटोत्कच ने अपनी राक्षसी माया से कर्ण तथा समस्त कौरवों को मर्माहत कर डाला । तब समस्त कौरव घबरा कर कर्ण से कहने लगे कि तुम इन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति से इस राक्षस को मार डालो ।[2] कर्ण ने इन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति को अर्जुन के वध के लिए सुरक्षित रखा था । परन्तु घटोत्कच के उत्पात को देखकर उस दिव्य शक्ति को कर्ण ने राक्षस घटोत्कचपर चला दिया ।[3] मरते समय घटोत्कच ने अपना शरीर अत्यन्त विशाल बना लिया था । और वह कौरव सेना के ऊपर गिरा, जिससे सेना का बहुत बड़ा भाग उसके शरीर से दब कर नष्ट हो गया ।[4]

६. दु:शासन-वध— `जयभारत` के `युद्ध` में छठवीं घटना दु:शासन का वध है । कर्ण ने घटोत्कच का वध कर डाला तो तो भीमसेन कर्ण से युद्ध करने लगे । कर्ण ने भीम को मारा नहीं, क्योंकि उसने कुंती को ऐसा वचन दिया था। कर्ण ने भीम से कहा —

" खाना जानता है और सोना तू, लड़ेगा क्या ?
हट जा, न आना अब और मेरे सामने ।"[5]

भीम ने भी कर्ण से कहा—

" कर ले प्रलाप मृत्यु-पूर्व कुछ कर्ण तू,
प्राप्त पुनर्नवता करूँ मैं इस बीच में ।"[6]

थोड़ी देर बाद जब स्वस्थ होकर भीम युद्ध क्षेत्र में आए तो उन्हें सामने दु:शासन दिखाई पड़ा । भीम ने दु:शासन को पटक दिया और उसकी छाती पर चढ़ गए । भीम गरज उठे —

---

१. महाभारत, द्रोण पर्व, घटोत्कच वध पर्व, अ० १७६
२. ,, ,, अ० १७६ श्लोक ४६,५०
३. ,, ,, अ० १७६ श्लोक ५४
४. ,, ,, अ० १७६ श्लोक ५५-६१
५. जयभारत, युद्ध, पृ० ३६३ (द्वितीय संस्करण)
६. ,, पृ० ३६३ ,,

"कहाँ दुर्योधन कर्ण हैं ?
शक्ति हो तो रोकें रक्त दुष्ट दु:शासन का
भीम पीने जा रहा है सबके समक्ष ही ।"[१]

तत्पश्चात् भीम ने अपने नखों से ही दु:शासन का वक्ष चीर डाला । यह वीभत्स दृश्य देखकर योद्धा भी भागने लगे ।

'महाभारत' में 'कर्णपर्व' के अन्तर्गत दु:शासन वध की कथा वर्णित है । सात्यकि द्वारा कर्णपुत्र प्रसेन का वध हो जाने पर कर्ण ने अपना पराक्रम दिखाना आरम्भ किया । इसी समय दु:शासन भीमसेन पर आक्रमण करने लगा । उसे देखते ही भीमसेन उसपर तेजी से झपटे और दोनों में भयंकर युद्ध होने लगा ।[२] दु:शासन भीमसेन को पैने बाणों द्वारा बींधने लगा । तब क्रोध में भर कर भीम ने अपनी गदा घुमाकर फेंकी । वह गदा जाकर दु:शासन के मस्तक में लगी । दु:शासन पृथ्वी पर गिरकर काँपने लगा । भीम दौड़ कर उसके पास गए और कहने लगे कि इस पापी ने भरी सभा में निरपराध द्रौपदी का अपमान किया था, आज मैं इसे मारे डाल रहा हूँ । अब जिसमें बल हो वह आकर इसे बचा ले । भीमसेन ने दु:शासन की बाँह उखाड़ डाली और उसकी छाती फाड़ कर वे उसका रक्तपान करने का उपक्रम करने लगे । भीम ने दु:शासन का मस्तक काट डाला और उसका रक्तपान करने लगे । भीम को रक्तपान करते देख कर लोग भयभीत होकर भागने लगे ।[३]

७. कर्ण-वध – 'युद्ध' की सातवीं घटना कर्ण का वध है । कर्ण के मुख्य लक्ष्य अर्जुन ही थे । दोनों को युद्ध आरम्भ हुआ । दोनों का युद्ध और दोनों के सारथी दर्शनीय थे । कर्ण ने 'सावधान' कह कर पार्थ पर प्रहार

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ३६४ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, कर्णपर्व, अ० ८२
३. ,, ,, अ० ८३ श्लोक १-३५

किया, परन्तु कुशल सारथी कृष्ण ने रथ के घोड़ों को झुका लिया और पार्थ बच गए । पार्थ ज्यों ही प्रत्युत्तर देने को बढ़े कि कर्ण के रथ का पहिया ही पृथ्वी में धंस गया । सारथी को असफल देख कर कर्ण ने हाथ बढ़ा कर पार्थ को रोका और स्वयं ही रथ के पहिए को निकालने चला । परन्तु कर्ण पहिए को खींच नहीं पाया । पार्थ ने कर्ण से कहा कि किस अधिकार से तू मुझे रुकने को कहता है ? कल की बात क्या भूल गया ? संकट में सभी को धर्म की बात याद आती है । यह कह कर क्रोधित अर्जुन ने एक उग्र तीर कर्ण की ओर फेंका । कर्ण का सिर कट कर तारे के समान गिर पड़ा । विपक्षियों को दिन में तारे से दिखाई पड़ने लगे । कर्ण के ललाट से एक तेज सा निकल कर सूर्य में जाकर विलीन हो गया ।

' कर्ण-वध ' की यह कथा 'महाभारत ' के 'कर्ण पर्व' में पर्याप्त विस्तार से मिलती है । कर्ण और अर्जुन का भयंकर युद्ध आरम्भ होता है ।[१] अर्जुन के ऊपर कर्ण सर्पमुख बाण फेंकते हैं[२] परन्तु श्रीकृष्ण की चतुरता से अर्जुन की रक्षा हो जाती है । सर्पमुख बाण को अर्जुन की ओर आते देख कर श्रीकृष्ण ने अपने रथ को तुरन्त ही पैर से दबा कर उसके पहियों का कुछ भाग पृथ्वी में धंसा दिया ।रथ के घोड़े भी धरती पर घुटने टेक कर झुक गए । अत: कर्ण द्वारा फेंका हुआ वह सर्पमुख बाण केवल अर्जुन के किरीट को ही गिरा पाया ।[3] अर्जुन क्रोधित होकर कर्ण पर बाणों की बौछार सी करने लगते हैं । इसी समय काल अदृश्य होकर ब्राह्मण के क्रोध से कर्ण के वध की सूचना देता हुआ उसकी मृत्यु का समय उपस्थित होने पर बोला कि अब भूमि तुम्हारे रथ के पहिये को निगलना चाहती है । कर्ण के वध का समय आ गया था । महात्मा परशुराम ने कर्ण को जो भार्गवास्त्र प्रदान किया था वह उस समय उसके मन से निकल गया।

---

१. महाभारत, कर्णपर्व, अ० ८६

२. ,, ,, अ० ९०, श्लोक १२-२१

3. ,, ,, अ० ९०,श्लोक २२-३२

साथ ही पृथ्वी उसके रथ के बाएँ पहिए को निगलने लगी । कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धंस गया । कर्ण रणभूमि में व्याकुल हो उठा ।[१] परन्तु साहस करके अर्जुन की ओर बाण फेंकने लगा । अर्जुन भी अपूर्व बाणों से कर्ण को भेदने लगे । इसी समय पृथ्वी ने कर्ण के रथ के पूरे पहिये को ग्रस लिया । यह देख कर कर्ण स्वयं रथ से उतर कर पहिए को ऊपर उठाने की सोचने लगा और अर्जुन से बोला कि जब तक मैं इस फंसे हुए पहिये को निकाल रहा हूं, तब तक तुम रथारूढ़ होकर मुझ पर बाण मत छोड़ो ।[२] श्रीकृष्ण ने कर्ण से कहा कि विपत्ति में पड़ने पर तुम्हें धर्म की बात याद आ रही है । जब द्रौपदी का अपमान किया था तब धर्म की याद नहीं आई थी ? इसी प्रकार अनेक बार तुमने अधर्म किया, तब धर्म को भूल गये थे ?[३] यह सुन कर कर्ण ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया । श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इस समय तुम कर्ण को दिव्यास्त्र से घायल करके मार डालो । अर्जुन ने कर्ण पर पुन: बाण छोड़े और दोनों ओर से बाण छूटने लगे । तब कृष्ण के कहने पर अर्जुन ने अंजलिक नामक बाण निकाला और कर्ण का वध करने के लिए उसे छोड़ दिया । उस बाण ने कर्ण का सिर धड़ से अलग कर दिया ।[४] कर्ण के शरीर से एक तेज निकल कर आकाश में फैल गया और ऊपर जाकर सूर्यमण्डल में विलीन हो गया ।[५]

८. शल्य-वध — 'युद्ध' के अन्तर्गत आठवीं प्रमुख घटना मद्रराज शल्य का युधिष्ठिर द्वारा वध है । कर्ण के वध के पश्चात् दुर्योधन बहुत निराश हो गया और उसने शल्य को अपना सारथी बनाया । शल्य ने कहा कि तुमने जो मेरा सम्मान किया है, उस पर मैं अपने प्राण भी न्यौछावर कर दूंगा —

---

१. महाभारत, कर्ण पर्व, अ० ६० श्लोक ८१-८३
२. ,, ,, श्लोक १०५,११५
३. ,, अ० ६१, श्लोक १-१५
४. ,, ,, ,, १५-५०
५. ,, ,, ,, ५५

परन्तु मैं द्रोण और भीष्म की भांति यह नहीं सुनना चाहता कि —

" प्रीति है तुम्हारी पाण्डवों पर,इसीलिए
जीत नहीं हो पाती हमारी इस युद्ध में ।"[१]

शल्य ने दुर्योधन से कहा कि द्रोणाचार्य भी युधिष्ठिर को जीवित पकड़ नहीं पाए, परन्तु मैं तुम्हारी यह कामना पूर्ण कर दूंगा अन्यथा युद्ध में मैं ही समाप्त हो जाऊंगा । शल्य की बात सुनकर दुर्योधन केवल यही कह सका —

" कह किससे क्या कहूं, जानता हूं तात, मैं ।"

शल्य के पराक्रम से युद्ध में कौरवों को एकबार पुन: साहस लौटता सा दिखाई पड़ा । किन्तु एक बार जब राजा शल्य युधिष्ठिर को पकड़ने केलिए झपटे तो युधिष्ठिर ने शक्ति को चलाकर शल्य का वध कर डाला ।

'शल्य-वध' की कथा महाभारत के शल्यपर्व में पर्याप्त विस्तार से कही गयी है । कर्ण-वध के पश्चात् दुर्योधन शल्य से अनुरोध करते हैं कि शल्य उनके सारथी बन जायं । शल्य दुर्योधन की बात मान लेते हैं ।[२] दुर्योधन शल्य का सेनापति के पद पर अभिषेक करते हैं ।[३] शल्य अपने वीरोचित उद्गार प्रकट करते हैं । वे कहते हैं कि आज मैं रणभूमि में पाण्डवों सहित समस्त पांचालों को मार डालूंगा या स्वयं ही मारा जाकर स्वर्गलोक में जा पहुंचूंगा ।[४] इधर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शल्य-वध के लिए उत्साहित किया ।[५]

युद्ध आरम्भ होने पर कौरव-पाण्डव योद्धाओं में द्वन्द्व युद्ध हुआ जिसमें भीमसेन के द्वारा शल्य की पराजय हुई ।[६] युद्ध में युधिष्ठिर ने यह निश्चय कर लिया कि या तो आज युद्ध में मेरी विजय होगी या मेरा वध

---

१. जयभारत,युद्ध, पृ० ३६६ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, शल्यपर्व, अ० ६ (गीता प्रेस गोरखपुर)
३. ,, अ० ७ श्लोक ६,७ ,,
४. ,, अ० ७ श्लोक १३।। ,,
५. ,, अ० ७ श्लोक २८-४१ ,,

हो जायगा। उन्होंने अपने समस्त पक्ष वालों को बुलाकर कहा कि जब एकमात्र महारथी शल्य शेष रह गए हैं, जो मेरे हिस्से में पड़े हैं। आज मैं युद्ध में राजा शल्य को जीतने की आशा करता हूं। युधिष्ठिर ने युद्ध का पूरा प्रबन्ध किया जिससे वे राजा शल्य से अधिक शक्तिशाली हो सकें। अनन्तर युधिष्ठिर ने मद्र-राज शल्य पर चढ़ाई कर दी।[1] दोनों का घोर युद्ध हुआ अन्त में शल्य की बुरी अवस्था देखकर अश्वत्थामा दौड़ा औ उन्हें अपने रथ पर बैठा कर भाग गया। तत्पश्चात शल्य पुन: दूसरा धनुष लेकर आया और युधिष्ठिर से युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध में भीमसेन ने राजा शल्य के घोड़े और सारथी का वध कर डाला। युधिष्ठिर ने भी शल्य और उनके भाई का वध कर डाला।[3] युधिष्ठिर ने शक्ति को चलाकर शल्य का वध किया।[4]

९. शकुनि-वध — 'जयभारत' में 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत शकुनि-वध की कथा दो पंक्तियों में वर्णित है। इसी के साथ कर्ण के पुत्रों का नकुल द्वारा वध भी वर्णित हुआ है। 'जयभारत' में यह वर्णन कथा के रूप में नहीं वरन् सूचना के रूप में अत्यन्त संक्षेप में आया है। इसके प्रति 'महाभारत' के शल्य पर्व के दसवें अध्याय में नकुल द्वारा कर्ण के तीन पुत्रों का वध वर्णित है, तथा अध्याय अट्ठाईस में सहदेव द्वारा शकुनि का वध वर्णित है।

१०. दुर्योधन-वध — 'युद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत दी हुई कथा की दसवीं महत्वपूर्ण घटना है। शल्य की मृत्यु के पश्चात घायल दुर्योधन व्यर्थ ही घूम घूम कर अपनी सेना को संभाल रहा था। उसको एक ओर ले जाकर कृपाचार्य ने समझाया और कहा कि यदि तुम अब भी चाहो तो मैं पाण्डवों से संधि का प्रयत्न करूं। मुझे आशा है कि युधिष्ठिर अभी भी यह प्रस्ताव मान लेंगे। कृपाचार्य की बात सुनकर दुर्योधन की आंखें भर आईं। दुर्योधन ने कहा कि जब मैंने पहले ही संधि

---

१. महाभारत, शल्यपर्व, अ० १६, श्लोक १५-२८ (गीता प्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, श्लोक ६६ ,,
३. अध्याय १७ ,,

नहीं करनी चाही तो अब किसके लिए चाहूंगा । अब तो मेरे भाई, भतीजे, गुरु, शकुनि सभी मृत्युमुख में चले गए हैं । अब राज्य लेकर भी मैं किसके साथ उसे भोगूंगा ? अब तो मैं आपसे यही आशीर्वाद चाहता हूं कि अन्त तक अपनी आन निभा सकूं । मैंने जो इतना विनाश करवाया है तो क्या इसे व्यर्थ कर दूं ? तब मैं घर जा कर मरों को क्या मुंह दिखाऊंगा । मेरे हाथ में अब भी गदा है मैं भीम तथा अन्य जो भी आना चाहे, उसे चुनौती देता हूं । परन्तु अभी मैं थोड़ीदेर विश्राम करना चाहता हूं । कृपाचार्य ने दुर्योधन के विचार की प्रशंसा की और कहा कि अभी तुम , मैं और कृतवर्मा तथा अश्वत्थामा शेष हैं । हम चार ही अभी पाण्डवों से लड़ सकते हैं । दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा कि एक पिण्डदाता को जीवित रहना चाहिए । मैं पास ही के तालाब में छिपने जा रहा हूं यह कह कर दुर्योधन चला गया ।

इधर श्रीकृष्ण ने भीम से कहा —

" भूलो मत वीर, अभी दुर्योधन शेष है । "[१]

श्रीकृष्ण की यह बात सुन कर सब चौंके कि वह कहां है ? श्रीकृष्ण ने कहा कि वह निश्चय ही कहीं आस-पास के तालाब में छिपा है । क्योंकि वह जलवास की कला में निपुण है । इसी समय अनुचरों ने आकर सूचना दी कि पास ही एक सरोवर में दुर्योधन छिपा है । सब दुर्योधन को खोजने चले ।

युधिष्ठिर ने इस समय युयुत्सु को आज्ञा दी कि वह दुर्योधन के समस्त परिवार को लेकर हस्तिनापुर जाए । युधिष्ठिर ने युयुत्सु से कहा कि संजय को हमने मारा नहीं है, उसे भी ले जाओ और हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र तथा गांधारी को धीरज बंधाओ । युयुत्सु वहां से चल दिया ।

इधर पाण्डव उसी सरोवर के किनारे पहुंचे, जिसमें दुर्योधन छिपा बैठा था । वहां पहुंच कर भीम ने दुर्योधन को ललकारा और कहा —

" मैं तो मानता था , कुछ तत्व होगा तुझमें,
किन्तु ऐसा कापुरुष निकला तू अन्त में,
सबको समाप्त कटवाकर समर में,
धिक ! छिप बैठा आप मरने के डर से ।

---

१ ... (द्वितीय संस्क०)

मांग प्राण भिक्षा फिर निर्भय विचर तू ।
रो रही है तेरी गृह - नारियां बिलख के,
रो रहे हैं अन्ध वृद्ध माता-पिता , उनको
सान्त्वना दे, देख, अहे कृष्णा-युधिष्ठिर ये ,
सत्व उदार क्षमा देंगे, यदि चाहे तू ।"[1]

भीम की ललकार सुनकर दुर्योधन गदा लिए हुए सरोवर के जल से बाहर निकल आया । उसने भीम को प्रत्युत्तर देते हुए कहा —

" देखो यह आ गया मैं, आओ जिसे आना हो ।

x x

जीने के समान मरना भी जानता हूं मैं,
जीते रहें तुमसे अलज्ज, अपमान में ।
चाहता था राज्य जिन्हें लेके , वे चले गए ।
लेकर उन्हीं की वैर शुद्धि आज तुमसे
मैं भी चला जाऊंगा पुनीत तपोवन को ।
भुक्तोज्झिता वसुधा रहेगी, उसे कोई ले ।
ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊंगा ।"[2]

तत्पश्चात् भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध आरंभ हुआ । दोनों का भयंकर युद्ध चला । भीम ने दुर्योधन के उरु पर भीषण गदा मार दी । `धिक पापि` कहता हुआ दुर्योधन गिर पड़ा । ` पापी मैं नहीं तू ` कहकर , भीम ने एक लात मारी ।

इसी समय बलराम वहां पहुंचे और उन्होंने भीम के इस कार्य को अनुचित कहा । परन्तु कृष्ण ने भीम का पक्ष लेते हुए कहा कि भीम की जो प्रतिज्ञा थी वह उसने आज पूरी कर ली है । भीम ने बलराम जी से कहा —

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४०२-४०३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, पृ० ४०३ ,,

" मैं कर चुका हूँ पूर्ण अपनी प्रतिज्ञाएं,
और जय हो चुकी है मेरे पौरुष की,
मेरे गलदेव अब मारे गये सुयोधन ।"[1]

"महाभारत" में शल्य पर्व के अन्तर्गत "ह्रदप्रवेशपर्व" और "गदापर्व" में ~~दुर्योधन~~ दुर्योधन के वध की कथा पर्याप्त विस्तार पूर्वक वर्णित है । अपनी सेना का संहार देखकर दुर्योधन को बहुत क्रोध हुआ । उसने अपनी बची हुई सेना को एकत्रित करके उनसे कहा कि तुम सब लोग रणभूमि में समस्त पाण्डवों तथा उनके मित्रों को मार डालो । कौरव सेना दुर्योधन की आज्ञा पाकर आगे बढ़ी । परन्तु पाण्डवों ने बाणों की वर्षा करके उस बची हुई कौरव सेना का भी संहार कर दिया ।[2] संजय से कहा कर दुर्योधन विश्राम के लिए एक महान् सरोवर में छिप गया और माया द्वारा उस सरोवर का पानी बाँध दिया । इस समय कौरव पक्ष में कृपाचार्य , अश्वत्थामा और कृतवर्मा ही शेष थे । वे वहीं सरोवर के पास आए और संजय से दुर्योधन के विषय में पूछा संजय ने दुर्योधन का कुशल समाचार बताया और बताया कि वह सरोवर में छिपा है । इसी समय कौरवों की राजमहिलाएं अपने पतियों और पुत्रों के निधन पर फूट फूट कर विलाप करने लगीं । वृद्ध राजकीय पुरुष उन स्त्रियों को सवारी में इन्द्रप्रस्थ ले जाने लगे ।[3]

युयुत्सु श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर भागते हुए व्याकुल कौरवों को लेकर उनकी रक्षा के लिए हस्तिनापुर आए । युयुत्सु ने राजकुल की स्त्रियों को राजधानी में भी पहुँचा दिया ।[4]

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४०६ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, शल्यपर्व, ह्रदप्रवेश पर्व, अ० २९, श्लोक ६-११
३. ,, ,, अ० २९, श्लोक ५४-७३
४. ,, ,, अ० २९ श्लोक ८५-९५

अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य दुर्योधन से युद्ध के विषय में वार्तालाप करने के लिए उसी सरोवर के पास गए जिसमें दुर्योधन छिपा हुआ था। परन्तु इसी समय व्याधों से दुर्योधन का पता पाकर युधिष्ठिर भी सरोवर पर गए। उन्हें देख कर कृपाचार्य आदि वहां से दूर हट गए।[१]

द्वैपायन सरोवर के पास पहुंच कर युधिष्ठिर ने देखा कि दुर्योधन ने उस सरोवर के जल को स्तंभित कर दिया है। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि मायावी दुर्योधन की इस माया को आप माया द्वारा ही नष्ट कर डालिये।[२] तब युधिष्ठिर ने सरोवर में छिपे हुए दुर्योधन को ललकारा और कहा कि तुमने किस लिए पानी में यह अनुष्ठान आरम्भ किया है। सम्पूर्ण क्षत्रियों तथा अपने कुल का संहार कराकर आज अपनी जान बचाने के लिए तुम इस जलाशय में घुसे बैठे हो? दुर्योधन उठो और हमलोगों से युद्ध करो।[३] युधिष्ठिर ने बहुत प्रकार से दुर्योधन को युद्ध के लिए ललकारा।[४] दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा कि मैं प्राणों के भय से यहां नहीं घुसा हूं, वरन् थोड़ा विश्राम कर लेने की इच्छा से ही यहां आया हूं। तुम भी थोड़ा विश्राम कर लो फिर मैं तुम सबसे युद्ध करूंगा।[५] दुर्योधन का उत्तर सुनकर युधिष्ठिर ने उससे कहा कि हम लोग तो विश्राम कर चुके हैं और बहुत देर से तुम्हें खोज रहे हैं, इसलिए अब तुम उठो और यहीं युद्ध करो।[६] दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा कि जिनके साथ में राज्य भोगना चाहता था वे सब स्वर्ग चले गए हैं। अत: अब तुम्हीं इस पृथ्वी का राज्य भोगो मैं मृगचर्म धारण करके वन में चला जाऊंगा।[७] युधिष्ठिर ने कहा कि दुर्योधन मैं तुम्हारी दी हुई इस भूमि को अधर्मपूर्वक नहीं ले सकता, क्षत्रिय के लिए दान

---

१. महाभारत, शल्य पर्व, गदापर्व अ० ३०
२. ,, ,, अ० ३१ श्लोक २-६
३. ,, ,, ,, श्लोक १८-२६ १६
४. ,, ,, ,, श्लोक २७ १८-३६
५. ,, ,, ,, श्लोक ३७-४१
६. ,, ,, ,, श्लोक ४२
७. ,, ,, ,, श्लोक ४४-५३

लेना धर्म नहीं बताया गया है । मैं तुम्हें युद्ध में परास्त करके ही इस वसुधा का उपभोग करूंगा ।[१] तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने दुर्योधन को बहुत प्रकार से फटकारा[२]।

युधिष्ठिर के फटकारने पर दुर्योधन युद्ध के लिए तत्पर हो गया और जल में खड़ा होकर बोला कि तुम सब युद्ध के लिए तत्पर होकर आए हो और मैं अकेला नि:शस्त्र तथा रथहीन हूं । तुममें से एक एक करके मुझसे युद्ध करें, मैं किसी से भी भय नहीं मानता हूं ।[3] युधिष्ठिर ने दुर्योधन से कहा कि मुझे प्रसन्नता है कि तुम क्षात्रिय का धर्म जानते हो और अभी युद्ध करने की लालसा तुममें है । तुम रणभूमि में अकेले ही एक एक के साथ लड़ना चाहते हो तो ऐसा ही सही । जो हथियार तुम्हें पसंद हो उसी को लेकर हम लोगों में से एक एक के साथ युद्ध करो । और मैं तुम्हें यह वर देता हूं कि हममें से एक का भी वध कर देने पर सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा । और यदि तुम मारे गए तो स्वर्ग लोक प्राप्त करोगे ।[४]

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को फटकारते हुए कहा कि आपने बड़े ही अनर्थ की बात दुर्योधन से कही है । गदायुद्ध में यदि वह नकुल या सहदेव को चुन ले तो क्या होगा ? फिर आपने यह भी कह दिया है कि किसी एक पाण्डव को मारकर ही वह राजा हो जायगा । यह प्रस्ताव बहुत ही अनुचित हो गया है । आपने दशायव यह दु:साहसपूर्ण कार्य कर डाला है । मैं तो भीमसेन के अतिरिक्त अन्य किसी को ऐसा नहीं देखता जो गदायुद्ध में दुर्योधन का सामना कर सके ।[५] इसी समय भीम ने श्रीकृष्ण से कहा कि आप चिन्ता न करें । मैं गदायुद्ध में अवश्य ही दुर्योधन को मार डालूंगा ।[६]

---

१. महाभारत, शल्यपर्व, गदायुद्ध, अ० ३१, श्लोक ५७,५८
२. ,, ,, ,, श्लोक ५६-७३
३. ,, ,, अ० ३२ श्लोक १०-२२
४. ,, ,, अ० ३२ श्लोक २३-२६
५. ,, ,, अ० ३३ श्लोक २-६
६. ,, ,, अ० ३३ श्लोक १८-२०

भीम और दुर्योधन गदायुद्ध के लिए तत्पर हुए, इसी समय तीर्थयात्रा से लौटकर बलराम जी वहाँ आ पहुँचे । पाण्डवों तथा श्रीकृष्ण ने उनका स्वागत किया । श्रीकृष्ण ने बलराम जी से कहा कि आप अपने दोनों शिष्यों भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध देखिये । बलराम जी ने कहा कि मैं अपने दोनों शिष्यों का गदा युद्ध देखना चाहता हूँ । तब भीम और दुर्योधन गदा लेकर युद्ध-भूमि में उतरे ।[१] दोनों में वाग्युद्ध हुआ, दुर्योधन के लिए भाँति-भाँति के अपशकुन होने लगे और तत्पश्चात् गदायुद्ध आरंभ होगया ।[२] जब युद्ध चल रहा था तो अर्जुन के संकेत से भीमसेन ने गदा द्वारा दुर्योधन की जाँघें तोड़ डालीं और उसे धराशायी कर दिया ।[३] भीम ने दुर्योधन के पास जाकर उसका तिरस्कार किया और उसके सिर के मुकुट को और उसके सिर को अपने बायें पैर से ठोकर मारी ।[४]

भीम द्वारा दुर्योधन के सिर पर लात मारने और नाभि के नीचे गदा द्वारा प्रहार करने पर बलराम को अत्यधिक क्रोध आया । उन्होंने भीम से कहा कि ये दोनों कार्य अधर्म के हैं । बलराम जी ने क्रोधित होकर , दौड़ कर भीम के ऊपर आक्रमण करना चाहा, परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें बीच ही में रोक लिया ।[५] श्रीकृष्ण ने बलराम जी को भीम के कार्य का औचित्य समझाते हुए शान्त करने की चेष्टा की ।[६] जब बलराम फिर भी शान्त न हुए तो श्रीकृष्ण के कहने पर युधिष्ठिर ने भी भीम के कार्य का समर्थन किया ।[७]

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन पर आक्षेप किया और बताया कि उसने जीवन भर अनुचित कार्य किए । अब अन्त समय में उसी का फल उसे प्राप्त हो

---

१. महाभारत , शल्य पर्व, गदापर्व, अ० ३४
२. ,, ,, ,, अ० ५६,५७
३. ,, ,, ,, अ० ५८
४. ,, ,, ,, अ० ५९ श्लोक ३-५।।
५. ,, ,, ,, अ० ६०, श्लोक १-११
६. ,, ,, ,, अ० ६०, श्लोक २४,२५
७. ,, ,, ,, अ० ६०, श्लोक ३५-३८

रहा है ।[1] दुर्योधन ने कृष्ण की बातें सुनकर उन्हें उचित उत्तर दिया । उसने कहा कि मैंने जीवन भर सुख पाया और अन्त में युद्ध में प्राण देकर स्वर्गलोक जा रहा हूं । अत: मुझे कोई खेद नहीं है । भीम ने जो मेरे सिर पर पैर रखा, उसका भी मुझे कोई दु:ख नहीं है, क्योंकि अभी थोड़ी देर में कौवे, कंक और गिद्ध भी तो इस शरीर पर अपने पांव रखेंगे ।[2]

दुर्योधन के मर जाने पर पाण्डवों तथा श्रीकृष्ण ने अपने अपने शंख बजाए और प्रसन्नता प्रकट की ।[3]

`जयभारत` के `युद्ध` शीर्षक के अन्तर्गत जो अन्तर्कथा वर्णित है उसके स्रोत महाभारत के भीष्मपर्व से शल्य पर्व तक विस्तृत रूप में प्राप्त होते हैं । `महाभारत` के विस्तृत युद्ध-वर्णन को इतने संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में ही उपस्थित किया जा सकता था । अत: गुप्त जी ने मुख्य-मुख्य घटनाओं का संक्षिप्त रूप में वर्णन करके उस प्रसंग की पूर्ति की है ।

` महाभारत` के भीष्मपर्व से शल्यपर्व तक के युद्ध का संक्षेपण `जय-भारत` के`युद्ध ` शीर्षक में किया गया है ।`महाभारत` के विशाल युद्ध वर्णन को इतने संक्षेप में केवल सांकेतिक रूप में ही चित्रित किया है । परन्तु मुख्य मुख्य प्रसंगों को कवि ने छोड़ा नहीं है ।`जयभारत` में कवि ने कथा में स्थानान्तरण भी किया है ।` महाभारत` में पहले घटोत्कच वध है और उसके पश्चात् द्रोण का वध वर्णित है । परन्तु` जयभारत` में पहले` द्रोण-वध` है और फिर घटोत्कच-वध` का वर्णन है ।

`महाभारत` में द्रोण युद्ध के अवसर पर पश्चाताप नहीं करते परन्तु `जयभारत` में वे पश्चाताप करते हैं ।[4]

गुप्त जी ने द्रोण को युद्ध से विरत करने के प्रसंग में युगादर्श का भाव रखा है । धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणाचार्य को युद्ध-विरत करने के लिए

---

१. महाभारत, शल्यपर्व, गदापर्व, अ० ६१, श्लोक ३६-४६।।
२. ,, ,, ,, श्लोक ५०-५३।।
३. ,, ,, ,, श्लोक ७१
४. जयभारत, युद्ध, पृ० ३८५ (द्वितीय संस्करण)

असत्य भाषण करते हैं। 'महाभारत' में गुरुभक्त अर्जुन ने क्रुद्ध होकर युधिष्ठिर की इस कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप से निन्दा की है। परन्तु भीम ने अर्जुन के कथन का उत्तर देते हुए कौरवों के छल, कपट, अनीति और अन्याय का वर्णन किया है, साथ ही युधिष्ठिर के इस कार्य को उचित बताया है। पाठक पर यह प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है कि युधिष्ठिर का यह कार्य अनुचित नहीं है। परन्तु सच बात यह है कि युधिष्ठिर के कथन में जो छल और कैतव का अंश है उसके दोष से युधिष्ठिर को आलिप्त नहीं किया जा सकता। औचित्य और नीति की किसी भी दशा में युधिष्ठिर का यह असत्य भाषण दोषपूर्ण ही कहलाएगा। गुप्त जी ने 'जयभारत' में पाप को पाप कहा है और सत्य की प्रतिष्ठा की है। युधिष्ठिर स्वयं अपने दोष को स्वीकार करते हैं। यथा —

' बोले धर्मराज, — " भाई भीम तू शान्त हो,
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है,
तात, मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना,
पाप जो हुआ है उसे मानना ही चाहिए।'[१]

पाप की इस स्वीकृति से पाठक भी आश्वस्त हुआ और दूसरी ओर युधिष्ठिर का चरित्र और भी उज्ज्वल हो उठा। गुप्त जी ने आत्मग्लानि में तपा कर पात्रों को और भी उज्ज्वल बनाया है। 'महाभारत' में शोक और विलाप तो है परन्तु ग्लानि की पीड़ा नहीं है।

गुप्त जी ने युधिष्ठिर को मानवता के प्रतीक-रूप में उपस्थित किया है अथवा यों कहा जा सकता है कि 'जयभारत' में युधिष्ठिर का चरित्र 'आदर्श - मानव' के रूप में चित्रित हुआ है। युधिष्ठिर द्वारा कवि ने युद्ध और हिंसा के प्रति उद्वेग प्रदर्शित किया है।

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ३८७ (द्वितीय संस्करण)

यथा —

" राम, अब भी हैं यही कहता हूं मन से
कामना नहीं है मुझे राज्य की वा स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी, चाहता हूं मैं यही
ज्वाला ही जुड़ा सकूं, मैं अपनों के दुःख की,
भोगूं अपनों का सुख, मेरा पर कौन है?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों —
सब शुभ पावें, न हो दुखी कहीं कोई भी ।"[1]

प्रस्तुत अन्तर्कथा में युद्ध-लिप्सा की निंदा करते हुए जो विचार व्यक्त किए गए हैं उन पर गांधीवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। कवि ने युद्ध के दुष्परिणामों को दिखाते हुए वात्सल्य और करुणा भावों की सुंदर व्यंजना की है —

" बैठ जिन कन्धों पर शैशव में खेले थे
काट डाला यौवन में आप उन्हें क्रूरों ने
कंधों पर जिन्हें चढ़ाये फिरे प्यार से
करके हताहत गिराया उन्हें धूलि में,
धिक्! यह धीर कर्म, शर्म कहां इसमें
धिक्! नर नागरों के अर्थ की अनर्थता ।"[2]

'महाभारत' के कुछ प्रसंगों को गुप्त जी ने छोड़ दिया है, कुछ को अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया है और कुछ प्रसंगों का संकेत मात्र दिया है । ऐसे परिवर्तन केवल कथा में विस्तार को बचाने के लिए ही किए गए हैं। जैसे 'महाभारत' में दुर्योधन शल्य को विधिवत अपनी सेना का सेनापति बनाते हैं और उनका अभिषेक करते हैं।[3] 'जयभारत' में शल्य के अभिषेक का वर्णन नहीं है। दुर्योधन-वध के प्रसंग में 'महाभारत' में बलराम जी के आने पर दुर्योधन

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४१० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४०० ,,
३. महाभारत, शल्यपर्व, अ० ७, श्लोक ६,७

और भीम का गदायुद्ध आरम्भ होता है ।[१] परन्तु 'जयभारत' में बलराम गदायुद्ध के पश्चात् वहां पहुंचते हैं । 'महाभारत' में युधिष्ठिर दुर्योधन से क्षमा-याचना नहीं करते परन्तु 'जयभारत' में कवि ने धर्मराज द्वारा दुर्योधन से क्षमा-याचना करवा कर धर्मराज के चरित्र को और भी उज्ज्वल कर दिया है । युधिष्ठिर अधीर होकर भावावेश में दुर्योधन के पार्श्व में धूल पर बैठ जा गए और उसे अंक में समेट कर आर्द्रवाणी से बोले —

'भाई, यदि अब भी तू भूल नहीं मानता,
तो मैं मानता हूं, उसे तू क्षमा ही कर दे ।'[२]

४१. हत्या

'जयभारत' के अन्तर्गत प्रस्तुत अन्तर्कथा में 'महाभारत' के युद्ध के पश्चात् रात्रि में पाण्डवों के शिविर में जाकर अश्वत्थामा द्वारा पांचालों तथा द्रौपदी के पांच पुत्रों की हत्या का वर्णन है । प्रतिशोध की भावना से पूर्ण अश्वत्थामा रात्रि में कौओं पर उल्लू का आक्रमण देखकर एकाएक विचार करता है कि मैं क्यों न इस समय सोते हुए पांचालों और पाण्डवों को उनके शिविर में जाकर मार डालूं । वह इस विचार से प्रसन्न होकर उठा और कृपाचार्य तथा कृतवर्मा को जगा कर अपना अभिप्राय बताया । उसने कहा —

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४१० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, युद्ध पृ० ४१० ,,

आओ, आओ—से सुप्त शत्रुओं को समाप्त कर डालें,
दुर्योधन का प्रिय कार्य साथ निज-क्रोध अबाध निकालें।[१]

कृपाचार्य और कृतवर्मा ने अश्वत्थामा का अभिप्राय जानकर उसे इस निकृष्ट कार्य से रोकने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि ऐसी जय से तो पराजय ही भली है। हम युद्ध में शत्रु के सम्मुख खड़े होकर जूझ मरें तो भी उचित होगा, कोई हमें कायर तो न कहेगा, परन्तु तुम ब्राह्मण होकर यदि इस प्रकार राक्षसी हिंसा करोगे तो यह पाप होगा इस प्रकार समझाए जाने पर भी अश्वत्थामा न माना, और उसने कहा —

" रहना तुम द्रष्टा मात्र, बनूंगा आज स्वयं मैं कर्ता,
विधि-विष्णु-तुल्य तुम शिविर-द्वार पर, मैं भीतर हर-हर्ता
अथवा बैठो तुम धर्म कर्म लेकर, मैं चला अकेला।"

अश्वत्थामा यह कह कर पाण्डवों के शिविर की ओर चल पड़ा। उसके पीछे-पीछे कृपाचार्य और कृतवर्मा भी चले। पार्थ के शिविर के प्रहरी निद्रा में ऊंघ रहे थे, उन्हें मार कर अश्वत्थामा ने शिविर में प्रवेश किया और पांचालों पर पहले अपना क्रोध उतारा। धृष्टद्युम्नको गला-घोंटकर मार डाला। शिखंडी की भी हत्या करडाली। द्रौपदीके पांच पुत्रों की भी हत्या करडाली। उस रात्रि पांचों पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ कहीं गए थे।

१, जयभारत, पृ० ४१२ (द्वितीय संस्करण)

सात्यकि भी उनके साथ गए थे। अतः वे सब बच गए। अश्वत्थामा के द्वारा नृशंस हत्यायें होने पर शिविर में भगदड़ मच गई। जो उठ कर भागे, वे शिविर के द्वार पर कृतवर्मा के द्वारा मार डाले गए। इस प्रकार पूरा संहार करके अश्वत्थामा ने शिविर में आग लगा दी।

प्रातःकाल पाण्डव ज्यों ही अपने शिविर में लौट कर आए तो यह काण्ड देख कर आहत से हो गए। पांचाली व्याकुल हो रही थी। वह श्रीकृष्ण से कहने लगी—

पतियों की रक्षा हुई राम, यह भी है कृपा तुम्हारी,
सब कुछ सहने को बाध्य आप ही आप क्षत्रिय नारी।

< <

मैंने उत्साहित किया स्वयं ही जिन्हें युद्ध करने को
भेजा था निश्चय जिन्हें विजय वा अभय मृत्यु वरने को
कैसे उन सबका शोक करूं मैं? होकर अब अनपत्या,
पर मेरे कहां वे हुई यहां तो उन पांचों की हत्या।[१]

द्रौपदी ने अपने दुःख और पश्चात्ताप के उद्गारों को प्रकट किया। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को सांत्वना दी, और कहा—

" बहन, था होनहार ऐसा ही,
जो जन जैसा, सुख-दुःख-भार भी है उसका वैसा ही।
सहना पड़ता है, यहां सभी को, संभलो और संभालो,
जो चिरसंगी हैं क्षतच्छिन्न-से, उनको देखो भालो।"[२]

गुरुपुत्र अश्वत्थामा द्वारा किए गए इस भीषण काण्ड को देखकर भीम क्रोधित होकर उसे मारने की इच्छा से चल पड़े। श्रीकृष्ण अन्य

---

१. जयभारत, हत्य, पृ० ४१६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,

पाण्डवों को वहीं रोककर केवल अर्जुन को अपने साथ लेकर भीम के पीछे-पीछे गए । गंगा के तट पर उन्हें अश्वत्थामा मिला । अश्वत्थामा ने उन्हें देखकर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया और कहा "पाण्डव रहित जगत हो ।" अर्जुन ने अपना भी तीर छोड़ा और कहा " आचार्य पुत्र का कुशल प्रथम, फिर हम सबका मंगल हो ।" दोनों के अस्त्र मिलकर शान्त हो गए । इसी समय भीम ने कूद कर अश्वत्थामा के केश पकड़ लिए । मुनियों ने सलाह दी कि इसे मारने से तो अच्छा है कि इसके पास एक मणि है, इसके केश काट कर वह मणि छीन लो जिससे सड़-गल कर इसे मरना पड़े । पार्थ ने ऐसा ही किया और अश्वत्थामा से कहा — " जाओ, जीवन झेलो ।"

'जयभारत' में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत महाभारत के सौप्तिक पर्व में प्राप्त होते हैं । युद्ध के पश्चात रात्रि में अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा वन में चले गए । रात्रि में जब कृपाचार्य और कृतवर्मा निद्रा में लीन थे अश्वत्थामा जागृत था । उसने देखा कि एक वृक्ष पर बहुत से कौए सोए हैं और अचानक एक उल्लू ने आकर उनपर आक्रमण कर दिया और सोए हुए बहुत से कौओं को मार डाला । अपने शत्रुओं से बदला लेकर वह उलूक बहुत प्रसन्न हुआ । रात्रि में उल्लू के द्वारा किए गए उस कपटपूर्ण क्रूर कर्म को देखकर स्वयं भी वैसा ही करने का संकल्प करके अश्वत्थामा सोचने लगा कि इस पक्षी ने मुझे अच्छा उपदेश दिया । मुझे भी इसी प्रकार सोते हुए शत्रुओं को मार डालना चाहिए ।[१] इस प्रकार के क्रूरतापूर्ण बुद्धि का आश्रय लेकर , दृढ़ निश्चय करके अश्वत्थामा ने कृतवर्मा और कृपाचार्य को जगाया और अपना निश्चय उन्हें बताया । अश्वत्थामा का निश्चय सुनकर वे लज्जा से गड़ गए और उनसे कोई उत्तर देते न बना ।[२] कृपाचार्य ने अश्व-त्थामा को दैव की प्रबलता बताते हुए कर्तव्य के विषय में सत्पुरुषों से सलाह लेने की प्रेरणा दी ।[३] परन्तु अश्वत्थामा न माना । उसने कृपाचार्य

---

१. महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० १, श्लोक ३१-४५।। (गीताप्रेस,गोरखपुर)

२. ,, ,, श्लोक ५६।। - ५७।। ,,

३ ,, अध्याय २

और कृतवर्मा को अपना क्रूर निश्चय बताते हुए कहा कि आज अपनी विजय हुई जान कर पांचाल योद्धा गढ़े हर्ष में कवच उतार कर बेखटके सो रहे होंगे। मैं उनके शिविर में घुस कर उनसब का संहार कर डालूंगा।[1] अश्वत्थामा के विचार को जानकर कृपाचार्य ने उसे समझाते हुए कहा कि यह तो बड़ा शुभ है कि तुम अपने शत्रुओं से बदला लेने की इच्छा करते हो, परन्तु तुम रथियों में श्रेष्ठ हो इस समय विश्राम करो। तुम प्रातः युद्ध करना और शत्रुओं का संहार कर डालना। कल हम भी युद्ध में तुम्हारे सहायक होंगे। अश्वत्थामा कृपाचार्य के इस विचार से सहमत न हुआ। उसने कहा कि मैं तो आज सोते समय शत्रुओं का संहार करके निश्चिंत होने पर ही अब विश्राम करूंगा।[2] कृपाचार्य के बहुत समझाने पर भी अश्वत्थामा न माना और अपना रथ जोत कर शत्रुओं के शिविर की ओर चल दिया। कृपाचार्य और कृतवर्मा भी उसके पीछे पीछे चल दिए। वे तीनों पाण्डवों और पांचालों के उस शिविर के पास गए, जहां सब लोग सो रहे थे। शिविर के द्वार पर जाकर महारथी अश्वत्थामा खड़ा हो गया।[3] अश्वत्थामा ने शिविर द्वार पर एक अद्भुत पुरुष देखकर उस पर अस्त्रों से प्रहार किया। अस्त्रों के अभाव में वह शिव की शरण में गया और शिव की स्तुति करके उनसे एक उत्तम खड्ग प्राप्त किया।[4] तत्पश्चात् अश्वत्थामा ने शिविर में प्रवेश किया और कृपाचार्य तथा कृतवर्मा द्वार पर ही खड़े रहे। अश्वत्थामा ने पहले सोते हुए धृष्टद्युम्न को पैर से ठोकर मार कर जगाया और उसे मार डाला। तत्पश्चात् अश्वत्थाम ने सोए हुए पांचाल आदि समस्त वीरों का संहार कर डाला। जो वीर शिविर के बाहर भागने का प्रयत्न करने लगे उनका वध कृतवर्मा और कृपाचार्य ने कर डाला सम्पूर्ण संहार कर डालने पर अश्वत्थामा ने कृपाचार्य और कृतवर्मा से कहा कि

---

१. महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० ३, श्लोक २५,२६ गीताप्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, अ० ४ ,,
३. ,, ,, अ० ५ ,,
४. ,, ,, अ० ६,७ ,,

आज मैं बहुत प्रसन्न हूं क्योंकि सारे पांचाल, द्रौपदी के सभी पुत्र, सोमवंशी, क्षत्रिय तथा मत्स्य देश के अवशिष्ट सैनिक मेरे हाथों से मारे गए हैं। तत्पश्चात ये तीनों मरणासन्न दुर्योधन को यह समाचार देने गए।[१] दुर्योधन की कुछ कुछ सांस चल रही थी। उसकी दयनीय दशा देख कर कृपाचार्य और अश्वत्थामा ने विलाप किया। तत्पश्चात् उनके मुख से पांचालों के वध का वृत्तान्त जान कर दुर्योधन अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने प्राण त्याग दिए।[२]

धृष्टद्युम्न के सारथी ने शिविर के संहार का सम्पूर्ण वृत्तान्त युधिष्ठिर को सुनाया। युधिष्ठिर व्याकुल होकर विलाप करने लगे। वे अपने भाइयों सहित शिविर में गए और मारे हुए पुत्र आदि को देखकर भाइयों सहित शोकातुर हो उठे।[३] द्रौपदी ने अपने पतियों के सामने विलाप किया और द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के वध के लिए आग्रह किया। उसने युधिष्ठिर से कहा कि द्रोणपुत्र के मस्तक में एक मणि है जो उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हुई है। उस पापात्मा को मार कर यदि वह मणि ला दी जायगी तो मैं उसे देख लूंगी। उस मणि को आपके सिर पर धारण कराकर ही मैं जीवन धारण कर सकूंगी। तत्पश्चात द्रौपदी ने भीम से कहा कि आप उस अश्वत्थामा को मार सकते हैं। भीम ने द्रौपदी का विलाप सुनकर अश्वत्थामा को मारने का निश्चय किया और जिस मार्ग से अश्वत्थामा गया था उसी मार्ग पर चल पड़े।[४] श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि भीम अकेले ही अश्वत्थामा से युद्ध करने गए है और अश्वत्थामा को ब्रह्मशिर नामक अस्त्र का भी ज्ञान है, अतः आपको भी भीम की रक्षा के लिए जाना चाहिए।[५] श्रीकृष्ण का आदेश पाकर श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन और

---

१. महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० ८, गीताप्रेस, गोरखपुर
२. ,, अ० ९ ,,
३. ,, अ० १० ,,
४. ,, अ० ११ ,,
५. ,, अ० १२ ,,

युधिष्ठिर भी भीम के पीछे चले । भीम ने गंगातट पर पहुंच कर अश्वत्थामा को ललकारा । अश्वत्थामा ने भीम को ललकारते देखा और पीछे पीछे श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन और युधिष्ठिर को आते देखा तो वह घबरा गया और उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया ।[१] यह देखकर अर्जुन ने भी अपने गाण्डीव द्वारा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया । दोनों के अस्त्र अग्नि प्रज्वलित करने लगे । इसी समय वहां नारद और वेदव्यास मुनि ने दर्शन दिए, वे उन शस्त्रों को शान्त कराने के लिए वहां आए थे ।[२] वेदव्यास जी की आज्ञा से अर्जुन ने अपने शस्त्र का उपसंहार कर लिया । अश्वत्थामा ने भी उन ऋषियों को अपने सामने खड़ा देख कर अपने शस्त्र को लौटाने का प्रयत्न किया, पर वह असफल रहा । उसने महर्षि वेदव्यास से अपनी असमर्थता प्रकट की । मुनि ने कहा कि तुम्हारे सिर में जो मणि है वह पाण्डवों को दे दो । इस मणि को लेकर ही पाण्डव तुम्हें प्राण दान देंगे । अश्वत्थामा ने मणि पाण्डवों को देना स्वीकार कर लिया । उसने कहा कि जो शस्त्र मैंने छोड़ा है, उसे मैं वापस लेने में असमर्थ हूं अत: वह पाण्डवों के गर्भों पर गिरेगा ही । मुनि ने अश्वत्थामा की बात मान ली ।[३] श्रीकृष्ण ने यह जानकर कि इसका शस्त्र पाण्डवों के गर्भ पर गिरेगा , अश्वत्थामा से कहा कि उत्तरा का पुत्र परीक्षित ही पुन: पाण्डव वंश का प्रवर्तक होगा । यह बात सुनकर अश्वत्थामा कुपित हो गया उसने कहा कि आप पाण्डवों का पक्ष लेते हैं अब मेरा यह अस्त्र उत्तरा के ही गर्भ पर गिरेगा , जिसकी आप रक्षा करना चाहते हैं । श्रीकृष्ण ने अश्वत्थामा से कहा कि ठीक है उत्तरा का गर्भ मरा हुआ पैदा होगा परन्तु फिर उसे लम्बी आयु मिलेगी । साथ ही श्रीकृष्ण ने

---

१. महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० १३, गीताप्रेस गोरखपुर
२. ,, ,, अ० १४ ,,
३. ,, ,, अ० १५ ,,

अश्वत्थामा को शाप दिया । शाप पाकर मणि पाण्डवों को देकर अश्वत्थामा वन को चला गया । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण और द्वैपायन व्यास तथा नारद मुनि के साथ पाण्डव द्रौपदी के पास आए । भीमसेन ने वह मणि द्रौपदी को देदी और कहा कि हमने अश्वत्थामा को जीतकर केवल ब्राह्मण और गुरुपुत्र होने के कारण ही उसे जीवित छोड़ दिया है । तत्पश्चात् द्रौपदी के आग्रह से युधिष्ठिर ने वह मणि अपने सिर पर धारण कर ली ।[१]

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी यह अन्तर्कथा वर्णित है । परन्तु इस पुराण को इस कथा का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इस कथा में 'जयभारत ' तथा 'महाभारत' की कथा से बहुत अन्तर है । श्रीमद्भागवत पुराण में यह कथा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है ।[२] शौनक जी के पूछने पर श्री सूत जी उन्हें अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पुत्रों के मारे जाने और अर्जुन के द्वारा अश्वत्थामा के मानमर्दन की कथा सुनाते हैं ।

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार जिस समय महाभारत के युद्ध में कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों के बहुत से वीर वीरगति को प्राप्त हो चुके थे और भीमसेन की गदा के प्रहार से दुर्योधन की जांघ टूट चुकी थी, तब अश्वत्थामा ने अपने स्वामी दुर्योधन का प्रिय कार्य समझकर द्रौपदी के सोते हुए पुत्रों के सिर काटकर उसे भेंट किए, यह घटना दुर्योधन को भी अप्रिय ही लगी । द्रौपदी अपने पुत्रों का निधन सुनकर अत्यन्त दु:खी हो गई अर्जुन ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि मैं तुम्हारे आंसू तब पोछूंगा, जब अश्वत्थामा का सिर गाण्डीव धनुष के बाणों से काटकर तुम्हें भेंट करूंगा और पुत्रों की अन्त्येष्टि क्रिया के बाद तुम उस पर पैर रख स्नान करोगी । अर्जुन ने इस प्रकार द्रौपदी को सान्त्वना दी और भगवान श्रीकृष्ण की सलाह से उन्हें सारथि बनाकर कवच धारण कर और अपने भयानक गाण्डीव धनुष को लेकर

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण, प्रथम स्कन्ध, अ० ७ (गीताप्रेस,गोरखपुर)

वे रथ पर सवार हुए तथा गुरुपुत्र अश्वत्थामा के पीछे दौड़ पड़े। बच्चों की हत्या से अश्वत्थामा को आत्मग्लानि हुई और मन उद्विग्न हो गया था। जब उसने दूर से ही देखा कि अर्जुन मेरी ओर झपटे हुए आ रहे हैं तब वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए भागने लगा। जब उसने देखा कि मेरे रथ के घोड़े थक गए हैं और मैं बिल्कुल अकेला हूं, तब उसने अपने को बचाने के लिए एकमात्र साधन ब्रह्मास्त्र को ही समझा। यद्यपि उसे ब्रह्मास्त्र लौटाने की विधि मालूम न थी फिर भी उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। उससे सब दिशाओं में एक बड़ा प्रचण्ड तेज फैल गया। अर्जुन ने देखा कि अब तो मेरे प्राणों पर ही आ बनी है तब उन्होंने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की और ब्रह्मास्त्र का उपाय पूछा। श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम ब्रह्मास्त्र के तेज से ही इस ब्रह्मास्त्र की प्रचण्ड आग को बुझा दो। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की आज्ञा मान कर ब्रह्मास्त्र के निवारण के लिए ब्रह्मास्त्र का ही संधान किया। दोनों ब्रह्मास्त्रों से सभी दिशाओं में आग फैलने लगी। उस आग से प्रजा का और लोकों का नाश होते देख कर भगवान श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने उन दोनों को ही लौटा लिया। अर्जुन बहुत क्रोधित थे, उन्होंने झपटकर अश्वत्थामा को पकड़ लिया और शिविर में ले जाने को तत्पर हुए। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि इसे जीवित छोड़ देना उचित नहीं है। इसे तो मार ही डालना चाहिए। इसने रात में सोए हुए निरपराध बालकों की हत्या भी की है। फिर तुमने द्रौपदी से इसके वध की प्रतिज्ञा की है। कृष्ण के समझाने पर भी अर्जुन के मन में गुरुपुत्र को मारने की इच्छा नहीं हुई। वे अश्वत्थामा को शिविर में लाए और द्रौपदी को उसे सौंप दिया। द्रौपदी अश्वत्थामा को दीन दशा में देखकर दयार्द्र हो उठीं और अश्वत्थामा को क्षमा कर दिया। परन्तु भीमसेन ने कहा कि इसका तो वध ही उचित है। श्रीकृष्ण ने कहा कि पतित ब्राह्मण का भी वध नहीं करना चाहिए, परन्तु आततायी को मार ही डालना चाहिए। मेरी इन दोनों बातों का पालन करना चाहिये। अर्जुन भगवान के हृदय की बात ताड़ गए और उन्होंने अपनी तलवार से अश्वत्थामा के सिर की मणि

उसके बालों के साथ उतार ली । अब अश्वत्थामा मणि और ब्रह्मतेज से रहित हो गया ।[१]

महाभारतीय कथा और श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित इस कथा को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'जयभारत' में 'हत्या' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित अन्तर्कथा के मूलस्रोत महाभारत में ही प्राप्त होते हैं । श्रीमद्-भागवत पुराण में यह प्रसंग आया अवश्य है, परन्तु उसमें कुछ अन्तर है ।

'जयभारतकार' ने महाभारतीय कथा को किंचित नए परिवेश में और अपेक्षाकृत संक्षेप में उपस्थित किया है । इसमें महाभारतीय कथा के कुछ अंशों को गुप्त जी ने छोड़ दिया है । जैसे --कृपाचार्य द्वारा दैव की प्रबलता का विवेचन,[२] अश्वत्थामा का अस्त्र प्राप्ति हेतु भगवान शिव की स्तुति,[३] स्तुति के समय अग्निवेदी भूतों का प्राकट्य ।[४] कवि ने अतिप्राकृत तत्वों की उपेक्षा की है और अनावश्यक विस्तार भी नहीं होने दिया है । प्रस्तुत अन्तर्कथा में कवि ने अश्वत्थामा की क्रूरता और अमानवीय अत्याचार की अभिव्यक्ति की है । द्रौपदी का चारित्रिक उत्कर्ष यह कहला कर व्यक्त करवाया है --

" वह भूला अपना मनुष्यत्व
तुम अपने को न भुलाना ।"[५]

द्रौपदी अपने को ही युद्ध का मूल समझ कर विलाप कर उठती है --

" जन क्यों न कहें, यह पाप-कलह सब मैंने ही करवाया ,
पति और पिता के वंश का नाश कर लाखों को मरवाया ।"[६]

कवि ने इस कथा द्वारा पाण्डवों का उदात्त-वीरत्व भी निरूपित किया है ।

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण, प्रथम स्कंध, अ० ७ (गीताप्रेस गोरखपुर)
२. महाभारत, सौप्तिक पर्व, अ० २ ,,
३. ,, अ० ६ ,,
४. ,, अ० ७ ,,
५. जयभारत, हत्या, पृ० ४१७ (द्वितीय संस्करण)
६. ,, पृ० ४१६ ,,

४२ . विलाप

'जयभारत' की प्रस्तुत अन्तर्कथा में संजय का धृतराष्ट्र को युद्ध का वृत्तान्त तथा कौरवों की हत्या का समाचार देना और उसे सुनकर धृतराष्ट्र के विलाप का वर्णन है । संजय के सब वृत्तान्त कह चुकने पर धृतराष्ट्र बोले —

" सुनकर वचन यथार्थ हाय! ये संजय, तेरे,
जीवित ही जल रहे अवश सब अवयव मेरे ।
यह सर्वक्षय अन्त समय में मैंने भोगा ,
क्या मुझ सा हतभाग्य विश्व में कोई होगा ?
यह भी बनता नहीं, किसी पर रोष धरूं मैं,
क्या कह कर उन पाण्डुसुतों पर रोष करूं मैं ?
मेरा ही दुर्भाग्य हाय । क्या और कहूं मैं ?
जीवित कैसे मृत्यु बिना अब और रहूं मैं ।"[१]

धृतराष्ट्र उन सब घटनाओं का स्मरण करने लगे , जब जब कौरवों ने पाण्डवों को सताने या मार डालने की चेष्टा की तब तब उन्हें मुंह की खानी पड़ी थी । धृतराष्ट्र कहने लगे —

" दुर्योधन का द्वेष पाण्डवों पर जब देखा,
दिन दिन बढ़ने लगा दुराचारों का लेखा ,
देखा चारों ओर उपस्थित जब भय मैंने ,
जान लिया था तभी भरत-कुल का क्षय मैंने ।"[२]

धृतराष्ट्र बारम्बार अपने पुत्रों के अविवेकपूर्ण कार्यों का स्मरण कर व्यथित होने लगे । इसी समय गांधारी ने आकर उन्हें संभालने की चेष्टा की —

---

१. जयभारत, विलाप, पृ० ४१६ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ०४१६ ,,

" सहकर किसी प्रकार शोक की दुस्सह ज्वाला ,
उस देवी ने स्वयं संभलकर उन्हें संभाला ।"[1]

अन्त में वे सब कुरुक्षेत्र के लिए प्रस्थित हुए । वहां युधिष्ठिर क्षमा-याचना करते हुए धृतराष्ट्र के चरणों पर गिर पड़े —

" मुझ नृशंस को मृत्यु दण्ड दो देव, दयाकर ,"
गिरे युधिष्ठिर मान भूल धृतराष्ट्र पदों पर"[2]

धृतराष्ट्र युधिष्ठिर की इस विनम्रता से गद्गद् हो गए —

" नृप गद्गद् हो गए" आत्मघाती मैं होऊं ?
हम अंधों की यष्टि तुम्हीं, तुमको भी खोऊं ?"[3]

द्रौपदी ने भी गांधारी के चरणों को पकड़ कर कहा —

"हतवत्सा मैं योग्य किंकरी आज तुम्हारी ,
दो कुछ भी आदेश, देवि, मैं उस पर वारी ।"[4]

गांधारी ने उत्तर दिया—

" तेरे दुःख पर बहू, आज ईर्ष्या है मुझको,
मैं तो जठरा, बहुत भोगना होगा तुझको ।
वैरानियां निरपराधिनी हैं सब तेरी,
उन्हें देखियो, यही याचना-आज्ञा मेरी ।"[5]

युधिष्ठिर जब कुंती से मिले तो विलाप करते हुए कहने लगे - यह कैसा कर्तव्य अम्ब ?" कुंती ने कहा —

---

१. जयभारत, विलाप, पृ० ४२२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४२२ ,,
३. ,, पृ० ४२२ ,,
४. ,, पृ० ४२३ ,,
५. ,, पृ० ४२३ ,,

" वत्स अन्य गति न थी, यही संतोष करो तुम,
तजो आत्म-अवसाद, प्रजा के कोष भरो तुम ।"[१]

'जयभारत' में 'विलाप' शीर्षक से दी हुई अन्तर्कथा के स्रोत 'महाभारत' के स्त्रीपर्व के 'जलप्रदानिकपर्व' में प्राप्त होते हैं । यह कथा अत्यन्त संक्षेप रूप में 'जयभारत' में वर्णित है । कवि ने 'महाभारत' के कई प्रसंगों को इसमें छोड़ दिया है । 'जयभारत' में कवि ने संक्षेप में कह दिया है कि " विदुरादिक ने उन्हें व्यर्थ ही सा समझाया ।"[२] परन्तु 'महाभारत' में धृतराष्ट्र को विभिन्न पात्रों द्वारा समझाए जाने का विस्तृत वर्णन है । धृतराष्ट्र जब विलाप करने लगते हैं तो संजय उन्हें सान्त्वना देते हैं ।[३] फिर विदुर जी अनेक तर्क उपस्थित करके धृतराष्ट्र को समझाते और सांत्वना देते हैं ।[४] व्यास जी भी धृतराष्ट्र के शोक को दूर करने के लिए उन्हें समझाते हैं ।[५]

'जयभारत के अनुसार इस अवसर पर गांधारी भी आकर धृतराष्ट्र को समझाती है और कुरुक्षेत्र चल कर पुत्र-पौत्रों की क्रिया करने के लिए कहती है । यथा —

" गांधारी ने कहा — गये हैं वे अपराङ्मुख ।
सुनते थे हम उन्हें उन्हीसे, अब न सुनेंगे,
पर अपनों में वीर उन्हें चिरकाल गुनेंगे ।
चलो नाथ, हम करें क्रिया तो उनकी पहले,
देखें फिर, यह भूमि भार अपना यदि सह ले ।" [६]

---

१. जयभारत, विलाप, पृ० ४२३ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४२२ ,,
३. महाभारत, स्त्री पर्व, जलप्रदानिक पर्व, अ० १
४. ,, ,, अ० २- श्लोक ७,६
५. ,, ,, अ० ८
६. जयभारत, विलाप, पृ० ४२२

गांधारी का इस अवसर पर आकर धृतराष्ट्र को समझाना और कुरुक्षेत्र चलने का प्रस्ताव कवि की मौलिक कल्पना है । ऐसे वर्णन से कवि गांधारी के अन्दर साहस आदि गुणों को दिखाता है । महाभारत में यह वर्णन नहीं है । 'महाभारत' में विदुर आदि के समझाने पर धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र चलने के लिए तत्पर होते हैं और कहते हैं कि गांधारी को तथा भरतवंशी अन्य सब स्त्रियों को शीघ्र ले आओ तथा वधू कुंती को साथ लेकर, वहां जो अन्य स्त्रियां हों, उन्हें भी बुला लो । यथा -

शीघ्रमानय गान्धारीं सर्वाश्च भरतस्त्रियः ।
वधूं कुन्तीमुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः ।[1] ।२।।३

धृतराष्ट्र स्त्रियों और प्रजा के लोगों के सहित रणभूमि में जाने के लिए नगर से बाहर निकले ।[2] रणभूमि में युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित धृतराष्ट्र से मिलने चले । युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को जाकर प्रणाम किया ।[3] 'जयभारत' में जिस प्रकार से धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर का प्रेमपूर्ण मिलन वर्णित है वह 'महाभारत' में उस प्रकार का नहीं है । गुप्त जी ने इस स्थल पर एक पारिवारिक मिलन का सा चित्र अपनी कल्पना के द्वारा किया है । 'जयभारत' में गांधारी और द्रौपदी का मिलन भी इसी ढंग का पारिवारिक है । यहां भी कवि की अपनी मौलिक कल्पना है । 'महाभारत' के अनुसार जब धृतराष्ट्र पाण्डवों से मिलते हैं तो वे भीम को मार डालने के लिए खोजने लगते हैं । भीमसेन के प्रति धृतराष्ट्र के अशुभ संकल्प को जानकर श्रीकृष्ण ने भीमसेन को झटका देकर हटा दिया और दोनों हाथों से उनकी लोहमयी मूर्ति को धृतराष्ट्र के सामने कर दिया । धृतराष्ट्र ने उस लौह प्रतिमा को ही असली भीम समझा और उसे दोनों हाथों से दबाकर तोड़ डाला ।[4] जब धृतराष्ट्र का

---

१. महाभारत, स्त्रीपर्व, जलप्रदानिक पर्व, अ०१०, श्लोक २
२. ,, ,, अ० १०
३. ,, ,, अ० १२ श्लोक १-२-१०
४. ,, ,, अ० १२, ,, १५-१७

क्रोध शान्त हुआ तो वे भीम के लिए पश्चात्ताप करने लगी । तब श्रीकृष्ण ने उन्हें बताया कि वह तो भीम की लौह प्रतिमा थी ।[1] यह वर्णन जयभारत में नहीं वर्णित है । 'महाभारत' के अनुसार गांधारी पाण्डवों को शाप देने के लिए तत्पर हो जाती है । उस समय व्यास जी, उन्हें शांत करते हैं ।[2] यह वर्णन भी 'जयभारत में नहीं है ।

कवि ने युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र तथा द्रौपदी और गांधारी की सकरुण भेंट का वर्णन किया है । इसमें पारस्परिक विनय, शील और सौजन्य प्रकट हुआ है । इस कथा में कवि ने युधिष्ठिर के धर्म-युद्ध का औचित्य प्रकट किया है । युद्ध के दुरन्त परिणाम की शोक-व्यंजना को कवि यों व्यक्त करता है कि विजयी होकर भी युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के सम्मुख स्वयं को अपराधी मानते हैं और द्रौपदी, गांधारी के सम्मुख स्वयं को किंकरी कहती है ।

४३. कुरुक्षेत्र

प्रस्तुत कथा में, कुरुक्षेत्र में पहुंचकर और दिव्य दृष्टि प्राप्त करके गांधारी वहां का करुण दृश्य देखती है और विलाप करते हुए श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके कहती है -

> " इस दुर्दशामय दृश्य के ही देखने को लोक में,
> जो मृत्यु के उपरान्त भी डाले रखा शोक में
> हे देवकीनन्दन यहां क्या दिव्यदृष्टि मुझे मिली ?
> हा ! क्या हुई वह आज जो थी भव्य सृष्टि मुझे मिली ?[3]

गांधारी भांति-भांति से अपने पुत्रों का स्मरण करके विलाप करती है । वह अपने पति के अंध-पुत्रप्रेम के लिए भी पश्चात्ताप करती है -

---

१. महाभारत, स्त्रीपर्व, जलप्रदानिक पर्व, अ० १२, श्लोक २१-२३

२. ,, ,, अ० १४

३. जयभारत, कुरुक्षेत्र, पृ० ४२४ (द्वितीय संस्करण)

वात्सल्य के वश था जिन्होंने कुछ न पुत्रों से कहा,
है सोच सर्वाधिक मुझे निज वृद्ध पति का ही अहा ।" [1]

गांधारी श्रीकृष्ण से कहती हैं कि यदि तुम चाहते तो इस काण्ड को रोक सकते थे । वह क्रोधित होकर श्रीकृष्ण से कहती है -

" कुरुक्षेत्र सरीखा वृष्णि-कुल भी लड़ परस्पर नष्ट हो,
तो पूछती हूँ, कृष्ण, क्या तुमको न इससे कष्ट हो ?" [2]

श्री कृष्ण गांधारी के मन के भाव को समझ गए और उन्होंने कहा -

" हे देवि, जो तुमने कहा, समझो घटित उस बात को ।
मेरे समय के साथ मेरा कार्य पूर्णप्राय है,
पर एक धीरज ही तुम्हारे शोक का सदुपाय है ।" [3]

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर गांधारी अपने कथन की कटुता को समझ गईं और क्षमा याचना करते हुए बोलीं -

" क्या कह गई मैं हाय । मेरा दोष देव, क्षमा करो,
मुझ दु:खिनी हतबुद्धि का अपराध मत मन में धरो ।" [4]

गांधारी के पश्चाताप को देखकर श्रीकृष्ण ने उन्हें सांत्वना दी ।

' जयभारत ' में वर्णित प्रस्तुत कथा के मूलस्रोत महाभारत के स्त्रीपर्व में स्त्रीविलाप पर्व के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं । [5] आधार ग्रन्थ में यह कथा पर्याप्त विस्तारपूर्वक दी गई है परन्तु गुप्त जी ने उसे अत्यन्त संक्षेप में वर्णित किया है ।

---

१. जयभारत, कुरुक्षेत्र, पृ० ४२७ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४२८ ,,
३. ,, पृ० ४२८ ,,
४. ,, पृ० ४२८ ,,
५. महाभारत, स्त्रीपर्व, स्त्रीविलाप पर्व, अ० १६-२५

वेदव्यास जी के वरदान से गांधारी को दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है। गांधारी युद्धस्थल में मारे गए योद्धाओं तथा रोती हुई बधुओं को देखकर श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप करती है।[१] वह दुर्योधन तथा उसके पास रोती हुई पुत्रवधू को विलाप करते देख कर[२] अपने अन्य पुत्रों तथा दु:शासन को,[३] कर्ण, दुर्मुख, चित्रसेन, विविंशति तथा दु:सह को,[४] उत्तर तथा विराट कुल की स्त्रियों के शोक को;[५] देखकर श्रीकृष्ण के सम्मुख विलाप करती है। जयद्रथ को देखकर तथा दु:शला पर दृष्टिपात करके,[६] शल्य,भगदत्त,भीष्म और द्रोण को देखकर, भूरिश्रवा की पत्नियों के विलाप तथा शकुनि को देखकर[७] भूरिश्रवा की पत्नियों के विलाप तथा शकुनि को देखकर[८] वह श्रीकृष्ण के सम्मुख शोकोद्गार प्रकट करती है।

विलाप करते-करते गांधारी ने इस विध्वंस का समस्त दोष श्रीकृष्ण के ही माथे मढ़ दिया। वह श्रीकृष्ण से कहने लगी कि पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र आपस में लड़ कर नष्ट हो गए। तुमने इन्हें नष्ट होते देखकर भी इनकी उपेक्षा कैसे कर दी? दोनों पक्षों से अपनी बात मनवा लेने की सामर्थ तुममें थी। फिर तुमने स्वेच्छा से कुरु-कुल के नाश की उपेक्षा की - जानबूझकर इस वंश का विनाश होने दिया। यह तुम्हारा बड़ा दोष है, अत: तुम इसका फल प्राप्त करो। मैंने पति की सेवा से जो कुछ भी तप प्राप्त किया है, उस दुर्लभ तपोबल से तुम्हें शाप दे रही हूं।[९] गांधारी ने इस प्रकार

---

१. महाभारत, स्त्री पर्व, स्त्रीविलाप पर्व अ० १६, गीताप्रेस,गोरखपुर
२. ,, ,, अ० १७ ,,
३. ,, ,, अ० १८ ,,
४. ,, ,, अ० १६ ,,
५. ,, ,, अ०२०. ,,
६. ,, ,, अ० २२ ,,
७. ,, ,, अ० २३ ,,
८. ,, ,, अ० २४ ,,
९. ,, ,, अ० २५, श्लोक ३८-४२

कह कर श्रीकृष्ण को शाप दिया कि गोविन्द ! तुमने आपस में मार-काट मचाते हुए कुटुम्बी कौरवों और पाण्डवों की उपेक्षा की है, इसलिए तुम अपने भाई-बन्धुओं का भी विनाश कर डालोगे । आज से छत्तीसवां वर्ष उपस्थित होने पर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र सभी आपस में लड़कर मर जायेंगे । तुम सबसे अपरिचित और लोगों की आंखों से ओझल होकर अनाथ के समान वन में विचरोगे और किसी निन्दित उपाय से मृत्यु को प्राप्त होओगे । इन भरतवंश की स्त्रियों के समान तुम्हारे कुल की स्त्रियां भी पुत्रों तथा भाई-बन्धुओं के मारे जाने पर इसी तरह सगे सम्बन्धियों की लाशों पर गिरेंगी ।[1]

गांधारी के इन कठोर वचनों को सुनकर श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा कि मैं जानता हूं कि ऐसा ही होगा । तुम तो किए हुए को ही कर रही हो । इसमें कोई संदेह नहीं कि वृष्णिवंश के यादव दैव से ही नष्ट होंगे । वृष्णिकुल का संहार करने वाला मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है । यादव दूसरे मनुष्यों तथा देवताओं और दानवों के लिए भी अवध्य हैं, अत: आपस में लड़कर ही नष्ट होंगे ।[2]

प्रस्तुत अन्तर्कथा में गांधारी के विलाप को गुप्त जी ने अपेक्षाकृत अधिक संक्षेप में उपस्थित किया है । परन्तु यह अधिक मार्मिक भी हो गया है । गान्धारी द्वारा श्रीकृष्ण को शाप के वर्णन में गुप्त जी ने परिवर्तन किया है । 'महाभारत' में गान्धारी स्वयं कृष्ण-वंश के नाश का शाप देती है । 'जयभारत' में वह प्रश्न वाचक रूप में पूछती है और श्री कृष्ण उसकी स्वीकृति देते हैं । यह आख्यान अत्यन्त करुण है । 'जयभारत' की यह अन्तर्कथा महाभारत के स्त्रीपर्व के स्त्रीविलाप पर्व पर आधारित है । इसमें पर्याप्त संक्षेपण और परिवर्तन किया गया है ।

---

१. महाभारत, स्त्रीपर्व, स्त्रीविलाप पर्व, अ० २५ ,श्लोक ४३-४६ (गीताप्रेस)
२. ,, ,, अ० २५,श्लोक ४७-४९ ।। ,,

४४. अन्त

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत जो कथा वर्णित है वह महाभारत के शांतिपर्व, अनुशासन पर्व, आश्वमैधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व की घटनाओं का संक्षेप है। यह कथा सूचनात्मक ढंग से कही गई है। इसमें अनेक घटनाओं की सूचना दी गई है, जैसे — युधिष्ठिर द्वारा कर्ण को जलांजलि देना, भीष्म से ज्ञान प्राप्ति, अर्जुन द्वारा विभिन्न स्थलों की विजय, अश्वरक्षा, त्रिगर्तों की पराजय, प्राग्ज्योतिषपुर का युद्ध, उलूपी बभ्रुवाहन का प्रसंग, नेवले का वृत्तान्त, धृतराष्ट्र आदि की वनयात्रा, यादवकुल संहार और पाण्डवों का हिमालय गमन।

युधिष्ठिर द्वारा कर्ण को जलांजलि दान — कुरुक्षेत्र में सभी शवों का संस्कार किया गया। इसी अवसर पर युधिष्ठिर से कुंती ने कहा —

" वत्स, कर्ण को भी अंजलि दो, निज अग्रज के नाते।"

यह भेद खुलते ही युधिष्ठिर स्वयं को न संभाल पाए, अत्यधिक शोकातुर हो उठे। 'जयभारत' की यह कथा महाभारत के स्त्रीपर्व के स्त्रीविलाप पर्व के सत्ताईसवें अध्याय पर आधारित है। सभी स्त्री-पुरुषों ने अपने मृत सम्बन्धियों को ~~गंगा~~ जलांजलि दी। इसी समय कुंती ने अपने गर्भ से कर्ण के जन्म होने का रहस्य प्रकट किया। यह भेद जान कर युधिष्ठिर ने कर्ण के लिए शोक प्रकट किया और कर्ण का प्रेतकृत्य सम्पन्न किया।[१]

भीष्म से ज्ञान प्राप्ति — 'जयभारत' के अनुसार युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ और श्रीकृष्ण से उन्होंने कहा कि मुझे भी वह गीता सुना दीजिए जिसे अर्जुन को सुनाया था। श्रीकृष्ण ने कहा कि भीष्म अब पृथ्वी से जाने वाले हैं, उनसे तुम्हें कुछ उपदेश ले लेना चाहिए। युधिष्ठिर भीष्म के समीप गए। भीष्म ने उनसे कहा —

---

१. महाभारत, स्त्रीपर्व, स्त्रीविलाप पर्व, अ० २७

"'सु' कहो, वा 'दु:'ख तो शून्य है यह है मेरा कहना,
तुम सुख और दु:ख दोनों के ऊपर उठकर रहना ।"[१]

प्रस्तुत कथा के स्रोत महाभारत के शान्तिपर्व में प्राप्त होते हैं ।[२] 'महाभारत' में यह कथा बहुत विस्तार पूर्वक वर्णित है परन्तु गुप्त जी ने इसे सूचनात्मक ढंग से ही कहा है । अर्जुन द्वारा विभिन्न स्थलों की विजय, अश्व-रक्षा, त्रिगर्तों की पराजय, प्राग्ज्योतिषपुर का युद्ध, उलूपी-बभ्रुवाहन की कथा जयभारत में अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है । त्रिगर्तराज सूर्यवर्मा को युद्ध में अर्जुन ने पछाड़ा और त्रिगर्तों की पराजय हुई । तत्पश्चात् अर्जुन के अश्वमेध यज्ञ का अश्व प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचा । वहाँ भी अर्जुन का प्राग्ज्योतिषपुर के राजा वज्रदत्त के साथ युद्ध हुआ । वज्रदत्त की पराजय हुई । यथा —

" कर न दिया सीधे त्रिगर्त के नृपति सूर्यवर्मा ने,
प्राग्ज्योतिष के वज्रदत्त से सहज शूरकर्मा ने ।
ले न सका पितृ-वैर युद्ध कर सिंधुराज का बेटा,
तो उस आतुर ने अपने को आप मृत्यु से भेंटा ।"[३]

इसके पश्चात् अर्जुन का अश्व सिन्धु देश में गया । वहाँ भी अर्जुन का सैन्धवों के साथ युद्ध हुआ इसी समय दु:शला ने आकर अर्जुन से युद्ध बंद करने की प्रार्थना की । अर्जुन ने युद्ध रोक दिया ।

इसके पश्चात् अर्जुन अपने अश्व के पीछे पीछे मणिपुर पहुंचे । वहाँ अर्जुन और बभ्रुवाहन का युद्ध हुआ, अर्जुन अचेत हो गए परन्तु उलूपी के प्रयत्न से ही वे उठ सके, यथा —

" सुत तो उठ बैठा सचेत हो, रहा अचेत पिता ही,
यत्न न करती कहीं उलूपी जाती चुनी चिता ही ।"[४]

---

१. जयभारत, अन्त, पृ० ४३०
२. महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासन पर्व, अ० ४०-५८
३. जयभारत, अन्त, पृ० ४३१
४. ,, ,, पृ० ४३२

'जयभारत' में वर्णित इस अन्तर्कथा के स्रोत महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में प्राप्त होते हैं। सेना सहित अर्जुन अपने अश्व का अनुसरण करते हैं।[१] त्रिगर्त देश में जाने पर अर्जुन द्वारा त्रिगर्तों की पराजय होती है।[२] प्राग्ज्योतिषपुर में पहुंचने पर अर्जुन का वहां के राजा वज्रदत्त के साथ युद्ध होता है।[३] अर्जुन द्वारा वज्रदत्त की पराजय होती है।[४] सिन्धुदेश में पहुंचने पर अर्जुन का सैन्धवों से युद्ध होता है।[५] दु:शला के अनुरोध से अर्जुन युद्ध की समाप्ति कर देते हैं।[६] तत्पश्चात् मणिपुर नरेश बभ्रुवाहन के साथ अर्जुन का युद्ध होता है।[७] अर्जुन की मृत्यु हो जाती है। यह देखकर चित्रांगदा विलाप करती है। मूर्छा से जागने पर बभ्रुवाहन भी अपने पिता अर्जुन के लिए शोक करता है। उलूपी के प्रयत्न से संजीवनीमणि के द्वारा अर्जुन को पुन: जीवन प्राप्त होता है।[८]

'महाभारत' में प्रस्तुत अन्तर्कथा विस्तारपूर्वक दी गई है परन्तु गुप्त जी ने जयभारत में केवल संकेत भर किया है।

नेवले का वृत्तान्त —

पाण्डवों का यज्ञ यथाविधि समाप्त हो गया, इसी समय युधिष्ठिर ने देखा कि एक नेवला यज्ञ की भूमि को सूंघता फिर रहा है। युधिष्ठिर ने व्यास जी से पूछा कि 'यह क्या खोज रहा है?' इस पर व्यास जी ने कहा कि कुरुक्षेत्र में एक निर्धन विप्र अपने परिवार के साथ रहता था। एक बार सूखा पड़ने पर कई दिनों के भूखे रहने पर थोड़ा सा अन्न उन्हें प्राप्त हुआ।

---

१. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अनुगीतापर्व, अ० ७३ (गीता प्रेस, गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० ७४ ,,
३. ,, ,, अ० ७५ ,,
४. ,, ,, अ० ७६ ,,
५. ,, ,, अ० ७७ ,,
६. ,, ,, अ० ७८ ,,
७. ,, ,, अ० ७९ ,,

इतने में ही वहां एक भूखा अतिथि आ गया। विप्र परिवार के सभी व्यक्तियों ने अपना अपना भाग उस अतिथि को दे दिया। यह वास्तव में उन सबकी धर्मपरीक्षा थी, उस परीक्षा में वे उत्तीर्ण हो गए और उन्हें परमपद प्राप्त हुआ। वहां गिरे हुए अन्न से इस नेवले का आधा शरीर सुवर्णमय हो गया। वही यह नेवला है जो यहां भी गंध सूंघ रहा है।

यह कथा सुनकर युधिष्ठिर ने कहा कि उस ब्राह्मण के दान के सामने मेरा यह दान तुच्छ है।

'महाभारत' में यह कथा बड़े विस्तार से वर्णित है।[1] युधिष्ठिर के यज्ञ में एक नेवला आता है और उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण के द्वारा दिये गये सेर भर सत्तूदान की महिमा उस अश्वमेध यज्ञ से भी बढ़कर बतलाता है।[2] 'जयभारत' में इस अन्तर्कथा को संकेतिक रूप में ही वर्णित किया गया है, परन्तु महाभारत में यह विस्तार पूर्वक वर्णित है।

धृतराष्ट्र आदि की वन यात्रा —

अन्त समय में धृतराष्ट्र और गांधारी वन जाने के लिए उत्सुक हुए। धृतराष्ट्र के साथ गांधारी, संजय, विदुर और कुन्ती भी वन के लिए चले। माता को भी जाते देखकर युधिष्ठिर व्याकुल हो उठे और बोले —

" मां, क्यों युद्ध कराया, यदि यों तुमको भी जाना था?"[3]

कुन्ती ने युधिष्ठिर को समझाया और कहा —

" बेटा, निज कर्तव्य उसी में तब मैंने माना था।
अब मेरा कर्तव्य यही है, जिसको मैं करती हूं,
जेठ-जिठानी का सेवा-व्रत नत सिर पर धरती हूं

---

१. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व, अ० ६०
२. ,, ,, अ० ६०
३. जयभारत, अन्त, पृ० ४३४ (द्वितीय संस्करण)

तुम भी स्वकर्तव्य पालन कर करो लोक का पालन ,
कातराश्रुओं से न करो यों मेरा पद-प्रक्षालन ।" [१]

इस प्रकार ये शेष पुरुष भी चले गए और समस्त पुरवासी शोकमग्न हो गए ।

यह कथा महाभारत के आश्रमवासिक पर्व के आश्रमवास पर्व के अन्तर्गत विस्तार पूर्वक प्राप्त होती है । गांधारी सहित धृतराष्ट्र ने वन को प्रस्थान किया । पुरवासी और राजभवन के सभी व्यक्ति उनके पीछे पीछे गए । आगे आगे कुंती गांधारी का हाथ पकड़े हुए चल रही थीं ।[२] राजा धृतराष्ट्र वर्धमान नामक द्वार से होते हुए हस्तिनापुर से बाहर निकले । वहां पहुंचकर उन्होंने अपने साथ आए हुए जनसमूह को विदा किया । पाण्डवों ने कुंती को वन जाने से रोकना चाहा, परन्तु कुंती न रुकीं । युधिष्ठिर ने माता कुंती से कहा कि यदि आपको ऐसा ही करना था तो आपने इस भूमंडल का विनाश क्यों करवाया । क्या कारण है कि आप हमें छोड़कर वन में जाना चाहती हैं ? यथा —

" किं वयं कारिता : पूर्वंभवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतो: परित्यज्यत्य वनं गन्तुमभीप्ससि ।।" [३]

कुन्ती ने पाण्डवों के अनुरोध का उत्तर दिया और वन जाने का दृढ़ निश्चय बताया ।[४]

'जयभारत' में आधार ग्रन्थ की अपेक्षा अत्यन्त संक्षेप में इस कथा को उपस्थित किया गया है ।

---

१. जयभारत, अन्त, पृ० ४३४ (द्वितीय संस्करण)
२. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, आश्रमवासपर्व, अ० १५.
३. ,, ,, अ० १६
४. ,, ,, अ० १७

यादवकुल संहार -

यादवकुल के संहार की कथा अत्यन्त संक्षेप में 'जयभारत' के अन्तर्गत वर्णित है। कवि कहता है -

आगे का संवाद और भी था भुजंग-सा काला,
झगड़ परस्पर लड़कर जूझा-वृष्णि-वंश मतवाला।
गये कृष्ण निज धाम राम-सह कर संवरण स्वलीला,
स्तब्ध पाण्डवों को वदनों का वर्ण पड़ गया पीला।

x x

अर्जुन भेजे गए द्वारका स्त्री-बच्चों को लाने।
उनको लेकर लौटे जब वे हरि के बिना अकेले,
हत-से होकर पथ में दारुण दुःख उन्होंने झेले।
एकलव्य के ज्ञातिबन्धु जुड़ अकस्मात आ टूटे,
धन ही नहीं, उन्होंने उनसे रक्षित जन भी लूटे।[1]

'महाभारत' में मौसल पर्व के अन्तर्गत इस कथा के स्रोत विस्तार पूर्वक मिलते हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात् जब छत्तीसवां वर्ष आरम्भ हुआ, तब युधिष्ठिर को कई प्रकार के अपशकुन दिखाई पड़ने लगे। इसके कुछ दिनों बाद ही युधिष्ठिर ने यह समाचार सुना कि मूसल को निमित्त बनाकर आपस में युद्ध हुआ है जिसमें वृष्णिवंशियों का संहार हो गया। केवल भगवान श्रीकृष्ण और बलराम जी ही उस विनाश से बचे हैं।[2] इधर श्री कृष्ण ने दारुक को आज्ञा दी कि अर्जुन को सब समाचार देकर शीघ्र यहां बुला लाओ। श्रीकृष्ण ने अपने पिता वसुदेवजी से कहा कि आप अर्जुन के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए हमारे कुल की समस्त स्त्रियों की रक्षा करें। इस समय वन में बलराम जी मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मैं उनके समीप जा रहा हूं। श्रीकृष्ण ने बलराम जी के पास जाकर देखा कि वे योगयुक्त होकर समाधि लगाए बैठे हैं। श्रीकृष्ण,

---

१. जयभारत, अन्त, पृ० ४३४, द्वितीय संस्करण
२. महाभारत, मौसल पर्व, अ० १, श्लोक १,७,८

अन्धक, वृष्णि और कुरुकुल के विनाश की बात सोचने लगे। इसी समय उन्होंने अपने परम धाम जाने का उपयुक्त समय समझा। इसी उद्देश्य से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध किया और महायोग का आश्रय लेकर पृथ्वी पर लेट गए। उसी समय एक व्याध ने धोखे से श्रीकृष्ण को भी मृग समझा और बाण मार कर श्रीकृष्ण के तलुवे में घाव कर दिया। फिर समीप आने पर उसे अपनी भूल प्रतीत हुई। उसने श्रीकृष्ण से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी। श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया और अपनी कांति से पृथ्वी एवं आकाश को व्याप्त करते हुए वे ऊर्ध्वलोक में (अपने परमधाम) चले गए।[१]

अर्जुन द्वारका पहुंचे और वसुदेव जी से बातचीत की। वसुदेव जी ने द्वारका का राज्य और सब स्त्रियों की रक्षा का भार अर्जुन पर सौंप दिया।[२] अर्जुन मरे हुए यादवों का अन्त्येष्टि संस्कार करके द्वारकावासी स्त्री-पुरुषों को अपने साथ ले गए।[३]

श्रीमद्भागवत पुराण में भी एकादश स्कंध के तीसवें अध्याय में यदु-कुल संहार की कथा वर्णित है। श्रीकृष्ण ने जब द्वारका में अनेक प्रकार के अपशकुन देखे तो उन्होंने यदुवंशियों से कहा कि तुम लोगों का अनिष्ट निकट है अतः तुम लोगों को यहां अब नहीं ठहरना चाहिए। स्त्री, बच्चे और बूढ़े सब यहां से शंखोद्धार क्षेत्र में चले जायं और हमलोग प्रभासक्षेत्र चलें।[४] सभी यदुवंशियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। परन्तु दैव ने उनकी बुद्धि हर ली और वे उस मैरेयक नामक मदिरा का पान करने लगे, जिसके नशे से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इस मदिरा के प्रभाव से सब यदुवंशी उन्मत्त हो गए और एक दूसरे से लड़ने झगड़ने लगे। वास्तव में वे श्रीकृष्ण की माया से ही

---

१. महाभारत, मौसल पर्व, अ० ४ (गीताप्रेस गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० ६
३. ,, ,, अ० ७ ,,
४. श्रीमद्भागवत् पुराण, एकादश स्कंध, अ० ३०, श्लोक ४-६

मूढ़ हो रहे थे। आपस में लड़ते-लड़ते जब उनके सब अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गए तो उन्होंने अपने हाथों से समुद्रतट पर लगी हुई एरका नामकी घास उखाड़नी आरंभ की। यह वही घास थी, जो ऋषियों के शाप के कारण उत्पन्न हुए लोहमय मूसल के चूरे से पैदा हुई थी। उनके हाथों में आते ही वह घास वज्र के समान कठोर मुग्दरों के रूप में परिणत हो गई। उसी के द्वारा वे एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। श्रीकृष्ण ने उन्हें मना किया, तो श्रीकृष्ण और बलराम को भी अपना शत्रु समझने लगे। ब्रह्मशाप से ग्रस्त और श्रीकृष्ण की माया से मोहित यदुवंशियों के स्पर्धामूलक क्रोध ने उन्हीं का सर्वनाश कर दिया।[१] तत्पश्चात बलराम जी ने समुद्रतट पर बैठकर एकाग्रचित्त से परमात्म-चिंतन करते हुए अपनी आत्मा को आत्मस्वरूप में ही स्थिर कर लिया और मनुष्य शरीर छोड़ दिया। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि बलराम जी परमपद में लीन हो गए तब वे एक पीपल के पेड़ के नीचे जाकर चुपचाप पृथ्वी पर बैठ गए।[२] इसी समय जरा नामक एक बहेलिए ने मूसल के बचे हुए टुकड़े से अपने बाण की गाँसी बना ली थी। उसे दूर से श्रीकृष्ण का तलवा हिरन के मुख के समान प्रतीत हुआ। उसने उसे हिरन समझ कर अपने उसी बाण से बींध दिया।[३] श्रीकृष्ण ने बहेलिये को स्वर्गवास प्रदान किया।[४] तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने भी परमधाम-गमन किया।[५]

श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित यह कथा 'महाभारत' की कथा से कुछ भिन्न है। अतः इसे जयभारत का मूल स्रोत नहीं कहा जा सकता। 'जयभारत' के 'अन्त' शीर्षक के अन्तर्गत जो कथा वर्णित है वह महाभारत के स्त्रीपर्व, शान्तिपर्व, आश्वमेधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व और मौसल पर्व में बहुत विस्तार से वर्णित है। यही 'जयभारत' का आधार ग्रन्थ है।

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण, एकादश स्कन्ध, अ० ३०, श्लोक १३-२४
२. ,, ,, अ० ३० ,, २६,२७
३. ,, ,, अ० ३० ,, ३३
४. ,, ,, अ० ३१

४५ स्वर्गारोहण--

प्रस्तुत शीर्षक में कवि ने पाण्डवों की हिमालय-यात्रा और क्रमश: पतन तथा युधिष्ठिर का पतनोपरान्त स्वर्ग गमन की कथा को विस्तार दिया है। पाँचों पाण्डव द्रौपदी को साथ लेकर हिमालय यात्रा के लिए निकल पड़े। उन्होंने अपने शस्त्रों को भी जल में विसर्जित कर दिया। सुमेरु की सीमा में पहुंच कर सर्व प्रथम द्रौपदी गिर पड़ी। द्रौपदी को गिरा देख कर युधिष्ठिर ने कहा --

" तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता ही मेरी।"[१]

कुछ दूर चलने पर सहदेव गिरे। गिरते समय सहदेव ने कहा --

" मैं गिरा, द्रौपदी-विना मुझे
मानो यह पक्षाघात हुआ।"[२]

युधिष्ठिर ने सहदेव से कहा --

" तुम नहीं, गिरा तुममें मेरा
ज्ञानाभिमान जो उठा रहा।"[३]

आगे चल कर नकुल ने गिरते हुए कहा --

" गिरता हूं अब मैं अवश निरा।"[४]

युधिष्ठिर ने कहा --

" तुममें मेरे स्वरूप का गर्व गिरा।"[५]

आगे चल कर अर्जुन भी गिरे। वे गिरते समय कहने लगे --

" अब और नहीं उठता पद ही।"[६]

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४१ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,,
६. ,, ,, ,,

युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा —

" तुमने हीं गिरे, फह गिरा यहां,
तुममें मेरा मानी मद ही ।"[१]

अन्त में भीम गिरते हुए बोले —

" हे आर्य, यहां मैं भी टूटा ।"[२]

युधिष्ठिर ने भीम से कहा —

" तनु टूटे नहीं तुम्हारे मित्र,
मेरा औद्धत्य यहां टूटा ।"[३]

अब युधिष्ठिर को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उनके सब बंधन खुल गए । उन्होंने अपनी देह को सम्बोधित करके कहा —

" भार्या-भ्राता सब छूट गए,
अब देह, स्वयं तेरी बारी,
तूभी अब मेरा मोह न कर,
जाऊं मैं तेरी बलिहारी ।"[४]

इसी समय युधिष्ठिर ने देखा कि एक कुत्ता उनके साथ साथ चल रहा है । इसी समय इन्द्र का रथ लेकर मातलि आया और सादर युधिष्ठिर को स्वर्ग ले जाने के लिए तत्पर हुआ । युधिष्ठिर उस कुत्ते सहित रथ पर चढ़ने को तत्पर हुए । मातलि यह देख कर चौंक पड़ा और बोला —कुत्ता भी साथ चलेगा क्या ?" युधिष्ठिर ने कहा कि इस शरणागत कुत्ते को छोड़ कर मैं नहीं जा सकता । अब तुम जाओ । मेरा भाग्य नहीं है कि मैं इन्द्र के दर्शन कर सकूं । इसी समय धर्म ने युधिष्ठिर का जय जयकार किया —

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४२ (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४४२ ,,
३. ,, पृ० ४४२ ,,
४. ,, पृ० ४४४ ,,

" जय जय भारत !" मैं धर्म वही,

तुम पुनर्नवीन हुए जाओ ।"

वह कुत्ता अन्तर्धान हुआ

कह -" तात योग्य निज पद पाओ ।" [1]

तत्पश्चात युधिष्ठिर रथ पर चढ़े और स्वर्ग में पहुंचे । वहां देवों ने उनका सत्कार किया । युधिष्ठिर ने देखा कि स्वर्ग में दुर्योधन भी है । दुर्योधन को वहां देखकर युधिष्ठिर कह उठे -

" जो रहा जन्म भर रूठा ही,

यह दुर्योधन भी मना यहां ।" [2]

परन्तु अपने इस कथन को स्वयं ही अनुपयुक्त समझ कर वे कह

" पर तात, अमरपुर में भी हा !

क्या रहे मर्त्य तनु की तृष्णा ?" [3]

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने वहां जाने की इच्छा प्रकट की, जहां चारों पाण्डव और द्रौपदी थीं । इन्द्र ने उन्हें वहां जाने की आज्ञा दे दी और देवदूत युधिष्ठिर को साथ लेकर नरक की ओर चला । स्वर्ग के पश्चात् नरक में पहुंचने पर युधिष्ठिर आश्चर्य चकित हो गए -

" हे दूत, देखकर आया हूं

जिस अमरपुरी का गौरव मैं,

यह देख रहा हूं सचमुच क्या

उसके समीप ही रौरव में ।" [4]

नरक की भयंकरता को देखकर युधिष्ठिर व्याकुल हो उठे । उन्होंने देवदूत से कहा -

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४७ (द्वितीय संस्करण)

२. ,, ,, पृ० ४४८ ,,

३. ,, पृ० ४४८ ,,

४. ,, पृ० ४४९ ,,

लगता है एक दण्ड में ही
यह एक कल्प मैंने भोगा,
रह सायं सायं, कह, अन्त कहां
इस भायं-भायं का कब होगा ? [१]

देवदूत ने युधिष्ठिर से कहा " चाहें तो लौट चलें श्रीमन् ।" इसी समय कर्ण, द्रौपदी, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चीत्कार कर उठे -

" हा धर्मराज ! आओ , आओ ,
भूले भटके आ गए यहां,
तो दया करो टुक रुक जाओ ।[२]

यह पुकार सुनकर युधिष्ठिर ठहर गए । उन्होंने कहा -

" लो ठहरा मैं, तुम शांत रहो,
तुम नहीं दीखते; भाग्य यही,
पर कौन स्वजन हो, कहो अहो ।"[३]

कर्ण तथा अन्य पाण्डवों और द्रौपदी ने अपना परिचय दिया । अपने भाइयों आदि को नरक में पड़ा देखकर युधिष्ठिर के मुख से निकल ही गया- " तब सुकृती रहा सुयोधन ही ।" धर्मराज युधिष्ठिर ने देवदूत से वहीं रहने की इच्छा व्यक्त की -

" जाओ तुम, यहीं रहूंगा मैं,
इन आत्मीयों के सम्य सदा ;
सर्वाधिक नरक सहूंगा मैं ।
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे ,
सादर सौ धन्यवाद देना ,
कहना, मैं हूं सन्तुष्ट यहीं, मुझको वह स्वर्ग नहीं लेना ।"[४]

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४५० (द्वितीय संस्करण)
२. ,, पृ० ४५० ,,
३. ,, पृ० ४५० ,,
४. ,, पृ० ४५१ ,,

धर्मराज के ऐसा कहते ही उनकी जय जयकार होने लगी —

" ये तुम त्रिवार उत्तीर्ण हुए,

जय जयजयभारत ।" नाद हुआ ।"[१]

ये तीनों बार धर्मराज की परीक्षा हुई थी, जिनमें वे उत्तरोत्तर उत्तीर्ण होते चले गए थे । पाण्डवों को स्वर्गलोक ही मिला था । इसी समय नारायण वहां प्रकट हुए और उन्होंने युधिष्ठिर से कहा —

" आओ, हे मेरे नर आओ ।

जो कुछ है जहां, तुम्हारा है,

मुझको पाकर सबकुछ पाओ ।"[२]

" जयभारत" में वर्णित प्रस्तुत अन्तर्कथा के मूल स्रोत "महाभारत" के महाप्रस्थानिक पर्व तथा स्वर्गारोहण पर्व में प्राप्त होते हैं । द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव हिमालय पर पहुंचे और मेरु पर्वत का दर्शन किया । वहां चलते चलते सर्वप्रथम द्रौपदी लड़खड़ा कर गिर पड़ीं । द्रौपदी को गिरी देख कर भीम ने युधिष्ठिर से द्रौपदी के गिरने का कारण पूछा । युधिष्ठिर ने कहा कि द्रौपदी के मन में अर्जुन के प्रति बहुत पक्षपात था , अतः ये उसी का फल भोग रही हैं । आगे चलने पर सहदेव भी पृथ्वी पर गिर पड़े । भीम ने युधिष्ठिर से सहदेव के गिरने का कारण पूछा । युधिष्ठिर ने कहा कि सहदेव किसी को अपने जैसा बुद्धिमान नहीं समझता था, अतः इसी दोष से उसका पतन हुआ है । आगे चलने पर नकुल भी भूमि पर गिर पड़े । भीम के पूछने पर युधिष्ठिर ने इसका कारण बताया कि नकुल सोचते थे कि रूप सौन्दर्य में उनके समान कोई नहीं है । नकुल के पश्चात् अर्जुन भी पृथ्वी पर गिर पड़े । भीम के पूछने पर युधिष्ठिर ने अर्जुन के गिरने का कारण बताया कि उसने अपनी शूरता के अभिमान में कहा था कि मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूंगा । किन्तु अर्जुन ऐसा नहीं कर पाए , इसी से उन्हें आज धराशायी होना पड़ा । अर्जुन ने सम्पूर्ण धनुर्धरों का अपमान भी किया था, यह भी अनुचित कार्य था ।

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४५२ (द्वितीय संस्करण)

२. ,, पृ० ४५२ ,,

थोड़ा आगे बढ़ने पर भीम भी पृथ्वी पर गिर पड़े । भीम ने अपने गिरने का कारण युधिष्ठिर से पूछा । युधिष्ठिर ने कहा कि तुम बहुत भोजन करते थे और दूसरों को कुछभी न समझ कर अपने बल की प्रशंसा किया करते थे, इसी से तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा । यह कह कर युधिष्ठिर बिना उनकी ओर देखे आगे चल दिये ।[1] कुछ दूर जाने पर इन्द्र अपने रथ पर चढ़ कर युधिष्ठिर के पास आए और अपने साथ स्वर्ग ले चलने का आग्रह किया । युधिष्ठिर ने कहा कि मेरे भाई और पत्नी द्रौपदी भी स्वर्ग चलें, तो मैं चलूंगा । बिना भाइयों और पत्नियों के मैं स्वर्ग जाना नहीं चाहता । इन्द्र ने उनसे कहा कि ये लोग आपसे पहले ही स्वर्ग पहुंचुके हैं वहां पहुंचते ही आपको ये सब मिलेंगे । वे तो देह त्याग कर वहां गए हैं, परन्तु आप सदेह वहां पहुंच जायेंगे । युधिष्ठिर के साथ साथ एक कुत्ता भी बराबर चल रहा था अतः युधिष्ठिर ने इन्द्र से कहा कि वह कुत्ता मेरा बड़ा भक्त है, अतः यह भी मेरे साथ चले ऐसी आज्ञा दीजिए । यह मेरी शरण में आया हुआ है, अतः इसे मैं छोड़ नहीं सकता । इन्द्र ने कुत्ते को वहीं छोड़ देने के लिए युधिष्ठिर को बहुत समझाया । परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ने माने और कुत्ते को छोड़ कर स्वर्ग जाने के लिए अस्वीकार कर दिया । कुत्ते के रूप में स्वयं धर्म स्वरूप भगवान थे, वे युधिष्ठिर की परीक्षा ले रहे थे । युधिष्ठिर इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए और सदेह स्वर्ग चले गए ।[2]

स्वर्गलोक में पहुंच कर युधिष्ठिर ने देखा कि दुर्योधन स्वर्गीय शोभा से सम्पन्न होकर तेजस्वी देवताओं के साथ एक दिव्य सिंहासन पर बैठा है । दुर्योधन को ऐसी अवस्था में देखकर युधिष्ठिर अमर्ष से भर गए और देवताओं से बोले कि जिसके कारण हमने इतना कष्ट उठाया, द्रौपदी का घोर अपमान हुआ उस व्यक्ति के साथ मैं स्वर्ग में नहीं रहना चाहता, मैं तो वहीं जाना चाहता हूं जहां मेरे भाई हैं ।[3] तत्पश्चात् इन्द्र की आज्ञा

---

१. महाभारत,महाप्रस्थानिक पर्व, अ० २, (द्वितीय संस्करण)
२. ,, ,, अ० ३ ,,
३. ,, ,, अ० १ ,,

से एक देवदूत युधिष्ठिर को भीमसेन आदि के समीप ले चला । यह मार्ग जहां से देवदूत युधिष्ठिर को ले जा रहा था, अत्यधिक वीभत्स और घृणित था । उस मार्ग पर जाते हुए युधिष्ठिर घबरा उठे, उन्होंने देवदूत से कहा कि अभी कितना और ऐसे रास्ते पर चलना है ? देवदूत ने कहा कि यदि आप थक गए हों तो वापस चलिए । युधिष्ठिर वापस चलने को तत्पर हो गए । इसी समय वहां चारों ओर से पुकारने वाले आर्त मनुष्यों की दीन वाणी सुनाई पड़ने लगी । वे धर्मराज से वहीं कुछ समय ठहरने के लिए प्रार्थना करने लगे । युधिष्ठिर ने उन लोगों से कहा कि आप लोग कौन हैं और किसलिए यहां रहते हैं ? उनके इस प्रकार पूछने पर वे सब चारों ओर से कहने लगे कि मैं कर्ण हूं । मैं भीमसेन हूं, मैं अर्जुन हूं , मैं सहदेव हूं । मैं नकुल हूं । मैं द्रौपदी हूं । अपने भाइयों और पत्नी को नरक में पड़ा देख कर वे सोचने लगे कि दैव का यह कैसा विधान है ? इन लोगों ने कभी पाप नहीं किया और वे इस प्रकार की यातना सह रहे हैं । दुर्योधन पापाचारी था सो सुख भोग रहा है । यह सब सोच कर धर्मराज युधिष्ठिर चिंता से व्याकुल हो उठे । उनके मनमें तीव्र रोष जाग उठा । वे देवताओं और धर्म को कोसने लगे । उन्होंने वहां की दुर्गन्ध से संतप्त होकर देवदूत से कहा कि तुम जिनके दूत हो, उनके पास लौट जाओ । मैं वहां नहीं चलूंगा । मैं यहां इसलिए रुक रहा हूं कि मेरे यहां रहने से मेरे इन बंधु-बांधवों को सुख प्राप्त होता है । देवदूत युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर इन्द्र के पास चला गया और युधिष्ठिर की कही हुई सारी बातें सुनाईं ।[१] युधिष्ठिर को उस स्थान पर खड़े हुए अभी दो ही घड़ी बीतने पाई थी कि इन्द्र समस्त देवताओं के साथ उनके पास आ गए । साक्षात धर्म भी युधिष्ठिर से मिलने आए । इन्द्र और धर्म के आते ही वहां का समस्त वातावरण परिवर्तित हो गया । पापकर्मी पुरुषों को जो यातनाएं दी जाती थीं वे सहसा अदृश्य हो गईं । वैतरणी नदी भी लुप्त हो गई । वहां सुगंधित पवन प्रवाहित होने लगा । तत्पश्चात इन्द्र और धर्म ने युधिष्ठिर को सान्त्वना दी । धर्म ने और युधिष्ठिर से कहा कि यह मैंने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली

१, महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, अ० २

थी । तुम तीनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए हो । तुम्हारे भाई नरक भोगने योग्य नहीं हैं । तुमने जो उन्हें नरक भोगते देखा है, वह देवराज इन्द्र द्वारा प्रकट की हुई माया थी । समस्त राजाओं को नरक का दर्शन अवश्य करना पड़ता है, इसलिए तुमने दो घड़ी तक यह महान दु:ख प्राप्त किया है । तत्पश्चात धर्म की आज्ञा से देवनदी गंगा जी में युधिष्ठिर ने स्नान किया । स्नान करके युधिष्ठिर ने तत्काल अपने मानव शरीर को त्याग दिया । दिव्यदेह धारण करके युधिष्ठिर वैरभाव से रहित हो गए । तत्पश्चात् देवताओं से घिरे हुए युधिष्ठिर महर्षियों के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए, धर्म के साथ उस स्थान को गए जहां पाण्डव और दुर्योधन क्रोध ,त्याग कर आनन्द पूर्वक अपने अपने स्थानों पर रहते थे ।[१] वहां पहुंच कर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण और अर्जुन आदि भाइयों तथा द्रौपदी के दर्शन किए ।[२]

पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा श्रीमद्भागवत पुराण में भी वर्णित है ।[3] परन्तु श्रीमद्भागवत में वर्णित यह कथा 'जयभारत' की इस कथा का स्रोत नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनों कथाओं में बहुत अन्तर है । 'श्रीमद्भागवत्' के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम-गमन और यदुवंश के संहार का वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण का निश्चय किया ।[४] महाराज युधिष्ठिर से कलियुग का फैलना छिपा न रहा । तब उन्होंने महाप्रस्थान का निश्चय किया । उन्होंने अपने विनयी पौत्र परीक्षित को सम्राट पद पर अभिषिक्त किया । उन्होंने मथुरा में शूरसेनाधिपति के रूप में अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का अभिषेक किया । तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने गृहस्थाश्रम के धर्म से मुक्त होकर सन्यास ग्रहण किया । उन्होंने अपने समस्त वस्त्राभूषण आदि वहीं छोड़ दिए तथा ममता और अहंकार से रहित होकर समस्त बंधन काट डाले । उन्होंने शरीर को मृत्युरूप अनुभव करके उसे त्रिगुण में मिला दिया,

---

१. महाभारत, स्वर्गारोहण, अ० ३ (गीताप्रेस,गोरखपुर)
२. ,, अ० ४ ,,
३. श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कंध, अ० १५ ,,
४. ,, अ० १५ , श्लोक ३२

त्रिगुण को मूल प्रकृति में, सर्वकारण रूपा प्रकृति को आत्मा में और आत्मा को अविनाशी ब्रह्म में विलीन कर दिया । इसके पश्चात् उन्होंने शरीर पर चीर वस्त्र धारण कर लिया, अन्न जल का त्याग कर दिया; मौन ले लिया और केश खोल कर बिखेर लिए । वे अपने रूप को ऐसा दिखाने लगे मानों कोई जड़, उन्मत्त या पिशाच हो । फिर वे बिना किसी की प्रतीक्षा किए और बिना किसी की बात सुने घर से निकल पड़े । उन्होंने परब्रह्म का ध्यान करते हुए उत्तर दिशा की यात्रा की । युधिष्ठिर के छोटे भाइयों ने भी श्रीकृष्ण के चरणों की प्राप्ति का दृढ़ निश्चय किया और उनके पीछे चल पड़े । पांचों पाण्डव श्रीकृष्ण की भक्ति से पूर्ण हो गए । श्रीकृष्ण के प्रेमावेश में मुग्ध भगवन्मय विदुर जी ने भी अपने शरीर को प्रभास-क्षेत्र में त्याग दिया । द्रौपदी ने देखा कि अब पाण्डव लोग निरपेक्ष हो गए हैं, तब वे अनन्य प्रेम से भगवान् श्रीकृष्ण का ही चिंतन करके उन्हें प्राप्त हो गईं ।[१]

जयभारत में 'स्वर्गारोहण' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित कथा के मूल स्रोत 'महाभारत' में ही प्राप्त होते हैं । श्रीमद्भागवत में पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है, परन्तु वह 'महाभारत' और 'जयभारत' की कथा से सर्वथा भिन्न है ।

'जयभारत' में प्रस्तुत अन्तर्कथा के अन्तर्गत कवि ने मानव-महत्व की स्थापना पर बहुत बल दिया है । इसका मूल ध्येय 'नर' (मानव) का महत्व स्थापित करना है । मानव की कर्तव्य-निष्ठा और धर्म साधना जब चरम उत्कर्ष पर पहुंच जाती है तब उसमें ऐसी अलौकिक ज्योति जगमगाती है जो लोक और परलोक सबको प्रकाशित कर देती है । प्रस्तुत कथा में युधिष्ठिर भगवान से यही याचना करते हुए कहते हैं —

" हे नारायण, क्या और कहूं,
तूने तो तू निज नर-मात्र मुझे रखना ।"[२]

भगवान ने भी युधिष्ठिर के सामने प्रकट होकर यही कहा —

---

१. श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कंध, अ० १५, श्लोक ३७-५०
२. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४५ (द्वितीय संस्करण)

'सस्मित नारायण प्रकट हुए
आओ हे मेरे 'नर' आओ ।
जो कुछ है जहां तुम्हारा है
मुझको पाकर सब कुछ पाओ ।'[१]

'स्वर्गारोहण' शीर्षक से दी गई अन्तर्कथा में कवि ने युधिष्ठिर के आध्यात्मिक विकास का परिचय दिया है । युधिष्ठिर को अन्त में पूर्णत्व की प्राप्ति हुई । युधिष्ठिर की यह उपलब्धि मानव-धर्म आचरण द्वारा ही हुई । कवि ने मानवतादर्श को युधिष्ठिर के माध्यम से चरितार्थ किया है । कवि ने यह स्पष्ट किया है कि मानव की महानता का सार्थक रूप भौतिक सुखों में न होकर निस्पृह उद्योगों में है । पूर्ण मानवत्व मानसिक विकारों में न होकर सात्विक गुणों में है । युधिष्ठिर के इसी महामानवत्व का निरूपण इस कथा में किया गया है । स्वर्ग में दुर्योधन को सद्प्रवृत्तियों से युक्त दिखलाकर कवि ने युधिष्ठिर के महत्व को बढ़ाया है । इस कथा-खण्ड में शान्त रस की व्यंजना की गई है ।

जयद्रथ-वध की अन्तर्कथा के स्रोत

'जयद्रथ-वध' की कथा का मूल स्रोत 'महाभारत' है । प्रस्तुत कथा महाभारत के द्रोण पर्व के अन्तर्गत अभिमन्यु वध पर्व से जयद्रथवधपर्व तक विस्तार पूर्वक वर्णित है । 'जयद्रथ - वध' काव्य के प्रथम सर्ग में अभिमन्यु का युद्ध में व्यूह-प्रवेश और वीरगति प्राप्त करने का वर्णन है । 'महाभारत' में यह कथा अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णित है ।[३] प्रस्तुत अन्तर्कथा में कवि ने अभिमन्यु द्वारा दुःशासन और कर्ण की पराजय महाभारत के अनुसार ही वर्णित की है ।[४] अन्त में छः महारथी अकेले अभिमन्यु पर वार करते हैं और अभिमन्यु के रथ के सभी अश्व रिपुशरों से आहत होकर गिर पड़े । अभिमन्यु रथ से कूद कर

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४५२ (द्वितीय संस्करण)
३. महाभारत, द्रोणपर्व, अभिमन्युवध पर्व, (गीताप्रेस गोरखपुर)
४. ,, ,, अध्याय ४० ,,

पैदल ही युद्ध करने लगा और अन्त में उसका वध जयद्रथ आदि ने कर डाला । यह कथा भी 'महाभारत' के आधार पर ही वर्णित है ।[१]

जयद्रथ - वध के द्वितीय सर्ग में अभिमन्यु-वध पर पाण्डवों का शोक वर्णित है ।

तृतीय सर्ग में श्रीकृष्ण पाण्डवों को सान्त्वना देने लगे और शोक करने के स्थान पर युद्ध करने और बदला लेने के लिए उत्साहित करने लगे । कृष्ण की बातें सुनकर शत्रुओं के प्रति अर्जुन का क्रोध भड़क उठा और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि कल, मैं सूर्यास्त से पहले यदि जयद्रथ का वध न कर डालूं तो मैं स्वयं ही अनल में जल मरूं । यथा -

" सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ वध करूं ,
तो शपथ करता हूं स्वयं मैं ही अनल में जल मरूं ।"[२]

श्रीकृष्ण अर्जुन की प्रतिज्ञा से प्रसन्न हुए ।

'महाभारत' में युधिष्ठिर द्वारा अभिमन्यु वध का वृत्तान्त जानने पर ही अर्जुन जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा करते हैं, परन्तु 'जयद्रथ-वध' काव्य में श्रीकृष्ण जब अर्जुन को युद्ध के लिए उकसाते हैं तब वे जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा करते हैं ।[३]

तृतीय सर्ग में अर्जुन द्वारा जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने अपना पांचजन्य बजाया । महाभारत के अनुसार भी श्रीकृष्ण इस प्रकार उक्त अवसर पर अपना पांचजन्य बजाते हैं -

सपांचजन्योऽच्युतवक्त्रवायुना
भृशं सुपूर्णोदरनिःसृतध्वनिः ।
जगत् सपातालवियद्दिगीश्वरं
प्रकम्पयामास युगात्यये यथा ।। ५२।।[४]

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, अभिमन्यु वध पर्व, अ० ४८,४६
२. जयद्रथ वध, तृतीय सर्ग, पृ० ३६ (पचासवां संस्क०)
३. महाभारत द्रोण पर्व, प्रतिज्ञा पर्व, अ० ७२ श्लोक २० -४६
४. ,, ,, ,,

अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण के मुख की वायु से भीतरी भाग भर जाने के कारण अत्यन्त भयंकर ध्वनि प्रकट करने वाले पांचजन्य ने आकाश, पाताल, दिशा और दिक्पालों सहित सम्पूर्ण जगत को कम्पित कर दिया, मानो प्रलयकाल आ गया हो।

'जयद्रथ बध' के तृतीय सर्ग के उत्तरार्द्ध में सुभद्रा और द्रौपदी के शोक की वर्णना की गई है। कृष्ण सुभद्रा आदि को सांत्वना देते हैं। यह वर्णन भी 'महाभारत' पर आधारित है।[1]

चतुर्थ सर्ग में श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वप्न में कैलाश पर्वत पर शंकर भगवान् के समीप ले गए और भगवान शंकर ने अर्जुन को अस्त्र दिया। यह कथा महाभारतीय कथा पर ही आधारित है।[2] दूसरे दिन युधिष्ठिर आदि ने अर्जुन का स्वप्न सुनकर प्रसन्नता प्रकट की। यह कथा भी महाभारत से ही उद्भूत है।[3]

पंचम सर्ग में अर्जुन युद्ध के लिए चले और सामने ही मार्ग रोक द्रोणाचार्य खड़े थे। अर्जुन से द्रोणाचार्य ने कहा कि तुम आज युद्ध में परीक्षा देकर मुझे संतुष्ट करो। अर्जुन ने कहा कि मेरा रण कौशल फिर कभी देख लेना, आज तो मुझे अभिमन्यु का बदला लेना है। परन्तु द्रोणाचार्य न माने और युद्ध प्रारम्भ हो गया। पर्याप्त समय तक युद्ध चलता रहा। फिर विलम्ब होता देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि समय कम है और कार्य बहुत अधिक करना है। इतना कह कर श्रीकृष्ण ने रथ दूसरी ओर बढ़ा दिया। 'महाभारत' में यह कथा विस्तारपूर्वक वर्णित है।[4] 'जयद्रथ बध' के इसी सर्ग में वर्णित है कि श्रुतायुध ने श्रीकृष्ण को गदा मारी परन्तु वह उलट कर उसी के भाल पर जा लगी, उसका सर फट गया और श्रुतायुध स्वयं ही मारा गया। 'महाभारत' में यह कथा अत्यन्त विस्तार पूर्वक दी गई है।[5]

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, प्रतिज्ञापर्व, अ० ७८ (गीताप्रेस गोरखपुर)
२. ,, ,, अ० ८०,८१ ,,
३. ,, ,, अ० ८४ ,,
४. ,, जयद्रथवधपर्व, अ० ९१
५. ,, ,, अ० ९२ श्लोक ३४।। - ५५।।

अर्जुन द्वारा घमासान युद्ध और अपनी सेना के अनेक वीरों को युद्ध में मारा गया देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्य के समीप गया और उनसे कहने लगा कि आप पाण्डवों पर प्रीति रखते हैं इसीलिए अर्जुन को आपने अपने सामने से निकल जाने दिया । मैंने शक्तिभर आपको प्रसन्न रखने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी आप हमारा अप्रिय करना चाहते हैं । दुर्योधन के ऐसे कटुवचनों को सुनकर द्रोणाचार्य बहुत दु:खी हुए और उसे समझाते हुए कहा कि पार्थ स्वयं अद्वितीय महारथी है और उन्हें श्रीकृष्ण जैसा सारथी भी मिला हुआ है । परन्तु तुम धैर्य पूर्वक कर्ण आदि के साथ उसे रोकने की चेष्टा करो । तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को ऐसा दिव्य कवच पहनाया जिससे वज्र की भी चोट सही जा सकती थी । दुर्योधन उस कवच को धारण करके अर्जुन से लड़ने चला । यह कथांश महाभारत में किंचित विस्तार पूर्वक वर्णित है ।[१] इधर युधिष्ठिर अर्जुन और श्रीकृष्ण का समाचार न पा सकने के कारण चिंतित हुए । उन्होंने अपनी चिन्ता सात्यकी पर प्रकट की । सात्यकी ने उन्हें समझाया कि अर्जुन और श्रीकृष्ण के लिए चिंतित होने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु युधिष्ठिर न माने और सात्यकी को उनका हाल जानने के लिए भेजा । सात्यकी कौरव सेना में जाने लगे और भीम को युधिष्ठिर की रक्षा के लिए भेजा । यह कथांश पर्याप्त विस्तार के साथ महाभारत में वर्णित है ।[२] जयद्रथवध के इसी पंचम सर्ग के अनुसार सात्यकी को कृष्ण तथा अर्जुन का पता लगाने भेजने के पश्चात युधिष्ठिर ने भीम को अर्जुन और सात्यकी का पता लगाने भेजा । भीम ने कौरव सेना में प्रवेश किया और द्रोणाचार्य से युद्ध आरम्भ हुआ । युद्ध करते हुए भीम ने द्रोणाचार्य के रथ को हाथों में उठा लिया और कंदुक के समान उसे आकाश में फेंक दिया । इस कथांश के मूल स्रोत भी 'महाभारत' में प्राप्त होते हैं ।[३] तत्पश्चात् भीम का कर्ण से युद्ध आरंभ हुआ । 'महाभारत

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, जयद्रथ वध पर्व, अ० ९४ (गीताप्रेस, गोरखपुर)

२. ,, ,, अ० ११०, १११, ११२ ,,

३. ,, ,, अ० १२६, १२७, १२८ ,,

में इस युद्ध का विस्तार पूर्वक वर्णन है ।[१]

'जयद्रथ-वध' काव्य के षष्ठ सर्ग के अनुसार भूरिश्रवा और सात्यकि का युद्ध चल रहा था । एकाएक भूरिश्रवा ने सात्यकि का शीश काट लेना चाहा । परन्तु उसी समय अर्जुन ने अपने बाण द्वारा उसका हाथ ही काट डाला । कौरव सेना के वृषसेन, कर्ण आदि ने इस कार्य के लिए अर्जुन को धिक्कारा । अर्जुन ने उन लोगों को उत्तर दिया । फिर सात्यकि ने भूरिश्रवा का बड़ी खड्ग लेकर उसका वधकर डाला । यहकथा 'महाभारत' में पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णित है ।[२] तत्पश्चात् जयद्रथ को मारने के लिए अर्जुन सात्यकि तथा भीम चले । कुरुराज दुर्योधन अलौकिक वर्म को धारण करके, जयद्रथ को अपने पीछे छिपा कर अपने वीरों तथा कर्ण आदि के साथ युद्ध करने लगा । युद्ध चल ही रहा था कि इतने में सूर्यास्त होने लगा । अर्जुन दु:खी हो उठे कि वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके और सूर्यास्त हो गया । युधिष्ठिर भी क्षोभित हो उठे । दूसरी ओर कौरव पक्ष के लोग हर्षित होने लगे । दुर्योधन ने दु:शासन से प्रसन्नतापूर्वक कहा कि सूर्य के साथ ही अर्जुन को भी अस्त होता हुआ देख लो । और दुर्योधनने दु:शासन को कर्ण आदि के आगे खड़ा कर दिया । परि-णाम को सोचकर भीम और सात्यकि कृष्ण के सामने बेहोश होकर गिर पड़े । अर्जुन कृष्ण से अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहने लगे कि तुम्हारे जैसा सहायक रहते हुए भी मेरा प्रण पूरा नहीं हुआ । अब मैं अपनी जीवन लीला ही समाप्त किए देता हूं । अर्जुन की हार समझ कर जयद्रथ ने हंस कर कहा —

" गोविन्द अब क्या देर है प्रण का समय जाता टला ।
शुभ कार्य जितना शीघ्र हो, है नित्य उतना ही भला ।"

जयद्रथ के ऐसे वचन सुनकर श्रीकृष्ण को कुछ हंसी आ गई । उन्होंने अर्जुन से कहा कि अब तुम अपना प्रण पूरा कर लो, देखो अभी दिन शेष है । इसी समय सूर्य पुन: प्रकट हो गया । श्रीकृष्ण ने ही यह कौतुक अर्जुन के लिये किया था । उन्होंने ही दिन के शेष रहते हुए भी सूर्य को अस्त-सा दिखा दिया था । अर्जुन

---

१. महाभारत, द्रोण पर्व जयद्रथवध पर्व, अ० १२६-१३६ गीताप्रेस, गोरखपुर
२. " " अ० १४२-१४३ "

ने तुरन्त सचेत होकर अपना गाण्डीव उठा लिया । भीम और सात्यकि भी सजग होकर आनन्द रव करने लगे । अर्जुन ने जयद्रथ से कहा कि अब भागने की चेष्टा मत कर । अब तू मृत्यु का ग्रास है । जयद्रथ तत्काल रोष से बाण वर्षा करने लगा । अर्जुन भी गाण्डीव से बाणों की वर्षा करने लगे । कर्ण आदि ने भी युद्ध आरम्भ किया परन्तु अर्जुन ने अपने गाण्डीव से बाण छोड़कर जयद्रथ का सिर धड़ से अलग कर दिया । अर्जुन के बाण उस कटे हुए सिर को उठाकर वहाँ ले गए, जहाँ जयद्रथ का पिता बैठा हुआ तप कर रहा था । जयद्रथ का सिर उसके पिता की गोद में गिरा और पिता की भी मृत्यु हो गई ।

`जयद्रथ वध` काव्य के षष्ठ सर्ग में वर्णित इस कथा के स्रोत `महाभारत` में विस्तार से प्राप्त होते हैं ।[१] महाभारत के अनेक अध्यायों की कथा को इस प्रसंग में कवि ने अनावश्यक विस्तार के भय से छोड़ दिया है । परन्तु मूल कथा में कोई परिवर्तन नहीं किया है । वरन् महाभारतीय कथा का इतना अधिक प्रभाव गुप्त जी पर पड़ा है कि कहीं-कहीं, कोई-कोई अंश महाभारत के किसी श्लोक का अनुवाद सा ही प्रतीत होता है । एक उदाहरण देखिये । `जयद्रथ-वध` के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर अर्जुन को अभिमन्यु के वध का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताते हैं । यह कथांश `महाभारत` पर ही आधारित है[२]। अर्जुन युधिष्ठिर के मुंह से सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर `हा पुत्र !` कह कर पृथ्वी पे पर गिर पड़े । यथा —

" `हा पुत्र !` कह कर शीघ्र ही फिर वे मही पर गिर पड़े ।"

यह वर्णन `महाभारत` के एक स्थल का अनुवाद सा प्रतीत होता है —

" ततोऽर्जुनो वचः श्रुत्वा धर्मराजेन भाषितम् ।।१६।।
हा पुत्र इति निःश्वस्य व्यथितोऽन्यपतद्भुवि ।[३]

जयद्रथ वध की कथा का मूल स्रोत तो `महाभारत` ही है परन्तु

---

१. महाभारत, द्रोण पर्व, जयद्रथ वध पर्व, अ० १४६ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
२. ,, प्रतिज्ञापर्व, अ० ७२ ,,
३. ,, ,, अ०७२ ,,

कहीं-कहीं कवि ने थोड़े बहुत परिवर्तन भी किए हैं। 'महाभारत' के अनुसार युधिष्ठिर के द्वारा अभिमन्यु वध का वृत्तान्त जानने पर ही अर्जुन जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा करते हैं।[1] परन्तु 'जयद्रथ-वध' काव्य में श्रीकृष्ण जब अर्जुन को युद्ध के लिए उकसाते हैं तब वे जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों के साथ-साथ कवि ने कहीं कहीं कथा में परिवर्धन भी किया है। उदाहरण के लिए 'जयद्रथ-वध' के तृतीय सर्ग में अभिमन्यु के शव-संस्कार का वर्णन आया है, परन्तु महाभारत में यह प्रसंग नहीं है। कवि 'महाभारतीय' कथा द्वारा कुछ संदेश देना चाहता है। अनुचित कार्य करके यदि मनुष्य अपनी जय चाहे और विष-बीज बोकर यदि वह सुफल की आशा करे तो यह असंभव है। कवि द्रोणाचार्य द्वारा दुर्योधन को यह संदेश दिलवाता है। यथा—

" जो लोग अनुचित काम कर जय चाहते परिणाम में,
है योग्य उनकी-सी तुम्हारी यह दशा संग्राम में।
विष - बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं,
विश्वेश की विधि पर किसी का वश कभी चलता नहीं ।।[2]

कवि यह बताता है कि पुण्य की ही जीत होती है और पाप की ही हार होती है। असमय ही सूर्यास्त हो जाने से पाण्डव पक्ष में क्षणिक उदासी छा जाती है। उस दृश्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है —

' क्या पाप की ही जीत होती, हारता है पुण्य ही ?
इस दृश्य को अवलोक कर तो जान पड़ता है यही।
धर्मार्थ दु:ख सहे जिन्होंने पार्थ मरण-सन्न हैं,
दुष्कर्म ही प्रिय हैं जिन्हें वे धार्तराष्ट्र प्रसन्न हैं।"[3]

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व, प्रतिज्ञा पर्व, अ० ७२, श्लोक २०-४६(गीताप्रेस,गोरखपुर
२. जयद्रथ-वध, पंचम सर्ग, पृ० ६८ (द्वितीय संस्करण)
३. ,, षष्ठ सर्ग, पृ० ८२

पंचम अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के ऐतिहासिक काव्य की अन्तर्कथाओं के स्रोत

इतिहास का तथ्य परक रूप और काव्य में उसका मनोवैज्ञानिक समावेश

अतीत युग के यथार्थ स्वरूप को दृष्टिपथ में रख कर लिखे गये काव्यों में तत्कालीन युग के ऐतिहासिक तत्वों के साथ ही कवि के अपने युग की भावनाओं का भी मिश्रण किसी न किसी रूप में पाया जाता है। कवि अतीत के प्रति व्यापक मानवीय दृष्टि रख कर समीक्षात्मक रूप से विचार करता है। 'अतीत' और 'वर्तमान' इन दो बिन्दुओं पर बनी रेखा के अनुसार कवि चलता है। इनका एक में सम्मिलन या एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवेश ही गति है। इस गतिमान-प्रक्रिया में विविधता, सम्मिश्रण तथा नवीनीकरण का एकीकरण दिखाई देता है। वर्तमान जीवन के गतिमान स्वरूप को विवृत करने के लिए प्रमाण या समर्थन की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि सैद्धान्तिक समीक्षक यह जानकर चलता है कि सिद्धान्त-व्याख्याता किसी न किसी प्रमाण का आधार ग्रहण करता है।

ऐतिहासिक घटना में ससीमता, काल परिज्ञान, तथा निश्चितता रहती है। साथ ही उस घटना के कारकीय तत्वों का महत्व न होकर घटना ही का महत्व होता है। इतिहास, जो घटना जैसी है, उसका वर्णन वैसा ही करता है। इन कारकीय तत्वों के भी विविध रूप हो सकते हैं। सामान्यत: इनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक कारकीय तत्व हमारी अन्तवृत्तियाँ या भावानुभूतियाँ हैं। बाह्य उप-करण स्थूल भौतिक जगत से लिए गए होते हैं। बाह्य तत्वों में एक देशीय, काल विशिष्ट तथा स्वरूपगत विशेषताओं के कारण एक काल से दूसरे काल में प्रवेश करने की सामान्य शक्ति नहीं होती। परन्तु कवि इन्हें सांकेतिक अध्ययन के लिए आवश्यक समझता है। क्योंकि विश्वसनीयता के लिए ये अत्यन्त आवश्यक हैं।

परन्तु इन उपकरणोंपर सतही ढंग से विचार किया जाता है। विवरणात्मक ढंग से कवि उनकी एक स्वरूपगत स्थिति की जानकारी प्रस्तुत करता है। आन्तरिक कारकीय तत्वों के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों को लिया जा सकता है। इनकी सामान्य रूप-रेखा इतिहास में किसी स्थान पर कभी मिल जाती है तो यह इतिहास लेखक की कार्यकुशलता है न कि उन कारकीय काव्य शक्तियों की। यदि संक्षेप में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं में काल-सीमा, स्थिति परिज्ञान तथा साक्षात-बोध की अपेक्षा होती है, परन्तु जब वही घटना काव्य में घटित होती है तो उसमें सार्वकालिक शक्ति, विश्वसनीयता, सम्भाव्यता आदि का भी समावेश होता है।

इतिहास शब्द में 'इति' यथार्थ का तथा 'ह' निश्चित भूत का द्योतक है। अर्थात् इतिहास का अभिप्राय निश्चित भूत का यथार्थ अंकन है। ऐतिहासिक तथ्य, काव्य के अन्तर्गत इसलिए ग्रहण किए जाते हैं क्योंकि उसमें किसी निश्चित काल की जीवन व्यवस्था और परम्परा की निवृत्ति मिलती है। साहित्यिक ऐतिहासिक तथ्यों को देखने के लिए इतिहास में द्विधा रूपों को देखना परमावश्यक है। इतिहास का एक रूप वैज्ञानिक है तो दूसरा दार्शनिक। वैज्ञानिक रूप, ऐतिहासिक दृष्टि परम्पराओं का निष्पक्ष और वास्तविक विवरण है परन्तु दार्शनिक दृष्टि परम्परा के यथार्थ में एक सांस्कृतिक प्रयोजन की खोज करती है। इतिहासपरक साहित्य में प्राय: यही दार्शनिक दृष्टि हमें देखने को मिलती है।

ऐतिहासिक घटना और सत्य-

कोई भी घटना सत्यता का रूप तभी ग्रहण कर सकती है जब वह अनुभव का स्तर ग्रहण कर ले। घटना और सत्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्रश्न यह है कि सत्य के आकार की स्वीकृति किस स्थिति तक स्वीकार की जाय। प्रश्नोत्तर में हम केवल यही कह सकते हैं कि सत्य का रूपाकार वही है जो हमारे लिए 'बोधगम्य' हो। इसीलिए सत्य की आज एक परिभाषा यह दी जाती है कि सत्य वह है जो अनुभव किया जाय। अपने अनुभव को हम दूसरे तक

पहुंचाने के लिए किसी न किसी माध्यम का आधार ग्रहण करते हैं, क्योंकि अनुभव की सत्यता भी तभी सिद्ध हो सकती है जबकि वह दूसरे का अनुभव बन जाय। कवि इसीलिए किसी न किसी घटना को ग्रहण करते हैं। घटना का एक रूप वह है जो हमारी आंखों के सामने घटित होता है। उस घटना का हमें साक्षात् बोध होता है परन्तु घटना को परोक्षगम्यता की भावभूमि पर प्रतिष्ठापित करना अपने में विशिष्टता का भी द्योतक है। घटना के साक्षात् बोध के लिए सीमा-बोध, वस्तुपरिज्ञान, तथा सबसे बड़ी चीज़ है समय की शक्तिमान बाधा। इस साक्षात् बोध की बात तो हम इतिहास द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जब किसी घटना के माध्यम से किसी विशेष काल का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तथा उसके मूल्यों से सान्निध्य स्थापित करना चाहते हैं तो हमें उपर्युक्त विघ्न-बाधाओं से बनी शृंखला को तोड़ कर आगे बढ़ना पड़ता है। पूर्व घटित घटना को हम लेते हैं तो यह मानना पड़ता है कि वह घटना प्रतिकृति की प्रतिकृति है। अत: उसमें कल्पना का समावेश अवश्य होगा। प्रतिकृति में मिलावट, वैभिन्य तथा नवीनीकरण की स्थिति को स्वीकार करना होगा। इसी से कलाकार जब किसी घटना को लेता है तो घटना की ऐतिहासिकता के साथ ऐतिहासिक रस की ओर विशेष ध्यान देता है जो हमें वर्तमान जीवन में आह्लादित करता है। इसी घटना की स्थिति को स्वीकार कर सम्पूर्ण ज्ञान- विज्ञान परिचालित होते हैं। यही घटना कवि के लिए विषय-वस्तु बन जाती है। हमारी न्यायिक दृष्टि यह हो सकती है कि हम सत्य को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द के द्वारा कहां तक रूपायित कर सकते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित ऐतिहासिक काव्यों का अध्ययन किया गया है। कवि ने इन काव्यों के लिए इतिहास से तो सामग्री ली ही है, साथ ही युगों से चली आती हुई किंवदन्तियों को भी महत्व दिया है। इसऐतिहासिक सामग्रीमें कवि की अपनी.कल्पना और अनुभूतिका योग सर्वोपरि है। कवि युगका दृष्टा और युगसृष्टा,दोनों है, अत:वह अपनी प्रत्येक रचना में युग को देखकर उसके अनुसार काव्य सृष्टा बनता है। ऐतिहासिक काव्यों में वह ऐतिहासिक तथ्यपरक रूप को ग्रहण करके उनका मनोवैज्ञानिक समावेश करताहै।

१. रंग में भंग -

'रंग में भंग' गुप्त जी की सर्वप्रथम मौलिक रचना है । यों तो आख्यानक कविता के रूप में यह सरस्वती में पहले प्रकाशित हो चुकी थी परन्तु परिवर्द्धित रूप में यह संवत् १९६६ में प्रकाशित हुई । जिस समय खड़ी बोली का कोई स्थिर रूप नहीं था और वह काव्य के उपयुक्त नहीं समझी जाती थी उस समय गुप्तजी ने खड़ीबोली में राजपूत इतिहास की एक रोचक घटना को लेकर इस खण्डकाव्य की सृष्टि की । 'रंग में भंग' खण्डकाव्य से यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में भी सफल काव्य रचना हो सकती है ।

'रंगमें भंग' खण्डकाव्य गुप्त जी की प्रथम प्रबन्ध रचना है । खण्डकाव्य में प्रारम्भ से अन्त तक रोचकता विद्यमान है । कथा तंतु टूटने नहीं पाया है । कवि को दो संदेश देना अभीष्ट था वह पूर्णतः स्पष्ट हुआ है । रंग में भंग खण्ड काव्य के माध्यम से कवि ने यह बतलाना चाहा है कि मान पर मर मिटना राजपूतों का धर्म है । गुप्त जी ने यह कथा राजपूत इतिहास से ली है । इसमें बूंदी एवं चित्तौड़ के नरेशों की महत्वपूर्ण घटना वर्णित है । संवत् १३८३ में बूंदी के नरेश धामाजी का स्वर्गवास हो गया । उनके दो पुत्र थे, वर सिंह और लाल सिंह । वर सिंह राजा बने । उनकी एक पुत्री थी जो कि आदर्श रमणी की प्रतिमूर्ति थी । उसका विवाह चित्तौड़ के राणा खेतल से तै हुआ और विवाह की तैयारियां होने लगीं । इसी समय चित्तौड़ में भूगर्भ से एक सुन्दर स्त्री-मूर्ति निकली । वह मूर्ति दरबार में लाई गयी और उसकी विविध भांति से चर्चा होने लगी । वहीं दरबार में राज-कवि 'बारूजी' भी बैठे थे उन्होंने उस मूर्तिको देखकर एक पद्य राणा को सुना दिया । यथा —

" एक ऊंचा, एक नीचा एक कर सम्मुख किये,
एक ग्रीवा पर धरे वह कर रही शोभा लिये -
स्वर्ग में, पाताल में, नृप, आप-सा दानी नहीं,
ओश में अपना कटाऊं जो मिले कोई कहीं ।"[१]

---

१. रंग में भंग , पृ० ६

दरबार के सभी व्यक्तियों ने राजकवि की उक्ति पर धन्य-धन्य कहा । उस समय वहां बूंदी के कन्यापक्ष के लोग भी उपस्थित थे । उन्होंने उक्त सम्पूर्ण घटना बूंदी नरेश को कह सुनाई । बूंदी नरेश यह समझ गये कि राजकवि ने मूर्ति की व्याख्या द्वारा राणा की दानशीलता को अप्रतिद्वन्द्वी सिद्ध किया है । यथा समय बारात आई और विवाह संस्कार सम्पन्न हो गया तब विदा के समय लालसिंह ने राणा के राजकवि की काव्य-शक्ति की प्रशंसा की परन्तु उसकी चाटुकारिता की निन्दा की और बताया कि मिथ्या प्रशंसा से राजा अहित ही होता है । झूठी प्रशंसा से तुमने अपनी वाणी को भी कलंकित किया है । यथा —

" स्वर्ग में, पाताल में, नृप ! आप सा दानी नहीं "
क्या कलंकित इस कथन से की गई वाणी नहीं ?[1]

लाल सिंह क्रोधित हो उठे थे —उन्होंने कविराज को ललकारते हुए कहा —

" सत्य ही क्या दूसरा दानी न राना-सा कहीं ।
शीश भी मुझसे कहो ता दान में दे दूं यहीं ।
यदि इसी पर तुम न मांगो तो तुम्हें धिक्कार है,
मांगने पर मैं न दूं तो धिक् मुझे सौ बार है ।"[2]

लाल सिंह के ऐसे वचन सुनकर कविराज लज्जित हो गये । और मानसिक संताप के कारण अपना शीश काट डाला । विवाह के अवसर पर रंग में भंग हो गया । वर और वधू पक्ष के लोगों में युद्ध आरम्भ हो गया और युद्ध में राणा खेतल ने भी वीरगति पाई । उसकी नवपरिणीता पत्नी ने किसी की बात न मानी और पति के साथ सती हो गई । उसने आर्य नारी का आदर्श सबके सम्मुख रख दिया ।

१, रंग में भंग, पृ० १२
२, ,, ,, पृ० १३

" आत भी न अब तक जिससे थी हुई अनुराग में ,
यों उसी के साथ जीवित जल गई वह आग में ,
आर्य कन्या मान लेती स्वप्न में भी पति जिसे
भिन्न उससे फिर जगत में और भज सकती किसे ?"[१]

इसी कृति "रंग में भंग" का उदाहरण नकली किया है। इसी कथा से सम्बन्धित "नकली किला" की घटना भी है। राजा बैतल की वीरगति के पश्चात् चित्तौड़ के राणा लाखा हुए। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि बिना बूंदी पर विजय प्राप्त किए अन्न जल न लेंगे। परन्तु व्रतोपवास से क्षत्रिय धर्म का पालन सम्भव न था अत: मंत्री ने प्रण की रक्षा के लिए चित्तौड़ में ही बूंदी का नकली किला बनवा दिया, और राणा से आग्रह किया कि वे उसे ही तोड़ कर अपने प्रण की रक्षा कर लें। परन्तु भाग्यवश बूंदी के हाड़ा कुंभ वहां पहुंच गये थे और उन्होंने इस नकली किले की रक्षा का प्रयत्न किया। अपनी मातृभूमि का अपमान देखने से मर जाना अच्छा समझा। हाड़ा कुम्भ ने बड़े ओजपूर्ण शब्दों में कहा --

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह निरोग शरीर से।
यद्यपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?

x x

जन्मदात्री, धात्री ! तुझसे उऋण अब होना मुझे ,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे ?[२]

हाड़ा कुम्भ अपने साथियों के साथ-साथ राणा से युद्ध करते करते वीरगति को प्राप्त हो गया।

इस काव्य में कवि ने कई विशेषताएं रखी हैं। मध्ययुगीन क्षात्रधर्म का वीरत्व वर्णन, सती-धर्म का गौरव नारी की महानता, मातृभूमि के प्रति

---

१. रंग में भंग, पृ० २२
२. " पृ० २६

प्रेम, कवियों की चाटुकारिता की निन्दा आदि का वर्णन इसमें हुआ है। इसमें शृंगार रस का वर्णन नहीं होने पाया, परन्तु करुण रस की धारा स्पष्ट है। वीर रस का भी परिपाक हुआ है, परन्तु उसमें कवि की मनोवृत्ति अधिक रमी नहीं है।

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'रंग में भंग' की वस्तु सदोष है। राजकुमारी के सती हो जाने पर कथा को समाप्त हो जाना चाहिये था। स्वयं कवि ने भी कहा है —

" यद्यपि पूरा हो चुका यह चरित एक प्रकार से।" [१]

यहां आकर कथा समाप्त हो जाती है, परन्तु कवि ने हाड़ा राणा कुंभ के वीर-चरित के आलेखन का लोभ संवरण नहीं किया और यह दूसरी घटना भी इसी में जोड़ दी। इन दोनों कथाओं की दोनों घटनाओं में अंगोअंग का भी सम्बन्ध नहीं है। पहली कथा में राजकुमारी के पान प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण है और दूसरी कथा में राणा कुंभ के पवित्र देश-प्रेम का प्रकाश है। दोनों ही कथाएं पृथक पृथक महत्व रखती हैं। इन दोनों कथाओं का समाहार कर देने से स्वभावत: वस्तु सदोष हो गई है। एक साथ कई वृत्तों के जुड़ जाने से इसमें केन्द्रीकरण का अभाव है। रंग में भंग की कथा दो खण्डकाव्यों के लिए पर्याप्त हो सकती थी। वास्तव में गुप्त जी ने काव्य रचना करते समय काव्य रूप की चिंता नहीं की है। उनका ध्यान केवल विषय पर केन्द्रित रहा है। इसीलिए इस प्रकार का दोष आ गया है।

'रंग में भंग' खण्डकाव्य में उत्साह-सज्जा और युद्ध का सजीव चित्रण है। वीर रस की प्रमुखता है। इसमें अतिरिक्त मानापमान भावना का दोष भी परिलक्षित होता है।

मूलस्रोत —

'रंग में भंग' काव्य के उत्तरांश की कथा का आधार राजपूत इतिहास

---

१. रंग में भंग, पृ० २४

है । यद्यपि कवि ने अपनी कल्पना द्वारा इसमें भी रंग भरे हैं, परन्तु वे थोड़े ही हैं । इतिहास में यह कथा इस प्रकार मिलती है— सन १३४२ में रावदेवा ने बूंदी राजधानी की प्रतिष्ठा की । रावदेवा ने अपना पहला राज्य अपने बड़े लड़के हरराज को सौंपा । परन्तु कुछ दिनों बाद हरराज के दिल्ली चले जाने पर बूंदी का राज्य रावदेवा ने अपने छोटे पुत्र समरसी को सौंप दिया । समरसी के तीन पुत्र हुए । बड़े का नाम नापा जी था । समरसी के पश्चात् नापा जी ही बूंदी के सिंहासन पर बैठा । नापा जी के भी तीन पुत्र हुए । पहले लड़के का नाम हामाजी, दूसरे नवरंग और तीसरे का धाकड़ नाम था । सन् १३८४ में हामा सिंहासन पर बैठा ।

चित्तौड़ के राणा और बूंदी के हामा जी में तनाव चल रहा था । दोनों में पत्र-व्यवहार भी चला । परन्तु चित्तौड़ के राणा को हमा जी के उत्तर से संतोष नहीं हुआ और चित्तौड़ का राणा अपने सामन्तों की सेनाओं के साथ अपनी सेना लेकर बूंदी पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ । बूंदी के निकट पहुंचकर निमोरिया नामक स्थान पर उसने मुकाम किया । चित्तौड़ की सेना के आने का समाचार पाकर हामा जी ने तुरन्त युद्ध की तैयारी की और रात्रि में बिना सूचना दिये हाड़ा लोगों ने एकाएक चित्तौड़ की सेना पर आक्रमण किया । उस समय भयंकर संहार को देख कर राणा घबड़ा उठा और वह अपनी रक्षा के लिए चित्तौड़ भाग गया । हाड़ा राजपूतों के द्वारा बहुत से सीसोदिया सैनिक और चित्तौड़ के सामंत मारे गये । विजयी हामाजी बूंदी वापस आ गए ।

इस हार से राणा ने अपना बहुत बड़ा अपमान अनुभव किया । बूंदी के राजा से इस अपमान का बदला लेने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं बूंदी पर अधिकार न कर लूंगा, अन्न-जल ग्रहण न करूंगा । राणा की इस प्रतिज्ञा को सुनकर उसके मन्त्री और सामन्त घबरा उठे । बूंदी राजधानी चित्तौड़ से आठ मील की दूरी पर थी और शूरवीर हाड़ा राजा उसकी रक्षा के लिए तैयार था । इस दशा में चित्तौड़ के मंत्रियों और सामन्तों ने सोचा कि इतनी जल्दी बूंदी को पराजित करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है । इसलिए

राणा ने जो प्रतिज्ञा की है वह किसी प्रकार संगत नहीं मालूम होती ।

राणा की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में चित्तौड़ के मंत्रियों और सामन्तों ने बड़ी गम्भीरता के साथ परामर्श किया । उन लोगों ने आपस में यह निर्णय किया कि राणा की इस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए कोई उपाय निकालना चाहिए । इस आधार पर उन सभी लोगों ने मिलकर एक निर्णय किया और राणा से प्रार्थना की कि हम लोग चित्तौड़ में एक कृत्रिम बूंदी का निर्माण करते हैं । आप अपनी सेना लेकर उसके दुर्ग पर अधिकार करके अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए ।

सामन्तों की इस प्रार्थना को सुनकर राणा ने उसको स्वीकार कर लिया । चित्तौड़ में तुरन्त कृत्रिम बूंदी का निर्माण किया गया और उसमें बूंदी की सभी बातों की रचना की गई । बूंदी राज्य का जो भाग जिस नाम से सम्बोधित किया जाता था, इस कृत्रिम बूंदी में सभी स्थान बनाए गए और उनका दुर्ग भी तैयार कर दिया गया । चित्तौड़ में पठार के हाड़ा लोगों की एक छोटी सी सेना थी, जो राणा के यहां काम करती थी । कुम्भावैरसी उस सेना का सेनापति था । कुम्भावैरसी शिकार खेल कर लौट रहा था । उसने मार्ग में एक कृत्रिम दुर्ग को बनते हुए देखा, वह उसके पास गया । उसके पूछने पर लोगों ने बताया कि इस कृत्रिम बूंदी की विजय करके राणा अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करेगा । कुम्भावैरसी के हृदय में उसी समय जातीय गौरव की भावना उदय हुई । उसने उसी समय कहा -" बूंदी और उसके दुर्ग के कृत्रिम होने पर भी हम उसकी रक्षा करेंगे । यहां पर हमारी जातीय मर्यादा का प्रश्न है ।"

दुर्ग के निर्माण का कार्य समाप्त होने पर राणा के पास सूचना भेजी गई । राणा अपनी सेना लेकर कृत्रिम दुर्ग को जीतने चला । पहले से यह योजना बनाई गई थी कि दुर्ग में सिसौदिया सेना रख कर राणा के आक्रमण के समय खाली बंदूकें फायर की जांय और दिखावटी दुर्ग की रक्षा की जाय । परन्तु सेना के साथ जब राणा दुर्ग की ओर बढ़े तो बंदूकों से

निकल निकल कर गोलियां राणा के सैनिकों का संहार करने लगीं । यह देखकर राणा को बहुत आश्चर्य मालूम हुआ । उसने रहस्य का पता लगाने के लिए अपना एक दूत भेजा । दूत से कुम्भा वैरसी ने कहा — " तुम राणा से जाकर कहो कि बूंदी के कृत्रिम दुर्ग को जीतकर हाड़ा वंश को अपमानित करना आसान नहीं है ।"

इसके बाद उस कृत्रिम दुर्ग के अन्दर युद्ध आरम्भ हुआ । जाति के सम्मान की रक्षा करने के लिए कुम्भावैरसी और उनके सैनिकों ने राणा की सेना के साथ शक्ति भर युद्ध करके अपने प्राणों को उत्सर्ग किया । उस युद्ध से बचकर और भाग कर एक भी हाड़ा सैनिक ने अपने प्राणों की रक्षा नहीं की । राणा ने इस प्रकार कृत्रिम बूंदी और उसके दुर्ग पर विजय प्राप्त की । परन्तु उसके बाद उसने बूंदी राज्य पर अधिकार करने का इरादा छोड़ दिया । क्योंकि वह हाड़ा वंश की शूरता और आत्मसम्मान से परिचित हो गया था । बूंदी के सिंहासन पर सोलह वर्ष तक बैठकर हामा जी ने स्वर्ग की यात्रा की । उनके दो पुत्र थे —वीरसिंह और लाला ।[१]

अब तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर 'रंग में भंग' की कथा और इतिहास में ध दी गई कथा में कुछ अन्तर स्पष्ट दिखाई देते हैं । परंतु उसका मूल स्रोत यही है ।

२. विकट-भट

यह एक आख्यानक निबंध रचना है । इसका कथानक जोधपुर राज्य के इतिहास से लिया गया है । एक दिन जोधपुर के महाराय राजा ने सरदार देवीसिंह से पूछा कि "कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे ?" देवी सिंह ने कहा कि वह जीवन से हाथ धोएगा, मुझसे मारा जायगा । राजा ने पुनः प्रश्न किया कि यदि तुम मुझसे रूठ जाओ तो क्या करोगे.? देवीसिंह चौंके और कहने लगे कि मैं भला आपसे क्या रूठूंगा । परन्तु राजा बार बार यही

---

१. राजस्थान का इतिहास- जेम्स टाड, अरसठवां परिच्छेद, पृ० ७३६,-७४१ अनु० केशवकुमार ठाकुर, (द्वितीय संस्करण)

प्रश्न पूछने लगे कि 'यदि तुम रूठ जाओ तो क्या करोगे ? वीर देवीसिंह राजा की यह बात बार बार सुनकर क्रोधित हो उठे और बोले —

" पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने —
" जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पतैली में ही,
मैं यों नवकोटी मारवाड़ को उलट दूं ।"
कहते हुए यों ढाल सामने जो रखी थी,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी ।"[1]

सारी सभा में सन्नाटा छा गया । राजा भी सन्न रह गए । परन्तु इस दृप्त उत्तर के लिए दूसरे ही दिन वृद्ध देवीसिंह को मरना पड़ा । यही नहीं उसके पुत्र जैतसिंह को मरना पड़ा । जैतसिंह को छल द्वारा राजमहल में लाकर मरवा डाला । परन्तु इस घटना से राजा को अत्यधिक पश्चात्ताप भी हुआ क्योंकि उसने अपने दो वीरों को खो दिया था । अनन्तर राजा ने देवी सिंह के पौत्र सवाई सिंह (जैत सिंह के पुत्र) को राजमहल में बुलवाया । वह द्वादश वर्षीय बालक अपनी विधवा माता को सान्त्वना देकर और यह आश्वासन देकर कि वह अपने पितामह के समान ही राजा को उत्तर देगा, राजमहल में गया । उसकी माता ने अपने शोक को दबाकर राजपूतों की निराली आन-बान की तथा वीर-दर्प की उसे शिक्षा दी । सवाई सिंह ने राजमहल में प्रवेश किया इस समय उसके व्यक्तित्व तथा सभागृह में प्रविष्ट होने का वर्णन अत्यधिक प्रभावशाली है । यथा —

" निर्भय मृगेन्द्र यथा करता प्रवेश है —
वन में ज्यों, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों
भीर के भभूके-सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानो धँसी जा रही थी, वदन गंभीर था,
उठता शरीर मानों अंगे में न आता था ,

---

१. विकट-भट, पृ० ४-५

वक्ष स्थल देख के कपाट खुले जाते थे ,
मरने मारने की ही मानों कटि कसी,
शोभित सुलङ्ग उसमें धार भरे पानी का,
पतली पट्टी थी उपवीत तुल्य कंधे में,
इसमें कटार खोंसी, जिसकी समानता
करने को भौंहें भव्य भाल पर थीं तनीं ।[१]

राजमहल में पहुंचकर वीर बालक ने भी राजा विजय सिंह को वीर-दर्प-पूर्ण और राजपूती शान को प्रकट करने वाला उत्तर दिया । तत्पश्चात् जोधपुर के राजा ने सस्नेह उसे अपना सामंत बनाया ।

देवीसिंह,जैत सिंह तथा सवाई सिंह क्षात्र-तेज के प्रदीप्त नक्षत्र हैं । जोधपुर के राजा का चरित्र निम्नकोटि का है, परन्तु अन्त में उसकी हृदय-शुद्धि कराई गई है । इस कृति का उद्देश्य राष्ट्रीय शौर्य को उत्तेजित करना है ।

मूल स्रोत--

' विकट-भट्ट ' की कथा के मूल स्रोत इतिहास में प्राप्त होते हैं । बख्त सिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका बेटा विजय सिंह बीस वर्ष की अवस्था में मारवाड़ के सिंहासन पर बैठा । मराठों के उपद्रवों से विजयसिंह का प्रभाव क्षीण हुआ और वहां के सामन्तों की स्वच्छन्दता बढ़ने लगी । पोकर चम्पावत लोगों की जागीर थी । वहां का सामन्त निस्सन्तान होकर मर गया था । वह मरने के पहले राजा अजित सिंह के दूसरे पुत्र देवी सिंह को गोद लेने की मन्शा अपनी पत्नी से कह गया था । गोद लेने की प्रथा के अनुसार जब कोई बालक किसी जागीर का अधिकारी बन जाता है तो वह अपने पिता के अधिकारों से

---

१. विकट-भट्ट भट, पृ० १४

वंचित हो जाता है तो भी देवी सिंह ने पोकरण का अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद भी अपने पिता के अधिकारों की लालसा न छोड़ी । देवी सिंह जोधपुर राज्य का एक सामन्त भी था । एक बार विजयसिंह ने छल-कपट से देवीसिंह को अन्य सामन्तों के साथ जोधपुर के दुर्ग पर बुलाया । जोधपुर का दुर्ग पहाड़ों के ऊपर बना हुआ था । दुर्ग में जाने के लिए पहाड़ों को खोद कर सीढ़ियां बनाई गई थीं । राज्य के सभी सामन्तों के आगे आगे देवीसिंह सामंत चल रहा था । सीढ़ियों पर पहुंच कर उसने कहा —मुझे आज कुछ अच्छे लक्षण नहीं दिखाई देते । " देवीसिंह की इस बात को सुन कर दूसरे सामंतों ने कहा," आप मारवाड़ राज्य के सर्वमान्य हैं । आपकी तरफ आंख उठाकर देखने का कोई साहस नहीं कर सकता ।" सामन्तों ने आगे बढ़कर दुर्ग में प्रवेश किया । उसी समय नक्कार खाने का दरवाज़ा बन्द हो गया । सामंत भयभीत हो उठे और उनके मुंह से निकल गया , इतना बड़ा विश्वासघात । इसी समय अहवा के सामन्त ने अपनी कमर से तलवार निकाली और उसने राज सेना का संहार आरम्भ कर दिया । उस मार काट में कितने ही सामंत मारे गए और बाकी विजयसिंह के धाय भाई जग्गू की सेना द्वारा कैद हो गए । देवीसिंह भी इन्हीं में थे ।

देवीसिंह राजा अजित सिंह का बेटा था इसलिए गोली अथवा तलवार से उसको मारने का किसी ने साहस नहीं किया । विष के साथ अफीम घोल कर उसे पीने को दिया गया । देवीसिंह ने उसके पीने का आदेश सुनकर आवेश में कहा —"मैं इस समय एक कैदी हूं । मुझे, विष का यह प्याला पीने के लिए दिया गया है । परन्तु मैं मिट्टी के प्याले में इसे नहीं पी सकता । सोने के प्याले में मुझे यह विष पीने को दिया जाय । उस समय मैं तुरन्त आज्ञा का पालन करूंगा ।"

देवीसिंह की इस मांग को पूरा न किया गया और जब उसको मिट्टी के पात्र में विष पीने के लिए ~~पत्न को जोर-के-~~ विवश किया गया तो उसने विष के उस पात्र को जोर के साथ दूर फेंक दिया और दीवार के विशाल पत्थर पर सिर पटक कर उसने अपने प्राण दे दिये । इससे पहले वहां

के एक आदमी ने उससे पूछा था :" आप की वह तलवार कहां है, जिसके नीचे आप मारवाड़ के सिंहासन को समझते थे ?"

देवीसिंह ने स्वाभिमान के साथ उस मनुष्य की तरफ देखा और कहा " मेरी वह तलवार इस समय पोकरण में मेरे बेटे सबलसिंह की कमर में बंधी हुई है।"

देवीसिंह ने जिस प्रकार अपने प्राणों का अन्त किया उसका समाचार बड़ी तेजी के साथ पोकरण में पहुंच गया। उसके पुत्र सबल सिंह ने इस प्रकार अपने पिता की मृत्यु को सुना। उसने तुरन्त क्रोध में आकर अपने पिता का बदला लेने के लिए रवाना हुआ। सबल सिंह ने सबसे पहले व्यावसायिक नगर पाली पहुंच कर लूट मार की और बाद में उसने वहां आग लगवा दी। उसके बाद वह बीलाड़ा पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा। बीलाड़ा नगर में प्रवेश करते ही एक साथ गोलों की वर्षा हुई, उसमें सबलसिंह मारा गया और दूसरे दिन उसका मृत शरीर लूनी नदी के किनारे जलाया गया।

जोधपुर के सिंहासन पर इकतीस वर्ष बैठक सन् १८५० के आषाढ़ महीने में विजय सिंह की मृत्यु हो गई।[१] (कुछ अधिकारियों ने लिखा है कि विजयसिंह ने इकतालिस वर्ष राज्य किया था। उसका जन्म सन् १७३२ में हुआ था और सिंहासन पर बैठने के समय उसकी अवस्था बीस वर्ष की थी।)

(अनुवादक)

देवीसिंह के पौत्र और सबल सिंह के पुत्र वीर सवाई सिंह का वर्णन भी इतिहास ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इतिहास के अनुसार सन् १८०४ के जनवरी महीने में मानसिंह का राजतिलक हुआ। इस समय देवीसिंह का पौत्र और सबल सिंह का बेटा सवाई सिंह पोकरण का सामंत था। उसने मानसिंह से असंतुष्ट होकर जोधपुर का राज दरबार छोड़ दिया और दूसरे सामंतों के साथ मिल कर उसने एक नई योजना का निर्माण कार्य आरम्भ किया। उसने

---

१. राजस्थान का इतिहास- जेम्सटाड, अनु० केशवकुमार ठाकुर (द्वितीय संस्क०) अ० ४४, पृ० ५६८

चोपासनी नामक स्थान पर राज्य के सामंतों को बुला कर कहा" स्वर्गीय भीम सिंह की रानी गर्भवती है। इसलिए हम और आप यह प्रतिज्ञा करें कि यदि रानी के पुत्र उत्पन्न होगा तो मानसिंह को सिंहासन से उतार कर उसका राजतिलक किया जायगा। सवाई सिंह रण कुशल होने के साथ साथ प्रभावशाली था। उसकी उत्तेजना पूर्ण बातों को सुन कर उपस्थित सामंतों ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। राजा मानसिंह ने भी इस प्रस्ताव को मान लिया। समय आने पर भीमसिंह की विधवा रानी को पुत्र हुआ। सवाई सिंह ने उसे छिपाकर रखा और भली प्रकार उसका लालन पालन किया। दो वर्ष बाद जब राजा मानसिंह को बालक के जन्म की सूचना दी गई तो उसने सच्चाई की जांच के लिए भीमसिंह की विधवा स्त्री से पूछा। भीमसिंह की रानी को भय हुआ कि कहीं मेरा पुत्र जान कर मानसिंह इस बालक को मार न डालें, अत: उसने कह दिया कि यह बालक जिसका नाम धौंकल सिंह है, मेरा लड़का नहीं है। यह बात रानी के मुख से सुन कर मानसिंह बड़ा प्रसन्न हुआ। सामंत सवाई सिंह रानी के इस उत्तर से बड़ा निराश हुआ। उसकी सारी योजनाएं निराश हो गईं, परन्तु वह निराश न हुआ। उसने बड़ी चतुराई से जगतसिंह के साथ मिल कर मानसिंह को पराजित किया और मानसिंह ने अमीर खां की सहायता से शक्ति एकत्रित कर ली।[1]

मानसिंह अमीर खां की सहायता से सवाई सिंह और धौंकल सिंह का विनाश करना चाहता था। पोकरण के सामंत सवाई सिंह ने अपने पितामह का बदला लेने के लिए मानसिंह के विरुद्ध धौंकल सिंह के पक्ष का समर्थन किया और मानसिंह पर आक्रमण करने के लिए जयपुर के राजा जगत्‌सिंह को उकसा कर उसने मारवाड़ राज्य का विध्वंस और विनाश कराया था।

---

१. राजस्थान का इतिहास — जेम्स टाड, ४४ वां परिच्छेद, पृ० ४६८-४८२ तक, अनु० केशव कुमार ठाकुर (द्वितीय संस्करण)

अनन्तर सवाई सिंह ने अमीर खां से मैत्री की । अमीर खां मानसिंह से कुछ असंतुष्ट और प्रसन्न था भी । सवाई सिंह ने अमीर खां से प्रण करवाया कि मानसिंह को हटा कर उस राज सिंहासन पर वह धौंकल सिंह को बिठाए गा । सवाईसिंह ने कहा कि यह कार्य सम्पन्न हो जाने पर वह अमीर खां को बीस लाख रुपए धौंकल सिंह से दिलवाएगा । परन्तु सवाई सिंह को यह नहीं मालूम था कि अमीर खां उसके साथ बहुत बड़ा धोखा करने वाला है । अमीर खां ने अपने यहां अन्य पांच सौ सामंतों के साथ सवाई सिंह को भी भोजन के लिए बुलाया । वहीं एकाएक पठानों द्वारा आक्रमण कराकर सब सामंतों को मरवा डाला । सवाई सिंह भी जान से मारा गया । अमीर खां ने उसका कटा हुआ सिर लेकर राजा मानसिंह के पास भेज दिया । मानसिंह ने अब निष्कंटक राज्य किया ।[१]

गुप्त जी ने इसी ऐतिहासिक कथा के आधार पर 'विकट-भट' की रचना की है । कवि को अभीष्ट यही था कि इतिहास की इस प्रसिद्ध घटना को वे काव्य-बद्ध करें और राजपूतों के शौर्य तथा उनकी आन-बान का वर्णन करें । इतिहास के अन्य तथ्यों को ज्यों का त्यों रखने पर उनका ध्यान नहीं था । उदाहरण के लिए विकट भट में, जोधपुर के राजा विजय सिंह देवीसिंह और जैत सिंह को मरवा डालने के पश्चात् पश्चाताप करता है और देवीसिंह के द्वादश वर्षीय पौत्र को बुलाकर अपना सामंत बनाता है । परन्तु इतिहास के अनुसार देवीसिंह का पौत्र सवाई सिंह उस समय पोकरण का सामंत है जब कि जोधपुर में राजा मानसिंह का राजतिलक हुआ है । और मानसिंह सवाई सिंह को धोखे से अमीर खां द्वारा मरवा भी डालता है ।

कवि ने इतिहास के आधार पर ही देवीसिंह की वीर मृत्यु का वर्णन किया है । देवीसिंह को जब मिट्टी के प्याले में विष दिया तो उसने

---

१. राजस्थान का इतिहास - जेम्स टाड, ४५ वां परिच्छेद, पृ० ४८२-४८५ (द्वितीय संस्करण) अनु० केशवकुमार ठाकुर ।

सोने के प्याले में विष मांगा और एक उसे मिट्टी के प्याले में ही विष पीने के लिए विवश किया गया तो उसने अपनी आन की रक्षा करते हुए विष न पीकर दीवार पर अपना सर पटक कर प्राण दे दिये ।[१] गुप्त जी ने भी इस घटना का वर्णन किया है —

" सोने के कटोरों में अफीम घुलने लगी ।
देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी-
" अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ, अनाचारी रे, रे
ऐसा अपमान !" कोड़ा खा के भला घोड़ा ज्यों-
तड़पे त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,
टूट गया बंधन तड़का, किन्तु वेग था,
संभल न मस्तक, भड़ाक हुआ भीत में ।
शोणित की लालिमा को चिह्न सम छोड़के
ठाकुर का जीवन-दिनेश अस्त हो गया ।"[२]

३. यशोधरा

'यशोधरा' प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य है और गद्य-पद्य-मयी रचना होने के कारण यह चम्पू काव्य है ।[३] इस काव्य का कथा सूत्र सुप्रसिद्ध है, परन्तु इसमें की अनेक प्रसंगोद्भावनाएं और पात्र-कल्पना, कवि की अपनी मौलिकता है । काव्य में आरम्भ में सिद्धार्थ के मन में संसार के प्रति विरक्ति की भावना जागृत हुई और वे दुःख से परित्राण पाने के लिए तत्पर हुए । 'सिद्धार्थ' और 'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षक अंशों में सिद्धार्थ के आत्मोद्गारों को गीति शैली में रखा गया है । सिद्धार्थ के क्षणभंगुर जीवन के लिए सांसारिक वैभव और

---

१. राजस्थान का इतिहास- जेम्स टाड, अनु० केशवकुमार ठाकुर, द्वितीय संस्क० अ० ४४

२. विकट भट, पृ० ६

३. गद्य पद्य मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।' साहित्य दर्पण

" जाओ, मेरे सिर के बाल !
आलि, कुरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?"[१]

इस शीर्षक के अन्तर्गत यशोधरा के आत्मोद्गार व्यक्त हुए हैं । इसके उपरान्त यशोधरा के 'राहुल-जननी' शीर्षक के अन्तर्गत प्रगीतों, मुक्तकों और संवादों की एक साथ नियोजना हुई है । इसमें कवि ने यशोधरा के आहत प्रेम और वात्सल्य दोनों की अभिव्यक्ति की है । यशोधरा के व्यक्तित्व विकास और बालक राहुल के विकास को समुचित रूप से व्यक्त करने के लिए 'यशोधरा' और 'राहुल-जननी' शीर्षकों की योजना तीन-तीन बार की गई है । 'संधान' शीर्षक में यशोधरा के गृहिणी धर्म का आदर्श दिखाया गया है । वह जीवन पर्यन्त कपिलवस्तु के राजभवन में स्थिर रहती है और अन्त में अपने पति गौतम बुद्ध का दर्शन करने के लिए भी कहीं बाहर नहीं जाती है । शुद्धोदन के समझाने पर कहती है —

" किन्तु तात ! उनका निदेश बिना पाये मैं ,
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?"[२]

और जब महाप्रजावती उसे समझाते हुए कहती है —" बाधा कौन-सी है मुझे आज वहाँ जाने में ? तो यशोधरा का सारा संयम टूट जाता है, वह कह उठती है —

" बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी ।
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत् में -
कोई मुझे रोक नहीं सकता है - धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए ,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरित्री को !
सिंहनी सी काननों में, योगिनी सी शैलों में,
शफरी- सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोजकर लाती मैं !"[३]

---

१. यशोधरा, यशोधरा, पृ० ४८
२. ,, सन्धान, पृ० १७८

'बुद्धदेव' शीर्षक के अन्तर्गत गौतम बुद्ध का आगमन वर्णित है। यशोधरा अपनेपति का स्वागत करते हुए गाती है -

' पधारो, भव भव के भगवान !
रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अभवान !
नाथ, विजय है यही तुम्हारी ,
दिया तुच्छ को गौरव भारी ।
अपनाई मुझ सी लघु नारी,
होकर महा महान !
पधारो, भव भव के भगवान !'[१]

वास्तव में 'बुद्धदेव' प्रसंग 'यशोधरा' की प्रेमकथा का उपसंहार है। गौतम बुद्ध ने अपनी सफलता का श्रेय यशोधरा को दिया और यशोधरा ने अपने पति को राहुल की भेंट दी साथ ही वह सद्धर्म में दीक्षित हुई। गुप्त जी ने सम्पूर्ण काव्य में यशोधरा के माध्यम से नारी की महत्ता प्रतिपादित की है।

' यशोधरा' नायिका प्रधान काव्य है और उसकी मुख्य पात्री यशोधरा है। साकेत की उर्मिला के पश्चात गुप्त जी ने साहित्य के उपेक्षित पात्रों में से यशोधरा का पुरस्करण किया है। गौतम बुद्ध तो चिर प्रसिद्ध रहे , परन्तु लोग यशोधरा को विस्मृत कर चले थे। गुप्त जी ने विस्मृत यशोधरा को पुन: अपनी उर्वर कल्पना के ढांचे में ढाल कर साहित्य में अमर कर दिया। यही नहीं, उसके माध्यम से गुप्त जी ने अपनी नारी भावना का अंकन भी किया है। नारी की महत्ता सिद्धार्थ द्वारा भी गुप्त जी ने कराई है। अन्त में यशोधरा से स्वयं कहते हैं -

दीन न हो गोपे सुनो हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से शरीर से ।'[२]

गुप्त जी ने यशोधरा की चरित्र सर्जना में एक अन्य उद्देश्य भी रखा है।

---

१. यशोधरा, बुद्धदेव, पृ० २०३
२. " बुद्धदेव, पृ० २०६

गुप्त जी ने यशोधरा के माध्यम से से बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन करके वैष्णव-विश्वासों और धर्म की स्थापना का प्रयत्न किया है ।

यशोधरा के चरित्र में वात्सल्य और वियोग दोनों एकाकार से हो गये हैं । वह पति के लिए रोती है तो पुत्र के लिए गाती है । जहां उसके हृदय में 'आंचल का दूध' पति की प्रतिकृति राहुल के प्रति वात्सल्य की ममता उमड़ती है वहीं वह पति-वियोग में 'जिये जल जल कर काया री ' का निर्णय कर लेती है । पति-वियोग में राहुल का मुख ही एक अवलम्बन है । वह राहुल से कहती है -

" यह मुख देख देख दुःख में भी
सुख से देव-दया-गुण गाऊं ।
स्नेह-दीप उनकी पूजा का
तुझमें यहां अखण्ड जगाऊं ।"[१]

यशोधरा की जीवन साधना कष्टों और [illegible] के झोकों से समर्पित है । माता के रूप में वह राहुल-जननी के दायित्व को पूरा करती है । पत्नी के रूप में वह गौतम के वियोग को आत्मसात कर लेती है ।

" सखि , वसन्त से कहां गये वे ,
मैं उष्मा-सी यहां रही ।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही ।"[२]

वियोग के क्षणों में भी यशोधरा को अटल विश्वास है कि यदि उसकी साधना सच्ची है तो उसके प्रियतम स्वयं उसके पास आएंगे । वकह कहती है -

" भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान् ,
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान ।
मैं निज राज भवन में,
सखि, प्रियतम हैं वन में ?

---

१. यशोधरा, राहुल जननी, पृ० १०६

उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम ।
यहीं, इसी आंगन में,
सखि प्रियतम हैं वन में ?" [१]

यहां उसे "मानिनी" के रूप में भी चित्रित किया है । अन्त में स्वयं उसके पति गौतम कहते हैं —

" मानिनी, मान तज लो, रही तुम्हारी बान ।
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्र भवान ।" [२]

कवि ने यशोधरा के द्वारा नारी के सामान्य रूप का नहीं वरन नारी के उदात्त रूप का चित्रण किया है । गुप्त जी ने यशोधरा को एक साथ ही पुत्रवती, परित्यक्ता, प्रेमिका, कुलवधू और मानवती के रूप में चित्रित किया है ।

'यशोधरा' काव्य में सिद्धार्थ प्रारम्भ और अन्त में ही दिखाई पड़ते हैं । प्रारम्भ में उनके महाभिनिष्क्रमण के पूर्व का चित्र है । सिद्धार्थ का यह रूप इतिहास प्रसिद्ध है । सिद्धार्थ के मन में विरक्ति की भावना जिस प्रकार वर्णित है वह चिरविश्रुत है । सिद्धार्थ की साधना को कवि ने अध्याहार में रखा है । अन्यथा यशोधरा के प्रेम और वात्सल्य का चित्र न उभर पाता जो कि कवि का इस काव्य में लक्ष्य था । इस काव्य का उत्तरार्द्ध मुख्यतया कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है । अन्त में गौतम बुद्ध सद्धर्म का प्रचार करने चलते हैं । सिद्धि-प्राप्ति के पश्चात् का गौतम का चित्र यद्यपि इतिहास प्रसिद्ध है, परन्तु उसमें कवि ने अपनी कल्पना की तूलिका से अनेक रंग भरे हैं । राहुल 'यशोधरा' का तीसरा प्रमुख पात्र है । राहुल के द्वारा यशोधरा का चरित्र और भी अधिक विकसित हुआ है । उसने यशोधरा की विरह-व्यथा को आशा का संबल दिया और उसके द्वारा यशोधरा के पत्नीत्व को मातृत्व का

---

१. यशोधरा, यशोधरा , पृ० ५६
२. ,, ,, पृ० २०२

विकास मिला है। वह दुःख के क्षणों में यशोधरा का अवलम्ब है। यशोधरा कहती है –

" आ, मेरे अवलम्ब, बता क्यों 'अम्ब-अम्ब' कहता है ?
' पिता, पिता' कह, बेटा, जिनसे घर सूना रहता है।
दहता भी है, बहता भी, यह जी सब सहता है।
फिर भी तू पुकार, किस मुँह से हा! मैं उन्हें पुकारूँ ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ।"[१]

राहुल की बालसुलभ क्रीड़ाएं यशोधरा की पीड़ा को कम कर देती है। यथा–

" देव बनाए रक्खे
राहुल, बेटा, विचित्र तेरी क्रीड़ा,
तनिक बहल जाती है
उसमें मेरी अधीर पीड़ा-व्रीड़ा।"[२]

राहुल पिता की प्रतिकृति और माता की छाया के समान है। वह माता के वात्सल्य से सिक्त है। वह कहता है –" तेरी गोद में ही अम्ब, मैंने सब पाया "। और पिता के प्रति श्रद्धालु है। वह पिता से कहता है –

" तात, पैतृक दाय दो, निज शील सिखलाओ मुझे,
प्राप्त हूँ मैं इन पदों में, मार्ग दिखलाओ मुझे
असत में सत में, तिमिर में ज्योति में लाओ मुझे,
मृत्यु से तुम अमृत में हे पूज्य, पहुँचाओ मुझे।"[३]

ऐसे स्थलों पर राहुल एक असामान्य बालक के रूप में दिखाई पड़ता है। वह बालक होते हुए भी कभी-कभी प्रौढ़ता का आभास देता है।

---

१. यशोधरा, राहुल-जननी, पृ० ७३
२. ,, ,, पृ० ७२
३. ,, बुद्धदेव, पृ० २०७

यशोधरा, सिद्धार्थ और राहुल के अतिरिक्त इस काव्य में शुद्धोदन, महाप्रजावती, नन्द, छन्दक, गंगा, गौतमी, चित्रा और विचित्रा, हैं पर ये सभी पात्र औपचारिक रूप से आए हैं। इनकी कोई चारित्रिक विशेषता नहीं है।

रस की दृष्टि से यदि देखा जाय तो यशोधरा का प्रमुख रस शृंगार है और वह भी वियोग-शृंगार। वियोग-शृंगार के साथ-साथ वात्सल्य और शान्त रसों की सुन्दर नियोजना हुई है। करुण रस भी है परन्तु वह विप्रलंभ का सहायक बन कर उसी को उद्बुद्ध करने के लिए है, क्योंकि यशोधरा को मिलन की पूर्ण आशा है। विप्रलम्भ न तो ऊहात्मक है और न ही शारीरिक है। सम्पूर्ण काव्य में विरह का मानसिक पक्ष ही उभरा है। यशोधरा के संयोगकाल की विरति कीएकपक्षीय व्यंजना की गई है, यदि संयोग के चित्र भी दे दिये गय होते तो संभवत: वियोग और अधिक उभर आता। अन्त में यशोधरा और गौतम का मिल चित्रित है। यह मिलन रागातीत है। इस प्रेमकथा का मिलनमय अन्त शान्तरस से पूर्ण है। यशोधरा एकांत वियोग-साधना की प्रेमपरीक्षा में उत्तीर्ण हुई है और गौतम बुद्ध को सिद्धि लाभ हुई है। इस काव्य में पातिव्रत की पवित्रता और प्रेम की वियोग साधना का आध्यात्मिक रूपांतर प्रकट हुआ है। कवि ने यशोधरा चरित्राभिव्यक्ति द्वारा उसे एक उच्च धरातल पर स्थित किया है और उसके द्वारा अपनी नारी भावना को व्यंजित किया है। यशोधरा का प्रेम अन्त में बुद्धमय हो गया है वह स्वयं संघ की शरण में आती है और गौतम बुद्ध को अपना राहुल समर्पित कर देती है। वात्सल्य रस का सुंदर परिपाक इसकाव्य में हुआ है। वात्सल्य में ही यशोधरा का वियोग पल्लवित हुआ है। वह विरह के क्षणों में भी वात्सल्य के कर्तव्य-भार से पूर्ण है। इस काव्य में वात्सल्य का स्वतंत्र अस्तित्व कम है। यद्यपि कवि ने वात्सल्य के कोमल और मधुर पक्ष को मनोवैज्ञानिकता देकर सजीव बनाया है। यशोधरा राहुल के बाल सुलभ सौन्दर्य को देखकर मुग्ध है -

किलक अरे मैं नेक निहारूं,
इन दांतों पर मोती वारूं।

पानी भर आया फूलों के मुंह में आज सबेरे ,
हां, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख में तेरे ,
लटपट चरण, चाल अटपट सी मनभाई है मेरे,
तू मेरी अंगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूं ?
इन दांतों पर मोती वारूं !"[१]

परन्तु तुरत ही उसे अपनी वियोग अवस्था और सिद्धार्थ की स्मृति आ घेरती है। वह कहती है --

आ, मेरे अवलम्ब , बता क्यों 'अम्ब, अम्ब' कहता है ?
'पिता, पिता' कह, बेटा, जिनसे घर सूना रहता है।
दहता भी है, बहता भी है, यह जी सब सहता है।
फिर भी तू पुकार, किस मुख से हा ! मैं उन्हें पुकारूं ?
इन दांतों पर मोती वारूं !"[२]

लोरी के रूप में जो गीत यशोधरा गाती है उनमें वात्सल्य की कोमलता है वह भी वियोग की छाया से आच्छादित है। यथा --

" सो, मेरे अंचल-धन , सो !
तेरी सांसों का सुस्पन्दन ,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन !
सो, मैं कर लूं जी भर क्रंदन !
सो, उनके कुल-नंदन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन,सो !"[३]

'यशोधरा' में छायावादी काव्यानुभूति है। वियोगिनी यशोधरा जिस ओर भी दृष्टिपात करती है वह प्रकृति में अपने दु:ख की छाया पाती

---

१. यशोधरा, राहुल जननी, पृ० ७३
२. ,, ,, पृ० ७३
३. ,, ,, पृ० ६६

है। यद्यपि प्रकृति उसका दु:ख नहीं बंटाती और न ही उसे आश्वासन देती है। परन्तु यशोधरा प्रकृति को अपने समान दु:खिनी देख कर आश्वस्त होती है। यथा --

" पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर, त्यागे,
मेरा धुंधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।
उनके तप के अग्नि-कुण्ड से घर घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय। फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

< <

मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।"[1]

मिलनाशा जन्य उमंग में प्रकृति भी प्रसन्न दिखाई पड़ती है। यशोधरा कहती है --

" क्यों फड़क उठे ये वाम अंग ?
ज्यों उड़ने के पहले विहंग।
किस शुभ घटना की रटना-सी
लगा रहा है अंतरंग ?
क्यों यह प्रकृति प्रसन्न हो उठी ?
नहीं कहीं कुछ राग रंग।"[2]

यशोधरा एक प्रेम काव्य है। इसमें कथा को स्थूल विवरणात्मकता के साथ नहीं वर्णित किया गया है, वरन इसमें विभिन्न स्थितियों की सूक्ष्म मनोगतियों की व्यंजना हुई है। अत: यह वर्णनात्मक काव्य न होकर भावात्मक खण्डकाव्य है। इसका एक उद्देश्य बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन भी है। यह एक उत्कृष्ट रचना है। शिल्प की दृष्टि से यह साकेत से भी श्रेष्ठ ठहरती है परन्तु इसमें साकेत की सी कवि की जीवन व्यापी अनुभूति, व्यापकता, आदर्शों एवं सिद्धान्तों का यथोचित समाहार न होने से यह

---

१. यशोधरा, यशोधरा, पृ० ६२
२. ,, ,, पृ० १५६

साकेत से निम्न कोटि की रचना कही जा सकती है। इसकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली है जो कि पर्याप्त प्रौढ़ और कांति से पूर्ण है। इस काव्य में गीति तत्व की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा में ललित मार्दव है। इस काव्य की प्रक्रिया अनेक रूपात्मक है। गद्य और पद्य से मिश्रित यह काव्य सृष्टि नाटकीयता लिए हुए है। स्वयं गुप्त जी ने इस काव्य को 'खिचड़ी' की संज्ञा दी है।[1] श्री सियारामशरण गुप्त के अनुसार कवि की वैष्णव भावना ने तुलसीदल देकर यशोधरा का नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख रखा है।'[2] 'यशोधरा' की रचना की प्रेरणा कवि को साकेत की उर्मिला ने दी है। — भगवान बुद्ध और उनके अमृत तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो-चार आंसू ही तुम्हें इसमें मिल जायं तो बहुत समझना और, उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिलादेवी को ही, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।'[3]

मूलस्रोत--

'यशोधरा' काव्य की कथा के मूल स्रोत इतिहास में प्राप्त होते हैं। सिद्धार्थ के जन्म, उनके वैराग्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी, पिता द्वारा सिद्धार्थ को सांसारिकता की ओर आकृष्टकरने के विविध प्रयत्न, सिद्धार्थ का क्रमश: वृद्ध, बीमार, मृत्यव्यक्ति और सन्यासी को देख कर सन्यास की ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होते जाना, राहुल का जन्म, गृह-त्याग, गौतम का सन्यास, राजगृह में भिक्षाटन, मार-विजय, बुद्धपद लाभ आदि घटनाएं सभी जातक ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं।[4] गुप्त जी ने इन सभी घटनाओं को इतिहास के ही आधार पर वर्णित किया है। जातक में इस कथा के स्रोत निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं।

---

१. यशोधरा, शुल्क, कविलिखित, पृ० ६

२. ,, ,, पृ० ६

३. ,, ,, पृ० ५-६

४. जातक, प्रथम खण्ड, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रका० सं० २०१३, पृ० ११७ १४७ तक

सिद्धार्थ की माता महामाया देवी ने अपने पिता के घर जाने की इच्छा व्यक्त की । सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन ने उनके जाने का प्रबन्ध कर दिया । इस समय सिद्धार्थ माता के गर्भ में थे । माता महामाया जब पिता के यहां चलीं तो मार्ग में लुम्बिनी नामक शाल-वन में सिद्धार्थ का जन्म हो गया ।[१] उस समय काल देवल नामक तपस्वी ने राजा शुद्धोदन को बताया कि आपका पुत्र उत्पन्न हुआ है साथ ही यह भी बताया कि यह अवश्य ही बुद्ध होगा ।"[२] राजा शुद्धोदन ने अपनी रानी और पुत्र को वापस बुला लिया और पांचवें दिन पुत्र का नामकरण संस्कार किया गया । इस अवसर पर राजा ने तीनों वेदों में पारंगत एक सौ आठ ब्राह्मणों को निमंत्रित किया । उन ब्राह्मणों ने सिद्धार्थ के विषय में भविष्यवाणी की — "ऐसे लक्षणों वाला यदि गृहस्थ रहे तो चक्रवर्ती राजा होता है, और यदि प्रव्रजित हो तो बुद्ध ।" सबसे कम आयु वाले ब्राह्मण ने कहा — "इसके घर में रहने की सम्भावना नहीं है, यह महाज्ञानी बुद्ध होगा ।"[३] ब्राह्मणों ने यह भी बताया कि वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित को देख कर ही यह बालक प्रव्रजित हो जायगा ।[४]

धीरे धीरे बोधिसत्व सोलह वर्ष के हुए । राजा ने उन्हें भोग-विलास के वातावरण में रखा, जिससे वे प्रव्रजित न हो पाएं । राजा ने उनके लिए तीनों ऋतुओं के योग्य तीन महल बनवाए । चालीस हजार नाटक करने वाली स्त्रियों को नियुक्त किया । बोधिसत्व अप्सराओं के समुदाय से घिरे देवताओं की भांति, अलंकृत नटियों से परिवृत, स्त्रियों द्वारा बजाए गए वाद्यों से सेवित, महा-सम्पत्ति को उपभोग करते हुए तीनों ही महलों में रहे । राजा ने महलों के चारों ओर पहला बिठा दिया था । जिससे

---

१. जातक- प्रथम खंड, भदन्तआनन्द कौसल्यायन, सं० २०१३, पृ० ११६-१२०
२. ,, ,, ,, पृ० १२२-१२४
३. ,, ,, ,, पृ० १२४
४. ,, ,, ,, पृ० १२५
५. ,, ,, ,, पृ० १२७

राजकुमारी किसी भी वृद्ध, रोगी, मृत अथवा प्रव्रजित को न देख पाएं। परन्तु एक दिन जब बोधिसत्व बगीचा देखने की इच्छा से रथ पर बैठ कर चले तो देवताओं ने, सिद्धार्थ के बुद्धत्व प्राप्त करने का समय निकट है, यह सोचकर उन्हें एक वृद्ध व्यक्ति दिखलाया। उसे देखते ही उदास होकर सिद्धार्थ वापस लौट आए। राजा ने राजकुमार के जल्दी वापस आने का कारण जानकर पहरा और कड़ा करवा दिया। फिर एक दिन पुन: बगीचे की ओर जाते समय सिद्धार्थ ने देवताओं द्वारा निर्मित रोगी पुरुष को देखा, और शोकाकुल हृदय से महल में लौट आए। राजा ने पहरे को फिर बढ़ाकर चारों ओर पौन योजन तक का कर दिया। फिर एक दिन उद्यान जाते हुए बोधिसत्व ने देवताओं द्वारा निर्मित मृत-पुरुष को देखा और उदास होकर महल में लौट आए। फिर एक दिन उद्यान जाते हुए राजकुमार ने देवताओं द्वारा निर्मित एक प्रव्रजित को देखा। उन्हें प्रव्रज्या में रुचि हुई और वे उसदिन उद्यान गए।[१] इसी दिन राहुल का जन्म हुआ। महाराजा शुद्धोदन ने आज्ञा दी कि मेरे पुत्र को यह शुभ समाचार सुनाओ। सिद्धार्थ ने यह समाचार सुन कर कहा — "राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ की यह बात सुन कर कहा कि — "अब से मेरे पोते का नाम राहुल कुमार हो।"[२] उसी रात्रि में बोधिसत्व जाग उठे, उस समय उनका चित्त प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त आतुर हो उठा। "आज ही मुझे महाभिनिष्क्रमण करना चाहिए" — यह सोच कर वे द्वार के पास गए और पूछा 'कौन है?' ड्योढ़ी में सोए छन्दक ने कहा मैं छन्दक हूं। बोधिसत्व ने कहा "मैं आज महाभिनिष्क्रमण करना चाहता हूं। मेरे लिए एक घोड़ा तैयार करो।" छन्दक ने अश्वराज कन्थक को तैयार किया।[३] इधर बोधिसत्व, पुत्र देखने की इच्छा से, राहुल-माता के वास-स्थान को गए। वहां शयनागार का द्वार खोला। उस समय घर में सुगन्धित तैल - प्रदीप जल रहा था। राहुल माता बेला, चमेली, आदि के फूलों से सजी शय्या पर, पुत्र

---

१. जातक प्रथम खण्ड, भदन्तआनन्द कौसल्यायन, संस्करण २०१३ वि०, पृ०१२७-२८

२. ,, ,, पृ० १३०

३. ,, ,, पृ० १३१

के मस्तक पर हाथ रखे सो रही थीं । बोधिसत्व ने देहली में पैर रख खड़े खड़े देख कर सोचा —"यदि मैं देवी के हाथ को हटा कर अपने पुत्र को ग्रहण करूंगा , तो देवी जाग उठेगी, और मेरे गमन में विघ्न उपस्थित हो जाएगा बुद्ध होने के पश्चात् ही आकर पुत्र को देखूंगा ।"[१]

बोधिसत्व कन्थक पर बैठकर छन्दक के साथ उसी रात्रि, आषाढ़ की पूर्णिमा को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में नगर से निकले । बोधिसत्व एक ही रात में, तीन राज्यों को पार कर, तीस योजन की दूरी पर 'अनोमा' नामक नदी के तट पर पहुंचे ।[२] बोधिसत्व ने अपने केशों को अपने ही खड्ग से काट डाला फिर अपने वस्त्रों को, जो कि काशी के बने हुए थे, त्याग दिया और इनके एक पुराने मित्र ने इन्हें भिक्षु के उपयुक्त प्रव्रज्या - वेष लाकर दिया ।[३] बोधिसत्व राजगृह में भिक्षा के लिए गए ।[४] उन्होंने कड़ी तपस्या आरम्भ की और 'सुजाता' की खीर खाई ।[५] मार ने उन्हें तपस्या से विचलित करना चाहा, परन्तु अन्त में बोधिसत्व दृढ़ रहे और मार की ही पराजय हुई ।[६] तत्पश्चात सिद्धार्थ को बुद्ध-पद की प्राप्ति हुई ।[७]

जातक' ग्रन्थ में यह जो गौतम बुद्ध की कथा प्राप्त होती है, यही 'यशोधरा' काव्य का मूल स्रोत प्रतीत होता है । परन्तु प्रस्तुत काव्य में गुप्त जी की नारी सम्बन्धी भावना उनकी अपनी कल्पना है । यशोधरा का तो जातक ग्रन्थ में नाम भी नहीं आता, वरन महाभिनिष्क्रमण के लिए जाते समय सिद्धार्थ जब पुत्र को देखने की इच्छा से राहुल-माता के शयन-कक्ष में जाते हैं,

---

१. जातक, प्रथम खण्ड, भदन्तआनन्द कौसल्यायन, पृ० १३२
२. ,, ,, पृ० १३४
३. ,, ,, पृ० १३५-१३६
४. ,, ,, पृ० १३६-१३७
५. ,, ,, पृ० १३७-१४३
६. ,, ,, पृ० १४३-१४७
७. ,, ,, पृ० १४७-१४८

उस समय 'यशोधरा' को देख कर भी उनके हृदय में अपनी पत्नी के प्रति कोई अनुराग की भावना नहीं दिखाई देती। वे यह तो सोचते हैं कि यदि उनकी पत्नी इस समय जग जाएगी तो उनके महाभिनिष्क्रमण में बाधा उत्पन्न हो जायगी। गुप्त जी की यशोधरा तो यह कहती भी है —

सखि वे मुझसे कह कर जाते,
कह तो क्या, मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते।

परन्तु जातक-कथा तथा अन्य परवर्ती कथाओं में भी वियोगिनी 'यशोधरा' का वर्णन कहीं नहीं प्राप्त होता। अत: यशोधरा के वियोग वर्णन के अतिरिक्त गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित सभी घटनाएं जातक-कथा में प्राप्त हो जाती हैं।

४. सिद्धराज

'सिद्धराज' एक ऐतिहासिक[१] खण्डकाव्य है। राजा जयसिंह गुजरात सिद्धपुर पाटन का राजा होने के कारण 'सिद्धराज' कहलाता था। कवि ने पांच सर्गों में सिद्धराज जयसिंह के जीवन का वर्णन किया है। परन्तु यह वर्णन सिद्धराज के राज्यकाल के कुछ ही वर्षों का है।

प्रथम सर्ग में सिद्धराज सोमनाथ की यात्रा पर लगाये गये राज-कर को रद्द कर देता है। उसकी माता मीलनदे पुत्र-हित में लीन अपना वैधव्य व्यतीत कर रही हैं। सिद्धराज पर उनकी माता का बहुत प्रभाव है। माता मीलनदे सोमनाद का दर्शन करने जाती है। मार्ग में विश्राम के लिए वे ठहरती हैं।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग ६, अंक ३, कार्तिक, संवत् १६८५, सोलंकी राजा जयसिंह — निबंध, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० २६५ से पृ० ३०४ तक

तथा —

Commisseriat History of Gujrat - Bombay Gazetter, Vol.I, Forbes - Rasmala, H.C. Ray - Dynastic History of Northern India.

उसी समय वहाँ मीलनदे के समक्ष राज-विद्रोही के रूप में एक बालक और उसकी माता को उपस्थित किया गया है। मीलनदे उन्हें क्षमा करके एक डेरे में आश्रय देती है और अपने साथ सोमनाथ ले जाने का प्रबन्ध करती है। यही बात अन्तिम सर्ग का नरवर्मा है। प्रथम सर्ग में राजमाता मीलनदे का चरित्र ही प्रमुख है।

द्वितीय सर्ग में सिद्धराज की अनुपस्थिति में पाटन पर आक्रमण करने नरवर्मा आता है। मंत्री उसे बताता है कि सिद्धराज सोमनाथ गये हैं आप किससे युद्ध करेंगे ? तो नरवर्मा जय के प्रमाण-स्वरूप जयसिंह की सोमनाथ-यात्रा फल माँगता है और मंत्री उसे सहर्ष हँस कर अर्पण कर देता है। किन्तु लौटकर आने पर जब सिद्धराज को यह बात ज्ञात होती है तो वह खिन्न होता है और वह तुरन्त मालवे पर आक्रमण करने के लिए नरवर्मा के पास दूत भेजता है। वर्षों तक युद्ध होता रहता है। इसी बीच नरवर्मा की मृत्यु हो गई और यशोवर्मा अवन्तिका का राजा हुआ। उसने भी जगदेव की इच्छा के अनुसार युद्ध को बन्द नहीं किया। अन्त में यशोवर्मा बंदी हुआ। युद्ध फिर भी चलता रहा। आशाराज और जगदेव [illegible]-युद्ध में घायल हुए। हारते हारते भी सहसा सिद्धराज जयसिंह विजयी हो गये। और वे अवंतीनाथ बन कर पाटन लौट आये।

तृतीय सर्ग में सिन्धुराज की पुत्री का वृत्तान्त है। उस पुत्री के गृह-दोष ऐसे थे कि वह जिस गृह में रहेगी उस गृह का दीपक बुझा कर ही रहेगी। अतः सिन्धुराज ने उसका परित्याग कर दिया। जूनागढ़ नगर के एक निःसन्तान कुम्हार ने उसे पा लिया। कुम्हार और उसकी गृहिणी उसे पाकर प्रसन्न हो गये। कन्या का नाम रानकदे रखा गया और बड़े यत्न से उसका लालन पालन हुआ। रानकदे का सौंदर्य अद्वितीय था। लोग उसे देवी का अवतार सा समझते थे। उसके गुण और सौंदर्य की चर्चा सुनकर सिद्धराज उसे प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठा। परन्तु सिद्धराज रानकदे को प्राप्त भी नहीं कर पाया था कि उसके शत्रु सोरठराज खंगार ने रानकदे को अपनी पत्नी बना लिया। कुम्हार प्रसन्न हो गया और वह अपनी प्रतिपालिता पुत्री को राजा के हाथों सौंप कर तीर्थ यात्रा के लिए

लिए तत्पर हो गया क्योंकि —

" और राज्य का भी इस अपनी हठीली के
पानी जो न पीना पड़े तो फिर क्या पूछना

इधर सिद्धराज को ऐसा मालूम पड़ा —" पाटन की मानो पाटरानी ही हरी गई।" और खौल उठा रक्त शक्तिशाली जयसिंह का।" और उसने प्रतिज्ञा कर ली कि" एक ही रहेगा अब, या खंगार या वही।" सिद्धराज और खंगार में कई वर्षों तक युद्ध होता रहा। इसी बीच रानकदे के दो पुत्र हुए। घर की फूट के कारण खंगार पराजित हुआ और युद्ध में उसने वीरगति पाई। क्रोध के वशीभूत होकर सिद्धराज ने उसके दोनों पुत्रों का वध कर डाला और रानकदे पर वह बलात्कार करने को उद्यत हुआ परन्तु जगदेव ने उसे रोका। वह अपने पुत्रों के हत्यारे की प्रताड़णा करती है तो सिद्धराज कहता है कि उसने शिशुओं को भावि-भय से नहीं मारा है वरन वे ही रानकदे के यौवन को बिगाड़ने वाले थे और शत्रु खंगार के पाप चिह्न थे। रानकदे सिद्धराज को शाप देना चाहती है —

" यौवन बिगाड़ने तुम्हारी किसी रानी का
आवे नहीं कोई शिशु-पुत्र कभी कोख में।" [२]

किन्तु वह ऐसा शाप नहीं देती क्योंकि वह चाहती है कि शिशुओं का हत्यारा पुत्र-प्रेम का महत्व जान सके। रानकदे का उन्नत चरित्र यहाँ वर्णित है। अन्त में रानकदे सती हो गई।

चतुर्थ सर्ग में सर्वप्रथम सिद्धराज का पश्चात्ताप वर्णित है। तत्पश्चात अस्वस्थ मीलनदे जिनकी सेवा में सिद्धराज की पुत्री कांचनदे लीन है सिद्धराज को सपादलक्ष राज्य के शांकभरियों से प्रतिशोध लेने के लिए उद्बुद्ध करती हैं। वे पौत्र की कामना करती हैं परन्तु सिद्धराज सोचता है —

---

१. सिद्धराज, तृतीयसर्ग, पृ० ७२
२. सिद्धराज, ,, पृ० ७६

किन्तु जान पड़ता है देख नहीं पावेगी,
पौत्र-मुख जननी, अपुत्र ही मैं जाऊंगा ।" [१]

उसके मन में रानकदे की वाणी गूंज जाती है — यौवन बिगाड़ने .....
सिद्धराज अन्त में युद्ध में विजयी होकर आता है। वह तरुण आर्णोराज को
बन्दी भी बना लाता है। इसके पश्चात् सिद्धराज की पुत्री कांचनदे का
सौन्दर्यवर्णन है। कांचनदे को युवक आर्णोराज के प्रति अगाध सहानुभूति है।
कवि ने कांचनदे के हाव-भाव, प्रथम दर्शन, आर्णोराज के प्रति प्रेमोद्भाव आदि
का सुन्दर चित्रण किया है। अन्त में कांचनदे आर्णोराज की वधू बन गई।

पंचम सर्ग में "एक पुत्र छोड़ सब पाया सिद्धराज ने" कह कर कवि ने
उसकी सफल राज व्यवस्था का वर्णन किया है। उसमें धार्मिक उदारता है,
वह प्रजा के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता है। प्रजा को ऋणमुक्त करके, उसे
समृद्ध बनाता है। महोबे के चारण द्वारा वह मदनवर्मा की प्रशंसा सुनता है
तो वह आकृष्ट भी होता है और उसे ईर्ष्या भी होती है। सिद्धराज
मदन वर्मा को देखने और अपना शौर्य दिखाने के लिए दलबल सहित महोबे के
लिए चल पड़ा। कवि ने वसंत ऋतु के वर्णन के साथ-साथ सिद्धराज और चैत्र -
वर्मा की भेंटकारवाई है। यहां यह आदर्श रखा गया है कि शत्रु की तलवार उसे
लौटा कर ही उसके साथ युद्ध किया जाय। प्रथम सर्ग में यही चैत्रवर्मा जब
बालक के रूप में, सोमनाथ के मार्ग में सिद्धराज की माता मीलनदे से मिला था,
तब मीलनदे ने सिद्धराज की एक तलवार उसे देदी थी। उसी तलवार को
चैत्रवर्मा सिद्धराज को देता है। सिद्धराज पूछता है कि "लौटा क्यों रहे हो
अब इसको ?" तो चैत्रवर्मा कहता है —

"धृष्टता क्षमा हो देव, कौन जाने कल क्या ?
वैर किंवा प्रेम ? यदि वैर ही हो भाग्य में
तो क्यों आपकी ही असि आपके विरुद्ध हो ? " [२]

---

१. सिद्धराज, चतुर्थ सर्ग, पृ० ८६

इस भेंट का यह परिणाम हुआ कि मदनवर्मा और सिद्धराज में परस्पर मित्रता स्थापित हो गई। तत्पश्चात मदनवर्मा सिद्धराज के एकच्छत्र राज्य की अनुपयोगिता सिद्ध करता है। वह यवनों के आतंक के विषय में बतलाता है और छोटे-छोटे राज्यों की युद्ध-संलग्नता का भयंकर परिणाम दिखलाता है। मदन वर्मा का मत है कि पारस्परिक युद्धों में शौर्य विकास होता है परन्तु साथ ही शक्ति का ह्रास भी होता है। विदेशियों के आक्रमण से ही पुण्य भूमि स्वर्णमयी हुई है। भारतीय संस्कृति गंगा के समान है और विदेशी संस्कृतियां उसकी सहायक नदियों के समान। मदनवर्मा देशभक्ति और सांस्कृतिक समन्वय का संदेश भी देता है। सुख के सम्बन्ध में मदन वर्मा कहता है कि —

" सुख है न जाने कहां, चाहे जहां मान लो,
मन अपना है और मानना भी अपना।"[1]

मदनवर्मा के इन विचारों को देखकर सिद्धराज सोचता है — " भोगी है मदनवर्मा किंवा एक योगी है ?" इस काव्य के अन्त में सिद्धराज की अपेक्षा मदनवर्मा को अधिक महत्व प्राप्त हुआ है।

' सिद्धराज' खण्डकाव्य में सिद्धराज जयसिंह की जीवन कथा वर्णित है। परन्तु उसके सम्पूर्ण जीवन का चित्र नहीं अंकित है। उसके राज्यकाल के कतिपय वर्षों की कथा इसमें दी गई है। यह चरित्र प्रधान वर्णनात्मक खण्डकाव्य है। सिद्धराज का चरित्र मानवीय धरातल पर चित्रित है जिसमें उत्थान-पतन, आदर्श यथार्थ, सफलता विफलता आदि का सुन्दर समन्वय है। द्वितीय सर्ग में सिद्धराज के युद्ध-वीरत्व का नैतिक उत्कर्ष भी दिखाया गया है। वह शत्रु-मरण पर शोक प्रकट करता है। और यशोवर्मा के राज्यत्व की रक्षा करता है। चारित्रिक उत्कर्ष के साथ-साथ उसके चारित्रिक पतन का भी चित्रण हुआ है। तृतीय सर्ग में वह रानकदे पर ' कामी-क्रूर कापुरुष ' के रूप में बलात्कार करने को उद्यत हो जाता है। इस काव्य में जयसिंह के अतिरिक्त जगदेव, मीलनदे, रानकदे, कांचनदे, अर्णोराज, मदनवर्मा, चन्द्रवर्मा, यशोवर्मा, नरवर्मा आदि पात्र आए हैं। परन्तु ये सभी पात्र गौण हैं। सिद्धराज जयसिंह को ही नाय-

---

1. सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ० १२०

कत्व की प्राप्ति हुई है। वह राजा है अत: विशिष्ट व्यक्ति है, परन्तु उसमें मानव सुलभ हीनताएं भी हैं। माता मीलनदे, रानकदे, जगदेव और मदन-वर्मा के समक्ष उसकी हीनता भी उभरी है।

इस खण्डकाव्य में संवाद सुनियोजित है। कथोपकथन प्रसंगानुकूल हैं। ये संवाद संभाषण कथन, प्रतिवाद, संलाप आदि अनेक प्रकार के हैं। कहीं कहीं ये छोटे हैं और कहीं कहीं बड़े। ये कथा को आगे बढ़ाने में सहायक हैं, स्वाभाविकता इनमें सर्वत्र है।

इस काव्य के माध्यम से भारत के मध्यकालीन वीरों का चरित्र प्रदर्शन किया गया है। अत: वीर रस का संचार सम्पूर्ण काव्य में है। साथ ही साथ शृंगार रस की व्यंजना भी है। संयोग और वियोग शृंगार के साथ साथ करुण तथा रौद्र के उदाहरण भी है। भक्ति और वात्सल्य की व्यंजना भी है। हास्य की भी सृष्टि करने का प्रयत्न एकाध स्थल पर दिखाई पड़ती है।

तुक प्रिय कवि गुप्त जी ने अतुकांत का प्रयोग किया है। यह एक प्रौढ़ रचना है, रसपरिपाक काव्य शिल्प चरित्र कल्पना, प्रबन्ध शिल्प भावव्यंजना, भाषा और वर्णनों की दृष्टि से। इस काव्य में गुप्त जी ने संश्लिष्ट चित्र अंकित किये हैं। प्रारम्भ में संध्या का वर्णन सोमनाथ-यात्रा में तथा अंतिम सर्ग के वसंतऋतु वर्णन में संश्लिष्ट चित्रमयता है।

'सिद्धराज' की ऐतिहासिक सामग्री के लिए कवि महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा के आभारी हैं। उन्होंने सिद्धराज के निवेदन में स्पष्ट किया है -" पुस्तक की सामग्री के लिए लेखक मान्यवर महा-महोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा के निकट विशेष रूप से ऋणी है।"[१] वास्तव में कवि ने 'सिद्धराज' की कथा-वस्तु का आकलन नागरी प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा

---

१. सिद्धराज-निवेदन।

के वृहत् निबंध 'सोलंकी राजा जयसिंह सिद्धराज' से किया है।[१]

'सिद्धराज' के प्रथम सर्ग में जयसिंह की माता मीनल देवी के सोमनाथ यात्रा और उनके द्वारा यात्रियों पर से यात्रा कर छुड़ाना वर्णित है। यह तथ्य ऐतिहासिक है। श्री ओझा जी ने इसका वर्णन अपने निबन्ध में किया है।[२] दूसरे सर्ग में सिद्धराज की अनुपस्थिति में गुजरात पर मालवा का राजा नरवर्मा आक्रमण करने आता है और सिद्धराज का मंत्री उसे सिद्धराज की सोमनाथ यात्रा का पुण्य देकर वापस कर देता है। फिर 'सिद्धराज' आने पर समाचार जान कर नरवर्मा पर चढ़ाई करता है। ये सब तथ्य भी सविस्तार श्री ओझा के निबन्ध में वर्णित है।[३]

'सिद्धराज' के तीसरे सर्ग में रानकदे के लिए जयसिंह का काठियावाड़ के राजा खंगार से युद्ध होता है और युद्ध में खंगार मारा जाता है। यह तथ्य भी प्रस्तुत निबंध में मिलता है।[४] इस प्रसंग में कवि ने अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा एक नया ही रंग भरा है। प्रस्तुत ऐतिहासिक आधार-निबन्ध में रानकदे (राणक देवड़ी) की भावनाओं की कोई अभिव्यक्ति नहीं है। केवल उसके सती होने की बात कही गई है, परन्तु गुप्त जी ने इतिहास की इस मूक नारी को वाणी देकर सिद्धराज के चरित्र पर भी घात-प्रतिघात करवाए हैं। 'सिद्धराज' के अनुसार जयसिंह खंगार को तो मारता ही है, उसके दोनों पुत्रों को भी मार डालता है। और फिर रानकदे के साथ बलात्कार के लिए उद्यत होता है। सिद्धराज उसे यह बताता है कि उसने बच्चों को भावि-भय से नहीं मारा है वरन् वे ही रानकदे का यौवन बिगाड़ने वाले थे और वे खंगार के पाप-चिह्न थे। रानकदे क्रोध में भर कर जयसिंह को यह

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, अंक ३, कार्तिक, संवत् १९८५

२. ,, ,, ,, ,, पृ० २६६

३. ,, ,, ,, ,, पृ० २६७

४. ,, ,, ,, ,, पृ० २६७से२७१

५. ,, ,, ,, ,, पृ० २७६-२७७

शाप देना चाहती है —

" यौवन बिगाड़ने तुम्हारी किसी रानी का,
आवे नहीं कोई शिशु-पुत्र कभी कोख में ।"[१]

परन्तु वह शाप देती नहीं । वह चाहती है कि यह उसके पुत्रों का हत्यारा पुत्र-प्रेम के महत्व को समझ सके । यहाँ गुप्त जी ने सिद्धराज के चारित्रिक पतन को दिखाया है । परन्तु चतुर्थ सर्ग के आरम्भ में सिद्धराज अपने इस दुष्कृत्य के लिए पश्चात्ताप करता है । कवि उसके पश्चात्ताप को व्यक्त करने के लिए कहता है —

" भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है,
अन्त में सुधारता है उसको मनुष्य ही ।
किन्तु वह चूक हाय ! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है ।"[२]

'सिद्धराज' के चतुर्थ सर्ग में जयसिंह अर्णोराज पर आक्रमण करके उसे बंदी बना कर लाता है । बाद में उसकी पुत्री कांचनदे का विवाह अर्णोराज से होता है । यह तथ्य भी प्रस्तुत निबंध में वर्णित है ।[३]

'सिद्धराज' के पंचम सर्ग में भाट द्वारा महोबे के राजा मदन वर्मा के वैभव का हाल सुनकर सिद्धराज का उसपर आक्रमण के लिए जाना वर्णित है ।[४] युद्ध के बदले दोनों राजाओं की मित्रता हो जाती है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सिद्धराज' की कथा का स्रोत इतिहास में विद्यमान है । कवि ने श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के उपन्यास 'गुजरात के नाथ' और 'पाटन का प्रभुत्व' से कथा क्रम की व्यवस्था-विषयक

---

१. सिद्धराज, तृतीय सर्ग, पृ० ७६
२. ,, चतुर्थसर्ग, पृ० ८४
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक ३, कार्तिक संवत् १९८५, पृ० २७९
४. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २८२

सहायता प्राप्त की । सी०वी० वैद्य के 'मध्ययुगीन भारत' ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद से भी ऐतिहासिक घटनाओं का आकलन किया ।[1] कवि ने जयसिंह के जीवन की घटनाओं को अपनी सुविधानुसार क्रमबद्ध किया है, परन्तु हैं वे ऐतिहासिक ही ।

५. कुणाल-गीत--

कुणाल-गीत का प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ । इसकी कथा ऐतिहासिक है, पर उसे बड़े ही काव्यात्मक रूप में उपस्थित किया गया है । कवि ने किसी सूरदास को गाते देखा तो उसे इस काव्य के सृजन की प्रेरणा मिली ।[2] कवि ने 'यशोधरा' की रचना करते समय बौद्ध साहित्य, बौद्ध दर्शन और इतिहास का भी पारायण किया था । उसी इतिहास में अशोक के पुत्र कुणाल की कथा का भी अध्ययन किया । उसकी कथा से कवि बहुत प्रभावित हुआ । वह स्वयं कहता है -- कहते हैं, कुणाल देवों के प्रिय सम्राट अशोक का अनुरूप पुत्र था । शरीर और मन दोनों दृष्टियों से वह अद्वितीय सुन्दर माना जाता था ।

< < < परन्तु प्रत्येक चन्द्र के पीछे एक राहु लगा रहता है । यहाँ भी वह, कुणाल की सौतेली माँ के पाप-रूप में विद्यमान था । एक बार सीमाप्रान्त में विद्रोह उठ खड़ा हुआ । सम्राट उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे । पाटलिपुत्र में वीरों का क्या तोड़ा ? परन्तु दया और क्षमाशील सम्राट रक्तपात के व्यापार से विरत थे । वे ऐसा जन चाहते थे, जो बल-वीर्य के साथ-साथ बुद्धि-वैभव में भी सर्वोपरि हो और बल की अपेक्षा जिसके प्रभाव से ही शांति स्थापित हो जाय । कुणाल ही इस परीक्षा में प्रथम रहा । फलतः उसी को महाराज ने अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा । कुणाल की सहधर्मचारिणी कांचनमाला भी उसके साथ गई । महाराज ने यह सोचकर कि

---

१. सिद्धराज-- निवेदन

२. कुणाल-गीत-- निवेदन, पृ० ५

राज्य कार्य पूरा करके वह बेटे काश्मीर-भ्रमण करेंगे, सहर्ष उसे भी आज्ञा दे दी । इधर कुणाल की सौतेली माँ ने रुग्णा-दशा में महाराज की ऐसी परिचर्या की, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी राजमुद्रा उसे सौंप दी ।

पहले पाप अवसर पा लेता है तभी कदाचित् पुण्य की बारी आती है । एक दिन उसी राजमुद्रा से अंकित एक आदेश पत्र सीमाप्रान्त के अधिकारी के नाम पहुंचा । उसमें लिखा था -- कुणाल को अन्धा करके निष्कासित कर दो ।`

कुणाल ने जिस प्रकार पिता का वह आदेश शिरोधार्य किया था, उसी प्रकार माता का यह आदेश भी शिरोधार्य किया । अन्धा होकर वह भिक्षाटन के लिए निकल पड़ा । कहने की आवश्यकता नहीं, उसकी पत्नी कांचनमाला उसके साथ थी ।

कुछ दिन इधर उधर घूमता हुआ वह एक बार पाटलिपुत्र भी पहुंच गया और रात को उसके गीत की ध्वनि अशोक के कानों में जा पड़ी । वह पागल सा प्रासाद से निकल कर कुणाल के आगे आ खड़ा हुआ । पिता-पुत्र मिले । प्रसिद्ध है, पिता के पुण्य से कुणाल को फिर दृष्टिलाभ हुआ । उसने पिता को विमाता का अपराध क्षमा करने के लिए भी बाध्य किया ।"[१]

कवि ने कुणाल गीत के निवेदन में लिखा भी है । आठ नौ वर्ष पहले कदाचित् किसी सूरदास का गाते देखकर `कुणाल-गीत` लिखने की सूझी थी ।` कुछ सामग्री अशोककालीन इतिहास से ग्रहण की है । धर्मानन्द कोसांबी के अनेक ग्रन्थों से, विशेषत: `भारतीय संस्कृति और अहिंसा `, `भगवान् बुद्ध`, आदि से तथा कुमारस्वामी की `हिन्दू दर्शन और बौद्ध दर्शन (Hinduism and Buddhism) पुस्तक से कवि ने इस विषय के अपने विचारों का पोषण किया ।

कवि ने `धम्मपद` से दार्शनिक तथ्यों का आकलन भी किया है । `कुणाल-गीत` में कुणाल का व्यक्तित्व `धम्मपद` के इस सदुपदेश का चरितार्थरूप ही प्रतीत होता है --

---

१ कुणाल-गीत, परिचय, पृ० ७-८

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ।। ३।।[१]

अर्थात् —क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कंजूस-पन को दान से और झूठ को सत्य से जीते । कुणाल की यह कामना कि "पाऊं सबकी प्रेमदृष्टि मैं, दूं सबको विश्वास ।"[२] धम्मपदं के इस उपदेश के आधार पर है—

" सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।। २ ।।[३]

अर्थात् —सभी दण्ड से डरते हैं, सभी को जीवन प्रिय है । इसलिए सभी को अपने जैसा समझ कर किसी को मारे, न मरवाये ।

इन सब के अतिरिक्त इतिहास में भी कुणाल की इस कथा के स्रोत प्राप्त होते हैं ।

मूल स्रोत —

'कुणाल-गीत' की कथा के स्रोत प्राचीन अशोक कालीन इतिहास में प्राप्त होते हैं । वैसे सम्राट अशोक के सम्बन्ध में जो सामग्री प्राप्त हुई है वह बहुत अधिक नहीं है । उसकी कितनी पत्नियां तथा कितने पुत्र थे यह भी अभी तक विवादास्पद है । कुणाल की कथा भी अनेक इतिहास ग्रन्थों में प्राप्त होती है परन्तु उन कथाओं में पर्याप्त अंतर है । डा० सम्पूर्णानन्द ने कुणाल के सम्बन्ध में जो तथ्य लिखे हैं वे इस प्रकार हैं —अशोक ने पाटलिपुत्र आकर कई विवाह किए । उनकी एक रानी का नाम कारुवाकी था । यह भी सम्राट की भांति पक्की बौद्ध थीं । सम्राट की प्रियतमा भार्या का नाम असन्धि-मित्रा था । दुर्भाग्य से सम्राट की वृद्धावस्था में इनकी मृत्यु हो गई । फिर इसके बाद सम्राट ने तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया । तिष्यरक्षिता में

---

१. धम्मपदं - १७,२२३ तृतीयावृत्ति ।
२. कुणालगीत, संख्या ६३, पृ० १२३
३. धम्मपदं, १०,१३०, तृतीयावृत्ति ।

रानी कारुवाकी की भांति धार्मिक श्रद्धा न थी और न असन्धिमित्रा की भांति प्रेम । तिष्यरक्षिता केवल विषयपरता, अज्ञान और स्वार्थ की पुतली थी । उसने पहले तो अशोक की धार्मिकता से चिढ़ कर बोधि-वृक्ष नष्ट कराना चाहा परन्तु उसका यह प्रयत्न निष्फल गया । सम्राट ने फिर भी उसे कुछ न कहा । कुछ दिनों पश्चात् इसकी कुदृष्टि असन्धिमित्रा के पुत्र कुणालपर पड़ी । तिष्यरक्षित उस पर आसक्त हो गई । पर कुणाल अपने धर्म पर दृढ़ रहा । फलतः तिष्यरक्षित का प्रेम घोर-द्वेष में बदल गया । अन्त में उसने न जाने क्या कह सुन कर अशोक को इस बात पर तैयार कर लिया कि कुणाल की आंखें फोड़ डाली जायं । यह भीषण कार्य तक्षशिला में किया गया । किसी प्रकार कुणाल पाटलिपुत्र पहुंचा । उसके वहां आने पर सम्राट को सच्चा वृत्तान्त मालूम हुआ । इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने तिष्यरक्षिता को जीती जलवा दिया । बोधगया के एक बौद्ध साधु ने अपनी योग-सिद्धि से कुणाल की आंखें ठीक करवा दीं ।[१] परन्तु लेखक ने स्वयं इस कथा के विषय में लिखा है —" भगवान् जाने इसमें कहां तक सत्य का अंश है ।"[२]

यदुनन्दन कपूर ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थ में कुणाल की कथा के सम्बन्ध में जो तथ्य दिए हैं वे इस प्रकार है— तक्षशिला में विद्रोह होने पर अशोक ने विद्रोह दबाने के लिए कुणाल को वहां भेजा । वहां कुणाल का बड़ा सम्मान किया गया, वह वहां पौर-जनपदों पर शासन करने लगा और सबका प्रिय बन गया । कुणाल अत्यन्त ही सुन्दर युवक था । उसकी बड़ी बड़ी आंखें हिमालय के कुणाल पक्षी के समान सुन्दर थीं । वह अशोक का सबसे प्रियपुत्र था । उसके तक्षशिला जाने से पहले पाटलिपुत्र में उसकी विमाता तिष्यरक्षिता उसकी आंखों तथा सुंदर देह पर मुग्ध हो गई । अशोक ने तिष्यरक्षिता से वृद्धावस्था में विवाह किया था । तिष्यरक्षिता ने कुणाल से प्रणय याचना की जिसे कुणाल ने अस्वीकृत कर दिया । इस अपमान पर तिष्यरक्षिता कुणाल से द्वेष करने लगी । कुणाल के तक्षशिला जाने के उपरान्त तिष्यरक्षिता ने अशोक की रुग्णावस्था के समय उसकी सेवा तथा

---

१. सम्राट अशोक, डा० सम्पूर्णानन्द, प्रथम संस्करण, पृ० १५६-१५७
२. ,, ,, ,, ,, पृ० १५७

उपकार कर पुरस्कार में राजकीय मुहर प्राप्त कर ली । अब उसे अपना विद्वेष निकालने का अवसर प्राप्त हुआ । उसने एक कपट लेख तैयार कर तक्षशिला भेजा , जिसमें सम्राट की आज्ञा से कुणाल की आँखें निकाल लिये जाने की आज्ञा थी । अमात्य कुणाल से पूर्ण सन्तुष्ट थे, अत: वे इस आज्ञा के पालन में किंकर्तव्यविमूढ़ किन्तु आज्ञा पत्र प्राप्त कर कुणाल ने राजा की आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझ अपनी आँखें निकलवा डाली । नेत्र-विहीन कुणाल जब अपनी पत्नी कांचनमाला के साथ पाटलिपुत्र पहुँचा तो उसे देखकर अशोक को अत्यन्त ही दु:ख हुआ । सब भेद जानकर उसने तिष्यरक्षित का जीवित जलवा दिया ।[१]

भंडारकर ने अपने इतिहास में कुणाल की इस कथा का कोई उल्लेख नहीं किया है ।[२]

अशोकावदान[३] में सम्राट अशोक तथा कुणाल का चरित्र पर्याप्त विस्तार से वर्णित है । 'अशोकावदान' के अन्तर्गत 'कुणालोपाख्यान' में कुणाल के जन्म से लेकर उसके नेत्र विहीन होने, तथा फिर पिता द्वारा पहचाने जाने तक की कथा दी गई है ।" कुणाल का जब जन्म हुआ तो उसकी आँखें बहुत सुन्दर थीं और उसकी मुखाकृति भी अत्यधिक सुन्दर थी ।[४] कुणाल के नेत्रों के सम्बन्ध में उसकी जन्मपत्री के आधार पर एक ब्राह्मण ने कहा था कि राजा अपने इस पुत्र के नेत्रों को बहुत पसन्द करता है, परन्तु ये नेत्र निश्चय ही नष्ट हो जायेंगे । अभी तो इसके नेत्र सभी को प्रिय लगते हैं पर इन नेत्रों के नष्ट हो जाने पर सभी को दु:ख होगा[५]।

---

१. अशोक यदुनन्दनकपूर, कालिज बुक स्टोर्स, अलीगढ़ ।

२. अशोक—डी०आर०भण्डारकर

३. अशोकावदान—अनु० सुजितकुमार मुखोपाध्याय ।

४. "The feature of his face are uniform and his eyes are incomparable". अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ. १०५

५. "There was a Brahman who drew a horoscope and said - The kind likes the eyes of his son but they will certainly be destroyed before long. At present there is none who does not rejoice in seeing the eyes of this young man. Later on if they are destroyed that i[s] a universal grief." - अशोकावदान, कुणालोपाख्[यान]

एक बार वृद्धावस्था में सम्राट अशोक बहुत बीमार पड़े और तिष्यरक्षिता ने उनकी बहुत सेवा की । इलाज के लिए उसने अशोक को अफीम (   ) भी खिलाई । सम्राट जब सो गए तो तिष्यरक्षिता ने कुणाल की आँखें निकलवाने के लिए एक आज्ञापत्र तैयार किया । इसके लिए यह भी आवश्यक था कि उसे प्रामाणिक बनाया जाय । अत: उसने राजा के सो जाने पर राजा के दाँतों द्वारा उस आज्ञापत्र को प्रामाणिक किया ।[१] वह आज्ञा पत्र जब कुणाल के नगर में पहुंचा तो वहाँ के लोगों ने वह आज्ञा-पत्र कुणाल को दिखाना नहीं चाहा । उन्होंने सोचा कि जब राजा को अपने पुत्र का ही ध्यान नहीं है तो वह हम लोगों का क्या भला कर सकता है ? काफी समय तक आज्ञा-पत्र को छिपाए रहने के पश्चात् उन्होंने वह पत्र कुणाल को दिखाया। उसे देख कर कुणाल ने कहा कि मेरे नेत्र निकाल दो । किन्तु कोई भी इस कार्य के लिए तत्पर न हुआ । अन्त में बड़ी कठिनाई से एक विकलांग व्यक्ति

---

१. She (तिष्यरक्षिता) used all kinds of pungent things and gave them to the worm but it was not killed. By the inferior ways - for that reason, the queen advised the king to eat onion. Tisya said to the kind for the second time, 'you must eat it, in order to be cured'. Tisya having obtained his consent said to herself. "Pluck out the eyes of Kunala, for he has committed a great crime. Promptly pluck out his eyes. King Ashok is very strict." xxx The king was asleep. The queen sealed the edict with teeth of the king. She ordered a messenger to carry the edict which prescribed to the people of Taksasila to pluck out the eyes of Kunala."

— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान, पृ० १११-११२

ने कुणाल के नेत्र निकाले ।[१] कुणाल के नेत्र निकाले जाने से सभी व्यक्ति दुःखी हो उठे ।[२] कुणाल की पत्नी कांचनमाला दुःख के कारण विलाप कर उठी[३]। कुणाल ने उसे सान्त्वना दी ।[४]

कुछ समय उपरान्त कुणाल कांचनमाला के साथ पाटलीपुत्र पहुंचे । राजभवन के फाटक के पास बने हाथियों की शाला में कुणाल ने रात्रि बिताई । उसने वीणा पर गीत गाया । उस गीत में उसका वैभव और पराभव दोनों

---

1. The inhabitants of the town loved and respected the Dharma and the Sangha. So great was their humanencess and their generosity that there was none to show the royal order (to Kunala). The desolve thus. 'If the king has no mercy for his son, how can he love and spare us, we who are his subjects?' xxx If having such a son the king wants to destroy him, then what are we to him?' It is but after hiding the edict for a long time that they showed it to Kunala. He having received it gave credit to what it contained and said: "Let it be done as you wish to do; pluck out my eyes". But none was found to pluck them out. x x Then the deformed man atonce approached Kunala with an intention of plucking out his eyes. — अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ. ११३-११४

2. x x All the 'myrads' and 'kotis' of people wept, and they could not over-come their grief.
— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ. ११५

3. She uttered a cry of anguish and was at the hight of despair. 'Those eyes which were guiltless and marvellously beautiful and destroyed and reduced this state.
— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ. ११६

4. "Get rid of your affliction. What is the good of weeping?"
— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ. ११६.

वर्णित था । सम्राट अशोक ने वीणा और कुणाल के स्वरों को पहचाना । वे कुणाल के समीप गए और पूछा कि तुम्हारे नेत्र किसने निकाले ? तुम्हें इस दशा में देख कर मुझे अत्यधिक कष्ट हो रहा है । कुणाल ने पिता से कहा कि आपके ही आदेश से मेरे नेत्र निकाले गए हैं । राजा ने कहा कि यदि मैंने ऐसा आदेश दिया हो तो मैं अपनी जिह्वा काट दूं । कुणाल ने कहा कि आपके दाँतों द्वारा वह आज्ञा-पत्र प्रामाणित किया गया था । राजा ने उत्तर दिया कि यदि मैंने ऐसा किया तो मैं अपने दांतों को उखड़वा दूंगा । यदि मैंने उस पत्र को अपने नेत्रों से देखा हो तो मैं अपने नेत्र निकला दूंगा ॥[१]

---

१. "After a good many changes of direction they approached the town of Patliputra. Arriving at the gate of the royal palace ---- Kunala passed the night in the stable of elephants. He related, in accompaniment of the 'Vina', his grandeur as well as his misfortune and how he had found the way, on account of his eyes being plucked out. x x The kind having heard the familiar voice and the sound of the 'Veena' said - 'The sound of this 'Vina' resumbles the sound of the instrument of Kunala". x x x King went to Kunala and said - "what name is to be given to you? who with a pityless heart, has destroyed your eyes? Who has made your yes a source of misfortune for the rest of my days? Kunala, my son who wished that your eyes be reduced to this state. Be quick. Tell me who he is. Seeing you with a feeble and languid body, grif consumes my body and soul and destroyes them entirely as if they x had been struck by a thunder bolt." x x x Kunala said - 'That is you my father who have ordered to pluck them out. The king said - "If I have ordered any body to pluck out your eyes, I shall cut off my tongue.' Kunala said - 'My father, the edict was sealed with your teeth.' The king said- "If I have sealed it with my teeth, I shall pluck out my teeth. If myeyes have seen it, I shall pluck out my eyes."

— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान, पृ. ११५ - १२१

'अशोकावदान' में इसके पश्चात् वर्णित है कि यह सब देख कर तिष्यरक्षिता ने रानी पद्मावती से कहा — कि मेरे नेत्र निकलवा दीजिए, जिससे मैं जीवित रह सकूं। तिष्यरक्षिता की यह बात राजा के कानों में पड़ी और वे समझ गए कि यह तिष्यरक्षिता ही है जिसने मेरे पुत्र के नेत्र निकलवाए हैं। अशोक तिष्यरक्षिता पर क्रोधित हो उठे और कुणाल के रोकने पर भी एक यातना-गृह बनवा कर उसमें तिष्यरक्षिता को जीवित जला दिया।[१]

गुप्त जी ने इन सभी प्राचीन स्रोतों से 'कुणाल-गीत' की कथा का चयन किया है। सहृदय कवि होने के कारण ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ इस काव्य में कल्पना का पुट भी प्राचुर्य है। कवि ने अन्त में कुणाल के नेत्रों का लौटना और कुणाल द्वारा तिष्यरक्षिता को अशोक से बचवा लेना वर्णित है। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि अन्त में कुणाल की आँखें ठीक हो गईं।[२] परन्तु कुणाल ने प्रार्थना करके पिता द्वारा तिष्यरक्षिता को दण्ड नहीं दिलवाया, इसके कोई स्रोत नहीं प्राप्त होते हैं।

गुप्त जी की एक विशेषता चरित्र-परिवर्तन करने की भी है। निकृष्ट चरित्रों में भी वे उदात्त गुणों का समावेश करने की चेष्टा करते हैं। 'कुणाल-गीत' में कुणाल यही कहता है कि माता की इस कुत्सित आज्ञा का पालन करके संभव है वह माता का चरित्र परिवर्तित कर सके —

---

१. **Tisya having called the queen Padmavati, said to her: "Pluck out my eyes now. I go to beg together with my son to earn livelihood. 'These words had reached the ears of the king, he reflected thus: Tisya has certainly caused' to pluck out the eyes of my son." xxx (Kunala persuaded him) But the king did not listen to him. A torcher hall was made and Tisya was burnt alive.**

— अशोकावदान, कुणालोपाख्यान पृ० १२१-१२२

२. सम्राट अशोक, डा० सम्पूर्णानन्द, प्रथम संस्करण, पृ० १५७

क्या कहती हो मेरी रानी !
बिना विचारे ही क्या मैंने मां की आज्ञा मानी ?

x x

मैंने जो यह मार्ग लिया है ,
मां को सदय सुयोग दिया है,
करके वे अनुताप शुद्ध हों, बहें पाप बन पानी ।
क्या कहती हो मेरी रानी ।"[1]

कांचनमाला का विलाप और कुणाल का उसे प्रबोधने का वर्णन गुप्त जी ने बड़ी ही सहृदयता के साथ किया है । इसके मूल स्रोत 'अशोकावदान' में है अवश्य परन्तु कवि ने कुणाल और कांचनमाला के मानो हृदय में प्रवेश करके उनकी भावनाओं का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है ।

इस काव्य की रचना कारावास में आरम्भ हुई थी और मुक्त होने पर जल्दी ही यह प्रकाशित हो गई । अत: इस काव्य में कुणाल के माध्यम से कवि की जीवन और जगत में आस्था तथा उसके आशावादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है । गुप्त जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दुख आता है और आकर चला जाता है पर जीवन अमर है ।[2] यदि जीवन क्षणभंगुर भी है तो उसके अस्तित्व का क्षण ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अतएव मानव के लिए सदैव कर्मरत रहना ही श्रेयस्कर है ।[3]

---

१. कुणाल-गीत, ३३
२. ,, गीतसंख्या ६४, पृ० १३४
३. ,, ,, ७०, पृ० १०३

षष्ठ अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त के राष्ट्रीय तथा सम-सामयिक काव्य के स्रोत

गुप्त जी का युग, राजनीति, राष्ट्रीयता, समाज और नीति —

जिस समय अंग्रेज़ भारत में आए और उन्होंने धीरे-धीरे देश की केन्द्रीय सत्ता को अधिकृत कर लिया, उस समय भारत में राष्ट्रीयता का विकास आरम्भ हुआ। इस विदेशी सत्ता ने भाँति-भाँति से भारत की जनता का शोषण भी आरम्भ किया अंग्रेज़ों द्वारा किए गए इस शोषण के फलस्वरूप भारतीय जनता को परतंत्रता की अनुभूति हुई और उनमें राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई। फलत: अवसर आते ही जनता ने अपनी साम्राज्यवाद विरोधिनी भावना को सम्पूर्ण शक्ति के साथ व्यक्त किया और सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम इसी का परिणाम था। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए किए गए इस संग्राम में यद्यपि जनता को असफलता ही मिली, परन्तु इससे जनता के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना की गहरी नींव पड़ गई। इस राष्ट्रीय क्रान्ति के बाद ही हिन्दी कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। वास्तव में यहीं से हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य परम्परा का निश्चित रूप आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् सन् १८८५ ई० में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिससे राष्ट्रीयता की भावना को और भी अधिक बल प्राप्तहुआ। इस युग की राष्ट्रीय भावना में जातीयता की भावना का आधिक्य था। इसी समय स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज का आन्दोलन जातीयतावादी पुनरुत्थान की भावनाओं के लिए पनपा और प्रवाहित हुआ।

हिन्दी कविता में द्विवेदी-युग का आरम्भ ऐसी ही राष्ट्रीयता से हुआ। यदि मैथिलीशरण गुप्त को द्विवेदी युगीन कविता का प्रतिनिधि मानें तो उनके काव्य 'भारत-भारती' तथा 'हिन्दू' से इस तथ्य की पुष्टि हो सकती

है। परन्तु राजनीति के क्षेत्र में गांधी जी के प्रवेश करते ही साहित्य में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कांग्रेस की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति ने राष्ट्रीयता को अधिक व्यापक तथा गहन बनाया। इस समय साहित्य में भी राष्ट्रीयता की भावना पूर्ण गहराई तक पहुंची। इसके प्रमाण गुप्त जी की ही परवर्ती रचनाओं में विद्यमान हैं। राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप हिन्दी कविता में अतीत का गौरव-गान , उसकी ओर प्रशंसात्मक दृष्टि, वर्तमान की विपन्नावस्था पर क्षोभ, अछूत, नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण, समाज के पीड़ित वर्गों के प्रति गहरी सहानुभूति, विदेशी शासन की दासता से मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा आदि भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

द्विवेदी युग के पश्चात् आविर्भूत होने वाला छायावाद युग वास्तव में एक रोमांटिक आंदोलन था। इस युग के कवियों ने राष्ट्रीयता की भावना को व्यापक रूप में प्रश्रय देते हुए भी रागात्मक पक्ष की ओर अधिक रुझान रखी। फिर भी देश-प्रेम सम्बन्धी मधुर गीतों की सुन्दर सृष्टि हुई। जयशंकर प्रसाद ने ' अरुण यह मधुमय देश हमारा', ' हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों के दे उपहार,' हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती आदि सुंदर राष्ट्रीय गीतों की सृष्टि की। ' निराला' का (' भारति जय विजय करे', तथा सुभद्राकुमारी चौहान का "झांसी की रानी से सम्बन्धित गीत तथा 'वीरों का कैसा हो वसंत' आदि गीततत्कालीन जनता के कंठहार बन गए थे। माखनलाल चतुर्वेदी का' फूल की चाह' गीत राष्ट्रीय भावना के कारण विशेष लोकप्रिय हुआ था।

सन् १९३६ के पश्चात् की राष्ट्रीय कविता मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप एक नवीन रूप की हो गई। इस समय साहित्य में समाजवादी मार्क्सवादी- विचार धारा का प्रभाव लिए हुए प्रगतिवाद नाम का एक नया साहित्यिक युग आरम्भ हुआ। इसके द्वारा अब तक के राष्ट्रीयता के स्वरूप को एक नई रूपरेखा प्राप्त हुई।

१५ अगस्त सन् १९४७ को भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही राष्ट्रीय कविता के इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। स्वतं-

ञता मिली तो अवश्य परन्तु देश के कुछ भागों में जो अमानुषिक बर्बरता और रक्तपात हुआ उससे वह दब सी गई। इस समय अनेक कवियों ने अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्र के इस निर्माण कार्य में योग दिया, साथ ही कवियों द्वारा राष्ट्रीय सरकार की आलोचना-प्रत्यालोचना भी होती रही। प्रगतिवादी काव्य का एक महत्वपूर्ण अंश ऐसी ही कविताओं से हुआ। गुप्त जी इस समय भी अपनी काव्य रचना कर रहे थे। उनके प्रत्येक काव्य में राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीय भावना दिखाई देती है, साथ ही तत्कालीन युग के अन्य प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं।

१. भारत-भारती

देश की तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर कवि ने 'भारत-भारती' की रचना की। इस काव्य की रचना जिस सामाजिक और साहित्यिक वातावरण में हुई, वह उसके लिए उपयुक्ततम स्थिति थी। इसमें आर्य समाज का देश-व्यापी सुधार कार्य और हिन्दुत्व का नव जागरण प्रतिबिम्बित है। राष्ट्र-प्रेम की उत्कट भावना इसमें निहित है। वास्तव में यह काव्य द्विवेदी युग की राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति करता है।

इस समय अंग्रेजों का राज्य था अत: कवि को बड़ी सावधानी से यह काव्य रचना पड़ा। इस काव्य के लिखने के लिये कुर्री सुदौली, रायबरेली के ताल्लुकेदार राजा रामपाल सिंह ने गुप्त जी को बहुत उत्साहित किया। ये कांग्रेस के अच्छे कार्यकर्ताओं में से थे।[१] यद्यपि उन दिनों ब्रिटिश राज्य होने के कारण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शंका की थी कि ऐसी पुस्तक लिखने से कवि को कहीं राज्यद्रोही होने का दण्ड न भोगना पड़े।[२] परन्तु गुप्त जी ने बड़ी सावधानी से भारत भारती की रचना की।

---

१. कांग्रेस का इतिहास- भाग १, अध्याय ६, पृ० ६१, प्रथम संस्करण, पट्टाभि सीतारामैया (सं० हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली)
२. आचार्य द्विवेदी जी का फरवरी १६११ का पत्र।

भारत-भारती की रचना के पीछे 'मद्दो-जज़े-इस्लाम' की प्रेरणा प्रमुख थी। 'मद्दो-जज़े-इस्लाम' हाली द्वारा रचित मुसलमानों के नवजागरण का एक गीति काव्य है। इसके अतिरिक्त कवि ने भारत-भारती की रचना के समय कैफी के 'भारत-दर्पण' से भी प्रेरणा ली। यह ग्रन्थ सन् १९०५ में प्रकाशित हो गया था। इस ग्रन्थ में कैफी ने लिखा हिन्दुओं को चेतावनी देते हुए लिखा है :—

> " दिखाऊंगा पहले बुजुर्गों की अज़मत
> वो भारत का ओज, आर्यों की शौकत
> तुम्हारी दिखाऊंगा वो पस्ती की हालत
> बताऊंगा फिर तदबीर औ हिक्मत
> करोगे अमल तो जो जी-होश होंगे
> नहीं तो फ़ना के हम-आगोश होंगे।"[१]

इस प्रकार 'भारत-भारती' की रचना से पूर्व ये दोनों कौमी नज़्में प्रकाश में आ चुकी थीं और इन्होंने अपना पूरा प्रभाव कवि पर डाला जिसकी प्रेरणा, और मार्ग दर्शन से भारत भारती की रचना हो सकी। परन्तु साथ ही देश की तत्कालीन अवस्था और आवश्यकता से प्रेरित होकर कवि इस काव्य की रचना सफलतापूर्वक कर सका।

भारत-भारती राष्ट्रीय चेतना का काव्य है। इस काव्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य खण्डों में कवि ने बतलाया है कि 'हम कौन थे ? क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ?' कवि मंगलाचरण में कहता है —

> मानस-भवन में आर्यजन जिनकी उतारें आरती-
> भगवान ! भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती।
> हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती है भगवते।
> सीतापते ! सीतापते !! गीतामते ! गीतामते !!

---

१. भारत दर्पण, कैफी, पृ० १०

'भारत-भारती' को कवि ने रामनवमी सन् १६१२ को प्रारम्भ करके जन्माष्टमी सन् १६१३ को समाप्त किया था।[1] ब्रिटिश राज्य के सामने यह बड़ा ही साहसिक कार्य था। परन्तु राष्ट्रकवि के लिए यह साहस अपेक्षित भी था गुप्त जी ने नम्र निवेदन करते हुए लिखा है - "मुझे दुःख है कि इस पुस्तक में कहीं कहीं मुझे कुछ कड़ी बातें लिखनी पड़ी हैं, परन्तु मैंने किसी की निन्दा करने के विचार से कोई बात नहीं लिखी। अपनी अपनी सामाजिक दुरवस्था ने वैसा लिखने के लिए मुझे विवश किया है। जिन दोषों ने हमारी यह दुर्गति की है, जिनके कारण दूसरे लोग हम पर हँस रहे हैं, क्या उनका वर्णन कड़े शब्दों में किया जाना अनुचित है? मेरा विश्वास है कि जब तक हमारी बुराइयों की तीव्र आलोचना न होगी तब तक हमारा ध्यान उनको दूर करने की ओर समुचित रीति से आकृष्ट न होगा।"[2]

२. वैतालिक -

यह एक जागरण गीत है और इसका पुस्तकाकार प्रकाशन सन् १६१८ में हुआ है। इसमें कवि ने भारतवासियों को जगाया है। साथ ही अपनी संस्कृति का पाश्चात्य संस्कृति से सामंजस्य करने का उपदेश भी दिया है। यह जागरण गीत सवा सौ हालकि छंदों में लिखा गया है।

३. किसान

किसान खण्डकाव्य में भारतीय किसान के उत्पीड़ित जीवन का करुणा से पूर्ण चित्रण है। इसमें पौराणिक अथवा ऐतिहासिक घटना का वर्णन न होकर समसामयिक जीवन का चित्रण है। यह काव्य आत्मकथात्मक शैली में लिखा

---

१. प्रस्तावना - भारत-भारती (तीसवाँ संस्करण)

२. वही, ,, ,,

गया है। इस काव्य में कल्लू और कुलवंती की जीवन कथा का चित्रण करते हुए कवि ने तत्कालीन किसानों के जीवन की विभीषिका का रोमांचक चित्रण किया है। कल्लू किसान का बाल्यजीवन जितना ही सुखद और उन्मुक्त है उतना ही भीषण उसका परवर्ती जीवन हो जाता है। काव्य की कथा को सर्गों में विभक्त न करके विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है। 'बाल्य विवाह' काव्यांश में कल्लू के सुखद बाल्यकाल का वर्णन है। भाँति-भाँति के कष्टों में भी उसका जीवन सुखद और संतुष्ट था। यथा —

" एक भैंस दो गायें लेकर दिन भर उन्हें चराता था,
घर आकर, व्यालू में माँ से एक पाव पय पाता था।
सुख भी नहीं छिपाऊँगा मैं, पाया है मैंने जितना,
कभी कभी घी भी मिलता था, यद्यपि वह था ही कितना ?"[१]

स्वस्थ्य और सशक्त कल्लू किसान का विवाह कुलवन्ती से हो जाता है।

'गार्हस्थ्य' शीर्षक के अन्तर्गत किसान की गृहस्थी के कष्ट प्रारम्भ हो जाते हैं। वह पुलिस, जमींदार, महाजन तथा अनावृष्टि से कष्ट पाता है। महामारी के फैलने से उसके माता-पिता स्वर्गवासी हो जाते हैं। 'सर्वस्वान्त' शीर्षक के अन्तर्गत किसान के विभिन्न कष्टों का वर्णन है। 'देशत्याग' शीर्षक में किसान कुली बनता है और उसे कुलवन्ती सहित मजदूर के रूप में फिजी भेज दिया जाता है। देशत्याग के पश्चात् कल्लू किसान मातृभूमि भारत का स्मरण करता है। यहाँ कवि का राष्ट्र प्रेम भी प्रकट हुआ है। किसान कहता है —

" और भारत भूमि ! तुमसे हा ! हमीं वंचित रहे,
याद तो कर यह कि हमने कष्ट कितने हैं सहे ।।
अन्नपूर्णारूपिणी माँ ! तू क्यों है छोड़ती,
हाय ! माँ होकर सुतों से तू स्वयं मुंह मोड़ती ।"[२]

---

१. किसान, पृ० १० (२०१६ वि०)
२. " " पृ० ३३

'फिजी' शीर्षक के अन्तर्गत फिजी द्वीप में मज़दूरों के साथ अमानुषिक व्यवहार का वर्णन है। वहाँ गर्भिणी कुलवन्ती एक ओवरसियर से अपने सतीत्व की रक्षा करते हुए प्राण छोड़ देती है। वह कल्लू से अपनी अंतिम इच्छा प्रकट करती है कि वह उसकी अस्थियाँ को भारत में ही ले जाकर प्रवाहित करे। संयोगवश कुली-प्रथा के बंद हो जाने से कल्लू स्वदेश लौटता है। वह अपने देश के विदेशी शासन के आभार से दबा है और उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वह सेना में भर्ती हो जाता है। युद्ध के लिए उसे सरकार मध्येशिया में भेज देती है। प्रथम महायुद्ध में टिगरिस के किनारे वह विक्टोरिया क्रास प्राप्त करता है। वहीं वह वीरगति को प्राप्त होता है।

यह खण्डकाव्य करुण रस से ओतप्रोत है। इसमें कवि ने अनेक समस्याओं को उठाया है। कृषक समस्या, कुली-प्रथा, सैनिक जीवन, पुलिस के अत्याचार, दरोगा, जमींदार आदि के अत्याचारों की ओर प्रकाश डाला है। रस से आप्लावित खण्डकाव्य दु:खान्त है। शिल्प की दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह काव्य कवि की आरंभकालीन कृतियों में शकुन्तला और जयद्रथ वध से निम्नतर है। अभिधा का ही प्रयोग सर्वत्र है। भाषा पर्याप्त व्यवस्थित और पुष्ट है परन्तु प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं हुई है।

कवि का देशप्रेम कल्लू किसान के माध्यम से व्यक्त होता है। वह आत्मविभोर होकर कहता है -

" तू तो है मुझमें देश! आज भी मेरा,
तुझमें है भावा-वेश आज भी मेरा ॥
तेरे गीतों में भाव भरा है मेरा,
तेरी कथा में चाव भरा है मेरा,
तुझमें पुरुषों का गेह बना है मेरा,
तेरे तत्वों से देह बना है मेरा ॥
तुझमें अब भी कुल रीति नीति है मेरी,

के लिए प्रार्थना, अतीत कालीन उत्कर्ष के प्रति आस्था, भारतीय पर्वों और त्यौहारों का माहात्म्य, हिन्दी भाषा के द्वारा राष्ट्रोन्नति का भाव, असहयोग आन्दोलन का प्रशस्तिगान, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश , प्रवासी भारतीयों के प्रति संवेदना, साम्प्रदायिक एकता की प्रार्थना, हरिजन-उद्धार, झंडा-अभिवादन, स्वतंत्रता संग्राम में नारी का योगदान आदि । मुख्य रूप से राष्ट्रीय-जागरण तथा स्वातन्त्र्य चेष्टा के भाव इस काव्य संग्रह में व्यंजित हुए हैं ।

इस संग्रह के पैंसठ गीतों में कवि की यही राष्ट्रीय भावना और प्रेम विविध रूप में अभिव्यक्त हुआ है ।

५. हिन्दू

'हिन्दू' नाम से जातीयता की प्रधानता का बोध होता है । परन्तु इस काव्य में कवि ने जातीय भावना की संकीर्णता को कहीं भी नहीं आने दिया है । इसमें मुख्यतया राष्ट्रीय भावना ही दिखाई पड़ती है । जैसी राष्ट्रीय जागृति की भावना 'भारत-भारती' में है, वैसी ही भावना 'हिन्दू' काव्य में है । इस काव्य में राष्ट्रीय भावना का और भी विकास हुआ है ।

६. गुरुकुल

इस काव्य में सिक्ख गुरुओं की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है । क्योंकि इससे कवि मुसलमानों को उनके अत्याचारों से अवगत कराना चाहता था । इस विषय में कवि का दृष्टिकोण गान्धी जी के समान ही है । गुप्त जी ने मानवता को सर्वोपरि समझा और हिन्दू, मुसलमान तथा सिक्ख में समन्वय करने का प्रयत्न किया । यथा —

हिन्दू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच ,
मनुष्यत्व सबके ऊपर है
मान्य महीमण्डल के बीच ।

सच्चा हिन्दू होकर ही मैं

यह कहने के लिए समर्थ -

'तुझ सा पापी हिन्दू है तो

तो मुसलमान हूं तेरे अर्थ ।'[१]

तत्कालीन सामाजिक दंगों और झगड़ों से गुप्त जी क्षुब्ध और व्यथित थे। उनके हृदय में सामाजिक एकता की भावना प्रबल थी। उन्होंने हिन्दुओं और सिक्खों के विरोध को दूर करने की लालसा से ही कहा था -

किन्तु हिन्दुओं से सिक्खों का

मुझे विरोध नहीं है इष्ट,

सम्प्रदाय है एक उन्हीं का

तत्व खालसा वीर विशिष्ट।

सिक्ख-संघ हिन्दू-कुल का ही

निज रक्षार्थ संघटन मात्र,

गुरुओं ने समयानुसार ही

किए सुशिक्षित अपने पात्र।'[२]

इस काव्य को लिखने में गुप्त जी पर गांधी जी का प्रभाव स्पष्ट है, क्योंकि - " अपनी राष्ट्रीयता के लिए जिस धर्म की स्थापना वे चाहते थे, वह केवल हिन्दू धर्म न होकर सर्वश्रेष्ठ मानव धर्म था। x x x x सर्वधर्म-सहिष्णुता तथा सर्वधर्म - समभाव उनके सत्याग्रह का एक आवश्यक व्रत है। सत्य से बढ़ कर दूसरा धर्म नहीं है, सत्य ही परब्रह्म है, यह उक्ति उनके अध्यात्म ज्ञान का रहस्य ठीक तरह से प्रकट करती है। अध्यात्म के और सर्व व्यापक मानव-धर्म के इसी आधार पर वे आधुनिक भारत का निर्माण करना चाहते थे और इसीलिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई जैसे क्षुद्र भेदा-भेद

---

१. गुरुकुल, बंदा बैरागी, पृ० २३७-२३८

२. " " पृ० २४२

उनके हृदय को छू तक नहीं सकते थे ।"[1] गुप्त जी इसी सामाजिक विषमता को दूर करने की दृष्टि से हिन्दू-मुसलमानों की एकता और सिक्ख - हिन्दू धर्म के समभाव पर बल देते हैं ।" गुरुकुल " लिखनेसे पहले गुप्त जी ने डा० गोकुल चन्द नारंग कृत "सिक्खों का परिवर्तन", शिवनंदन सहाय रचित "सिक्ख गुरुओं की जीवनी", डा० वेणीप्रसाद कृत "महाराज रणजीत सिंह, भाई परमानन्द द्वारा रचित "वीर वैरागी", ज्वालादत्त शर्मा कृत "सिक्खों के दश गुरु" तथा नंदकुमार शर्मा की कतिपय पुस्तकों को उसने सन् २५ के आस पास सामग्री चयन के लिए पढ़ना आरंभ कर दिया था ।"[2]

७. विश्ववेदना

यह काव्य युद्ध विरोधिनी भावनाओं से ओत-प्रोत है । इस रचना का आरंभ कवि ने प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर किया था । परन्तु उस समय इसका एक अंश मात्र ही लिखा जा सका था । परन्तु लगभग बीस वर्षों बाद द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभाव की प्रेरणा से इस कृति को कवि ने पूर्ण किया । इस काव्य में कवि को विश्व की चिंता है । वह विश्व के लिए शुभकामनाएं करता हुआ कहता है --

" आज के योग्य, एक अविभाज्य,
विश्व को मिले राम का राज्य ।"[3]

कवि युद्ध को विश्व के लिए अत्यन्त हानिकर मानता है । आज का नर बिना प्रतिस्पर्द्धा के रह नहीं पाता -" प्रतिस्पर्द्धा के बिना परन्तु" जिये क्यों कर अब वह नर-जन्तु ।"[4] कवि मानवतावाद की प्रतिष्ठा चाहता है ।

---

१. आधुनिक भारत, आचार्य जावडेकर, पृ० २८७
२. मैथिलीशरण व्यक्ति और काव्य, कमलाकांत पाठक, पृ० १८६, प्रथम संस्करण १९६०
३. विश्व-वेदना, पृ० १ (पांचवां संस्करण)
४. ,, पृ० १३ ,,

वह मानवता के नैतिक पतन पर क्षोभ प्रकट करता है। कवि ने विश्व-राज्य की कल्पना की है और संयुक्त राष्ट्र संघ की संयोजना से प्रभावित होकर वह कहता है –

विश्व का एक विधान समर्थ,
छिन्न कर भिन्न भावना व्यर्थ,
कराता है जो अखिल अनर्थ,
हाथ में करके सारा अर्थ,
उठाकर रक्षण-शिक्षण-भार,
करे सबका समान उद्धार ।
यत्न है पुरुष तुम्हारे हाथ,
नहीं अवरुद्ध मुक्ति का माथ ।
अग्रसर हो साहस के साथ,
सहायक होंगे सीता नाथ
तुम्हारा है सारा संसार,
बनो तुम उसके योग्य उदार ।"[1]

कवि ने प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के भीषण समय में, उसकी भीषणता के विरोधस्वरूप 'विश्व-वेदना' की रचना की है। अत: इस काव्य को युद्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप कवि के हृदय में उठे हुए भावों का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है।

कवि ने प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर 'विश्व वेदना' की रचना आरंभ की थी। परन्तु उस समय थोड़ा ही अंश लिखा जा सका था। बीस वर्ष के पश्चात सन् १९३९ में विश्व-युद्ध छिड़ जाने की आशंका से कवि इसकी रचना में पुन: प्रवृत्त हुआ। सन् १९४३ में यह रचना पूर्ण हुई और प्रकाशित भी हुई। 'विश्व-वेदना' युद्ध विरोधिनी सांस्कृतिक गीति है इसमें कवि ने विश्व-युद्ध की विभीषिका करते हुए आर्थिक शोषण, राष्ट्रों की स्वार्थान्धता, हत्या

---

१. विश्व-वेदना, पृ० ५०-५१। पांचवां संस्करण

रक्तपात आदि अमानुषिक कार्यों की आलोचना की है। कवि पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और यांत्रिक उन्नति को प्रशंसनीय दृष्टि से नहीं देखता वरन उसे पशु-बल की प्रगति-विरोधी अभिवृद्धि मानता है। वह मानवता के विकास में ही विश्वास रखता है -" मिटे तो मिटे मनुष्य समाज, बचाले मनुष्यता की लाज।"[१] इसीलिए कवि यूनाइटेड नेशन्स औरगैनाइजेशन (संयुक्तराष्ट्र संघ) से प्रभावित होकर विश्व राज्य की कल्पना करता है। यथा —

> " विश्व का एक विधान समर्थ, छिन्न कर भिन्न भावना व्यर्थ,
> कराता है जो अखिल अनर्थ, हाथ में करके सारा अर्थ,
> उठाकर रक्षण-शिक्षण-भार, करे सब का समान उद्धार।"[२]

कवि ने अपने उस विश्व-मानवतावादी दर्शन में वही दृष्टिकोण रखा है जिसे १४ सितम्बर १९३९ की कांग्रेस की कार्य समिति ने अपनाया था। वास्तव में वह पूंजीवादी और साम्राज्यवादी युद्ध-नीति का विरोध था और स्वातंत्र्य तथा लोकतंत्र की संवर्धना का समर्थन।[३] जब ३ सितम्बर को युद्ध घोषित हुआ तो कांग्रेस की विश्व-युद्ध विषयक-नीति की यह प्रथम घोषणा थी। 'विश्व-वेदना' लिखने की मूल प्रेरणा यही थी।

---

१. विश्व-वेदना, सूचना, कवि-लिखित, पृ० १ (पांचवां संस्करण)

२. ,, ,, ,, पृ० ४६ ,,

३. "A free democratic India will gladly associate herself with other free nations for mutual defence against aggression and for economic co-operation. She will work for the establishment of a real world order based on freedom and democracy utilizing the world knowledge and resources for the progress and advancement of humanity."

- Statement, Congress Working Committee. September 14, 1939.
Quoted from the Discovery of India, Page 404.

८. अजित —

'अजित' आत्म-कथात्मक शैली में लिखा हुआ चरित्र प्रधान खण्डकाव्य है। यह काव्य समसामयिक जीवन से सम्बद्ध है। यद्यपि यह सामाजिक काव्य की श्रेणी में आता है परन्तु काव्य की मूल चेतना राजनीतिक है। ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याओं को कवि ने इसमें उठाया है। जैल-जीवन का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। अजित इस काव्य का चरित नायक है। अजित एक जमींदार तो नहीं परन्तु एक बड़े मौरूसी किसान का पुत्र है। वह नवयुवक है और उसकी नवविवाहित पत्नी है। अजित के गांव का जमींदार उसके पिता का 'बावना ताल' नामका एक उर्वर खेत हथियाना चाहता था। इसके लिए उस जमींदार ने पुलिस से मिलकर अजित को जेल भिजवा दिया। जेल जीवन का चित्रण कवि ने विस्तार पूर्वक किया है। विभिन्न कैदियों के जीवन का वृत्तांत किया गया है। जेल में अजित वहाँ की कष्टदायी यंत्रणाओं के बीच अपनी नववधू का स्मरण करता है। वहीं जेल में दादा श्यामसिंह के संपर्क में आकर अजित भारत-माता का उपासक हो जाता है और देशभक्त तथा क्रान्तिकारी बन जाता है। एक कैदी ने आत्महत्या करने से पहले अपने गड़े हुए धन का पता भी अजित को दे दिया है। इधर घर पर अजित के पिता अजित को जेल से जमानत पर छुड़ाने के लिए जमींदार को 'बावना ताल' दे देते हैं। अजित घर लौट कर आता है। घर पर न तो पिता से ही भेंट हुई और न पत्नी उजियारी ही मिली। यथा—

> पिता गये, घर नहीं आज पत्नी भी मेरी,
> मेरी विनती कहां, यहां सब ओर अंधेरी।" १

अजित व्यथित हो उठा और अपनी पत्नी को मृत हुई समझ कर वह उसका अनुचिंतन करता है। कवि ने उसके विरह का वर्णन बड़ा मार्मिक किया है। वह विक्षिप्त के समान प्रकृति के उपकरणों से उसका पता पूछता है। यथा—

> " हे अम्बर के इन्दु! अम्बु के वरुण, बता दो-,
> मेरी वह मानिनी कहाँ है, मुझे पता दो।

---

१. अजित, पृ० ६

दीपक यह भिलमिला रहा है नीचे ऊपर,
कह ओ मेरी दीप-दानिनी ! तो किस भू पर ।" [१]

उसे नदी में अपनी पत्नी का चांदी का पैंजना मिलता है, जिससे वह अनुमान लगाता है कि अवश्य ही वह डूब मरी है। यथा —

" उसमें उलझा हुआ निकल गया जल से आया
चांदी का पैंजना देखने पर वह निकला,
कांप उठा मैं अरे गई यह मेरी विकला।
ज्ञात हो गया, यहीं-यहीं आकर वह डूबी।" [२]

पिता का भी वह विधिपूर्वक श्राद्ध करवा देता है। उसे बार बार दादा श्यामसिंह का कहना याद आने लगा। वह अपने ममेरे भाई धनराज के साथ आतंकवादी बनकर घर से निकल पड़ा। तभी उसे जमींदार का पुत्र रज्जू मिला। उसने बताया कि उसी ने अजित की पत्नी उजियारी को मठ-पूजा के बहाने घर से बुलवा कर भ्रष्ट कराने का प्रयत्न किया था। परन्तु वह नदी में कूद पड़ी और अपने सतीत्व की रक्षा की। रज्जू को मार डालने की योजना बनाई गई परन्तु उसकी पत्नी पति की रक्षा के लिए बीच में कूद पड़ी — "प्रथम मुझे" कह वह मुड़ कर अजित के चरणों में पर गिर पड़ी। अजित ने रज्जु को बचा लिया। यहां तक नवम कथांश तक काव्य का मध्य-भाग आ जाता है। दशम कथांश में अजित के क्रांतिकारी दल का साहसिकता पूर्ण कार्यों का वर्णन है। तत्पश्चात आगे के कथांशों में अजित अपनी सुकोमल मनोवृत्तियों के कारण गांधीवादी बन जाता है। और अहिंसा की नीति को अपना लेता है। अजित का क्रान्तिदल भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। क्रान्ति दल के निर्देशक बाबा जी अजित को समझाने का असफल प्रयास करते हैं। अजित की गर्भिणी पत्नी को डूबने से बाबा जी ने बचाया था और वह अभी

---

१. अजित, पृ० ६८
२. ,, पृ० ६६

तक सुरक्षित है । इस सूचना से भी अजित हिंसात्मक कार्यों में लीन नहीं होना चाहता । वह ग्रामोद्धार का कार्य करना चाहता है । रज्जु जो कि क्रान्ति-दल का सदस्य है वह अन्त में लाला जी के आदेश से अजित को अपने घर ले जाता है ।

सम्पूर्ण कथा में अजित की पत्नी उजियारी परोक्ष रूप में ही आती है । कवि ने अन्त में भी उसकी अजित से भेंट नहीं दिखाई है । अन्त में कवि यदि चाहता तो उजियारी को उपस्थित कर सकता था परन्तु फिर प्रबंधकाव्य की नियोजना में बाधा पड़ती । दूसरे इस काव्य का उद्देश्य अजित के चरित्र को विकसित करना ही था । यह एक जीवनी काव्य है । साथ ही सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं से पूर्ण है । कवि ने अपनी मानवतावादी धारणा को इसमें नियोजित किया है । इसमें राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति है । भूमि, स्त्री और धन-सम्पत्ति आदि की समस्याओं पर प्रकाश डालता है । गांवों में जमींदार के अन्याय, संपन्न युवक की उच्छृंखलता तथा पुलिस के अत्याचारों की वर्णना हुई है । गुप्त जी ने क्रान्तिकारियों के जीवन का सजीव चित्रण किया है । जेल जीवन का वर्णन अनेक कैदियों द्वारा कराया गया है ।

६. अंजलि और अर्घ्य

यह एक शोक गीति है और गांधी जी के निधन से सम्बन्धित है । महात्मा गांधी के निधन पर कवि ने निम्नलिखित उक्ति लिखी थी —

" अरे राम, कैसे हम झेलें अपनी लज्जा, उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्र-पिता परलोक ।"[१]

अनन्तर दो वर्षों पश्चात इस शोक-गीति की रचना पूरी की । कवि ने अपने भावोद्रेक पर नियंत्रण करके प्रस्तुत श्रद्धांजलि की नैतिक कर्म के रूप में रचना की ।

---

१. अंजलि और अर्घ्य, पृ० ७ (पांचवां संस्करण)

कवि के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है — " इतना भी कर सकना संभव न होता, यदि वर्तमान व्याधियां इसे न कर पा सकने की ग्लानिमयी व्याधि न उत्पन्न कर देतीं ।"[१] गांधी जी के निधन से कवि क्षुब्ध है । इस गीति में कवि उस महान् आत्मा को श्रद्धांजलि भेंट करता है । 'अंजलि' में कवि की शोक-भावना की अभिव्यंजना है और 'अर्घ्य' में कवि उनके अभाव को स्वीकार नहीं कर पाता । वह उनके लौट आने की कामना करता है । कवि उनके पुनरावर्तित होने की कल्पना को व्यक्त करता है । गुप्त जी की इस कल्पना की तुलना ईसा के पुनरुज्जीवित( ) होने की घटना से की जा सकती है ।

इस गीति में शोक के साथ साथ आत्म-ग्लानि , दैन्य, पश्चाताप, विश्वप्रेम, मानवतावाद तथा गांधी जी के व्यक्तित्व की अनेक विशेषताओं की व्यंजना हुई है । इस शोक-गीति में कवि ने गांधी जी को लोक-हित-साधक आदर्श मानव, लोकनायक की अपेक्षा अपने आराध्य के समकक्ष समझा है ।

१०. भूमिभाग

यह एक गीति-पुस्तिका है, जिसमें भूमि-हीनों की समस्या को हल करने का प्रयत्न हुआ है । इसमें भूदान विषयक इक्कीस प्रगीत संगृहीत हैं । कवि भूदान यज्ञ की अहिंसात्मक पद्धति में विश्वास करता है । वह आश्वस्त है कि सबके सहयोग से यह यज्ञ यथा-संभव शीघ्र सम्पन्न होकर सफल होगा और हमें व्यापक क्षेत्र में अहिंसा का सात्विक ओज देखने को मिलेगा ।[२] कवि संतप्रवर विनोबा भावे की सर्वोदयी निष्ठा से विश्वस्त है । कवि भूमि के सम्यक् वितरण का समर्थन करता है । कवि भूदान-सम्बन्धी क्रान्ति को

---

१. अंजलि और अर्घ्य, निवेदन, पृ० ४

२. भूमि-भाग, दो शब्द, (प्रथमावृत्ति)

अनिवार्य समझता है । यथा —

" वैसे भूमि समस्या सुलझे, नए जाल में देश न उलझे ,
इसके समाधान करने में रक्षित रख निज रूप वेश ।"[१]

भूमिभाग के समस्त प्रगीत सामयिक हैं । कुछ प्रगीतों में भूमि हीनों की करुण स्थिति स्पष्ट हुई है जैसे— खेत, चढ़ौती, और भू-भ्रष्ट में । 'भूमि-यज्ञ' में भूमि पर सबके समानाधिकार का सिद्धान्त दिखाया है । 'अनुनय' में भूमि-दान करने वालों की उदार वृत्ति का वर्णन है । 'भूमि-वंदना' तथा 'आह्वान' में वंदना की गई है ।'वंचित' में भूमि-दान की अनिवार्य आवश्यकता को व्यक्त किया गया है ।'भूमिहीन' तथा 'कवि के प्रति' में व्यंग्यात्मक शैली दिखाई पड़ती है । भूमि के सम्बन्ध में कवि का दर्शन कहता है —

" प्रभु ने जिस दिन दिया शरीर ,
दिए उसी दिन हमें दयाकर भू, नभ, पावक, नीर, समीर ।"[२]

११. राजा-प्रजा

प्रस्तुत काव्य में कवि ने राजा-संस्था का भारतीय प्रजातंत्र में विलीनीकरण होने की कल्पना की है ।'राजा जाता है' और 'प्रजा आती है'; इन दो रूपों में वस्तु कल्पना की गई है । नवीन लोकतंत्र की स्थापना हो जाने पर राजा की मानसिक प्रतिक्रिया का संवाद शैली में वर्णन किया है , वैसे साथ ही उत्तरांश में प्रजा मार्मिक उत्तर भी देती है । राजा कतिपय विषयों का वर्णन करता है, जैसे—उच्चादर्श न रख पाने का क्षोभ, कुकृत्यों का स्मरण, पूंजीवाद के प्रति आशंका, प्रजा की हित-चिन्ता, निर्वाचन पद्धति के दोष, अविश्वास का प्रस्ताव, पद-लोलुपता, प्रजातन्त्र राज्यों के दोष, नवीन वर्गों का उदय और उनकी स्थापना, प्रजातन्त्र राज्य में चोरी, घूसखोरी, पाप वृद्धि,

---

१. भूमि-भाग, उत्तर प्रदेश के प्रति, पृ० ३३
२. ,, भूमिहीन, पृ० ६

सप्तम अध्याय

मैथिलीशरण गुप्त का विविध-विषयक काव्य और उसकी अन्तर्कथाओं के स्रोत:-

रामायणीय, महाभारतीय, ऐतिहासिक तथा राष्ट्रीय काव्यों के अतिरिक्त गुप्त जी ने अन्य विषयों से सम्बन्धित खण्ड काव्यों की भी सृष्टि की है। कुछ पद्य-नाट्यों की भी रचना की है। इनके भी आधार विविध विषयक हैं। नीचे इन्हीं का अध्ययन किया गया है।

शकुंतला

यह काव्य विभिन्न प्रसंगों के आधार पर विभिन्न शीर्षकों में विभाजित है। प्रारम्भ 'मंगलाचरण' से है जिसमें राधा की वंदना की गई है। तत्पश्चात् 'उपक्रम' में इस काव्य की मूल कथा और उसका महत्व संक्षेप में दिखलाया गया है। 'जन्म और बाल्यकाल' शीर्षक के अन्तर्गत शकुंतला के जन्म तथा कण्व-ऋषि के आश्रम का वर्णन है। कण्व के आश्रम में ही उसका लालन पालन हुआ —

> पुण्य तपोवन की रज में वह
> खेल खेलकर बड़ी हुई,
> आश्रम की नवलतिकाओं के
> साथ साथ कुछ कड़ी हुई।[2]

'दर्शन' शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने शकुंतला और दुष्यन्त के प्रथम मिलन का वर्णन किया है। दोनों के मन में पूर्वराग का उदय होता है। धीरे धीरे प्रेम की दशा आ जाती है। दोनों की भावदशा का सुन्दर चित्रण हुआ है

---

१. गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १०

२. शकुंतला, पृ० ८

शकुंतला का चित्रण कवि इस प्रकार करता है —

"विवश आया बिछुड़ने का समय दोनों ओर
बिछुड़कर भी वे परस्पर बन गये चित चोर ।
मार्ग में, मिस से ठिठकती, लहराती सी बार-
गई व्यग्र शकुन्तला नृप को निहार निहार ।"[1]

दुष्यन्त की भावदशा इस प्रकार प्रकट हुई है —

इधर नृप को भी विवश करना पड़ा प्रस्थान,
किन्तु उनका मन वहीं पर हो गया रममाण ।[2]

'पत्र' शीर्षक के अन्तर्गत शकुंतला के प्रेमपत्र की रचना की वर्णना हुई है। 'अवधि' शीर्षक के अन्तर्गत दुष्यन्त शकुन्तला के संयोग शृंगार का वर्णन हुआ है, साथ ही वियोग के समय दोनों के मार्मिक संवादों की योजना की गई है। 'अभिशाप' शीर्षक के अन्तर्गत शकुन्तला को दुर्वासा द्वारा अभिशप्त होने की कथा का वर्णन है। 'विदा' शीर्षक के अन्तर्गत कण्व के आश्रम से शकुंतला की विदा का वर्णन है जो कि कण्व के वात्सल्य की अभिव्यक्ति से करुण हो उठा है। 'त्याग' शीर्षक के अन्तर्गत दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के त्याग की कथा है। यह करुण प्रसंग है। दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त गर्भिणी शकुंतला को भूल जाते हैं और त्याग देते हैं। 'स्मृति' शीर्षक के अन्तर्गत दुष्यन्त को अपनी मुद्रिका पाकर शकुन्तला की स्मृति हो आती है। वे अपनी प्रियतमा के वियोग में विह्वल हो उठते हैं। दुष्यन्त के विरह का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। दुष्यन्त स्वयं को धिक्कारते हैं —

"थी सामने प्रिया जब देखा नहीं उसे तब,
आंसू बहा रहे हैं उसके लिए वृथा अब ।

---

1. शकुन्तला, पृ० १७
2. ,, पृ० १७

धिक्, ढोंग कर रहे हैं अब व्यर्थ ही विलोचन,
हा ! किस प्रकार होगा मेरा कलंक-मोचन ?"[1]

'कर्तव्य' शीर्षक के अन्तर्गत वणिक की विधवा गर्भिणी पत्नी का न्याय करते समय दुष्यन्त को अपने निष्पुत्र गार्हस्थ्य जीवन के प्रति क्षोभ होता है। इसी काव्यांश में इन्द्र की सहायता करने के लिए वे कालनेमि से युद्ध करते हुए प्रस्थान करते हैं। 'मिलन' शीर्षक के अन्तर्गत दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन का वर्णन है। दुष्यन्त दानव पर विजय प्राप्त करते हैं और हेमकूट पर कश्यप और अदिति के आश्रम में आते हैं। वहीं सर्वदमन को सिंह के साथ क्रीड़ा करते हुए देखते हैं। वहां शकुन्तला का परिचय उसकी सखी द्वारा पाकर वे शकुन्तला से अपना सम्बन्ध बतलाते हुए अपनी व्यथा और ग्लानि को भी स्पष्ट करते हैं —

" मैं ही हूं वह महान्ध, अविनीत हा !
होगा मुझ-सा और कौन अपनीत हा !'
यों कहकर दुष्यन्त वहीं पर गिर पड़े,
रह सकते थे भला कभी वे स्थिर खड़े ?[2]

इसी काव्यांश में कवि ने दोनों के पुनर्मिलन का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित किया है —

" पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुंतला ने कहा क्षमा रूप धर -'
" उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझपर ही अज्ञात दैव का रोष था।"[3]

यह कवि की नारी चरित्र प्रधान कृति है। यद्यपि यह कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अनुवाद नहीं है, परन्तु गुप्त जी ने इसी को आधार

---

1. शकुन्तला, पृ० ४५
2. ,, पृ० ५६
3. ,, पृ० ६०

कलाकार स्फुट आख्यानों के रूप में इस काव्य की रचना की है। इसमें शकुन्तला दुष्यन्त की प्रेम कथा के विविध प्रसंगों को खण्डकाव्य के रूप में संबद्ध किया गया है। 'शकुन्तला' काव्य को 'निरा पद्यात्मक प्रबन्ध' भी कहा गया है।[१]

इस खण्डकाव्य में भारतीय नारी के उच्च प्रेम और गार्हस्थिक जीवन के आदर्श की व्यंजना हुई है। इस कृति में गुप्त जी के नारी सम्बन्धी उच्च विचार और आदर की भावना मुखरित हुई है। शकुंतला के उज्ज्वल चरित्र में कवि ने आत्मगौरव और नारी सम्मान की भावना की प्रतिष्ठा की है।

'रंग में भंग' की ही भांति इस काव्य के विभिन्न काव्यांश भी सरस्वती में पहले प्रकाशित हो चुके थे। इसी कारण इस काव्य के कथानक में - वस्तु-विन्यास अधिक सुगठित नहीं होने पाया है। इसी कारण इसे 'पद्यात्मक प्रबंध' भी कहा गया है।[१] फिर भी इसकी कथा के प्रवाह में कोई व्याघात नहीं प्रतीत होता। इस काव्य का मूल आधार कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है। इसमें मौलिकता का अभाव है। यद्यपि वह 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अन्यथा अन्य किसी ग्रन्थ का अनुवाद नहीं है। यह काव्य किसी विशेष उद्देश्य को नहीं लिए हुए है। इसका 'निबंधन' केवल 'प्रीति' की व्यंजना के लिए ही हुआ है। और कवि ने इसके द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में भी लालित्य है और 'शकुंतला' जैसी रसपूर्ण रचना इसमें रची जा सकती है।

मूल स्रोत

संस्कृति साहित्य के अन्तर्गत शकुन्तला और दुष्यन्त की कथा मुख्यतया 'महाभारत'[२] तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में प्राप्त होती है। इन दोनों प्राचीन ग्रन्थों में दी हुई शकुंतला दुष्यन्त की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने अपनी इस कथा का चयन कालिदास कृत

---

१. गुप्त जी की कारुण्य-धारा, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १०

२. महाभारत, आदिपर्व, अ० ६८-७४

'अभिज्ञान शाकुंतलम्' से लिया है। कालिदास द्वारा प्रणीत कथा तथा गुप्त जी द्वारा प्रणीत कथा में अत्यधिक समानता है। कालिदास के इस प्रभाव को उन्होंने ऋण के रूप में ग्रहण किया है और इस ऋण को गुप्त जी ने स्वीकारा भी है। यथा –

" मृग के बदले मृगनयनी को
        जहां महीपति ने पाया –
और यहां भी कालिदास ने
        श्रवण सुधा रस बरसाया।"[1]

कवि के अनुसार शाकुंतला काव्य इसी 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का संक्षेप है –

" प्रस्तुत नूतन पद्य-पात्र यह
        उसी सु-रस-हित किया गया,
अहोभाग्य है यदि इसमें वह
        एक बूंद भी लिया गया।"[2]

'महाभारत' में वर्णित शकुंतला की कथा तथा 'शकुंतला' काव्य की कथा में पर्याप्त अन्तर है। कालिदास ने यद्यपि इस कथा को 'महाभारत' से ही लिया है, परन्तु उसमें अत्यधिक परिवर्तन किए हैं। मुख्यतया दो कारणों से ये परिवर्तन किए गए हैं। कुछ तो कथा को स्वाभाविक बनाने के लिए और कुछ कथा की सरसता के लिए। शकुंतला काव्य की कथा के मूल स्रोत का अध्ययन करने के पहले 'महाभारत' में वर्णित तथा कालिदास द्वारा वर्णित कथा के अन्तर को स्पष्ट कर लेना अधिक समीचीन होगा। 'महाभारत' के अनुसार राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए वन में अपनी सेना सहित कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुंचे। वे अपनी सेना को बाहर खड़ी कर के अकेले ही सीधे आश्रम में पहुंचे।[3] 'अभिज्ञान

---

१. शकुन्तला, उपक्रम, पृ० ६

२. ,, ,, पृ० ६

३. महाभारत, आदिपर्व, संभवपर्व, अ० ६८-७०

शाकुंतलम्' के अनुसार शिकार खेलते समय राजा की सेना पीछे छूट गई और राजा दुष्यन्त केवल सूत के साथ घूमता हुआ आश्रम पहुंचा। राजा ने एकाएक आश्रम में प्रवेश नहीं किया, वरन उस समय प्रवेश किया जब तपस्वी-कन्याओं में उससे सहायता पाने की चर्चा चल रही थी। राजा को न पाकर सेना उसे खोजते हुए आश्रम में आई। सेना ने आश्रम में गड़बड़ी मचानी आरम्भ की। उस समय दुष्यन्त शकुंतला तथा उसकी सखिया से वार्तालाप करने में निमग्न थे।[१]

इसी प्रकार 'महाभारत' के अनुसार जब दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुंचे तो उस समय कण्व ऋषि फल लेने के लिए वन में गए हुए थे। अत: ऋषि की अनुपस्थिति में उनकी धर्म की कन्या शकुन्तला ने राजा का स्वागत किया। राजा दुष्यन्त के पूछने पर शकुन्तला ने अपने जन्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।[२] राजा ने उसके सामने उससे विवाह करने का प्रस्ताव रखा। शकुन्तला ने राजा को कण्व ऋषि के आने तक रुकने के लिए कहा। परन्तु राजा ने जब शीघ्रता करनी चाही तो शकुंतला ने इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि राजा दुष्यन्त के बाद उसका ही पुत्र राजा होगा।[३] 'महाभारत' का यह वर्णन स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। आश्रम की तपस्वी-कन्या एकाएक राजा से इस प्रकार खुल कर बातें करे यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। साथ ही शर्त द्वारा निश्चित किया गया विवाह अत्यधिक नीरस प्रतीत होता है। कालिदास ने आधारग्रन्थ 'महाभारत' की इस घटना में भी पर्याप्त परिवर्तन किया है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के अनुसार राजा दुष्यंत को शकुंतला के जन्म आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त शकुन्तला की सखियों- प्रियंवदा तथा अनसूया द्वारा अवगत होता है।[४] साथ ही कालिदास ने कण्व ऋषि को सोमतीर्थ गया हुआ

---

१. १. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथम अंक,
२. ,, ,, अ० ७१-७२
३. ,, ,, अ० ७३ श्लोक १६, १७
४. ,, ,,

बताकर शकुंतला को राजा दुष्यन्त से मिलने के लिए पर्याप्त समय दिया है। साथ ही शकुंतला विवाह के लिए दुष्यन्त के सामने किसी भी प्रकार की शर्त नहीं रखती। इससे कवि सरसता और स्वाभाविकता ला सका है।

महाभारतीय कथा के अनुसार जब कण्व ऋषि को शकुंतला तथा दुष्यन्त के शरीर सम्बन्ध का पता चल जाता है तब भी शकुन्तला नौ वर्ष तक कण्व के ही आश्रम में रहती है। प्रथम तीन वर्ष पश्चात् शकुंतला का पुत्र हुआ और जब वह छ: वर्ष का हो गया तब कण्व को यह स्मरण आया कि विवाहित लड़की को बहुत दिनों तक पिता के घर न रहना चाहिए और कण्व ने यह भी सोचा कि शकुन्तला के पुत्र के अब युवराज बनने का भी समय आ गया है।[1] कालिदास ने यहां भी परिवर्तन किया है। राजा के साथ शकुंतला के मिलन की बात जानकर कण्व ने तुरत उसी दिन उसे राजमहल के लिए बिदा कर दिया। वह गर्भिणी अवस्था में ही राजदरबार में आई। कालिदास द्वारा इस परिवर्तन को करने से कथा में स्वाभाविकता आ गई है। अन्यथा नौ वर्ष के बाद कण्व ऋषि का यह कहना कि विवाहित लड़की को बहुत दिनों तक पिता के घर न रहना चाहिए, हास्यास्पद हो जाता है।[2]

मूल कथा के अनुसार शकुंतला अपने पुत्र को लेकर राजमहल को गई। परन्तु राजा दुष्यन्त ने सब वृत्तान्त स्मरण रहते हुए भी उसे अस्वीकार कर दिया। निराश होकर शकुंतला जाने लगी। उसी समय आकाशवाणी हुई। देवताओं ने शकुन्तला की बात का समर्थन किया। तत्पश्चात राजा दुष्यन्त ने पुरोहित आदि की सम्मति से शकुंतला और उसके पुत्र को अपनाया। महाभारत की यह कथा नीरस है। इस घटना से दुष्यन्त की कुटिलता, क्रूरता और हृदय की कमजोरी प्रकट होती है। कालिदास ने इस कथा में परिवर्तन करके इसे रोचक और स्वाभाविक बनाया है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के अनुसार शकुंतला गर्भावस्था में ही राजा दुष्यन्त के पास गई। परन्तु दुर्वासा के शाप के कारण राजा को

---

१. महाभारत - आदिपर्व, संभवपर्व, अ० ७४, श्लोक १-१२
२ अभिज्ञान शाकुंतलम्, चतुर्थ अंक

अपने और शकुंतला के प्रेम-सम्बन्ध का स्मरण न आया। दुष्यन्त ने शकुंतला को रक्षा स्वीकार न किया। इस बार एक अदृश्य मूर्ति शकुंतला को उठा ले गई। मारीच के आश्रम में हेमकूट पर्वत पर उसे पुत्र हुआ। इधर धीवर से अंगूठी पाकर राजा को सब वृतान्त स्मरण हो आया। वह अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगा। उसका चित्त पुनः शकुन्तला की ओर आकृष्ट हुआ। कुछ समय पश्चात दुष्यन्त दानवों को मार कर लौटते समय मारीच के आश्रम में गया। वहां उसने अपने पुत्र को देखा और उसे बाद शकुंतला से मिलन हुआ। यह घटना-क्रम अधिक सरस और समीचीन प्रतीत होता है। दुर्वासा के शाप के कारण राजा कलंक से बचता है। अंगूठी का वृतान्त इस कथा में बहुत महत्वपूर्ण है।[१]

महाभारतीय कथा तथा 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि मैथिलीकरण गुप्त के 'शकुन्तला' काव्य का मूल स्रोत ग्रन्थ कालिदास कृत 'शकुन्तलम्' ही है। क्योंकि गुप्त जी कृत यह कथा महाभारतीय कथा से बहुत दूर और 'शाकुन्तलम्' के बहुत निकट है।

'शकुंतला' काव्य में कवि ने कालिदास के अमर नाटक के कथानक को नए ढंग से विन्यस्त किया है। अतः इसमें मूल कथा का मुख्यांश ही पद्यबद्ध हुआ है। 'शकुंतला' काव्य को एकदम मौलिक रचना भी नहीं कहा जा सकता परन्तु फिर भी वह स्वतंत्र रचना होने का आभास देती है। गुप्त जी ने ग्यारह खण्डों में रचना प्रस्तुत की है। सम्पूर्ण काव्य का प्रथम खण्ड 'उपक्रम' है। इस खंड में मूल कथा की रसात्मकता तथा शकुन्तला के आकर्षक चरित्र के महत्व को प्रकट किया गया है। दूसरा खण्ड 'जन्म और बाल्यकाल' है। इसमें शकुंतला के जन्म की कथा और कण्व ऋषि के आश्रम में उसके लालित-पालित होने

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक ४ से अंक ७ तक

की कथा संक्षेप में दी गई है। तृतीय खण्ड 'दर्शन' में कवि ने कण्व ऋषि के आश्रम में शकुंतला और दुष्यन्त के प्रथम दर्शन का वर्णन करते हुए दोनों के मन में पूर्व-राग का उदय दिखाया है। 'पत्र' शीर्षक के अन्तर्गत शकुंतला के पूर्व-राग का वर्णन करते हुए उसके प्रेम-पत्र का वर्णन किया गया है। साथ ही दुष्यन्त तथा शकुंतला के विदा के अवसर के मार्मिक संवादों की भी योजना की है। 'अभिशाप' प्रसंग में कवि ने दुष्यन्त के ध्यान में मग्न शकुंतला को दुर्वासा द्वारा शाप दिये जाने का वर्णन किया है। 'विदा' प्रसंग में कण्व द्वारा शकुंतला की विदा का करुण वर्णन है। इसमें कवि ने कण्व द्वारा सुगृहिणी के शील और सदाचार का उपदेश शकुंतला को दिलवाया है। 'त्याग' प्रसंग में कवि ने दुष्यन्त द्वारा शकुंतला का त्याग करवाया है। दुष्यन्त शाप-वश शकुंतला को विस्मृत ही नहीं परित्यक्त भी कर देते हैं। यह प्रसंग अत्यन्त करुण हो उठा है। 'स्मृति' प्रसंग में दुष्यन्त को मुद्रिका प्राप्त होने पर शकुंतला का स्मरण हो आता है। वे शकुंतला के वियोग में विरह-विह्वल हो उठते हैं। पुरुष के वियोग का सुंदर वर्णन यहां हुआ है। 'कर्तव्य' खण्ड में राजकीय न्याय के प्रसंग द्वारा दुष्यन्त के पुत्रहीन गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण और उनके क्षोभ का वर्णन किया गया है। इसी अंश में दुष्यन्त के कालनेमि से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता के लिए जाने का भी वर्णन है। 'मिलन' शीर्षक के अन्तर्गत दुष्यन्त की दानव-जय, हेमकूट पर कश्यप और अदिति के आश्रम में उनके आने, सर्वदमन का सिंह के साथ क्रीड़ा करने और दुष्यन्त का शकुंतला से पुनः मिलन वर्णित है।

शकुन्तला काव्य की इस कथा का मूल स्रोत ग्रन्थ कालिदास कृतशकुन्तला है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का ऋण गुप्त जी ने कई रूपों में ग्रहण किया है। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने कालिदास के श्लोकों का अनुवाद ही करके रख दिया है। उदाहरण के लिए एक श्लोक देखिये —

> स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
>
> दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
>
> बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं,
>
> बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥[१]

---

[१] अंक १, श्लोक ३२

प्रस्तुत श्लोक का गुप्त जी ने अनुवाद ही कर दिया है —

घट-वहन से स्कन्ध नत थे और करतल-लाल,
उठ रहा था श्वास गति से वक्ष देश विशाल।
श्रवण पुष्प परिगृही था स्वेद सीकर जाल,
एक कर से थी संभाले मुक्त काले बाल ।।[1]

इस प्रकार अनेक श्लोकों के अनुवाद किए गए प्रतीत होते हैं। एक अन्य उदाहरण देखिए —

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधि वेत्सि नमामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ।।[2]

'शकुंतला' में गुप्त जी ने प्रस्तुत श्लोक का इस प्रकार अनुवाद किया है —

चिंता में जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे,
स्वामी मैं तप का, तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे।
आवेगा तब ध्यान ही न उसको, कोई कहे भी नक्यों,
पीछे पूर्व-कथा प्रमत्त जन को है याद आती न ज्यों ।।[3]

कवि ने 'स्मृति' प्रसंग में भी कालिदास के एक श्लोक का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है।

इतः प्रत्यादेशा त्स्वजन मनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठे त्युच्चैर्वदति गुरु शिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पित वती।
मयि क्रूरे यत्तत्सविष मिवशल्यं दहति माम्।[4]

---

१. शकुंतला, संस्करण सं० २०२१, दर्शन, पृ० १५
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक,४ पृ श्लोक १
३. शकुंतला, संस्क० सं० २०२१, अभिशाप, पृ० २६
४. अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक ५, श्लोक ६।

'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के इस श्लोक को कवि ने यों प्रस्तुत किया है -

रक्खा इधर प्रिया को मैंने न जब कुड़ककर,
त्यों छोड़कर चले जब मुनि-शिष्य भी घुड़ककर ।
तब दृष्टि हाय ! उसने जो अश्रुपूर्ण डाली -
वह डस रही मुझे है बनकर कराल व्याली ।[१]

दूसरे प्रकार का ऋण जो गुप्त जी ने कालिदास से लिया है वह यह है कि भाव साम्य के साथ-साथ शब्द साम्य भी उनके काव्य में दिखाई देता है । यथा -

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र [२]

गुप्त जी के काव्य में भावसाम्य के साथ साथ शब्द साम्य भी देखिये -
'मुक्त है सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार ।' ३

तीसरे प्रकार का ऋण जो गुप्त जी ने लिया है वह यह है कि 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के किन्हीं स्थलों का यद्यपि गुप्त जी ने अनुवाद नहीं किया है, परन्तु वे उसकी प्रतिध्वनि से सर्वथा मुक्त नहीं हैं । यथा -

भूत्वा चिराय सांदगन्तमहीसपत्नी,
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय ।
तत्संनिवशितधुरेण सहैव भर्त्रा
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमे स्मिन् ।।[४]

'शकुंतला' काव्य के प्रस्तुत पंक्तियाँ उपर्युक्त भाव को प्रतिध्वनित करने में पूर्णतः समर्थ हैं -

रह कर चिर दिन भूमि सपत्नी, नृप की रानी ,
रुके न जिसका मार्ग पुत्र पाकर कुलमानी ।

---

१. शकुंतला,संस्करण, संवत्, २०२१, विदा, पृ० ३४
२. अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक १, श्लोक १६
३. शकुंतला, संस्क०,सं० २०२१, दर्शन, पृ० १४
४. अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक ४, श्लोक २२
५. शकुंतला, संस्करण, संवत् २०२१, विदा, पृ० ३५

करके उसका व्याह राज्य सिंहासन देकर-
आवेगी पति संग यहां फिर तू यश लेकर ।[१]

चौथे प्रकार में युवक कवि मैथिली शरण गुप्त ने महाकवि कालिदास की चित्रण कला के गुण को आश्चर्यजनक रूप से ग्रहण किया है । तत्कालीन समय में खड़ी बोली के लिए यह नवीन प्रयास सा था ।

किन्हीं स्थलों पर गुप्त जी ने कालिदास के लम्बे-चौड़े कथन को अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित किया है । ऐसा अधिकांशतः वहीं हुआ है जहां कवि के आदर्शवाद को ठेस लगने की संभावना है । उदाहरण के लिए कालिदास ने दुष्यन्त और शकुंतला के प्रेमालाप को अत्यन्त सरसता और मनोयोग के साथ किया है । परन्तु गुप्त जी ने उसके लिए केवल इतना कहा है —

हम हैं यहां अशक्त मिलन सुख समझाने में
प्रणयिजनों के चरित्र नहीं आते गाने में ।[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी के शकुंतला काव्य का मूल स्रोत ग्रन्थ कालिदास कृत 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' ही है ।

शक्ति

'शक्ति' खण्डकाव्य में गुप्त जी ने 'दुर्गासप्तशती' के आख्यान की वर्णना की है । वह एक लघु खण्डकाव्य है तथा सर्गों आदि में भी विभक्त नहीं है । यह वास्तव में शक्ति स्तवन है । पौराणिक देव-दानव संग्राम से इसकी कथा सम्बन्धित है । प्राचीन समय में देव-समाज दैत्यों को अत्याचारों

---

१. शकुंतला, संस्करण, संवत् २०२१, चिरा, पृ० ३४
२. ,, ,, पत्र, पृ० २२

से अत्यधिक पीड़ित हो उठा । देव-समाज दैत्यों से पराजित ही होता चला गया । तब सभी देवताओं ने मिल कर विष्णु को अपनी कष्ट-कथा बतलाने का निश्चय किया । परन्तु विष्णु भगवान भी किसी प्रकार उनकी रक्षा न कर पाए । तब सभी देवताओं ने अपने सम्मिलित तेज से मातृमूर्ति का आवाहन किया । देवी का आविर्भाव हुआ । उनका स्वरूप इस प्रकार था —

" देवी में दर्शित था सबका तेज:पूर्ण प्रताप,
चरणों में विधि, हाथों में हरि, मुख में हर का आप ।
कालरूप मय था विशाल वह उनका केश कलाप ।
अंगुलि और नखों में थी वस्तु-विभाकरों की छाप ।
मां के पीन पयोधर युग थे इन्दु-सुधा-परिपूर्ण,
और अग्नि-तेजोमय उनके दृग थे विषय-विघूर्ण ।" [१]

देवों ने देवी-दुर्गा को विभिन्न शस्त्रास्त्र भी भेंट किये और महिषासुर का वध किया । महिषासुर के ऊपर देवी ने अपना महान पाश फेंका । कवि ने इसका सजीव वर्णन किया है । यथा —

" जब तक मेरा खड्ग न कर ले तेरा शोणित-पान ,
तब तक और गरज ले क्षण भर अरे अधम , अज्ञान ।"
यह कह कर फेंका देवी ने उस पर पाश महान,
बांधा उस नर-पशु को उसमें खींचा उसको तान,
तब बन गया सिंह मायावी टूट पड़ा मुंह फाड़ ,
जिसकी कड़ी बड़ी दाढ़ों से फूटें-फटें पहाड़ ।" [२]

इस प्रकार देवी ने दैत्यों पर विजय प्राप्त की और देव गण दैत्यों के अत्याचारों से मुक्त हुए । गुप्त जी ने युद्ध का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है । अन्त में विजयी इन्द्र ने यह नियम बनाया कि —

---

१. शक्ति, पृ० ६
२. ,, पृ० १५

" असुर रहें— पर अमर भूमि का अधिकारी सुरवर्ग,
मेरे बिना, जीते जी कोई पा न सकेगा स्वर्ग ।"[१]

देवगण प्रसन्न हो गये और भांति-भांति के राग-रंग करने लगे । यथा —

गाने लगे अमर-गौरव के गीत गुणी गन्धर्व,
आने लगे नित्य नव उत्सव, क्रीड़ा,कौतुक पर्व ।"[२]

इस खण्ड काव्य में युद्ध का सजीव चित्रण है और अतिमानवीय कार्यों का चित्रण मानवीय रूप में किया है । वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है । इस लघु खण्डकाव्य के आरम्भ में शक्ति और अन्त में पुरदेवी के शब्दचित्र सुंदर हैं । इसकाव्य की भाषा समासगुण प्रधान, ओजपूर्ण खड़ी बोली है । इस काव्य के द्वारा कवि ने परतंत्र भारत को आशा का संदेश दिया है । भारतीय जन-शक्ति के लिए भी यह रूपक ठीक उतरता है । कवि का कथन है —

" एक ही भ्रू-भंगिमा से, एक ही हुंकार से
दूर कर देंगी हमारे देश की सब ईतियां ।"[३]

मूल स्रोत—

`शक्ति` काव्य की कथा के मूल स्रोत मार्कण्डेय पुराण के दुर्गासप्तशती में विद्यमान हैं । कवि ने इसी के आधार पर`शक्ति` की रचना की है । मूल ग्रन्थ में यह कथा इस प्रकार वर्णित है —महिषासुर के घोर अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओं के सामूहिक तेज से एक परम तेजस्वी नारी के रूप में महामाया का प्राकट्य

---

१. शक्ति, पृ० २६
२. ,,
३. ,,

हुआ । जब उन्होंने विविध अस्त्र, शस्त्रों से सुसज्जित हो सिंह पर सवार होकर युद्ध-नाद किया तो सारा संसार कम्पित हो उठा । महिषासुर की बड़ी-बड़ी सेनायें अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित युद्धभूमि में अवतीर्ण हुईं, जिनके साथ देवी का बड़ा विकट युद्ध हुआ । अन्त में सारी असुर सेनाएं देवी के हाथों मारी गईं ।[१] अपनी विशाल सेना का संहार देख कर असुर सेनापति स्वयं युद्ध में सामने आ गए । जब वे सब भी मार डाले गए तो असुरेन्द्र महिषासुर स्वयं युद्ध में उतरा । इसकी लड़ाई बड़ी उग्र और अद्भुत थी । यह कभी महिष, कभी सिंह और कभी हाथी बनकर लड़ता था । कभी भूमि और कभी अन्तरिक्ष से लड़ता था । लड़ते-लड़ते कभी अदृश्य होकर अस्त्रों की वर्षा करने लगता था । इस भीषण युद्ध ने समस्त त्रैलोक्य को क्षुब्ध कर दिया । अन्त में वाहन को छोड़ देवी स्वयं महिषासुर के ऊपर कूद पड़ीं और उसे पैर के नीचे दबा कर तलवार से उसका सिर काट डाला । उसका वध होते ही देवताओं में हर्ष की लहर दौड़ गई और समस्त देवता प्रसन्न हो देवी की स्तुति करने लगे ।[२] मार्कण्डेय पुराण की इसी कथा के आधार पर गुप्त जी ने 'शक्ति' काव्य की रचना की है ।

इस कथा के माध्यम से कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि " व्यक्ति-व्यक्ति में शक्ति अलौकिक रहती है सर्वत्र" तथा उस शक्ति के संगठन ही से समस्त बाधाएं समाप्त हो जाती हैं, यथा - " संघ-शक्ति ही कलि दैत्यों का मेटेगी आतंक ।"

<u>द्वापर</u> --

सं० १९९३ में 'द्वापर' का प्रकाशन हुआ । द्वापर काव्य रचना विधान की दृष्टि से किस कोटि का काव्य है, यह विवाद-ग्रस्त है । 'यशोधरा' की भांति द्वापर भी एक नवीन शैली में रचा गया है । 'द्वापर' में द्वापर युग के प्रमुख पात्र --कृष्ण, राधा, उद्धव,गोपी,सुदामा आदि के आत्मकथनों द्वारा

---

१. मार्कण्डेय पुराण, अ० ८२

२. ,, अ० ८३

उनकी मन:स्थितियों का चित्रण किया गया है। कवि अपनी ओर से कोई कथा नहीं कहता, वरन् विभिन्न पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा ही कथा का आभास मिल जाता है। यही कारण है कि इस काव्य में कथा की कोई स्पष्ट धारा प्रवाहित होती नहीं दिखाई देती। इस काव्य में पात्रों के कथनों द्वारा तत्कालीन युग की राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक पात्र श्रीकृष्ण के विषय में भी अपने भाव व्यक्त करता है। इस काव्य के द्वारा हम उस युग में सांस लेने वाले पात्रों के हृदय की धड़कनों को तो सुन सकते हैं, परन्तु उनके द्वारा होने वाले बाह्य क्रिया कलापों को नहीं देख सकते। यह दिखाना कवि का अभीष्ट भी नहीं था। यद्यपि गुप्त जी मुख्यतया कथाकार कवि हैं, परन्तु 'द्वापर' में उन्होंने कथा कहने के मोह का संवरण किया है। आज के बौद्धिक युग की विशेषता भी यही है कि पाठक स्थूल घटनाओं को देखने के बदले, वह उन घटनाओं के प्रति किए गए बौद्धिक विश्लेषण और निष्कर्ष को देखना चाहता है। 'द्वापर' में यत्र-तत्र घटनाओं के संकेत भी मिल जाते हैं।

'द्वापर' में प्रत्येक पात्र या तो अपने भीतर चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को वाणी देते हैं या युग की किसी समस्या या किसी घटना पर अपनी विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम कृष्ण काव्य-मंच पर आते हैं और एक ही छंद में यह विचार व्यक्त करते हैं कि पापी से पापी भी यदि मेरी शरण में आ जायगा तो उसका उद्धार हो जायगा। वे अपने पांचजन्य को विश्राम लेने के लिए कहते हैं और वंशी के स्वर में अपने प्रेम राग को फूंकना चाहते हैं। कृष्ण के बाद राधा आती हैं और पांच छन्दों में श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अगाध अनुरक्ति व्यक्त करती हैं। वे स्वयं को श्रीकृष्ण की शरण में अर्पित कर देती हैं और यह कामना करती हैं कि प्रियतम की गोद में ही उनका शरीर सदैव बना रहे। राधा के बाद यशोदा आती हैं। वे इस गौरव से सदैव अभिभूत रहती हैं कि वे श्रीकृष्ण की माता हैं वे ईश्वर के प्रति यह आभार प्रकट करती हैं कि उन्होंने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। वे सन्तुष्ट हैं, क्योंकि उन्हें नन्द जैसे उदार और प्रेमी पति मिले हैं, साथ ही कृष्ण जैसा सर्वगुण सम्पन्न और अवतारी सा पुत्र मिला है। वे कृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं

का भी स्मरण करती हैं और पुलकित होती है। वे अपने परिवार की सम्पन्नता के विषय में भी सोचती हैं। उनके पास दूध की धारा बहाने वाली अनेक गाय हैं। उनका घर धन-धान्य से पूर्ण है और व्रजप्रदेश में एक प्रतिष्ठित घराना है।

गुप्त जी ने यशोदा के बाद विधृता को 'द्वापर' के काव्यमंच पर प्रस्तुत किया है। कवि ने पहली बार विधृता नाम से मूक नारी को वाणी प्रदान किया है जो अपने पति का लांछन न सह सकने के कारण प्राण त्याग कर गई थी। विधृता उसका नाम नहीं है, वरन् श्रीमद्भागवत की उस नामहीन नारी को गुप्त जी ने इस नाम से पुकारा है। विधृता के पश्चात् कवि ने बल-राम के भावोद्गारों को प्रकट करवाया है। वे अपने वक्तव्य में कंस के अत्या-चारों का विरोध करते हैं और ग्वाल-बालों में संगठन की भावना को दृढ़ करना चाहते हैं। उनके क्रान्तिदर्शी विचार व्यक्त हुए हैं। इसके बाद ग्वाल-बाल अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं। वे 'गिरिधर' और विपत्तियों से उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण का जय-जयकार करते हैं। इसके बाद नारद का काव्य-मंच पर आगमन होता है। वे श्रीकृष्ण के अवतार का कारण बताते हैं। नारद 'द्वापर' में प्रगतिवादी विचारों से युक्त हैं।

गुप्त जी इसके पश्चात् देवकी को पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। देवकी कृष्ण-कथा की एक प्रमुख पात्र है परन्तु उनकी भावनाओं को वाणी किसी कवि ने नहीं दी। गुप्त जी ने की अन्य उपेक्षिता नारियों के स समान देवकी को भी प्रथम बार वाणी प्रदान की और उसकी मनोभावनाओं को पाठकों के सामने उपस्थित किया। देवकी कंस के कारावास में पड़ी अपनी व दुर्दशा का वर्णन करती है और अपने भाई कंस को उसके अत्याचारों के कारण धिक्कारती है। वह अपने पति वसुदेव को भी उनकी कायरता के कारण धिक्कारती है। देवकी अपने पुत्र कृष्ण की स्मृति में व्याकुल होती है और यह इच्छा करती है कि वे ही उसे इस कठोर कारावास से मुक्ति दिलायेंगे।

'द्वापर' में ही पहली बार उग्रसेन का भी मौन भंग होता है। वे एक प्रौढ़ पिता की भाँति यह सोचते हैं कि यदि कंस ने उन्हें गद्दी पर से उतारा

तो उनकी भी गलती थी । अपनी वृद्धावस्था को समझ कर उन्हें स्वयं कंस को गद्दी दे देनी चाहिए थी और स्वयं को वन में चले जाना चाहिए था । वे कंस की क्रूरताओं पर क्षोभ भी प्रकट करते हैं और चेतावनी देते हैं कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए नहीं तो उसका नाश अवश्यम्भावी है । इसके बाद कंस का वक्तव्य होता है । वह स्वयं को सर्वशक्तिमान समझता है और यहां तक कि स्वयं को भगवान ही समझने लगता है । वह शक्ति के सिद्धान्त को ही ठीक समझता है ।

कंस के बाद अक्रूर की मनोभावनाओं का चित्रण हुआ है । ये कंस की आज्ञानुसार वृन्दावन में कृष्ण को लेने गए थे । अक्रूर के बाद नंद का वक्तव्य है । वे अपने पुत्र कन्हैया को मथुरा पहुंचाने गए थे । उन्हें फिर मथुरा से अकेले ही व्रज आना पड़ा था । पुत्र के वियोग में उनका हृदय तड़प उठा । उनके वक्तव्य में वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है । नंद के पश्चात् कु कुब्जा आती है । कुब्जा ने ही मथुरा में श्रीकृष्ण का सबसे पहले स्वागत किया था । श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उसके कूबड़ को ठीक कर दिया था और उसे सुंदरी बना दिया था । कुब्जा कृष्ण के यौवन और सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उनके प्रति अपनी आसक्ति का वर्णन करती है । यद्यपि वह कंस की दासी है परन्तु कंस की चिंता न करके वह श्रीकृष्ण को अपनाती है । श्रीकृष्ण भी उसके प्रति प्रेम प्रकट करते हैं और कृष्ण के जाने पर वह उनके वियोग में आंसू बहाती है ।

कुब्जा के बाद उद्धव आते हैं । वे पहले तो माता यशोदा को सान्त्वना देते हैं और फिर वे गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं । तत्पश्चात् गोपियाँ आती हैं और वे उद्धव के निर्गुण ब्रह्म का खण्डन करती हैं । गोपियां उद्धव के ज्ञान की हंसी उड़ाती हैं और अपने साकार ईश्वरस्वरूप श्रीकृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन करती हैं । वे श्रीकृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं का तन्मय होकर वर्णन करती हैं तथा श्रीकृष्ण के वियोग में अपनी दैन्यावस्था का वर्णन भी करती हैं । 'द्वापर' का यह अंश भ्रमर-गीत काव्य परम्परा की एक कड़ी के समान प्रतीत होता है ।

'द्वापर' के पहले तीन संस्करणों में अन्त में 'सुदामा' वाला अंश नहीं था, किन्तु चौथे संस्करण में इसे जोड़ दिया गया है। गुप्त जी ने द्वापर की चतुर्थावृत्ति की भूमिका में लिखा है — "द्वापर' का आरम्भ 'सुदामा' को लेकर हुआ था। परन्तु पुस्तक में उसे इस कारण नहीं दिया गया था कि लिखते लिखते उसे तीन खण्डों में समाप्त करने का विचार किया गया था। पहला खण्ड 'गोपाल' दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणों से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बड़ी आशा नहीं। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त में वह आरम्भ का अंश भी जोड़ दिया गया है।" 'द्वापर' में सुदामा धनियों पर व्यंग करते दिखाई देते हैं। वे सोचते हैं कि धन प्राप्त करके सबको अहंकार हो जाता है। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी ऐसी ही धारणा है। परन्तु फिर भी अपने बालसखा श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम कम नहीं होता। वे अपनी पत्नी की धन लिप्सा के सम्बन्ध में सोचते हैं और उनके उद्गारों से पता चलता है कि वे एक सच्चे ब्राह्मण की भांति दुखी-सुखी में ही संतुष्ट हैं। सुदामा को धन-लालसा नहीं है।

इस प्रकार 'द्वापर' में कवि स्वयं कथा नहीं कहता वरन कृष्ण-कथा के अंश विविध-पात्रों के वक्तव्य से व्यक्त होते हैं। 'द्वापर' को 'आत्माभि-व्यंजक काव्य' कहा जा सकता है। 'द्वापर' आवेशमयी रचना है। इतना आवेश कवि की अन्य किसी भी कृति में व्यक्त नहीं होता। कवि ने इसका कारण बताया है कि जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही।"[१]

'द्वापर' की कथा का आधार आर्ष ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। परन्तु कवि के रचना-कौशल एवं नूतन प्रतिपादन शैली ने चिरपरिचित कथानक को पर्याप्त सरस एवं रोचक बना दिया है। इसकी मौलिकता में भी कोई संदेह नहीं है। क्योंकि कवि ने इसमें दो-तीन स्थलों पर मौलिक उद्भावनाएं

---

१. द्वापर, निवेदन।

की हैं । 'द्वापर' काव्य में 'विधृता' की सृष्टि कवि ने यद्यपि श्रीमद्भागवत के आधार पर की है परन्तु श्रीमद्भागवत में जिस नारी का वर्णन केवल एक श्लोक में चलता कर दिया गया है उसे 'द्वापर' में पहली बार अपनी पीड़ा को व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हुआ है । 'विधृता' की नारी ने नरकृत अत्याचारों का विरोध किया है और उन पर क्षोभ प्रकट किया है । श्रीमद्भागवत में 'विधृता' की कथा इस प्रकार वर्णित है --एक बार श्रीकृष्ण बलराम तथा ग्वाल-बालों के साथ वन में गायें चरा रहे थे । श्रीकृष्ण ने ग्वाल बालों के साथ वन में गायें चराते समय एक बार ब्राह्मणों के पास भोजन के लिए भेजा । ब्राह्मण उस समय वन में यज्ञ कर रहे थे । ब्राह्मणों ने इन ग्वाल-बालों को भोजन देने से मना कर दिया । तब श्रीकृष्ण ने ग्वाल-बालों को भोजन लाने के लिए ब्राह्मण की पत्नियों के पास भेजा । ब्राह्मणों की पत्नियों ने बड़ी प्रसन्नता से घर वालों के रोकने पर भी चारों प्रकार का भोजन लेकर श्रीकृष्ण के पास गईं । श्रीकृष्ण ने उनकी भक्ति देखकर प्रसन्नता पूर्वक कहा कि अब तुम लोग मेरा दर्शन कर चुकीं, अब अपनी यज्ञ-शाला में लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं । वे तुम्हारे साथ मिल कर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ।' ब्राह्मण पत्नियाँ लौट आईं और श्रीकृष्ण की कृपा से सब ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी पत्नी को स्वीकार कर लिया ।[१]

उन स्त्रियों में से एक को आने के समय ही उसके पति ने बलपूर्वक रोक लिया था । उस पर उस ब्राह्मण पत्नी ने भगवान के वैसे ही स्वरूप का ध्यान किया, जैसा कि बहुत दिनों से सुन रखा था । जब उसका ध्यान जम गया तब मन ही मन-भगवान का आलिंगन करके उसने कर्म के द्वारा बने हुए अपने शरीर को छोड़ दिया ।[२] यही ब्राह्मण पत्नी 'द्वापर' की 'विधृता' है । श्रीमद्भागवत पुराण में विधृता उसका नाम नहीं है वरन उस स्त्री को बलपूर्वक पकड़ कर रोक लिया गया था अत: उसे 'विधृता' कहा गया । 'विधृता' का

---

१. श्रीमद्भागवत- दशम स्कंध, पूर्वार्ध, अ० २३, श्लोक १-३३

२. तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ।। ३४ ।।

अर्थ भी है --' पकड़ कर रोक ली गई ।' इस नारी ने श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त कर सकने तथा पति के अपने प्रति तीव्र अविश्वास के कारण दुखी होकर अपना शरीर छोड़ दिया । श्रीमद्भागवत की इस नामहीन नारी का गुप्त जी ने 'विधृता' नाम रखा है । 'द्वापर' में 'विधृता' की नारी पुरुष द्वारा किए गए अत्याचार का विरोध करती है । यथा --

" हाय ! वधू ने क्या वर विषयक
एक वासना पाई ।
नहीं और कोई क्या उसका,
पिता पुत्र या भाई ?
अविश्वास हा ! अविश्वास ही ,
नारी के प्रति नर का ,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का ।"[१]

यही नहीं, गुप्त जी नारी की महत्ता नर से अधिक मानते हैं --

" उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय ! तुम्हीं से नारी ।"[२]

< <

" एक नहीं दो दो मात्राएं ,
नर से भारी नारी ।"[३]

विधृता की नारी अपने अधिकारों की मांग करती है --

'कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या ,
अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?"[४]

---

१. द्वापर- विधृता ।
२. ,,
३. ,,
४. ,,

गुप्त जी नारी को बिल्कुल विद्रोही बनाने के भी पक्ष में नहीं हैं। अन्त में उनकी नारी अपने लिए यही समाधान ढूंढ़ती है —

" मर तो सकती है अभागिनी,
कर न सके कुछ नारी।" [१]

× ×

" जाती हूं, जाती हूं अब मैं,
और नहीं रुक सकती,
इस अन्याय-समक्ष, मरूं मैं,
कभी नहीं झुक सकती।
किन्तु आर्य-नारी, तेरा है
केवल एक ठिकाना,
चल तू वहीं, जहां जाकर फिर
नहीं लौट कर आना।" [२]

कृष्ण-काव्य में श्रीकृष्ण की माता यशोदा को तो वाणी प्रदान की गई है परन्तु देवकी के मनोभावों का प्रकाशन कहीं भी नहीं हुआ है। गुप्त जी ने संभवत: पहली बार देवकी के मौन को भंग कर उसकी मनोभावनाओं को व्यक्त किया है। 'द्वापर' में देवकी को अपने हृदय को हल्का करने का प्रथम बार अवसर प्राप्त हुआ है। देवकी कंस के कारावास में पड़ी अपनी दुर्दशा का वर्णन करती है। वह कंस को उसके अत्याचारों के कारण धिक्कारती है। वह अपने पति वसुदेव को भी उनकी कायरता के कारण धिक्कारती है। वह अपने पुत्र कन्हैया के प्रति वात्सल्य को व्यक्त करती है —

" अरे, देख तू यहां रही यह,
तेरी दुखिया मैया,
बोल कहां तू कुंवर कन्हैया,
मेरे राजा भैया।

---

१. द्वापर, विधृता
२

सुनूं तनिक मैं भी वह मुरली,
देखूं, दोहन तेरा,
रहे न मुझको शंखनाद ही मेरे
मेरे मोहन, तेरा। [१]

वह अपने पुत्र कृष्ण के द्वारा ही मुक्ति-प्राप्ति की आशा करती है —

" नाथ, उसी की बात करो,
सुनूं तनिक मैं मन से,
वही मुक्ति देगा बस हमको
इस दारुण-बंधन से।
अब अपमान छूटने में भी
क्रूर कंस के द्वारा,
मेरा लाल छुड़ा न सके तो
भली मुझे चिरकारा!" [२]

कंस के पिता उग्रसेन भी पहली बार 'द्वापर' में अपना मुख खोलते हैं।

'उद्धव' और 'गोपी' शीर्षक के अन्तर्गत निर्गुण ज्ञान का गोपियों द्वारा खंडन वर्णित है। यह अंश श्रीमद्भागवत पुराण[३] के भ्रमर-गीत प्रसंग पर आधारित है।

---

१. द्वापर - देवकी
२. द्वापर - देवकी
३. श्रीमद्भागवत- दशम स्कंध पूर्वार्ध, अ० ४७

अर्जन और विसर्जन

इस काव्य में मुहम्मद साहब और इमाम हुसैन के पश्चात् का वृत्तान्त दिया गया है। यह काव्य ग्रन्थ दो भागों में है -- एक 'अर्जन' और दूसरा 'विसर्जन'। 'अर्जन' में सीरिया के सातवीं शताब्दी की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है और 'विसर्जन' में उत्तरी अफ्रीका के सातवीं शताब्दी के इतिहास की घटनाओं का वर्णन है।' अर्जन' में कवि ने इस्लाम के प्रचार का वर्णन करते हुए धर्म परिवर्तन की कथा को प्रेम-कथा के साथ जोड़ दिया है। इसकी नायिका इउडोसिया एक धर्म-परायणा, देश भक्त और अनन्य प्रेममयी नारी थी। अपने प्रेमी जोनस के विधर्मी और देशद्रोही हो जाने पर वह अपने हाथ से अपनी छाती में छुरी भोंक कर आत्महत्या कर लेती है --

विस्मित हो देखा सब लोगों ने, तुरंत ही
जोनस के आगे वह पक्षिणी-सी आ पड़ी -
अपने करों से छुरी भोंक आप छाती में।
चिल्ला उठा जोनस-" हा मेरी इउडोसिया।"
आहत अचेत-सा अभागा गिरा आप भी। [१]

कवि ने 'विसर्जन' में उत्तरी अफ्रीका पर अरबों द्वारा किये गये आक्रमण का वर्णन किया है। इस युद्ध में अरबों की हार हुई। मूर-जनों की रानी काहिना इतने से प्रसन्न न हुई --

वह थी मूर जनों की महिषी,
कथित काहिना जिसका नाम,
महा की रानी अफ्रीका का
उत्तरांग था उसका धाम
मूर शूर, बर्बर वीरों से
भी अरब भट जब कट हार,
प्रकट हो गया तब उनपर भी-
युद्ध बर्बरों का व्यापार।

१। विसर्जन, अर्जन, पृ० १८

वीरों ने विजयोत्सव ठाना
ध्वजा उड़ाकर, तोरण तान

x x

पर मुख चन्द्र मूर मानिनी का
था अब भी गम्भीर उदास ।"[1]

क्योंकि उसे यह भय था कि अरब वाले पुन: आक्रमण करेंगे । अत: उसने ट्रिनियार से ट्रिपली तक के देश को नष्ट-भ्रष्ट करवा दिया । मूर-रानी कहती है –

ढा दो अपने गृह-निवास सब,
ढा दो मेरे पुर-प्रासाद ,
जब आवें, पावें परिपन्थी
तप वर्षा-हिम का ही स्वाद ।
हलके होकर सब बोझों से
विचरो तुम स्वच्छन्द यथेच्छ ,
काटो वृक्ष, उखाड़ो बेलें ,
पा न सकें पत्र भी म्लेच्छ ।
मिट्टी का धन मिट्टी में ही
भर दो, धर दो गहरा गाड़ ,
आकर धृष्ट धूलि ही चाटें,
कर दो सारा देश उजाड़ ।[2]

<u>कर्बला</u>

गुप्त जी द्वारा रचित 'काबा और कर्बला' काव्य है जिसका 'कर्बला ' भाग एक स्वतंत्र खण्डकाव्य है । यह काव्य मुस्लिम इतिहास से संबद्ध है । इस काव्य में कवि ने सत्पक्ष के पराभव का वर्णन किया है । काव्य-शिल्प

---

१. अर्जन और विसर्जन, विसर्जन, पृ० २०,२१
२ ,, ,, पृ० २६

तथा शैली की दृष्टि से इसकाव्य में कोई विशेषता नहीं है। परन्तु इस काव्य के द्वारा कवि की उदार धार्मिकता और विशाल सहृदयता व्यक्त हुई है।

इसकी कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है। इसके चरित्र नायक मुहम्मद साहब के नाती इमाम हुसैन हैं। इमाम हुसैन ने अपने धर्म की निष्ठा के लिए अपनी और अपने परिजनों तथा अपने अनुयायियों की आत्माहुति दे दी है। अपनी धर्मनिष्ठा के लिए उन्होंने घोर कष्ट सहा है। यजीद, जो कि शैतान का प्रतीक माना गया है, उसने इन्हें प्यास से तड़पा-तड़पा कर मरने के लिए बाध्य कर दिया है। कर्बला के नरमेध में आर्यों का त्याग भी महत्वपूर्ण है। इसकाव्य में आर्य हिन्दू पुरस्कृत हुए हैं।

इस काव्य का उद्देश्य स्वयं कवि के शब्दों में इस प्रकार है — "अपने देश में आंतरिक सुख-शांति के लिए हमको हिलमिल कर ही रहना होगा।... हमें एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा, एक दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा। हमारी मैत्री भावना प्रेम एवं परधर्म:पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है।"[१] इस खण्डकाव्य में रस परिपाक प्राय: नहीं हो सका है। परन्तु इसकी कथा में प्रेम, वात्सल्य, उत्साह, त्याग, स्वाभिमान एवं स्वामिभक्ति आदि भावों का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। कर्बला के इमाम हुसैन एक महापुरुष हैं। उन्होंने मानवता का आदर्श उपस्थित किया है। गुप्त जी ने हुसैन के चरित्र का बड़ा सजीव और करुणापूर्ण चित्रण किया है। इमाम हुसैन के चरित्र के द्वारा कवि ने यह सिद्ध कर दिया है कि संघर्ष में ही व्यक्ति अपनी महानता को उत्पन्न कर सकता है।

२२ अप्रैल १९४१ को श्री एमरी ने कामन सभा के सामने अपने भाषण में इस बात पर बल दिया था कि भारत के राजनीतिक दलों को आपस में समझौता कर लेना चाहिए। गांधी जी ने इसका उत्तर देते हुए कहा," आखिर

---

१. कर्बला, आवेदन, पृ० ५

गौर की माता शची जब गंगा स्नान को जाती थीं तब नित्य बालिका विष्णुप्रिया उनके चरणों में प्रणाम करती थी। उसकी सखी विनोद करते हुए गौर को विष्णुप्रिया के पति होने योग्य कह देती है। रोहिणी संकुचित हो जाती। वह कहती है —

" रह रह री, क्या कहती है ! हाय यह तू ?
दर्शन तो सब करते हैं द्विजराज के ,
किन्तु कौन है जो उन्हें धरने की सोचेगा ?

< <

कुछ भी न कह तू, कहां वे और मैं कहां ?
सागर समेटने चलेगी कौन पोखरी ?"[१]

परन्तु विष्णुप्रिया के हृदय में पूर्वराग का उदय हो जाता है। पूर्वराग के साथ-साथ श्रद्धा का भाव भी सन्निहित है। वह प्रेम-विभोर होकर कहती है

" मेरे भगवान सबके हों, मैं उन्हीं की हूं।"[२]

धीरे धीरे यह प्रेम बढ़ता ही गया और अन्त में गौर के साथ विष्णुप्रिया का विवाह संपन्न हो गया। गौर का एक धनी सेवक था, उसने गौर के विवाह का भार उठाया और धूमधाम से विवाह हो गया। गौर विपन्न थे और बाबा जी के रूप में रहते थे। घर में प्रवेश करते ही सहसा ठोकर खाकर विष्णुप्रिया गिर पड़ी और के अंगूठे में चोट लग गई औ रक्त प्रवाहित हो गया। परन्तु वह बहुत सहनशीला थी" घूंघट में ओंठ चापे, आह न की उसने।" गौर ने अपने अंगूठे से पत्नी का अंगूठा दबा दिया जिससे रक्त रुका किन्तु बढ़ी दूनी अनुरक्तता।" विष्णुप्रिया त्याग को ही वधू का आदर्श मानती है। यथा —

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० १५
२. ,, पृ० १५

" देखो, क्या दो बूंद रक्त पर तू इस भांति बिकी ?
देने को प्रस्तुत हूं मैं तो अपना जीवन वार ,
वार दिया, पहले ही मैंने तुझ पर सब घर बार ।"[१]

कुछ समय उपरांत ही गौर पिता का गया-श्राद्ध करने के निमित्त प्रस्थान हुआ । वे माता से आज्ञा लेकर पत्नी से आज्ञा लेने आए — "मां ने दी प्रिये, दो मुझे आज्ञा अब तुम भी ।" विष्णुप्रिया विदा के समय पति के पैरों पड़ती है परन्तु "पैरों पड़े , हाथों पर ले ली गई अंक में ।" विष्णुप्रिया का प्रेम त्यागनिष्ठ है । वह गौर के महत्त्व के सामने स्वयं को तुच्छ समझती है । वह अपनी सखी से कहती है —

"लगता है, पाया अनायास मैंने इतना,
जिसका सहेजना भी बन नहीं पड़ता !
मूल्य भर सकने की बात भला क्या कहूं,
उसकी निछावर के योग्य भी कहां हूं मैं ?[२]

गौर की भक्ति-तन्मयता को देख-देख कर विष्णुप्रिया का मन शंकित हो उठता है । यथा :—

" राम जाने, कैसा परिणाम होगा अन्त में ।
मेरा मन कांप उठता है बीच बीच में ।"[३]

उस प्रकार की शंका संभवत: भावी का संकेत है । उसके पति वियोग में कवि ने करुण गीत की सृष्टि की है । वह प्रवत्स्यपतिका के रूप में पति की प्रतीक्षा में रत है — यथा :—

" अब तक लौटे नहीं प्रवासी ।
देखा करती है ऊपर चढ़ दूर दूर तक दासी ।"[४]

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० २०
२. ,, पृ० २३
३. ,, पृ० २३

एक दिन पुण्य कार्य पूरा कर गौर घर वापस आ गये। विष्णुपद दर्शन से वे गद्गद् हो गये हैं। विष्णुप्रिया के प्रति वे श्रद्धालु हैं, उन्हें इस यात्रा में जो कुछ भी मिला उसका श्रेय वे विष्णुप्रिया को ही देना चाहते हैं।

धीरे धीरे गौर की भक्तिभावना विकसित और पुष्ट होती गई। पारंगत पण्डित लोग जिनकी अद्भुत और अलौकिक शक्ति थी, वे सभी गौर की मंडली में आ-आ कर सम्मिलित होने लगे। नित्यानन्द नाम के एक अवधूत आए। उन्हें अग्रज के समान गौर ने अपनाया। उन्होंने हिन्दू मुसलमान का कोई भेद नहीं माना और जो भी उनकी मण्डली में आया उसको को उन्होंने सहर्ष अपनाया। गौर का प्रताप चारों ओर फैलने लगा। 'सुनते हो, गौर नर ईश्वर बना यहाँ' यही चर्चा चारों ओर होने लगी। अद्वैत, श्रीवास आदि अनेक भक्त उनके अनुयायी हुए। गौर ने परकीया भाव से कृष्णोपासना करने की पद्धति बताई। उन्होंने कहा 'एक हरिनाम ही सहारा कलिकाल में।' वे राधा कृष्ण में तन्मय हो गये और आध्यात्मिक जगत के जीव बन गये। यथा —

> ' बहती सदैव रही अश्रुधारा उनकी,
> कभी कृष्ण-योग कभी राधिका-वियोग में।
> कीर्तन में मग्न हुए नाचते ही नाचते
> होकर अचेत प्राय: गिर पड़ते थे वे।'[१]

उन्हें संभालने का भार नित्यानन्द पर था, माँ चिंतित होती थीं और विष्णुप्रिया उनकी चोट सहती थी।

गौर ने गृह-त्याग का निश्चय किया और माता से, बोले— 'अग्रज का अनुग बनूँ मैं, अम्ब, आज्ञा दो।' माता सन्न रह गईं उसने गौर को समझाने की चेष्टा की कि वह गृहत्याग न करे। परन्तु गौर का प्राणवायु तो उस काले ने ही खींच लिया था, अत: वह माता उसे आज्ञा दे देती है —

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ३४

" लाल मेरे, मेरे लाल, जी तू जहां जी सके।
अपना ही कर। मैं अभागिनी मनाती हूं।"[१]

जब विष्णुप्रिया ने एकाएक इस समाचार को सुना तो " रोई वह किन्तु बोल पाई नहीं कुछ भी, आंसू बह निकले, बचन नहीं निकले।" परन्तु फिर गौर के प्रबोधने पर वह यही कह पाई " मेरे प्राण मांग लो, प्रयाण ही न मांगो यों।" विष्णुप्रिया के व्यथित होने पर गौर उसे सजा संवार कर, प्रेमाभिव्यक्ति के द्वारा प्रसन्न करते हैं। विष्णुप्रिया प्रसन्न होकर एक लम्बी सांस लेकर कहती है -

" धृष्टता की मैंने, इसे कृपया क्षमा करो।
ये भाग्य मुझमें मुंदें तो खुलें सके।"[२]

रात्रि में गौर विष्णुप्रिया को सोता हुआ छोड़ कर चले गये। प्रिय के विदा न लेने के कारण विष्णुप्रिया की वेदना इस प्रकार मुखरित होती है -" हाय! मैं छली गई हूं, छिपकर भागे वे।" वह कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर अपनी सास को प्रबोधती है - कुशल मनो अम्ब, मेरे नाथ उनकी"। पुत्र-वत्सला मां का वात्सल्य चीख उठा -" कुछ दिन और रुक जाता वह हाय! तो प्रलय न हो जाता।" उसे अब यही अफसोस है कि बहू की गोद नहीं भर पाई। विष्णुप्रिया भी सोचती है कि -" भरी गोद ही होती मेरी तो रीते दिन सह लेती मैं।" नित्यानन्द उन्हें आश्वासन देते हैं कि वे गौर से सास-बहू की एक बार भेंट अवश्य करा देंगे। समाज के इस आरोप पर कि नर नारी पर अत्याचार करता है, विष्णु विरोध करती है।

वह सास की सेवा में अनुरक्त है। उसी ने गौर से भेंट करने के लिए नित्यानन्द के साथ अपनी सास को भेजा। उसे दु:ख है कि वह अपने पति को संभाल कर भी नहीं रख पाई। गौर सन्यासी हो गये और शची उन्हें उस वेश में देख कर रोती चली आई। ऐसे मिलन में भी उन्हें क्लेश ही हुआ। सास

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ४०
२. ,, पृ० ४६

की सेवा छोड़ कर वह अपने पितृगृह भी नहीं जाती। उसकी व्यथित अवस्था को देख कर शची भी शोकातुर हो उठती हैं। विष्णुप्रिया आत्म-हत्या को निकृष्ट समझ कर कर्तव्य में लीन रहती है। वह सूत कात कर अन्न लाज रखना चाहती है। वह अपने करुण जीवन में भी सक्रिय रहती थी। रात्रि तक अवकाश न लेती, कार्यों में स्वयं को उलझाए रहती थी।

उसके शोक में धीरे धीरे गंभीरता आने लगी। गौर ने अपना सन्यास-दंड तोड़ कर फेंक दिया और राजा की वस्त्र-भेंट विष्णुप्रिया के पास भेजी। शची ने उससे आग्रह भी किया कि वह एक बार उसे धारण कर ले। परन्तु विष्णुप्रिया ने कहा' उपहास मात्र होगा यह अपना।' वह गौर के 'हरिबोल' मंत्र को अधूरा समझती है। यथा –

" उनका यह कीर्तन है आधा,
उसके साथ नहीं यदि राधा।"[१]

एक रात्रि विष्णुप्रिया अपने पति को स्वप्न में देखती है। वह गौर को प्रबुद्ध करती है और गौर उससे कहते हैं – तुम अवरोधिनी थीं, अब हो प्रबोधिनी, आशा यही तुमसे थी।'[२] स्वप्न के अन्तर्गत गौर की अतिमानवीय शक्ति को भी दिखाया गया है।

दु:ख के समय भी जब पर्वोत्सवों का समय आता और सब घरों में उत्सव मनाया जाता तब शची सोचती' हर्ष से हमें क्या, दिया विधि ने विषाद है।' परन्तु विष्णुप्रिया में सामाजिक चेतना विद्यमान है। वह कहती है –

" चार भले मानुसों में रहना है हमको,
रोक निज दु:ख हम मानें सुख सबका।
मंगल मनावें न मनावें हम निज के,
रोकर न नष्ट करें गान प्रतिवेशी का।"[३]

---

१. विष्णु प्रिया, पृ० ८०
२. ,, पृ० ८४

वह षट्ऋतुओं के वर्णन द्वारा पर्वोत्सवों के बार-बार आते रहने का विवरण देती है। इसके द्वारा कवि ने विष्णुप्रिया की उत्कृष्ट विरहवेदना और सहनशीलता का चित्रण किया है।

गौर दक्षिण-यात्रा के लिए प्रस्थान कर देते हैं। इस बात की सूचना से माता शची कातर हो उठती हैं। विष्णुप्रिया उन्हें सान्त्वना देती है परन्तु स्वयं प्रिय के अनिष्ट की आशंका से दु:खी हो जाती है। और भी कठिनता से उनके दिन व्यतीत होने लगे। किन्तु फिर कई मास पश्चात यह सुसंवाद आया कि गौर दक्षिण से आ गये हैं। उनके जीवन की बहुत सी घटनाओं का उल्लेख कवि ने किया है। प्रभु ने किसी को गार्हस्थ्य-त्याग की अनुमति नहीं दी, शास्त्र के अशुद्ध पाठ को भी ठीक माना, क्योंकि —भाव के ही भूखे भगवान, नहीं भाषा के।"[1] उन्होंने कोढ़ी से भेंट की, विलासी औरवारवनिता का उद्धार किया और देवदासियों को पुण्य-मार्ग की ओर प्रवृत्त किया। इन सब घटनाओं के द्वारा विष्णुप्रिया और शची के मन पर जो प्रभाव पड़ा उसका उल्लेख कवि ने किया है। अन्त में गौर मां के पास यह संदेश भेजते हैं —

" मां तुम्हारी सेवा छोड़ धर्म भूल अपना,
सन्यासी हुआ मैं मत्त, मुझको क्षमा करो।"[2]

यह संदेश सुन कर शची और विष्णुप्रिया दोनों ही रो उठीं।

धीरे धीरे गौर समाज के प्रति करुणाकी अनुभूति करने लगे। उन्होंने नित्यानन्द को गृहस्थ बन जाने का आदेश दिया। शची को जब यह पता चला तो उसने बहू से कहा—" बीत गई तेरी बहू, हारा वह अंत में।" अपने प्रति गौर के ममत्व को देख कर वह अपने दु:ख-मूल्य की भरपाई अनुभव करती है। यथा —

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ९९
२. ,, पृ० १०७

"मेरे लिए तुम्हारे मन में कुछ भी ममता आई,
तो मैं अपने दु:ख-मूल्य की करती हूँ भर पाई।"[1]

इसी प्रकार अनेक वर्षों तक अपने आत्मबल के द्वारा वह विरह-व्यथा सहती रही। सहसा एक दिन फिर समाचार आया कि वृन्दावन जाते हुए वे यहाँ मायापुर में आ रहे हैं। वह सोचती है — "आलि, आ रहे हैं वे स्वतः, मैं अब क्या करूँ?" वह पति के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी। वह सोचती है कि पति का क्या वह समुचित समादर कर सकेगी? वह सखी से कहती है —

"राहुल की भेंट दी थी गौतम को गोपा ने,
मैं उन्हें क्या दूँगी भला?"[2]

उसकी ऐसी स्थिति है कि न तो वह मिलन का गीत ही गा सकती है और न उपालम्भ ही दे सकी है। वह अपने पति की और अपनी स्थिति समझ कर यही गा सकी —

"अचल उस प्रभु में तुम्हारी रति वही,
और तुममें अटल मेरी मति वही।
मिलें तुम्हें प्रभु, मिलो मुझे तुम, नहीं और कुछ कहना।
दूँ मैं कैसे हाय उलहना।"[3]

गौर घर पर विष्णुप्रिया से भेंट करने आए। द्वार पर ही, आगे बढ़ कर विष्णुप्रिया उनके चरणों पर गिर पड़ी। गौर ने उससे पूछा कि वह क्या चाहती है? विष्णुप्रिया यही पूछती है कि वह कैसे रहे और क्या करे? गौर ने कहा कि "करता हूँ मैं जो, वही ध्यान भगवान का।" परन्तु विष्णुप्रिया कहती है कि ध्यान भी वह भगवान का नहीं कर पाती क्योंकि ध्यान

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० १०६
२. ,, पृ० १११
३. ,, पृ० ११४

के बीच में ही उसके प्राणप्रिय आ जाते हैं। प्रभु स्वकीया भाव की इस परा-काष्ठा को देख कर निरुत्तर हो गये और अपना सिर नीचा कर लिया। और विष्णुप्रिया के सम्मान में वे अपनी खड़ाऊं छोड़ कर खड़े हो गये। विष्णुप्रिया ने पति की खड़ाऊं को लेकर सिर से लगा लिया। गौर ने पूछा — " काठ के ये टुकड़े तुम्हारे किस काम के ?" तो विष्णुप्रिया ने कहा —

" तारक, तुम्हारे पद-चिह्न बने इनमें,
पोत बन पार कर देंगे यही मुझको।"[1]

विष्णुप्रिया के सामने समस्या यह है कि -" नाथ, तुम्हारी जूठन-सी मैं किस ईश्वर को अर्पित होऊं ?" उसका लौकिक प्रेम ही आध्यात्मिक बना हुआ है।

गौर द्वारा उनकी वृन्दावन यात्रा का वर्णन शची और विष्णुप्रिया सुनती हैं। तत्पश्चात् शची गंगालाभ करने को तत्पर होती हैं। उनकी यही कामना है कि अगले जन्म में भी उन्हें विष्णुप्रिया जैसी ही बहू मिले। पुत्र भी गौर जैसा ही मिले, परन्तु वह विरक्त न हो। सास के न रहने पर विष्णुप्रिया स्वयं को समस्त कर्तव्य-बंधनों से मुक्त समझती है। वह सोचती है कि उसे अब" मरने का अवकाश " है।

विष्णुप्रिया काव्य के अन्त में परिशिष्ट अंश काव्य का उपसंहार है। एक दिन ऐसा समाचार आया कि गौर का दिव्योन्माद बढ़ गया और वे प्रभु के लिए अधीर हो गये। प्रतिदिन वे मंदिर के भीतर नहीं जाते थे बाहर से ही दर्शन करते थे। उस दिन वे भीतर गये और प्रभु-मूर्ति में ही विलीन हो गये। उस रात विष्णुप्रिया बहुत शंकित सी थी। गौर ने स्वप्न में उससे आकर कहा कि" आयु शेष रहते मरण आत्मघात है।" उसने आदेश दिया कि यदि तुम स्थूल रूप से मुझे चाहो तो मेरी एक मूर्ति अपने कक्ष में रख लो। विष्णुप्रिया ने अपने घर में ही मंदिर बनवा लिया और चैतन्य महाप्रभु गौर की प्रतिमा उसमें स्थापित की। वह अधिकांश समय प्रतिमा के पास ही रहती थी उसने

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ११८

जाकर निकलना भी छोड़ दिया । बहुत ही. नियम और संयम से जीवन निर्वाह करने लगी ।

'यशोधरा' काव्य के समान ही 'विष्णुप्रिया' खण्डकाव्य भी नायिका प्रधान है । विष्णुप्रिया के चरित्र का विकास कवि ने पूर्वराग, विवाह, संयोग-शृंगार, वियोग, पुनर्मिलन और वैधव्य आदि दशाओं के बीच किया है । यह एक रसात्मक काव्य है । करुण विप्रलम्भ इसमें मुख्यतया है । संयोग शृंगार अत्यन्त मर्यादित और संयमित है । विष्णुप्रिया पुत्र-विहीन है, इसका उसे क्षोभ है । वह एक साध्वी स्त्री है । कवि ने उसके उदात्त और उज्ज्वल प्रेम का वर्णन किया है । उसका प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर पहुंच गया है । अपने कर्तव्यों के प्रति वह जागरूक है । और गौर, शची तथा विष्णुप्रिया के द्वारा कवि ने तप-त्याग, ममता और प्रेम का उत्कृष्ट दिया है ।

श्री श्री चैतन्य चरितामृत[१] में चैतन्यमहाप्रभु का जीवन वृत्तान्त विस्तार पूर्वक वर्णित है । प्रसंगवश स्थान स्थान पर उनकी माता शची और पत्नी विष्णुप्रिया का भी वर्णन मिलता है । श्री चैतन्य चरितामृत के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का प्रथम विवाह श्री वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ था । चैतन्य महाप्रभु जब उन्हें छोड़ कर बंगदेश में अनेक लीलाएं कर रहे थे तब नवद्वीप में प्रभु के वियोग में लक्ष्मीदेवी ने अपने प्राण त्याग दिए ।[२] कुछ समय पश्चात विष्णुप्रिया देवी के साथ महाप्रभु का दूसरा विवाह हुआ ।[३] चैतन्य महाप्रभु के शिष्य 'श्रीवास' का उल्लेख भी मिलता है ।[४]

---

१. श्री चैतन्य चरितामृत- श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी
२. श्री चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, परिच्छेद १६, १८-१६
३. ,, ,, ,, २३
४. ,, ,, ,, १७

महाप्रभु ने गोपी भाव की भक्ति की थी ।[१] उन्होंने गोपी भाव अर्थात श्री राधा भाव को ग्रहण किया था अत: वे श्री व्रजेन्द्रनंदन को ही अपना पति मानते थे ।[१]

महाप्रभु की मातृभक्ति प्रसिद्ध है । " विष्णुप्रिया " में गौर माँ के पास यह संदेश भेजते हैं --

" माँ तुम्हारी सेवा छोड़ धर्म भूल अपना,
सन्यासी हुआ मैं मद, मुझको क्षमा करो ।"[३]

श्री चैतन्य चरितामृत में भी वर्णित है कि महाप्रभु ने जगदानन्द से कहा कि तुम घर जाकर माता जी से कहना -- " आप स्मरण तो करिए, मैं नित्य आकर आपके चरणों में वंदना करता हूं । जिस दिन आपकी इच्छा मुझे भोजन कराने की होती है, उसी दिन मैं अवश्य आकर आपके पास भोजन करता हूं । मैंने आपकी सेवा छोड़कर सन्यास ले लिया है, मैं इस समय बावला बन गया और मातृ-सेवा-धर्म को छोड़ बैठा । माता ! मेरे इस अपराध को क्षमा करो । मैं आपके अधीन हूं और आपका पुत्र हूं ।[४]

महाप्रभु मातृ-भक्तिसेतो ओत-प्रोत हैं परन्तु उन्हें पत्नी का ध्यान कहीं भी नहीं आता । गुप्त जी ने इस कमी को पूरा किया है । उर्मिला और यशोधरा की पंक्ति में पति द्वारा परित्यक्ता विष्णुप्रिया को भी बैठाया है और अपनी उर्वर कल्पना द्वारा उसके मनोभावों को वाणी प्रदान की है ।

---

१. श्री चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, परिच्छेद १७, २४०-२४३
२. ,, ,, ,, १७, १७०
३. विष्णुप्रिया, पृ० १०७
४. श्री चैतन्य चरितामृत , अन्त्य लीला, १६ वां परिच्छेद, ६-१०

रत्नावली

यह काव्य-कृति गुप्त जी की अंतिम रचनाओंमें से है। कवि ने यद्यपि इसका रचना-कार्य माघ २०११ में ही आरम्भ कर दिया था, परन्तु इसकी समाप्ति २०१७ वि० में हुई।[१] इस समय कवि को वृद्धावस्था ने घेर लिया था, उन्हें उनके कवित्व की दीपशिखा लड़ती सी प्रतीत होती। कवि ने स्वयं कहा है —

" यह कृति, जिसे जरा से कम्पित
कर ने किसी प्रकार लिखा,
लड़ती-सी लगती है मुझको
'निज कवित्व' की दीप-शिखा।"[२]

गुप्त जी ने भक्त और महाकवि तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के चरित्र का उद्‌घाटन करने और उसे प्रकाश में लाने के लिए इस काव्य की सर्जना की है। गुप्त जी ने रत्नावली के व्यक्तित्व को काव्य के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। इस काव्य के पीछे कवि की, उपेक्षित नारी पात्रों के साथ न्याय करने की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कवि का कथन है —" जिसके कारण हिन्दी को तुलसीदास की प्राप्ति हुई है, उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करके मैंने एक कर्तव्य ही किया है।"[३]

'रत्नावली' के आरंभिक भाग' अवतरणिका' के अन्तर्गत संक्षेप में कवि ने रत्नावली के पितृ-गृह, उसके विवाह से पूर्व के जीवन, विवाह तथा वियोग की वर्णना की है। यह अंश कथात्मक है और स्वयं रत्नावली के मुख से ही कहलाया गया है। रत्नावली माता-पिता के स्नेह और अनुराग की छाया में ही बढ़ी हुई है। यथा —

" पुत्री मूर्तिमती चिन्ता-सी
होती है प्रति गेह की,
पर मैं पुतली थी माता के
और पिता के स्नेह की।"[४]

---

१ रत्नावली, निवेदन, पृ० ५ । २. रत्नावली, पृ० ४
३ ,, ,, पृ० ५ । ४. ,, पृ० ८

रत्नावली का तुलसीदास के साथ विवाह सम्पन्न हो गया । परन्तु उसने अपने हाथों आप अचानक अपना सब कुछ खो दिया । रत्नावली अपने पति की भावुकता को न समझ सकी और उनकी प्रताड़ना करते हुए कह गई --

" करते हो जो प्यार हाय ! इस
चार दिनों के चाम को ,
जन्म सफल कर कोई उससे
पा सकता है राम को ।
धिक् है मुझे और तुमको भी ।" [१]

इस कथन के परिणाम को देखकर वह व्याकुल हो उठी । यथा --

" मिल सकता है यहां जिसे जो
सो सब कुछ मुझको मिला,
पर यह रसना-फणिनी पाली
मां ने दूध पिला-पिला !
डंसा अनादर-विष से जिसने
अपने जीवन -नाथ को,
झटक दिया हा ! मैंने उनके
उस अपनाते हाथ को ।" [२]

'अवतारिका' अंश के पश्चात् कवि ने प्रगीतों के रूप में रत्नावली की विरहवेदना आकुलता मिश्रित व्यक्त की गई है। आरम्भ में रत्नावली की विरह-वेदना आकुलतापूर्ण है परन्तु काव्यांत तक पहुंचते पहुंचते वह गंभीर होती चली गई है । प्रारम्भ में रत्नावली इस विरह वेदना की यातना से अच्छा मृत्यु को ही समझती है। यथा --

---

१. रत्नावली, पृ० १०
२. ,, पृ० ६

" मृत्यु भी इस यातना से है भली,
कंकरी भी आज क्या रत्नावली ।"[१]

षट्ऋतु वर्णन के रूप में भी कवि ने रत्नावली के विरह की व्यंजना कराई है । 'यशोधरा' काव्य की यशोधरा और 'विष्णुप्रिया' काव्य की विष्णुप्रिया के विरह का और भी विकसित रूप 'रत्नावली' के अन्तर्गत दिखाई पड़ता है । षट्ऋतुओं में क्रमश: ग्रीष्म , वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त के वर्णनों के माध्यम से रत्नावली की विरह-वेदना व्यक्त हुई है । वह ग्रीष्म के उपकरणों को अपने भीतर समेट लेना चाहती है । यथा -

" लपट, समा मेरी सांसों में, रज, रम जा बालों में,
अरी विरसते, बिलम बैठकर इन गीले गालों में ।"[२]

वर्षा ऋतु से वह याचना करती है कि वह उसे भी हरा-भरा कर दे । यथा -

" कर दो मग्न धरातल मेरा वर्षा रानी बरसो,
घन तम में पथ देख सकूं मैं, दमको दामिनि,दरसो ।
कर दो हरा-भरा मुझको भी अयि हरीति मै, सरसो,
चिरजीवी हो मेरे चातक, रह-रह प्रिय-मन परसो ।"[३]

शरद् ऋतु में खंजन पक्षियों को लौटते देख कर वह अपना 'विहंगम' खोजने लगती है । शरद ऋतु में जल-थल-नभ सब चम-चम कर रहा है , केवल उसी के घर में अंधेरा है । यथा -

" शरद, विजय की यात्रा का यह शुभ हो नया सबेरा ,
लो खंजन आ गये लौटकर, कहां विहंगम मेरा ?

---

१. रत्नावली-प्रगीत, पृ० २५
२. ,, ,, पृ० ३४
३. ,, ,, पृ० ३४

जल-थल नभ सुप्रभ सब चम-चम, यह घर किन्तु अँधेरा,
मेरी वृष्टि रुकी क्या अब भी, तुम्हें कहां दूं डेरा ?"[१]

हेमन्त ऋतु के आगमन पर वह कह उठती है —

" हे हेमन्त, कहां मिलते हैं, दिवस तुम्हारे ऐसे,
जहां सहज ही रोम-हर्ष हो, आप सरोजों जैसे ।
भुजभर भेंटे जाने के जग गाते बीत चुके अब वैसे,
मलिन गूदड़ी का मैं तुमको लाल बनाऊं कैसे ?"[२]

'शिशिर' के आने पर वह कहती है कि मेरा जीवन ही मुझे काटने दौड़ता है ।
यथा —

" साधु शिशिर, क्या फूल और फल, दल तक तुमने त्यागे ,
तुम्हीं बता दो, किन्तु शेष क्या है अब मेरे आगे ?
मुझे काटता है जीवन ही, जब जब बल से भागे ,
किन्तु तुम्हारे ही हिम-तप से मधु-माधव हैं जागे ।"[३]

ऋतुराज 'बसन्त' के आगमन से समस्त प्रकृति प्रसन्न हो जाती है, परन्तु
'रत्नावली' का हृदय रुदन कर उठता है । यथा —

" तुम ऋतुराज वसन्त, तुम्हारा यश गाती है कोकिल,
फैलाता है दिग्-दिगन्त में सुयश सुरभि मलयानिल ।
देते हैं हिल-मिल द्रुम-वल्ली पुष्प पांवड़े खिल-खिल ,
पाती हूं मैं दीन दूर से झलक तुम्हारी झिलमिल ।
आत्मरुदन कर और किसी का कैसे हर्ष हरूँ मैं ?
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के वैभव लेकर कहां धरूं मैं ?"[४]

---

१. रत्नावली, प्रगीत, १६, पृ० ३५
२. ,, ,, पृ० ३५
३. ,, ,, पृ० ३५
४. ,, ,, पृ० ३६

षट्ऋतुओं के इस प्रलम्ब प्रगीत के अतिरिक्त भी ग्रीष्म, शीत आदि के वर्णनों में रत्नावली का विरह व्यंजित हुआ है । लू का वर्णन करते हुए वह कहती है —

" लू आ तू, लौट लपट, तू ,
उठ दौड़ी कहां झपट तू ?
हा हा हू हू है तुझ में,
निज हूक सुना अकपट हू ।"[१]

रत्नावली शीत को संबोधित करके कहती है कि मैं तो विरह के कारण स्वयं ही कंपित हो रही हूं, तुम्हारा अस्तित्व मेरे लिए व्यर्थ है । मेरा हृदय-ताप भी तुमसे नहीं समाप्त हो सकता । यथा —

" मैं आप कांपती हूं निढाल !
श्रम वृथा तुम्हारा शीत काल !
भरती हूं ठंडी सांस आप,
यह मेरा अपना पुण्य-पाप !
तुम क्षमा करो, समझो प्रलाप ,
तुमसे न हरेगा हृदय-ताप ।
संतोष करो निज नियम पाल,
श्रम व्यर्थ तुम्हारा शीत काल ।"[२]

रत्नावली पपीहे और कोयल को दूती रूप में अपने प्रिय के पास भेजती है । वह पपीहे से कहती है —

"प्रिय भूले, मैं नहीं पपीहे, जा, सुध उन्हें दिला,
मेरा हृदय नहीं, जाकर तू उनका हृदय हिला ।
पिघला सकता है तेरा स्वर उनकी मन:शिला ,
तेरी बाट घेर रखूंगी, ला तू उन्हें मिला ।"[३]

---

१. रत्नावली, प्रगीत १८, पृ० ३८
२. ,, २१ पृ० ४१

वह कोयल को भी प्रिय के पास भेजती है । यथा —

" हूक इस उर की-सी अविराम,
कूक तू कोकिल , आठों याम ।
देख आ उड़कर इतना ही,
उधर भी बौरे हैं क्या आम ?"[१]

रत्नावली मेघ को भी प्रिय के पास भेजती है । परन्तु वह कृपा पूर्वक मेघ से वहां जाने की प्रार्थना करती है । वह मेघ का दूत बन कर आज्ञा नहीं देती । यथा —

" दूत तुझको मैं बनाऊं, शक्ति वह मुझमें कहां ?
किन्तु तू ही सोच, मैं दयनीय कितनी हूं यहां ।
टूटती तेरी प्रिया तुझसे बिछुड़ती है जहां,
तो निहोरे तू उसी के मेघ, जा कृपया वहां ।" [२]

रत्नावली कदम्ब की छांह को देखकर राधा-कृष्ण के मिलन की कल्पना करती है और अपने प्रिय से मिलन की इच्छा व्यक्त करती है । वह कदम्ब से कहती है —

" ले तेरी छांह कदम्ब,
मिली थी मुग्धा राधा श्याम से,
दे तू आशिस , अविलम्ब -
मिलूं मैं भी अपने अभिराम से ।"[३]

गुप्त जी के तीन विशिष्ट नारी पात्र यशोधरा, विष्णुप्रिया और रत्नावली अपने-अपने पति के वियोग से संतप्त हैं । यशोधरा और विष्णु-प्रिया पति द्वारा परित्यक्त की गई हैं, परन्तु रत्नावली ने तो स्वयं ही

---

१. रत्नावली, प्रगीत, ३१, पृ० ५१
२. " २१, पृ० ४१
३. " २३, पृ० ४३

अज्ञानवश अपने पति का त्याग कर दिया है। इस बात का उसे अत्यधिक पश्चाताप भी है। यथा -

" त्यागा नर ने ही नारी को।
मैं इसका उलटा कर बैठी,
धिक् है मुझ मति-हारी को।
नर, ने क्या अतिचार किया था ?
आंख मूंद कर प्यार दिया था।
किन्तु भुला कर ही रक्खे क्या
नारी निज करधारी को ?
त्यागा नर ने ही नारी को।"[१]

रत्नावली का पश्चाताप कई प्रगीतों में व्यक्त हुआ है। वह कहती है -

" लो, मान गई मैं, अब न कहूंगी कामी "[२]

एक अन्य प्रगीत में वह कहती है -

" पहले अपने को भूली थी, हुआ मुझे अब चेत ,"[३]

रत्नावली पति का स्वप्न दर्शन भी करती है। वह स्वप्न में अपने पति को विरागी रूप में देखकर जग जाती है -

" मैं स्वप्न देख जागी,
प्रिय हो गये विरागी।"[४]

आंख बन्द करने में रत्नावली प्रिय की झलक देखने लगती है अत: वह चौंक जाती है और अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। यथा —

---

१. रत्नावली, प्रगीत, ४, पृ० २१
२. ,, ,, ४१ पृ० ५७
३. ,, ,, ४८ पृ० ६१
४. ,, ,, ३५, पृ० ५५

" क्यों नहीं रहते मुंदे ही पलक ?
आंख मुंदने में तुम्हारी दीखती है झलक ।
देखते हो तुम मुझे झुक झांककर लुक ललक ,
चौंकती हूं और आंसू ढलकते हैं छलक ।"[१]

धीरे, धीरे, व्यथा सहते-सहते रत्नावली की वेदना गंभीर होती जाती है । वह स्वयं को प्रबोधती और सान्त्वना देती है । यथा —

व्रत दृढ़ता में ही पलता है,
किन्तु कंठ-गुण कोमलता है ।
सिद्धि-समृद्धि तप: श्रम से, आते आते आती ,
आत्मा परमात्मा की थाती ।"[२]

तथा —

" सहन ही जन-ल बढ़ा,
भाग्य से ही भाग में यह धन चढ़ा ।
सह सकूं मैं सब झुकाकर भाल,
निज धरा सर्वसहा चिरकाल ।
प्रलय उसके कम्प में विकराल,
आह ! यह अधिकार भी कितना कड़ा । "[३]

रत्नावली की व्यथा, सहते-सहते अब स्वाभाविक सी हो गई है । यथा —

" मन में आया विश्वास,
जगी थी जो शंका वह सो गई,
व्यथा तो स्वाभाविक सी हो गई,

---

१. रत्नावली,प्रगीत, ३६, पृ० ५६
२. ,, ,, ५२ पृ० ६२
३. ,, ,, ५३, पृ० ६३

मैं दूर नहीं , वे पास ।"[१]

रत्नावली को कहीं से प्रिय का संदेश मिल जाय, वह इसीलिए आतुर है। वह शाल ग्राम वल्लभ से ही पूछती है --

" शालग्रामवल्लभे, बिलसे तेरी ललित लता,
किन्तु कहां वे मेरे स्वामी, तेरे दास बता ?"[२]

रत्नावली पति की सफलता का समाचार पाने के लिए आतुर है। वह कहती है --

" मैं मरती जीती कान्त,शांति पा जाती ,
तुम हुए राम-रत, कहीं यही सुन पाती ।"[३]

रत्नावली पति के एक बार दर्शन करके क्षमा मांगने के लिए भी तत्पर है --

" बस एक बार आ जाओ,
देकर क्षमा और नव दर्शन स्वस्थ विसर्जन पाओ ।"[४]

अन्त में रत्नावली को पति का संवाद सखी द्वारा प्राप्त होता है। वह प्रसन्न हो उठती है और अपनी सखी से कहती है --

" सुना पुनः तू प्रिय-संवाद ।
सखि, तेरे मुँह में घी-शक्कर मेरे मुंह में स्वाद ।

x x

धन्य ! सन्त पद पाकर स्वामी,
हुए राम के ही अनुगामी ।

x x

---

१. रत्नावली, प्रगीत, ४७, पृ० ६८
२. ,, ,, ११, पृ० २८
३. ,, ,, १२पृ०२६
४. ,, ,, ६, पृ० २३

प्रभु की ही माया अब उनको,
सियाराममय है सब उनको
उद्बोधन कर लिया उन्होंने मेरा विकल प्रमाद !
सुना पुन: तू प्रिय-संवाद ।"[1]

पति की उपलब्धि से वह प्रसन्न है, उसकी संतुष्टि इन शब्दों में प्रकट होती है-

" रत्नावलि तो जीत गई है निज सब कुछ का एक दांव ।"[2]

तथा -

" वे जीते, पर क्या मैं हारी ? बलिहारी, बलिहारी !
जन-जन की इच्छा पूरी हो, जैसी हुई हमारी ।
उनकी परम्परा अक्षय हो,
और उसी में मेरा लय हो ।
सुन्दर शिव मय, सत्य सदय हो, आवे सबकी बारी ।
वे जीते, पर क्या मैं हारी ? बलिहारी, बलिहारी ।"[3]

रत्नावली अपने पति के लिए बस यही मंगलकामना करती है कि -
" यही विनय है राम, तुम्हारी
छाया प्रिय को प्राप्त हो ।
मेरा विकल विलाप मृत्यु तक
हो चाहे न समाप्त हो ।"[4]

'रत्नावली' काव्य की रचना कवि ने किंवदंतियों के ही आधार पर की है। इतिहास में अकबर के समय में तुलसीदास का वर्णन मिलता है[5]

---

१. रत्नावली, प्रगीत ४६, पृ० ७०-७१
२. ,, ,, ५४, पृ० ७६
३. ,, ,, ५५, पृ० ७७
४. ,, अवतारिणिका, पृ० ७
५. मुगलकालीन भारत-आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अ० 'अकबर महान' पृ० २४३-२४४ ।

परन्तु उनकी पत्नी रत्नावली का वर्णन नहीं मिलता । परन्तु जिस प्रकार तुलसीदास की जीवनी सम्बन्धी अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं उसी प्रकार उनकी पत्नी रत्नावली की यह कथा भी प्रचलित है । परन्तु किसी अन्तर्साक्ष्य के आधार पर इसकी सत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती । कवि ने अपनी नारी के प्रति सहृदयता के कारण `रत्नावली` के प्रति भी श्रद्धांजलि अर्पित की है । कवि स्वयं लिखता है -" इधर रत्नावली के व्यक्तित्व क्या, अस्तित्व पर भी लोग शंकाएं कर रहे हैं । परन्तु इसकी कल्पना भी मेरे लिए, सत्य से न्यून नहीं । रहा रत्नावली का व्यक्तित्व, सो वह ठीक उतरा है या नहीं इसे पाठक ही जानें । मैं यही जानता हूं, जिसके कारण हिन्दी को तुलसीदास की प्राप्ति हुई है, उसके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करके मैंने एक कर्तव्य ही किया है और आशा है, इस कार्य में बहुसंख्यक जनता मेरे साथ होगी ।"[1] जनता कवि के साथ अवश्य है परन्तु इतिहास साथ नहीं दे रहा है ।

अष्टम अध्याय

गुप्त जी के काव्य में नूतन उद्भावनाएं —

अंतर्पंच

गुप्त जी के काव्य के मुख्य स्रोत `रामायण`, `महाभारत` और प्राचीन इतिहास हैं। इनमें कवि की अटूट आस्था रही है। रामायण और महाभारत भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ और समादृत महाकाव्य हैं भी। रामायणीय और महाभारतीय कथा पर आधारित गुप्त जी के प्रमुख प्रबन्ध काव्य क्रमश: पंचवटी, `साकेत`, जयद्रथवध ` और `जयभारत` हैं। सैरन्ध्री, वनवैभव, वकसंहार, नहुष, हिडिम्बा और युद्ध यद्यपि कवि के स्वतंत्र महाभारतीय खंड काव्य हैं। परन्तु इन सबको `जयभारत` में कवि ने लगभग ज्यों का त्यों रख लिया है। अत: उनका अलग से अध्ययन नहीं किया गया है। परन्तु `महाभारत` के `जयद्रथ वध ` प्रसंग पर गुप्त जी ने द्विवेदी युग में जो खण्डकाव्य लिखा था, उसका उपयोग `जयभारत` में नहीं किया। `जयभारत` में `जयद्रथ वध ` प्रसंग नए सिरे से, संक्षेप में लिखा है।

रामायण और महाभारत में दिव्य जीवन का आदर्श और ऐहिक जीवन की कर्मण्यता का समन्वय दिखाई देता है। साथ ही इन महाकाव्यों का विपुल परिणाम है और पुष्कल प्रभाव भी। अत: गुप्त जी को अपने प्रबन्ध काव्यों के सृजन का मूल स्रोत इन्हीं से प्राप्त हुआ। भारतीय जनमानस पर `साकेत` के मूल स्रोत रामायण का प्रभाव स्वयंसिद्ध है, और जयभारत के मूल स्रोत `महाभारत` को पंचम वेद अथवा संस्कृति का विश्वकोष तक माना गया है। इन ग्रन्थों के प्रभूत प्रभाव की सिद्धि के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं। राम और युधिष्ठिर की गाथाएं भारतवर्ष में [illegible]यों से जनता की कंठहार बनी हुई हैं। साथ ही प्रत्येक युग अपनी मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार इनमें परि-

वर्तन भी करता आया है। गुप्त जी ने भी इन गाथाओं में अपने युगधर्म की प्रतिष्ठा की है। अपने युग के प्रभाव के फलस्वरूप इन प्राचीन गाथाओं में नूतन उद्भावनाएं की है। कारण स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में तथा द्विवेदी काल में जो जन जागरण हुआ उससे हमारे देश में व्यापक राजनैतिक सजगता ही नहीं वरन् बौद्धिक उद्बोधन भी हुआ। जनता का अंधविश्वास दूर टूटने लगा। श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिक सत्य पर मनुष्य आस्था करने लगा। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन कथानकों का बौद्धिक आख्यान किया गया। उनमें मानवीयता और राष्ट्रीयता का समावेश किया गया। गुप्त जी एक ओर तो सनातनी हैं[१] तो दूसरी ओर स्वामी दयानन्द आदि के सुधारवादी आंदोलनों से प्रभावित भी हैं।[२] तात्पर्य यह है कि गुप्त जी अवतारवाद में विश्वास के साथ-साथ बुद्धिनिष्ठ आदर्शवाद को अपनाए हुए है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनके लिए कहा है -" प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं।"[३] " गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं। प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले या मद में झूमने (या झीमने) वाले कवि नहीं।"[४] अत: कवि के इसी दृष्टिकोण के कारण उन्हें पुनरुत्थानवादी कवि कहा गया है।

गुप्त जी ने प्राचीन कथाओं में से अतिप्रकृति तत्वों का निराकरण किया और कथा को अधिक तर्कसंगत बना कर अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया। इसीलिए गुप्त जी के काव्य में राम और कृष्ण की अलौकिक लीलाओं और शक्तियों का वर्णन प्राय: नहीं है। परन्तु फिर भी कहीं-कहीं कवि अति प्राकृत तत्व से दूर नहीं हट पाया है। कारण यह है कि गुप्त जी दीर्घ परम्पराओं और विश्वासों की अवहेलना आसानी से नहीं कर पाते। वास्तव में वे परम्परागत विश्वासों की रक्षा भी करना चाहते हैं और कथा को विवेक सम्मत रूप भी देना चाहते हैं। वस्तुत: गुप्त जी का श्रद्धा समन्वित संस्कारी हृदय युग-युग के विश्वास से भी विमुख नहीं हो सका। फिर भी कथा को अधिक बुद्धिसंगत बनाने के लिए कवि ने अनेक परिवर्तन किए हैं। साकेत में, हरण से पूर्व सीता अग्नि-प्रवेश नहीं करतीं। इसी प्रकार 'जय भारत' में पद्मनालस्थित इन्द्र के पास इन्द्राणी का उपश्रुति के साथ जाने का उल्लेख कवि ने नहीं किया है। जहाँ तक संभव हुआ है कवि ने प्राचीन कथाओं

प्राकृत तत्वों को अधिक विश्वसनीय बनाया है।

गुप्त जी ने प्राचीन आख्यानों पर आधारित अपनी रचनाओं में जो परिवर्तन या नूतन उद्भावनाएं की हैं वे अनेक रूपों में हुई है। जैसे पात्रों को नवीन रूप देने के लिए, धिक्कृत पात्रों के परिष्कार के लिए, भावपूर्ण स्थलों को मोहक रूप देने के लिए, मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए, विवेक सम्मत घटना-विधान के लिए कथानक को रोचक बनाने के लिए,राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर, नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण के कारण, आदि आदि ।

१ पात्रों को नवीन रूप देने के लिए

'महाभारतीय' और रामायणीय' कथा पर आधारित काव्य लिखते समय गुप्त जी के समक्ष एक बड़ी समस्या थी पात्रों के चरित्रों की। ये सभी पात्र चिरकाल से अपने गुणों और अवगुणों के लिए प्रसिद्ध थे। गुप्त जी यदि उन्हें ज्यों का त्यों रख देते तो नवीनता कैसे रह पाती ? और यदि उनमें आमूल परिवर्तन कर देते तो ऐतिहासिकता और लोक प्रसिद्धि पर आघात होता अत: कवि ने यहां मध्यम मार्ग का अनुसरण किया, उन्होंने इन सभी पात्रों के चरित्रों का पुनस्पर्श किया , पुनस्सृजन किया है। ऐसा करते समय कवि ने चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता, पूज्य पात्रों की गौरव रक्षा और प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता को अक्षुण्ण रखा है। परन्तु सभी पात्रों को अपेक्षा कृत मानवीय बनाने का भी प्रयत्न किया है। महर्षि वाल्मीकि और व्यास मुनि ने अपने काव्य के पात्रों का सृजन किया था अपने ढंग से और कवि गुप्त ने उनका सृजन किया है अपने दृष्टिकोण से। कहीं भी अंधानुकरण नहीं है। कवि ने इन चरित्रों के प्रतिष्ठित रूप को वैसा ही रखते हुए उनका पुनर्मिमाण किया है, नव निर्माण नहीं।

गुप्त जी ने पुरुष और नारी दोनों प्रकार के पात्रों को अपने

दृष्टिकोण से चित्रित किया है। उनके चरित्रों की विकास-रेखाएं स्पष्ट और सरल हैं, वक्र और उलझनपूर्ण नहीं हैं। अत: पात्र बराबर उन्नतिशील रहे हैं। सत् पात्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो मानवीय दुर्बलताओं से घिरते हैं, परन्तु वे उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के पात्रों में भीम, द्रौपदी और अर्जुन हैं। दूसरे प्रकार के सत्पात्र वे हैं जो मानवीय दुर्बलताओं को उभरने ही नहीं देते। इनमें राम , भरत, भीष्म, कृष्ण और युधिष्ठिर आदि आते हैं। असत् पात्र भी दो प्रकार के हैं। एक तो सुधार-क्षम हैं और दूसरे वे दो सुधार-योग्य नहीं हैं। पर ये असत् पात्र केवल दुर्गुणों से ही युक्त नहीं हैं, वरन् सद्गुणों से भी युक्त हैं। इनमें कैकेयी , रावण, दु:शासन और दुर्योधन आते हैं। गुप्त जी ने एक ओर तो राक्षसों को भी मानव के रूप में चित्रित किया है, उदाहरण के लिए हिडिम्बा और घटोत्कच और दूसरी ओर मानव को भी दानव के रूप में चित्रित किया है, जैसे अश्वत्थामा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कवि ने अपने चरित्रों की प्राय: मौलिक कल्पना की है। परन्तु साथ ही उसने यह प्रयत्न भी किया है कि उसकी कल्पना पात्रों की बद्धमूल सांस्कृतिक धारणा पर कोई आघात न करे। उनके पात्र हमारे सामान्य जीवन से कहीं अधिक ऊंचे उठे हुए हैं, परन्तु उनकी यह असामान्यता स्वाभाविकता को लिए हुए है। 'जय भारत' और 'साकेत' के उज्ज्वल पात्रों में सबसे पहले हम युधिष्ठिर का चरित्र लेते हैं। युधिष्ठिर की धीरोदात्तता तो निर्विवाद है। 'जयभारत' में कवि ने युधिष्ठिर के आध्यात्मिक विकास और उनकी पूर्णत्व प्राप्ति का वर्णन करते हुए यह सिद्ध किया है कि मानव धर्म के आचरण द्वारा ही यह प्राप्त हो सकता है। युधिष्ठिर के द्वारा कवि ने मानवतादर्श को चरितार्थ किया है। 'जयभारत' के 'एकलव्य ' खण्ड में कवि ने युधिष्ठिर की चारित्रिक उच्चाशयता प्रकट करते हुए उनकी मानवता की भावना इस प्रकार प्रकट की है —

हो शरीर-यात्रा में आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा के अंश-रूप हैं आत्मा सभी समान ।
एकलव्य तो मनुज मुझी-सा, मुझ में सबका भाग ,
मैं सुरपुर में भी न रहूंगा, निज कुक्कुट तक त्याग ।"[१]

राजसूय में विजय-लक्ष्मी पाने पर भी युधिष्ठिर अहंकार से दूर रहे । यथा —

" राजसूय में धर्मराज यों सबको लगे विनीत ,
हारे से वे बरत रहे थे जगती भर को जीत ।"[२]

कवि की इस उक्ति से युधिष्ठिर का धीर गंभीर और धर्मनिष्ठ स्वरूप दिखाई देता है ।`द्यूत` प्रसंग में कवि ने युधिष्ठिर की मानवता, धर्मनिष्ठा और नैतिकता, का चरम प्रपीड़न अभिव्यक्त किया है ।`वन-गमन` प्रसंग में जिस समय द्रौपदी अपनी अपमान कथा कहते हुए अपना रोष प्रकट करती है, उस समय युधिष्ठिर ने अपने औदात्य को इस प्रकार प्रकट किया —

" अनुचित मुझ पर द्रुपद-सुता का रोष नहीं,
करदें मेरा त्याग अनुज तो दोष नहीं ।
मेरे पीछे किन्तु उन्होंने सभी सहा,
तो मेरा क्या गया, मुझे क्या प्राप्य रहा ?"[३]

`तीर्थ यात्रा` प्रसंग में भी द्रौपदी अपमान का साकार रूप बनी हुई है । वह प्रतिकार भावना से युक्त, पतियों को उद्योग-रत रहने की प्रेरणा देती है । इस समय युधिष्ठिर का व्यक्तित्व नैतिक भावना से ओत-प्रोत है । उनका यह कथन उनके चरित्र की व्याख्या प्रस्तुत करता है —

---

१. जयभारत, एकलव्य, पृ० ७५,७८
२. ,, राजसूय, पृ० १४१
३. ,, वनगमन, पृ० १५५

सुजनता सर्वत्र, अपनी रीति होगी ।
सज्जनों के साथ समधिक प्रीति होगी ।
श्रेष्ठ निष्क्रिय भी, कुटिल उद्युक्त से मैं,
सत्य से सम्बद्ध अच्छा मुक्त से मैं ।"[१]

मानवता की भावना से पूर्ण युधिष्ठिर तीर्थ-राज को देख कर अपना क्षोभ प्रकट करते हैं —

" हाय जल से भी मनुज कुल आज पिछड़ा
जब मिला जल से, मनुज से मनुज बिछुड़ा ।"[२]

`केशों की कथा` शीर्षक से दी गई करुण कथा में कवि ने द्रौपदी और युधिष्ठिर के चरित्र को तुलनात्मक दृष्टि से रखा है । युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ हैं और मानवता के आदर्श से उत्प्रेरित । कृष्णा ने युधिष्ठिर के कथन में ज्ञान और आदर्श को देखा । युधिष्ठिर धर्म धृति हैं, अजातशत्रु और महामानव हैं । `तीर्थयात्रा` आख्यान खण्ड में युधिष्ठिर का चरित्रोत्कर्ष दिखाते हुए कवि हनुमान से युधिष्ठिर के सम्बन्ध में यह उक्ति कहलाता है —

" है युधिष्ठिर की युगोपरि धर्मनिष्ठा ,
पायगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा ।"[३]

देवताओं को भी युधिष्ठिर पर गर्व है, उसी से अर्जुन द्रौपदी से कहते हैं "अग्रज के प्रति अपनी श्रद्धा मैं दुगुनी कर लाया ।"[४] द्रौपदी के मन में भी इस कारण एक`नूतन गर्व जगा है ।``वन वैभव` आख्यान खण्ड में भी कवि ने युधिष्ठिर का चारित्रिक उत्कर्ष प्रकट किया है । चित्ररथ से परास्त होने पर दुर्योधनादि की रक्षा अर्जुन से करवाई और फिर युधिष्ठिर ने उनकी

---

१. जयभारत, तीर्थयात्रा, पृ० १६८
२. ,, ,, पृ० १७०
३. ,, ,, पृ० १८०
४. ,, ,, पृ० १८७

बंधन मुक्ति का प्रयत्न किया। 'वनमृगी' प्रसंग में कवि ने युधिष्ठिर द्वारा मानवीय करुणा को उपस्थित किया है। 'यक्ष' प्रसंग में युधिष्ठिर की धर्म ने परीक्षा ली और युधिष्ठिर ने धर्म-नीति विषयक प्रश्नों के उचित उत्तर दिये। इन्हीं उत्तरों के द्वारा उनके जीवनादर्श की भी कवि ने अभिव्यक्ति कराई है। 'उद्योग' खण्ड में युधिष्ठिर अनय का प्रतिकार करने के लिए उद्यत हुए। वे कौरवों के पास यही संदेश कहलवाते हैं — "सद्धर्म की विजय ही जय है हमारी।"[1] साधु स्वभाव के व्यक्ति है। युद्ध में विजयी होने पर वे गर्वित नहीं होते, वरन् वे दुर्योधन के आहत होने के कारण संतप्त हैं। युधिष्ठिर के अनुसार युद्ध क्षात्र-धर्म की विवशता है। 'युद्ध परिसीमा है परतत्व के विकास की' कहते हुए युधिष्ठिर दुर्योधन को मनाने लगते हैं और उसकी मृत्यु पर शोक-संतप्त भी होते हैं। गुप्त जी ने युधिष्ठिर के चरित्र को अतिशय समुन्नत बनाया है। उनके आदर्श धर्माचरण और महामानत्व का विवरण प्रस्तुत किया है। महाभारत में युधिष्ठिर सहगामी श्वान को तो त्याग कर स्वर्गारोहण के लिए तत्पर नहीं होते परन्तु स्वर्गस्थ दुर्योधन को देखते ही उबल पड़े हैं। दुर्योधन के साथ रहना तो उन्हें स्वर्ग में भी स्वीकार नहीं —

अस्ति देवा न मे काम: सुयोधमुदीक्षितुम्।[2]

परन्तु मानव-महत्व के प्रतिष्ठापक गुप्त जी ने इस त्रुटि का निराकरण किया है। इस समय भी वे युधिष्ठिर को प्रसन्न ही दिखाते हैं। 'स्वर्गारोहण' प्रसंग में युधिष्ठिर अन्त में शुद्ध-प्रबुद्ध होकर चेतना शक्ति की भांति अग्रसर होते गए। युधिष्ठिर के सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति है —

"था जिन्हें द्वेष, उनके प्रति भी उन सक्षम को कूट दोहनथा,
था जिन्हें प्रेम जो प्यारे थे, उन पर भी उनमें मोहन था।"[3]

---

१. जय भारत, उद्योग, पृ० २६२
२. ,, स्वर्गारोहण, पर्व, श्लोक १०
३. ,, ,, पृ० ४४३

अन्त में युधिष्ठिर शुद्ध आत्मस्वरूप हो गए और अपनी सुकृति के कारण स्वजनों सहित गोलोक में स्थित हुए । नारायण ने स्वयं प्रकट होकर नर का स्वागत किया और अपनी अलौकिक लीला में उन्हें लीन कर लिया ।

युद्ध के समय युधिष्ठिर ने झूठ का भी आश्रय लिया था । उन्होंने, यह सोचकर कि 'दुर्गति हो मेरी भले, सबकी सुगति हो, यह कहा था — अश्वत्थामा हत हो गया, वह नर-कुंजर गया है मृत्यु मुख में ।" परन्तु इस पाप-कृत्य को उन्होंने स्वीकार किया है । इसका समाधान करना उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ । युधिष्ठिर का लक्ष्य है —" नर को तो है नारायण तक पहुंचना ।" यह उनकी यह उदारता प्रकट हुई है कि सभी अनुज राज्य भोगें और वे नरक में इस पाप का फल पाएं । युधिष्ठिर के इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप , उनके असत्य-कथन से उनका महत् चरित अपनी उच्चता से नीचे नहीं आता ।

'साकेत' में आदर्श चरित्र केवल राम हैं । कवि ने राम के मानवत्व पर मुग्ध होकर उनका चित्रण किया है । वास्तव में गुप्त जी का कवि तो राम के मानवत्व पर ही मुग्ध ।[१] कवि ने भी राम को मानवोचित बनाना चाहा है । परन्तु बीच बीच में वे राम के ईश्वरत्व का भी स्मरण कर लेते हैं ।[२] यह कवि की भक्ति भावना का प्रभाव है ।'साकेत' में राम पूर्णत: सतोगुणी हैं । राम का परम्परा से चला आता हुआ रूप' साकेत' में थोड़ा भिन्न दिखाई देता है । राम काचित्रण मानव के ही रूप में हुआ है । अष्टम सर्ग में राम और सीता के गृहस्थ जीवन की सुंदर झांकी है । वे मानव सुलभ दुर्बलता से भी युक्त हैं । पिता की मृत्यु का समाचार पाकर वे दुखी हो उठते हैं । इसके अतिरिक्त

---

१. साकेत- एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ६२ , द्वादश संस्करण,१६६६

२. साकेत- अष्टम सर्ग, पृ० २३५

" जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे ,
वे भी भव-सागर बिना प्रयास तरेंगे ।" "

अन्य स्थलों पर भी उनकी मानवीय दुर्बलता दिखाई देती है। पिता के लिए सुमंत्र को संदेश देते समय, और लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग में भी।

भरत का साधु व्यक्तित्व सकरुण है। चित्रकूट सभा में उनका मानवीय पक्ष ही प्रधान है। उनके सम्बन्ध में माण्डवी की यह मार्मिक उक्ति है –

"नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता, तुम्हीं कहो?"

× ×

"मनुष्यत्व का सत्व-तत्व यों किसने समझा-बूझा है
सुख को लात मार कर तुम-सा कौन दुःख सा जूझा है।"[1]

शत्रुघ्न भरत के सहकारी पात्र हैं। इनके विचारों में दृढ़ता, शौर्य में धर्मनिष्ठा पारिवारिक प्रेम में मर्यादा व्यक्त की गई है। माण्डवी ने उन्हें घर संभालने वाला बड़भागी कहा है और 'साकेत' की सैन्य-सज्जा के केन्द्र भी वे हैं। राम-वनवास के कारण वे राज्य-क्रान्ति रचकर प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं :–

"राज्यपद ही क्यों न अब हट जाय,
लोभ मद का मूल ही कट जाय,
कर सके कोई न दर्प, न दंभ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।"[2]

गुप्त जी के शत्रुघ्न इन सब नवीनताओं को लिए हुए हैं।

'महाभारत' में श्रीकृष्ण अतिमानव के रूप में चित्रित हैं। 'जयभारत' में श्रीकृष्ण सर्वत्र पूज्य पात्र हैं, परन्तु हैं मानव ही। वे महानुभाव भले ही बन गए हैं परन्तु अतिमानव नहीं। जब भारत में श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से शान्ति संदेश लेकर आते हैं तो दुर्योधन द्वारा उनको बांधने का प्रयत्न होने पर

---

१. साकेत- एकादश सर्ग, पृ० ३६७
२. साकेत, सप्तम सर्ग, पृ० २०२

'महाभारत' के जैसे उनके शरीर में देवता और भीम आदि नहीं आ जाते । ना ही उनमें अति मानवीय शक्तियाँ आती हैं । केवल कृष्णा के दृष्टि-निक्षेप से ही दुर्योधन लड़खड़ा कर गिर जाता है ।

'महाभारत' में युधिष्ठिर के अतिरिक्त अन्त में सभी पात्रों को सदोष बताया गया है । उदाहरण के लिए अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं —

> एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
> न च तत् कृतवानेष शूरमानी ततो पतत् ।। २१ ।।[१]

अर्थात् अर्जुन को अपनी शूरता का अभिमान था । इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूंगा', किन्तु ऐसा नहीं किया, इसी से आज इन्हें धराशायी होना पड़ा है । 'महाभारत' में ऐसे सर्वसहा पात्रों को भी अन्त में दोष बताया गया है । इससे पाठक के मन में जमी हुई इन पात्रों के प्रति पूज्य भावना को ठेस लगती है । गुप्त जी ने 'जयभारत' में इस प्रकार से अर्जुन को दोषी नहीं ठहराया गया है । वरन अर्जुन के गिरने पर युधिष्ठिर कहते हैं —

> " तुम नहीं गिरे, फड़ गिरा यहां
> तुममें मेरा मानी मद ही ।"[२]

इस कथन से अर्जुन के चारित्रिक दोष (जो 'महाभारत' में लगा है) का प्रक्षालन भी होता है साथ ही युधिष्ठिर की उदार-भावना का परिचय भी मिलता है ।

भीम 'महाभारत' के काफी उद्दण्ड पात्र हैं, संभवत: अतुलित शारीरिक बल के कारण । अन्त में उनके चरित्र को भी 'महाभारतकार' ने दोषी ठहराया है । जब भीम का पतन होता है तो वे युधिष्ठिर से अपने पतन का

---

१ महाभारत, महाप्रस्थानिक, पर्व, अ० २, श्लोक २५

२ जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४२

कारण पूछते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं —

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे।

अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतित: क्षितौ ।। २५ [१]

अर्थात् तुम बहुत खाते थे और दूसरों को कुछ भी न समझकर अपने बल की डींग हांका करते थे, इसी से तुम्हें भी धराशायी होना पड़ा है।

यहां 'महाभारत' का पाठक को एकाएक धक्का लगता है जब वह अन्त में युधिष्ठिर के मुंह से भीम को केवल डींग मारने वाला ही सुनता है। जयभारत कार ने भीम को उग्र, साहसी तथा बली व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है, और अन्त तक भीम का चरित्र वैसा ही रहता है। भीम के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं —

" तुम छूटे नहीं तुम्हारे मिस

मेरा औद्धत्य यहां छूटा।"

युधिष्ठिर के इस कथन से भीम का चरित्र उज्ज्वल ही रहता है, साथ ही युधिष्ठिरकी महानता भी बढ़ जाती है।

'महाभारत' के अनुसार अन्त में सहदेव भी अहंकारी सिद्ध होते हैं। सहदेव के पतन का कारण बताते हुए युधिष्ठिर कहते हैं —

आत्मन: सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन।

तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मज: ।। १० ।।[३]

अर्थात् यह राजकुमार सहदेव किसी को अपने जैसा विद्वान या बुद्धिमान नहीं समझता था, अत: उसी दोष से इसका पतन हुआ। 'जयभारतकार' इस प्रकार से सहदेव का चरित्र भी नीचे नहीं गिराते। 'जयभारत' में युधिष्ठिर कहते हैं कि सहदेव के रूप में उनका ज्ञानाभिमान ही गिरा है —

---

१. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, अ० २२, श्लोक २५

२. ,, स्वर्गारोहण, पृ० ४४२

३. ,, महाप्रस्थानिक, पर्व, अ० २, श्लोक १

' तुम नहीं, गिरा तुममें मेरा
ज्ञानाभिमान जो उठा रहा ।'[१]

नकल का चरित्र भी 'महाभारत' के अनुसार अन्त में गिरता है । महाभारतकार उसे रूपगर्वित और अहंकारी सिद्ध करता है । उसके पतन पर युधिष्ठिर भीम से कहते हैं –

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम् ।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ।।१६।।
नकुल: पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर ।
यस्य यद् विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ।। १७ ।।[२]

अर्थात् –भीमसेन ! नकुल की दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूप में मेरे समान कोई नहीं है । इसके मन में यही बात बैठी रहती थी कि 'एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान हूँ ।' इसलिए नकुल नीचे गिरा है । तुम आओ । वीर ! जिसकी जैसी करनी है, वह उसका फल अवश्य भोगता है ।

महाभारत के अनुसार जयभारतकार नकुल के चरित्र का अन्त में यह रूप नहीं दिखाता ।'जयभारत' में नकुल के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं –

" तुममें मेरे सुरूप का गर्व गिरा ।"[३]

जयभारतकार ने द्रौपदी को अधिक मानवीय रूप देते हुए उसे भावनामयी मानवती और कर्म-प्रेरक शक्ति के रूप में चित्रित किया है । वह व्यवहारिक बुद्धि का प्रतीक भी है । वह'महाभारत' की मूल प्रेरणा है । परन्तु अन्त में वह अपने को ही इस युद्ध और संहार का मूल कारण समझती है । उसका हृदय चीत्कार कर उठता है । वह अपने को ही इस युद्ध का मूल समझ कर विलाप कर उठती है –

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४१
२. महाभारत महाप्रस्थानिक, पर्व, अ० २, श्लोक १६,१७
३. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४१

जन क्यों न कहें, यह पाप कलह सब मैंने ही करवाया,
पति और पिता का वंश-नाश कर लाखों को मरवाया ।"[१]

'महाभारत' की द्रौपदी इस प्रकार से आत्मग्लानि की अग्नि में तप कर खरी नहीं होती । 'जयभारत' की द्रौपदी आरम्भ से ही जागरूक है । दु:शासन द्वारा उसे राज-सभा में लाए जाने पर वह राज-सभा को पाप-सभा कहती है । उस मानिनी का आक्रोश इस प्रकार व्यक्त होता है --

राजसूय-यज्ञ में मंत्रों के जल से जो अभिषिक्त हुए,
उसके रक्त बिना न बंधेंगे, जिससे ये अविविक्त हुए ।
बल से जीत न सके जिन्हें खल, दल ने चले उन्हें छल से ?
किन्तु कहां तक काम चलेगा ऐसे कलुषित कौशल से ।"[२]

दु:शासन ने जब उसे निर्वस्त्र करना चाहा तो उसने ईश्वर का स्मरण करते हुए मानवता को ही भयंकर चुनौती दी --

" रे नर, आगे नरक-वह्नि में तू निज मुख की लाली देख,
पीछे, खड़ी पंचमुख शिव पर नग्न कराला काली देख ।[३]

'जयभारत' में द्रौपदी का व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली है कि वह पापी दु:शासन के हृदय में भय का संचार कर देती है । दु:शासन के हृदय में भय का संचार कर देती है । दु:शासन का शरीर स्तंभित हो उठता है और उसकी पापवृत्ति विजड़ित हो कर रह जाती है :-

" सहसा दु:शासन ने देखा अंधकार-सा चारों ओर,
जान पड़ा अंबर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर ।
आकर अकस्मात अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया,
कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया ।"[४]

---

१. जयभारत, हत्या, पृ० ४१६
२. जयभारत, द्यूत, पृ० १४७
३. ,, पृ० १४८
४. ,, पृ० १४८

इस प्रसंग में कवि ने द्रौपदी के चरित्र का उत्कर्ष प्रकट किया है। द्रौपदी तेजस्वी, आत्माभिमानी, समुन्नत, शीलवती है,उसकी वक्तृता ओजपूर्ण है। अन्त में धृतराष्ट्र ने धर्म-रक्षार्थ उसी को वरदान दिये। उसने अपने स्वामियों को दासत्व के बंधन से छुड़ाया। धृतराष्ट्र ने स्वेच्छा से युधिष्ठिर का अपहृत राज्य लौटा दिया। द्रौपदी से धृतराष्ट्र के यह कहने पर कि 'मांग और भी जो जी चाहे' मानिनी द्रौपदी कहती है —

" कहना नहीं और कुछ मुझको, इच्छा नहीं अधिक तृष्णा।
यदि पुरुषों में पौरुष होगा, तो सब कुछ हो जावेगा,
तात, अन्यथा वह भिक्षा का वैभव फिर खो जावेगा।"[1]

महाभारतकार ने द्रौपदी के चरित्र को अन्त में गिराया है। उसके पतन पर युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं कि उसके (द्रौपदी) मन में अर्जुन के प्रति विशेष पक्षपात था : आज यह उसी का फल भोग रही है।

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुंक्ते पुरुषसत्तम ।। ६ ।।[2]

परन्तु जयभारतकार ऐसा नहीं करता, वह युधिष्ठिर से कहलाता है —

" तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही।"[3]

इस कथन द्वारा कवि ने द्रौपदी और युधिष्ठिर दोनों के चरित्रोत्कर्ष की रक्षा की है।

गांधारी का चरित्र 'महाभारत' की अपेक्षा 'जयभारत' में अधिक उज्ज्वल है। द्रौपदी की असहायावस्था के अवसर पर राज-सभा में गांधारी का प्रवेश भी कराया गया है। नारी-भावना से प्रेरित होकर कवि सभा की दुष्कृति पर गांधारी का आक्रोश प्रकट कराता है, वह कहती है -

---

१. जयभारत, द्यूत, पृ० १५०

२. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, अ० २, श्लोक ६

३. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४४१

" भाई से पितृ-कुल, पुत्रों से पति-कुल मेरा नष्ट हुआ,
अंतर्यामी को ही अवगत, मुझको कैसा कष्ट हुआ ?

× ×

सूक्ष्मधर्म गति का विचार तो कर सकते हैं धर्माचार्य,
पर क्या यह सब कर सकते हैं वे भी, जो हैं अधम अनार्य ?
हाय लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या ?
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या ?[1]

गांधारी अपनी ईर्ष्या को भी सबके सामने स्वीकार करती है। 'महाभारत' में गांधारी का शोक और विलाप तो है, परन्तु आत्मग्लानि नहीं। 'जयभारत' में गांधारी ने अपनी उस ईर्ष्या का उल्लेख किया है जिसके फलस्वरूप उसे सौ पुत्र प्राप्त हुए थे। यथा -

" पाण्डु सुतों को देख मुझे भी डाह हुई थी,
एक एक पर बीस बीस की चाह हुई थी।"[2]

कर्ण के चरित्र को भी कवि ने अपेक्षाकृत नवीन रेखाएं प्रदान की हैं। कृष्ण ने कर्ण को समझाया है कि वह अपने अनुजों से युद्ध न करे। कर्ण पर इसका मार्मिक प्रभाव पड़ा। 'जयभारत' में उसके आत्म-क्षोभ की व्यंजना की गई है। वह अब यह नहीं चाहता कि यह रहस्य युधिष्ठिर को ज्ञात हो, क्योंकि

" जाय न यों ही धर्म-राज्य वह आया-आया,
किसने कहां अजातशत्रु का मृत-पद पाया ?"[3]

कवि ने कर्ण के चरित्र को उत्कर्षित किया है वह युधिष्ठिर का प्रशंसक है। वह धर्म और अधर्म के विवेक से युक्त भी है, पर उसकी यह विवशता है कि वह दुर्योधन से विश्वास घात करने में असमर्थ है। अपने जन्म के रहस्य से अवगत होकर

---

१. जयभारत, द्यूत, पृ० १४६
२. ,, शांतिसंदेश, पृ० ३३२
३. ,, ,, पृ० ३३६

वह द्रौपदी के अपमान को सोचकर मर्मान्तिक पीड़ा से व्याकुल हो उठता है। यथा-

" मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना ,
कृष्णा का अपमान , किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुज-वधू, अब कहां ठिकाना,
इसका प्रायश्चित्त मृत्यु के हाथ बिकाना ।"[१]

जयभारतकार ने कर्ण के आत्म-क्षोभ को भलीभांति उभारा है, साथ ही उसके अदम्य पौरुष, एकनिष्ठ स्वामिभक्ति, उदारता और विवेक बुद्धि आदि गुणों को भी उभारा है। वास्तव में कर्ण के चरित्र को कवि ने सहानुभूति पूर्वक निरूपित किया है।

'जयभारतकार' ने कुन्ती के चरित्र में भी नूतन विकास-रेखाएं स्पष्ट की हैं। 'बक-संहार' प्रसंग में कुंती के करुणाशील व्यक्तित्व को प्रमुखता दी गई है भीम का बक के लिए चुनाव करने में कुंती की उदाराशयता, त्यागशीलता, सात्विक मनोवृत्ति, और करुणामयी वत्सलता की अभिव्यक्ति कराई गई है। कुंती के माध्यम से त्याग,सेवा और करुणा के मानवीय उच्च आदर्शों को व्यक्त किया गया है। 'कुंती और कर्ण' प्रसंग में माता और पुत्र की प्रथम बार भेंट हुई है। युद्ध को अवश्यंभावी देख कर कुंती स्वयं कर्ण के पास उसे रोकने गई। इस मिलन में कुंती का वात्सल्य विगलित हो उठा। आत्म प्रतारणा के कारण उसने कर्ण के सामने यह प्रस्ताव रखा -

" राज्य-दान कर दुर्योधन ने क्रीत किया यदि तेरा चाप ,
तो सर्वस्व समर्पण करके होगा अनुज युधिष्ठिर आप ।"[२]

इस प्रसंग में कुंती का आहत वात्सल्य व्यंजित हुआ है।

गुप्त जी जहां दूषित पात्रों के आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकाशित करते हैं, वहीं पूज्य पात्रों के चरित्र में मिलने वाली छोटी-मोटी त्रुटि को भी दूर करने

---

१. जयभारत, शांति संदेश, पृ० ३३८
२. ,, कुंती और कर्ण, पृ० ३४२

" प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में ।"[१]

वास्तव में लक्ष्मण की यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है । 'साकेत' में लक्ष्मण प्रेमी पति और ललितकला के प्रशंसक भी हैं । उन्होंने अपने प्रेम को त्याग और तपस्या के द्वारा उज्ज्वल बनाया है । एक ओर वे उर्मिला पर आसक्त हैं, और दूसरी ओर वे राम के अनुज, सेवक और भक्त भी हैं । ऐसा संतुलन प्राचीन राम-काव्य में नहीं मिलता । राम के प्रति भक्ति भाव और उर्मिला के प्रति अनन्य प्रेम लक्ष्मण के चरित्र की नवीन विकास रेखा है, जो इस उक्ति में स्पष्ट हुई है --

" वन में तनिक तपस्या कर बनने दो मुझको निज योग्य ।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।"[२]

स्त्री पात्रों में उर्मिला का चरित्र तो गुप्त जी की अपनी उर्वर कल्पना की ही सृष्टि है । कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता का परिहार भी तो 'साकेत' का एक उद्देश्य था । अत: उर्मिला के चरित्र में तो स्पष्ट नवीन विकास रेखाएं दिखाई पड़ती हैं । प्राचीन राम साहित्य में कहीं भी उर्मिला के ऊपर कवियों का ध्यान नहीं गया है । अत: उसका चित्रण भी नहीं के बराबर है । गुप्त जी ने अपनी कल्पना द्वारा उसका एक भव्य रूप अंकित किया है । प्रारम्भ में ही 'प्रकट मूर्तिमती ऊषा ही तो नहीं,'[३] और 'शील सौरभ की तरंगे आ रही, दिव्य भाव भवाब्धि में ला रही'[४] कह कर कवि उसके सौंदर्य और शील स्वभाव का चित्रण किया है । वह प्रेम प्रगल्भा है--

" मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना,
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना ।"[५]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३७,२३८
२. ,, ,, पृ० २६५
३. ,, प्रथम सर्ग, पृ० २६
४. ,, ,, पृ० २८
५. ,, ,, पृ० ३८

वह लक्ष्मण से परिहास करते हुए कहती है -" और भी तुमने किया कुछ है अभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी ।"[१] वह चित्रकला निपुण भी है । कवि कहता है -

" तूलिका सर्वत्र मानों थी तुली
वर्ण-निधि से व्योम-वह पर थी खुली ।"[२]

ऐसे कलाविद सुसंस्कृत चरित्र वाली उर्मिला त्याग वृत्ति से भी पूर्ण है -" आज स्वार्थ है त्याग भरा, हो अनुराग विराग भरा ।"[३] वह प्रेम परीक्षा में उत्तीर्ण होती है -" हे मन, तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन ।"[४] इस सम्बन्ध में सीता की यह उक्ति उसकी इस विशेषता को और भी उभार देती है -

" सास ससुर की स्नेह-लता , बहिन उर्मिला महाव्रता ।
सिद्ध करेगी वही यहाँ, जो मैं भी कर सकी कहाँ ।"[५]

लक्ष्मण के वन जाने के बाद से उर्मिला का विरह आरम्भ होता है । कवि ने बड़ी सहृदयता के साथ युग-युग से उपेक्षित उसकी विरह वेदना को चित्रित किया है । उसके वियोग में छिछलापन या हल्कापन नहीं है । लक्ष्मण के प्रति केवल यही एकांत कामना है -

" तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी ।"[६]

दशरथ उसे"रघुकुल की असहाय बहू" कहते हैं । वह भी श्वसुर की मृत्यु पर शोक करती है और -" उर्मिला सभी सुध बुध त्यागे, जा गिरी

---

१. साकेत,प्रथम सर्ग, पृ० ३३
२. ,, पृ० ३५
३. चतुर्थसर्ग पृ० ११०
४. ,, पृ० ११०
५. ,, पृ० ११८
६. पंचमसर्ग, पृ० १६४

कैकैयी के आगे ।"[१] उर्मिला के विरह पर कैकैयी भी दु:खी हो उठती है । वह कहती है —

" आ मेरी सबसे अधिक दु:खिनी आ जा,
पिस मुझसे चंदन-लता मुझी पर छा जा ।"[२]

उर्मिला विरह को झेलते हुए भी उत्सर्ग-शील ही रहती है । चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला का जब क्षणिक मिलन होता है तो वह लक्ष्मण से यही कहती है —

" मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी ।"[३]

कवि ने उर्मिला के विरह की नस-नस पहचानी है । अनेक परिस्थितियों में उसके विरह को देखा है । उसके उत्ताप का चित्रण करता हुआ कवि कहता है —

" मानस मंदिर में सती, प्रिय की प्रतिमा थाप,
जलती थी उस विरह में, बनी आरती आप ।"[४]

विरह में उसे आत्म, ज्ञान भी नहीं रहता—" छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान"[५] । कवि ने उसके एकाकी जीवन को भी सहानुभूति पूर्ण ढंग से चित्रित किया है । उर्मिला को समदु:खिनी भी कोई नहीं दिखाई देती —

" इतनी बड़ी पुरी में क्या ऐसी दु:खिनी नहीं कोई,
जिसकी सखी बनूं मैं, जो मुझसी हो हंसी रोई ।"[६]

कभी उर्मिला संयोग की स्मृतियों से घिर जाती है । श्रुति-पुट लेकर पूर्व-स्मृतियां खड़ी यहां पट खोल ।"[७] और कभी वह वेदना में इतनी डूब जाती है कि उसी का गुणगान करने लगती है —"वेदने तूभीभली बनी ।"[८] उर्मिला की प्रेम-निष्ठा

---

१. साकेत, षष्ठ सर्ग, पृ० १७९
२. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २५६
३. साकेत, ,, पृ० २६५
४. ,, नवमसर्ग पृ० २६८
५. ,, ,, पृ० २६९
६. ,, ,, पृ० २७६
७. ,, ,, पृ० २६१
८. ,, ,, पृ० २८०

भी अटूट है। वह कहती है —

" कर के ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाए,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाए।"[१]

उर्मिला दारुण वियोग सह कर भी यही मना सकी कि — मुझे भूलकर ही विनु वन में विचरें मेरे नाथ।" "साकेत" के दशम सर्ग में वह कुल वधू और राजकन्या के रूप में उपस्थित होती है और उसका प्रेम और सतीत्व अपनी धर्मनिष्ठता में वियोग साधना बनता है। नवम सर्ग में उर्मिला का वियोग एकान्तिक है, परन्तु दशम सर्ग में उसे पारिवारिक पृष्ठभूमि दी गई है।

उर्मिला का वीर-पत्नीत्व भी दिखाई देता है, जब वह कहती है — ठहरो, यह मैं चलूं कीर्ति सी आगे-आगे।"[२] वह राष्ट्रसेविका की भांति कहती है —" अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊंगी मैं।"[३] कवि उर्मिला के प्रति अपनी भावना को राम के द्वारा इस प्रकार कहलाता है —

" तू ने तो सहधर्म-चारिणी से भी ऊपर,
धर्म-स्थापन किया भाग्य-शालिनि, इस भू पर।"[४]

अन्त में मिलन के अवसर पर कवि उसके हर्षातिरेक का भी वर्णन करता है —

" नाथ, नाथ, क्या तुम्हें सत्य ही मैंने पाया।"[५]

इस प्रकार उर्मिला का एकदम मौलिक रूप गुप्त जी ने अंकित किया है।

प्राचीन राम-काव्य में सीता एक देवी के रूप में चित्रित हैं। साकेतकार ने उन्हें मानवीय रूप देकर उनके चरित्र में कतिपय नई रेखाएं अंकित

---

१. साकेत, नवमसर्ग, पृ० २६६
२. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४७५
३. ,, पृ० ४७६
४. ,, पृ० ४६५
५. ,, पृ० ५६६

की हैं। प्रारम्भ में ही "सीता माता थीं आज नई धज धारे"। द्वितीय सर्ग में वे केवल पति की प्रिया ही नहीं हैं वरन सधर्मिणी के रूप में राजत्व-विषयक चर्चा भी करती हैं। वे सास और अनुजा के प्रति क्रमश: सेवा और संवेदना से भी युक्त हैं।[१] पारिवारिक भूमिका पर उनका हास परिहास उन्हें मानवीय रूप में प्रतिष्ठित करता है। अष्टम सर्ग में उनके चरित्र की अनेक नवीनताएं दृष्टिगत होती हैं। चित्रकूट में पर्णकुटी के वृक्षों को सींचती हुई सीता अपने आवास को राजभवन के सुखों से समृद्ध समझती हैं। उन्हें वन में पूर्ण संतोष है। उनका जीवन स्वावलम्बी है —

> " औरों के हाथों यहां नहीं पलती हूं,
> अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं।
> श्रम-वारि बिन्दु-फल स्वास्थ्य-शुक्ति फलती हूं,
> अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूं।"[२]

वे वनवासियों की सेवा करने और उन्हें सभ्य बनाने के लिए उत्सुक हैं, प्रकृति की सेवा करती हैं, और चित्रकूट में साकेत समाज के आ जाने पर सुगृहिणी के रूप में सबका आतिथ्य-सत्कार करती हैं। बड़ी ही व्यंजक रीति से वे चित्रकूट में उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन भी कराती हैं।

सीता हरण हो जाने पर सीता के पति-वियोग को कवि ने अधिक नहीं उभारा है, क्योंकि यहां कवि का लक्ष्य विशेषकर उर्मिला के विरह को उभारना था। परन्तु सीता का राम के प्रति जो दृढ़ प्रत्यय, अनन्य निष्ठा और अखण्ड प्रेम है, वह व्यक्त हुआ है। वे हनूमान से कहती हैं —

> " करें न मेरे पीछे स्वामी, विषम कष्ट साहस के काम।
> यही दु:खिनी सीता का सुख, सुखी रहें उसके प्रिय राम

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० ६४

२. ,, अष्टम सर्ग, पृ० २२३

मेरे धन वे घनश्याम ही, जानेगा यह अरि भी अंध ।
इसी जन्म के लिए नहीं है राम-जानकी का सम्बन्ध ।"[१]

कवि सीता को भारत-लक्ष्मी के रूप में चित्रित करता है । उनकी बंधन मुक्ति के लिए सम्पूर्ण साकेत युद्धोद्यत होता है । साकेतकार ने सीता को नवीन रेखाएं दी हैं ।

धिक्कृत पात्रों का परिष्कार

आदर्श पात्रों में मानवीयता की प्रतिष्ठा के साथ साथ गुप्त जी ने धिक्कृत पात्रों के चरित्र का प्रक्षालन भी किया है । कैकेयी, दुर्योधन, रावण और दु:शासन हिडिम्बा धिक्कृत पात्रों में आते हैं । गुप्त जी ने कैकेयी की तो काया-पलट ही कर डाली है । पुत्र-प्रेम कैकेयी के लिए अभिशाप बन कर आता है और वह कलंकित हो जाती है । वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक बराबर उसके कलंकित जीवन को धिक्कारा ही गया है । परन्तु गुप्त जी ने चित्रकूट-सभा में कैकेयी को खुल कर अपनी सफाई देने का अवसर दिया है । वह भांति भांति से अपनी ग्लानि को व्यक्त करती है । प्रारम्भ में ही `भरत से सुत पर भी संदेह , बुलाया तक न उसे जो गेह' उक्ति द्वारा राम के राज्याभिषेक के अवसर पर भरत की अनुपस्थिति को कवि ने कैकेयी के संदेह का विषय बनाया है । कवि ने बड़ी चतुराई से इस मनोवैज्ञानिक सूत्र को लेकर कैकेयी के सरल चरित्र का विकास आरम्भ किया है । उसने राम का मौन और लक्ष्मण की भर्त्सना सुनी साथ ही पति का स्वर्गवास देखा । भरत के लौटने पर उसे अपना सब कार्य व्यर्थ प्रतीत होने लगा और उसका पश्चाताप आरम्भ हो गया । चित्रकूट की सभा में में कैकेयी स्वयं राम से लौट चलने का प्रस्ताव करती है और उर्मिला को सबसे अधिक दु:खिनी समझती है । यह मैथिलीशरण गुप्त की अपनी निजी कल्पना है । रामचरितमानस की कैकेयी `कुटिल रानी' है । वह असत् प्रवृत्तियों की

---

१. साकेत एकादश सर्ग, पृ० ४३३

जटिलता से पूर्ण है, परन्तु `साकेत` की कैकेयी सती, साध्वी और तापसी है। साकेतकार ने उर्मिला की ही भांति कैकेयी में भी पवित्रता, पीड़ा और अतिरिक्त भावुकता का सन्निवेश किया है। कैकेयी की ग्लानि, उसका पश्चात्ताप उसके कलंक को धो डालता है। ग्लानि तो `मानस` की कैकेयी में भी थी -

` गरइ गलानि कुटिल कैकेयी` , परन्तु कहीं भी उसकी उस ग्लानि की अभिव्यक्ति नहीं कराई गई है। `साकेत` में वह ग्लानि-पीड़ा से चीत्कार कर उठती है -

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी-
`रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।`
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा -
`धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।` [१]

पहाड़ सा पाप करके अब वह मौन रहना नहीं चाहती। इसीलिए प्रभु के साथ सभा भी चिल्ला उठती है -

" सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।" [२]

वह अपने इस कुकर्म के लिए भयंकर से भयंकर दण्ड भी सहने को प्रस्तुत है -

" हा! दण्ड कौन, क्या उसे डरूंगी अब भी?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।" [३]

कैकेयी यह पाप किसी बुरी भावना से प्रेरित होकर नहीं करती, वरन् यह उसका वात्सल्य ही है जो उससे यह सब कुछ करवाता है। परन्तु आज उसका पुत्र भी अन्य सा हो गया है। वह कहती है -

` पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में?

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६
२. ,, पृ० २५०
३. ,, पृ० २५०

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य सा हुआ वत्स भी मेरा ।"[1]

राम ने स्वयं उसके विषय में कहा है -" जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ।" वह अपने पुत्र की प्रवृत्तियां भी ठीक-ठीक न समझ सकी तथा पुत्र-स्नेह में अंधी हो गई । कैकेयी अन्त में राम से कहती है -

" ढोया जीवन - भार, दु:ख ही ढोया मैंने ,
पाकर तुम्हें, परन्तु भरत को पाया मैंने ।"[2]

इस प्रकार साकेतकार ने कैकेयी के चरित्र का प्रक्षालन और परिवर्तन बड़े ही कौशल से किया है ।

दुर्योधन 'महाभारत' का खल पात्र है । दुर्योधन को 'जयभारतकार' ने एक नवीन ही रूप दिया है । जहां कवि ने आदर्श चरित्रों को मानवीय रूप प्रदान किया है, वहीं दूषित पात्रों का उद्धार भी किया है । दुर्योधन परम्परा से कलंकित पात्र है । गुप्त जी ने भी यथा स्थान उसके दुष्कृत्यों का उल्लेख किया है, किन्तु उसके हृदय के अच्छे गुणों को भी उभारा है । दुर्योधन का कर्मयोगी रूप देखिये --

यही तोष मुझको
अन्त तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने ।[3]

भीम और दुर्योधन की आजीवन प्रतिद्वन्द्विता रही है । दुर्योधन सदैव दुष्प्रवृत्त रहा है परन्तु भीम और दुर्योधन के गदा-युद्ध में कवि ने दुर्योधन के पक्ष को ही संभाला है । गदा का लक्ष्य उत्तरांग ही होना चाहिए, परन्तु भीम ने गदा द्वारा दुर्योधन की जांघ ही तोड़ दी । इस बात के लिए बलराम भीम को मारने चले और नियम-भंग करने के लिए क्रोधित हुए । दुर्योधन के गिर जाने पर भीम ने एक लात उसके सिर पर मारी, परन्तु कृष्ण और युधिष्ठिर ने उसे

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६
२. ,, द्वादश सर्ग, पृ० ४६५
३. जयभारत, युद्ध, पृ० ४००

मना किया । भीम के इस दुष्कृत्य पर अर्जुनादि का भी सिर लज्जा से नीचा हुआ । इस प्रसंग में कवि की करुणा ने भी दुर्योधन का ही साथ दिया है। पाषाण हृदय दुर्योधन के हृदय में भी दया जैसी कोमल भावना गुप्त जी ने दिखाई है। अश्वत्थामा जब पाण्डवों की हत्या करने की प्रतिज्ञा करता है तब दुर्योधन उससे एक पिण्डदाता छोड़ने की बात कहता है। साथ ही जीवन का वैर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है –

" किन्तु गुरुपुत्र ! एक पिण्डदाता छोड़ना ।

x x

श्रद्धा भक्ति का तो भूखा भगवान भी ।
जीवन का वैर रहे मृत्यु के भी साथ क्या ? [1]

'जयभारत' के दुर्योधन के प्रत्येक कार्य में औदात्य है, पग पग पर शालीनता भी है। वह स्वयं कहता है –

" ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊंगा ।" [2]

वह जीने के समान मरना भी जानता है –

" जीने के समान मरना भी जानता हूं मैं,
जीते रहें तुमसे अलज्ज अपमान में ।" [3]

मृत्यु के समय दुर्योधन, युधिष्ठिर से जो बातें कहता है उसके द्वारा भी कवि उसके चरित्र को शालीन बनाता है –

" आर्य, अब जीवन तो मेरे लिए मृत्यु है ।
नीचे का विरोध रहे, ऊपर मिलूंगा ही,
मिलना वहीं है, यहां केवल बिछुड़ना ।" [4]

---

१. जय भारत, युद्ध, पृ० ४०१
२. ,, पृ० ४०३
३. ,, पृ० ४०३
४. ,, पृ० ४११

यह कह कर दुर्योधन मौन हो गया और युधिष्ठिर रो उठे। युधिष्ठिर उसके लिए कहते हैं —

" सम्मुख समर में निहित स्वर्ग-भागी तू
जीवित नरक-भोग मेरे लिए है यहीं।"[१]

यहाँ दुर्योधन के चरित्र को गुप्त जी ने आततायी और दुराचारी की भूमिका से उठाकर शुद्ध मानवीय भूमि पर रखा है। कवि भी उसके पराभव से करुणार्द्र हो उठता है और युधिष्ठिर भी उसके प्रति सदय हैं।

दु:शासन जैसे पापी व्यक्ति के हृदय में भी मैथिलीशरण गुप्त ने भ्रातृत्व सी भव्य भावना का संधान किया है। यही उसके जीवन का मूल मंत्र है। वह दुर्योधन को धर्म और कर्म से भी अधिक मान्यता देता है। यथा —

" मैंने न तो धर्म कर्म जाना,
माना सदा जीवन में तुम्हीं को।"[२]

दु:शासन इतना भ्रात-भक्त है कि वह दुर्योधन की इच्छा को बिना विचारे पूरी करना चाहता है। यदि ऐसा न होता तो वह राज-सभा में यह सोचता कि वह द्रौपदी का वस्त्र खींचे अथवा न खींचे। वह यही बात दुर्योधन से कहता है —

" इच्छा तुम्हारी अविचारणीया
होती नहीं, तो फिर सोचता मैं —
खींचूं न खींचूं बल से सभा में
दुकूल किंवा कच द्रौपदी के।"[३]

वह स्वयं को दुर्योधन का भाई न मानकर किंकर समझता है। यथा

कहे मुझे जो कुछ लोक चाहे,
तो भी इसे कौन नहीं कहेगा -

---

१. जयभारत, युद्ध, पृ० ४११
२. ,, दुर्योधन का दु:ख, पृ० २१५
३. ,, ,, पृ० २१५

भाई नहीं किंकर मैं तुम्हारा ,
मैं चाहता राज्य नहीं, तुम्हें ही ।[१]

यही भ्रातृ-प्रेम दु:शासन के चरित्र को नवीन रेखाएं प्रदान करता है। यह जयभारतकार की अपनी कल्पना है। वास्तव में गुप्त जी की प्रवृत्ति दोष दर्शन की ओर नहीं वरन तलवासिनी मानवीय प्रेरणा के उद्घाटन की ओर रहती है।

रावण रामकथा का धिक्कृत पात्र है। चिर कलंकित रावण का भी गुप्त जी ने एक नवीन रूप देकर उसके चरित्र के अच्छे गुणों को उभारने का प्रयत्न किया है। रावण के चरित्र में भी मानव-गुणों की सृष्टि की है। यद्यपि इससे रावण के चरित्र की पाप-कालिमा एकदम प्रक्षालित नहीं हो पाती परन्तु उसमें एक दीप्ति का आभास अवश्य मिलने लगता है। राम-भक्त कवि रावण जैसे घोर-कठोर व्यक्ति के हृदय में भी भव्यता देखता है।

रावण को गुप्त जी ने असत् का प्रतीक मात्र नहीं बनाया है, वरन् उसे भी मानवीय भावनाओं से संयुक्त किया है। रावण के चरित्र में कवि ने संवेदना रखी है। एक बार तो राम भी उसे अपने से अधिक सहृदय मानते हैं। कुंभकर्ण-वध पर राम की सहानुभूति रावण के प्रति उमड़ी। धनुष छोड़ कर राम ने कहा --

"आ भाई वह बैर भूलकर,
हम दोनों समदु:खी मित्र ,
आजा क्षण भर भेंट परस्पर,
कर लें अपने नेत्र पवित्र।"[२]

परन्तु इससे पहले कि यह अवसर आता, रावण मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और "राम से रावण ही सहृदय है आज"[३] कह कर राम भी गिर पड़े।

---

१. जयभारत, दुर्योधन का दु:ख, पृ० २१५
२. साकेत, एकादश सर्ग, पृ० ४४६
३. [illegible] में, पृ० ४४६

" महाभारत" की हिडिम्बा मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा वैष्णवी हो गई है। वह राक्षसी नहीं रही। इसीलिए वह कह सकी :-

" मुक्ता छोड़ हंस कहां जाय कुछ चुगने,
प्रिय के जो प्रिय है, वे मेरे प्रिय दुगुने।"[१]

हिडिम्बा के सुसंस्कारों के सम्बन्ध के सम्बन्ध में माता कुन्ती की भी यह उक्ति देखिये -

" स्त्री का गुण रूप में और कुल शील में,
पद्मिनी सी पंकजता डूबे किसी झील में।"[२]

3. भावपूर्ण स्थलों को मोहक रूप देने के लिए -

गुप्त जी में भावपूर्ण स्थलों को पहचानने की विलक्षण क्षमता थी। जीवन के प्रत्येक क्षण का अपना महत्व होता है किन्तु कतिपय विशिष्ट क्षण अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शी होते हैं। वास्तव में ये ही मर्मस्पर्शी क्षण काव्य के विषय होते हैं। यों तो प्रबन्ध काव्य में समग्रजीवन का चित्रण होता है, परन्तु प्राण उसके चुने हुए मार्मिक स्थल ही होते हैं। सम्पूर्ण कथा उन्हीं मार्मिक स्थलों पर पहुंचाने वाली होती है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "जिसके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी हैं जो कथा प्रवाह के बीच बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुंचने के लिए होती है।"[3] सफल प्रबंधकार कथा के मार्मिक प्रसंगों को पहचानता है और उनको रसात्मक ढंग से चित्रित करता है। गुप्त जी मुख्यतया प्रबन्धकार हैं। उन्होंने महाकाव्य साकेत बृहद् प्रबंध "जयभारत" और उन्नीस खण्डकाव्यों का प्रणयन किया है। इन सब प्रबन्ध काव्यों में कवि ने मार्मिक स्थलों को पहचाना और उनका कुशलता पूर्वक वर्णन किया है।

---

१. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ७८
२. ,, ,, पृ० ८४
३. जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्क०, पृ० ६६

यहाँ हम राम काव्य, महाभारतीय काव्य तथा इतिहास पर आधारित काव्यों में वर्णित मार्मिक प्रसंगों का अध्ययन करेंगे । 'जयद्रथ-वध' काव्य में अभिमन्यु का रणोत्साह, उत्तरा का विलाप, अर्जुन का शोक और कोप अर्जुन की विफलता परन्तु कृष्ण-कृपा से सफलता होना, मार्मिक प्रसंग है । कवि ने इन प्रसंगों को भली भाँति उभारा है । इन सब प्रसंगों में 'उत्तरा-विलाप' अत्यधिक मार्मिक है । उत्तरा के गहन दु:ख की कारुणिक व्यंजना करना ही इस खंड काव्य का मुख्य ध्येय है । कवि अपने इस लक्ष्य में पूर्णतया सफल भी हुआ है । कौरवों के चक्रव्यूह में अभिमन्यु को छल पूर्वक मार दिया जाता है । पाण्डव पक्ष में सर्वत्र शोक छा जाता है । और अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा तो —

" चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानों रह गई हत उत्तरा ।
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी ।"[1]

उत्तरा के दु:ख का और-छोर नहीं । अल्पायु में ही जिसका वीर पति, वीर गति को प्राप्त हो जाय, उस पत्नी के दु:ख का क्या ठिकाना । इस घोर दु:ख को सह न पाने के कारण वह संज्ञाशून्य हो जाती है । परन्तु संज्ञाशून्य स्थिति में भी वह अधिक समय नहीं रह पाती, दासियाँ उसे शीघ्र ही चैतन्य करने का प्रयत्न करती हैं । अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था में उत्तर पति के शव के निकट जाकर " हा ! नाथ ! हा !" कहती हुई गिर पड़ती है । कैसा करुण दृश्य है, आत्मा को दहला देने वाला । वह मृत पति की देह को अपनी गोद में रख कर बहु-विध विलाप कर उठती है । यथा —

" फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई
कुररी सदृश्य सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई ।"[2]

राज-वधू का सिर और छाती पीट कर विलाप करना, उसे लोक-सामान्य भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है । प्रिय मरण से अधिक करुण प्रसंग और

---

१. जयद्रथ-वध, द्वितीय सर्ग, पृ० २१.
२. जयद्रथ वध, पृ .. पृ० २२

क्या हो सकता है ? इस अवसर पर स्नेह-शून्यता का भान और असहायता का बोध प्रेम की तीव्रता को और भी बढ़ाते हैं, साथ ही प्रिय के साथ अपना जीवन भी समाप्त कर देने की इच्छा तीव्र होने लगती है। ऐसा होना कोई रूढ़ नियम नहीं है, वरन यह मानव की सहज प्रवृत्ति है। उत्तरा भी इसी प्रकार विलाप करती है। यथा —

" मति, गति, सुकृति, धृति, पूज्य, पति, प्रिय, स्वजन, शोभन-संपदा,
हो ! एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा ।
यों नष्ट उसको देख कर भी बन रहा तू भार है !
है कष्टमय जीवन तुझे धिक्कार बारम्बार है।"[1]

पति के मरणोपरान्त उत्तरा जीवित नहीं रहना चाहती। ऐसा जीवन तो भार ही है। वह सहमरण की इच्छा व्यक्त करती है।

जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश तुमने ले लिया ,
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्यपद मुझको मिला,
मैं दूर करना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला।"[2]

वियोग में संयोग का सुख भी याद आता है। उत्तरा सुख की घड़ी का स्मरण कर-करके विलाप करती है —

" मैं हूं वही जिसका हुआ था ग्रन्थि - बन्धन साथ में,
मैं हूं वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में ,
मैं हूं वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूं मैं अनुचरी चिरसंगिनी।"[3]

गुप्त जी ने अपनी मौलिक कल्पना द्वारा उत्तरा के इस शोक व्यंजक विलाप को अत्यधिक मर्मस्पर्शी बनाया है। 'जयद्रथ-वध' काव्य के अन्य स्थल भी

---

१. जयद्रथ-वध, द्वितीय सर्ग, पृ० २२
२. ,, ,, पृ० २३
३. ,, ,, पृ० २५

पर्याप्त मर्मस्पर्शी हैं परन्तु मेरुदण्ड तो यही उत्तरा का विलाप है।

महाभारतीय कथा पर आधारित 'जयभारत' में भी अनेक भावपूर्ण मार्मिक स्थल हैं। वरन यदि यों कहा जाय की पंचम वेद 'महाभारत' के भावपूर्ण स्थलों को चुन कर ही कवि ने 'जय-भारत' की रचना की है, तो अधिक समीचीन होगा। नहुष का पतन, यदु और पुरु, एकलव्य की गुरुभक्ति, लाक्षागृह-अग्नि काण्ड, द्यूत प्रसंग, दुर्योधन का दुख, सैरन्ध्री की कथा, कुंती और कर्ण का वार्तालाप, अर्जुन का मोह, युद्ध का वर्णन, युद्ध के पश्चात् विलाप और अन्त में पाण्डवों का देह पात यह सब अत्यधिक मार्मिक प्रसंग हैं। इनमें से उदाहरण के लिए दो प्रसंग पर्याप्त होंगे। प्रथम प्रसंग राजा नहुष के पतन का अत्यधिक भावपूर्ण है। राजा नहुष इन्द्र के पद पर प्रतिष्ठित होते हैं। वहां की प्रजा स्वयं इतनी सुशासित है कि शासक को कुछ भी कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। नहुष का मन विलास की ओर उन्मुख होता है। एक दिन इन्द्राणी पर ही उनकी कुदृष्टि पड़ जाती है। तब उसकी ही प्रेरणा से वे सप्त-ऋषि-वाहित शिविका पर चढ़ कर इन्द्राणी को ले आने के लिए जाते हैं। नहुष वासना में इतने अंधे हो चुके हैं कि वे यह भी नहीं समझ पाते कि यह प्रस्ताव तो उनके अनिष्ट के लिए ही किया जा रहा है। तप से पवित्र किया हुआ मन भी भोग लिप्सा के वशीभूत हो जाता है। गीता में कहा भी गया है -

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन: [१]

वासना के वशीभूत हुआ कामुक व्यक्ति अनिष्ट को भी इष्ट समझे रहता है। नहुष भी शची के इस प्रस्ताव को अपना अनिष्ट नहीं वरनअपना सौभाग्य समझते हैं। काम का प्रभाव कितना गहन है कि वह मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना को कुंठित कर देता है। काम तो बड़े-बड़े देवताओं को भी विचलित कर देता है, फिर नहुष तो मनुष्य ही थे। नहुष ऋषियों की पालकी पर चले। कवि इस मार्मिक दृश्य का भावपूर्ण चित्रण करता है।

---

१. गीता २।६०

" बोले ऋषि-" भुगतेंगे हम यह विष्टि-भार ,
सह्य निज राजा की अनीति भी है एक बार ।"
मद सा नहुष चला बैठा ऋषि-यान में ,
व्याकुल से देव चले साथ में विमान में ।"[1]

भार की अधिकता के कारण ऋषि धीरे चलने लगे तो कामांध नहुष व्याकुल हो उठा । कन्धे फेरने के लिए ऋषि ज़रा अटके तो राजा ने सरोष पैर पटकने आरम्भ कर दिये । एक पैर जाकर ऋषि को लग गया, और सातों ऋषि क्रोधित हो उठे —

" भार वहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम ,
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम ?
पैर था वा सांप यह , डस गया संग ही,
पामर, पतित हो तू होकर भुजंग ही ।"[2]

नहुष के पतित चरित्र को कवि ने उठाया भी है । नहुष शाप से व्यग्र हुआ परन्तु दूसरे ही क्षण —

दीख पड़ा उसको न जाने क्या समीप-सा,
हो उठा प्रदीप्त वह बुझता प्रदीप-सा ।

× ×

कठिन कठोर सत्य, तो भी शिरोधार्य है,
शांत हों महर्षि , मुझे शाप अंगीकार्य है ।

वह अपनी भूल भी स्वीकार कर लेता है — ' मानता हूं भूल हुई, खेद मुझे इसका'[3] वह अपने इस दुष्कृत्य पर लज्जित भी होता है । यथा —

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० २०
२. ,, पृ० २१
३ ,, पृ० २१

" आ घुसा असुर हाय ! मेरे ही हृदय में,
मानता हूं, आप लज्जा पाप अविनय में ।"[१]

परन्तु फिर भी नहुष अपनी हार नहीं स्वीकार करते । कवि ने यहां नर की महत्ता स्थापित की है । कवि मानव की अदम्य शक्ति का विश्वासी है । वह अपने नहुष से कहलाता है --

" आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी ।
गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूं जो अभी ।
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूंगा मैं,
नर हूं, पुरुष हूं मैं, चढ़के रहूंगा मैं ।"[२]

इस प्रकार पतन के इस प्रसंग में नर के उत्थान का भी उपक्रम हुआ है । यही कुशलता कवि की विशेषता है । नहुष की कथा में इसी सबसे अधिक मार्मिक स्थल को संभालने में कुशल कवि की आवश्यकता थी । गुप्त जी ने इस मार्मिक स्थल को अत्यधिक भावपूर्ण ढंग से विन्यस्त किया है ।

पांडवों के देह पात के प्रसंग को भी कवि ने 'महाभारत' की अपेक्षा अधिक मार्मिक बनाया है । जीवन भर कष्ट झेलने के पश्चात् अन्त में विजयी हुए पाण्डव अपनी महानता और गौरव से युक्त हैं । यद्यपि महाभारत का महा नरमेध देखकर धर्मराज युधिष्ठिर को अत्यधिक दु:ख और ग्लानि का अनुभव होता है, परन्तु लोगों के आग्रह से वे सिंहासन सम्भालते हैं । अंत में जब धृतराष्ट्र गान्धारी तथा कुंती भी वन को चले जाते हैं तो पुन: उनका धैर्य टूट जाता है और वे युयुत्सु को सर्वस्व सौंप कर भाइयों और द्रौपदी सहित प्रस्थान कर देते हैं । वे इस समय तन और मन दोनों से ही तपस्वी हैं --

---

१. जयभारत, नहुष, पृ० २२
२. ,, पृ० २२

'जो रत्न जड़ित- से थे तन में,
यें तृण-सा उन्हें उखाड़ चले,
बाहर ही वल्कल धरे नहीं,
भीतर से राजस फाड़ चले।'[१]

पाण्डवों ने अपने शस्त्रों को भी अनावश्यक समझ कर जल में प्रवाहित कर दिया-

'निस्सार समझ शस्त्रों को भी
कर चले विसर्जित ये जल में।'[२]

अन्त में देह-पात का भी समय आ जाता है। यह प्रसंग बहुत मार्मिक है। वास्तव में मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसंगों में ही खुल खेलती है।'[3] सर्वप्रथम गिरती है द्रौपदी। यद्यपि अनुजों के सामने अन्धकार सा छा जाता है, परन्तु युधिष्ठिर इसे अपने मोक्ष का प्रथम सोपान समझते हैं। वे कहते हैं —

' तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी ही।'

इसके पश्चात् सहदेव के गिरने पर युधिष्ठिर बिना रुके ही कहते हैं कि यह तुम नहीं मेरा रूप-गर्व खर्वित हुआ है। नकुल के गिरने पर उसे युधिष्ठिर अपनी मति गति के गर्व का नाश मानते हैं। थोड़ी दूर चलकर अर्जुन भी गिर पड़ते हैं। अर्जुन के गिरने को युधिष्ठिर अपने मानी मदका झड़ना ही समझते हैं। और अन्त में भीम के गिरने को धर्मराज अपने औद्धत्य का शमन करना बताते हैं। इस प्रकार एक एक करके उनके सभी भौतिक बंधन समाप्त हो गए। अब वे निर्विकार आत्मा स्वरूप रह गए। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है 'महाभारत' के इस प्रसंग में द्रौपदी तथा भाइयों के पतन पर युधिष्ठिर उन्हीं के दोषों का उल्लेख करते हैं। परन्तु जयभारतकार ने इस दोष को बड़ी सतर्कता पूर्वक दूर किया है।

---

१. जयभारत, स्वर्गारोहण, पृ० ४३७
२. ,, ,, पृ० ४३८
३. विचार और विश्लेषण, डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृ० १२६

`साकेत` में भी कवि ने भावपूर्ण स्थलों को मार्मिक ढंग से उपस्थित किया है। यों तो `साकेत` की कथा प्राचीन रामकथा पर ही आधारित है परन्तु साकेत में उर्मिला और कैकेयी के चरित्रों को उभारने के लिए कवि को मूल धारा में ही परिवर्तन करना पड़ा और मौलिक परिस्थितियों का चित्रण भी करना पड़ा। साकेत के मार्मिक स्थल हैं – लक्ष्मण-उर्मिला की विनोद-वार्ता, कैकेयी मंथरा संवाद, राम-वन-गमन, निषाद-मिलन, दशरथ-मरण, भरत का प्रत्यावर्तन, चित्रकूट में राम भरत मिलन और सभा का आयोजन, उर्मिला का विरह, साकेतवासियों की रणसज्जा, राम-रावण युद्ध तथा राम का अयोध्या आना।`साकेत` के ये सभी स्थल बहुत मार्मिक हैं, उर्मिला और कैकेयी से सम्बन्धित प्रसंगों को छोड़कर शेष सभी प्रसंग `रामचरित मानस` में भी मार्मिक ढंग से वर्णित हैं। भरत मिलाप और चित्रकूट की सभा राम-कथा का अद्वितीय प्रसंग है। तुलसीदास ने भी बड़े मनोयोग से इस प्रसंगम की रचना की और साकेतकार ने तो और भी नई उद्भावनाओं द्वारा इस प्रसंग को अत्यधिक भावपूर्ण बना दिया है। चित्रकूट में एक दिन एकाएक राम, लक्ष्मण और सीता को दूर से उठती हुई धूलि भयभीत होकर भागते हुए खग, मृग आदि दिखाई देते हैं। लक्ष्मण तत्काल यह अनुमान लगा लेते हैं कि अवश्य ही भरत ससैन्य आ रहे हैं। फिर क्या था, वे युद्ध के लिए तत्पर हो जाते हैं और इस सम्बन्ध में राम का प्रतिषेध भी वे स्वीकार नहीं करना चाहते। यथा –

> " आए होंगे यदि भरत कुमति वश वन में,
> तो मैंने यह संकल्प किया है मन में –
> उनको इस शर का लक्ष्य चुनूंगा क्षण में,
> प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण में।"[१]

परन्तु उनका यह संदेह निर्मूल सिद्ध होता है। थोड़ी ही देर में भरत शत्रुघ्न धूलि पटल के बाहर प्रकट होते हैं, कवि उनके प्रेमपूर्ण मिल का चित्र अंकित करते हुए कहता है –

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३७

" दोनों आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे ,
दोनों से दोनों गए हृदय पर खींचे ।"[1]

भरत राम द्वारा हृदय पर खींचे जाने पर भी धूलि में ही लोटना चाहते हैं । राम उन्हें सान्त्वना देना चाहते हैं —

" रोकर रज में लोटो न भरत, ओ भाई, वह
यह छाती ठंडी करो सुमुख सुखदायी ।"[2]

'मानस' के विनयी और 'भायप-भगति' से पूर्ण भरत 'साकेत' में और भी अधिक ग्लानि तथा अनुताप से पूर्ण दिखाई देते हैं । उन्हें और कुछ नहीं सूझता तो वे अपने भाग्य को ही दोषी समझते हैं —

" हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है ।"[3]

भरत स्वयं को लांछित और तिरस्कृत अनुभव करते हैं । वे सबसे अधिक दु:खी तो इस बात पर हैं कि राम ने दुष्टा माता की बात तो मानी पर भरत की भावनाओं को समझने की चेष्टा नहीं की । वे खीज कर कह उठते हैं —

" उस जड़ जननी का विकृत वचन तो पाला
तुमने इस जन की ओर न देखा भाला ।"[4]

भरत के इस तर्क पर राम निरुत्तर हो जाते हैं । भरत के समक्ष वे स्वयं को अपराधी अनुभव करते हैं । परन्तु फिर अपने कठोर कर्तव्य को स्मरण करके स्वयं को तथा भरत को प्रबोधते हैं । रात्रि में चित्रकूट सभा का आयोजन होता है । परन्तु प्रसंग इतना अप्रिय है कि कौन उसे आरंभ करे । अन्तत: राम ही 'हे भरत भद्र अब कहो अभीप्सित अपना' कह कर मौन भंग करते हैं । सभा में उपस्थित सभी व्यक्ति एकाएक सजग हो जाते हैं, परन्तु भरत के मर्म-स्थल पर 'अभीप्सित' शब्द से चोट पहुंचती है और उनके हृदय में ग्लानि का उफान उमड़

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४०
२. ,, पृ० २४०
३. ,, पृ० २४०
४. ,, पृ० २४०

उठता है । वे राम से कहते हैं —

" हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इस अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी के ही हाथ हनन था मेरा ।
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका ।
मुझसे मैंने ही स्वयं आज मुख फेरा,
हे आर्य बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ।" [1]

ऐसा चित्रण करना एक कुशल और मर्मज्ञ कवि का ही कार्य था । भरत के इन वचनों में एक साथ ही कितनी ग्लानि, कितना स्नेह, कितना दैन्य और कितनी करुणा का सम्मिलित झरना सा फूट पड़ा है । कवि ने जिस प्रकार से भरत के हृदय की तह में पहुंचकर, उसे टटोल कर देखा है, वास्तव में यह कार्य अद्भुत है । कवि ने यह कार्य अद्भुत कौशल के साथ किया है । भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ लेते हैं और उसकी पुनरावृत्ति उनके भावावेश को तरल बना देती है । ऐसा प्रतीत होता है मानो भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ कर आवेग के आवर्त में चक्कर लगा रहे हों, और यह डूबना उतराता हुआ उनकी शक्ति को विफल कर रहा हो । अन्त में "हे आर्य बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ।" कह कर वे विवश हो प्रवाह में बह जाते हैं ।"[2] ग्लानि-गलित

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४६-२४७

२. साकेत : एक अध्ययन, डा० नगेन्द्र, पृ० ६१ द्वादश संस्करण ।

भरत यहाँ स्वयं अपने ऊपर ही व्यंग्य कर रहे हैं ।

भरत की ऐसी कातर वाणी को सुनकर राम मानों उन्हें डूबते से बचाते हुए कहते हैं –

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ।"[१]

भरत तो डूबते से बच जाते हैं, परन्तु फिर कैकेई अपने को रोक नहीं पाती और बोल उठती है । उसके बोलने के लिए उपयुक्त अवसर आ भी गया है । वह दृढ़ अटल स्वर में कहती है –

" यह सच है तो तुम लौट चलो अब घर को

× × ×

हाँ जनकर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुनलें तुमने स्वयं अभी यह माना
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया ,
अपराधिन मैं हूं तात, तुम्हारी मैया ।"[२]

गुप्त जी ने कैकेई के मातृत्व को भलीभाँति उभारा है । कैकेई को अपने मातृत्व पर गर्व है । वह भरत को इतना अधिक चाहती है कि उस निर्दोष को निर्दोष ही सिद्ध करने के लिए मातृत्व की कठोर कसौटी पर कसना चाहती है । यथा –

" यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊं
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊं " ।[३]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४७
२. ,, ,, पृ० २४७,२४८
३. ,, ,, पृ० २४८

वह सारा दोष अपने ही ऊपर ले लेती है । मंथरा तक को दोष नहीं देती — "मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।" वह आत्मग्लानि से पीड़ित हो कर कह उठती है —

> कहते आते थे यही अभी नरदेही,
> माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही ।
> अब कहें सभी यह हाय । विरुद्ध विधाता,
> है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता ।"[१]

कैकेई अपने पाप की शांति के लिए युग-युग तक सबकी धिक्कार सुनने की अभिलाषी है —

> " युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी-
> 'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी ।'
> निज जन्म जन्म में जीव सुने यह मेरा —
> धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा ।"[२]

कवि ने कैकेई की आत्मग्लानि को पराकाष्ठा तक पहुंचाया है ।

कैकेयी के इस दयनीय पश्चाताप को देख शील-सागर राम का चुप रहना असंभव था । वे कैकेयी के मातृत्व को अक्षुण्य रखते हुए, भरत और कैकेई दोनों की आत्मग्लानि को दूर करने के लिए कह उठते हैं —

> " सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
> जिस जननी ने है जना भरत सा भाई ।"[३]

सारी सभा भी गद्गद् हो कर राम के स्वर में स्वर मिला कर चिल्ला उठती है —

> " सौ बार धन्य वह एक लाल की माई ।"[४]

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २४९
२. ,, ,, पृ० २४९
३. ,, ,, पृ० २५०
४. ,, ,, पृ० २५०

कवि ने यहां अपनी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। कवि ने इस प्रसंग में भरत और कैकेयी के साथ साथ राम का चरित्र भी जगमगा दिया है। यहां राम का 'पतित-पावन' रूप स्पष्ट दिखाई देता है। 'साकेत' का यह प्रसंग अत्यधिक मार्मिक और साथ ही भावपूर्ण बन गया है। युग युग से कैकेई के प्रति संचित दुर्भावनाएं कवि इतने सुंदर ढंग से समाप्त कर देता है। ऐसे वर्णनों में कवि की कल्पनाशक्ति दर्शनीय है। दूसरों की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार, उसको अनुभव करने की शक्ति भी कल्पना के नाम से अभिहित की जाती है। यद्यपि यह कल्पना का काफी संकुचित अर्थ है[१]। फिर भी प्रबन्ध कवि में इसका होना आवश्यक है। मैथिलीशरण गुप्त कुशल प्रबंधकार है और उनमें यह गुण विद्यमान है। वे सहज ही पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और कथा में एक अपूर्व मोहकता आ जाती है।

कवि ने प्राचीन कथाओं में नवीन परिस्थितियों और नवीन घटनाओं द्वारा रोचकता की सृष्टि की है। ऐतिहासिकता के साथ साथ यह कल्पना का संयोग 'मणि-कांचन' के समान मोहक प्रतीत होता है। ऐसे प्रयोगों में भाव की सरलता और उत्कर्ष का भी ध्यान रखा गया है। 'यशोधरा' काव्य में यशोधरा और राहुल का वार्तालाप देखिए —

" नहीं पियूंगा, नहीं पियूंगा, पय हो चाहे पानी।"
" नहीं पिएगा बेटा, यदि तू तो सुन चुका कहानी।"
" तू न कहेगी तो कह लूंगा मैं अपनी मनमानी,
सुन, राजा वन में रहता था, घर रहती थी रानी।"
" और हठी बेटा कहता था — नानी, नानी, नानी।"
" बात काटती है तू ? अच्छा, जाता हूं मैं मानी।"
" नहीं नहीं, बेटा आ, तूने यह अच्छी हठ ठानी,
सुनकर ही पीना, सोना मत, नई कहूं कि पुरानी ?"[२]

---

१. A narrow sense (of imagination) is that in which s[illegible]etic reproducing of other people's states of [illegible]articularly their emotional states is what [illegible]

[illegible]inciples of Literary Criticism by I.[illegible] [illegible] जननी, पृ० ७६ 6th im[illegible]

ऐतिहासिक कथा में कवि-कल्पना प्रसूत यह वार्तालाप कथा में रोचकता संपादन करने वाला तथा रस का उपकारक है। इसी प्रकार 'सिद्धराज' काव्य में अर्णोराज के प्रथम दर्शन पर राजकुमारी कांचनदे का कल्पना-चित्र भी दर्शनीय है। यथा —

' पहुँची परन्तु ज्यों ही मंदिर में सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिंद में ,

< <

संकुचित होके कहां जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वयं बन्दिनी-सी हो उठी।
आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भवह भी था, अवलम्ब लिया जिसका।
हो गए अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक भिलता ?
आहा! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।[१]

'सिद्धराज' का कथानक ऐतिहासिक है। परन्तु उपर्युक्त अनुभवों का विवरण तो किसी भी इतिहास में उपलब्ध नहीं हो सकता।

'विकट- भट' में देवीसिंह जी का रोष भी एक महत्वपूर्ण स्थल है। कवि ने उसमें अपनी कल्पना का पुट देकर उसे और भी रोचक बना दिया है। खास दरबार लगा हुआ है। अकस्मात जोधपुर नरेश विजय सिंह होठों से सुरा का पात्र अलग कर पोकरण वाले सरदार देवीसिंह से कुछ पूछ बैठते हैं कि — 'कोई यदि रूठ जाए मुझसे तो क्या करे?'[२] यह प्रश्न एकदम अप्रासंगिक है और असंभावित ढंग से सामने आता है। देवीसिंह इसे साधारण कौतुक समझ कर सीधे ढंग से उत्तर देते हैं —

---

१. सिद्धराज, चतुर्थ सर्ग, पृ० १७-१८

" क्षमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से ?"[१]

देवीसिंह पुन: यही प्रश्न पूछते हैं तो देवीसिंह कहते हैं —
" जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे ।"[२]

परन्तु राजा एकाएक कह उठते हैं —
" और तुम रूठ जाओ तो बताओ क्या करो ?"[३]

इस अप्रत्याशित प्रश्न को सुनकर —
देवीसिंह चौंके— " क्षमा पृथ्वीनाथ, यह क्या !"[४]

यह बात तो चौंकाने वाली थी ही । देवीसिंह को अनेक प्रकार की शंकाएं होने लगती हैं । विजयसिंह जी पुन: कहते हैं —

" मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो बताओ क्या करो ?"[५]

देवीसिंह कुछ कुछ आश्वस्त होते हुए सामंतीय ढंग से उत्तर देते हैं —

" क्षमा अन्नदाता, यह क्या ?
सेवक हूं मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं,
आपसे क्यों, रूठूंगा भला मैं ? आप मुझको-
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूं,
जाऊंगा कहां मैं फिर रूठकर आपसे ?"[६]

लेकिन विजय सिंह इस उत्तर से भी संतुष्ट नहीं होते । वे बार बार यही प्रश्न करते हैं कि यदि तुम मुझसे रूठ जाओ तो क्या करो ? देवीसिंह प्रश्न

---

१. विकट-भट, पृ० ३
२. ,, पृ० ३
३. ,, पृ० ३
४. ,, पृ० ३
५. ,, पृ० ३
६. ,, पृ० ४

को टालते रहते हैं। पर धैर्य की भी एक सीमा होती है। अन्तत: दैवी-सिंह भी तिलमिला उठते हैं -

" लाली दौड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में,
वदन गंभीर हुआ, किन्तु रहे मौन वे।"[१]

परन्तु राजा विजय सिंह पुन: यही प्रश्न करते हैं। राजा पर न मालूम कैसा भूत सवार था। बार-बार यही प्रश्न होने पर वृद्ध वीर दैवीसिंह के आत्म-सम्मान को ठेस लगती है।

" पृथ्वीनाथ जो मैं रूठ जाऊँ" कहा वीर ने -
" जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पतेली में ही,
मैं यों नवकोटी मारवाड़ को उलट दूं।"
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी।"[२]

राजा विजय सिंह के बार बार वही प्रश्न करने पर वृद्ध दैवीसिंह क्रुद्ध हो उठते हैं। राजपूत इतिहास के इस प्रसंग को कवि ने अपनी कल्पना के द्वारा अत्यधिक रोचक और मार्मिक बनाने का प्रयत्न के द्वारा अत्यधिक रोचक और मार्मिक बनाने का प्रयत्न किया है।" विकट-भट" में दैवीसिंह का क्रोध एक मनोवैज्ञानिक धरातल पर बड़ी कुशलता के साथ दिखाया गया है।

४. मानववाद की प्रतिष्ठा के लिए

गुप्त जी ने रामायणीय और महाभारतीय पात्रों में अपेक्षाकृत अधिक मानवीय गुणों का समावेश किया है। "वाल्मीकि रामायण" तथा "रामचरित मानस" में वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ही कैकेयी को अपनी बात कहने या पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं देते।• वाल्मीकि रामायण में

---

१. विकट भट, पृ० ४
२ ,, पृ० ४-५

एक स्थल पर भरद्वाज मुनि के द्वारा कैकेयी के दोष का निवारण किया गया है। वे कहते हैं -" हे भरत तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ क्योंकि श्री रामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चल कर सुख प्रद होगा। देखो देव, दानव और बड़े बड़े महर्षियों की राम के वनवास से भलाई ही होगी। यह सुनकर भरत ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर उनकी परिक्रमा की।"[1] इसी प्रकार चित्रकूट में राम भी कैकेयी का पक्ष लेकर भरत को स्मरण दिलाते हैं कि दशरथ ने विवाह के अवसर पर कैकेयी के पुत्र को राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी।[2] तुलसी की कैकेयी ग्लानि-गलित भी है परन्तु उसे अपनी ग्लानि प्रकट करने का अवसर ही नहीं दिया जाता। वह मृत्यु का आवाहन तो करती है पर राम से प्रत्यावर्तन के लिए आग्रह नहीं करती।[3] प्राचीन राम-कथा में कैकेयी को कहीं भी अपनी सफ़ाई देने का अवसर नहीं मिला है। सर्व-प्रथ गुप्त जी ने ही उसे अपनी सफाई में कहने के लिए अवसर दिया है। `साकेत` में वह भाँति भाँति से अपना पश्चाताप प्रकट करती है। मानववादी कवि ने कैकेयी के दोष निवारण का पूरा प्रयत्न किया है।

---

१. न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।।२९

राम प्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति ।

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्म नाम् ।। ३० ।।

हितमेव भविष्यद्धि राम प्रव्राज नादिह ।

अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणाम् ।। ३१ ।।

—(वाल्मीकिरामायण२।९२,३०,३१)

२. पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।

मातामहे समाश्रौषी द्राज्य शुल्कमनुत्तमम् ।। ३।।

—वही २।१०७।३

३. अवनि जमहिं जाँचति कैकेयी ।

महि न बीचु बिधि मीचु न देई ।।

—(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

प्रकृति भेद से आदर्श और सामान्य दो प्रकार के चरित्र हुआ करते हैं। गुप्त जी ने आदर्श पात्रों में भी मानवीय गुणों का समावेश किया है। राम के चरित्र का चित्रण सिद्धान्ततः वे ईश्वरत्व से पूर्ण करते हैं, परन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर राम का चरित्रांकन कवि ने मानव रूप में गुण-दोषों से पूर्ण किया है। राम और सीता का दाम्पत्य और गृहस्थजीवन मानवीय गुणों से पूर्ण है।[१] पिता की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनने पर साधारण मनुष्य के समान राम का गला रुंध जाता है और नेत्रों में आंसू छलछला आते हैं। पिता के निधन से वे स्वयं को हीन, निस्सहाय, निरवलम्ब समझते हैं।[२] सीता भी मानवीय रंग में रंगी दिखाई देती हैं। वे 'साकेत' में एक कुलवधू के रूप में उपस्थित हुई हैं।[३] पुत्रवधू के रूप में भी वे कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही है - 'और माँ क्या लाऊं ?' कह कर आवश्यक वस्तुएं उपस्थित कर रही है। यह चित्र कितना सहजल सरल और पार्थिव है।

'महाभारत' के नहुष-आख्यान में सत्कर्मों से इन्द्रपद तक की प्राप्ति क निर्देश है, परन्तु गुप्त जी द्वारा रचित 'नहुष' आख्यान में कवि मानवो-त्थान में अडिग आस्था प्रकट करता है। 'महाभारत' में बकासुर-वध तथा हिडिम्ब-वध प्रसंगों में भीम के अतुल बल और पराक्रम का ही दिग्दर्शन कवि ने कराया है, परन्तु गुप्त जी द्वारा रचित 'वकसंहार' में वात्सल्य पर कर्तव्य की विजय दिखाना कवि का उद्देश्य है, और 'हिडिम्बा' में कवि वर्ग भावना का त्याग कर प्राणी मात्र से प्रेम करने का संदेश देता है।' रामचरित मानस' में शूर्पणखा दिन-दहाड़े राम-लक्ष्मण के पास आती है। किन्तु 'पंचवटी' में कवि ने उसे मायी रूप देने के लिए रात्रि के तीसरे प्रहर में उसका आगमन करवाया है।

---

१. साकेत, अष्टमसर्ग

२. ,,

३. साकेत, चतुर्थ सर्ग

उसके कुत्सित प्रस्ताव के लिए सम्भवत: यही समय अधिक उपयुक्त था ।

गुप्त जी सदैव शिवत्व के पक्षपाती रहे हैं । उन्होंने पात्रों की मानवीयता की रक्षा करते हुए उन्हें शिवत्व की ओर उन्मुख किया है । महाभारतीय और रामायणीय काव्यों में ही नहीं वरन् ऐतिहासिक काव्यों में भी कवि की यह विशेषता दिखाई देती है । यशोधरा सिद्धार्थ के चले जाने पर विरह से व्याकुल है, परन्तु फिर भी रति का ऊर्ध्वायन देखने योग्य है । यथा —

जायं, सिद्धि पावें वे सुख से,,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालंभ दूं मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते ।[१]

यशोधरा अपने दु:ख ख में भी गौतम की सिद्धि की ही कामना करती है । परमार्थ के आगे वह स्वार्थ का त्याग करती है । यथा--

" मेरे, दुख में भरा विश्वसुख , क्यों न भरूं फिर हामी ।
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि ।" [२]

उर्मिला में भी विश्व प्रेम विकसित हुआ है । वह दूसरों के सुख को देख कर दुखी नहीं होती वरन उन्हें ही हर्ष विभोर रहने के लिए कहती है —

" हंसो, हंसो हे शशि, फूल,फूलो,
हंसो, हिंडोरे पर बैठ भूलो !
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूं,
भड़ी लगा दूं इतना पिये हूं ।"[३]

---

१. यशोधरा, पृ० ३३
२. ,, बुद्धदेव, पृ० २०८
३. साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६६

उर्मिला का तो यही विश्वास है कि जब सभी सुखी होंगे तो एक न एक दिन उसके सुख की भी बारी आएगी । यथा —

" तरसूं मुझ-सा मैं ही, सरसे-हरसे-हंसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आएगी बारी ।" [१]

यहां भावों के उन्नयन का कैसा सात्त्विक और सुन्दर रूप है । 'रंग में भंग' के हाड़ा कुम्भ में यही भावना देश-प्रेम बन कर आई है । बूंदी के दुर्ग की प्रतिकृति के दर्शन से भी वह गद्गद् हो उठता है । उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का मोह भी त्याग देता है । यथा —

"यदपि मेरा काल अब मेरे निकट आता चला,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला ।
जब कि एक न एक दिन मरनासभी को है यहां,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जैसा कहां ?" [२]

कवि यहां देश-प्रेम की वरिष्ठ भावना के साथ-साथ वीरत्व का उन्नयन भी प्रदर्शित करता है । पात्रों में मानवता के साथ-साथ उन्नयन का भाव कवि की अपनी विशेषता है । भाव का यह उन्नयन ही मनुष्यता की उच्च भूमि है । मनोविकारों का आदर्शीकरण वस्तुत: हमें नीचे से ऊपर को उठाता है । डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में —" आदर्श की स्थिति ऊर्जस्वित जीवन की मान्यता में है ।" [३] कविता में ऐसे ऊर्जस्वित जीवन की झांकी आवश्यक है । इसीलिए तो, आचार्य शुक्ल के शब्दों में —" कविता भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है ।" [४]

---

१. साकेत, नवम् सर्ग, पृ० २६३
२. रंग में भंग, पृ० ३०
३. साहित्यशास्त्र, प्रथम संस्करण, पृ० ५५-५६
४. रस-मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृ० २३

वास्तव में मानव, मनुष्यता की उच्च भूमि पर पहुंचा हुआ मानव वही है जिसकी भावना का विस्तार और प्रसार हो गया है। गुप्त जी ने अपने रामायणीय, महाभारतीय तथा ऐतिहासिक, सभी पात्रों को इस भावभूमि पर ला कर खड़ा किया है।

५. विवेक सम्मत घटना-विधान के लिए —

महाभारतीय और रामायणीय कथाओं में अतिप्राकृत तत्वों की भरमार है। इसीकारण ये कथाएं विश्वसनीय नहीं प्रतीत होतीं। गुप्त जी ने प्राचीन आख्यानों को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए उनमें से अतिप्राकृत तत्वों को हटा कर बुद्धि-सम्मत समाधान रखने की चेष्टा की है। 'महाभारत' के अन्तर्गत कृष्ण-दौत्य की कथा में अतिप्राकृत तत्व निहित है जिससे वह बुद्धि संगत नहीं प्रतीत होता। श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से संधि का संदेश लेकर कौरवों के पास जाते हैं। दुर्मति दुर्योधन किसी प्रकार भी श्रीकृष्ण की बात नहीं मानता, वरन् कृष्ण को बंदी बना कर अवैध कर्म करने को तत्पर होता है। उस समय श्रीकृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं। उनके शरीर से ज्योतिपुंज तथा अंगुठे के बराबर देवता निकलने लगते हैं, साथ ही उनके सिर पर ब्रह्म और वक्षस्थल पर रुद्र दृष्टिगत होते हैं। इसके अतिरिक्त वहीं पर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव और बलराम भी शस्त्रास्त्रों से युक्त दिखाई देते हैं।[१] इस समय श्रीकृष्ण के नेत्रों, नासिका, रंध्रों और कानों से सधूम अग्नि निकलने लगती है -

> नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः।
> प्रादुरासन्महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः।। १२।।[२]

---

१. महाभारत, उद्योग पर्व, भगवद्यानपर्व, अ० १३१, श्लोक ४-६
२. ,, ,, ,, अ० ,, श्लोक १२

श्रीकृष्ण के ऐसे अलौकिक रूप को देखकर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, संजय और तपस्वियों के अतिरिक्त सब डर जाते हैं। 'महाभारत' के इस प्रसंग में श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य को देख कर उनके मानव-अवतार का नहीं, वरन् षोडश कला अवतार का ही ध्यान आता है। परन्तु जब उन्होंने मानव अवतार लिया है तो कर्म भी मानवीय ही करने चाहिए। वे महामानव व चाहे बन जायें पर मानवेतर उन्हें न बनना चाहिए। प्रस्तुत घटना को अंध-विश्वास अथवा अतर्क्य श्रद्धा द्वारा ही हृदयंगम किया जा सकता है। गुप्त जी ने इस प्रसंग को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए विवेक-सम्मत रूप दिया है। जय भारत में न तो श्रीकृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं और न ही कोई अन्य अलौकिक कार्य ही करते हैं। वे केवल ऐसी दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखते हैं कि वह कंपित हो जाता है —

> तत्क्षण प्रभु ने उसे रोक कर जैसे तैसे,
> दुर्योधन की ओर न जाने देखा कैसे।
> परिकर समेत वह कांप कर वहीं लड़खड़ाता रहा,
> वे गये विदुर के गेह, वह बैठ लड़खड़ाता रहा।'[१]

यह विवरण इस रूप में अपेक्षाकृत अधिक बुद्धि संगत और विश्वसनीय है।

द्रौपदी-चीर-हरण 'महाभारत' का एक लोमहर्षक प्रसंग है। यहां पर भी अस्वाभाविक ढंग से द्रौपदी की लज्जा की रक्षा होती है। द्रौपदी श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगती है और धर्म वस्त्र बन कर बढ़ने लगता है। धर्म के प्रताप और श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी का चीर समाप्त नहीं होता, बढ़ता ही जाता है। दु:शासन वस्त्र खींचते-खींचते हार कर, थक कर बैठ जाता है। गुप्त जी ने इस प्रसंग के अतिप्राकृत ढंग से वस्त्र के बढ़ने को रोका है। 'जयभारत' में द्रौपदी भगवान कृष्ण का स्मरण तो करती है परन्तु भगवान वस्त्र नहीं बढ़ाते। वरन् द्रौपदी दु:शासन की प्रताड़णा

---

१. जयभारत, शान्ति संदेश, पृ० ३३४

करती है तब दु:शासन भयभीत हो उठता है। यथा: —

> सहसा दु:शासन ने देखा अन्धकार-सा चारों ओर
> जान पड़ा अम्बर-सा वह पर जिसका कोई ओर न छोर
> आकर अकस्मात अति भय सा उसके भीतर पैठ गया
> कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया।[१]

इसी समय कवि यहां गांधारी को भी उपस्थित करता है जिससे और अधिक स्वाभाविकता आ जाती है और कवि अपनी बात को अधिक विश्वसनीय बना पाता है।

'अतिथि और आतिथेय' आख्यान खण्ड में भी कवि ने अति प्राकृत तत्व को क्षीण बनाने का प्रयत्न किया है। दिव्य भांड और कृष्णावतार का उल्लेख न करके उसने केवल दुर्वासा के शिष्यों की ग्लानि का वर्णन किया है। दुर्वासा तृप्त होने का संदेश भेज देते हैं। वे कैसे तृप्त हो जाते हैं, इसके कारण को कवि ने पाठकों के अनुमान पर छोड़ दिया है।

मैथिलीशरण गुप्त ने प्राचीन कथाओं के अतिप्राकृत तत्व को हटाने की अवश्य चेष्टा की है, परन्तु अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने उन्हें ज्यों का त्यों उपस्थित किया है। उदाहरण के लिए 'जयद्रथ-वध' जैसी आरंभिक रचना में कवि ने अतिप्राकृत घटना को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। अर्जुन द्वारा छिन्न किया हुआ जयद्रथ का शीश आकाश मार्ग से उड़कर तपस्यारत वृद्ध क्षत्र (जयद्रथ के पिता) की गोद में जा गिरता है। तत्पश्चात् वृद्ध क्षत्र का सर भी फट जाता है।

जयभारत के 'यक्ष' प्रसंग में कवि ने अतिप्राकृत तत्व को आधार-ग्रन्थ के ही आधार पर रखा है। इसकी वस्तु कल्पना में कवि ने कोई परिवर्तन नहीं किया है।

---

१. जयभारत, द्यूत, पृ० १४८

इस प्रकार गुप्त जी ने प्राचीन कथाओं को अपनी कल्पना के रंग में रंगकर वास्तविकता के अधिक निकट उपस्थित किया है। वास्तव में कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभव करने के पश्चात् उसे खंडित कर, कुछ का त्याग तथा कुछ का ग्रहण करता है। और फिर अन्त में गृहीत खंडों की इस प्रकार योजना करता है कि एक नवीन, परन्तु पूर्ण चित्र बन जाता है।[१]

५. कथा को रोचक बनाने के लिए

मैथिलीशरणगुप्त के अधिकांश कथानक बहुश्रुत हैं। विशेषकर महाभारतीय और रामायणीय कथानक तो भारतीय जनता के न मालूम कब से कण्ठहार ही बने हुए थे। अत: कवि यदि उन कथाओं के कथानकों को नूतन रूप देकर अधिक रोचक न बनाता तो पाठक उसे बारम्बार क्यों पढ़ता? अपने कथानकों को रोचक बनाने के लिए कवि कहीं कहीं नाटकीय ढंग का प्रयोग करता है। 'पंचवटी' में पर्णकुटी बाहर एक शिला पर प्रहरी के रूप में लक्ष्मण बैठे हैं। उन्हें एकाएक उर्मिला का स्मरण हो आता है और वे एक क्षण ध्यान मग्न से हो जाते हैं। किन्तु इसी समय —

फिर आँखें खोलें तो यह क्या,
अनुपम रूप अलौकिक वेष।
चकाचौंध-सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख
एक हास्य वदनी बाला।[२]

---

१. The great artist, seeing a landscape, preaks it up, accepts this and rejects that, and finally brings the pieces together again to make a new whole.

Ruskin as Literary Critic(selections edited by A.HR. Ball,ed.1928, P.18.

२. पंचवटी, पृ० २०

एकाएक शूर्पणखा की इस तीव्र आलोकमय उपस्थिति से पाठक चौंक उठता है ।

कहीं कहीं कवि नाटकीय वैषम्य के द्वारा कोई संकेत करता है जिससे पाठक का कौतूहल बना रहता है । `साकेत` के अष्टम सर्ग में चित्रकूट में राम और सीता आनन्द मग्न हैं । सीता पौधों को सींच रही हैं, वे राम से कहती हैं --

" हो सचमुच क्या आनन्द छिपूं मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में ।"[1]

फिर इसके काफी देर बाद हनुमान द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलने पर राम को सीता की यह उक्ति अनायास ही स्मरण हो आती है । इसी प्रकार `जयभारत` में `परीक्षा` खंड में अर्जुन की प्रशंसा सुनकर कर्ण प्रतियोगी के रूप में मैदान में उतर आते हैं । उस समय युधिष्ठिर अपने मन में सोचते हैं कि यह कैसी विषमता है -" इसमें (कर्ण) ईर्ष्या जगी किन्तु मुझमें क्यों ममता ? ।[2] बाद में युधिष्ठिर की इस ममता का रहस्य तब खुलता है जब कुंती मूच्छित हो जाती है और कवि कहता है --

" कर्ण उसी का पूत सूत के यहां पला था
धर्मराज से बड़ा भाग्य ने जिसे छला था ।" [3]

कवि की इस उक्ति से पाठक तो इस रहस्य से यहीं अवगत हो जाता है, परन्तु युधिष्ठिर इससे बराबर अनभिज्ञ रहते हैं और `अन्त` में दाह कर्म के समय इस रहस्य से परिचित होते हैं, जबकि कुंती कहती है -- "वत्स

---

१. साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २२६
२. जयभारत, परीक्षा, पृ० ६२
३. ,, ,, पृ० ६३

कर्ण को भी अंजलि दो निज अग्रज के नाते ।"[1] और गिर ही पड़ते आर्य युधिष्ठिर यदि न संभाले जाते ।"[2]

कहीं-कहीं कवि ने कथा में रोचकता और उत्सुकता की सृष्टि के लिए किसी पात्र का नाटकी ढंग से आकस्मिक प्रवेश भी कराया है । शान्ति-संदेश लेकर श्रीकृष्ण दुर्योधन के पास जाने के लिए तत्पर हैं और कहते हैं कि हम पांच गांव लेकर ही संतुष्ट हो सकते हैं । इस प्रसंग पर वार्तालाप हो ही रहा था कि —

" सहसा सभा की भाव-गति में एक भन्नाटा हुआ
झंझागमन के पूर्व का-सा घोर सन्नाटा हुआ
तत्काल बिजली सी चमकी चौंकी वहां कृष्णा कृशा । [3]

द्रौपदी के शम्पा सदृश्य प्राकट्य से पाठक को एक सुखद झटका सा लगता है, जिससे कथा में रोचकता उत्पन्न हो जाती है ।

कहीं कहीं कवि नाटकीय ढंग से अप्रत्याशित बात को रख देता है कि वह पूर्व परिचित बात भी नवीन सी प्रतीत होती है । हिडिम्बा भीम के समीप एक सुंदरी के रूप में आती है । दोनों में प्रेमालाप होता है । पाठक भी भीम और हिडिम्बा के मधुरालाप में विभोर हो जाता है । पाठक जब रसमग्न ही रहता है तो हिडिम्बा कहती है —

सोदर हिडिम्ब मेरा रक्ष: कुल-दीप है,
उसने मनुष्य-गंध पाके मुझे भेजा है ।"[4]

यह उक्ति सुनकर पाठक को एक झटका लगता है, यद्यपि वह इस वार्तालाप से पहले ही परिचित है ।

---

१. जयभारत, अंत, पृ० ४२६
२. ,, पृ० ४२६
३. जयभारत केशों की कथा, पृ० ३१४
४. ,, हिडिम्बा, पृ० ७८

दु:खी होने पर भी वे निश्चेष्ट हैं। तुलसीदास भरत की राम-भक्ति का गुण-गान हनुमान से करवाते हैं और उनके लंका प्रयाण का उल्लेख कर सीधे लंका- स्थित राम-लक्ष्मण का वर्णन करने लगते हैं। यहाँ यह आश्चर्य-जनक बात लगती है कि राम के अनन्य भक्त भरत राम को आपदग्रस्त जानकर भी निष्क्रिय बैठे रहते हैं। जिन राम का वियोग भरत तथा अन्य अयोध्यावासियों को असह्य है, उन्हीं को आपत्ति में जानकर भी वे हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते हैं यद्यपि तुलसीदास की गीतावली में इसी प्रसंग में सुमित्रा शत्रुघ्न को लंका-प्रयाण का आदेश देती हैं, और शत्रुघ्न भी इस आदेश को पाकर अपने को धन्य समझते हैं। यथा —

" तात ! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे, जनु विधिबस सुढर ढरे हैं।[१]

यद्यपि इस आज्ञा का पालन गीतावली में कहीं दृष्टिगत नहीं होता। 'साकेत' में भी लंका के लिए यद्यपि कोई प्रस्थान नहीं करता, क्योंकि वसिष्ठ मुनि सबको दिव्य दृष्टि द्वारा साकेत में ही खड़े खड़े लंका का दृश्य दिखला देते हैं। परन्तु लंका-प्रयाण न करने का गुप्त जी ने अच्छा और तर्कसंगत समाधान तो प्रस्तुत किया ही है। इस प्रकार कवि ने बड़ी सफलता के साथ भरत आदि के लंका न जाने का समाधान तो किया ही है, साथ ही अयोध्यावासियों में वांछित राष्ट्रीयता की स्थापना भी की है। राष्ट्र-नायक राम को आपदग्रस्त देख कर भरत तथा समस्त अयोध्यावासी लंका-प्रयाण के लिए सन्नद्ध तो हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त भरत तो सीता के लंका-निरोध को भारत-लक्ष्मी का बंधन ही मानते हैं। यथा —

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।।[२]

---

१. गीतावली - लंकाकाण्ड

२. साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ४५४

८. नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण के कारण —

गुप्त जी ने अपने काव्य में नारी के स्वस्थ रूप का चित्रण करना चाहा। उन्होंने न तो नारी को उस रूप को महत्व दिया जो भक्ति काल के वैराग्य मूलक काव्य में दिखाई पड़ता है, और न ही उस रूप को, जो कि रीतिकाल के विलासमय काव्य में। युग युग से नारी के व्यक्तित्व, उसके चारित्रिक गुणों और मानसिक वैशिष्ट्य को प्राय: अवहेलना होतीरही है। आधुनिक युग में आकर इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। गुप्त जी की दृष्टि में नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है और सहधर्म चारिणी है। वह मानव जीवन की पूर्ति है। वस्तुत: आधुनिक कवि मध्ययुग की काम-प्रसूता तथा वैराग्य-प्रसूत एकांगी दृष्टिकोण को त्याग कर तथा पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर, नारी को केवल कामिनी नहीं वरन सहधर्मिणी, माता, भगिनी और पुत्री के रूप में देखने लगे। इसी समय रवीन्द्रनाथ ने अपने नारी सौंदर्य का काव्यात्मक चित्रणों[१] और नारी सम्बन्धी विविध निबंधों[२] से आधुनिक कवियों को प्रभावित किया। नारियों ने विविध आन्दोलनों में भाग लिया। विशेषकर समाज सुधार सम्बन्धी[३] स्वातंत्र्य तथा समानता के लिए नारी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण नारी[४]का अपना व्यक्तित्व निर्मित हुआ। सभी क्षेत्रों में नारी को उचित स्थान प्राप्त होने लगे। पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन — पुरुषों से मैं कहता हूं कि तुम स्त्रियों को अपने दासत्व से पूर्णत: मुक्त होने दो,

---

१. रवीन्द्रनाथ की 'सान्ध्य-गीत' से लेकर 'चौताली तक की रचनाएं।
२. रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित विवाह का भारतीय आदर्श, नारी, नारी और मानव सभ्यता, स्त्री-पुरुष आदि निबन्ध।
३. शिशु-विवाह-निषेध-अधिनियम, सन् १६०१, शारदा एक्ट, सन् १६३०
४. कर्वे की वीमैन्स यूनिवर्सिटी, सन् १६१६ में तथा वीमैन्स इंडियन एसोसियेशन, सन् १६१७ में स्थापित हुआ।

उन्हें अपने बराबर का समझा । साहित्य में पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया[१]।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का एक उद्देश्य नारी के आन्तरिक गुणों का उद्घाटन करना भी था। वे नारी को जीवन का एक महत्व-पूर्ण अंग मानते थे। उन्होंने प्राय: पारिवारिक जीवन के चित्रण किए हैं, और पारिवारिक जीवन का नारी के बिना कोई अस्तित्व ही नहीं है। उन्होंने नारी के गृहिणी रूप तथा औज्वल्य को प्रकट करने की बराबर चेष्टा की है। कवि ने कई नायिका प्रधान काव्यों की रचना की है। गुप्त जी के काव्य की शकुन्तला, राधा, कैकेयी, सीता, माण्डवी, उर्मिला, यशोधरा, यशोदा, विधृता, कुब्जा, कुंती, द्रौपदी, देवकी, उत्तरा, हिडिम्बा, विष्णु-प्रिया और रत्नावली तो अविस्मरणीय चरित्र सृष्टियां हैं।

गुप्त जी ने अपने नारी चरित्रों को रूप और शील दिया है, उनके दोषों का पर्यवेक्षण कवि को रुचिकर नहीं। नारी समाज में अर्द्धांगिनी है और सहधर्मचारिणी है। वह कुल-लक्ष्मी है तथा पति के प्रति प्रेम की अनन्यता तथा सत् का व्रत लेकर आती है। गुप्त जी ने तो हिडिम्बा तक को वैष्णवी बना दिया है, वह अब वह राक्षसी नहीं रही, इसीलिए वह कहती है --

"मुक्ता छोड़ हंस कहां जाय कुछ चुगने,
प्रिय के जो प्रिय हैं, वे मेरे प्रिय दुगुने।"[२]

और माता कुंती भी उसके सुसंस्कारों के विषय में कहती है --

स्त्री का गुण रूप में है और कुल शील में,
पद्मिनी सी पंकजता हुई किसी झील में।"[३]

---

१. हिन्दुस्तान की समस्याएं, पृ० २१६
२. जयभारत, हिडिम्बा, पृ० ७८
३. ,, ,, पृ० ८४

गुप्त जी को नारी के प्रति अनुदार दृष्टिकोण भी असह्य है। "द्वापर" में विधृता द्वारा कवि इसी दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह व्यक्त करवाता है। यथा :-

" कामुक-चाटुकारिता ही थी क्या वह गिरा तुम्हारी ?
एक नहीं, दो दो मात्राएं, नर से भारी नारी। [१]

यहां विधृता जब " यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता " के आदर्श के साथ ही जब अपना पत्नीत्व मिटा हुआ पाती है तब वह विद्रोह कर उठती है। अतिथि धर्म का पालन करने पर जब वह लांछित होती है तो नारी की सामाजिक हीनता और अरक्षित पत्नीत्व पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। पतिव्रता होते हुए भी ऐसे लांछन को प्राप्त कर वह शरीर त्याग देती है। इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र का कथन है -" गुप्त जी ने स्त्रियों में भारतीय आदर्श के ढांचे में दिव्यता भरने की चेष्टा की है। स्त्रियों का जो भारतीय आदर्श दीर्घकालीन परम्परा-भुक्ति के कारण अनुदार और रूखा सा दीखने लगा था और क्रान्ति के स्फुलिंगों को विस्फोटक के लिए प्रेरित कर रहा था, उसी को नए भावुक तर्क से सजाकर, नई आत्मा से अभिसिंचित कर दिया है। [२]

गुप्त जी ने नारी को विविधता और व्यापकता ही दी है। वह पत्नी, प्रेमिका, बहू, ननद, भाभी, माता, पुत्री और बहन तथा सास के साथ-साथ त्यागमयी नारी, राष्ट्रसेविका और वीरांगना भी है। उसका अपना व्यक्तित्व है, उसकी अपनी भावनाएं हैं, उसके अपने विचार और सिद्धान्त हैं। वह धर्म-संस्थापन करने की क्षमता रखती है। ये सभी गुण गुप्तजी की गांधारी, सीता, द्रौपदी, उर्मिला आदि नारी चरित्रों में देखे जा

---

१. द्वापर, विधृता, पृ० ३१

२. गुप्त जी की कला, स्त्रियों का स्थान, डा० सत्येन्द्र, पृ० १३२

सकते हैं। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा' नामक पुस्तक में यह स्थापना की है कि गुप्त जी ने नारी पात्रों के साथ पक्षपात किया है।[१] वास्तव में गुप्त जी ने नारी के प्रति अजस्र करुणा प्रवाहित की है, इसमें कोई संदेह नहीं, परन्तु इसे पक्षपात नहीं कहा जा सकता ? क्योंकि पुरुष के ही कारण द्रौपदी, विधृता, गोपा और उर्मिला को क्लेश हुआ, परन्तु क्या नारी ने उसी भाँति पुरुष पर कोई अत्याचार किया ? यदि किया होता और तब गुप्त जी ने पुरुष के पति करुणा न व्यक्त की होती तो अवश्य इसे पक्षपात कहा जा सकता था। परन्तु गुप्त जी का नारी-चित्रण कारुण्य की भावुकता मात्र ही लिए हुए नहीं है वरन उसमें गंभीर सांस्कृतिक मनोभावना भी है। यशोधरा के सम्बन्ध में गौतम बुद्ध और उर्मिला के सम्बन्ध में राम की उक्तियों द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

१. गौतम बुद्ध :-

"दीन न हो, गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।

× ×

तुम तो यहाँ थीं धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ ;
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से।"[२]

२. राम:-

"तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर,
धर्म स्थापन किया, भाग्य-शालिनि, इस भू पर।"[३]

---

१. गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा, पृ० ७०

२. यशोधरा, पृ० २०६

३. साकेत, द्वादश, सर्ग, पृ० ४६५

गुप्त जी नारी के गौरव और गरिमामय रूप को ही देखते हैं। नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण मर्यादावादी है, रोमांटिक नहीं, इसलिए वह सांस्कृतिक है। गुप्त जी राधा-कृष्ण की भाँति स्त्री और पुरुष के पूर्णान्वित होने में जीवन की पूर्णता देखते हैं। यथा :-

"राधा में माधव, माधव में राधा-मूर्ति समाई।"[1]

और -

"यह क्या वयह क्या, भ्रम या विभ्रम ? दोनों नहीं अधूरे,
एक मूर्ति आधे में राधा, आधे में हरि पूरे।"[2]

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण के कारण नारी-चरित्रों को नई छवि रेखाएं प्रदान की हैं। इस नए दृष्टिकोण के कारण उनके काव्य में सर्वत्र नूतनता व्याप्त है, यद्यपि उनकी अधिकांश कथाएं प्राचीन हैं। ऐतिहासिक कथाओं में भी गुप्त जी ने नारी के इसी स्वस्थ्य रूप को उभारा है। उपेक्षिता उर्मिला की ही भाँति यशोधरा भी उपेक्षिता ही रही। उसकी मनोभावनाओं का उद्घाटन करना किसी ने भी आवश्यक न समझा। परन्तु गुप्त जी ने उसकी वेदना और उसके त्याग को कल्पना के नेत्रों द्वारा देखा और समझा। विरह विदग्धा गोपा गौतम के पथ की बाधा न बन कर उनके चरणों का अनुकरण करना चाहती है। यथा

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

x x x

क्यों कर सिद्ध करूं अपने को मैं उन नर की नारी ?
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।[3]

---

१. द्वापर, गोपी, पृ० २०३
२. ,, पृ० २०३
३. यशोधरा, पृ० ५२

विरहिणी यशोधरा उनकी सिद्धि की ही कामना करती है --

" जायं, सिद्धि पावें वे सुख से ,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूं मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते ।"[१]

विष्णुप्रिया भी उपेक्षिता नारी पात्र है। महाप्रभु चैतन्य की घर घर में पूजा और उनकी पत्नी एकांत उपेक्षित ? कवि इस अन्याय को न सह सका। विष्णुप्रिया तो उर्मिला और यशोधरा से भी अधिक दयनीय है। यथा --

" अयि उर्मिले , धैर्य रख मन में कट जावेगा काल,
भद्रे, ऊंचा हुआ और भी भव में तेरा भाल ।
यशोधरे, रख तू संभालकर राहुल सा निज लाल ,
उसे मांगने आवेंगे तेरे बुद्ध विशाल ।
पर यह विष्णुप्रिया करे क्या लेकर शून्य कपाल ?
कापालिक छोड़े हैं उसके प्राणों के प्रतिपाल ।"[२]

परन्तु उसे यह संतोष है कि उसके स्वामी 'प्रेम-विजय' के लिए गए हैं, और उनका जयजयकार भी सुनाई देता है। यथा -

" जान सकी मैं निपट निषिद्ध ,
प्रेम-विजय के अर्थ गए हैं मेरे स्वामी सिद्ध ।
सुन पड़ता है दूर मुझे भी उनका जय जयकार
हाहाकार किन्तु उठता है मेरा हृदय विदार ।"[३]

---

१. यशोधरा, पृ० ३३
२. विष्णुप्रिया, पृ० ७६
३. ,, पृ० ७३

विष्णुप्रिया गौर के कष्टों को देखकर उलहना भी नहीं दे पाती -

" दूं मैं कैसे हाय ! उलहना ।
सह सकता है कोई कैसे,
पड़ा तुम्हें जो सहना ।

< <

अचल उस प्रभु में तुम्हारी रति बही,
और तुममें अटल मेरी मति बही ।
मिलें तुम्हें प्रभु, मिलो मुझे तुम ,
नहीं और कुछ कहना ।
दूं मैं कैसे हाय ! उलहना । [१]

वास्तव में कवि ने इन नारी पात्रों के हृदय से तादात्म्य स्थापित किया है और उनके युग-युग से उपेक्षित भावों को प्रकट किया है ।

बाह्य पक्ष

कला पक्ष की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने सुदीर्घ रचनाकाल में नाना रूपात्मक काव्य रचनाएं की हैं । अर्थात् उन्होंने विविध प्रकार के काव्य रूपों की रचना की है । यों तो यदि कला को व्यापक अर्थ में लिया जाय तो वह सम्पूर्ण कवि-व्यापार की द्योतक है, अर्थात् अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति तक की सारी अवस्थाएं उसके अन्तर्गत आती हैं । यदि और व्यापक अर्थ में लिया जाय तो कवि-व्यापार ही क्यों, वरन लालित्य से सम्बन्धित सभी कुछ कला के नाम से अभिहित किया जाता है । अन्तर केवल माध्यम का है , अन्यथा उन सबके मूल में सत्यानुभूति रहती है । सत्यानुभूति को यदि शब्दों के पात्र में रखा जाय तो वह काव्य बन जाता है, ध्वनिबद्ध किया जाय तो संगीत को जन्म

---

१. विष्णुप्रिया, पृ० ११४

है और यदि रंगों और रेखाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाय तो चित्र अथवा मूर्ति का निर्माण हो जाता है। कविवर डा० रामकुमार वर्मा इसको इस प्रकार व्यक्त करते हैं -" जीवन की गति अनेक अनुभूतियों की चित्रशाला रही है। ये अनुभूतियां लहरों की भांति आती और चली जाती हैं किन्तु जो लहर सूर्य और चन्द्र की किरण पा जाती है, वह उषा या ज्योत्स्ना की सुहासिनी बनकर जल में विहार करती है और उसके सुनहले या रुपहले दुकूलों में सरिता की समाप्त प्राय स्मृति की भांति लीन हो जाती है। उसी प्रकार जब कोई अनुभूति जीवन की किसी मधुर स्मृति से जुड़ जाती है और किसी की मुस्कान की उषा या आंसू की ज्योत्सना उस पर पड़ जाती है, तो वह अनुभूति ही कला बन जाती है और यही कला जीवन में राग की सृष्टि करती हुई चिरस्मरणीय हो जाती है।[1]" "चैतन्य पर माया का जो आवरण है उसमें कला की ज्योति सबसे प्रखर है। यह आवरण चैतन्य को धूमिल नहीं करता वरन् चैतन्य को जड़ पर प्रसारित कर आत्म-संतोष की भूमिका प्रस्तुत करता है। इस भांति-कला जीवन की संचित स्मृति है, जिसने अनेक साधनों से हमें सत्य की झांकी दिखलाई है।"[2] यह तो हुआ कला का व्यापक रूप कला का एक संकुचित रूप भी है जो काव्य के वाह्य रूप से सम्बन्धित है। इसका भी अपना महत्व है, ठीक वैसे ही, जैसे आत्मा के रूप को हृदयंगम करने के लिए शरीर का ज्ञान आवश्यक है।

गुप्त जी के भाव पक्ष को देखने के पश्चात अब हम उनके कला-पक्ष पर विचार करेंगे। कलापक्ष की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने अपने सुदीर्घ रचना-काल में विविध प्रकार के काव्यरूपों की रचनाएं की हैं, यथा -- महाकाव्य, वृहत् प्रबंध, खण्ड काव्य, निबन्धकाव्य , गीतिकाव्य, मुक्तककाव्य, नाट्य कृतियां, पत्र-काव्य, अनुवाद तथा गद्य और कुछ

---

१. साहित्य चिंतन, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १८

२. ,, ,, पृ० १८

नवीन प्रयोग जैसे द्वापर, यशोधरा और कुणाल-गीत आदि। अब हम एक-एक काव्य-रूप पर विचार करेंगे।

महाकाव्य

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप बदलता रहा है। प्राचीन महाकाव्यों और आधुनिक महाकाव्यों में पर्याप्त अन्तर है। डिक्सन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि आज मानव-जीवन के क्षितिज का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कोई महाकवि चाहे जितना भी दूरद्रष्टा या विराट कल्पना वाला क्यों न हो, वह महाकाव्य के भीतर अपने युग-जीवन की सभी बातों और अनुभूतियों को उस प्रकार नहीं समाविष्ट कर सकता जैसे होमर, व्यास या वाल्मीकि ने किया है।[१] तात्पर्य यह है कि महाकाव्य के विकास के इतिहास को और सारे संसार के महाकाव्यों के स्वरूप को ध्यान में रख कर यदि कोई परिभाषा बनाई जाय, जिसमें महाकाव्य के सभी सामान्य लक्षण आ जायं तो भी वह अन्तिम परिभाषा नहीं हो सकती। अत: परिभाषाएं फिर-फिर बनती और फिर-फिर सुधरती हैं।[२] इतना होते

---

१. "The ancient wide and undivided realm is split and rent into many kingdoms. Perhaps it is no longer for the epic poet to secure scope and verge enough for his undertaking, or universal attention for his selected theme. The horizons of human life have evidened, but so vastly evidened that the epic poet can no longer include them, however far-seeing his vision, as did Homer weave so many histories together as to contain the whole learning of his time."

W. Macneile Dixon : English Epic and Heroic Poetry, London, 1912, P.16.

२. Benedetto Croce : Aesthetics, P.60-61

हुए भी काव्य-भेद किया जाता रहा है और परिभाषाएं बनती रही हैं। सच तो यह है कि मनुष्य की बुद्धि का काम ही विश्लेषण करना है। अतः परिभाषा किए बिना हम अपने विषय के साथ समुचित न्याय नहीं कर सकते। अतः भारतीय मनीषियों तथा विदेश के विद्वानों, दोनों ने महाकाव्य के कुछ लक्षण माने हैं। आचार्य दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार कहे हैं —

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंन्धिभिः ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति[1] ।।

आचार्य दण्डी के उपर्युक्त पद्यों में संस्कृत काव्य - शास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणों का सार निहित है। भारतीय आचार्य के अनुसार महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं —

महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए अर्थात् उसका विभाजन खण्डों अथवा अध्यायों में होना चाहिए। सर्ग न अधिक बड़े और न अधिक छोटे होने चाहिए। सर्ग संख्या के विषय में दण्डी कुछ नहीं कहते और अग्नि-

---

१. काव्यादर्श, १।१४-१९

.........पुराण भी इस विषय में मौन है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए अष्टाधिक सर्ग अनिवार्य मानते हैं।[१]

महाकाव्य का प्रारम्भ किसी भी प्रकार के नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण से होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने भी इसको ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[२] आधुनिक काल में साहित्य की सभी विधाओं में से मंगलाचारण की प्रथा का लोप हो रहा है। मैथिलीशरण तथा अन्य दो एक को छोड़कर शेष कवि इसकी चिन्ता नहीं करते। परन्तु फिर भी कुछ कवियों ने इसे अपनाये रखा है। उदाहरण के लिए 'एकलव्य' महाकाव्य के आरम्भ में डा० राम-कुमार वर्मा ने मंगलाचरण के रूप में गुरु-वन्दना रखी है।[३]

महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होनी चाहिए, क्योंकि उसका साधारणीकरण सहज होता है। प्रसिद्धि के साथ-साथ उसमें सत् की जय और असत् की पराजय भी होनी चाहिए।

कथानक नाटक की पांच संधियों से युक्त होना चाहिए।[४] अर्थात कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए।

नायक उदात्त एवं चतुर होना चाहिए। विश्वनाथ ने इसे और भी स्पष्ट किया है -" धीरोदात्तगुणसमन्वितः।" केवल उदात्तता काम्य नहीं क्योंकि उदात्त तो रावण भी है। इसीलिए धीरता को भी आव-श्यक ठहराया गया है जो कि राम में है पर रावण में नहीं है।।

---

१. सर्गा अष्टाधिका, इह, साहित्य दर्पण, ६।३२०

२. आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एववा - साहित्य दर्पण ६।३१६

३. एकलव्य- डा० रामकुमार वर्मा, मंगलाचरण।

४. साहित्य दर्पण - ६।३१६

विश्वनाथ ने एक ही कुल के एकाधिक प्रतापी राजाओं को भी नायक माना है।[१] किन्तु यह ठीक नहीं है। एकाधिक नायक होने से कथा विशृंखलित हो जायगी। यद्यपि महाभारत में कुरु कुल का वर्णन आदि पुरुष से आरंभ हुआ है – किन्तु नायक तो युधिष्ठिर ही है। महाकाव्य में नायक का वंश वृक्ष आ सकता है पर नायक अनेक नहीं हो सकते। अनेक नायक होने से किसी के भी चरित्र का पूर्ण विकास नहीं हो सकता।

महाकाव्य में रस का अविरो संचार होना चाहिए। अग्नि पुराण के अनुसार महाकाव्य में सभी भावों एवं रसों का समावेश अनिवार्य माना गया है।[२] परन्तु महाकाव्य में कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए – विषय-गत वैविध्य की अवस्थिति में भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमें कि सबका पर्यवसान हो।[3] आचार्य विश्वनाथ शृंगार, वीर एवं शान्त में से किसी एक को अंगी तथा शेष सब रसों को अंग रूप में चाहते हैं।[४]

---

१. एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा – साहित्य दर्पण ६।३१६

२. सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितं– सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुण विभूषणैः।

३. One Predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein.

A prose English Translation of Agni Purana. Edited and Published by Manmath Nath Dutt. Vol.II, edition 1904.

४. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
—साहित्य दर्पण, ६।३१७

महाकाव्य का लक्ष्य धर्मार्थ काम-मोक्ष अर्थात् जीवन के पार्थिव तथा अपार्थिव फलों की प्राप्ति होनी चाहिए । अग्नि पुराण भी 'चतुर्वर्गफलं' इत्यादि में महाकाव्य का यही लक्ष्य मानता है । [१]

प्रत्येक सर्ग में भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए । किन्तु यदि किन्हीं सर्गों की कथा का कुशल अंकन एक ही छंद में हो सके तो छन्द बदलने की आवश्यकता नहीं । जैसा तुलसीदास ने केवल दोहा-चौपाई में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ समाप्त कर दिया है --फिर भी उसका सौन्दर्य अक्षुण्य है । विश्वनाथ ने सर्ग के अंतिम दो-तीन छंद बदलने की बात भी कही है । [2] वस्तुत: यह कथा के मोड़ का संकेत करने के लिए है, अर्थात् अगले सर्ग की कथा की सूचना देने के लिए है । [3]

महाकाव्य में संध्यासूर्य, नगर नदीश , संयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार आदि का यथास्थान वर्णन होना चाहिए । आचार्य विश्वनाथ ने भी इसे मान्यता दी है । [४]

दण्डी ने तो नहीं पर आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के नामकरण के विषय में लिखा है कि उसका नाम कवि के नाम पर, वृत्त के अनुसार अथवा नायक (नायिका के ऊपर भी) के नाम पर रखा जाता है । किन्तु कोई और नाम भी संभव है । [५]

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा संस्कृत साहित्यशास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के वास्तविक तत्वों को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है ।

१. महाकाव्य की वस्तु लोक-विख्यात, विशाल तथा क्रमबद्ध होनी चाहिए ।

२. नायक अथवा मुख्य पात्र धीरोदात्त होना चाहिए । उसमें ओज तथा गंभीरता आदि महनीय गुण होने चाहिए ।

३. शृंगार, वीर, शान्त(तथा करुण)में से कोई एक अंगी, तथा शेष सभी रस अंग रूप में आने चाहिए ।

४. महाकाव्य का लक्ष्य फल-चतुष्टय अर्थात् धर्मार्थकाममोक्ष होना चाहिए ।

५. शैली विस्तारगर्भ, विविध वर्णनक्रमात, गंभीरता से युक्त तथा अलंकार सज्जित होनी चाहिए ।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ गौण लक्षण भी है --

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए ।

२. सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए ।

३. प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए ।

४. सर्ग के अन्तिम दो तीन छन्द परिवर्तित और उनमें भावी कथा की ओर संकेत होना चाहिए ।

५. महाकाव्य में चन्द्रमा, सूर्य, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन मध्याह्न, मृगया, संग्राम, यात्रा, विवाह, स्वर्ग, नरक, मुनि, नगर आदि का वर्णन होना चाहिए ।

६. महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होना चाहिए ।

भारत के समान ही विदेश में भी काव्य-शास्त्र का, अपने ढंग पर पर्याप्त गंभीर अध्ययन हुआ है । वहां महाकाव्य की समानान्तर विधा को एपिक पोएट्री(Epic poetry) कहा गया है । अरिस्टाटल(Aristotle) ने एपिक के मुख्य लक्षण इस प्रकार बताए हैं --

1. It is narrative inform - massive and dignified.

2. The plot manifestly ought to be constructed on dramatic principles.

3. It is an imitation in verse of characters of a higher type.

4. It should have for its subject a single action, whole and complete, with a beginning a middle an end.

5. It must be simple or complex or ethical or pathelic.

6. Employs a single metre - stateliest and most massive.

7. The element of wonderful has wider (than drama) scope in epic poetry.

of Aristotle edited with critical notes and ... S.H. Butcher - Fourth edition.

अर्थात् काव्य की यह विधा विशालकाय, शालीन किन्तु प्रकथात्मक होती है। वस्तु का निर्माण नाटकीय सिद्धान्तों पर होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने भी इसे माना है।[१] तात्पर्य यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए। इसमें श्रेष्ठ पात्रों का पद्यात्मक वर्णन होता है — अर्थात् महाकाव्य के पात्र, विशेष कर विजयी पात्र, गुण सम्पन्न होते हैं। अपने यहाँ ऐसे पात्रों को धीरोदात्त कहा गया है। महाकाव्य का विषय एक होना चाहिए। इसमें विविधता हो सकती है पर उसके मूल में एकता का सूत्र रहना चाहिए। ऐसा न होने पर कथा विशृंखल हो सकती है। कथा के आदि, मध्य और अन्त स्पष्ट होने चाहिए। यह सर (Simple) जटिल (Complex), भावप्रवण (Pathetic) अथवा नैतिक (Ethical) होगी। इसमें आद्यन्त एक ही प्रबल तथा उदात्त छन्द का व्यवहार होता है। विषय की गौरव-गरिमा तथा गंभीरता की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। विदेश में अतिमानवीय तत्वों के संयोजन को भी महाकाव्य का अंग मान लिया गया है किन्तु यह अनिवार्य अंग नहीं है। परन्तु किसी महाकाव्यकार ने इस तत्व के बिना ऐपिक की रचना नहीं की है।[१] भारतीय आचार्यों के इस प्रकार का कोई तत्व न मानने पर भी भारतीयों के सभी महाकाव्यों में इसका समावेश है। इसका कारण भी स्पष्ट है — महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक होता है। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर लोक प्रसिद्ध व्यक्तियों में अतिमानवीय शक्तियों का आरोप कर दिया जाता है।

---

१. x x x Very few epic poets have ventured to do without supernatural machinery of some sort. The Epic,

Abercrombie.

महाकाव्य के विषय में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विचारों को जानने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के दृष्टिकोण में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। अत: महाकाव्य के सर्वस्वीकृत लक्षण इस प्रकार हैं -

१. महाकाव्य एक विशद, महाकाय तथा व्यापक काव्य होता है। इसकी वस्तु प्रसिद्ध और महान ऐतिहासिक, क्रमबद्ध, सरस, सजीव तथा वैविध्यपूर्ण होती है। महाकाव्य में व्यष्टि का जीवन वर्णित न होकर समष्टि का वर्णन होना चाहिए।

२. महाकाव्य के प्रमुख पात्र धीरोदात्त होने चाहिए। अर्थात् उनमें धीरता, गंभीरता तथा ओज होना चाहिए।

३. महाकाव्य का उद्देश्य पार्थिव तथा पारमार्थिक जीवन-पुरुषार्थों की उपलब्धि होना चाहिए।

४. महाकाव्य में महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप शैली भी अत्यन्त शालीन, विभूतिमयी तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए।

साकेत का महाकाव्यत्व

प्रबन्ध काव्य के दो भेद माने जाते हैं -१. खण्डकाव्य और २. महाकाव्य। परन्तु पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रबन्ध काव्य के तीन भेद माने हैं -१. खण्डकाव्य, २. एकार्थ काव्य और ३. महाकाव्य।[१] खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक अंग या किसी एक घटना अथवा जीवन की किसी एक घटना का वर्णन रहता है। और वह स्वत: पूर्ण होता है।[२] इस दृष्टि से साकेत खण्डकाव्य नहीं ठहरता है। एकार्थ काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर ही रचा जाता है। परन्तु उसमें महाकाव्य के सभी लक्षण

---

१. वाङ्मय विमर्श, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३३

२. काव्य-दर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ३२७

नहीं होती तथा उसमें महाकाव्य जैसा वस्तु का विस्तार भी नहीं होता । एकार्थ काव्य एक कथा का निरूपक होता है परन्तु कई सर्गों में विभक्त रहता है । पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र साकेत को एकार्थ काव्य मानते हैं । परन्तु साकेत में केवल उर्मिला की ही कथा नहीं है, वरन उसमें रामकथा के सभी आख्यानों की वर्णना है । साथ ही साकेत में महाकाव्य के लक्षण अधिक विद्यमान हैं । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साकेत को महाकाव्य ही मानते हैं ।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साकेत को बड़ा प्रबन्ध मानते हैं ।[२] डा० नगेन्द्र ने साकेत को जीवन-काव्य कहा है ।[3] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी साकेत के सम्बन्ध में कहते हैं -" साकेत महाकाव्य ही नहीं आधुनिक हिन्दी का युग-प्रवर्तक महाकाव्य है । समस्त हिन्दी जगत को इसका गर्व और गौरव है ।"[४] डा० शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्यों के अध्ययन के आधार पर आचार्य शुक्ल जी के मत का ही प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार साकेत वृहत् प्रबन्ध है, महाकाव्य नहीं है ।[५] परन्तु वास्तविकता यह है कि डा० शम्भूनाथ सिंह ने साकेत को क्लैसिक-काव्य मान लिया है । गुप्त जी के सामने महाकाव्य के सुनिश्चित प्रतिमान नहीं थे, उन्होंने तो महत् काव्य की रचना की है, यह युग का प्रतिनिधि काव्य है । इसमें महाकाव्य के उपयुक्त महानता है । अत: यह महाकाव्य की ही कोटि का काव्य है और नवयुग का सफल महाकाव्य है ।

डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने शोधप्रबन्ध ' हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' में भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यों के लक्षणों का

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ४४६

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२४

३. साकेत एक अध्ययन, पृ० २५७ (द्वादश संस्करण साहित्यरत्नभं०, आगरा)

४. आधुनिक साहित्य, पृ० १०८

५. हिन्दी महाकाव्य का चु स्वरूप विकास, पृ० ६६७ (द्वितीय संस्करण, मई १९६२, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

तुलनात्मक अध्ययन करके जो स्थिर-लक्षण बनाए हैं[1] उन्हीं के आधार पर साकेत के महाकाव्यत्व का विवेचन किया जायगा ।

उद्देश्य और प्रेरणा— महाकाव्य में कोई न कोई महान् उद्देश्य अवश्य होता है । साकेत अपने युग का प्रतिनिधि काव्य है । साकेत का युग नारी भावना का युग है अत: यह उसी का परिणाम है कि साकेत का उद्देश्य उर्मिला के चरित्र को प्रमुखता देना है । इस काव्य को लिखने की प्रेरणा गुप्त जी को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता' लेख से मिली थी । गुप्त जी ने इस प्रेरणा स्रोत को स्वयं 'अर्थ-श्लेष' द्वारा साकेत के निवेदन में स्वीकारा है । यथा :—

" करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ।।" [2]

साकेत लिखने की प्रेरणा में कवि की राम-भक्ति का भी हाथ है । साथ ही कवि ने भारतीय जीवन को समग्र रूप में देखने और समझने की इच्छा से भी इस काव्य की सर्जना की है ।

२. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व —

'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' में डा० सिंह ने लिखा है — " महाकाव्य का दूसरा आवश्यक और शाश्वत लक्षण यह है कि उसमें पर्याप्त गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व होना चाहिये । इन गुणों के बिना महा-काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती । गुरुत्व कवि के उच्च विचारों में आता है, गाम्भीर्य उसकी संयत और गम्भीर भावाभिव्यक्ति से उत्पन्न

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ६४०—१२१ तक (द्वितीय संस्क० मई १९६२, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी)
२. काव्य-दर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ३२७

होता है और महानता उसकी घटनाओं, शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति से उत्पन्न होती है।"[1] साकेत में नर को ईश्वरता प्राप्त कराने का संकल्प उसके गुरुत्व का प्रकाशन है। साकेत में बौद्धिकता की प्रमुखता न होकर भावना की प्रमुखता है परन्तु उसमें सुखात्मक और दुखात्मक भावनाओं का पर्याप्त गांभीर्य है। और साकेत की महानता तो स्पष्ट ही है, वह अपने युग की प्रतिनिधि रचना है।

३. महत्कार्य और युग जीवन का समग्र चित्र-

डा० सिंह के अनुसार -" महाकाव्य में युग-विशेष के समग्र जीवन का चित्रण किसी कथा के माध्यम से होता है जिसका चरम विन्दु कोई महत्वपूर्ण कार्य और आश्रय कोई एक प्रधान पात्र होता है।"[2] साकेत की कथा का चरम विन्दु उर्मिला- लक्ष्मण का पुनर्मिलन है। और कवि ने समग्र जीवन का चित्रण राज परिवार के भीतर ही किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य बाजपेयी ने लिखा है -" युग के विकासोन्मुख जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहनाकर नयनाभिराम बना देने के कारण, इस युग में गुप्त जी जन-समाज के प्रथम कृती कवि कहे जायेंगे।"[3] साकेत का महत्वपूर्ण पात्र वियोगिनी उर्मिला है। उर्मिला को प्रमुखता और महत्व देने के लिए ही साकेत की रचना भी हुई है।

४. सुसंगठित जीवंत कथानक -

महाकाव्य का कथानक इतिहास-सम्मत विस्तृत एवं श्रेष्ठ होता है। साकेत का कथानक भी श्रेष्ठ है। इस काव्य का मूलाधार वह राम-

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० १०९-१
२. ,, ,, ,, ,, पृ० ११०
३. हिन्दी साहित्य - बीसवीं शताब्दी - आचार्य वाजपेयी, पृ० ३१, संस्करण, १९५५, लोक भारती

कथा है जो भारत में आदिकाल से प्रचलित है । इसमें इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, सीता, जनक आदि जिन पात्रों के नाम आते हैं, उनका उल्लेख तो ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रन्थों में भी मिलते हैं ।[१] अत: साकेत की कथा पर्याप्त प्राचीन है और विख्यात है ।

साकेत की कथावस्तु की ऐतिहासिकता, उसका शास्त्रीय विधान और विस्तृत वर्णन उसे महाकाव्य की कोटि का बना देते हैं । फिर भी उसमें कुछ दोष हैं । साकेत की कथावस्तु अविच्छन्द नहीं रहने पाई है । उसमें कार्यान्विति भी सदोष है । परन्तु कथा में विस्तार पर्याप्त है । इसमें नाटक तथा गीतिकाव्य के तत्वों का सम्मिश्रण है । साकेत की कथावस्तु में कवि ने यथार्थ और लौकिक घटनाओं में अलौकिकता का समावेश करके चमत्कार भी उत्पन्न किया है । जैसे - वशिष्ठ जी द्वारा साकेतवासियों को दिव्य-दृष्टि प्रदान करने का आख्यान तथा हनुमान को आकाश मार्ग से ले जाना । यह कथानक पूर्ण रूप से जीवंत है --इसमें सर्वत्र कर्मण्यता को महत्व मिला है ।

महत्वपूर्ण नायक

महाकाव्य का नायक महत्वपूर्ण होना चाहिए । साकेत में उर्मिला का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है । डा० शम्भूनाथ सिंह ने इस सम्बन्ध में यह निर्देश किया है कि" नायक के सम्बन्ध में बस यही लक्षण हो सकता है कि चाहे वह आदर्श हो या कल्पित अथवा यथार्थ, पर हर हालत में महाकाव्य के लिए उसका चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिए ।"[२] उर्मिला को साकेत में सबसे अधिक प्रधानता मिली है । यद्यपि घटनाओं के केन्द्र राम हैं परन्तु उर्मिला का नायकत्व उसकी प्रमुखता और महत्व के कारण है । साकेत में

---

१. रामकथा- कामिल बुल्के, पृ० २७-२८ (१९६२ ई० हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)

२. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ११३ (द्वितीय सं० १९६२ , हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी) ।

उर्मिला का चरित्र महान् है और राम मानवदादर्श के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण साकेत में उर्मिला की व्यथा और राम-कथा का एक साथ ही वर्णन किया गया है। राम के चरित्र में स्थिरता है और उर्मिला का चरित्र गतिशील है। साकेत में उर्मिला ही नायिका है, उसी का चरित्र सबसे अधिक प्रधान है।

शैली

"महाकाव्य की शैली कथा और इतिहास-पुराण की शैली से भिन्न, अत्यन्त गरिमामयी, उदात्त और गंभीर होनी चाहिये।"[१] गुप्त जी की शैली शक्तिमती, सप्राण, प्रसादपूर्ण, कोमल, कांति तथा लालित्य से पूर्ण है। परन्तु उसमें प्रौढ़ता, उदात्तता और गाम्भीर्य का अपेक्षाकृत अभाव है। कारण यह है कि गुप्त जी खड़ी बोली के प्रथम काव्योत्थान के कवि हैं। अत: नितान्त नवीन काव्य-भाषा का निर्माण करने वाले कवि में इन गुणों का समावेश होना थोड़ा कठिन भी है। साकेत की विशेषता उसकी मौलिकता और नवीनता में है, न कि उसकी प्रौढ़ता में। नवोत्थान के युग में प्राचीन युग की प्रौढ़ि पर गम्भीरता की छाया-मात्र आभासित होती है।[२] साकेत में गुप्त जी ने साहित्यिक क्रान्ति का बीजारोपण किया है, अत: कला पक्ष और भाव-पक्ष दोनों में ही परिपक्वता नहीं आने पाई है। परिपक्व शैली और गम्भीरता शताब्दियों तक काव्य सर्जना के पश्चात ही किसी भाषा में आ पाती है।[३] साकेत का महत्व, इसलिए है कि वह अपने युग का सर्वोत्कृष्ट काव्य है। भाषा को जो नया रूप देने में ही उसका महत्त्व है, शैली की नवीनता ही उसकी विशेषता है। साथ ही क्लैसिक

---

१. हिन्दी काव्य का स्वरूप विकास, पृ० ११५, द्वितीय संस्क०, हि०प्र०पु०, वाराणसी

२. " In the Renaissance there is an early semblance of maturity, which is borrowed from antiquity." (What is a Classic ?" - T.S. Eliot. Page 15.).

३. "Maturity of language may naturally be expected to accompany maturity of mind and manners. We may expect the language to approach maturity at the moment when it has a critical sense of the past a confidence in the present and no conscious doubt of the future." (What is Classic - T.S.Eliot P.14).

काव्य नहीं, वरन नए युग का महाकाव्य है और वह अनेक नवीनताओं को लिए हुए है।

प्रभावान्विति और रस-व्यंजना –

साकेत की प्रभावान्विति सफल है। साकेत के द्वारा त्याग - पूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को देवत्व प्राप्त कराने का संदेश भी साकेत में मिलता है। अत: प्रभावान्विति की दृष्टि से साकेत सफल है। साकेत में रस-व्यंजना भी सफल है। यह एक रसात्मक काव्य है।

जीवन-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता–

महाकाव्य की जीवन-शक्ति के सम्बन्ध में डा० शंभूनाथ सिंह का कथन है –" महाकाव्य की जीवनी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज को कितनी शक्ति, कितना साहस और जीवन को कितनी उमंग तथा आस्था प्रदान करती है। महाकवि जब अपनी सप्राणता को महाकाव्य में जीवन्त रूप में उतारता है तभी महाकाव्य में वह सशक्त सप्राणता आ पाती है जो युग-युग तक समाज को शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकती है।"[१] इस दृष्टि से साकेत में जीवन-शक्ति पर्याप्त है। साकेत में भारतीय संस्कृति के उत्थान की भावना, वसुधैव कुटुम्बम् की भावना, असत् का विरोध, धर्म की स्थापना, सत्य का जय-घोष तथा मानव गुणों की व्याख्या का समावेश है ऐसी कृति सप्राण ही कही जा सकती है।

'साकेत' का सृजन प्राचीन रूढ़ियों के आधार पर नहीं हुआ है अत: उसे 'क्लैसिक' नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह महाकाव्य की गरिमा

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० १२७
(द्वितीय संस्करण, सन् १९६२ हिन्दी प्रचा०,पुस्त०,वाराणसी)

से पूर्ण है। महाकाव्य की संज्ञा उस रचना को दी जा सकती है, जो काव्य सम्बन्धी समस्त अनुबन्धों की दृष्टि से महिमा-मण्डित हो। अतः 'साकेत' सफल महाकाव्य है।

जयभारत

बहुत से विद्वान जयभारत को भी महाकाव्य की कोटि का काव्य मानते हैं।[१] परन्तु स्पष्टतः गुप्त जी 'जयभारत' की रचना में महाकाव्य का निर्माण करने के उद्देश्य से प्रवृत्त नहीं हुए थे। गुप्त जी ने सन् १९०७ में महाभारतीय कथा के आधार पर अपनी सर्वप्रथम रचना 'उत्तरा और अभिमन्यु' लिखी थी। फिर उन्होंने प्रायः अर्द्धशताब्दी पर्यन्त महाभारतीय आख्यानों पर रचनाएं लिखीं। 'कौरव-पाण्डव की मूल कथा लिखने की बात भी उनके मन में आती रही। महाभारत का सम्पूर्ण वृत्तान्त महाकाव्य के स्वरूप में बांध पाना विशिष्ट कार्य है और कवि-कथन है कि उस प्रयास के पूरे होने में संदेह रहने के कारण वैसा उत्साह न होता था।'[२] जब 'जयभारत' का रचनारंभ किया तो कवि ने अपनी महाभारतीय आख्यानक रचनाओं का यथासाध्य उपयोग कर लेना चाहा और छूटे हुए प्रसंगों पर नव्य रचनाएं लिखना आरंभ किया। अतएव इस बृहत् संकलन-काव्य का वस्तु संघटन एक विलक्षण ढंग से हुआ। कवि ने इस बृहत्- प्रबंध संकलन के लिए सैंतालिस प्रसंग चुने और उन पर नई काव्य रचनाएं कीं साथ ही पूर्व लिखित कृतियों का संक्षेप और संकलन भी किया। समय-समय पर लिखी गई रचनाओं के कारण 'जयभारत' एक 'बृहत-प्रबन्ध' के रूप की विशिष्ट रचना बन गया। यद्यपि जय भारत की प्रबंध धारा क्रमबद्धता लिए हुए है, परन्तु वह सुसंगठित नहीं है। प्रत्येक प्रसंग में पूर्ण से अपने में स्वतंत्र है और प्रत्येक प्रसंग महाभारतीय कथा के पूर्वापर क्रम में ग्रथित है। अतः 'जयभारत' महान-काव्य और बृहत्-

---

१. मैथिली शरण गुप्त : भारतीय संस्कृति के आख्याता - डॉ० उमाकांत

२. जयभारत, निवेदन, पृ० ३

प्रबन्धहोकर भी महाकाव्य नहीं है। वह संकलन काव्य है। जयभारत का आरंभ 'नहुष' का पतन दिखाकर हुआ है और उसका विकास पुरुषार्थ के चित्रण द्वारा हुआ। कवि ने जयभारत में युधिष्ठिर के नायकत्व का चरमोत्कर्ष दिखाया है। परन्तु यह महाकाव्य नहीं हो सकता, इसकी कथावस्तु की स्वच्छन्दता इसे संकलन-काव्य की कोटि ही प्रदान करती है। 'जयभारत' में कवि ने महाभारतीय धर्म को मानव-धर्म के रूप में गृहण किया है। इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है —

युधिष्ठिर —

राम अब भी मैं यही कहता हूं मन से,
कामना नहीं है मुझे राज्य की, या स्वर्ग की,
किंवा अपवर्ग की भी चाहता हूं मैं यही'
ज्वाला ही जुड़ा सकूं मैं अपनों के दु:ख की,
भोगूं अपनों का सुख, मेरा' पर' कौन है ?
सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों,
सब शुभ पावें, न हो दु:खी कहीं कोई भी।"[1]

खंडकाव्य

महाकाव्य की ही भांति खंडकाव्य भी प्रबन्ध काव्य का एक भेद माना गया है। पं० रामदहिन मिश्र ने प्रबन्धकाव्य के भेदों के विषय में लिखते हुए खंडकाव्य की व्याख्या इस प्रकार की है —" खण्डकाव्य वह है जिसमें काव्य के एक अंश का अनुसरण किया गया हो। इसमें जीवन के एकांग का, व किसी घटना का या कथा का वर्णन रहता है। जो स्वत: पूर्ण होता है।"[2]

---

१. जयभारत, युद्ध

२. काव्यदर्पण- रामदहिन मिश्र, पृ० ३२७(सं० १९४७)

अर्थात् जिस काव्य-कृति में एक देश अथवा अंश का अर्थात् किसी एक घटना का अनुसरण किया जाय, वह खंडकाव्य है। या जिस काव्य रचना में जीवन के किसी अंग विशेष का निरूपण हो, वह खंडकाव्य हो सकता है। अतएव एकांगी कथा का स्वत:पूर्ण पद्यबद्ध वर्णन खंडकाव्य है। साहित्यदर्पणकार ने खंडकाव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है -' खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।[1] गुलाबराय ने लिखा है -' खण्डकाव्य में प्रबन्ध-काव्य का-सा तारतम्य तो रहता है किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें कहानी और एकांकी की भांति एक ही प्रधान घटना के लिए सामग्री जुटाई जाती है।'[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि खंडकाव्य एक लघु कथा को लिए हुए रहता है, इसमें जीवन की व्यापकता न होकर एक अंश मात्र रहता है, इसकी कथानक में विस्तार न होकर संक्षेपण का प्रयास रहता है और चरित्र विस्तार न होकर संक्षेप में चरित्र का प्रस्फुटन होता है। साहित्य की इस विधा में जीवन का बहुमुखी चित्रण न होकर एकांगी चित्रण रहता है।

मैथिलीशरण गुप्त के खण्डकाव्य --

गुप्त जी के समस्त साहित्य में कुल सोलह खंड काव्य हैं। ये सोलहों खंड-काव्य कवि की विभिन्न काव्य अवस्थाओं में रचे गये हैं। 'रंग में भंग' खंड-काव्य से लेकर 'विष्णुप्रिया' खण्डकाव्य के भीतर उनकी सम्पूर्ण काव्य साधना का समय संकलित है। अत: इन सब खण्ड-काव्यों की शैली परिपक्वता और परिमार्जन की दृष्टि से भिन्न होतीगई है। यदि रंग में भंग, जयद्रथ वध आदि प्रारम्भिक रचनाओं में काव्य-कला की उत्कृष्टता नहीं दिखाई पड़ती तो यशोधरा, सिद्धराज और नहुष आदि खंडकाव्यों में पूर्ण परिपक्वता दिखाई पड़ती है।

---

१. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३७६
२. काव्य के रूप (सिद्धान्त और अध्ययन भाग २) गुलाबराय, पृ० १०४, तृतीय-संस्करण।

गुप्त जी मुख्यतया प्रबंधकार हैं और उन्होंने प्रबंधकाव्यों के विविध रूपों और प्रकारों का नियोजन किया है। इन खण्डकाव्यों का आकार-प्रकार भी भिन्न-भिन्न है। शिल्प की दृष्टि से भी इनमें पर्याप्त नवीनता और भिन्नता है। शकुंतला से लेकर विष्णुप्रिया तक लगभग अर्द्धशताब्दी के समय में कवि उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रहा है और शिल्प में निखार आता गया है। यद्यपि खण्डकाव्यों के लिए कथावस्तु का प्रसिद्ध होना या ऐतिहासिक होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु गुप्त जी के खंडकाव्यों की कथा काल्पनिक न होने से कर साधार और प्रख्यात हैं। कवि ने ऐतिहासिक - पौराणिक कथानकों को अपनाया अवश्य है परन्तु उसी रूप में नहीं, वरन् नवीन रूप में। पौरा - णिक ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से गुप्त जी ने युगीन समस्याओं का समा-धान प्रस्तुत किया है। प्राचीन कथाओं में से अतिमानवीय तत्वों को निकालकर उनमें स्वाभाविकता का समावेश किया है। कवि ने सदैव मौलिकता रखी है, चाहे वह शैली की हो, रसकी हो पात्र की हो अथवा घटना आदि की हो। औत्सुक्य और रोचकता की ओर कवि का विशेष ध्यान रहा है। समस्त खंडकाव्यों में केवल 'गुरुकुल' ही ऐसा खंडकाव्य है जिसमें रोचकता की कमी खटकती है। पौराणिक खण्डकाव्य जैसे पंचवटी, नहुष, हिडिम्बा, शकुन्त-ला आदि की कथा यद्यपि चिरपरिचित है, परन्तु उसमें भी नूतन दृष्टि, नूतन संदेश, और मौलिक उद्भावनाओं के कारण अत्यधिक रोचकता और औत्सुक्य विद्यमान है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य को 'एकदेशानु-सारि' कहा है।[१] अर्थात् उसमें एक अंग का अनुसरण होना चाहिए। अत: खण्डकाव्य में किसी एक महत्वपूर्ण घटना का आलेखन हो अथवा किसी महान व्यक्ति के जीवन के एक ही पक्ष का विश्लेषण हो। महाकाव्य की भांति पूर्ण जीवन का नहीं, वरन जीवन के एक पक्ष का ही चित्रण हो। इस दृष्टि से भी गुप्त जी के खण्डकाव्य सफल हैं। उन्होंने अपने खंडकाव्यों में जीवन के एक पक्ष का ही निरूपण किया है। जैसे "नहुष" खण्डकाव्य में

---

१. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक, ३२६

राजा नहुष के जीवन की एक ही घटना , उनके स्वर्ग से भ्रष्ट होने की, ली गई है । इसी प्रकार प्रत्येक खण्डकाव्य में खण्ड-जीवन का चित्रण है ।

गुप्त जी के खण्डकाव्यों के आकार में पर्याप्त भिन्नता है । खंडकाव्य महाकाव्य के अपेक्षा लघु होना चाहिये । परन्तु खंडकाव्य के लिए कोई पृष्ठ संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती । गुप्त जी के खण्डकाव्य लघु अवश्य हैं परन्तु उनके आकार में अन्तर है । चरित्र की दृष्टि से यदि देखा जाय तो गुप्त जी जी ने अपने प्रत्येक खंडकाव्य के प्रमुख पात्र का चरित्र बड़े मनोयोग से चित्रित किया है । उनके अधिकांश पात्र चिर प्रसिद्ध हैं । उन्होंने इन प्रसिद्ध पात्रों के चरित्र को वैसा ही रखते हुए, उनके मूलभूत गुणों - अवगुणों की रक्षा करते हुए उनका पुनर्निर्माण किया है । राक्षस पात्र में से हिडिम्बा को मानवीय रूप दिया है । वह नारी सुलभ गुणों से पूर्ण होने पर भी राक्षसी ही है । इसी प्रकार उपेक्षित पात्रों, विशेषकर नारियों के प्रति कवि बहुत ही उदार हुआ है । यशोधरा और विष्णुप्रिया इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । चरित्र-चित्रण में कवि ने स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा है ।

गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चले हैं उनके खण्डकाव्यों में सांस्कृतिक, नैतिक, अथवा राष्ट्रीय आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है । केवल शकुन्तला काव्य में 'प्रीति' की प्रतिष्ठा ही प्रमुख है अन्य कोई कोई उद्देश्य नहीं प्रतीत होता । गुप्त जी के समस्त खण्ड काव्यों की शैलियों में भी भिन्नता है । आरंभिक खण्डकाव्यों में अनेक स्थलों पर शैली अपरिपक्व व अनगढ़ सी है । परन्तु धीरे धीरे शैली परिपक्व होती चली गई है । इन सोलहों खंडकाव्यों में अन्तर अवश्य है पर वह अन्तर कवि के विकास को दिखाता है ।

गीति काव्य

गीति-काव्य साहित्य की वह विधा है जिसमें विषय की अपेक्षा विषयी की प्रमुखता होती है । इसमें कवि की आत्मा का अभिव्यंजन प्रमुख

और स्पष्ट होता है। गीति काव्य की अनेक परिभाषाएं और लक्षण दिये गये हैं। साहित्य-दर्पणकार ने गीत को रूपक का लास्यांग कहा है।[१] यह कलात्मक होते हुए भी कृत्रिमता से रहित होता है।[२] यह संक्षिप्त होता है और इसीलिए उसमें मार्मिकता की विशेषता रहती है। विस्तार होने से मार्मिकता कम हो जाती है।[३] "साधारणतः गीतिकाव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[४] वास्तव में वेदना अथवा प्रसन्नता के अतिरेक से कवि हृदय स्पंदित होकर जो स्वर विधान करता है वह गीतिकाव्य के नाम से अभिहित होता है। हर्ष विषाद, सुख-दुःख तथा मिलन-वियोग-जन्य उल्लास अथवा वेदना जब हृदय की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है तो उसका प्रस्फुटन आनन्द, व्यथा अथवा गीतिमय स्वरलहरी के रूप में होता है। गीतिकाव्य में इसीलिए वैयक्तिकता का तथा एकान्तिकता का भाव पाया जाता है।

गीतिकाव्य के कुछ तत्व माने जा सकते हैं। यथा —

१. वैयक्तिकता—

गीतिकाव्य में वैयक्तिकता का गुण होना आवश्यक है। गीति-काव्य के प्रणेताओं में कवि की निजी सुख-दुःखात्मक भावनाओं का प्रकाशन

---

१. "शुद्ध गानं गेयपदं स्थितापाठ्यं तदुच्यते।"

— साहित्यदर्पण, विश्वनाथ महापात्र, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १५

२. सिद्धान्त और अध्ययन — गुलाबराय, भाग २, पृ० १०८ (तृतीय संस्करण)

३. दी सांग आफ लिटरेचर, हडसन, पृ० १२७

४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १४७

अनिवार्य है। गीतिकाव्य में कवि के 'आत्म' की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। प्रगीतकार की अनुभूति स्वत: ही काव्य के रूप में नि:सृत हो उठती है। वास्तव में स्वानुभूति गीतिकाव्य का प्राण है। प्रगीतकार किसी भावना विशेष से अनुप्राणित होकर उसे गीति के रूप में अभिव्यक्त करता है। इसीलिए गीति-काव्य में गीतकार का व्यक्तित्व उद्भासित हो उठता है। "प्रगीत में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना होती है। कवि के अन्तस्तल का उद्घाटन प्रगीत में ही सम्भव है।"[१]

२. हार्दिकता — गीतिकाव्य में आवेश होता है, यह आवेश वास्तविकता पूर्ण होना चाहिये, अर्थात् उसे हृदय-जन्य होना चाहिये। गीतिकाव्य कल्पना अथवा बुद्धि पर आधारित नहीं होता, उसमें हृदय का अथवा अन्त:प्रेरणा का प्राबल्य रहता है। इसीलिए हार्दिकता गीति-काव्य का एक प्रमुख तत्व है। इस सम्बन्ध में गीतिकार श्रीमती महादेवी वर्मा के विचार इस प्रकार हैं— "गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्कक्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नहीं संभाल सकता, पर तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामंजस्य का विशेष महत्व रहा है।"[२] बुद्धि अथवा कल्पना के सहारे कवि यदि प्रगीत-रचना करना चाहेगा तो उसमें कृत्रिमता आ जायगी अत: प्रगीत में हार्दिक अनुभूति का स्वाभाविक उद्गार आवश्यक है।

३. आवेग — गीति-काव्य का प्रणयन उस समय होता है जबकि कवि किसी तीव्र मनोवेग की दशा में होता है। ऐसी मनोदशा कुछ ही क्षण रहती

---

१. आधुनिक साहित्य (द्वितीय संस्करण) नन्ददुलारे वाजपेयी; पृ० २४
२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १४५

है । अत: प्रगीत आवेग शील मन:स्थिति की अभिव्यंजना है । कवि का मनो-भाव अपनी तीव्रता या उद्दामता के कारण गीति के रूप में व्यक्त होता है ।

४. गेयता अथवा संगीतात्मकता -

गेयता गीतिकाव्य का अनिवार्य तत्व है । गीतिकाव्य में हृदतंत्री के तारों की स्वाभाविक झंकार ही ऐसा स्वर-विधान करती है कि वह स्वत: गेय हो जाता है । उसमें शास्त्रीय संगीत की सैद्धान्तिकता की आवश्यकता नहीं । गीतिकार श्रीमती महादेवी वर्मा ने स्वयं कहा है -" काव्य का वही अंश गेय कहा जायगा, जो अनुभूति की तीव्रता को संगीत के लिए उपयुक्त शब्द संयोजन द्वारा व्यक्त कर सके ।"[१]

५. भावुकता

गीतिकाव्य तीव्र भावावेग की स्वाभाविक संगीतमय परिणति है । डा० नगेन्द्र का इस सम्बन्ध में यह मत है -" जब कभी आत्मा भाव की अग्नि से पिघल कर बहने को हुई है, उसके ताप से वाणी भी द्रवीभूत हो गई है और भाव ने गीत का रूप धारण कर लिया है । अतएव जब जब हमारे जीवन में भावना का प्राधान्य हुआ है, जब-जब हमारा जीवन-दर्शन व्यक्तिपरक अथवा भावपरक हुआ है, काव्य में गीति का महत्व बढ़ गया है ।"[२]

६. रागात्मक अन्विति अथवा भावान्विति

सम्पूर्ण प्रगीत में एक ही भाव अनुप्राणित रहना चाहिए । आदि से अन्त तक सम्पूर्ण प्रगीत में रागात्मक अन्विति होनी चाहिए । गीतिकाव्य भाव की प्रवेगपूर्ण स्थिति का परिणाम होता है । उसमें इसीलिए मंथरता नहीं, वरन तीव्रता होती है । प्राय: मूल भाव प्रथम पंक्ति में केन्द्रित होता है तथा शेष पूरे गीत में इसी भाव का पल्लवन किया जाता है । भाव की

---

१. सिंधिनी, चिन्तन के क्षण, पृ० ३३ (द्वितीय संस्करण, अशोक प्रका०) दिल्ली
२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां - पृ० ७४-७५

केन्द्रीयता और एकनिष्ठता प्रगीत को तीर की भांति तीक्ष्ण बनाती है। इसमें विविधता रहती है, किन्तु वह प्राय: एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है।"[1]

७. प्रवाह

प्रगीत आवेशशील मन:स्थिति की अभिव्यंजना है। यह रचना आवेश के क्षणों में सृजित होती है अत: इसमें प्रवाह का होना स्वाभाविक है। इसमें एक ही भाव आदि से अन्त तक अपनी तीव्रता के साथ समुपस्थित रहता है अत: इसमें प्रवाह नहीं टूटता।

८. संक्षिप्तता

प्रगीत के अन्तर्गत भावान्विति, गेयता तथा प्रभाव की तीव्रता लाने के लिए उसमें संक्षिप्तता का होना आवश्यक है। संक्षिप्त गीतों में भावों की तीव्रता अक्षुण्ण रहती है और वह श्रोता अथवा पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है। विस्तार से भाव की तीव्रता तथा अखंडता को ठेस पहुंचती है। प्रगीत में विस्तार होने से भाव खंडित हो जाता है और भाव की तीव्रता भी शिथिल हो जाती है। अत: प्रगीतों का संक्षिप्त होना आवश्यक है।

९. भावानुकूल भाषा

गीति-काव्य का सम्बन्ध स्वर-साधना से भी है, अत: प्रगीतों की भाषा में भावानुकूलता एवं मार्दव आवश्यक है। भावों की गति के अनुरूप शब्दों का चयन गीति-काव्य में आवश्यक है। कोमल-कांतपदावली शब्द-मैत्री, स्वर-मैत्री आदि का ध्यान रखना आवश्यक है।

---

१. काव्य के रूप- गुलाब राय, (तृतीय संस्करण), पृ० १२१

प्रगीतों के प्रकार -

साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति प्रगीत काव्य अथवा गीति-काव्य को भी अनेक भेदों में विभाजित किया जा सकता है । वैसे तो किन्हीं दो प्रकार के प्रगीतों के बीच स्पष्ट सीमारेखा खींचना कठिन है, परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए प्रगीतों के निम्नलिखित भेद किये गये हैं -

१. राष्ट्रीय-प्रगीत
२. प्रेम-प्रगीत
३. वात्सल्य-प्रगीत
४. शोक-प्रगीत
५. रहस्यवादी-प्रगीत
६. भक्तिपरक-प्रगीत
७. व्यंग्य-प्रगीत
८. उपदेशात्मक-प्रगीत
९. विचारात्मक-प्रगीत
१०. उद्‌बोधन-प्रगीत

प्रगीत, पद, मुक्तक और गीत

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत काव्य के ऐसे अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं जिनमें संगीतात्मकता होती है, और उन्हें गीतिकाव्य की संज्ञा दे दी जाती है। परन्तु यह भ्रामक है। उदाहरण के लिए पदों में गेयता का गुण होताहै परन्तु उन्हें हम गीति काव्य नहीं कह सकते। यों तो पद और प्रगीत दोनों में ही भावाभिव्यंजन प्रमुख होता है और दोनों ही गेय भी होते हैं। किन्तु पद की अपेक्षा प्रगीत में वैयक्तिकता का गुण अधिक प्रधान होता है। पदों में कवि विशेष रूप से आत्मनिवेदन को व्यक्त करता है। प्रगीतों अथवा गीति-काव्यों में कवि के सौन्दर्यानुभूति का चित्रण रहता है। उसमें कवि उन्मेषमयी आत्माभिव्यंजना करता है। गीति-काव्य में कवि के अपने दुःख-सुख , हर्ष -

विषाद आदि की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति व्यक्तिपरक होती है।" गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दु:ख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें संदेह नहीं।"[१]

पदों के समान ही मुक्तक और प्रगीत में भी अन्तर है।" प्रगीत और मुक्तक परस्पर विरोधी शब्द है, एक का सम्बन्ध आत्माभिव्यंजना से है और दूसरे का वस्तु व्यंजना से।[२] जिन पद्यों में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता मुक्तक कहते हैं। मुक्तक गेय भी होते हैं और इन्हीं गेय मुक्तकों को प्राय: प्रगीत भी कह दिया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मुक्तक और प्रगीत में मूलत: भिन्नता है। मुक्तक में विषय और प्रगीत में विषयी की प्रधानता होती है।

गीत और प्रगीत में भी भिन्नता है। गीत;में संगीत, स्वर, लय, ताल आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। परन्तु प्रगीत का संगीत आन्तरिक होता है। वह कोमल-कांत-पदावली, कोमल-सुचारु-शब्द-गुंफन, वर्ण-मैत्री, अक्षर मैत्री आदि के द्वारा अनुप्राणित होता है।

गुप्त जी का गीति काव्य

१. राष्ट्रीय प्रगीत

गुप्त जी का सर्वप्रथम प्रगीत 'भारत-भारती' का विनय गीत 'इस देश को हे दीनबन्धो, आप फिर अपनाइए'[३] है। यह राष्ट्रीय गीत है। इस गीत की रचना कवि ने सन् १६१२ में की थी। कवि राष्ट्र प्रेम की भावना से अनुप्राणित होकर ही गीति-रचना में प्रवृत्त हुआ था। गुप्त जी

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य

२. मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य-- डा० कमलाकान्त-पाठक, पृ० ५३६-
(प्रथम संस्करण, १६६०, हिन्दी परि०,सागर विश्वविद्यालय)

३. भारत-भारती, विनय सौली गीत, पृ० १८७-१८२ (तीसवां संस्करण) साहित्य सदन.चिरगांव.झांसी।

की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण उनकी राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्रीय गीतों के कारण ही उन्हें राष्ट्र कवि की उपाधि दी गई है। `भारत-भारती` , स्वदेश-संगीत, तथा` पद्य-प्रबन्ध` काव्य राष्ट्रीय प्रगीतों से संपन्न हैं। गुप्त जी के राष्ट्रीय प्रगीतों में उनकी राष्ट्रीय चेतना, उपदेश , मातृ-भूमि का स्तवन, बलिदानों की प्रशस्तियाँ तथा देश के उज्ज्वल भविष्य की कामना के रूप में प्रकट हुई है।

अपने देश की श्रेष्ठता को देख कर कवि का गौरव प्रगीत के रूप में प्रकट हुआ है। यथा -

" भू लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहां ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहां।
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।"[१]

ऐसे प्रगीतों में कवि के व्यक्तित्व की कमी अवश्य है, परन्तु ये गीत हार्दिकता से पूर्ण हैं। कवि अपने देश के लिए शुभ कामनाएं करता है। उसे विश्वास है कि भारत के अच्छे दिन फिर लौटेंगे। यथा -

" सौ सौ निराशाएं रहें विश्वास यह दृढ़ मूल है -
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायेंगे ,
वे दिन यहां फिर आएंगे फिर आएंगे, फिर आयंगे।"[२]

कवि अपने देश की धूलि को अपने माथे का शृंगार मानता है। यथा -

" राम कृष्ण जिन बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार ,
रज भी है इस पुण्य भूमि की सबके माथे का शृंगार।[३]

---

१. भारत-भारती , पृ० १० (साहित्य स० चिरगांव, झांसी)
२. ,, पृ० १८५ ,, ,,
३. स्वदेश संगीत, पृ० ७८ ,, ,, (प्रथम संस्करण)

पद्य प्रबंध के इस प्रगीत में भी कवि की यही भावना व्यक्त हुई है —

" जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाए
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यों न हों मोद में ।"[१]

'मंगलघट' में गुप्त जी मातृ-भूमि के रूप में देश की अर्चना करते हुए कहते हैं — " जय जय भारत भूमि भवानी ।"[२] वे विशाल भारत प्रगीत में देश में जागृति लाने का उपक्रम भी करते हैं ।[३] कवि ने राष्ट्रीय कार्यों के अन्तर्गत ही भाषा की समृति के कार्य को भी समझा है । वे भाषा का संदेश सुनाते हुए कहते हैं —

" भाषा का संदेश सुनो हे भारत, कभी हताश न हो ।"[४]

'साकेत' के भी दो-एक प्रगीतों में गांधी जी के जीवन दर्शन और राष्ट्रीयता की भावना का समावेश दिखाई पड़ता है । यद्यपि 'साकेत' प्रबंध काव्य है परन्तु कहीं कहीं कवि का हृदय भावावेश में प्रगीतों की भी सृष्टि कर उठा है । सीता के माध्यम से कवि की अपनी भावना फूट पड़ी है । वे गंगा का स्तवन करते हुए कहते हैं —

" जय गंगे, आनन्द तरंगे कलरवे ,
अमल अंचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे ।
सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा ,
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा ।"[५]

---

१. पद्य-प्रबन्ध, पृ० ३० (द्वितीय संस्करण, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी)
२. मंगल घट- मातृमूर्ति, पृ० ३३-३६
३. ,, विशालभारत, पृ० २७-४२ तक
४. स्वदेश संगीत - भाषा का संदेश और अपनी भाषा, पृ० ७३-७५
५. साकेत- पंचम सर्ग, पृ० १४५ (२०२१ वि० साहित्य स०, चिरगांव, झांसी)

प्रेम प्रगीत

स्त्री-पुरुष के प्रेम की भावना हृदय की सबसे तीव्र भावना है। इसीलिए प्रेम-प्रगीत सभी देशों और सभी जातियों के साहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीय कवि है, और उन्होंने राष्ट्रीय प्रगीत ही अधिक लिखे हैं, परन्तु प्रेम जीवन का शाश्वत अंग है और इसीलिए गुप्त जी ने प्रेम-प्रगीतों की भी रचना की है। उनके महाकाव्य 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्य में अनेक प्रेम-प्रगीत नियोजित हैं। 'रत्नावली में भी सुन्दर प्रेम-प्रगीतों की सृष्टि हुई है। गुप्त जी ने संयोग का वर्णन अधिक नहीं किया है। मुख्यतया उनके प्रगीत वियोग शृंगार के हैं। अष्टम सर्ग के कुछ प्रगीतों को छोड़कर साकेत के सभी प्रगीत वियोग शृंगार के हैं। साकेत के नवम सर्ग में प्रगीत और पद-पद्धति के गीत हैं। साकेत के दशम सर्ग में जो प्रेम प्रगीत हैं उन्हें सम्बोध प्रगीत कहा जा सकता है। साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला की आत्माभिव्यंजना को प्रकट करने के उद्देश्य से प्रगीतों की रचना हुई है और उसकी विरहातिशयता को व्यक्त करने के उद्देश्य से मुक्तक पद्धति को भी अपनाया गया है।

शोक-प्रगीत

व्यक्तिगत और सामाजिक दु:ख, अभाव अथवा दाह के कारण जब कवि-हृदय प्रताड़ित होता है तब उसके हृदय से शोक गीति का स्रोत सा फूट पड़ता है। शोक-प्रगीतों में हार्दिकता और स्वाभाविकता का होना आवश्यक है। इसकी अनुभूति और इसकी अभिव्यक्ति कपट रहित होनी चाहिए[१]। भारत में शोक पूर्ण साहित्य कम नहीं लिखा गया है। आदि-कवि वाल्मीकि के मुंह से सर्वप्रथम शोकपूर्ण वाणी ही निसृत हुई थी। आधुनिक काल के कवियों ने विशेष रूप से प्रसाद, भारतेन्दु, निराला आदि ने शोक गीतों की रचना की है। पाश्चात्य साहित्य में भी शोक परक रचनाएं

---

१. An introduction to the study of Literature Hud ed. 1955, Page 100

परन्तु कवि ने इन्हें प्रकाशित नहीं करवाया था क्योंकि ये सर्वथा वैयक्तिक रचनाएं हैं और इनमें निजता का गुण सर्वोपरि है। परन्तु बहुत बाद में सं० २०१७ वि० में आकर सियारामशरण के आग्रह से इन रचनाओं का प्रकाशन 'उच्छ्वास' नामक प्रगीत-संग्रह के रूप में हुआ।

६ विचारात्मक प्रगीत

विचार, यद्यपि प्रगीत का कोई तत्त्व नहीं है, परन्तु विचार-हीन या बुद्धि हीन प्रगीत तो विक्षिप्त का प्रलाप ही हो सकता है। अतः प्रगीत में विचार का होना आवश्यक है, परन्तु विचार का अनुभूति का अंग बनाकर ही आना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्त विचारशील कवि हैं। उन्होंने गहन अध्ययन मनन और चिंतन किया है इसीलिए उनके काव्य में गहराई है। कवि के अनेक प्रगीतों में उसके स्वयं के विचार विभिन्न पात्रों के माध्यम से गीतों के रूप में मुखरित हुए हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रगीत देखिये —

" व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही क्लेश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के वश होना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना सुख औरों में देखें,
तो हम इस दुख को क्या लेखें ?
सुलभ न होगा प्रिये हमें अब कहीं एक कोना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ? "[१]

यहाँ यद्यपि कुणाल अपनी पत्नी को प्रबोधन दे रहे हैं, परन्तु

---

१. कुणाल गीत, ३७ वां प्रगीत, पृ० ५६

कुणाल के माध्यम से कवि के ही विचार पुष्ट हो रहे हैं। कवि की अपनी वैयक्तिकता यहाँ पूर्ण रूप से प्रकट होती है। यहाँ विचार और अनुभूति एकाकार हो गई है। यह प्रगीत विचारात्मक होते हुए भी गीति-तत्व से पूर्ण है।

गुप्त जी के अनेक विचारात्मक गीत ऐसे हैं जिनमें अनुभूति का गहरापन नहीं है, आवेग की कमी है तथा रागात्मकता भी नहीं है। ये प्रगीत नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें प्रगीत के तत्वों का पूर्णतः अभाव है।

१० उद्बोधन-प्रगीत

गुप्त जी का 'वैतालिक' काव्य उद्बोधन प्रगीत कहा जा सकता है। इसे लम्बा जागरण गीत भी कहा गया है।[१] यह छब्बीस पृष्ठों का एक लम्बा प्रगीत है। इसके अन्तर्गत सुषुप्तों को जागरण का सन्देश दिया गया है। " वैतालिक की रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीति-काव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई थी।"[२] उद्-बोधनात्मक प्रगीत, गीति-काव्य के प्रचलित प्रकारों में से कोई प्रकार नहीं है, यह कवि का नवीन प्रयोग प्रतीत होता है। 'वैतालिक' वे लोग होते थे जो प्रातःकाल राजाओं को स्तुतिपाठ करके जगाया करते थे।[३] अतः इस काव्य को उद्बोधन-प्रगीत ही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है। " वैतालिक को प्रगीत काव्य के पूर्व-निर्दिष्ट किसी भी प्रकार के अन्तर्गत न रख कर उद्बोधनात्मक प्रगीत कहना चाहिये।"[४] इसमें जागरण की

---

१. मैथिलीशरण गुप्त - सरस्वती, पारीक, पृ० ८५ (प्रथम संस्क०)

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३४

३. मैथिलीशरण गुप्त - भारतीय संस्कृति के आख्याता, उमाकान्त, पृ० २२३ नैशनल पब्लि०हा०, दिल्ली, द्वितीय संस्करण)

४. मैथिलीशरण गुप्त - व्यक्ति और काव्य, कमलाकान्त पाठक, पृ० ५३०

भावना पूर्णत: अन्वित है, पर उसका अनुबंध प्रगीतात्मक न होकर निरूपणात्मक है। यह कवि की एकांतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं है। इसे गीति-काव्य के संबोध गीति से मिलते जुलते ' उद्‌बोध - गीति काव्य के गीति प्रकार में परिगणित किया जा सकता है। "[१]

' वैतालिक ' प्रगीत के अन्तर्गत वैतालिक देश को जगाता है। वह कहता है --

" नई पौ फटी, रात कटी, तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो भोलो, बोलो मनो-द्वार खोलो।"[२]

वैतालिक ने दार्शनिकता पूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। वह प्रकृति को जीवन के सान्निध्य में देखता हुआ प्रकृति को स्वाभाविक सौंदर्य के प्रति आकर्षित होता है। वह प्रकृति के माध्यम से जागरण का उपदेश देता है। यथा -

" यह सोने की मूर्ति उषा, नव स्फूर्ति की पूर्ति उषा।
जगा रही है, जगो, जगो, कर्तव्य में लगो, लगो।।
वह ललाट सिन्दूर अहा! देखो कैसा दमक रहा।
नभस्थली सौभाग्यवती देख रही है ठाट सती।।
यह सोने का थाल लिए, उज्ज्वल उन्नत भाल किए,
यह सोने का थाल लिए, उज्ज्वल उन्नत भाल किए।
सृष्टि तुम्हारे लिए खड़ी, दृष्टि तुम्हारी किधर पड़ी?
तम की सब कालिमा धुली, आँख तुम्हारी क्यों न खुली?
निरालस्य सब हो जाओ, इस श्रेय श्री को पाओ।।"[३]

इस प्रगीत रचना में कवि की वैचारिकता और राष्ट्र-भावना प्रस्फुटित हुई है। गीति-काव्य-कला की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना नहीं कही जा सकती।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, कमलाकांत पाठक, पृ० ५८-
२. वैतालिक, पृ० ५(२०१४ वि०)
३. ,, ,,

'वैतालिक' के काव्य-रूप के अनुरूप 'विश्व-वेदना' भी गुप्त जी की रचना है। इस काव्य में युद्ध के प्रति विरोध की भावना व्यक्त हुई है। इसे भी उद्बोधन-प्रगीत कहा जा सकता है। एक उदाहरण देखिये -

" गगन में गति-गृह बने विमान ,
जलधि में दुर्ग सदृश जलयान ।
भूमि पर होता है यह भान,
लौह पथ पर पुर का प्रस्थान ।
भ्रमण की बढ़ा, मिटी क्या भ्रान्ति ,
हुई यह कैसी उल्टी क्रान्ति ।"[१]

११. सम्बोधनप्रगीत

किसी को संबोधित करके लिखा गया प्रगीत सम्बोधन प्रगीत कहलाता है। सम्बोधन प्रगीत में किसी भी व्यक्ति, वस्तु आदि को लक्ष्य करके सम्बोधित किया जा सकता है " किसी प्राकृतिक या साधारण वस्तु , दृश्य,भाव और विचार युग को भी संबोधित किया जा सकता है।"[२] हिन्दी साहित्य में सम्बोधन प्रगीत पर्याप्त लिखे गये हैं। निराला का ' यमुना के प्रति' दिनकर का' समाधि के प्रदीप से ' आदि सम्बोधन गीत प्रसिद्ध हैं। गुप्त जी ने अनेक संबोधन प्रगीतों की रचना की है। 'साकेत' का दशम सर्ग संबोधि-गीत की शैली में लिखा गया है। इसमें सरयू नदी को लक्ष्य करके उर्मिला ने अपनी विरह व्यथा की कथा कही है। परन्तु यह प्रगीतात्मक न होकर वस्तु वर्णनात्मक है।

' भारत-भारती' के भविष्यत खण्ड में अनेक प्रगीत ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्रों , साधु-सन्तों , नेताओं, तीर्थगुरुओं, कवियों , धनियों आदि को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इन प्रगीतों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट है।

---

१. विश्व-वेदना, पृ० ६ (पांचवां संस्करण)
२. [illegible], रामखेलावन पाण्डेय, पृ० २४१

साधु-संतों को सम्बोधित करके लिखी गईं पंक्तियाँ ये देखिए

" सन्तो ! महन्तो ! स्वामियो ! गौरव तुम्हारा ज्ञान है ,
पर क्या कभी इस बात पर जाता तुम्हारा ध्यान है ?
यह वेश चाहे सुगम हो, आवेश अति दुर्गम्य हैं,
सौरभ-रहित है जो सुमन वह रूप में क्या रम्य है ?"[1]

इसी प्रकार 'हिन्दू' में कवि ने 'अंग्रेजों के प्रति' , 'ईसाइयों के प्रति' , 'युवकों के प्रति' , 'पारसियों के प्रति' तथा 'मुसलमानों के प्रति' प्रगीत संकलित किये हैं । 'अंग्रेजों के प्रति' का एक उदाहरण देखिए —

" सुनें प्रथम शासक अंग्रेज, जो कहने करने में तेज ।
यदि सचमुच तुम योग्य, उदार, तो पावें हम निज अधिकार ।
अब भी यदि अयोग्य हम-लोग, तो असाध्य तुमसे यह रोग
और दूर से तुम्हें प्रणाम, रहे हमारा रक्षक राम ।"[2]

ऐसे प्रगीतों में बौद्धिकता की ही प्रधानता है । हृदयरस से ये प्रगीत रिक्त प्रतीत होते हैं ।

'कुणाल गीत' के कुछ संबोधन प्रगीत गीति कला की दृष्टि से अच्छे हैं । 'मेरे शुद्ध समीर रे'[3] प्रगीत में कवि हृदय की भावनाएं प्रकट हुई हैं ।

१२. पत्र-गीतियां

पत्र-रचनाओं को भी गीति काव्य का एक भेद माना गया है ।[4] 'पत्रावली' में गुप्त जी के पद्यबद्ध सात पत्रों का संकलन है । 'महाराज पृथ्वीराज का पत्र', 'महाराना प्रताप सिंह का पत्र', 'छत्रपति शिवाजी का

---

१. भारत-भारती, पृ० १७५ (तरवां संस्करण)
२. हिन्दू, पृ० १८०-१८१ (चतुर्थ संस्करण)
३. कुणाल-गीत, पृ० ११८ (२०१३ वि०)

पत्र', 'औरंगजेब का पत्र', 'महारानी सीसौदनी का पत्र', 'अहल्याबाई का पत्र', और 'रूपवती का पत्र', क्रमश: इसमें संकलित हैं। 'औरंगजेब का पत्र' की कुछ पंक्तियाँ देखिए –

" प्रिय सुत, अब मेरा आ गया काल-सा है,
इस समय तुम्हारी भेंट की लालसा है।

× ×

अवनि पर किसी की की न मैंने भलाई,
अविरत मनमानी मूढ़ सदा चलाई।
अहित-सहित जाना पाप को भी न मैंने ।।"[१]

प्रस्तुत पत्र में औरंगजेब की आत्मग्लानि और पश्चात्ताप प्रकट हुआ है। इन सभी पत्र-गीतियों में कवि का ध्यान वस्तु-वर्णन पर रहा है। भाव-चित्रण पर यदि कवि अधिक ध्यान देता तो ये गीतियाँ उत्कृष्ट पत्र-गीतियाँ हो जातीं। फिर भी गीति-काव्य के अन्तर्गत इन पत्र-गीतियों को रखा जा सकता है। 'यह गीत - शिल्प का एक प्रयोग मात्र था, जिसका कवि ने पुनरावर्तन नहीं किया। ऐतिहासिक व्यक्तियों की आत्माभिव्यक्तियता होने के कारण ही इन्हें गीति-काव्य कहा जा सकेगा।'[२]

माइकेल मधुसूदनदत्त का 'वीरांगना' एक पत्रात्मक गीति-काव्य है। गुप्त जी ने इसका अनुवाद किया है। इसमें प्रगीत-तत्त्व भलीप्रकार निखरा है।

निष्कर्ष

गुप्त जी का सम्पूर्ण गीति-काव्य लगभग चालीस-पैंतालीस वर्षों में रचा गया है। अत: उनकी गीति कला में समयानुसार परिवर्तन होता गया है। गुप्त जी ने गीति-काव्य के सभी प्रकारों पर प्रगीत रचना की है। यही नहीं उन्होंने नवीन प्रयोग भी किये हैं। उन्होंने प्रगीत पद्धति

---

१. पत्रावली, औरंगजेब का पत्र, पृ० १६ (२०१३ वि०)
२. मैथिलीशरण गुप्त-व्यक्ति और काव्य, कमलाकान्त पाठक, पृ० ५३२।

का पर्याप्त विस्तार किया है। गीति-काव्य का आरंभिक स्वरूप हमें गुप्त जी के प्रगीतों में भी मिलता है। गुप्तजी के गीति काव्य का हिन्दी में विशेष स्थान है। गीति-शिल्प की दृष्टि साकेत, यशोधरा और कुणालगीत में उनका प्रतिनिधि प्रगीत-काव्य उपलब्ध होता है।

मैथिलीशरण गुप्त का मुक्तक-काव्य

मुक्तक काव्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीति-काव्य और मुक्तक पृथक-पृथक काव्य-रूप हैं। मुक्तक काव्य का तात्पर्य स्फुट-पद्य-रचना से है। मुक्तक का अर्थ एक पद्य रचना से ही नहीं है। वरन वे एकाधिक भी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने तो दो, तीन चार और पांच तथा पांच से अधिक छंदों में पूर्ण होने वाले मुक्तकों के युग्मकं, संदानितक आदि भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं।[१] परन्तु उनमें पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उसका आकार छोटा अथवा सीमित होना चाहिए। साधारणतया एक छन्द में सीमित, रसपूर्ण रचना को मुक्तक कहा जाता है। इसकी संक्षिप्तता के कारण ही इसमें सम्पूर्ण जीवन का विशद चित्र न होकर एक ही स्थिति अथवा भाव का चित्रण होता है। कवि को सचेष्ट रहना पड़ता है कि वह कौशल के साथ सम्पूर्ण चित्र को एक मुक्तक में संजो कर रखता है। वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि आवश्यक बातें

---

१. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानतिकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभि: कुलकंमतम्।

—आचार्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३१४-३१५

चुन ली जायं और अनावश्यक छोड़ दी जायं । इसमें सरसता का होना भी आवश्यक है । वह तो स्वयं ही संक्षिप्त होता है अतएव उसमें इतना स्थान ही नहीं होता कि नीरस बातें कही जा सकें । प्रबन्ध रचना में सरस प्रसंगों को जोड़ने के लिए नीरस स्थल भी आ जाते हैं, परन्तु मुक्तक में यह संभव नहीं है । मुक्तक में पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता अतएव उसे स्वयं ही रसपूर्ण होना चाहिये । प्रत्येक मुक्तक अपने में पूर्ण होता होता है । शुक्लजी ने कहा है --" यदि प्रबन्ध काव्य एक बनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता ।" मुक्तक का अपना महत्व है, और अपनी उपयोगिता है । थोड़े में ही रसानुभूति करा देना मुक्तक का ही कार्य है । अधिकतर महाकवियों ने भी प्रारम्भ में मुक्तक रचना से ही काव्य-रचना का आरम्भ किया है और बाद में वे प्रबन्ध रचना कर सके हैं ।

गुप्त जी की मुक्तक रचनाएं

मूलत: गुप्त जी प्रबंधकार हैं । परन्तु उन्होंने अपनी काव्य रचना का आरम्भ नीति-मूलक सूक्तियों, अन्योक्तियों तथा संस्कृत के सुभाषितों और अन्योक्तियों के अनुवादों से किया था । उन्होंने संस्कृत साहित्य को अपने मुक्तक काव्य का आधार बनाया । डा० उमाकान्त ने गुप्त जी की मुक्तक रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है —मैथिलीशरण की अधिकांश , करीब करीब सभी मुक्तक कविताओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम ये हैं —पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश-संगीत और मंगल-घट । ये पुस्तकें निश्चय ही मुक्तक संग्रह हैं ।"[१] इसी प्रकार श्रीमती सरस्वती पारीक ने भी गुप्त जी के मुक्तक काव्य के अन्तर्गत इन रचनाओं को स्थान दिया है —

१. प्रबन्ध-काव्यों के गीत (साकेत के गीत)
२. नाटकों में नियोजित गीत ।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त- कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, डा० उमाकान्त, पृ० २४५ । नैशनल पब्लि०हा०, दिल्ली द्वितीय संस्क०)

३. 'हिन्दू' और स्वदेश-संगीत की रचनाएं।

४. मंगलघट और झंकार की कविताएं।

उपर्युक्त दोनों ही विभाजन भ्रामक और अस्पष्ट हैं। वास्तव में गुप्त जी के मुक्तकों का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। 'पद्य प्रबंध' और 'मंगल घट' में अनेक-रूपात्मक काव्य रचनाएं संगृहीत की गई हैं। 'स्वदेश-संगीत' में मुख्यतः राष्ट्रीय-प्रगीत संगृहीत हैं। 'मंगल घट' में अनेक रूपात्मक रचनाएं नियोजित हैं 'हिन्दू' निराख्यानक निबंध काव्य की कोटि में आता है। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि गुप्त जी की मुक्तक रचनाएं संगृहीत नहीं हैं। परन्तु नाटकों के अंग रूप में मुक्तक आए हैं। प्रबंध-काव्यों में भी मुक्तक समाविष्ट हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र, यदा-कदा मुक्तक छपे हैं। अन्य स्थलों पर भी लिखे हुए मुक्तक दिखाई पड़ जाते हैं। वास्तव में कवि की मुक्तक रचना में विशेष रुचि नहीं दिखाई - पड़ती।

गुप्त जी ने सर्वप्रथम अपनी अप्रकाशित रचना 'दुर्दशा-निवेदन' में मुक्तकों की सृष्टि की है। एक उदाहरण देखिये —

शिशिर —

" कान्ता-समेत वर हर्म्यन में विहार,
जो शीत नाशत हते अति मोद धार।
सोई प्रभो, जब न कांह विराम पाय,
हा हा, यमालय बसै नित जाय-जाय।" [१]

(वसंत तिलका वृत्त)

यह मुक्तक रचना व्रजभाषा में और गणवृत्तों में रची गई है।

गुप्त जी ने अपनी काव्य रचना के आरंभिक काल में ही सूक्ति-रचना भी की थी। इन सूक्तियों में कोई नीति की बात चमत्कार पूर्वक व्यक्त की गई है।

---

१. दुर्दशा-निवेदन, हस्तलिखित भारतीय कला-भवन, काशी, शिशिर, पद्य सं० १६

यथा —

" जो पर-पदार्थ के इच्छुक हैं, वे चोर नहीं तो भिक्षुक हैं।
हमको तो 'स्व' पद - विहीन कहीं, है स्वर्ग राज्य भी इष्ट नहीं[१]।"

'यशोधरा' काव्य के अन्तर्गत भी अनेक मुक्तक पदों की सुंदर नियोजना कवि ने की है। यथा—

" मैं भी थी सखि, अपने मानस की राजहंसिनी रानी,
सपने की सी बातें, प्रिय के तप ने सुखा दिया पानी।"[२]

प्रस्तुत मुक्तक-पद्य यशोधरा की भावाभिव्यंजना का द्योतक है। इसमें ऊहा का चमत्कार भी दिखाई देता है। साकेत में भी मुक्तक-पदों का प्रयोग किया गया है। यथा —

" मानस-मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।"[३]

उर्मिला की विरह-व्यंजना करने में यह मुक्तक अत्यन्त सफल है।

'विष्णुप्रिया' काव्य के अन्तर्गत भी मुक्तक-पदों की रचना की गई है। यथा —

" मुड़ कर और भिखारी बनकर, आये स्वयं जहां से,
लाये मेरे लिए नाथ, तुम दारुण दण्ड वहां से।
तुम मुझको छोड़ो, मैं तुमको छोड़ूं कहो, कहां से ?
सब कुछ छोड़ यहां आई थी, जाऊं कहां यहां से ?"[४]

यहां विष्णुप्रिया की यह उक्ति आत्माभिव्यंजक है। यशोधरा, साकेत यशोधरा साकेत, और विष्णुप्रिया के मुक्तक पद्य क्योंकि प्रबंध काव्यों के अंग होकर

---

१. स्वदेश-संगीत, स्वराज्य, पृ० ११२ (प्रथम संस्करण)

२. यशोधरा, पृ० ६६ (२०२१वि०)

३. साकेत, नवम सर्ग, पृ० २६८ (२०२१वि०)

४. विष्णुप्रिया, पृ० १२० (चतुर्थ संस्करण)

आए हैं अत: उनका कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं है ।

इनके अतिरिक्त गुप्त जी ने अनेक विषयों,घटनाओं, व्यक्तियों,आदि से सम्बन्धित सूक्तियां लिखी हैं, जिनका साहित्यिक महत्व अधिक नहीं कहा जा सकता । फिर भी इन मुक्तक रचनाओं का अपना महत्व है । गांधी जी के निधन पर लिखित यह पद्य देखिए -

' अरे राम कैसे हम फेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक,
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्रपिता परलोक ।'[१]

भारत के स्वतंत्रता-दिवस के अवसर पर लिखा गया यह पद्य देखिए -

' स्वतंत्रता का जन्म दिवस अपना यह आया ।
यही देश का देह-विभाजन भी था लाया
राजनीति का एक नया मद है अब छाया,
राम तुम्हें भी भुला न दे तेरी यह माया ।'[२]

इस प्रकार की स्फुट रचनाएं अन्य भी हैं ।

मैथिलीशरण गुप्त की गद्य रचनाएं

गुप्त जी मूलत: कवि हैं , गद्यकार नहीं । उन्होंने कोई पुस्तिकाकार गद्य रचना नहीं लिखी है । परन्तु उनकी स्फुट गद्य रचनाएं यत्र-तत्र मिलती हैं । विभिन्न ग्रन्थों की भूमिकाएं (स्वयं अपने तथा अन्य लेखकों क) भाषणों, संस्मरणों , पत्रों तथा कतिपय आलोचनाओं आदि के रूप में जो गद्य मिलता है वह पर्याप्त आकर्षक प्रतीत होता है । उन्होंने गद्य के रूप में

---

१. अंजलि और अर्घ्य-मुख पृष्ठ (पांचवां संस्करण)
२. स्वतंत्रता-दिवस, सन् १९५२ हस्तलिखित पद्य ।.

जो कुछ भी लिखा है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका गद्य सुष्ठु तथा प्रसादगुण से पूर्ण है। वे वास्तव में गद्य लेखक नहीं हैं, अत: गद्य लिखते समय वे बराबर सतर्क रहे हैं। उनकी गद्य रचनाएं कम हैं, परन्तु जो हैं वे उच्चकोटि के गद्य की उदाहरण हैं।

भूमिकाएं --

अपनी काव्य पुस्तकों तथा अन्य लेखकों की पुस्तकों[1] की भूमिकाओं, निवेदन, परिचय और प्रस्तावना आदि में गुप्त जी के गद्य का स्वरूप बड़ा ही परिष्कृत और आकर्षक दिखाई पड़ता है। इनमें कवि ने जो कुछ भी कहना चाहा है वह बड़ा ही सुस्पष्ट, सुबोध और सुगम्य है। शैली सरल और प्रसादगुण युक्त है। कहीं भी जटिलता अथवा भ्रामकता नहीं आने पाई है।

भाषण

गुप्त जी ने अपने कुछ भाषणों को विचारात्मक निबंध के रूप में लिखा है। इनमें विवरण प्रधान व्याख्यात्मक शैली प्रयुक्त हुई है। ये

---

१. (क) `साधना` : गद्यकाव्य, रायकृष्णदास की रचना का परिचय, काशी, फाल्गुन शुक्ल, ६, १९७३

(ख) मौर्य-विजय : खंडकाव्य, सियारामशरण गुप्त की रचना की भूमिका, चैत्र १९७१।

(ग) रक्त-रेखा : कविता संग्रह, कविशील की रचना की भूमिका।

(घ) राधा-कृष्ण : काव्य, कवि राजेश्वरनारायण सिंह की कृति की भूमिका, संवत् २०१२।

(ङ०) सुमन : काव्य-संग्रह, महावीरप्रसाद द्विवेदी, `काव्य-मंजूषा` का संशोधित नवीन संस्करण, भूमिका, सं० १९७९

भाषण उनके गंभीर अध्ययन के परिचायक भी हैं ।[१]

संस्मरण

गुप्त जी ने अनेक गद्य रचनाएं संस्मरणात्मक और आत्मकथानक

---

१. (क) चिरगांव में आयोजित स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष में कवि का आभार प्रदर्शन, मुद्रित तीन पृष्ठ, सन् १९३६ ।

(ख) 'मैथिली काव्य-मान ग्रन्थ' भेंट होने पर काशी के स्वर्ण-जयन्ती आयोजन में कवि का लिखित भाषण,टंकण किए हुए दस पृष्ठ,१९३६ई।

(ग) आगरा सेंट्रल जेल में कवि की वर्षगांठ राजबंदियों के द्वारा मनाई गई, उस अवसर पर दिया गया भाषण — काव्य पथ पर ' ।

(घ) श्री नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा आयोजित हीरक जयंतीमें कविका लिखित भाषण,टंकण किए हुए आठ पृष्ठ,सन् १९४६

(ङ०) काशी में हीरक-जयन्ती के अवसर पर सभा-भवन में दस-सहस्र रुपये की थैली भेंट होने पर कवि का भाषण, टंकण किए हुए तीन पृष्ठ, सन् १९४६ ई० ।

(च) भांसी में हीरक-जयन्ती आयोजन के अवसर पर कवि का लिखित भाषण, टंकण किए हुए चार पृष्ठ, सन् १९४६ ।

(छ) चिरगांव में हीरक-जयंती आयोजन के अवसर पर कवि का मुद्रित भाषण, तीन पृष्ठ, सन् १९४६ ।

(ज) डी०लिट् उपाधि प्राप्त होने पर नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा द्वारा आयोजित अभिनन्दन समारोह में कवि का पठित भाषण, टंकण किए हुए दस पृष्ठ, सन् १९४८ ।

(झ) आगरा-विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त डी०लिट्० की सम्मानित उपाधि के उपलक्ष में दीक्षान्त समारोह के लिए कवि का अपठित भाषण, टंकण किए हुए चार, पृष्ठ, सन् १९४८ ।

(ञ) डी०लिट्० उपाधि के पश्चात् भांसी के कल्चरल क्लब के स्वागत समारोह में पठित कवि का भाषण,टंकण किए हुए आठपृष्ठ,१९४८

(ट) बम्बई प्रान्तीय राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा के दीक्षान्त-समारोह में दिया गया गया संक्षिप्त भाषण,पांडुलिपि चार पृष्ठ,सन्१९५२

शैली में लिखी हैं।[१] ऐसी रचनाओं में कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित सम्पर्कों का निरूपण हुआ है। ऐसी रचनाएं कवि की भावनाशीलता को मुख्यरूप से व्यक्त करती हैं। इनमें कवि का शील-सौजन्य व्यक्त हुआ है। इनमें कहीं भी आत्मविज्ञापन की गंध नहीं आने पाई है।

पत्र

कवि द्वारा लिखे हुए अनेक पत्रों का साहित्यिक महत्व है।[२] अतः

१.(क) 'अपने विषय में' का पूर्वार्द्ध'साहित्यकार' मई १९५५, पृ० ४७-५४।
(ख) 'गणेश जी' --'सुधा' नवंबर १९३१, पृ० ४३४-४४८। (गणेशशंकर विद्यार्थी के संस्मरण)।
(ग) 'आचार्य देव' -सरस्वती', द्विवेदी स्मृति अंक, फरवरी, १९३९, पृ० १९९-२००,(महावीर द्विवेदी के संस्मरण)।
(घ) 'श्रद्धांजलि' -बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३४२-३४५,सन् १९४९। (बालमुकुन्द गुप्त के साहित्यिक संस्मरण)
(ङ०) 'हमारा वृन्दावन' -नई धारा, अप्रैल मई १९५१, पृ० २१५ और २१६। (वृन्दावनलाल वर्मा के साहित्यिक और सामाजिक संस्मरण)
(च) 'अनुज' -'सियारामशरण गुप्त' (पुस्तक), पृ० ४ से १५ तक। (पारिवारिक तथा साहित्यिक संस्मरण सन् १९४८, सन् १९४८ के लगभग लिखे हुए।)

२. (क) 'साकेत' के सम्बन्ध में गांधी जी को लिखा गया पत्र, रामनवमी १९८९
(ख) ,, ,, श्रीकान्तमालवीय ,, ,, ३१ दिस० (१९३२)
(ग) ,, ,, नंददुलारे वाजपेयी को ,, श्रावणकृष्ण५,१९८९
(घ) 'साकेत'-स्पष्टीकरण विषयक पत्र बनारसीदास चतुर्वेदी को १५ जनवरी, सन् १९३२, विशाल भारत में प्रकाशित'।
(ङ०) 'साकेत के सम्बन्ध में महावीरप्रसाद द्विवेदी को लिखा गया पत्र २७ जनवरी सन् १९३२।
(च) ,, ,, वेंकटेशनारायण तिवारीको लिखा गया पत्र, सन् १९३२।

उन पत्रों के द्वारा उनके काव्य के अध्ययन में विशेष सहायता और दिशा दिखाई पड़ती है। 'साकेत' के सम्बन्ध में गांधी जी से कवि ने जो पत्र व्यवहार किया था, उसका ऐतिहासिक महत्व है। गुप्त जी के पत्रों में सरलता, सौजन्यता, विनम्रता आदि गुणों की छाप है।

आलोचना

गुप्त जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध[1] अधिकतर विकास काल में लिखे थे।

(पिछले पृष्ठ का अवशेष)

(झ) यशोधरा के सम्बन्ध में नंददुलारे वाजपेयी को लिखा गया पत्र, ३१ अक्टूबर १९३३ ई०

(ज) पं० जवाहरलाल नेहरू को उनकी (मेरी कहानी) के सम्बन्ध में लिखा गया पत्र। सन् १९३७।

(झ) साकेत के विरहवर्णन के सम्बन्ध में डा० कन्हैयालाल सहल को लिखा गया पत्र। नागपंचमी सं० २००६ 'नया-समाज' में प्रकाशित, मार्च १९५२, पृ० २०० से २०२ तक।

(ञ) सम्मेलन के सभापति पद के सम्बन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा गया पत्र, आषाढ़ शुक्ल ५, १९९४, विशाल भारत में प्रकाशित, पृ० १४३-१४६, अगस्त १९३७।

---

१. (क) 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो ?' 'सरस्वती', दिसम्बर १९१४, पृ०६७०-७८

(ख) भानुकवि-कृत 'काव्य प्रभाकर) की समालोचना, सरस्वती, अप्रैल १९१२, पृ२२

(ग) बृजनन्दनसहाय के 'सौंदर्योपासक' उपन्यास का पुस्तक परिचय, सरस्वती, दिसम्बर १९११, पृ० ६२१।

(घ) 'कला' विषय पर एक संक्षिप्त निबंध सन् १९४८ के लगभग लिखा गया, टंकण किए हुए ३ पृष्ठ (अमुद्रित)

(ङ०) 'भारत-भारती' के विषय में, रेडियो वार्ता, सन् १९५४ में प्रसारित

(च) मैं कवि का आरंभ' रेडियो वार्ता, सन् १९५४ में प्रसारित

(छ) 'अन्योक्ति', रेडियो-वार्ता, सन् १९५३ में प्रसारित

(ज) 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' रेडियो वार्ता, सन् १९५५ में प्रसारित।

(झ) 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' रेडियोवार्ता, सन् १९५४ में प्रसारित।

(शेष आगे)

'हिन्दी कविता किस ढंग की हो ?' निबन्ध में गुप्त जी की काव्य सम्बन्धी मान्यताएं स्पष्ट हुई हैं। इसी प्रकार 'कला' शीर्षक लघु निबंन्ध में उन्होंने अपनी कला-विषय मान्यताओं को व्यक्त किया है। इस प्रकार की अनेक साहित्यिक आलोचनाएं और निबन्ध गुप्त जी ने लिखे हैं। रेडियो द्वारा भी ये निबन्ध और आलोचनाएं प्रसारित हुई हैं।

मैथिलीकरण गुप्त की नाट्य-कृतियां -

गुप्त जी मुख्यत: कवि हैं नाटककार नहीं। परन्तु उन्होंने अपने काव्यारम्भ के समय नाट्य रचनाएं भी लिखी हैं। यद्यपि नाटक के तत्वों के आधार पर इनकी रचना नहीं हुई है परन्तु फिर भी ये कृतियां नाट्य-कृतियां ही कहला सकती हैं। 'लीला', 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' ये चार नाट्य कृतियां-कवि ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में लिखी थीं। ये नाट्य रचनाएं उनकी प्रासंगिक काव्य सृष्टि हैं। इनमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। गुप्त जी की रुचि पौराणिक और इतिहास प्रसिद्ध कथानकों की ओर थी। अत: उनकी नाट्य कृतियों में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। लीला, चन्द्रहास और तिलोत्तमा के कथानक तो स्पष्ट ही पौराणिक हैं। अनघ का कथानक यद्यपि पौराणिक नहीं है परन्तु सामयिक वृत्तों पर आधारित है अतएव वह काल्पनिक भी नहीं कही जा सकती। गुप्त जी ने अधिकतर आदर्श और चिर प्रसिद्ध चरित्रों को चुना है। अतएव उनमें विकास दिखाने का विशेष अवसर नहीं रहता। चन्द्रहास

(पिछले पृष्ठ का अवशेष)

(ज) 'जगदेव की कहानी', जनश्रुति, पद्मावत-संजीवनी भाष्य का परिशिष्ट, पृ० ७३५ से ७४० तक मुद्रित।

सन् १९०५-१९०६ में गुप्त जी ने ('देशी शक्कर क्यों खानी चाहिए ?' इस विषय पर कतिपय लेख लिखे थे। पर उनका साहित्यिक महत्व नहीं है।

और तिलोत्तमा के चरित्र स्थिर प्रतीत होते हैं। गुप्त जी की नाट्य रचनाओं में मुख्य और गौण पात्रों के निश्चय में संदेह बना रहता है। मुख्य पात्र और गौण पात्रों में स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। ये नाट्य कृतियाँ संवाद शैली में लिखी गई हैं। इन सब में कवि ने कोई न कोई महान उद्देश्य दिखाया है। तिलोत्तमा और चन्द्रहास नाटकों पर संस्कृत नाट्यशास्त्र का प्रभाव दिखाई पड़ता है। गुप्त जी की प्रवृत्ति नाटक रचना में की ओर नहीं थी अतः केवल प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने इन नाट्य रचनाओं का प्रणयन किया। वास्तव में वे प्रबन्धकार कवि थे और उसी ओर उनका झुकाव भी था।

उपसंहार

ooooooo

निष्कर्ष तथा उपलब्धियां

गुप्त जी द्विवेदी युगीन काव्य साधना के कवि रहे हैं, उनके विचारों, आदर्शों मान्यताओं और विश्वासों का अधिकतर निर्माण इसी युग की देन है। परन्तु वे उस युग के ही होकर नहीं रह गए। उन्होंने लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक काव्य रचना की और अपने युग को आत्मसात किया। गुप्तजी ने नवीनता को निस्सार और निरर्थक नहीं समझा। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य में प्रगीत-तत्व, छायावादी अभिव्यंजना प्रणाली, मन: विश्लेषण की प्रवृत्ति, शृंगारिक वर्णन (यद्यपि वह मर्यादित है) आदि को अपनाया है। नवीनता को अपनाते जाने के कारण उनके काव्य-विकास की विभिन्न स्थितियां हैं। वे उदार दृष्टिकोण वाले कवि हैं। उन्होंने हिन्दी में पुनर्जागरण काल की प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त किया। इसीलिए वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा छायावादी कवियों के मध्य की कड़ी माने जाते हैं। सच बात तो यह है कि यदि द्विवेदी युगीन काव्य तथा छायावादी काव्य को जोड़ने वाली कोई कड़ी है तो वह नि:सन्देह गुप्त जी ही का काव्य है। यद्यपि छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन माना गया है और छायावाद को द्विवेदी-युगीन काव्य की विरोधी वस्तु समझा गया है। परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता। यदि यह विरोध सत्य होता तो गुप्त जी अपनी समस्त विशेषताओं के साथ छाया-वादी काव्य गुणों को कैसे अपना पाते। गुप्त जी वास्तव में समन्वयवादी कवि हैं, उन्होंने दो काव्य युगों की विशेषताओं को एकसाथ ही अपनाया है। यह ठीक है कि गुप्त जी ने छायावाद के सूक्ष्म-सौंदर्य बोध को नहीं अपनाया है, साथ ही उनके काव्य का आधार भी प्रत्यक्ष जीवन है। इसका कारण यह है कि गुप्त जी मानवता के कवि हैं। गुप्त जी को मानवजीवन ने उतना आकृष्ट किया और मानव-जीवन ही इतना विशाल दिखाई पड़ा कि उन्हें प्रकृति को सचेतन मानने और सूक्ष्म सौंदर्य की अनुभूति करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी में छायावादी-काव्य-धारा के साथ-साथ मानवतावादी काव्यधारा भी प्रवाहित हुई। गुप्त जी इस दूसरी काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रारंभ में गुप्त जी द्विवेदीयुगीन काव्य संस्कारों को लेकर चले परन्तु, इन संस्कारों ने न तो उन्हें जड़ बनाया और न वे इन संस्कारों के द्वारा इतने जकड़ गए कि छायावादी काव्य प्रवाह में भली-भांति संतरण न कर सके।

गुप्त जी वास्तव में मानवतादर्शवादी कवि हैं। गुप्त जी की विचारधारा में कुछ गुण ऐसे हैं जो उन्हें द्विवेदी युग से विरासत में मिले हैं, मानवोत्थानवादी दृष्टिकोण भी इसी का परिणाम है। उनके काव्य में मानवजीवन का इतना व्यापक और अनेक तल-स्पर्शी संवेदनात्मक चित्र है, जो अन्य किसी कवि में दिखाई नहीं देता। वे समक्ष या प्रत्यक्ष जीवन के लिए ही अपनी सारी आस्था अर्पित करते हैं –

अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जाने,
समक्ष की ही हम क्यों न मानें ?

गुप्त जी अपनी पृथ्वी को देवों के स्वर्ग से भी अधिक महत्व देते हुए उसकी वंदना करते हैं –

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,
भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।
हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।

कवि की विचारधारा है कि मानव का भूतल या कर्ममयी पृथ्वी के साथ अटूट संबंध है। यहीं के सुख-दुःख का हमें भोग करना है। मनुष्य और समाज में वास्तव में संघर्ष नहीं है, परन् व्यष्टि और समष्टि दोनों का समन्वय है। तात्पर्य यह कि नर और नारायण दोनों का शाश्वत सख्यभाव है। श्रीमद्भागवत में भी यह कहा गया है कि नर और नारायण सखा हैं –

नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ।[१]

भारतीय संस्कृति में भागवती परम्परा अपना विशेष स्थान रखती है । भागवत के दृष्टिकोण का तात्पर्य यही था —

नारायणो नरश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम् । [२]

अर्थात् एक ही महान् जीवन तत्व समष्टि और व्यष्टि में व्याप्त है । विराट विश्व में उसकी संज्ञा नारायण है और व्यक्त केन्द्र में वही नर है । तात्पर्य यह कि नर और नारायण दोनों एक ही स्रोत की धारा हैं । अतः नर पूज्य है और अभिवन्द्य है । यही भागवती दृष्टि का भी सार है । इसके अनुसार मानव-जीवन की सोद्देश्यता और गरिमा स्पष्ट होती है । गुप्त जी ने भी इस भागवती सत्य को पहचाना है । वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी कवि हैं । 'नहुष' के वृत्तान्त द्वारा कवि ने यह सिद्ध किया है कि मानव का भाग्य अब देवों से भी अधिक सुन्दर है । नर आज देवराज के पद का अधिकारी हो गया है । पर उस पद के योग्य मन भी होना चाहिए । आसुरी मन से देवराज का पद असंभव है —

सीमा क्या यही है पुरुषार्थ कीपुरुष के ?
मुद्रा हुई उत्सुक-सी मुख की नहुष के ।
नर अधिकारी आज देवराज पद का
किंवा यह लक्ष्य हुआ हाय ! सुरमद का
मानता हूँ भूल गया नारद का कहना —
दैत्यों से बचाए निज देवधाम रहना । [३]

नहुष का स्वर्ग से पतन हो जाता है । परन्तु यह पतन मानव की अंतिम पराजय का सूचक नहीं है, वरन उसे भविष्य के लिए सावधान करने का प्रयत्न है । जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है —" नहुष के आख्यान में यह

---

१. श्रीमद्भागवत ११।७।१८

२.महाभारत, उद्योग पर्व

३. नहुष

स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य बार-बार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएं बार-बार उसे नीचे ले जाती हैं। मनुष्य को उन पर विजय पानी ही होगी। तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले।[1] यथा --

> गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी,
> मैं ही तो उठा था आप गिरता हूं जो अभी।
> फिर भी उठूंगा और बढ़कर रहूंगा मैं,
> नर हूं पुरुषार्थ मूं चढ़ के रहूंगा मैं।।[2]

यह आशावाद और दृढ़ संकल्प ही मानव के कर्म की टैक है। कवि ने युधिष्ठिर को आदर्श मानव या पूर्ण-मानव के रूप में चित्रित किया है मनुष्य की जो साधना है वह अधिक से अधिक मानवता का कौन सा स्तर प्राप्त कर सकते हैं, यह युधिष्ठिर के चरित्र से पता चलता है। कवि के अनुसार पृथ्वी पर युधिष्ठिर के रूप में जैसा पुष्प खिला है, वैसा स्वर्ग में भी सुलभ नहीं है। स्वयं कृष्णा द्रौपदी से कहते हैं —

> निज साधना से अधिक नरकुल जो युधिष्ठिर से मिला।
> क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला ?

गुप्त जी राष्ट्रकवि भी हैं। कवि होना कठिन है। राष्ट्रकवि होना तो और भी कठिन है।...... जो अपने कृतित्व के बल पर अपने मी मनोराज्य का अधिकारी मानलिया गया हो वह है राष्ट्रकवि। कवि से कितना अधिक ऊंचा और कितना कठिन दर्जा है राष्ट्रकवि का।"[3] राष्ट्रकवि का काव्य वास्तव में ऐसा होना चाहिए जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की उदात्त आत्मा का चित्रण हो। उसके काव्य में राष्ट्र का अतीत, वर्तमान और भविष्य भी प्रतिबिम्बित हो

---

१. नहुष, निवेदन, पृ० ४ (चौथा संस्करण)
२. ,, पृष्ठ ६६ ,,
३. गुप्त जी का राष्ट्र कवित्व - डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५४२

गुप्त जी इस दृष्टि से पूर्ण राष्ट्रकवि हैं। उनके काव्य में भारतीय-संस्कृति की आत्मा प्रतिबिम्बित है।

भारतीय-संस्कृति में नारी के प्रति पूज्य भावना रही है। गुप्त जी ने भी अपने काव्य में नारीत्व की महत्ता का उद्घोष किया है। गुप्त जी राष्ट्रकवि के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के गायक भी थे। उनका हृदय नारी की उपेक्षा किसी प्रकार भी सह नहीं सकता था। युग युग से साहित्य में उपेक्षित नारियों को चुन चुन कर उन्होंने उनके आंसू में आंसू मिलाये हैं।

गुप्त जी आधुनिक युग के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि रहे। उनकी लोकप्रियता का यही कारण है कि वे प्राचीन और नवीन संस्कृतियों का सुन्दर सामंजस्य कर सके। उनकी पौराणिक महाभारतीय, रामायणीय, ऐतिहासिक आदि कोई भी ऐसी रचना नहीं है जिसमें भारतीय संस्कृति का कोई न कोई उज्ज्वल पक्ष प्रतिबिम्बित न हो।

उन्होंने विश्व-मानवता का जीवनादर्श उपस्थित करते हुए भारतीय संस्कृति की व्यापकता, महत्ता और विशालता का दिग्दर्शन कराया है। वे स्वयं उदार और विनयशील थे। वे विश्व-बंधुत्व के पोषक भी थे। उनका काव्य विशुद्ध भारतीय कहा जा सकता है। उनके काव्य में सचेष्ट सामाजिक चेतना अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने जातीय भावना से लेकर धर्मों और संस्कृतियों के सामंजस्य तक को अपने काव्य का विषय बनाया है। वे सच्चे अर्थों में येग-कवि हैं।" संक्षेप में हम डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में कह सकते हैं —

" गुप्त जी के काव्य मानस की प्रेरणा और प्रवृत्ति का स्रोत चतुर्विध है। अतीत संस्कृति और कला का प्रेम उसका एक अंश है। वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता उसका दूसरा चरण है। समग्र जीवन और उसके साथ जुड़ी हुई कर्मेमय प्रवृत्ति-मार्ग या कवि के शब्दों में कहे तो "गेहे-गौरव" वाद में उसका तीसरा अंश है। मानव की गरिमा या अनुभाव या महिमा के प्रति आस्था और आशा एवं उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान, या भागवती परिभाषा में नर-नारायण का समन्वय, यह दृष्टिकोण उसका चौथा अंश है। इन चारों का जहां सम्मेलन होता है वहीं गुप्त जी

के काव्य का प्रतिष्ठा विन्दु है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार नए विचारों का उजाला गुप्त जी ने अपने काव्यों के प्राचीन ठाठ में भरा है। उन्होंने न केवल उदात्त अतीत के गीत गाए हैं, वरन् वे आगे आने वाले और भी अधिक उदात्त जीवन का उत्कंठित आलिंगन करते हैं।[१] "मैं अतीत ही नहीं भविष्यवत् भी हूं आज तुम्हारा।"

श्री मैथिलीशरण गुप्त प्राचीन भारत के गौरव के गायक थे। रामायण और महाभारत, ये दो महाकाव्य पिछले दो हजार वर्षों से समस्त भारतीय साहित्य के उपजीव्य रहे हैं। गुप्त जी ने इनसे तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणों से भी कथाओं का संग्रहण करके अनेक प्रबंध रचनाएं लिखीं। कथाएं और अन्तर्कथाएं मुख्यतया प्रबन्ध काव्यों में ही संग्रथित रहती हैं। गुप्त जी मुख्यतया प्रबन्ध काव्यों में ही रमे रहे। उन्होंने लगभग बीस खण्डकाव्यों, एक महाकाव्य और एक बृहत प्रबंध की रचना की है। इन सब प्रबंध काव्यों में वर्णित अन्तर्कथाओं के मूल स्रोत रामायण, महाभारत तथा पुराणों में सुरक्षित हैं। गुप्त जी ने प्राचीन इतिहास से भी कथाएं ग्रहण की हैं। गुप्तजी ने इन प्राचीन आख्यान काव्यों से कथाओं को लेकर हिन्दी में जो काव्य लिखे वे वास्तव में जीवन्त कहे जा सकते हैं क्योंकि उनमें हमारे सांस्कृतिक नव जागरण के संदेश सुनाई देते हैं। गुप्त जी की इन रचनाओं के भीतर से धर्म का प्रवृत्तिवादी रूप अपना पथ प्रशस्त करता है। उन्नीसवीं शताब्दी में गुप्त जी ने भारतीय संस्कृति का जो पुनरुत्थान किया वह श्लाघनीय है। पं० द्वारकाप्रसाद जी मिश्र का 'कृष्णायन', डा० रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', डा० रामधारी सिंह दिनकर का 'रश्मिरथी', डा० रांगेय राघव का 'पांचाली' आदि काव्यों के द्वारा आधुनिक युग में भारतीय गौरव को मुखरता प्राप्त हुई है।

गुप्त जी ने प्राचीन चरित्रों को अपनाते समय उनमें युग के अनुरूप परिवर्तन किए हैं। गुप्त जी के काव्य में दिव्य पात्र भी मानवीय हो जाते हैं। वे अपनी विचारधारा को युग सापेक्ष आधार पर चरित्र के द्वारा ही अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी ने महाभारतीय या रामायणीय सभी पात्रों का चरित्र विकास अपने

---

१. भूमिका—मैथिली डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, मैथिलीशरण गुप्त: कृतित्व कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता। ले० उमाकान्त।

दृष्टिकोण से किया है। ऐसा करना अच्छे कवि का लक्षण भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट किया है --" हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों की भावना को सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त: प्रवृत्ति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावसत्ता का प्रसार करती है।"[१] वास्तव में चरित्र के ही द्वारा कवि मानव को उच्च-भूमि में प्रतिष्ठित करता है और दिव्य शक्ति को मानवीय क्षेत्र में अवतरित करके मानवता का प्रसार करता है। आधुनिक काल में प्राचीन महाकाव्यों और पुराणों के चरित्रों का पुनरालेखन करना हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति रही है। गुप्त जी ने भी पुनरुत्थान के लिए प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों की पुन: स्थापना की है। उन्होंने युग के आदर्शानुसार मूल में यत्किंचित परिवर्तन भी किया है। कहीं कहीं कवि ने प्राचीन परम्परागत विश्वासों में परिवर्तन न करके उन्हीं का बुद्धि सम्मत समाधान खोजा है और कहीं कहीं परम्परागत विश्वासों में परिवर्तन करके नवीन समाधान की ओर कुछ नए तथ्य उपस्थित किए हैं। गुप्त जी ने प्राचीन चरित्रों में इसी दृष्टि से परिवर्तन किए हैं। युधिष्ठिर परम्परा से श्रेष्ठ पात्र हैं किन्तु जयभारत में उनका चरित्र और भी निखर आया है। पाण्डवों एवं द्रौपदी के चरित्रों में सर्वाधिक परिवर्तन हुआ है देहपात प्रसंग में। महाभारतकार ने तो इस स्थल पर युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी को सदोष बताया है। उदाहरण के लिए अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं -

> " एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्
> न चतत्कृतवानेष शूरमानी ततो पतन् ।।"[२]

महाभारत में ऐसे सर्वसहा व्यक्तियों को भी अंत में दोषी बताया जाता है और उनके प्रति पाठक के हृदय में जमी पूज्य भावना पर तुषारापात हो जाता है। किन्तु गुप्त जी के युधिष्ठिर देहपात के कारणों को न बताकर अपने को बंधनमुक्त देखते हैं और सबके पतन के उपरान्त वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते

---

१. रसमीमांसा, पृ० ७

२. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व, २।२१

हैं। गुप्त जी द्वारा किए गए ऐसे परिवर्तन से एक तो द्रौपदी तथा अनुजों के चरित्र और अधिक बन जाते हैं दूसरे युधिष्ठिर की उदार-भावना और भी बढ़ जाती है। जयभारत में कृष्णा सर्वपूज्य पात्र हैं, किन्तु हैं मानव ही। वे महाभारत के समान 'अतिमानव' नहीं बनने पाए हैं भले ही महामानव बन गए हों। इसी प्रकार गुप्त जी के राम भी परम्परागत राम से भिन्न हैं। वाल्मीकि के राम महामानव हैं और तुलसी को आराध्यनर होते हुए भी नारायणा हैं। किन्तु गुप्त जी के राम निश्चित रूप से भगवान् हैं -

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ? [१]

उक्त पंक्ति में परित्यक्त जिज्ञासा इस कथन की परिचायक है। परन्तु वे भगवान होते हुए भी मनुष्य-कर्म करते हैं। वे इस 'भूतल को ही स्वर्ग बनाने' [२] आए हैं। गुप्त जी के भरत की साधुता में और भी अधिक वृद्धि हुई है। शत्रुघ्न भी अन्य रामायणों से अधिक क्रियाशील हैं। स्त्री पात्रों में तो उर्मिला कवि की अपनी उर्वर कल्पना की ही सृष्टि है। सीता-परम्परागत आर्या रूप में ही प्रतिष्ठित हैं परन्तु जगदम्बा होते हुए भी उनमें मानवीयता का अत्यधिक समावेश हुआ है। माण्डवी का सम्पूर्ण वृत्त कल्पना-प्रसूत है। द्रौपदी केवल भावमयी नहीं हैं वरन उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता का भी समावेश है।

कथाओं के रूप में भी कवि ने इसी उद्देश्य से परिवर्तन किए हैं। 'नहुष' की कथा का विकास कवि ने नए रूप में किया है। कवि ने शची के मन में अज्ञात आशंका का निवारण करके कथा को सुंदर मोड़ दिया है। [३] ~~भूतराष्ट्र~~ द्यूत के अन्तर्गत द्रौपदी-प्रसंग की अतिप्राकृतता के समाधान में युग की बौद्धिकता का परिचय दिया है। 'महाभारत' में द्रौपदी की रक्षा कृष्णा ईश्वर रूप में करते हैं परन्तु 'जयभारत' में इस प्रसंग में दु:शासन के मन में पाप का भय-संचार करके स्थिति को संभाला गया है। 'महाभारत' में द्यूत के समय गान्धारी का

---

१. साकेत, पृ० ६ (सं० २००५)

२. ,, पृ० १६७ ,,

३. महाभारत उद्योगपर्व, ११।६-१८, नहुष, पृ० २०

आगमन नहीं होता, परन्तु जयभारतकार ने गांधारी की उपस्थिति दिखला कर सभासदों के मत को चित्रित किया तथा स्थिति को अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया।" महाभारत" में भीम का नागों के पास जाना और वहां की सभी घटनाएं अलौकिक सत्य के रूप में चित्रित की गई हैं। पर गुप्त जी ने " उन्हें सत्य वा स्वप्न कहें" कह कर अपने को बचा लिया है।"[१] इस प्रकार प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करते समय कवि ने प्राचीन कथाओं और अन्तर्कथाओं में युगधर्म तथा अपने आदर्श के अनुसार परिवर्तन किए हैं।

मैथिलीशरण गुप्त ने प्रिय और अप्रिय, व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत सभी को अपने काव्य का विषय बनाया है। यह कवि की बहुत बड़ी विशेषता है। कोलरिज तो इसे प्रतिभा का एक लक्षण ही मानते हैं।[२] गुप्तजी एक और तो राम भक्त हैं, और उनकी राम-भक्ति की तीव्र गहन अनन्यता स्थान, स्थान पर दिखाई देती है। उदाहरण के लिए द्वापर के मंगलाचरण में वे कहते हैं —

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझपर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग।।

दूसरी ओर वे रावण के प्रति भी संवेदशील हैं। रावण जैसे घोर-कठोर के हृदय में भी वे भव्यता देखते हैं। कम से कम एक बार तो राम को भी उसे अपने से अधिक सहृदय मानना पड़ता है।[३]

---

१. महाभारत- आदिपर्व, १२७-१२८, जयभारत, पृ० ४६

२. A second promise of genuine is the choice of subjects very remote from the private interests and circumstances of the writer himself.

Writers on writing: Walter Allen(Edition 1948 Page 41)

३. साकेत-एकादश सर्ग, पृ० ४४६

कला-पक्ष की दृष्टि से भी गुप्त जी का काव्य समृद्ध है। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्तित, श्रीधर पाठक द्वारा अनुमोदित और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया, जिसका स्रोत मुख्यतया संस्कृत शब्द-कोष ही है। उनकी भाषा विकास-क्रम में उत्तरोत्तर समृद्ध होती गई। अतः उनकी काव्य भाषा व्याकरण आदि की दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध हुई। डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं — कवि (मैथिलीशरण गुप्त) को खड़ी बोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है, दूसरे द्विवेदी जी के चरणों में दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना संभव नहीं था।"[१] गुप्त जी से पहले तो खड़ी बोली कोई स्थिर रूप नहीं था। फिर सन् १९०३ में जब खड़ीबोली का के पोषक आचार्य द्विवेदी सरस्वती के संपादक नियुक्त हो गए तो खड़ी बोली के मानो स्वर्णिम दिन आ गए। १९१० ई० में गुप्त जी का `जयद्रथ बध` प्रकाशित हुआ जिसने ब्रजभाषा की आशा को ही समाप्त कर दिया और फिर उनकी `भारत-भारती` ने तो खड़ी बोली को ब्रज और उर्दू दोनों से मुक्त कर दिया। इसके प्रकाशन से खड़ी बोली का विकास-पथ उन्मुक्त हुआ। उस काल में प्रायः सभी आलोचकों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है। छन्दों पर भी गुप्त जी का पूरा अधिकार था। अधिकांशतः मात्रिक छन्द ही उनके काव्य में व्यवहृत हुए हैं और हिन्दी की गति के अनुकूल भी वे ही हैं। गुप्त जी वर्ण वृत्तों के भी सफल प्रयोक्ता हैं। यों तो गुप्त जी ने रुबाई, गजल तथा चतुर्दशपदी का प्रयोग भी किया है, परन्तु वह अल्प है। तुक तो हमारे कवि को अत्यधिक प्रिय रही। सभी दृष्टियों से गुप्त जी का छन्द-विधान स्तुत्य और सफल है।

अन्त में निष्कर्ष स्वरूप हम यह कह सकते हैं कि श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी जगत के लोकप्रिय, यशस्वी और कृती कवि हैं। उनके साहित्य का

---

१. साकेत : एक अध्ययन, पंचम संस्करण, पृ० २०।

ऐतिहासिक महत्व भी है। वे भारतीय नवोत्थान के पुरस्कर्ता हैं। गुप्त जी जन-समाज के प्रतिनिधि रचयिता हैं और खड़ीबोली के वे प्रवर्तक हैं। वे मानवतावादी नैतिक-सांस्कृतिक काव्य धारा के विशिष्ट कवि हैं। वे युग कवि और राष्ट्र कवि हैं, साथ ही आधुनिक हिन्दी काव्य के अन्यतम प्रबन्ध-शिल्पी हैं।

परिशिष्ट (क)

मैथिलीशरण गुप्त का संक्षिप्त जीवन-वृत्त

वंश की धार्मिक परम्परा और उसमें गुप्त जी का पोषण —

मैथिलीशरण गुप्त पर अपने वंश की धार्मिक और साहित्यिक परम्परा का प्रभाव बहुत पड़ा था। गुप्त जी का जन्म वैष्णव परिवार में हुआ था। जब चिरगांव बसा, उसी समय 'कनकने' परिवार भी वहां सादर आमंत्रित होकर आ गया था। चिरगांव में कनकने वंश की स्थापना श्री राघव कनकने ने ही की थी। इन्हीं राघव कनकने के पुत्र श्री लल्लाजू हुए। उनके पुत्र ललनजू हुए। इन्हीं ललनजू के पुत्र श्री रामचरण जी हुए और दाऊजी के नाम से सम्बोधित हुए। इन्हीं के पुत्र मैथिलीशरण गुप्त हुए। गुप्त जी के दो बड़े भाई थे, श्री महारामदास जी और श्री रामकिशोर जी। तथा दो छोटे भाई थे, श्री सियारामशरण जी और श्री चारुशीलाशरण जी। सेठ रामचरण जी धार्मिक और उदारवृत्ति के थे तथा राजस प्रकृति के थे। उनका अधिकांश समय भजन पूजन में ही व्यतीत होता था। परिवार में भगवद्भक्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। गुप्त जी ने लिखा है — "पिता जी पहले ही भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। आर्थिक संकट आने पर और भी भगवदावलंबी हो गए।"[१] सेठ रामचरण जी को व्यवसाय में घाटा हो जाने पर जब ~~कठिन~~ आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा तो उनकी भक्ति-भावना और भी तीव्र हो गई। अयोध्या के साधु-महात्मा और गांव के सभी पंडित उनके यहां नित्य आया करते थे। रामचरण जी की भगवद्भक्ति और दानशीलता की बड़ी प्रसिद्धि थी। गुप्त जी ने स्वयं लिखा है — "पिता जी की युवावस्था अपने दोष छोड़ कर ही उनमें आई थी। निम्नलिखित श्लोक अपनी पूर्ण मात्रा में उनपर घटित होता था —

---

१. अपने विषय में गुप्त जी द्वारा लिखित लेख, साहित्यकार-मई, १९५५ ई०

व्यसनानि सन्ति बहुधा व्यसनद्वयमेव केवलं व्यसनम् ।
विद्याभ्यसनम् व्यसनं अथवा हरिपादसेवनमं व्यसनम् ।"[1]

सेठ रामचरण जी राम-सीता के अनन्य भक्त थे। वे कृष्ण की उपासना से राम की उपासना अधिक श्रेष्ठ समझते थे। वे राम की युगल उपासना में दृढ़ थे और किसी भी प्रकार अन्य सम्प्रदाय को अपने सम्प्रदाय से श्रेष्ठ नहीं समझते थे। इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने लिखा है — "महाराज दतिया कृष्ण-भक्त थे। एकबार महाराज पिता जी से कहा कि हमारे कृष्ण भगवान ने रास में छः महीने की रात कर दी थी। पिता जी इस विषय में सहिष्णु न थे। उन्होंने कोसलखण्ड आदि अपने उपासना के ग्रन्थों के श्लोक पढ़ने आरंभ कर दिए, जिनमें रामचन्द्र जी की एक विलास रजनी में कितने ही ब्रह्मा उत्पन्न होकर विलीन हो गए। महाराज सुनकर हंस गए और जानकीप्रसाद से बोले — "रामचरण अपनी उपासना में दृढ़ हैं।"[2] गुप्त जी इन्हीं वैष्णवी संस्कारों में लालित पालित हुए। उन्हें बालपन से ही वैष्णवी संस्कार कंठस्थ कराए जा रहे थे। गुप्त जी को अनेक पौराणिक कथाएं उनके पिता सेठ रामचरण सुनाते थे। गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है —"पिता जी रात रहते ही उठकर प्रात: स्मरण करते थे, फिर हम लोगों को जगाकर नाम महिमा याद कराते थे - ध्रुवसगलानि जपेउ हरि नाऊं, पायउ अचल अनूपम ठाऊं। फिर ध्रुव की कथा सुनाते। इसी प्रकार प्रसंगानुसार और भी कितनी कथाएं कहते। मुझे बड़ा कौतूहल और आनन्द होता। परन्तु "ब्रह्म राम ते नाम बड़" अथवा "राम न सकहिं नाम गुन गाईं" वह प्रसंग आने पर, मुझे भली भांति स्मरण है, मुझे अच्छा न लगता था। राम से बड़ा कुछ भी है,(भले ही वह उनका नाम ही क्यों न हो) मैं नहीं मानना चाहता था। परन्तु युक्तियां ऐसी थीं कि मैं कुछ कह न सकता था। परन्तु अब जी उदास नहीं होता। कौतुक तो यह है कि राम

---

१. "अपने विषय में" गुप्त जी द्वारा लिखित लेख, साहित्यकार-मई, १९५५
२. ,, ,, ,,

को मैं अब भी वैसा ही मानता हूं। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम की सुध दिला दे।[१] इस समय तक गुप्त जी के ऊपर वैष्णवता का पूरा प्रभाव पड़ चुका था। राम से ऊंचा राम के नाम का भी महत्त्व वे नहीं मान सकते थे। राम-नाम का महत्त्व इस रूप में ही उन्होंने स्वीकारा कि वह राम का स्मरण दिला देता है।

राम-सीता की युगल मूर्ति की उपासना इस गुप्त वंश की परम्परा थी। झांसी के शुकलाल नाम के एक अच्छे चित्रकार से रामचरण जी ने अपने 'युगलसरकार' के अनेक चित्र बनवाए थे। अभी भी चिरगांव में 'युगल-सरकार' के पुरानी शैली के चित्र सुरक्षित हैं।[२] गुप्त जी को न मालूम कितने श्लोक उन्होंने याद करवाए थे जिनमें युगल-प्रभु के इस ध्यान की बहुधा आवृत्ति हुआ करती थी -

> नीलाम्बुज श्यामलकोमलांगम्, सीता समारोपित वाम भागम्।
> पाणौ महासायक चारु चापम्, नमामि रामं रघुवंशनाथम्।

तुलसीदास का ही एक श्लोक आगे चल कर गुप्त जी को बहुत रुचा। यथा -

> प्रसन्नतां या गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदु:खत:।
> मुखाम्बुजश्रीरघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।

मैथिलीशरण गुप्त के पितामह श्री ललजू 'विनय पत्रिका' का पूर्ण पारायण किया करते थे। सेठ रामचरण जी ने भी अपने परिवार की वैष्णव परम्पराओं का दत्तचित्त होकर पालन किया। यद्यपि वे सखि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, परन्तु 'अध्यात्मरामायण' 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' का पारायण वे नियमित रूप से करते थे। यह सखि सम्प्रदाय १८ वीं सदी के पश्चात् उत्तर-भारत में पर्याप्त प्रचलित रहा। सेठ रामचरण जी सखि-सम्प्रदाय के थे

---

१. 'अपने विषय में' मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई १९५५
२. मैथिलीशरणगुप्त, अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १५४-१५५, (कवि जैमिनी कौशिक 'बरुआ')

और उसमें उनकी अटूट श्रद्धा थी । सखि सम्प्रदाय की मर्यादा के अनुसार स्वयं को स्त्री रूप में मान कर भक्ति-परक पद रचना भी करते थे । इनका विषय राम-सीता (युगल सरकार) की महिमा वर्णन ही रहता था । सेठ रामचरण द्वारा रचित निम्न पदों में राम-जानकी के झूला-झूलने का भक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है ।

> सरकस झाँका लेत, हिंडोला मे हेली, झूलत आज ।
> राम-सिया मिल झूलत दोऊ, मनिकंचन के पटा,
> मेंचती लेत परस्पर दोऊ, उठती छवि की छटा ।। हिंडोरना में..
> राममलार नवल सखि गावत बरसत कारि घटा,
> कुसुमित द्रुमन पवन पुरवैया जल सरजू दोउ तटा ।। हिंडोरना में...

गुप्त जी के परिवार में सखी भाव की उपासना प्रचलित थी ही अत: सेठ रामचरण जी सीता के बिना राम की कल्पना ही नहीं कर सकते थे । सीता ही उनकी इष्ट देवता थीं । उन्होंने अपनी 'रहस्यरामायण' की रचना के आरंभ में ही लिखा है कि महादेव जी ने बहु काल तक राम का ध्यान किया । प्रभु ने उन्हें दर्शन तो दिये, परन्तु कहा यही — नहिं प्रसन्न तुव जप साधे, प्रिया प्रिया जानकी बिन आराधे ।' तब शिव ने युगलमूर्ति का ध्यान किया ।[१] रामचरण जी रामचरित मानस और अध्यात्मरामायण' का पाठ करवाया करते थे गुप्त जी पिता की उपासना पद्धति से थोड़ी भिन्नता रखते थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है —' स्नान के पश्चात् डेढ़-दो घण्टे वे युगल मंत्र का जप किया करते थे और जहां किसी कामकाज अथवा अथवा बातचीत से अवकाश पाते, पाठ करने लगते थे । x x x x रामचरित में इस प्रकार की उपासना कृष्ण-लीला की पूर्ति करती है । परन्तु मुझे राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप की भक्ति ही भाती है ।'[२] गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में पिता जी से कुछ कहना भी

---

१. अपने विषय में' मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार,' मई, १९५५
२. ,, ,,

चाहा, परन्तु उन्होंने गुप्त जी को अनधिकारी समझा । इस समय गुप्त जी के धार्मिक विचार स्वतंत्र रूप से पल्लवित और पुष्पित हो रहे थे, यद्यपि वंश की धार्मिक परम्परा से वे पूर्णत: प्रभावित थे ।

गुप्त जी के वंश के वैष्णव संस्कारों का वर्णन करते हुए मुंशी अजमेरी जी कहते हैं -" उनका (रामचरणजी) अधिक, समय भजन-पूजन में ही बीतता था । 'अध्यात्म रामायण' और 'रामचरितमानस' का साप्ताहिक पाठ किया करते थे । प्रति मंगलवार को दोनों पाठ समाप्त होते थे और उस दिन एक ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था । × × × × वे धार्मिक विचारों में बड़े कड़े थे । बड़ीपवित्रता से रहते थे ।"[1] पिता के इन साधु-विचारों के प्रभाव से ही गुप्त जी वैष्णवता के रंग में पूरी तरह रंग गये । चिरगांव में रामलीला का आयोजन प्राय: सेठ रामचरण अपने ही घर पर कराया करते थे । गुप्त जी की रुचि भी एक वैष्णवजन के पुत्र के नाते रामलीला के प्रति आकृष्ट हुई । एक वर्ष रामलीला के में बहुत सोच विचार कर रामजी को फूल अर्पण करने की भूमिका में माली बनने की सुविधा बालक मैथिलीशरण को दे दी गई । अभिनय के समय दो-एक छंद भी बोलने थे । इस सम्बन्ध में स्वयं गुप्त जी का कथन है -" मैंने माली की भूमिका में रामजी के फूल अर्पण करते हुए दो-एक छंद पढ़ने की चेष्टा की थी, परन्तु मैं सफल न हो सका, कंठस्थ पाठ भी ठीक न पढ़ पाया । एक साथी ने रामजी से निवेदन किया कि महाराज मेरा यह अनुज अभी बच्चा है, इस कारण अभी तुतलाता है । यह सुनकर दर्शक लोग हंसने लगे । मुझे रुलाई सी आ गई और मैं चुपचाप खिसक आया ।"[2] इन सब वातावरणों का प्रभाव गुप्त जी पर बहुत पड़ता है । गुप्त जी के कंठ ने अभिनय के समय तो साहस नहीं किया, परन्तु बाद में अन्यत्र बहुत साहसपूर्ण कार्य कर दिखाए, इसमें संदेह नहीं ।

गुप्त जी के बाल-साथी अजमेरी जी का प्रभाव भी गुप्त जी पर पर्याप्त पड़ा । गुप्त जी को आल्हा पढ़ने का शौक हो गया था । बाजार में किसी दुकान पर आल्हा की पुस्तक देखी और उसे लेकर, वहीं बैठ गए और लगे जोर

---

१. ' गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध' दैनिक प्रताप, २२ जुलाई, १९३३

२ 'मैं कवि का आरम्भ' रेडियो वार्ता, नईदिल्ली, अप्रैल, १९५३ में प्रसारित

पढ़ने । यह आल्हा पढ़ने की रुचि ठेठ बुंदेलखण्डी थी । उन्हें नहर में कूद-कूद कर तैरने का भी शौक हो गया था । परन्तु ये सब बातें उनके घर के लोगों को पसन्द न थीं । एक दिन उनके भाई रामकिशोर जी ने अजमेरी जी से कहा कि गुप्तजी बिगड़ रहे हैं उन्हें संभालना चाहिये । तब अजमेरी जी ने उनकी ओर ध्यान दिया और गुप्त जी को कहानियां सुना-सुना कर अपनी ओर आकृष्ट किया । कहानियां सुनाते सुनाते वे इन्हें कवित्त और सवैये भी सुनाने लगे । गुप्त जी को शृंगारिक पद पसंद आए । फिर अजमेरी जी ने संस्कृत के श्लोक धन के साथ सुनाए । गुप्त जी उन्हें सीखने भी लगे । इस प्रकार गुप्त जी का रवैया ही बदल गया फिर गुप्त जी ने अनेक पुस्तकें मंगा-मंगा कर पढ़ीं । 'रसराज सुंदर', 'चौर पंचाशिका' आदि अनेक श्लोक यदा कर लिए । अजमेरी जी उन्हें संगीत भी सिखाते थे । पर यह शौक अधिक दिनों तक नहीं चला । परन्तु पढ़ाई-लिखाई का कार्यक्रम चलता रहा । श्रीवेंकटेश्वर समाचार' और 'हिन्दी-बंगवासी' ये तो साप्ताहिक पत्र आते थे । 'भारत-मित्र' भी आने लगा । उन दिनों 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का बड़ा प्रचार था । बंगला से अनूदित जासूसी उपन्यास भी आने लगा । इनके अतिरिक्त 'भर्तृहरिशतक, हितोपदेश, कामंदकीय नीति' और चाणक्यनीति' आदि अनेक पुस्तकें मैथिलीशरण जी ने मंगा ली थीं ।[१] इन्हीं दिनों एक दक्षिणी ब्राह्मण ने गुप्तजी तथा उनके भाई रामकिशोर को 'अमरकोष' पढ़ाना आरम्भ कर दिया । रामचरण जी संस्कृत पढ़ना वैष्णव जन के लिए आवश्यक समझते थे । उन पर यह प्रभाव उनके पिता श्री ललनजू के द्वारा आया था । क्योंकि श्री ललनजू परम वैष्णव थे और अपने हाथों द्वारा लिखकर 'रामचरित मानस' तथा 'विनय पत्रिका' की प्रतियां तैयार की थीं । ये प्रतियां अभी तक चिरगांव में सुरक्षित हैं । 'रामचरित मानस' की प्रति के अन्त में समय आदि का विवरण सुरक्षित नहीं रह गया है, परन्तु 'विनयपत्रिका' के अन्त में यह विवरण लिखा हुआ है ।[२] वंश में चली आती हुई वैष्णव भावना का

---

१. 'गुप्तजी का और मेरा सम्बन्ध, दैनिक प्रताप, २२ और २३ जुलाई, १९३६

२. 'इति श्री विनयपत्रिका तुलसीदास कृत कृति सम्पूर्ण शुभं मस्तुमंगलं ददातु ।। सं० १८८६ शाके १७५३ ।। जादृशी पुस्तक दृष्टा तादृसी लिखितं मया ।। मम शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते मीती साउन सुद २ लिखतं ललजू कनकने ।।'

प्रभाव गुप्त जी पर भरपूर पड़ा । उन्हें पुराण आदि में विशेष रुचि हुई । मैथिलीशरण जी ने स्वयं इस सम्बन्ध में लिखा है — " पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-कहानियों, चारणों के गीत कवितों और संस्कृत के सुभाषितों ने अपनी ओर आकर्षित किया । रामायण पढ़ कर यदि मैं गद्गद् हो उठता था , तो उसमें मेरे कुलगत भक्ति के संस्कार भी थे . . . मेरे पिता जी अनन्य वैष्णव भक्त थे । ' रामचरितमानस ' और ' अध्यात्मरामायण ' दोनों के पाठ प्रति सप्ताह पूरे किया करते थे । मैंने भी मानस के अनेक पारायण किए हैं । फिर भी मैंने संस्कृत और हिन्दी के बहुत से सुभाषित कंठ किए थे और मैं उन्हें अकेले में अपनी धुन से दुहराया करता था । "[१] गुप्त जी के पिता रामचरण जी की इच्छा यही थी कि उनके पुत्र वैष्णवी संस्कारों से धनी बनें और पिता की प्रतिष्ठा के अनुरूप ही सुरुचिपूर्ण कविता ग्रहण करने में स्वतंत्र रूप से सक्षम हो सकें । गुप्त जी ने उनकी इच्छाओं को साकार रूप दे ही दिया । वे इस समय तक काव्य रचना भी करने लगे थे और वैष्णव संस्कारों का रंग भी उनपर चढ़ ही चुका था ।

सेठ रामचरण के मैथिलीशरण को सख्यभाव में दीक्षित करने का यह कारण था कि वे स्वयं सखि संप्रदाय में दीक्षित थे । " इसी बीच मुझे दीक्षा दिलाई गई । गुरुदेव थे अयोध्या के श्रीरामसखे जी महाराज । मुझे तभी उनके दर्शन हुए, फिर अवसर न आया । . . . . उन्होंने मुझे सख्य भाव में दीक्षित किया । खेद है प्रभु के साथ का अपना सम्बन्ध-पत्र जो उन्होंने लिख कर मुझे दिया था, मैंने उन्हीं दिनों प्रमादवश कहीं खो दिया । . . . . . उपासना का मेरा नाम भी मुझे याद नहीं रहा, पर अंत में ' मणि ' शब्द उसमें था । मेरे एक बड़े भाई का नाम था " रस-रंग मणि ' . . मुझे नित्य कर्म के सम्बन्ध में उपदेश भी दिया । मैंने कहा " खाना खाकर स्कूल जाना ' । उन्होंने कहा— ' नहीं, प्रसाद पाकर ' ।"[२] मैथिलीशरण जी को सख्यभाव में दीक्षित

---

१. कविता के पथ पर ', शीर्षक लेख, मैथिलीशरण गुप्त ।

२. ' अपने विषय में ' —हस्तलिखित निबन्ध, मैथिलीशरण गुप्त ।

करने का यह कारण था कि भविष्य सखि सम्प्रदाय का नहीं, वरन विशुद्ध मानवी रामचरित और रामगाथा का आ रहा था।

मैथिलीशरण जी लघु सिद्धान्त कौमुदी का अभ्यास करते थे, परन्तु उन्हें पंडित जी से कालिदास का 'रघुवंश' सुनना अधिक अच्छा लगता था। गुप्त जी में इस समय कविता के अंकुर निकल रहे थे और पौराणिक कथाएं भी आकृष्ट किए हुए थीं। उन्होंने स्वयं लिखा है - " अपने पंडित जी से 'रघुवंश' सुनना मुझे अच्छा लगता था। मुझे आज भी स्मरण है, रघु और इन्द्र के युद्ध विषयक उस श्लोक का अर्थ सुनकर मैं कितना हर्ष-विह्वल हो उठा था।[१] इसी समय राजा लक्ष्मणसिंह की 'शकुन्तला' ने भी उन्हें प्रभावित किया। 'उन्हीं दिनों की वह बात भी नहीं भूलती, जब एकांत में बैठकर मैंने राजा लक्ष्मण सिंह की 'शकुन्तला' पढ़ी थी। उसे पढ़कर कितने ही क्षणों तक मैं वैसा का वैसा निस्तब्ध बैठा रह गया था। उस तेरह-चौदह वर्ष की आयु में कैसे ऐसा भावोद्रेक हुआ, नहीं जानता।"[२] 'रघुवंश' की कथा में गुप्त जी द्वारा इतनी रुचि हुई कि मार्च सन् १६०७ में उन्होंने 'रघुवंश' के वसंत वर्णन का छायानुवाद सरस्वती में प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् जून और जुलाई १६०७ में 'रघुवंश' के महाराज दशरथ के आखेट वर्णन का छायानुवाद 'सरस्वती' में पुन: प्रकाशित हुआ।

गुप्त जी के साहित्य के मूल में उनके आस्थावान हिन्दू परिवार के प्रभाव का दर्शन होता है। गुप्त जी का वैष्णव हृदय उनके साहित्य में परिलक्षित होता है। चाहे उन्होंने किसी पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया हो और चाहे उन्होंने 'भारत-भारती' के गौरव गान में अपनी प्रतिभा दिखाई हो, परन्तु एक निर्विवाद सत्य है कि

---

१. 'मेरे कवि का आरम्भ' रेडियो वार्ता, नई दिल्ली से प्रसारित, अप्रैल, १६५५
२. वही, १६५५ ई०

कि सभी में उनके वैष्णव हृदय की सादगी, सात्त्विकता, आस्तिकता और मर्यादा की भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उनका पालन-पोषण ही ऐसे वातावरण में हुआ था कि उनपर वैष्णवता की छाप बहुत गहरी पड़ी थी। उसी का परिणाम यह है कि उन्होंने अपने काव्य में नीर-क्षीर-विवेक द्वारा कार्य किया। भारतीय इतिहास की परंपरा बहुत ही प्राचीन है, घटनाबहुल है। इनमें ऐसी घटनाओं का अभाव नहीं जिनके द्वारा सबकुछ विध्वंस कर एक क्रान्तिकारी मार्ग पर चल पड़ने की प्रेरणा न मिलती हो। पौराणिक साहित्य में ऐसे भी आख्यान प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर क्रान्तिकारी साहित्य का निर्माण हो सकता है। प्रह्लाद का चरित्र बड़ा ही क्रान्तिकारी था, ध्रुव का चरित्र भी ऐसा ही था (रावण और वेन जैसे राक्षसों के चरित्र भी कम विद्रोही न थे। परन्तु गुप्त जी के संस्कारों ने इन सबको काव्य का विषय बनाने की अनुमिति न दी। रावण के प्रति कवि के मन में "प्रेम और आत्मीयकता की जगह खेद और क्रोध के भाव विद्यमान हैं।"[१]

गुप्त जी के संस्कारों के अनुरूप 'साकेत' और 'यशोधरा' काव्य ही हो सकते थे। घर के वातावरण और संस्कारों के कारण ही गुप्त जी के काव्य में ऐसी भावनाओं का समावेश अधिक हो सका है, जिनके द्वारा जीवन में स्थिरता आए, शान्ति की स्थापना हो, संतुलन की रक्षा हो।

मैथिलीशरण गुप्त के वंश की परम्परा वैष्णव थी। इनके पिता सखि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। घर में 'राम-सीता' की युगल मूर्ति (युगल सरकार) की उपासना प्रचलित थी। गुप्त जी के पिता जी 'रामचरित मानस', 'विनय-पत्रिका' अध्यात्म रामायण' आदि धार्मिक ग्रन्थों का पारायण किया करते थे। अतः गुप्त जी के वैष्णव संस्कार थाती के रूप में

---

१. मेघनाद-वध, पृ० ७२, द्वितीयावृत्ति, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी

कथा-कहानियाँ, चारणों के गी-कवित्त और संस्कृत के सुभाषितों ने अपनी ओर आकर्षित किया । रामायण पढ़ कर यदि मैं गद्गद हो उठता था, तो उसमें मेरे कुलगत भक्ति के संस्कार भी थे ।"[१] गुप्त जी की रुचि स्वभावत: वाल्मीकि रामायण, 'रामचरितमानस' विनय पत्रिका तथा महाभारत के अध्ययन की ओर विशेष रही । इन ग्रन्थों के गुप्त जी ने अनेक बार पारायण किए थे । कालिदास के 'रघुवंश' से भी गुप्त जी बहुत प्रभावित हुए थे । उन्होंने 'रघुवंश' के अनेक अंशों के पद्यानुवाद भी किए थे, जो कि सरस्वती में प्रकाशित भी हुए थे ।[२] यदि कालिदास का काव्य उन्हें प्रिय था तो तुलसी की भक्तिभावना । उनका कथन है -" तुलसीदास के चरणों पर मैं सिर रखता हूँ और कालिदास को सिर पर ।"[३]

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रभाव भी गुप्त जी पर पर्याप्त पड़ा । यद्यपि गुप्त जी दार्शनिक कवि नहीं हैं, परन्तु गीता के दर्शन का प्रभाव उन पर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है । एक उदाहरण देखिये —

" मानव-मन दुर्बल और सहज चंचल है,
इस जगती तल में लोभ अतीव प्रबल है।
देवत्व कठिन , दनुजत्व सुलभ है नर को,
नीचे से उठना सहज कहाँ है ऊपर को ।"[४]

प्रस्तुत छंद पर 'गीता' के निम्नलिखित श्लोक की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है

"चंचल हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।"[५]

---

१. 'कविता के पथ पर' लेख मैथिलीशरण गुप्त
२. सरस्वती-सन् १९०७ के मार्च, जून और जुलाई के अंकों में ।
३. आज, काशी, १५ अगस्त, १९४१
४. साकेत, अष्टम सर्ग, सं० २०२१ वि०सा०सदन, चिरगाँव, झांसी
५. श्रीमद्भगवद्गीता- अध्याय ६, श्लोक ३४, गीता प्रेस, गोरखपुर

प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त गुप्तजी ब्रजभाषा के अनेक कवियों के काव्य से प्रभावित हुए थे । गुप्त जी ने जब लिखना आरम्भ किया तब ब्रजभाषा में ही किया था और उस समय आप दोहा, चौपाई और छप्पय में ही लिखा करते थे । इस समय गुप्त जी ने संस्कृत छन्दों में अनेक अन्योक्तियां लिखी थीं । संस्कृत की अन्योक्तियों से ही उन्होंने पहले पहल अन्योक्ति लिखने की प्रेरणा ली थी । ब्रजभाषा में भी अनेक अन्योक्तियां लिखीं और अनेक कवियों से प्रभावित भी हुए । अपनी अन्योक्ति शीर्षक रेडियो वार्ता[१] में गुप्त जी ने बताया है —

" इस अवसर पर हठात् घनानन्द कवि का एक पद्य स्मरण आ रहा है, जो मुझे बहुत भाता है । मेघ को सम्बोधित करके वियोगिनी गोप बाला कहती है :-

> पर कारज देह को धारे फिरौपरजन्य पथारथ ह्वै दरसौ,
> निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही सबही बिधि सज्जनतासरसौ
> सरसौ घनआनंद आनन्ददायक हौ कबौं मेरी औपीर हिय परसौ,
> कबहूं वा बिससी सुजान के आंगन मौं अंसुवान हूलै बरसौ । `

कालिदास के मेघदूत में भी मेघके प्रति ऐसी उक्ति स्मरण नहीं आती । `सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्` की तुलना इससे कैसे करूं ? यद्यपि कालिदास के साथ घनानन्द की भी क्या तुलना ?" बिहारी की अन्योक्तियों से भी गुप्त जी प्रभावित होते हैं, वे आगे लिखते हैं -" अपने पूर्वजों का धन सभी पाते हैं। परन्तु जो सपूत होते हैं, वे उसकी और भी वृद्धि करते हैं । बिहारी ने अपनी एक अन्योक्ति में ऐसा ही किया है । एक प्राचीन गाथा में उस कुपे की भर्त्सना की गई है, जो दूसरे के अधीन होकर मृगों को पकड़ता फिरता है । यही बात बिहारी ने इस प्रकार कही है -

----

१. नई दिल्ली, आकाशवाणी, होली, संवत् २००६ को प्रसारित

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहंग विचार ।
बाज , पराए पानि परि तूं पच्छीनु न मारि ।।"

सूर तथा अन्य अनेक कवियों से गुप्त जी प्रभावित हुए हैं । वे लिखते हैं -" सूर के भ्रमरगीत प्रसिद्ध ही है -

मधुकर, हम न होहिं वे बेली
जिजन भजि तजि तुम फिर और रंग करत कुसुम रस केली ।

" रहीम का भी एक दोहा सुनिए -

सर सूखे पंछी उड़ै और सरसमाहिं,
दीन मीन बिन पंख के कहु रही कहं जाहिं " ?

" दनीदयाल कवि ने अन्योक्तियों पर एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है । बहुत दिन हुए तब मैंने उसे पढ़ा था । ✕ ✕ ग्वाल कवि की भी एक अन्योक्ति . स्मरण कर रहा हूं ✕ ✕ ✕ अनीस कवि की अन्योक्ति अवश्य मुझे बहुत अच्छी लगती है -

सुनिए विटपि प्रभु पहुप तिहारे हम, राखि हौं हमैं तौ छवि रावरीबढ़ावैंगे,
तजिहौ कदाचित तौ विलग न मानै कछू, जहां जहां जैहै तहां दूनौजस छावैंगे ,
सुख चढ़ैंगे नर सिरन चढ़ैंगे सदा, सुकवि अनीस हाटबाटनि बिकावैंगे
देस में रहैंगे परदेस में रहैंगे काहू , भेस में रहैंगे तऊ रावरे कहावैंगे ।

" राय देवीप्रसाद पूर्ण की भी दो करुणा भरी पंक्तियां सुनने योग्य हैं -

"तारापति पैखन की चरचा चलाई कहा, करत न तारा यहां एकहू प्रकास है
पावस की ऋतु है अमावस की रात तपै, दुखिया चकोर ! काहे ताकत अकास है"

---

१ "अन्योक्ति" रेडियो वार्ता, नई दिल्ली, आकाशवाणी, होली, सं० २००६

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ब्रजभाषा के भी अनेक कवियों की रचनाओं से प्रभावित हुए थे, जिनमें घनानन्द, बिहारी, सूरदास, रहीम, दीनदयाल, ग्वाल, अनीस और रायदेवीप्रसाद पूर्ण उल्लेखनीय हैं। गुप्त जी द्वारा रचित प्रारम्भिक अन्योक्तियाँ 'सरस्वती' में फरवरी सन् १६०७ में प्रकाशित हुई थीं। इन्हीं अन्योक्तियों से आपने पद्य रचना आरंभ की थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क से भी मैथिलीशरण गुप्त को काव्य के क्षेत्र में सुनिश्चित दिशाएं प्राप्त हुईं। आचार्य द्विवेदी जैसा काव्य-गुरु पाकर गुप्त जी की काव्य दृष्टि और भी व्यापक हो गई थी। इस समय तक गुप्त जी की आयु बाईस तेईस वर्ष की हो चली थी। द्विवेदी जी ने उन्हें पौराणिक ऐतिहासिक कविताओं की रचना की ओर प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी ने उनसे विभिन्न चित्रों पर रचनाएं करवाईं। सन् १६०७ के अगस्त मास में, सरस्वती में पद्मावती के राजा के मंत्री भूरिवसु की कन्या मालती और विदर्भाधिपति के मंत्री के पुत्र माधव की कथा से संबद्ध 'मालती महिमा' चित्र प्रकाशित हुआ। उस पर मैथिलीशरण गुप्त की, उसी शीर्षक से कविता छपी। इस प्रकार यह एक नवीन सिलसिला चल पड़ा। अनेक पौराणिक प्रसंगों पर आधारित चित्रों पर गुप्त जी ने कविताएं लिखीं और वे सरस्वती में प्रकाशित हुईं।[1] इसी वर्ष अक्टूबर मास की 'सरस्वती' में 'कालीमाई' का चित्र छपा और उस पर 'प्रार्थना-पंचदशी' की प्रौढ़ अभिव्यक्ति की कविता भी छपी। यह पहला अवसर था जब कि गुप्त जी की यह कविता 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित होकर समादृत हुई। सन् १६०८ में द्विवेदी जी ने चित्रों के ऊपर पद्य-रचना का भार पूर्ण रूप से गुप्त जी पर छोड़ दिया। द्विवेदी जी द्वारा दिए गए इस प्रोत्साहन से गुप्त जी की रुचि पौराणिक आख्यानों की ओर और भी अधिक हो गई। द्विवेदी जी ने चित्रों पर कविता लिखाने के जिस आन्दोलन का जिस दृष्टि से सूत्रपात किया था,

---

१. सरस्वती १६०८ में 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'द्रौपदीहरण', 'राधाकृष्ण' की आँख मिचौनी', 'व्यास स्तवन', 'शकुंतला पत्र लेखन', 'केशों की कथा'

उसका काव्य-वैभव शीघ्र ही प्रकट होने लगा । यह काव्य-वैभव था हिन्दी काव्य में स्वाभाविक करुणा की तन्मयता का । इसी करुणा की भावना ने ब्रजभाषा की शृंगारिक रसास्वादुता को दिग्भ्रमित कर दिया । यह करुणा की भावना अक्षय सरोवर के रूप में महाभारत और रामायण में व्याप्त है ।

कई पौराणिक और ऐतिहासिक चित्रों पर आधारित रचनाओं के द्वारा ही खण्डकाव्यों का भी बीजारोपण हो गया । उदाहरण के लिए जनवरी १९०८ में सरस्वती में 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' नामक चित्र पर इसी शीर्षक की कविता प्रकाशित हुई । और इसी कविता ने 'जयद्रथ वध' खण्डकाव्य का बीजारोपण कर दिया । 'साकेत' महाकाव्य के भी कुछ अंश 'साकेत' की रचना से बहुत पहले'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके थे । 'जयभारत' वृहत् प्रबन्ध के भी अनेक काव्यांश' सरस्वती' में पहले ही प्रकाशित हो चुके थे । इस प्रकार' सरस्वती' में चित्रों के आधार पर आंशिक रूप में अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे जा रहे थे ।

निष्कर्ष -

गुप्त जी को आरम्भ से ही इतिहास और पुराण में रुचि थी । प्राचीन ग्रन्थों की ओर उनकीविशेष रुचि थी । वाल्मीकि रामायण, रामचरित मानस, विनय पत्रिका, अध्यात्मरामायण, भर्तृहरिशतक, हितोपदेश, कामंदकीय नीति, चाणक्य नीति, अमरकोष, रघुवंश आदि प्राचीन ग्रन्थों से वे बहुत प्रभावित हुए थे । ब्रजभाषा के घनानंद , बिहारी, सूरदास, रहीम, दीनदयाल, ग्वाल, अनीस रायदेवीप्रसाद पूर्ण आदि कवियों

पिछले पृष्ठ का अवशेष -

सरस्वती १९०९ में' रण निमंत्रण', द्रौपदी दुकूल', 'कीचक की नीचता', 'कुंती और कर्ण', 'शकुंतला को दुर्वासा का शाप','रत्नावली' प्रकाशित हुई ।

सिरस्वती १९१० में 'कुरुक्षेत्र के संग्राम का परिणाम''उत्तरा और वृहन्नला', धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान' 'वीरात्मा बाजीप्रभु देशपाण्डे', धृतराष्ट्र और संजय''सबोधन' तथा' मृत्यु' प्रकाशित हुई ।

से भी वे प्रभावित हुए थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी गुप्त जी को ऐतिहासिक और पौराणिक चित्रों के ऊपर कविताएं लिखने के लिए प्रेरित किया था।

इन्हीं सब बातों का सम्यक प्रभाव था कि गुप्त जी की समस्त रचनाएं ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आधार लिए हुए हैं। काल्पनिक कथानकों की ओर गुप्त जी की रुझान नहीं थी। हां! समसामयिक घटनाओं ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया था और उनको गुप्त जी ने अपने काव्य का विषय बनाया भी।

वंशपरिचय

किसी भी कवि के काव्य को समझने के लिए उसकी जीवनी का जानना अत्यावश्यक है। क्योंकि जीवनी, कवि का व्यक्तित्व और जीवन दर्शन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। और कवि की काव्य साधना में तीनों का योग भी अत्यधिक है। किसी भी कवि के सम्पूर्ण काव्य पर उस कवि के व्यक्तित्व की पूरी छाप रहती है। और इसीलिए किसी भी कवि के काव्याध्ययन के लिए उस कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण अनिवार्य है। जीवनी का अध्ययन करते समय अन्तसांक्ष्य और बहिसांक्ष्य का आधार लेना पड़ता है। गुप्त जी की जीवन की घटनाओं में जहां तक अन्तसांक्ष्य का सम्बन्ध है, वह अधिक नहीं है। उन्होंने कोई आत्मकथा नहीं लिखी औ

डायरी आदि ही कभी लिखी । उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है - " यदि मैंने डायरी रक्खी होती तो मैं ऐसी कुछ आप-बीती बातें सुना सकता , जिनसे यह सिद्ध होता कि बड़ों और छोटों के जीवन में बहुत - सी घटनाएं एक सी घटती हैं ।"[१] फिर भी गुप्त जी ने अनेक निबंधों में तथा भाषणों में अपने परिवार के विषय में लिखा है । चिरगांव झांसी झांसी का " कनकने " परिवार बड़ा ही प्रसिद्ध है । पहले इस परिवार के पूर्वज बुंदेल खण्ड की प्राचीन नगरी " पद्मावती " में रहते थे । यही " पद्मावती आजकल पवायं कहलाती है । परन्तु अब यह उजड़ चुकी है । फिर गुप्त जी के पूर्वज भांडेर गए । भांडेर चिरगांव से सात कोस दूर है । चिरगांव में गुप्त जी के परिवार की पांच पीढ़ियां बीत चुकी हैं । यहां के राजवंशी गुप्त जी के पूर्वज राघव कनकने को भांडेर से यहां ले आए थे । तब से राघवजी, उनके पुत्र लल्ला जू, उनके पुत्र ललनजू और उनके पुत्र रामचरण जी तथा उस. उनके पुत्र मैथिलीशरण गुप्त आदि रहते आए हैं । गुप्त जी के पुत्र और पौत्र आदि सब परिवार लगभग पौने दो सौ वर्षों से चिरगांव में ही बसा हुआ है ।

जन्मपत्री में गुप्तजी का नाम कनकने मिथिलाधिप नंदिनीशरण दिया गया था । आपके पिता सखी भाव के उपासक थे और सीता जी उनकी इष्ट देवता थीं । गुप्त जी का " मिथिलाधिपतिनंदिनीशरण " नाम आपके परिवार के सखी भाव की भक्ति का परिचायक था । गुप्त जी के इतने बड़े नामका घरेलू संक्षिप्त रूप मिथिलाशरण हुआ और मुख-सुख के कारण वही मैथिलीशरण हो गया ।[२] गुप्त जी ने अपने नाम के आगे " कनकने " का भी उपयोग नहीं किया वरन अपने नाम के साथ " गुप्त " लगा कर जाति सूचक उपाधि का प्रयोग किया । तभी से चिरगांव में गुप्त जी का परिवार " गुप्त परिवार "

---

१. झांसी अभिनन्दन समारोह, सन् १९४८, कवि के लिखित भाषण से ।
२. " अपने-विषय-में---मैथिली राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३८(प्रबन्ध संपादक, ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ)

के नाम से विख्यात हो गया ।

चिरगांव में गुप्त जी का कुल बड़ा ही गौरव से सम्पन्न था । अनेक ऐसी घटनाएं हैं जिनके द्वारा उनके कुल की प्रतिष्ठा का अनुमान लग सकता है । कवि ने स्वयं लिखा है " एक बार दतिया के वैश्यों में घोर जातीय कलह उपस्थित हुआ । ऐसा प्रसंग आया कि कुछ लोग राज्य छोड़ने पर उतारू हो गए । बात महाराज तक पहुंची । उन्होंने दोनों के प्रमुख लोगों को बुलाया और उन्हें समझाया बुझाया । अन्त में महाराज ने उनसे कहा, " तुम दोनों जल स्वीकृति दो, तो तुम्हारा मामला हम सेठ रामचरण को सौंप दें । उनका निर्णय तुम्हें और राज्य को, दोनों को मानना होगा । दोनों दलों में हमारे बातेदार लोग थे । दोनों ने सहर्ष स्वीकृति दे दी । महाराज ने रथ भिजवा कर पिताजी को सादर बुलवाया और झगड़े को निपटा देने का आदेश दिया । पिता जी का निर्णय उस दल के प्रति कूल हुआ जिसमें अधिक सम्पन्न लोग थे । फिर भी उस दल को अर्थदण्ड से उन्होंने मुक्ति देने के लिए महाराज से प्रार्थना की और अन्त में दोनों दल संतुष्ट हो गए ।[१]

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने वंश और ग्राम के प्रति अपनी गौरवानुभूति को अनेक बार प्रकट किया है । एक घटना का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं — अब अंग्रेजों ने चिरगांव के किले पर अपना झंडा फहराया और अपने विजयी सिपाहियों को जीत की खुशी में चिरगांव की लूट की छूट दी । .... लूटपीट के बाद जब अंग्रेजों ने अपना शासन जमा दिया तब उन्हें मालूम हुआ कि चिरगांव के प्रसिद्ध सेठ श्री ललन जू कनकने ने महाराज को लड़ाई जारी रखने में पर्याप्त सहयोग दिया था । उन्होंने यहांतक राव साहब से कहा था कि हमारे घर से पड़ाव तक एक नाला बनवा दिया जाय,

---

१. "अपने विषय में" — मैथिलीशरण गुप्त का लेख, साहित्यकार, मई, १९५५ ई०

हम उसमें घर बैठे इतना ही कहा देंगे कि जिसे जितना लेना हो, लेता रहे। सहायता स्वरूप गोलियां समाप्त होने पर कई बोरे बालासाही पैसे और कच्चे रुपए भी उन्होंने दिए थे, ताकि बारूद में भर कर उनका उपयोग किया जा सके।[१]

गुप्त जी का जन्म और पिता का प्रभाव

श्री मैथिलीशरण गुप्त का जन्म संवत् १६४३ श्रावण शुक्ला हरियाली तीज, चन्द्रवार, तदनुसार ३ अगस्त सन् १८८६ को रात्रि के तीसरे प्रहर में हुआ था। गुप्त जी के पिता श्री रामचरण जी बड़े ही भगवद्भक्त थे। गुप्त जी ने एक स्थल पर लिखा है -" मेरे पिता मध्य-वित्त गृहस्थ थे, किन्तु उनकी प्रकृति उदार और राजस थी। उनका अधिकांश समय भजन पूजन और पाठ में ही व्यतीत होता था। दस-बारह गांवों की जमींदारी थी, घर में चांदी सोना यथेष्ट था। जब तक मेरे छोटे काका जी छोटे थे तब तक पिता जी घर का बहुत काम काज करते थे। जमींदारी उन्होंने खरीदी थी। पर वह लाभ के लिए नहीं, प्रतिष्ठा के लिए ही समझनी चाहिए। बहुत बार मालगुजारी घर से ही देनी पड़ती थी। .... लेन देन का काम ही असल में पिता जी का काम कहा जा सकता है। मकान और दुकान भी बहुत से यहां और झांसी में थे। छोटे काका जी जब काम करने योग्य हुए तब पिता जी ने सब काम छोड़ दिया। वे उन्हें सम्मति दिया करते थे। वह सम्मति अनुमोदन के रूप में ही हुआ करती थी। ...... चिरगांव एक छोटा गांव ही था। काका जी के उद्योग से ही यहां व्यापार की मण्डी बनी। तिलहन, राई और अनाज का व्यापार भी उन्होंने बढ़ाया। घी का काम पैतृक था। इसीलिए वह उन्हें स्वाभाविक रुचिकर था। पहले यहां का व्यापार

---

१. ग्वालियर गजैटियर, संकलन- संपादन- डी०एल०. ड्रैक, ब्रूकमैन, आई-सी०एस० सन् १६०६

कानपुर तक ही सीमित था । काका जी ने ही पहले बम्बई और कलकत्ते से उसका सम्बन्ध स्थापित किया । उन्हें सफलता भी अच्छी मिली । बढ़ते बढ़ते चिरगांव की मंडी ने अपना एक विशेष स्थान बना लिया और दूर-दूर से बिकने के लिए माल आने लगा । एक समय ऐसा भी आया कि झांसी की मंडी भी होड़ न कर सकी ।

काका जी में व्यवसाय बुद्धि होते हुए भी उन्हें उपयुक्त कर्मचारी न मिले । दुकानें अनेक दूर दूर थीं वे अकेले थे । इसलिए काम संभाला न जा सका । कोंच के कारिंदे ने इतना गबन किया कि उसे छिपाने के लिए उसने हजारों मन कपास के ढेर में आग लगा दी । चिरगांव की दुकान की आय दूसरी दुकानों के घाटे को अकेले पूरा न कर पाती थी । काम रुक गया और देना हो गया । एकाध शुभचिंतकों ने दिवाला पीट कर दो-चार लाख रख लेने की राय भी दी थी, कलम तब तक खुली थी । परन्तु पिता जी ने इसे पसन्द नहीं किया । कोई ३०-४० वर्षों तक इस संकट से जूझना पड़ा । पिता जी पहले ही भगवद्भक्ति में लीन रहते थे । आर्थिक संकट आने पर वे और भी भगवदावलम्बी हो गए । उनकी उदारता में भी कमी न आई । गांव से सभी पंडित नित्य आया करते थे और अयोध्या के साधु महात्मा भी । भगवान की दया से उनकी वैसी ही निभी ।"[१]

श्री रामचरण जी का चिरगांव में बड़ा दबदबा था । मुंशी अजमेरी जी ने लिखा है —" सेठ रामचरण कनकने हमारे यहां के बड़े आदमी थे । जैसा बड़ा उनके मकान का फाटक था, वैसा ही बड़ा उनका मकान और घी का गोदाम था । उनके यहां रथ, सेजगाड़ी—बड़ी मझोली और कई प्रकार की बग्घियां थीं, बैल घोड़े, ऊंट, हथियार और सिपाही थे और थे बहुत से नौकर चाकर ।.... वे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेंबर थे...... और वे [illegible] गवर्नर के दरबारी । ओरछा और दतिया के महाराजाओं से उनका मेल था । वे बड़े आदर्शवादी उदार और रईसी मिजाज के आदमी थे .

---

१. 'अपने विषय में' कवि द्वारा लिखित , साहित्यकार, मई १९५५, पृ० ४८

२. गुप्त जी और मेरा संबंध, 'प्रताप' कानपुर(जुलाई १९३६ के अंकों में प्रका०

श्री रामचरण जी बड़े उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। कई कर्जदारों को उन्होंने ऐसे ही ऋण मुक्त कर दिया था। गुप्त जी ने स्वयं लिखा है - "एक बार गांव के एक ब्राह्मण, जो हमारे यहां मुलाजम भी थे, उनसे बोले, रात को हमें बड़े मालिक (मेरे दादा) ने सपना दिया और ऋणमुक्त कर दिया।" शायद डेढ़-दो सौ रुपये उनकी तरफ निकलते थे। उनकी स्थिति भी बहुत अच्छी थी, परन्तु पिता जी ने हंस कर उनका खाता ड्योढ़ा कर दिया।

" फांसी में भी व्यापार लेन-देन रहता था। वहां कभी कभी एक बहुत वृद्ध महाराष्ट्र ब्राह्मणी आया करती थी। जब जब पिता जी वहां जाते, तब तब वह आकर उन्हें एक दिन अपने यहां भोजन का निमंत्रण दिया करती थी। पिता जी खाने पीने में बहुत ही विचार करते थे। एक बार बहुत आग्रह हुआ, तो उन्होंने कहा - "इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है?" वृद्धा ब्राह्मणी ने कहा, "मुझे आपकी दुकान के कई सौ रुपये देने हैं। मैं महारानी लक्ष्मीबाई की रसोई बनाने वाली रही हूं। रुपए तो अब भी नहीं दे पाऊंगी। एक दिन आप मेरे यहां चल कर वहीं भोजन कर लें, तो मैं समझूं कि मैं आपसे उऋण हो गई।" पिता जी ने कहा कि तुम्हारा निमंत्रण हो चुका और स्वीकृति के रूप में उन्होंने उसे ऋणमुक्ति दे दी। पिता जी यद्यपि खान पान का बहुत विचार रखते थे, परन्तु सबसे बड़ा सत्कार वे भोजन का ही मानते थे और स्वजनों में से जब कोई कहीं जाता, तब वे यही पूछते कि वहां कैसा सत्कार हुआ? अर्थात् क्या खिलाया पिलाया गया?"[१]

श्री मैथिलीशरण गुप्त पर उनके पिता के संस्कारों का बहुत प्रभाव पड़ा था। कवि के हृदय में रामभक्ति का अंकुर, पिता के प्रभाव का ही ही कारण है। स्वयं गुप्त जी ने लिखा है - "मैं और मेरे बड़े भाई उन्हीं पिता जी के निकट अलग अलग चारपाइयों पर सोते थे। मैं उस समय ५-७ वर्ष का रहा हूंगा। पिता जी रात रहते ही उठकर प्रातः-स्मरण करते थे, फिर हम लोगों को जगा कर नाम महिमा याद कराते थे - ध्रुव सगलानि

---

१. अपने विषय में कवि लिखित, साहित्यकार, मई १९५५

जपेउ हरि जाऊं, पावा अचल अनूपम ठाऊं । फिर ध्रुव की कथा सुनाते ।
इसी प्रकार प्रसंगानुसार और भी कितनी कथाएं कहते । मुझे बड़ा कौतूहल
और आनन्द होता । परन्तु 'ब्रह्म राम ते नाम बड़' अथवा 'राम न सकहिं
नाम गुन गाईं' वह प्रसंग आने पर मुझे भली भांति स्मरण है, मुझे अच्छा
न लगता था । राम से बड़ा कुछ भी है (भले ही वह उनका नाम ही क्यों न
हो) मैं नहीं मानना चाहता था । परन्तु युक्तियां ऐसी थीं कि मैं कुछ कह न
सकता था । परन्तु अब जी उदास नहीं होता । कौतुक तो यह है कि राम
को मैं अब भी वैसा ही मानता हूं । नाम का यही महत्व है कि वह राम की
सुध दिला दे ।....... कितने ही श्लोक भी, पिता जी ने मुझे याद कराए
थे । उनमें से 'युगल प्रभु' के इस ध्यान की बहुधा आवृत्ति हुआ करती थी —

नीलाम्बुज श्यामल कोमलांगम्, सीता समारोपित वाम भागम् ।
पाणौ महासायक चारु चापम् नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।

आगे चल कर तुलसीदास जी का ही निम्नलिखित श्लोक मुझे और भी रुचा-

प्रसन्नतां यान गताभिषेकत, स्तथा न मम्ले वनवास दु:खत:
मुखाम्बुजश्री रघुनंदनस्य मे, सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ।।

परन्तु सखीभाव की उपासना के कारण पिता जी सीता के बिना राम की
बात ही न कर सकते थे । वही उनकी इष्ट देवता थीं । उन्होंने अपनी
'रहस्यरामायण' की रचना के आरम्भ में ही लिखा है कि महादेव जी बहुत
काल तक राम का ध्यान किया । प्रभु ने उन्हें दर्शन तो दिए, परन्तु कहा
यही — 'नहीं प्रसन्न तुव जप तप साधे, प्रिया जानकी बिन आराधे ।' तब
शिव ने युगल मूर्ति का ध्यान किया ।'[१]

पिता के सखी भाव की उपासना का ही यह प्रभाव प्रतीत होता
है कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में नारी विषयक भावना इतनी पुनीत हो
सकी है । कवि का जन्म और लालन-पालन सब वैष्णव-संस्कारों की पल्ल-
वित-पुष्पित वाटिका में ही हुआ था । अत: उन पर वैष्णवता का प्रभाव

---

१. अपने विषय में —मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई १९५५

पढ़ना स्वाभाविक ही था । मुंशी अजमेरी जी ने गुप्त जी के पिता जी के वैष्णव संस्कारों का वर्णन इस प्रकार किया है -" उनका अधिक समय भजन पूजन में ही बीतता था । अध्यात्म रामायण और रामचरित मानस का साप्ताहिक पाठ किया करते थे । प्रति मंगलवार को दोनों पाठ समाप्त होते थे और उस दिन एक ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था । प्रति दिन संध्या समय गांव के पंडितों की मंडली उनके पास जुड़ती और अनेक विषयों पर वार्ता होती । दाऊजू वार्ता करते, सुनते और हजार-हजार मणियों की माला जपते रहते थे । वे स्वयं गाते-बजाते नहीं थे, पर संगीत सुनने और पद बनाने का बड़ा शौक था । जो धुन उन्हें पसन्द आ जाती , उसी पर पद बना देते हैं ।....... वे धार्मिक विचारों में बड़े कड़े थे । बड़ी पवित्रता से रहते थे ।... ... जब हाकिम हुक्कामों से, अंग्रेज़ अफसरों से हाथ मिला कर आते थे, जब स्नान होता था और वे सब कपड़े धोए जाते थे , जिन्हें वे पहने होते थे ।......... वे बड़े सच्चरित्र थे, कोई दुर्व्यसन छू तक नहीं गया था ।" [१]

पिता जी की सच्चरित्रता ने कवि को पवित्रता की भावना से ओत प्रोत कर दिया । और पिता के असंड प्रेम वात्सल्य की छत्र छाया में उनकी पितृभक्ति ही प्रवर्द्धित हुई । साथ ही अहिंसा में निष्ठा भी पिता के ही कारण हुई होगी । गुप्त जी ने स्वयं लिखा है -" उनका चरित्र सर्वथा पवित्र था । शरीर संपत्ति भी उन्होंने अच्छी पाई थी । एक बार एक जन को थप्पड़ मार दिया था । वह अचेत होकर गिर पड़ा । तब से उन्होंने किसी को न मारने की प्रतिज्ञा कर ली थी । हम लोगों को कभी उनसे पिटने का भय न था , परन्तु हमने उनके अथाह वात्सल्य का ही उपयोग किया । हम लोगों की इच्छाएं पूरी करके वे हमसे भी अधिक आनन्द प्राप्त करते थे ।[२]

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध, मुंशी अजमेरी, दैनिक प्रताप, २२ जुलाई १९६३- १९३६ ई०

२." अपने विषय में मुद्रितांश- मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई१९५५

मैथिलीशरण गुप्त को कविता करने का आशीर्वाद भी पिता से ही मिला था । साकेत के समर्पण में गुप्त जी ने लिखा है —

" तुम दयालु थे दे गए कविता का वरदान "

आगे पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे कहते हैं —

" तुमने इस जन के लिए क्या क्या किया न हाय,
बना तुम्हारी तृप्ति का मुझसे कौन उपाय ?"

इस सम्बन्ध में मुंशी अजमेरी जी ने लिखा है —" एक दिन आप का लिखा एक छन्द दाऊजी की दृष्टि में पड़ गया । उन्होंने मुझसे पूछा यह क्या मैथिलीशरण ने लिखा है ? उन्हीं का बनाया हुआ है ? वे पद्य बना लेते हैं ? मेरे 'हाँ ' कहने पर उन्होंने पूछा कि बतलाओ कैसी कविता करेंगे, हम जैसी या हमसे अच्छी ? मैंने कहा कि आप जैसी तो क्या करेंगे , पर हाँ अच्छी करेंगे । तब उन्होंने हँसकर कहा, तुम्हें मालूम नहीं है, हमने उन्हें हृदय से आशीर्वाद दिया है कि हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करें, सो हम तो रहेंगे नहीं , पर तुम देखना । आज दाऊजी का वह हार्दिक आशीर्वाद अक्षरश: चरितार्थ हो रहा है ।"[१]

कवि के पिता बड़े ही सहिष्णु और उदार थे । यद्यपि वे कट्टर वैष्णव थे, अंग्रेज अफसरों से हाथ मिलाने के पश्चात् वे घर आकर नहाते और जो कपड़े वे पहने होते , वे सब धोए जाते । परन्तु उनके हृदय का एक कोना ऐसी उदारता से ओत-प्रोत था कि मुस्लिम बालक मुंशी अजमेरी को उन्होंने अपना छठा बेटा मान लिया ।

" सेठ जी अंग्रेजी नहीं पढ़े थे, पर वे चाहते थे कि मैथिलीशरण अंग्रेजी पढ़ जायं । पर झांसी की स्कूली शिक्षा में भी इतना आकर्षण न था कि वह इस बालक को ज्ञान का मार्जित रूप दे सकता या कामचलाऊ अंग्रेजी का गौरव ही सौंप देता । .... ऐसी स्थिति में इस पुत्र

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध, मुंशी अजमेरी , दैनिक प्रताप, २२ और २३ जुलाई, १९३६ ई०

को उन्होंने वैष्णवी संस्कारों की छाया में ही रखना भला समझा। इस पुत्र की जन्मकुण्डली में ग्रह अच्छे थे, इसलिए पिता होनहार समझते थे। ऐसे ही क्षणों में इनके परिवार में एक वैष्णव मुसलमान का प्रवेश होता है। इस किशोर बालक के जीवन में वह प्रवेश एक अर्थ रखता है, वह एक दिशा निर्देशन पाता है। यह दिशा यद्यपि प्रारंभिक पगडंडी मात्र के आरम्भ से ही गर्भित है, जो आगे चलकर अपना अस्तित्व सहज नहीं पाती, लेकिन यह प्रारम्भ का अन्तर्मिलन तो महत्वपूर्ण है ही। यह वैष्णव मुसलमान मुंशी अजमेरी के पिता थे और मुंशी अजमेरी का आगमन इस परिवार में एक वयस्क बालक के रूप में, विशेषकर एक गायक और लिपिकार के रूप में जो हुआ, उसने पिता के कविगत संस्कारों को कुलीन रुचि के अनुरूप शोभनीय बनाने का कार्य किया।[१] तो इस प्रकार एक टूर वैष्णव के घर एक मुसलमान-का प्रवेश हो गया। पिता के इसी स्वभाव का यह प्रभाव है कि मैथिली शरण गुप्त के मन पर उदारता और सहिष्णुता की गहरी छाप पड़ी और अर्वाचीन तथा प्राचीन के समन्वय का भाव आया। "एक बार अजमेरी के सम्बन्ध में एक पंडित ने उनके परोक्ष में किसी से कहा कि सेठ जी मुसलमान को अपने पास बिठाते हैं। पिता जी ने जब यह सुना, तब उक्त पंडित जी से उन्होंने कहा कि अजमेरी का आचरण किससे कम है? आप क्या जानें, `राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात` , वह तो परम वैष्णव हैं।"[२] वास्तव में यही संतुलन गुप्त जी में भी आया है।

गुप्त जी के पिता एक सत्कवि भी थे। वे भक्त, कलाविद, संगीतज्ञ और छंदशास्त्र के मर्मज्ञ थे। मुंशी अजमेरी जी ने लिखा है — `प्रतिदिन संध्या

---

१. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणगुप्त- अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १५१, प्रबंध संपादक ऋषि जैमिनी कौशिक `बरुआ` ।

२. अपने विषय में, साहित्यकार मई, १९५१, पृ० ५२ ।

समय गांव के पंडितों की मण्डली उनके यहां जुड़ती और अनेक विषयों पर वार्ता होती रहती । ...... वे स्वयं गाते-बजाते नहीं थे, पर संगीत सुनने और पद बनाने का बड़ा शौक था ।"[१] इन सब का सम्मिलित प्रभाव कवि के मन पर पड़ा और उसने उन्हें सफल कवि बनने की प्रेरणा दी ।

मैथिलीशरण गुप्त की माता का नाम काशीबाई था । वे एक आदर्श माता थीं । गुप्त जी ने एक पत्र में अपनी माता जी के विषय में लिखा है --

" अपनी मां की जन्म तिथि मुझे ज्ञात नहीं । मृत्यु उनकी रामनवमी के दिन हुई थी + १८६२ में । उन दिनों स्त्रियों के पढ़ने का कोई प्रश्न ही नहीं था । फिर भी उन्होंने रामायण (रामचरित मानस) पढ़ना सीख लिया था । और ' रामस्वराज्य ' का पाठ भी । इतना ही । लिखने का उन्हें अभ्यास न था । उनकी अपेक्षा उनकी देवरानियां अधिक साक्षर थीं । उनका स्वभाव बहुत ही सरल और विनम्र था , घर में बड़ी होने पर भी अपनी बधुओं से भी वे दब दबी रहती थीं ।

सबको अच्छा खिला कर स्वयं साधारण भोजन से सन्तुष्ट रहती थीं । पहनने ओढ़ने की भी उन्हें कोई लालसा न थी । परिश्रम का उन्हें मानों व्यसन था । झांसी से सीपरी की सड़क पर १६-१७ मील दिनारा गांव है । उसी के पास ' डामरोन ' नामक गांव में उनका जन्म हुआ था । अब वहां हमारी ननिहाल में कोई नहीं है । उस ओर की स्त्रियां बड़ी परिश्रमशील मानी जाती थीं , यह ठीक भी था । दूसरों को खिला पिला कर वे प्रसन्न होती थीं । घर के सेवकों के विषय में भी यही बात थी । मेरे छोटे काका रात को ग्यारह बारह बजे तक दूकान से लौटते थे । उनके आदेशानुसार उनकी उनकी ब्यालू (अधिकतर दूध पूरी) रख दी जाया करे, किसी के

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध , दैनिक प्रताप, २२ और २३ जुलाई, १९३६ ई०

किसी के उठने की आवश्यकता नहीं । परन्तु जाड़े की रातों में भी वे एक अँगीठी लेकर बैठी रहती थीं । उनके वात्सल्य में भी एक संकोच अथवा संयम था ।' [१]

शिक्षा

मैथिलीशरण गुप्त की आरंभिक शिक्षा चिरगांव में हुई । प्राइमरी पाठशाला की पढ़ाई समाप्त होने पर उन्हें झांसी भेजा गया । इस बारे में कवि स्वयं लिखता है -' मेरे गुरुजनों ने जाने कैसे समझ लिया था कि मैं डिपटी कलक्टर हो सकता हूं । उस समय न अपने तो ऊंची परीक्षाओं का ऐसा बंधन था, न उनके पश्चात् पब्लिक सर्विस कमीशन के आगे उपस्थित होने की विभीषिका पूर्ण बाधा ही थी । कुल-सम्मान शिक्षा की न्यूनता पूरी कर देने में सहायक होता था । और उच्चाधिकारियों के अनुग्रह का कहना ही क्या । वस्तुत: उसी को सर्वोपरि समझिए । पिता जी की उन तक पहुंच थी ही । इतना ही नहीं, उनसे कहा भी गया था कि अपने एक पुत्र को अंग्रेजी पढ़ाइये । ऐसी अवस्था में घर के बड़ों ने ऐसी आशा की तो यह ठीक ही था । परन्तु इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए मेरा चुनाव गड़बड़ हुआ । मैं गांव की हिन्दी पाठशाला की तृतीय श्रेणी से उठाकर हाईस्कूल में पढ़ने के लिए झांसी भेज दिया गया । वहां भी अपना घर था और अपनी दुकान भी थी । मैंने पहले वर्ष डबल प्रमोशन पाकर बड़ों की आशा और अभिलाषा को बढ़ावा भी दिया । परन्तु यह मेरी आरंभ शूरता थी, जिसका मुझमें कभी अभाव नहीं रहा । डबल प्रमोशन के पाने के पीछे की न पूछिये । दिन में गेंद-बल्ला, डोर-पतंग और रात में नाटक-चेटक । सिनेमा तब न था । कुछ दिन पीछे मैं झांसी से घर बुला लिया गया ।' [२]

---

१. राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० १४३

२. ' मेरे कवि का आरम्भ' शीर्षक रेडियो वार्ता, नई दिल्ली, अप्रैल,१९५५

इस प्रकार झांसी में मैथिलीशरण जी अंग्रेजी न सीख पाए । उन्होंने लिखा है -..... मुझे अपनी मुहर बनवाने की सूझी । (अंग्रेजी में) मुझे अपना नाम लिखना तो आता था परन्तु सेठ की - वर्तनी बनाई । सेठ होते-होते तो मैं बचा, पर सेठ होने में भी विघ्न पड़ गया । आगे चल कर द्विवेदी जी ने मुझे 'बाबू' बना दिया ।[१] गुप्त जी अंग्रेजी नहीं ही पढ़े और उन्होंने अपने इस कथन को चरितार्थ किया -" मैं पढ़ने के लिए नहीं जन्मा हूं । मैंने इसीलिए जन्म लिया है कि लोग ही मुझे पढ़ें।"[२] किन्तु धीरे धीरे गुप्त जी बिना किसी के सिखाए अंग्रेजी सीख गए और अंग्रेजी के समाचार पत्रों को पढ़ने लगे ।

गुप्त जी जब झांसी पढ़ने गए तो वहां उन्हें उर्दू भी पढ़ाई गई- परन्तु गुप्त जी ने कुछ नहीं सीखा । गुप्त जी का कहना है कि उर्दू की लिखावट अनेक रूपों में उनके अग्रज पढ़ लेते हैं पर वे स्वयं तो उसका लिपि-सौंदर्य ही देखते रह जाते हैं ।[3] आगे चल कर जब गांधी जी ने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया, तब भी गुप्त जी उसके समर्थक न बन सके ।[४] हां दिल्ली में जब महाकवि गालिब का सम्मान किया गया तब गुप्त जी ने यही अपनी इकलौती उर्दू रचना सुनाई :-

" किस ख्वाब की खातिर सखुन खामोश कब का सो रहा ।
तब भी यहां यह जाग उसका जोश गालिब हो रहा ।।"[५]

झांसी से लौटने के बाद भी - .... पढ़ने लिखने का सिलसिला बराबर जारी रहा । 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार', ''हिन्दी बंगवासी' ये दो

---

१. अपने विषय में, कवि द्वारा लिखित निबन्ध, साहित्यकार, मई १९५५
२. सन् १९४८ में डी०लिट प्राप्ति के उपलक्ष में आयोजित अभिनन्दन समारोह, झांसी के भाषण का अंश ।
३. अपने विषय में , मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई १९५५ ".
४. कवि की हीरक जयन्ती, ना० प्र०स०, काशी में कवि का लिखित भाषण
५. नई दिल्ली, संवत् २००६

साप्ताहिक पत्र आते थे, फिर पीछे 'भारत मित्र' भी आने लगा । अखबारों के अतिरिक्त काका भगवानदास जी को उपन्यासों का बहुत शौक था । उन दिनों 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की धूम थी । हम सब लोग खूब पढ़ते थे, बंगला से अनुवादित जासूसी उपन्यास भी आने लगे थे । भर्तृहरि-शतक', 'हितोपदेश', 'कामकंदकीय नीति' और 'चाणाक्यनीति' आदि अनेक पुस्तकें मैथिलीशरण जी ने मंगा ली थीं ।[१] इसी प्रकार संस्कृत और हिन्दी का स्वच्छंद अध्ययन चलता रहा । पढ़ने में वे बड़े ही मेधावी बाल सिद्ध हुए

'मुहल्ला गुरु जी' के जाने के पश्चात् पं० रामस्वरूप जी मिश्र आए । अजमेरी जी लिखते हैं कि' जब वे गए , तब पं० रामस्वरूप जी मिश्र आए । वे नगलापद्म (परगना खैर, जिला अलीगढ़) के रहने वाले थे । उनके पिता पूज्य पं० देवकरण जी मिश्र गोमत , जिला अलीगढ़ में संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे । बृजमंडल का भ्रमण करता हुआ मैं पं० रामस्वरूप जी से मिला था । मेरी और उनकी मित्रता हो गई थी । मैंने घर आकर दाऊ जी से कहा और उक्त पंडित जी को चिरगांव बुला लिया, भैया रामकिशोर और मैथिलीशरण को संस्कृत पढ़ाने के लिए दोनों भाई' लघु सिद्धान्त कौमुदी' पढ़ने लगे । यह संवत् १९५८-५९ की बात है ।'[२]

मुंशी अजमेरी ने भी गुप्त जी को अनेक श्लोक यादकरवाए । वे उन्हें कहानियां भी सुनाते थे और सवैये भी । गुप्त जी को शृंगारिक पद्य अधिक पसन्द आते थे । संस्कृत के कुछ श्लोक याद कर लेने के पश्चात् उन्हें संस्कृत की लय भी बहुत पसन्द आने लगी और उन्होंने रसराज , विद्यासुंदर तथा पंचाशिका पुस्तकों को पढ़ा । इसी समय बंगला से अनूदित जासूसी उपन्यासों को भी पढ़ने का चस्का लगा । परिश्रम और बुद्धि लगाने वाली चीज़ों की अपेक्षा आप

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध, मुंशी अजमेरी, दैनिक प्रताप २२ और २३ जुलाई १९३६

२. वही ।

मनोरंजन की पुस्तकों का ही पाठ किया करते थे। कवि ने स्वयं लिखा है -" इस समय बुद्धि के कार्यों में मेरी बुद्धि नहीं लगती थी।"[१] नए-नए शौक में मैथिलीशरण जी उलझते जाते थे। एकाएक वैद्यक सीखने का शौक लगा। वैद्यक सीखने के उद्योग में कवि ने 'माधव-निदान' का लगभग आधा भाग कंठस्थ कर लिया था। साथ ही 'वैद्य महिमा' शीर्षक एक व्याख्यान भी रचा। परन्तु फिर वैद्यक से थोड़े ही दिनों बाद विरक्ति हो गई। गुप्त जी का इस सम्बन्ध में यह कथन है -" मेरे छोटे काका वैद्यक जानते थे और अनेक रसादिकयोग बनाकर धमार्थ रोगियों को दिया करते थे। उनका हाथ भी सजीला था। इस कारण उनकी प्रतिष्ठा भी बहुत थी। उन्होंने कहा कि वैद्यक ही सीखो। उपकार का काम है। रीझ-बूझ भी बनी रहेगी। नया कार्य पाकर फिर मेरा उत्साह जाग उठा।' प्रणम्य जगदुत्पत्ति स्थिति संहार कारणम्' से आरम्भ करके दो-तीन महीने में मैंने लगभग आधा 'माधव निदान' कंठ कर लिया। परन्तु फिर वात, पित्त और कफ के सन्निपात से जी घबराने लगा। मेरा कवि जीवन अभी शेष था। इस कारण मैं व्याधियों के इस जंजाल से बच निकला।"[२]

एक बार गुप्त जी में 'मंत्रशास्त्र' पढ़ कर भी बड़ा उत्साह आया और उनके मन में सिद्धि-प्राप्ति का विचार उठा और 'इन्द्रजाल' के उन्हें-द्वारा उन्हें विस्मयकारी कार्यों की प्रेरणा मिली। किन्तु यह अस्थायी प्रभाव था[३]। बालक मैथिलीशरण का अध्ययन इसी प्रकार चल रहा था कि उनके पिताजी का देहावसान हो गया और अध्ययन का यह क्रम भी टूट गया। पिता के निधन के पश्चात् गुप्त जी थोड़ा गंभीर होकर स्वाध्याय में जुट गए। उन्होंने

---

१. अपने विषय में, मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई १९५५

२. वही

३. वही

इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन किया । पुराणों को आद्योपांत पढ़ा । गुप्त जी ने स्वयं लिखा है -जब अपने मास्टर, मौलवी और पण्डितों को निराश करके मैं जैसा था, वैसा लौट आया, तब मुझे पौराणिक , ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-कहानियों, चारणों के गीत-कवित्त और संस्कृत के सुभाषितों ने अपनी ओर आकर्षित किया । रामायण पढ़कर यदि मैं गद् गद् हो उठता था, तो उसमें मेरे कुलगत भक्ति के संस्कार भी थे।"[1] भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों का अध्ययन किया । प्राचीन काव्यों को पढ़ा और रीति ग्रन्थों का भी पारायण किया । संस्कृत का ज्ञान उन्हें पर्याप्त ही हो चुका था । संस्कृत के भास और कालिदास का उन्होंने विशेष अध्ययन किया । इसके अतिरिक्त संस्कृत के अनेक नाटकों का उन्होंने अध्ययन किया । हिन्दी में उन्होंने तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास तथा रहीम, बिहारी, घनानन्द, सेनापति, मतिराम, देव, पद्माकर, ठाकुर और लाल आदि कवियों के काव्यों का परायण किया ।[2] गुप्त जी तुलसीदास के तो भक्त थे और केशव को तनिक भी पसंद नहीं करते थे । नायिका-भेद, अलंकार-निरूपण, ऋतु-वर्णन आदि रीति ग्रन्थों, साथ ही भक्ति-स्तुति-विषयक काव्य ग्रन्थों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था । संस्कृत के काव्य और साहित्य शास्त्र के भाषा-टीका-सहित ग्रन्थों का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था ।

बंगला भाषा को भी मैथिलीशरण गुप्त को अच्छा ज्ञान था । यह उन्होंने स्वयं ही सीख ली थी । घर में उनके पिताजी की कुछ बंगला की प्रारम्भिक पुस्तकें थी । उन्हीं के सहारे गुप्त जी ने बंगला भाषा सीख ली । सीखी ही नहीं वरन माइकेल मधुसूदन दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नवीनचन्द्र सेन, बंकिम चन्द्र , शरच्चन्द्र आदि के काव्यग्रन्थों

---

१. कविता के पथ पर, शीर्षक लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त .
२. अपने विषय में -मैथिलीशरण गुप्त । साहित्यकार मई १९५.

और कथा साहित्य को भी पढ़ा ।

गुप्त जी ने संगीत भी सीखा था । घर में भी कुछ संगीत का वातावरण था । मुंशी अजमेरी ने कवि के पिता के बारे में लिखा है — वे स्वयं गाते बजाते नहीं, पर संगीत सुनने और पद बनाने का बड़ा शौक था । जो धुन उन्हें पसन्द आ जाती , उसी पर पद बना लेते थे । तानपुरा, सितार सारंगी, पखावज, तबला और खरताल, अनेक बाजे उनके यहां थे और सब तैयारी हालत में थे ।"[१] पिता को संगीत से प्रेम था ही और मुंशी अजमेरी जी भी संगीत के ज्ञाता थे । उनके संसर्ग से भी गुप्त जी ने संगीत का ज्ञान प्राप्त किया ।

गुप्त जी ने कुछ समय सितार बजाना भी सीखा था परन्तु थोड़े समय बाद उसे भी छोड़ दिया । स्वयं गुप्त जी ने लिखा है —" गाना सीखने का उद्योग किया, पर अपने गले के कारण वह भी छोड़ दिया । सितार भी कुछ दिन बाद छोड़ बैठा ।"[२] इस प्रकार गुप्त जी ने अनेक कलाएं सीखनी प्रारम्भ की परन्तु जल्दी ही उन सबसे उनकी अरुचि हो जाती थी । वे अपने में कवि को रमा न सकीं । केवल काव्य-रचना ही ऐसा कार्य निकला जिस गुप्त जी अन्त तक उत्साह से लगे रहे । उन्होंने लिखा है —" मैं आरम्भ शूर अवश्य था, पर महीने दो महीने में ही मेरा उत्साह समाप्त हो जाता था और मैं एक काम छोड़ कर दूसरा करने लगता था । केवल छंद रचना ही ऐसी निकली जिसने मुझे बांध लिया ।"[३] काव्यकला से गुप्त जी को बराबर पुनर्नवता मिलती जाती थी । उन्होंने स्वयं कहा है —" विद्या कामधेनु होने पर भी व्याघ्रमुखी है और कला कंटीली होने पर भी कुसुमवदनी । विद्या का

---

१. गुप्त जी और मेरा सम्बन्ध, मुंशी अजमेरी, दैनिक प्रताप, २२ जुलाई १६३
२." अपने विषय में " मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई १६५५
३. अपने विषय में —मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यकार, मई, १६५५

फल परिश्रम के पीछे मिलता है। कला रचना के रूप में कुछ न कुछ फल तत्काल देती जाती है, जिससे पुनर्नवता मिलती जाती है।"[1] वास्तव में विद्याध्ययन और परीक्षाओं की जटिलता का सामना कवि न कर सका। उसने जीवन का स्वच्छन्द अध्ययन किया। बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ़ापरन्तु स्वयं अनुभव किया और ज्ञान प्राप्त किया। श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है -- 'साधारणत: परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिभा नहीं गढ़ी जाती, उल्टे इसके चूर चूर हो जाने की संभावना रहती है। गुप्त जी उस हथौड़े के नीचे से निकल न भागे होते तो हिन्दी को तिलक-कंठी-धारी राष्ट्रकवि न प्राप्त होता। पर जीवन की पुस्तक के हर पृष्ठ को उन्होंने जिज्ञासु विद्यार्थी के समान पढ़ा है और उसकी कठिन परीक्षाओं से न कभी भागने की इच्छा की है और न अवैध उपायों से उनमें उत्तीर्ण होना चाहा है। वे उन परीक्षाओं में बैठने के महत्व को सफल-असफल होने के परिणाम से अधिक भारी समझते हैं।"[2] वास्तव में गुप्त जी की यह अव्यवस्थित शिक्षा परीक्षाओं के हथौड़े नीचे से निकली हुई शिक्षा से कहीं अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुई जिससे कि काव्य-कला में एक प्रकार की चैतन्यता और भावना-शीलता आ सकी। अनियंत्रित, पर्वत पर से उतरती हुई नदियों में जो सुन्दर कल-कल संगीत रहता है, वह बांधों में बंधी नदियों में कहां?

विवाह और संतति--

गुप्त जी की पीढ़ी में, उनके परिवार में बाल विवाह की प्रथा थी। गुप्त जी का प्रथम विवाह भी नौ वर्ष की अवस्था में संवत् १९५२ में हुआ। बड़े ही धूमधाम से गुप्त जी का यह विवाह हुआ। परन्तु वधू पांच वर्ष बाद संवत् १९५७ में गौने के बाद आई। इस समय गुप्त जी चौदह वर्ष

---

१. कवि की हीरक जयन्ती, सन् १९३४६, ना०प्र०सभा, काशी, कवि के भाषण से।

२. राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, नई धारा, अप्रैल मई, १९५१, पृ० १५७-५८

के थे । उनका दाम्पत्य जीवन आरम्भ हुआ किन्तु भाग्य की कुछ ऐसी विडम्बना हुई कि तीन वर्ष बाद ही प्रथम संतान एक कन्या के जन्मते ही पत्नी की मृत्यु हो गई । फिर दो माह पश्चात् इनके पिता भी दिवंगत हो गए । फिर सन् १९०४ में उनके बाबा जी ने उनका दूसरा विवाह कर दिया । पर विवाह होने के बाद भी अट्ठाईस वर्ष तक वे निस्संतान रहे । एक बच्चा हुआ तो था पर वह जीवित नहीं रहा । १९१४ में, ११ वर्ष के दाम्पत्यकाल के बाद बालक हुआ, परन्तु वह शीघ्र ही जहां से आया था वहीं लौट गया । इसके कुछ दिनों पश्चात् पत्नीं भी दिवंगत हो गई । गुप्त जी स्वयं पत्नी के फूल लेकर अयोध्या गए । उनका चित्त बड़ा ही अस्थिर हो गया । धर्मपत्नी के न रहने पर गुप्त जी दो-तीन वर्षों तक तीसरे विवाह को अस्वीकार करते रहे । परन्तु छोटे काका स्व० भगवानदास जी के तथा अजमेरी जी के अनुरोध से उनका संवत १९७१ में तीसरा विवाह श्रीमती सरयूदेवी के साथ संपन्न हुआ ।

गुप्त जी के जीवन में दुःख बार बार घिर घिर कर आ रहा था । तीसरे विवाह के पश्चात भी गुप्त जी अड़तालीस वर्ष की आयु तक निःसन्तान ही रहे । कई बच्चे हुए पर वे सब छोटी आयु में ही दिवंगत हो गए । सन् १९३० में एक बालक हुआ । यह बालक बड़ा ही होनहार था । इसका नाम सुदर्शन रखा गया । फिर सन् १९३५ में दूसरा बालक हुआ , इसका नाम सुम्न्त रखा गया । यह भी बड़ा ही प्यारा और हृष्टपुष्ट बालक था । परन्तु एक ही महीने के अन्दर दोनों बालक दिवंगत हो गए । सुदर्शन पांच वर्ष का था और जलोदर रोग के कारण न बचा और सुमंत चेचक के कारण । एक महीने के अन्दर ही दोनों बच्चों के चले जाने से सारा परिवार अथाह शोक सागर में डूब गया । श्रीमती महादेवी वर्मा ने गुप्त जी के इस असह्य दुःख के लिए लिखा है -" यदि अपनी नौ-नौ संतानों को अपने हाथ से मिट्टी देकर उन्हें लौटा देने वाला पिता का दुःख है तो गुप्त जी दुःख के इस समुद्र को तैर आए हैं । जिस संतान-विछोह की आवृत्तियों ने उनकी सरल वृह-

धर्मिणी की हंसी को आंसुओं में डुबा सा दिया है, उसी ने उनकी दृष्टि को हंसी की दीप्ति दे दी है।"[१] संवत् १९९३ में गुप्त जी की अंतिम संतति श्री उर्मिलाचरण का जन्म हुआ। सन् १९५५ में इनका विवाह भी हो गया।

जीवन की विभीषिकाएं

गुप्त जी का पारिवारिक वैभव उनके पिता सेठ रामचरण जी के सामने ही सन् १९०० के पश्चात् नष्ट प्राय हो गया था। गुप्त परिवार पर यह आर्थिक संकट बड़े ही भयंकर रूप में आया था। मैथिलीशरण गुप्त ने जब होश सम्भाला उस समय आर्थिक स्थिति ऐसी ही थी। उन्होंने कहा कि उन्हें कोई तीस चालीस वर्ष तक इस संकट से जूझना पड़ा।"[२] जब उन्होंने होश संभाला ही था, तब का वर्णन करते हुए वे कहते हैं — "झांसी की दुकान का काम काज बंद हो चुका था।...... घर की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यापार न रह जाने से हम सभी भाई प्राय: बैठे ठाले रहा करते थे।[३] फिर भी पैतृक संपत्ति के द्वारा समाज में मर्यादा और हैसियत बनी रही। इस भयंकर संकट के आ जाने पर भी गुप्त जी के पिता उसका सामना किस शालीनता से कर रहे थे, इसका वर्णन गुप्त जी ने बड़ी मार्मिकता से किया है — " मानिक चौक में हमारे घर के पास ही मोहनलाल जी का मन्दिर है। उसके अधिकारी गुसाईं जी पर भी हमारा पावना था। मैं कभी कभी वहां जा बैठता था। एक बार मंदिर में उन्होंने भागवत का सप्ताह बांधा। वे दो भाई थे। एक भाई ने दूसरे भाई से कहा, मैथिलीशरण कथा पर न रुपए चढ़ावेंगे न नोट, वे तो हमारी रसीद चढ़ावेंगे।"

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, नई धारा, अप्रैल -मई १९५१, पृ० १९९

२. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध - मुंशी अजमेरी। दैनिक प्रताप, २२-२३ जुलाई, १९३९ ई०

३. "अपने विषय में", गुप्त जी द्वारा लिखित निबंध, साहित्यकार, मई १९५५

कुछ लोग वहां और भी थे, वे मुझे शाबासी देने लगे । मैं लड़का था, चढ़ावे में आ गया । उन लोगों की दशा बहुत अच्छी थी। मन्दिर से पर्याप्त आय भी थी, परन्तु हमारी दशा ऐसी न रह गई थी कि सौ-दो-सौ की हमारे लिए कोई गिनती न हो । परन्तु मुझे इसका ज्ञान न था । फिर भी मेरे कहने पर पिता जी ने रसीद लिखा दी और रसीद के साथ एक या दो नकद रुपए भी चढ़ाने के लिए कहा ।"[१]

गुप्त जी की युवावस्था आर्थिक कष्टों में बीती । इस संकट के समय उन्हें कहीं से भी सहायता नहीं मिली । जब ईश्वर की इच्छा हुई तो सन् १६३५ के बाद गुप्त परिवार पुन: लक्ष्मी की कृपा प्राप्त कर सका । गुप्तजी ने लिखा है -" सियारामशरण जी का विवाह छोटी अवस्था में हुआ । उनके श्वसुर लखपती थे और कन्या के पश्चात उनको कोई सन्तान नहीं हुई । पर आर्थिक संकट के समय उन्होंने कोई सहायता नहीं की । ...... पांच सात. वर्ष पूर्व मेरे भतीजे चि० सुमित्रानन्दन को भी अपने मामा का एक गांव मिला था, परन्तु हमारा संकट तो प्रभु की कृपा से ही कटा ।"[२]

आर्थिक संकट जब चल ही रहा था तभी सन् १६०३ में भाद्रपद मास में मैथिलीशरण जी की पत्नी (प्रथम पत्नी) का स्वर्गवास हो गया । इन्ही पत्नी से एक कन्या का जन्म भी हुआ था परन्तु वह भी न जी पाई और मां के साथ ही चली गई । इस धक्के को गुप्त जी सह भी न पाए थे कि अचानक गांव में प्लेग फैल गया और पत्नी की मृत्यु के दो माह बाद ही व दीपमालिका के दिन पिता सेठ रामचरण भी स्वर्गवासी हो गए । फिर सन् १६०४ में माता जी भी स्वर्ग सिधार गईं । इन कष्टों के अतिरिक्त गुप्त जी को अपने छोटे काका के निधन पर, अपनी द्वितीय पत्नी के निधन पर

---

१. 'अनुज' लेख, श्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, पुस्तक, पृ० १४
२. वही, पृ० १४

और मुंशी अजमेरी जी के निधन पर बहुत कष्ट हुआ । फिर सियारामशरणजी की बीमारी और उनके दो बच्चों की मृत्यु पर बहुत दुःख हुआ । स्वयं उनकी नौ संतानें मृत्यु के मुख में गईं । समय-समय पर उनका घोर कष्ट रहा । एक ही माह के भीतर दो पुत्र सुदर्शन और सुमंत के काल कवलित हो जाने से तो उन्हें बहुत ही क्लेश पहुंचा ।

स्वयंमैथिलीशरण जी अपने स्वास्थ्य से भी कष्ट पाते रहे । सन् १६१०-११ में वे शिरोरोग से बहुत परेशान रहे फिर अर्श से ग्रस्त हो गए और इससे कभी छुटकारा नहीं मिला ।

गुप्त जी ने लगभग सात माह तक कारावास का कष्ट भी भोगा । वे उनके अग्रज और श्रीनिवास जी १७ अप्रैल सन् १६४१ में भारत रक्षा विधान धारा १२६ (अ) के भीतर राजबंदी बना लिए गये । उन्हें झांसी जेल में रखा गया । फिर १० जून १६४१ को उन्हें आगरा सेंट्रल जेल में भेज दिया गया । और फिर १४ नवम्बर १६४१ को उन्हें छोड़ा गया । कारावास में गुप्त जी ने 'जयभारत', कुणाल गीत और 'अजित' के कुछ अंश लिखे । गुप्त जी के इस कारावास के सम्बन्ध में गांधी जी ने यह टिप्पणी की थी —
"लेकिन सरकार भी कभी-कभी बड़ी उदार हो जाती है । कुछ आदमियों को यों ही उठा ले जाती है । श्री मैथिलीशरण जी भी वही हैं । वे यों ही बरबस पकड़ लिए गए थे । वे सुप्रसिद्ध कवि तो हैं, लेकिन कविता आज उनकी कलम से नहीं निकलती है, बरन उनके सूत के तारों से निकलती है ।"[१]

इन सब कष्टों के अतिरिक्त गुप्त जी ने साहित्यिक जीवन में भी अनेक कष्ट झेले हैं । उन्हें साहित्य के क्षेत्र में अनेक प्रकार की प्रतिकूल आलोचनाएं सहनी पड़ीं । अनेक प्रकार की टिप्पणियां उनके काव्य के सम्बन्ध में प्रकाशित हुईं ।

---

१. खादी जगत, मासिक, वर्धा, अक्टूबर, १६४१

श्रीनाथ सिंह के दो लेख 'मैथिलीशरण गुप्त का इस्लाम-प्रचार' और 'गुप्त जी की शृंगारिकता' गुप्त जी की कटु आलोचना के रूप में प्रकाशित हुए।[१] इसी प्रकार 'साकेत परीक्षण' में शंभु प्रसाद बहुगुना ने गुप्तजी के साकेत की कटु आलोचना की।[२] स्व० कामताप्रसाद गुरु ने भी सरस्वती में गुप्त जी के भाषा सम्बन्धी दोषों का विवरण दिया था। उन्होंने सरस्वती में 'खड़ीबोली की काव्य स्वतंत्रता' निबंध लिखा।[३] इस निबन्ध में उन्होंने गुप्त जी की भाषा के अनेक दोष दिखाए। दोष ही नहीं दिखाए वरन गुप्त जी की भाषा पर निरंकुशता का दोष भी लगाया। साथ ही उनकी भाषा को भद्दा अभिधेय दिया था। बाद में गुप्त जी ने इन आक्षेपों को उत्तर भी दिया था।[४]

अपने आलोचकों के सम्बन्ध में गुप्तजी का कथन है -" यस विषय में मेरी रक्षा आत्म विश्वास ने की अथवा निर्लज्जता ने, यह मैं नहीं कह सकता। फिर भी मैं अपनी प्रतिकूल आलोचनाओं से हतोत्साहित नहीं हुआ। वरन् और भी उत्साह से अपने काम में लग गया। मेरे जिन आलोचकों ने आलोचना के साथ व्यंग-विनोद किये हैं, उन्होंने अपने परिश्रम का परिहार ही किया है, जिसका उन्हें अधिकार था। उनके प्रति मेरे मन में भी उपेक्षा के भाव कम न थे, परन्तु अपने युग-पुरुष बापू का थोड़ा भी सम्पर्क मुझे प्रेरित करता है कि उनके प्रति भी नत-मस्तक होकर मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करूं।"[५]

गुप्त जी को साहित्य के क्षेत्र में अनेक लोकापवाद भी सहने पड़े। मुंशी अजमेरी जी ने लिखा है कि गुप्त जी पर यह लांछन लगता था कि

---

१. दीदी, अगस्त, १९५१, पृ० ५६७ से ५७० तक और दीदी सितम्बर १९५१ से पृ० ४९२ से ४९६ तक।

२. पुस्तकाकार, पृ० ६२, लखनऊ से प्रकाशित।

३. सरस्वती, जून १९१२, पृ० ३१८ से ३२२।

४. 'काव्य-स्वतंत्रता पर सम्मति' मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, जुलाई १९१२

५. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा कवि की हीरक जयन्ती, सन् १९४६ [illegible] गई। उ [illegible] गए भाषण का अंश।

" लिखता सब अजमेरी है और छपता सब मैथिलीशरण के नाम से है।....... मैथिलीशरण जी जैसे महान कवि के विषय में ऐसा प्रचार करना कितना निन्दनीय है।...... भैया जी लिख रहे हैं पैंतीस वर्ष से और मैंने लिखना किया है सन् १६२० से, केवल सोलह वर्ष हुए।..... अपनी रचनाओं में मुझे उतना आनन्द नहीं होता, जितना भैया जी की कविताओं में होता है दाऊजू ने एक बार मुझसे कहा था" हमारे पांच पुत्र हैं और छठे तुम हो।" .... मेरा जो विकास है, उन्हीं की कृपा का फल है और उन्हीं के आशीर्वाद का फल भैया जी का काव्य-कलाप।"[१]

साहित्यिक सम्बन्ध

आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी —

श्री मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यिक जगत में अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों से घनिष्ट सम्बन्ध था। जिस समय तक गुप्त जी ने साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया था, उस समय भारतेन्दु युग चल रहा था और ब्रजभाषा का ही साहित्य रचा जा रहा था। ब्रजभाषा पूरी एक शती तक व्यापक क्षेत्र की साम्राज्ञी रह कर अब निशक्त हो चुकी थी। मैथिलीशरण गुप्त के आते आते, ब्रजभाषा के बांकपन का समय लगभग जा चुका था और 'सरस्वती' ने आकर सदा के लिए ब्रजभाषा के प्रभुत्व की इतिश्री कर दी। 'सरस्वती' एकदम नवीन रूप में आई और वह प्राग्द्विवेदी-युग की परंपराओं की दृढ़ आस्था लिए हुए थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी उसका सम्पादन कर रहे थे। मैथिलीशरण गुप्त का यह सौभाग्य था कि प्रारम्भ में ही उन्हें आचार्य द्विवेदी जैसा समर्थ गुरु मिल गया।

गुप्त जी ने अपनी एक हेमंत शीर्षक कविता सरस्वती में छपने भेजी। द्विवेदी जी ने परख लिया कि यह कवि होनहार है, यद्यपि कविता बहुत ही

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध- मुंशी अजमेरी। दैनिक प्रताप, २२ और जुलाई, १६३६ ई।

अधकच्ची और अशुद्ध थी । फिर भी द्विवेदी जी ने कविता को परिष्कृत करने के बहाने गुप्त जी को भी 'सरस्वती' की सदस्यता का अवसर प्रदान किया । वह कविता सरस्वती में छप गई । जब गुप्त जी ने सरस्वती में 'हेमंत' कविता छपी देखी, तो उनका रोम रोम खिल खिल उठा । सरस्वती में नाम छपा देखने की साध पूरी हुई । यह कविता 'मोहनी' में भी उसी रूप में छपी थी, जिस रूप में लिख कर भेजी गई थी परन्तु 'सरस्वती' में यह संशोधित रूप में छपी थी । उसका अंतरंग भी बदला हुआ प्रतीत हो रहा था ।

इसी समय आचार्य द्विवेदी को 'मोहनी' देखने को मिली । उसमें 'हेमन्त' अपने उसी पहले रूप में छपी थी । उसे देख कर उन्हें क्षोभ हुआ कि इतनी उतावली की क्या आवश्यकता थी, कि सरस्वती में छपने से पहले ही दूसरे पत्र में भी भेज दी । इस समय गुप्त जी ने 'क्रोधाष्टक' कविता भी द्विवेदी जी के पास भेज दी । द्विवेदी जी ने गुप्त जी को लिखा - " हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम और विचार पूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । आप दो बातों से एक भी नहीं करना चाहते । कुछ भी लिख कर छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है । आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घण्टे लग गए ।" पहला पद्य ही लीजिए -

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया ।
जाने न वे तनिक भी अपना पराया ।।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी ।
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि ।।

" क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया ? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविता छपाने का विचार छोड़ दें । जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे । जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइये । ताले में बंद करके रखिये ।"

फिर इसी पद्य का संशोधित रूप इस प्रकार था —

हौती तुरन्त उनकी बलहीन काया,
वे जानते न कुछ भी अपना पराया ।
हौते अचेत, वर-बुद्धि-विहीन पापी,
" क्रोध ! जो जन तुझे करते कदापि ।।

गुप्त जी ने द्विवेदी जी से और अपने सम्बन्धों का विवरण "आचार्य देव" और "मेरे कवि का आरंभ" इन दो निबंधों में दिया है । एक स्थल पर गुप्त जी ने लिखा है — मैं जब और कुछ न हो सका, तब मैंने कवि बनने की ठानी । .... कवि तो बनाए नहीं जाते, परन्तु कोपभाजन होने योग्य होकर भी, मैं पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह-भाजन हो गया । इससे बढ़कर किसी का क्या सौभाग्य होगा ।"[1]

साकेत के निवेदन में गुप्त जी ने लिखा है —" आचार्य पूज्य द्विवेदी जी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानो उनकी कृपा का मूल्य निर्धारित करने की ढिठाई करना है । वे मुझे न अपनाते तो मैं आज इस प्रकार आप लोगों के समक्ष खड़े होने में समर्थ होता या नहीं कौन कह सकता है ।"

" करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद"
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद ।"[2]

साथ ही अपने काव्य-गुरु के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने सरस्वती में लिखा —

" जिसके रस से उमड़ रहा यह मानस पारावार ,
भरे हृदय की ही श्रद्धांजलि उन चरणों में हो स्वीकार ।"[3]

---

१. सरस्वती, द्विवेदी, स्मृति अंक, फरवरी, १९३९
२. साकेत, निवेदन, पृ० १-२ ।
३. सरस्वती, द्विवेदी-स्मृति अंक-फरवरी, १९३९, पृ० १९९ से २०० तक

आचार्य द्विवेदी ने भी गुप्त जी के काव्य की बड़ी प्रसंशा की थी भारत-भारती पर प्रसन्न होकर उन्होंने यह आशीर्वचन लिख कर भेजा था —

> यैनेदमीदृशमकारि महमनोज्ञम् ,
> शिक्षान्वितं गुणगणाभरणैर्भृतंच ।
> काव्य कृती कविवर: सचिरायुरस्तु
> श्री मैथिलीशरण गुप्त उदारवृत्त: ।।[१]

गुप्त जी की योग्यता और विद्वता पर आ० द्विवेदी जी को इतना विश्वास हो गया था कि वे प्राय: अन्य 'सरस्वती' - लेखकों की भाषा उनसे शुद्ध करवाते थे ।[२]

गुप्त जी की आ० द्विवेदी जी से बड़ी ही आत्मीयता हो गई थी । द्विवेदी जी की पत्नी जब मृत्यु शैया पर पड़ी थीं तब गुप्त जी ने द्विवेदी जी को १४ मार्च, १९१२ के पत्र में लिखा था — "पंडितानी जी की तबियत का हाल सुन कर चिंता हुई । औषधादि की व्यवस्था शीघ्र कराइए । यदि कोई वैद्य किसी रस विशेष की योजना करे और आवश्यकता हो तो मुझे लिखियेगा । होगा तो भेज दूंगा । अभ्रक, कान्तिसार, ताम्रेश्वर और चन्द्रोदय रस मेरे यहां हैं । विशेष क्या लिखूं ? पंडित जी, क्या चिन्ताजाल में ग्रस्त होने के लिए ही मनुष्य-जन्म धारण करना पड़ता है ?" इसके पश्चात नवम्बर १९१३ में सरस्वती में गुप्त जी की एक कविता छपी 'आश्वासन' । यह कविता द्विवेदी जी की साध्वी पत्नी के निधन पर लिखी गई थी ।

---

१. सरस्वती, नवम्बर १९१२, पृ० ६१७
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह, पृ० २४५

२. जयशंकर 'प्रसाद'

गुप्त जी के मित्रों में प्रसाद जी भी आते हैं। ये दोनों पर्याप्त घनिष्टता से बातचीत करते थे परन्तु अपनी-अपनी या एक दूसरे की रचनाओं के सम्बन्ध में बातचीत नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में गुप्त जी ने लिखा है- प्रसाद जी के साथ जाने कहां कहां की बातें हुआ करती थीं। परन्तु अपनी अपनी रचनाओं के विषय में कभी भूले-भटके ही हम लोग चर्चा करते।"[१] एक बार दोनों में काफी मनमुटाव हो गया। कारण यह था कि कृष्णानन्द गुप्त ने 'प्रसाद के दो नाटक' पुस्तक लिखी। इसमें प्रसाद के नाटकों की आलोचना की गई थी। और यह पुस्तक गुप्त जी के यहां से प्रकाशित हुई। प्रसाद जी ने इसे गुप्तजी द्वारा प्रेरित आलोचना माना। कुछ समय तक दोनों में मनमुटाव चलता रहा। परन्तु फिर अन्त में श्री वाचस्पति पाठक के प्रयत्न से दोनों महाकवियों की चित्तशुद्धि हुई।[२]

मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद गुप्त यद्यपि मित्र थे परन्तु काव्य के क्षेत्र में दोनों अलग अलग से रहते थे। जब 'साकेत' और 'स्कन्दगुप्त' नाटक पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी का पांच-पांच सौ रुपए का पुरस्कार दिया गया, इस समय सन् १९३७ में साकेत पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी दिया गया। प्रसाद जी को थोड़ा दुःख हुआ कि साकेत पर दो पुरस्कार मिले। परन्तु तभी यह भी निश्चित हो गया था कि अगले वर्ष का मंगलाप्रसाद पारितोषिक 'कामायनी' पर दिया जायगा। परन्तु इसी बीच प्रसाद जी का निधन हो गया और वह मंगलाप्रसाद पारितोषिक पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि' पर दिया गया।

गुप्त जी और प्रसाद जी का सबन्ध बहुत घनिष्ठ भी था। गुप्त जी का कथन है -जब जब मैं काशी जाता था, प्रायः प्रतिदिन उनसे

---

१. प्रसाद जी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद का प्रसादांक, पृ० ५०
२. वही, पृ० १४-१५

मिलना होता और घंटों बैठकर जमती । कभी कृष्णादास की कोठी पर, कभी उनके बंगले पर, कभी प्रसाद जी के घर में और कभी उनकी दुकान पर । कितना आमोद-प्रमोद होता कह नहीं सकता । बीच बीच में खान-पान भी[1]। अंतिम दर्शन के लिए गुप्त जी काशी पहुंचे । वे चले तो थे प्रयाग के लिए, मंगलाप्रसाद पारितोषिक ग्रहण करने । लेकिन प्रसाद जी के स्वास्थ्य का हाल सुनकर राजर्षि टण्डन के साथ काशी पहुंच गए और वहां प्रसाद जी के अंतिम दर्शन किये । प्रसाद जी का निधन १५ नवम्बर १६३७ को हो गया । गुप्त जी बहुत ही शोकग्रस्त हो गए । और उन्होंने प्रसाद जी की मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ये चार पंक्तियां कहीं —

> जय शंकर कहते कहते ही अब भी काशी जायेंगे,
> किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का मूर्तिमन्त हम पावेंगे ।
> तात, भस्म भी तेरे तन की हिन्दी की विभूति होगी,
> पर हम जो हंसते जाते थे, रोते रोते आवेंगे ।"[2]

गुप्त जी ने इतने से ही संतोष नहीं किया, वरन उन्होंने एक विशेष लेख प्रसाद जी की स्मृति में लिखा । इस लेख में प्रसाद जी की अन्तिम स्मृति के विषय में लिखते हैं —" उनके शरीर की दशा देख कर मैं अपने आंसू न रोक सका । उन्हीं दिनों राजर्षि टंडन काशी आये । मुझे लेकर वे प्रसाद जी को देखने गए थे । प्रसाद जी खाट से लग गये थे और अस्थिचर्म ही उनमें शेष रह गए थे । ऐसा लगता था , मानों शय्या पर एक चादर ही पड़ी है और कुछ नहीं । फिर भी उनके मुंह पर निश्चित् दृढ़ता दिखायी देती थी । वे मुसकाकर ही अभिवादन के लिए हाथ जोड़े । मुझे पता था कि इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार उन्हें दिया जायगा । जब हम लोग उनके कक्ष से

---

१. प्रसाद जी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद का प्रसादांक ।
२. वही, पृ० १७

बाहर निकले, तब मैंने टंडन जी से कहा, ' आप कहें तो मैं यह बात उनसे कह आऊं । संभव है इससे उन्हें कुछ संतोष हो ।' टंडन जी ने मुझे अनुमति दे दी और मैं फिर उनके कक्ष में गया । प्रश्नसूचक दृष्टि से उन्होंने मेरी ओर देखा । मैंने कहा, 'इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार तुम्हें देने का निश्चय हुआ है । तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ । मैं भी उसे लेने के समय तुम्हारे साथ चलूंगा ।' उन्होंने उत्तर में कुछ न कह कर दोनों हाथों से मुझे पकड़ लिया मैंने देखा, उनकी आंखें छलछला आयी हैं और वे गद्गद् हो रहे हैं ।"[१]

गुप्त जी और प्रसाद जी के आपसी प्रेम के अतिरिक्त आदर भाव भी था । सन् १६३६ की बात है कि लखनऊ में एक प्रदर्शिनी हुई और कवि सम्मेलन भी हुआ । उन दिनों प्रसाद जी लखनऊ में ही थे । परन्तु प्रसाद जी को निमन्त्रण नहीं मिला । इस कवि सम्मेलन के सभापति थे गुप्तजी । जब गुप्त जी को यह बात मालूम हुई तो वे अध्यक्ष होते हुए भी कवि सम्मेलन में नहीं गए ।

प्रसाद जी भी गुप्त जी से प्रेम करते थे । उन्होंने अपना कहानी संग्रह ' इन्द्रजाल ' गुप्त जी को समर्पित किया था ।

३. रायकृष्ण दास -

श्री मैथिलीशरण गुप्त और रायकृष्णदास जी की मित्रता व्यक्तिगत, सामाजिक और साहित्यिक तीनों प्रकार की है । दोनों मित्रों का काशी से चिरगांव और चिरगांव से काशी, बहुत आना जाना होता था । वे गुप्त जी के रचना-कार्यों में परामर्श दाता के समान थे । इस समय भी उनके पास गुप्त जी की अनेक अप्रकाशित काव्य रचनाएं हैं क्योंकि वे अक्सर गुप्त जी की पाण्डुलिपियां उठा लाया करते थे । कभी कभी गुप्त जी कहते भी थे कि अरे भाई रहने दो अभी आगे और लिखना है - परन्तु राय कृष्ण-दास मानते नहीं थे । रायकृष्ण दास के आग्रह और सहायता से ही गुप्त -

---

१ प्रसादजी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद का प्रसादांक ।

ने 'रुबाइयत उमर ख़य्याम' का अनुवाद किया । वास्तव में राय साहब गुप्त जी के सहृदय मित्र रहे और उनके साहित्यिक कार्यों के प्रशंसक भी रहे ।

अन्य विशिष्ट साहित्यकारों से सम्बन्ध :

स्वर्गीय बार्हस्पत्य जी भी गुप्त जी के प्रशंसक थे । 'केशों की कथा' पढ़ कर उन्होंने आचार्य द्विवेदी के द्वारा गुप्त जी के पास प्रशंसा-पत्र भिजवाया था । 'जयद्रथ-वध' को पढ़ कर वे प्रसन्न हुए थे । 'उर्मिला- विरह' खण्डकाव्य लिखने के लिए उन्होंने गुप्त जी को लिखा था ।[१] 'उर्मिला' काव्य के ढाई सर्ग पढ़ कर बार्हस्पत्य जी ने कवि को आगे लिखने के लिए निर्देशन भी दिया था । साकेत की रचना में बार्हस्पत्य जी ने पर्याप्त सुझाव भी दिये थे । गुप्त जी ने भी उनसे बराबर परामर्श लिया था ।

श्रीमती महादेवी वर्मा का भी गुप्त जी से घनिष्ठ परिचय था । महादेवी जी के आग्रह के फलस्वरूप ही गुप्त जी ने 'साहित्यकार संसद' के अध्यक्ष पद को स्वीकार किया था । श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा स्थापित 'साहित्यकार संसद्' की गुप्त जी ने बहुत सहायता की । उन्होंने अपनी 'हीरक-जयन्ती' के उपलक्ष में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा भेंट की गई दससहस्र की थैली भी संसद को दे दी थी साथ ही स्वयं भी एक हजार रुपये संसद को दिये । गुप्त जी महादेवी को अपनी बहन के रूप में मानते थे । वे महादेवी को सरस्वती और काव्यश्री के समकक्ष समझते थे । यथा —

" सहज भिन्न दो महाशक्तियाँ एक रूप में मिलीं मुझे ।
बता बहन, साहित्य-शारदा या काव्य-श्री कहूं तुझे ।"[२]

महादेवी जी के द्वारा ही गुप्तजी का परिचय निराला, इलाचन्द्र जोशी और गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि साहित्यकारों से भी हो गया ।

---

१. बार्हस्पत्य जी के पत्र, कवि का संग्रहालय, चिरगांव ।
२. हस्तलिखित पत्र ।

डा० रामकुमार वर्मा का भी गुप्त जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक बार गुप्त जी प्रयाग पधारे और डा० रामकुमार वर्मा से भी मिलने उनके घर गए। यह मिलन कितना सुखद था- डा० वर्मा ने लिखा है -" उनकी बातों में मुझे बुन्देलखण्डी शब्दों के कुछ रूप मिल गए, तो मैंने अपना विस्तृत परिचय देते हुए उनसे कहा कि महाकवि ! मैं भी बुंदेलखण्ड का निवासी हूं। उन्होंने उत्सुकता में बुंदेलखण्डी में ही मुझसे पूछा," तो तुम कहाँ के आव भइया ?" मैंने उत्तर दिया," मेरो जनम सागर को आय।" वे प्रसन्नता से अट्टहास कर उठे और उन्होंने भाई सियारामशरण जी को सम्बोधित करके कहा," श्री सियारामशरण, तब तो जे रामकुमार अपनेंई आयं।" और उन्होंने फिर प्रसन्नता से उछलकर अपनी खिलखिलाहट से मेरा कमरा गुंजा दिया। गुप्त जी की इस आत्मीयता से मैं भाव-विभोर हो उठा। और मैंने उनके चरणों में फिर एक बार प्रणाम किया।"[१]

राजा रामपाल सिंह ने भारत-भारती की रचना करने की प्रेरणा सन् १९११ में गुप्त जी को दी थी।[२] श्री वृन्दावनलाल वर्मा से गुप्त जी का घनिष्ट स्नेह था।[३] नवीन जी भी गुप्त जी के प्रशंसक रहे। उन्होंने `हिन्दुस्तान` के साप्ताहिक संस्करण में एक संस्मरण लिखा था, जिसमें `दद्दा` को श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी।[४] श्री माखनलाल चतुर्वेदी जी को अपना गुरु ही मानते थे।[५]

कविवर सुमित्रानन्दन पंत से गुप्त जी का घनिष्ट परिचय था। पंत जी क गुप्तजी के`भारत-भारती` और `जयद्रथ-वध ` से बहुत प्रभावित हुए थे। उनका काव्यारम्भ भी इन्हीं ग्रन्थों के प्रभाव के फलस्वरूप हुआ था।[६]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३०
२. आचार्य द्विवेदी का पत्र, २७ मार्च १९११
३. हमारा वृन्दावन, नई धारा, अप्रैल मई सन् १९५२।
४. हिन्दुस्थान साप्ताहिक, अगस्त १९५२
५. भारत-भारती के विषय में रेडियो वार्ता
६. गद्य-पथ, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ११६

चुके थे। परन्तु 'भारत भारती' के पश्चात गुप्त जी हिन्दी साहित्य के स्वीकृत, व्यक्तित्व बन गए और उनकी साहित्यिक संभावनाएं स्पष्ट हो गई। जब भारत-भारती प्रकाशित हुई तब देश के सभी नवयुवक इसकी प्रशंसा करते नहीं थकते थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने तो इसके पूर्ण होते ही सरस्वती में जो इस पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी लिखी, वह पढ़ने योग्य है --

"सरस्वती के सिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने एक नवीन काव्य की रचना की है। उसे समाप्ति को पहुँचे अभी कुछ ही दिन हुए हैं। उसका नाम है 'भारत-भारती'। अपूर्व काव्य है। हाली साहब के 'मुसदस' के ढंग का है। उससे बढ़कर नहीं, तो उससे कम भी किसी बात में नहीं। पद्य-संख्या ७०० के लगभग है। उसमें भारत के उत्थान और पतन आदि का वर्णन है। शीघ्र ही छप कर प्रकाशित होगा। तब तक उसके विशेष-विशेष स्थल 'सरस्वती' की हर संख्या में निकलेंगे। आरम्भ इसी संख्या से किया जाता है। गुप्त जी की इस कविता का उत्तरोत्तर हृदयविदारक अंश पढ़ने के लिए पाठक अपना हृदय अभी से कड़ा कर रक्खें। ऐसी अच्छी कविता लिखने के लिए हम नहीं जानते, किन शब्दों में गुप्त जी का अभिनन्दन करें।

यैनेदमीदृशमकारि महामनोज्ञं
शिक्षान्वितं गुणगणाभरणाभृतं च।
काव्यं, कृती कविवर: स चिरायुरस्तु
श्री मैथिलीशरण गुप्त उदारवृत्त: ।।"[1]

'भारत-भारती' की लोकप्रियता तो सन् १९१२ में ही प्रारम्भ हो गई, परन्तु इसका प्रकाशन अगस्त सन् १९१४ के आस पास हुआ। इसे भी गुप्त जी ने स्वयं प्रकाशित किया। जब भारत-भारती प्रकाशित हुई तो द्विवेदी ने सरस्वती के मंच से इसके प्रकाशन की सूचना देते हुए पुन: एक संपादकीय लिख

---

१. सरस्वती- दिसम्बर १९१२

बाबू मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' छप गई। इस नोट के निकलने के पहले ही वह शायद प्रकाशित हो जाय। इसके दो संस्करण निकलने वाले हैं। एक राज-संस्करण, दूसरा साधारण। पहला संस्करण ६० पाउंड के मोटे चिकने आर्ट पेपर पर छपा है। इस पर कपड़े की स्वर्णांकित जिल्द रहेगी। मूल्य होगा २) रु० कापी। दूसरे संस्करण की कापियां मामूली मोटे कागज पर छपी हैं उन पर साधारण जिल्द रहेगी। मूल्य १) कापी होगा। छपाई निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) की है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या २०० के लगभग है।

"यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। इसके जो कितने ही अंश सरस्वती में निकल चुके हैं, उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है, आत्मविस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलाने वाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है। उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हम लोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है - उनमें फिर सजीवता आ सकती है, क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिल सकता है। उन्होंने मुसलमानों को जगाने और उनका दिल दहलाने वाला हाली का लिखा हुआ 'मुसद्दस' नामक काव्य, उर्दू में, देखा है, उन्हें उसका स्मरण दिला देने से इस काव्य की महत्ता उनकी समझ में आ जायगी। क्योंकि यह उसी के नमूने पर लिखा गया है। आशा है, हम लोग इससे अधिक नहीं, तो उतना लाभ तो अवश्य ही उठावेंगे, जितना कि मुसलमानों ने उक्त 'मुसद्दस' से उठाया है। आशा है

लेकर एकबार साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर -

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी ।
मिलकर विचारेंगे हृदय से ये समस्याएं सभी ।।

आशा है, 'भारत-भारती' के कर्ता के इस किंचित् परिवर्तित अनुरोध वाक्य को को मान लेने की कृपा पाठक अवश्य करेंगे ।" [१]

वास्तव में 'भारत-भारती' के समान राष्ट्रीय काव्य में इसके बाद कोई ऐसी अन्य पुस्तक नहीं आई, जो ग्राम और नगरों में इस प्रकार बाल-वृद्ध, नर -नारी को कंठस्थ हो गई हो और वर्षों-वर्षों उनके कंठ का शृंगार रही हो । वास्तव में यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के विराट क्षितिज पर ब्रजभाषा से अपना सम्बन्ध तोड़ते हुए और साधु भाषा हिन्दी की अमृतधारा का अवगाहन करते हुए 'भारत भारती' प्रारम्भिक हिन्दी की अंतिम परिणति है । 'भारत-भारती' की भाषा को देख कर ब्रजभाषा के पक्ष में रहने वाले लोगों ने कुट-पुट विरोध करना चाहा, परन्तु उससे कुछ लाभ न हुआ । आचार्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'बोलचाल की हिन्दी में कविता' शीर्षक से यह संपादकीय लिखा -- " पन्द्रहवर्ष पहले शायद ही कभी किसी अखबार या मासिक पुस्तक में बोलचाल की हिन्दी में कविता निकलती रही हो । पर अब ब्रज-भाषा में लिखी गई कविता बहुत कम देखने को मिलेगी । इससे सिद्ध है कि समय-जमाना, ऐसी ही कविता माँगता है । गद्य-पद्य की भाषा होनी भी एक ही चाहिये । बोलचाल चाल की ही भाषा लोगों की समझ में शीघ्र आती है । .... ब्रज की बोली में कविता करने का या उस बोली के न जानने वाले चाहे लंगूर बनाए जायं, चाहे गीदड़--इससे बोलचाल की भाषा की कविता का प्रवाह बन्द न होगा । बोलचाल की भाषा को खड़ीबोली कह कर उसके पुरस्कर्ताओं की निंदा और उपहास करने से ब्रजभाषा का गौरव नहीं बढ़ सकता .... अतएव बोलचाल की कविता करने वालों को इस तरह से निन्दावाद की कुछ भी परवा न करके गुणवती कविता लिखने में चुपचाप लगे रहना चाहिये ।" [२]

---

१. सरस्वती, अगस्त १९३४

२. सरस्वती, अप्रैल, १९१४

'भारत-भारती' अत्यधिक लोकप्रिय बन कर आई। उसके प्रकाशित होने के दो मास के अन्दर अन्दर उसकी १२०० प्रतियाँ बिक भी गईं। गुप्तजी ने ७ अक्टूबर १९१४ के पत्र में रायकृष्णदास को लिखा," लक्षणों से मालूम होता है, शीघ्र उसका दूसरा संस्करण होगा।"[१] 'भारत-भारती' की रचना के पश्चात् मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी साहित्य के गणमान्य व्यक्तित्व बन गए और उनकी साहित्यिक संभावनाएं स्पष्ट हो गईं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भी" गुप्त जी की ओर पहले पहल हिन्दी प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचने वाली 'भारत-भारती' निकली।"[२] आचार्य द्विवेदी, उनके अनुयायी तथा भारत के नवयुवक सभी 'भारत-भारती' की प्रशंसा करते थे यद्यपि कुछ द्विवेदी जी के विरोधी व्यक्ति भाँति-भाँति से इसकी त्रुटियाँ भी सामने रखने लगे।[२] जिससे और कुछ तो नहीं हुआ, वरन् गुप्त जी और भी अधिक आकर्षक व्यक्तित्व हो गए।

गुप्त जी ने 'भारत-भारती' के पश्चात् बड़ी तीव्रता से अनेक अमूल्य काव्य-रत्न हिन्दी संसार को भेंट किये। सन् १९३२ में 'साकेत', १९३३ में 'यशोधरा', सन् १९३४ में 'मंगलघट' और १९३५ में 'द्वापर', और 'सिद्धराज' का प्रणयन किया। अब तक गुप्त जी पद्य-निबन्ध, पद्य-पत्र, खण्ड-काव्य, गीत-प्रबन्ध, गीति-काव्य, गद्य-पद्य-काव्य, आत्मकथा काव्य और महाकाव्य से माँ-सरस्वती की गोद सुशोभित कर चुके थे। 'साकेत' के प्रकाशन के बाद संभवत: कोई भी हिन्दी की ऐसी परीक्षा नहीं रह गई थी जिसमें गुप्त जी की कोई न कोई रचना पाठ्यक्रम में न हो। फिर 'यशोधरा' और 'द्वापर' के प्रकाशित होते होते गुप्त जी हिन्दी के प्रतिनिधि कवि, युग प्रवर्तक कवि, राष्ट्र कवि, महाकवि, द्विवेदी युग के शीर्ष-फल, आधुनिक युग के वैतालिक, भारतीय संस्कृति के पुरस्कर्ता इत्यादि विशेषणों से विभूषित

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३३ (सं०.२००६ वि०).
२. द्विवेदी जी के पत्र, भारतीय कला भवन, वाराणसी।

किये जाने लगे ।[१]

सन् १६३६ में गुप्त जी ने ५० वर्ष पूरे किये । पचास वर्ष की वय होते ही स्थान स्थान पर उनकी स्वर्ण जयन्ती मनाई गई । ५० वर्ष के पूरे होने से पूर्व ही एक दिन गुप्त जी कानपुर गए थे और 'प्रताप' कार्यालय में ही ठहरे थे । वहां श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को गुप्त जी से वार्तालाप के बीच मालूम हुआ कि वे पचास के पूरे होने वाले हैं । बस उन्होंने स्वर्ण-जयन्ती मनाने की सोच ली । गुप्त जी ने बहुत मना किया परन्तु नवीन जी ने एक न मानी और तत्काल ही नवीन जी ने योजना की रूपरेखा बनाते हुए विज्ञप्तियां निकाली और हिन्दी संसार से उनकी जयंती मनाने का आग्रह किया । नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी इस योजना को सफल बनाने का आग्रह किया । हिन्दी संसार ने पूरे उत्साह से गुप्त जी की जयन्ती मनाई । जयन्ती में उनके काव्य का पारायण किया गया और उनके साहित्यपर विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये । अनेक प्रसिद्ध पत्रिकाओं ने गुप्त जी को भिन्न भिन्न प्रकार से श्रद्धांजलियां दीं । 'सुधा' ने मई १६३६ के अपने संपादकीय 'मैथिलीशरण स्वर्ण-जयन्ती' शीर्षक से लिखा," श्री मैथिलीशरण गुप्त आगामी २१ जुलाई १६३६ को अपने जीवन के ५० वर्ष पूरे करके, ५१ वें वर्ष में प्रवेश करेंगे । उनका यह जीवन हमारे साहित्य तथा राष्ट्र की प्रगति के लिए कितना महत्वपूर्ण रहा है, औरउसने हमारे सामाजिक दृष्टिकोण पर कितना प्रभाव डाला है, इसका एक बार सिंहावलोकन करते ही हमें गौरव से अपने इन महाकवि के सम्मानार्थ उन्नत मस्तक होने का सौभाग्य प्राप्त होता है ।...... भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्र तथा भारतीय धर्म की एकसूत्रता, उसके अतीत गौरव , निराशामय भविष्य का चित्रण करने वाले एकमात्र हिन्दी के महाकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त प्राय: सभी हिन्दोस्तानी भाषाओं के काव्य का रसास्वाद कर चुके हैं । उन्हें सर्वत्र इस महादेश की एकप्राणता का अनिवार्य प्रवाह बहता हुआ

---

१. भारतीय कला भवन, वाराणसी में एकत्रित पत्र तथा समीक्षाओं के संकलनसे

मिला है। उन्होंने अतीत के मौर्य, गुप्त तथा वर्धन काल के भारतीय साम्राज्य का एक गौरवमय चित्र अपनी स्वाध्याय-प्रवण कवि-कल्पना द्वारा भारत के आशामय भविष्य के आलोकमय क्षितिज पर हैमराग से चमत्कृत देखा है। उसी से प्रभावित होकर ही तो उनके हृदय की संभूत भावना व्याध-शर विद्ध, क्रौंच की रुधिर धारा से प्रभावित आदि कवि महर्षि वाल्मीकि के समान 'भारत-भारती' 'हिन्दू' 'वैतालिक' के रूप में उनके प्रत्येक नि:श्वास के साथ संसार में प्रकट हुई है। वे ही हिन्दी के एकमात्र कवि हैं, जिन्होंने भारतीय राष्ट्र की हृद्तंत्री को स्पर्श करके उसमें राष्ट्रीय भावना, आशामय भविष्य और गौरव-मय अतीत का मधुर संगीत अनुप्राणित किया है।......... सन् १९११-१२ में जब भारतीय राष्ट्र की एकप्राणता,का उद्भव भी नहीं हुआ था, जब कांग्रेस केवल उसकी स्थापना का एक भगीरथ प्रयत्न ही कर रही थी, 'भारत-भारती' के प्रकाशन ने हिन्दी संसार में एक तहलका सा मचा दिया था।..... राष्ट्र में उसने जीवन मंत्र सा फूंक दिया।..... इसके पश्चात् ही 'वैतालिक' ने अनुप्राणित राष्ट्र की सुप्त स्मृतियों को गुदगुदाकर जगाया और उसकी एक ही अंगड़ाई से १९२१ से १९३१ तक देश के राजनीतिक जीवन में भूकम्प सा पैदा कर दिया। 'वैतालिक' का संदेश हमने वैत्रवती परिसरवर्तिनी गांवटियों में चना चबाने वाले कांग्रेस स्वयंसेवकों के मुंह से सुना और उससे प्रभावित होकर उन्हें उत्सर्ग करते देखा। बुंदेलखण्ड में तो, प्रभात फेरी का वह मूल गान हो गया था। तब फिर आया 'हिन्दू', यह गुप्त जी के वैयक्तिक जीवन का एक बड़ा ही ओजस्वी चित्र है।....... हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू धर्म के गूढ़ तत्वों का राष्ट्रीय विवेचन 'हिन्दू में हमें मिलता है। वह हमें निराश पददलित हिन्दुओं को राष्ट्र के विराट स्वरूप से अनुप्राणित करता है और हमें दिखलाता है आशामय भविष्य का शुभ्र आलोक। इसी से गुप्त जी ही हमारे एकमात्र राष्ट्रीय महाकवि हैं।"

मैथिलीशरण गुप्त की इस जयन्ती में जयशंकर प्रसाद ने भी अपना उत्साह दिखलाया। काशी में तथा हिन्दी प्रेमियों में यह धारणा फैली हुई थी कि प्रसाद जी और गुप्त जी में मन-मुटाव रहता है। यह वास्तव में अमृतपुत्र प्रसाद जी और गुप्त जी जैसे विनयी राष्ट्रकवि के सम्मान पर कलंक के समान

गुप्त जी की जयन्ती के समय प्रसाद जी ने अपने नवीनतम ग्रन्थ 'इन्द्रजाल' को इन शब्दों के साथ गुप्त जी को भेंट किया —

प्रियवर श्री मैथिलीशरण गुप्त को,
उनकी पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर, प्रेम भेंट — जयशंकर 'प्रसाद'।

२१ जुलाई १९३६ को दैनिक 'आज' काशी, ने भी अपना सम्पादकीय 'राष्ट्रकवि को बधाई' शीर्षक से लिखा। नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने भी गुप्त जी की स्वर्ण जयन्ती मंगलवार को उनकी जन्मतिथि के दिन मनाई। इसके लिए विशेष अधिवेशन बुलाया गया था। स्वर्ण जयन्ती के दिन आचार्य द्विवेदी जी ने अपने प्रधान शिष्य की स्वर्ण-जयन्ती पर स्नेह विगलित भाव से निम्न शुभकामना प्रेषित की —

स्वस्थास्तु ते कुशलमस्तु चिरायुरस्तु
सौभाग्यमस्तु सततं हरिभक्तिरस्तु।

नागरी प्रचारिणी सभा ने, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने, सम्मेलन सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू श्री प्रकाश, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, महाराज कुमार रघुवीर सिंह, श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्रीमती महादेवी वर्मा, डा० बड़थ्वाल, डा० मोतीचन्द और श्री किशोरी-दास वाजपेयी प्रभृति ने आयु-संवर्धना विषयक तार भेजे।[1] प्रयाग के लीडर ने भी अपना उत्साह प्रदर्शित किया। श्री चिन्तामणि जी ने स्वर्णजयन्ती पर अपनी शुभ कामनाएं, एक टिप्पणी लिख कर व्यक्त की।

काशी में श्री पद्मनारायण जी आचार्य ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास कराया कि शीघ्र ही एक 'मैथिली-काव्य-मान' ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय और गुप्त जी की स्वर्णजयन्ती के उपलक्ष्य में उन्हें काशी नगरी के नागरिकों की ओर से भेंट किया जाय। लेकिन तभी जब गुप्त जी काशी अपने निजी कार्य से गए तो २३ अगस्त १९३६ को दीन सुकवि-मंडल से संबद्ध सुकवियों और काशी के

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त- अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २१८

लेखकों की संस्था' काशी साहित्य मंडल' की ओर से' सूर्य प्रेस' ऊपर छत पर गुप्त जी का स्वागत करने के लिए काशी के सम्पूर्ण साहित्यिकों की एक सभा का आयोजन संध्या ६ बजे किया गया । इस सभा के सभापति थे सुप्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल । इस विराट सभा में इतनी अधिक भीड़ हो गई थी कि प्राय: २०० व्यक्ति सभास्थल से स्थान-संकीर्णता वश निराश होकर लौट गए थे[१]। इसी से गुप्त जी के प्रति हिन्दी प्रेमियों के प्रेम और श्रद्धा का अनुमान लगाया जा सकता है ।

श्री पद्मनारायण जी के उत्साह से' मैथिली-काव्य-मान' ग्रन्थ काशी की तुलसी-मीमांसा परिषद् की ओर से तैयार हुआ था ।[२] इसमें गांधीजी ने भी आशीर्वचन दिया था । और गांधी जी ने यह यह ग्रन्थ गुप्त जी को भेंट में दिया । सभा में अनेक विद्वानों ने भाषण दिये और अन्त में गांधी जी ने भी भाषण दिया । इस सभा के पश्चात इसी स्थल पर दोपहर दो बजे काशी नरेश महाराजा श्री आदित्यनारायण सिंह जी बहादुर के०सी०एस०आई० के सभापतित्व में दूसरी बैठक हुई । उपस्थित लोगों में श्री विभूतिनारायण सिंह, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय' हरिऔध' , श्री जयशंकर प्रसाद' , प्रो० मनोरंजन आदि थे ।[३]

काशी में ही जयशंकर प्रसाद की अध्यक्षता में भी एक विराट् गोष्ठी हुई जिसमें गुप्त जी का स्वागत किया गया । इस गोष्ठी में बहुत ही मस्ती के साथ प्रसाद जी ने अपनी कविताओं का पाठ किया । उन्होंने लगभग दो घण्टों तक अविराम कविता पाठ किया । और गुप्त जी का स्वागत किया । इसके पश्चात् अभिनन्दनीय गुप्त जी ने कविता पाठ आरम्भ किया । गुप्त जी ने भी

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रबन्ध सम्पादक ऋषि जैमिनी कौशिक, पृ० ११६

२. कला भवन काशी में संगृहीत (अप्रकाशित)

३. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्द ग्रन्थ, पृ० २२२

सबके आग्रह से लगभग डेढ़ घण्टा कविता पाठ किया ।

इसी प्रकार के आयोजनों द्वारा सात दिनों तक काशी में गुप्त जी की आयु-संवर्द्धना के आयोजन होते रहे । आखिर सातवें रोज मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी अजमेरी अपने अन्य साथियों के साथ काशी से विदा हुए । विदाई के समय स्टेशन पर एक बड़ी संख्या में साहित्य प्रेमियों ने उन्हें पुष्पमालाएं पहनाकर विदा दी ।

झांसी और चिरगांव में भी अनेक गोष्ठियां हुईं और कवि की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई । लहेरियासराय की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा फिरोजाबाद के भारतीय भवन-पुस्तकालय तथा लखनऊ विश्व विद्यालय के हिन्दी के छात्रों ने कवि का सम्मान किया । २७ जुलाई १९४१ को आगरा सैन्ट्रल जेल के राजबंदियों ने कवि की छप्पनवीं वर्षगांठ मनाई और उनका अभिनन्दन किया सन् १९४६ में काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने गुप्त जी की हीरक जयन्ती मनाई । इस समारोह में कवि को दस सहस्त्र रुपये की थैली भी भेंट की गई । कलकत्ते में ११ अगस्त १९४५ को गुप्त जी की हीरक-जयन्ती महोत्सव समिति ने कवि का अभिनन्दन किया । ६ सितम्बर १९५२ को इन्दौर में वीर-वाचनालय का शिलान्यास गुप्त जी से करवाया गया । लगभग इसी समय संसदीय हिन्दी परिषद् , नई दिल्ली , का उद्घाटन भी कवि ने किया । बम्बई में भी सितम्बर १९५२ में प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के समावर्तनोत्सव की अध्यक्षता की ।

मैथिली-काव्य-मान के आयोजन से सम्बन्धित एक सुखद स्मृति काका कालेलकर ने भारतीय साहित्य परिषद की मराठी शाखा की मासिक पत्रिका 'विश्राम' के फरवरी अंक में १९३७ में प्रकाशित की थी । इस मराठी संस्मरण का अनुवाद 'हंस' ने भी प्रकाशित किया । इसमें गुप्त जी और काका कालेलकर के महत्वपूर्ण वार्तालाप को उद्धृत किया गया है, काका कालेलकर गांधी जी के ही साथ काशी आए थे । वहीं आपने मैथिलीशरण गुप्त जी से वार्तालाप किया था ।[१]

मैथिलीशरण गुप्त को अनेक पुरस्कार भी मिलते रहे । 'साकेत' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने सन् १६३५ में पांच सौ रुपए का पुरस्कार दिया । हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी सन् १६३७ में बारह सौ रुपए का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया । 'अंजलि' और अर्घ्य', 'हिडिम्बा' और 'पृथ्वीपुत्र' पर आठ सौ रुपए का पुरस्कार मार्च १६५२ में उत्तर-प्रदेश शासन द्वारा दिया गया, पर कवि ने उसे अस्वीकार कर दिया । गुप्त जी प्राय: पत्र-पत्रिकाओं से पारिश्रमिक भी स्वीकार नहीं करते थे ।[१]

सन् १६४५ में गुप्त जी ने ६१ वर्ष की नमस्य आयु का वरण किया । इस समय हिन्दी जगत ने आपकी हीरक जयन्ती मनाई । नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी ने इस जयन्ती को मनाने का काम लिया । हीरक जयन्ती का उद्घाटन प्रयाग विश्वविद्यालय के उप-कुलपति डा० अमरनाथ भा ने किया । समारोह के दिन एक विस्तृत पंडाल में मंच पर नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति श्री सम्पूर्णानन्द जी, मंत्री श्री रामनारायण जी मिश्र, डा० भगवान दास, बाबू श्रीप्रकाश जी, आचार्य नरेन्द्र देव, काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य केशव प्रसाद जी मिश्र, डा० मंगलदेव शास्त्री, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' और श्रीमती महादेवी वर्मा उपस्थित थे । वेदपाठ और मंगलाचरण के उपरान्त गांधी जी का संदेश पढ़कर सुनाया गया, " भाई मैथिलीशरण जी को मैं भलीभांति जानता हूं । इस उत्सव में सम्मिलित न होने का मुझे खेद है ।"

तत्पश्चात् समारोह का उद्घाटन करते हुए डा० अमरनाथ भा ने कहा -" श्री मैथिलीशरण गुप्त का सम्मान करना वस्तुत: देश और साहित्य का सम्मान करना है । हमारे देश के कवियों में अहंकार का भाव अधिक रहा है, परन्तु गुप्त जी इससे सर्वथा मुक्त हैं । उनका विनम्र स्वभाव इसका साक्षी

---

१. गुप्त जी का और मेरा सम्बन्ध - निबन्ध । मुंशी अजमेरी, दैनिक प्रताप ; २२ जुलाई १६३६

है। उनके इन सद्गुणों का उनकी कविताओं पर विशेष प्रभाव पड़ा है। हमारा जीवन राजनीति तक ही सीमित नहीं है वरन् साहित्य भी जीवन का एक आवश्यक अंग है। मैं तो हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा मानता हूं और गुप्तजी ऐसे नेता को पाकर मुझे सचमुच प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अन्त में मैं एक सावधान ब्राह्मण की हैसियत से शतंजीवी होने की ईश्वर से कामना करता हूं।'

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने भी अपना अभिनन्दन पढ़ा। उसका प्रारम्भ इस प्रकार था -" कविवरेण्य, आपके इस अपर-षष्टि-पूजन के मंगल अवसर पर जिसकी प्रतीक्षा विगत दस वर्षों से की जा रही थी, समस्त हिन्दी जगत, सभी काव्य रसिकों और प्रत्येक देश-प्रेमी की ओर से, आपके हीरक-जयन्ती महोत्सव की यह अखिल भारतीय समिति और उसकी सहयोगदात्री तथा अनुमोदक काशी नागरी प्रचारिणी सभा, आंतरिक उल्लास से गद्गद् होकर आपका बारंबार अभिनन्दन करती है।"....... " गुप्त जी की हीरक जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई - यह भी उनकी लोकप्रियता और महानता का परिचायक है।

१९४६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के करांची अधिवेशन में गुप्त जी को 'साहित्य वाचस्पति' की सम्मानित उपाधि दी गई। इसके दो वर्ष बाद सन् १९४८ में आगरा विश्वविद्यालय ने गुप्त जी को साहित्याचार्य (डी०लिट्०) की उपाधि से विभूषित किया। उन दिनों आगरा विश्वविद्यालय की वाइस-चांसलर श्रीमती सरोजिनी नायडू थीं। उन्होंने दीक्षान्त समारोह में गुप्त जी को डी०लिट्० की आनरेरी डिग्री दी। स्वतंत्र रूप से राष्ट्र कवि के रूप में काव्य-शैली के बल पर सेवाभावी किसी हिन्दी साहित्यकार का यह पहला सम्मान था।

सन् १९५४ में मैथिलीशरण गुप्त को "पद्मभूषण" की सम्मानित उपाधि प्रदान की गई। इसकी सनद सन् १९५५ को लोकतंत्र दिवस पर राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भेंट की। सन् १९५२ में गुप्त जी राष्ट्रपति के द्वारा

भारतीय राज्यसभा, नईदिल्ली के ६ वर्षों के लिए सदस्य बनाए गए । इस अवधि के बाद पुन: ६ वर्षों के लिए राज्य सभा में मनोनीत किये गए । इसी बीच सन् १९५४ में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बनाए गए । प्रयाग में श्रीमती महादेवी वर्मा ने जिस साहित्यकार संसद की नींव डाली थी, उसके वे प्रारम्भ से ही अध्यक्ष रहे ।

गुप्त जी को इतना सम्मान और यश उनके जीवन काल में ही मिल गया जितना संभवत: अन्य किसी भी साहित्यकार को नहीं मिला होगा । इसी-लिए कहा गया है कि " वाद-पीड़ित इस परवर्ती युग में प्रत्येक कवि विवाद का विषय बना है, पर गुप्त जी उससे मुक्त रह सके हैं ।"[१]

व्यक्तित्व और जीवन दर्शन

किसी के भी व्यक्तित्व के दो पक्ष हो सकते हैं — वाह्य ~~पक्ष~~ और आन्तरिक पक्ष । वाह्य पक्ष का आकृति, वस्त्र-विन्यास, खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार, हास, वार्तालाप आदि से सम्बन्ध है । आन्तरिक पक्ष का, स्वभाव, विभिन्न मनोवृत्तियों आदि से सम्बन्ध है । इन दोनों पक्षों का सम्मिलित प्रभाव किसी के व्यक्तित्व का प्रभाव कहा जा सकता है ।

रायकृष्णदास जी के अनुसार " मैथिलीशरण की रचनाएं पढ़ कर लोग उनके कवि रूप की जो कल्पना करते होंगे, प्रत्यक्ष दर्शन में उन्हें उससे बिल्कुल भिन्न पाते हैं । प्राय: ऐसा हुआ है कि जब लोगों ने उनका परिचय ~~पाया~~ पाया है तो आश्चर्य चकित रह गए हैं कि ' ऐं, यही गुप्त जी हैं.... अपरिचित के लिए सहसा उन्हें देख कर यह कल्पना कर लेना असंभव है कि यह व्यक्ति वही मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिसे काशीप्रसाद जायसवाल ने 'द्विवेदी युग की सबसे बड़ी देन' कहा था और जिसका काव्य-शरीर पिछली तिहाई शताब्दी के

---

१. पुष्करिणी- संपादक, अज्ञेय, खड़ीबोली की कविताएं, पृ० १

साहित्यिक कर्तृत्व पर अविच्छिन्न रूप से छाया हुआ है।"[1]

एक और ऐसा उद्धरण है जिससे गुप्त जी की सरलता, सादगी और ग्रामीणता के साथ व्यक्तित्व का बड़प्पन दिखलाई पड़ता है। जैनेन्द्रकुमार जी कहते हैं -" नाम बड़े दर्शन थोड़े, उनकी पहली छाप मुझ पर यही पड़ी । ..... मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा ही रखकर उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है। अपने चारों ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी। रूप उन्होंने आकर्षक नहीं पाया। इतने से ही मानों मैथिलीशरण संतुष्ट नहीं हैं। अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानों इसका भी उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और कुढंगा। .... मानो घोषित करना चाहते हों कि मैं सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूं। उत्सुकता का या शोभा का या समादर का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण मैं साधारण हूं... । जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते हैं, न दीखते हैं। कम माना जाना भी उन्हें पसन्द नहीं है। इज्जत में व्यतिरेक नहीं आ सकता।"[2]

गुप्त जी के व्यक्तित्व के विषय में महादेवी वर्मा लिखती हैं " गुप्त जी के बाह्य दर्शन में ऐसा कुछ नहीं है, जो उन्हें असाधारण सिद्ध कर सके। साधारण मझोला कद, साधारण छरहरा गठन, साधारण गहरा गेहुआं या हल्का सांवला रंग, साधारण पगड़ी, अंगरखा, धोती या उसका आधुनिक संस्करण गांधी-टोपी, कुरता-धोती और इस व्यापक भारतीयता से सीमित साम्प्रदायिकता का गठबन्धन सा करती हुई तुलसी-कंठी। अपने रूप और वेश दोनों में इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते। उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, प्रतीक, पावस ८, १६४८, पृ० ५५
२. मैथिलीशरण गुप्त, रेखाचित्र, हंस, मार्च, १६३६, पृ० ४६

की क्रूर लिखावट नहीं है, सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है, ऊंची नाक पर दम्भ का उतार चढ़ाव नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएं उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बंधी दृष्टि और मुक्त हंसी।"[१]

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, नई धारा, अप्रैल-मई, १९५१, पृ० १५५-१५६

परिशिष्ट(ख)

रचनाओं का काल-क्रम

श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रकाशित कृतियां और उनका प्रकाशन-संवत ।

क्रमसं०	नाम	प्रकाशन-संवत (विक्रमीय)	काव्य-रूप
१.	रंग में भंग	१९६६	ऐतिहासिक खण्ड काव्य
२.	जयद्रथ-वध	१९६७	महाभारतीय खण्डकाव्य
३.	पद्य-प्रबन्ध	१९६९	संग्रह : आख्यानक तथा निराख्यानक कविताएं
४.	भारत-भारती	१९६९	उद्बोधनात्मक पद्य-निबन्ध ।
५.	शकुंतला	१९७१	अभिज्ञान शाकुंतल पर आधारित
६.	तिलोत्तमा	१९७२	पौराणिक नाटक ।
७.	चन्द्रहास	१९७३	,, ,,
८.	पत्रावली	१९७३	पत्र-गीति-संग्रह ।
९.	वैतालिक	१९७३	उद्बोधन-गीत ।
१०.	किसान	१९७३	सामाजिक-राजनीतिक खण्डका
११.	अनघ	१९८२	बौद्धकालीन पद्य-नाट्य ।
१२.	पंचवटी	१९८२	रामायणीय खण्ड काव्य ।
१३.	स्वदेश संगीत	१९८२	राष्ट्रीय गीति-संग्रह ।
१४.	हिन्दू	१९८४	उद्बोधनात्मक पद्य-निबन्ध ।
१५.	सैरन्ध्री (त्रिपथगा)	१९८४	महाभारतीय खण्ड-काव्य ।
१६.	वक-संहार (त्रिपथगा)		
१७.	वन-वैभव (त्रिपथगा)		
१८.	शक्ति	१९८४	पौराणिक खण्ड-काव्य ।

क्रमसं०	नाम	प्रकाशन-संवत्	काव्य-रूप
१९.	गुरुकुल	१९८५	ऐतिहासिक आख्यान-काव्य
२०.	विकट भट	१९८५	,, ,,
२१.	झंकार	१९८६	रहस्यवादी गीति-संग्रह।
२२.	साकेत	१९८८	रामायणीय महाकाव्य।
२३.	यशोधरा	१९८९	बुद्धकालीन(चम्पू) खंडकाव्यात्मक स्वरूप।
२४.	द्वापर	१९९३	गीतिकाव्य (आत्म संलापक)
२५.	सिद्धराज	१९९३	ऐतिहासिक खण्डकाव्य।
२६.	मंगलघट	१९९४	कविता संग्रह।
२७.	आस्वाद	१९९५	वैविध्यपूर्ण कविता संग्रह
२८.	नहुष	१९९७	महाभारतीय खण्डकाव्य।
२९.	कुणालगीत	१९९८	बुद्धकालीन गीति-काव्य।
३०.	अर्जन और विसर्जन	१९९९	दो ऐतिहासिक आख्यान-काव्य।
३१.	विश्व-वेदना	१९९९	महायुद्ध से प्रेरित सांस्कृतिक गीत।
३२.	काबा और कर्बला	१९९९	सांस्कृतिक खण्डकाव्य।
३३.	अजित	२००३	सामाजिक राजनीतिक खण्डकाव्य।
३४.	हिडिम्बा	२००७	~~रामायणीय-आख्यान-संकलन~~। महाभा० खण्ड काव्य
३५.	प्रदक्षिणा	२००७	रामायणीय आख्यान - संकलन
३६.	युद्ध	२००७	महाभारतीय आख्यान काव्य।
३७.	अंजलि और अर्घ्य	२००७	शोक-गीत।
३८.	पृथ्वीपुत्र (दिवोदास, जयिनी, पृथ्वीपुत्र)	२००७	काव्य-रूपक-संग्रह।
३९.	जय-भारत	२००९	महाभारतीय प्रबन्ध संकलन।
४०.	भूमिभाग	२०१०	सामयिक गीति-संग्रह।
४१.	कवि श्री	२०१२	ग्यारह पौराणिक रचनाओं का संग्रह।
४२.	राजा प्रजा	२०१३	निराख्यानक निबंध काव्य
४३.	विष्णु-प्रिया	२०१४	मध्यकालीन खण्डकाव्य

क्रमसं०	नाम	प्रकाशन-संवत	काव्यरूप
४४.	रत्नावली		
४५.	लीला	२०१७	रामायणीय गीति-नाट्य ।
४६.	उच्छ्वास	२०१७	'सांत्वना' आदि कौक गीतियों का संकलन

अनुवादित रचनाएं —

क्रमसं०	नाम	प्रकाशन-संवत	काव्यरूप
४७.	विरहिणी वृजांगना(बंगला)	१९७१	वियोग गीति-माइकेलमधुसूदन कृत ।
४८.	पलासी का युद्ध (बंगला)	१९७१	कथाकाव्य-नवीनचन्द्र सैन कृत ।
४९.	स्वप्न वासवदत्ता (संस्कृत)	१९७१	भास-रचित नाटक ।
५०.	गीतामृत (संस्कृत)	१९८२	व्यास-रचित श्रीमद्भगवद्गीता का दूसरा अध्याय ।
५१.	वीरांगना (बंगला)	१९८४	ग्यारह पौराणिक पत्रगीतियां,माइकेल मधुसूदन दत्त-कृत ।
५२.	मैघनाद-बध(बंगला)	१९८४	महाकाव्य माइकेल मधुसूदन दत्त कृत
५३.	रुबाइयात उमर खैय्याम(फा०)	१९८८	मुक्तक-काव्य, अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर
५४.	गृहस्थ-गीता (हिन्दीगद्य)	१९९४	श्रीप्रकाश जी के सच्ची नागरिकता विषयक लेखों का पद्य-रूपान्तर ।
५५.	दूत-घटोत्कच (संस्कृत)	२०१२	भास-कृत एकांकी ।
५६.	अविमारक (संस्कृत)	२०२१	भास कृत नाटक ।
५७.	अभिषेक (संस्कृत)	२०२१	भास-कृत-नाटक ।
५८.	प्रतिमा (संस्कृत)	२०२१	भास-कृत नाटक ।

परिशिष्ट (ग)

समीक्षा साहित्य

(कवि के साहित्य का परिचय, छात्रोपयोगी टीका, व्याख्या, साहित्यिक विवेचन, विश्लेषण तथा अध्ययन और अनुशीलन विषयक समीक्षा-पुस्तकों की सूची)

१. गुप्त जी की काव्यधारा	श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ।
२. मैथिलीशरण गुप्त	डा० रामरतन भटनागर ।
३. गुप्त जी की कला	डा० सत्येन्द्र ।
४. गुप्त जी की काव्य कला	श्री त्रिलोचन पाण्डेय ।
५. मैथिलीशरण गुप्त	सरस्वती पारीख ।
६. गुप्त जी की कारुण्य धारा	डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ।
७. गुप्त जी की कृतियों का अध्ययन	श्यामानन्दप्रसाद सिंह ।
८. जयद्रथवध-प्रकाश	टीका, आचार्य रामपदार्थ शास्त्री ।
९. जयद्रथ-वध	आलोचना, नरेशमोहन कुमार ।
१०. पंचवटी समीक्षा	पुरुषोत्तमदास भार्गव ।
११. पंचवटी-प्रदीपिका	श्री गौरीशंकर द्विवेदी और श्री शिव कुमार दवे ।
१२. प्रदक्षिणा-सहायक	श्री लक्ष्मीनारायण पाण्डेय ।
१३. सिद्धराज-समीक्षा	ब्रजभूषण शर्मा
१४. नहुष का स्वाध्याय	श्री मोहनवल्लभ पंत ।
१५. साकेत एक अध्ययन	डा० नगेन्द्र ।
१६. साकेत-समीक्षा	नौ समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह: संपादक, श्री प्रेमनारायण व टंडन ।
१७. साकेत-परीक्षण	शंभुप्रसाद बहुगुणा ।

१८. साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव — डा० कन्हैयालाल सहल ।

१९. साकेत दर्शन — त्रिलोचन पाण्डेय ।

२०. साकेत-सौरभ (टीका) — श्री नगीनचन्द्र सहगल ।

२१. गुप्त जी और उनकी यशोधरा — श्री केसरीकुमार तथा श्री रघुवंशलाल

२२. गुप्त जी की यशोधरा पर एक आलोचनात्मक दृष्टि — श्री रामदीन पाण्डेय ।

२३. यशोधरा एक समीक्षा — प्रो० वासुदेव ।
डा० कृष्णबहादुर सिन्हा ।

२४. गुप्त जी की यशोधरा — श्री कृष्णकुमार सिनहा

२५. यशोधरा का संक्षिप्त अध्ययन — श्यामू सन्यासी ।

२६. डा० मैथिलीशरण गुप्त और उनकी यशोधरा । — प्रो० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

परिशिष्ट (घ)

संदर्भ ग्रन्थ

१. संस्कृत-प्राकृत आधार ग्रन्थ

१. अशोकावदान — चीनी से अंग्रेजी का अनुवाद ।
२. अभिनव भारती — अभिनव गुप्त
३. अध्यात्मरामायण
४. अद्भुत रामायण
५. अग्निपुराण
६. आदि पुराण
७. आनन्दरामायण
८. अभिज्ञान शाकुंतलम्
९. अभिषेक नाटक
१०. अनर्घराघव — मुरारि
११. उत्तररामचरित — भवभूति
१२. उदात्त राघव
१३. उदार राघव
१४. कालिदास ग्रन्थावली
१५. काव्यादर्श — दण्डी
१६. काव्यप्रकाश — मम्मट
१७. काव्यमीमांसा — राजशेखर
१८. कालिकापुराण
१९. कूर्म पुराण

२०. जानकी हरण
२१. जानकी परिणय
२२. जैमिनी पुराण
२३. तत्वसंग्रह रामायण
२४. दुर्गा सप्तशती
२५. धम्मपदं
२६. नृसिंह पुराण-
२७. नारद पुराण
२८. लिंग पुराण
२९. पउम चरियं एच० याकोबी का संस्करण ।
३०. प्रतिमा नाटक
३१. प्रसन्न राघव
३२. ब्रह्माण्ड पुराण
३३. ब्रह्मवैवर्त पुराण
३४. महाभारत
३५. मत्स्य पुराण
३६. मार्कण्डेय पुराण
३७. महावीरचरित — भवभूति
३८. महानाटक
३९. रघुवंश
४०. रसगंगाधर —पण्डितराज जगन्नाथ
४१. रामायण मंजरी
४२. ऋग्वेद
४३. वराह पुराण
४४. वामन पुराण
४५. वायु पुराण
४६. वाल्मीकि रामायण
४७. श्रीमद्भागवत
४८. श्रीमद्भगवद्गीता

४६. साहित्य दर्पण — विश्वनाथ
५०. स्कंद पुराण
५१. शिवपुराण
५२. हरिहर पुराण

२. <u>हिन्दी-ग्रन्थ</u>

१. आधुनिक साहित्य — आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ।
२. आधुनिक भारत — आचार्य जावड़ेकर ।
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास — डा० श्रीकृष्णलाल ।
४. आधुनिक कविता की भाषा — बृजकिशोर चतुर्वेदी ।
५. आधुनिक-काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत — डा० केसनीनारायण शुक्ल
६. आलोचना के पथ पर — डा० कन्हैयालाल सहल
७. अशोक सम्राट — डा० सम्पूर्णानन्द
८. अशोक — भंडारकर (हिन्दी अनुवाद)
९. उर्दू साहित्य का इतिहास — सैयद एहतिशाम हुसैन ।
१०. उर्दू और उसका साहित्य - गोपीनाथ 'अमन' ।
११. कांग्रेस का इतिहास — डा० पट्टाभि सीतारामैया ।
१२. काव्यकला तथा अन्य निबंध — श्री जयशंकर प्रसाद ।
१३. काव्य के रूप — गुलाब राय ।
१४. कैकेयी — केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
१५. काव्य कल्पद्रुम — कन्हैयालाल पोद्दार
१६. गीति-काव्य - रामखेलावन पाण्डेय
१७. गणेश — डा० सम्पूर्णानन्द
१८. गद्यपथ — सुमित्रानन्दन पंत
१९. गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ — सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ।
२०. गीतावली — गोस्वामी तुलसीदास ।
२१. चिंतामणि - दोनों भाग - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

२२. छायावाद युग — डा० शम्भुनाथ सिंह ।
२३. छायावाद का पतन — डा० देवराज ।
२४. छन्द प्रभाकर —जगन्नाथप्रसाद 'भानु'
२५. जीवन तत्व और काव्य के सिद्धान्त —श्री सुधांशु
२६. जयशंकर प्रसाद—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ।
२७. जायसी ग्रन्थावली —डा० माताप्रसाद गुप्त ।
२८. तुलसीदर्शन —डा० बलदेवप्रसाद शुक्ल मिश्र
२९. द्विवेदी पत्रावली —श्री विनोद
३०. दृष्टिकोण —डा० विनयमोहन शर्मा
३१. नया साहित्य : नये प्रश्न —आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ।
३२. नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ
३३. नहुष नाटक श्री गिरधर दास
३४. पुराण-विमर्श —आचार्य बलदेव उपाध्याय
३५. प्रगतिवाद —श्री शिवदान सिंह चौहान ।
३६. प्रियप्रवास — "हरिऔध"
३७. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य —प्रतिपाल सिंह (डा०)
३८. बिहारी सतसई — बिहारीलाल
३९. बरवै रामायण — गोस्वामी तुलसीदास
४०. भारतेन्दु ग्रन्थावली
४१. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश
४२. भारतीय संस्कृति —साने गुरु जी
४३. भारतीय संस्कृति का विकास — डा० मंगलदेव शास्त्री
४४. मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ
४५. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग —डा० उदयभानु सिंह ।
४६. मधुज्वाल —श्री सुमित्रानन्दन पंत ।
४७. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य —श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ।
४८. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति —श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ।
४९. मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन —डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

५०. मध्यकालीन धर्म साधना —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

५१. राजस्थान का इतिहास —जेम्स टाड (अनुवाद)

५२. राष्ट्रीयता और समाजवाद —आचार्य नरेन्द्रदेव ।

५३. राजेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ

५४. रामकथा —कामिल बुल्के

५५. रूपक रहस्य —डा० श्यामसुन्दरदास

५६. रामचरितमानस —गोस्वामी तुलसीदास

५७. रसज्ञ रंजन —आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

५८. वाङ्मय-विमर्श —पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

५९. विचार और अनुभूति —डा० नगेन्द्र

६०. विचार और विश्लेषण —डा० नगेन्द्र

६१. व्यक्ति और वाङ्मय —प्रभाकर माचवे

६२. विचार-विमर्श —आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

६३. समीक्षायण —डा० कन्हैयालाल सहल

६४. साधना —रायकृष्णदास ।

६५. संस्कृति संगम — क्षितिमोहन सैन ।

६६. संस्कृत के चार अध्याय —दिनकर ।

६७. समीक्षा शास्त्र— डा० दशरथ ओझा ।

६८. साहित्य चिंतन —डा० रामकुमार वर्मा

६९. सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय

७०. [illegible] शास्त्र —डा० रामकुमार वर्मा

७१. स्वतंत्रता और संस्कृति —डा० राधाकृष्णन्

७२. साकेत संत —डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ।

७३. संस्कृत साहित्य का इतिहास —पं० बलदेव उपाध्याय ।

७४. हिन्दी का सामयिक साहित्य —पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।

७५. हिन्दी कविता में युगान्तर —डा० सुधीन्द्र ।

७६. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास —डा० शम्भूनाथ सिंह

७७. हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी —आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

७८. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव —डा० रवीन्द्र सहाय

७९. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि —विश्वम्भरनाथ उपाध्य

८०. हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण —किरण कुमारी गुप्त ।

८१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास —डा० भगीरथ मिश्र

८२. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

८३. हिन्दी साहित्य — आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

८४. हिन्दुस्तान की समस्याएं —जवाहरलाल नेहरू ।

८५. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास- चतुरसेन शास्त्री

८६. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डा० रामकुमार वर्मा

३. बंगला तथा उर्दू के ग्रन्थ

१. गीतांजलि - रवीन्द्रनाथ ठाकुर

२. नैवेद्य —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

३. वीरांगना काव्य—माइकेल मधुसूदन दत्त

४. मेघनाद वध —माइकेल मधुसूदन दत्त

५. व्रजांगना काव्य—माइकेल मधुसूदन दत्त

६. पलासी युद्ध —नवीनचन्द्र सेन

७. भगवान् बुद्ध —धर्मानन्द कौशाम्बी

८. भारत दर्पण —कैफी,दत्तात्रेय

९. मुसद्दसे हालीजद्दो-जज्द-इस्लाम-हाल

१०. शेर-ही-सुखन— अयोध्याप्रसाद गोयलीय

४. पत्र-पत्रिकाएं

सरस्वती,साधना,सुधा, सम्मेलन पत्रिका,साहित्यकार,अवंतिका, आजकल, आलोचना,आज, इन्दु, कुमार, कल्याण, गीताधर्म, खादी जगत,जीवन-साहित्य, दीदी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नया साहित्य, नई धारा, नवनीत, नया-समाज, प्रचारिका, प्रतीक, प्रताप, भारतोदय, भारत, भारत मित्र, भविष्य,

महाविद्या, माधुरी, राघवेन्द्र, राष्ट्रभारती, लक्ष्मी, लीडर, वैश्योपकारक, वेंकटेश्वर समाचार-पत्र, विशाल-भारत ।

५. अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Arabs - A short History - P.K. Hitti Macmillan, London, 1948.
2. Ancient Indian Historical Tradition - F.E. Pargiter - Delhi.
3. A Study in Indian Nationalism - Balraj Madhok.
4. A History of English Criticism - George Saintsbury.
5. A Sketch of the history of India - Dodwell.
6. An Advanced History of India - Majumdar and Rai Chaudhari.
7. Contribution to the Sciences of Mythology - Max Mullar.
8. Creative India - Vinay Kumar Sarkar.
9. Cultural History of India during the British India - Usuf Ali.
10. Cambridge History of India, Vol.I - E.G.Rapson, 1922 Cambridge.
11. Dynamic History of Northern India - H.C. Roy.
12. Encyclopaedia of Religion of Ethics.
13. Goldern Bough - Sri Jams Jeorge Frazer.
14. How India Wrought for Freedom - Dr. Annie Besant.
15. History of Indian Literature - Dr. Albrecht Weber.
16. History of Seria : including Lebanon and Polestine - P.K.Hitti Macmillan, London 1957.
17. Hinduism and Budhism - A.K. Coomaraswamy.
18. Introduction to a Science of Mythology - Jung & Keren
19. India Div[illegible] - Dr. Rajendra Prasad.
20. Indi[illegible] istory - Rowlinson.
21. In[illegible] - R. Palme Dutt.
22. [illegible] oka Mehta.
23. [illegible] ra.

24. Indian Philosophy - Radha Krishnan.

25. Myth in Primitive Psycology - Mali Naxy.

26. Modern Islam in India - W.C. Smith.

27. Modern Indian Culture - D.P. Mukerjee.

28. Nationalism - E.H. Carr.

29. Poetics - Aristotle.

30. Puranic Records - R.C. Hazera.

31. Social background of Indian Nationalism - A.R. Desai.

32. The Discovery of India - J.L. Nehru.

33. The Making of Modern India - S.R. Sharma.

34. The Study of Literature - Hudson.

35. The Jatak Mala - Haward Oriental Series, Translator - Speyer.

36. The Cultural Heritage of India, Volumes I - IV, The Ram Krishna Mission.

37. The Hindu View of Live - Dr. Radha Krishnan.

38. The Constitution of India.

39. The British Impact on India - Sir Parceival Griffiths

40. The History of the Sikhs - Cunningham.

41. What is a Classic - T.S. Eliot.

42. Western Influences in Bengali Literature - Dr. Priya Ranjan Sen.

43. Out-line of the Religious Literature of the India - J.N. Farquhar.